हमें गर्व है अपने कैपसूलों पर--

ज्वाला आयुर्वेद भवन द्वारा विशुद्ध आयुर्वेदिक कैपसूलों का निर्माण जनवरी १९७४ से प्रारम्भ हुआ है। इतने अल्प समय में हमारे कैपसूलों ने जो ख्याति प्राप्त की है उस पर हमको गर्व है। हमारा विचार रहा है कि सर्वोत्तम औषधियों को निर्माण करें तथा अपने चिरकालीन अनुभव के आधार पर सफल प्रमाणित प्रयोगों के द्वारा इनको बनायें जिससे कि ये कैपसूल शीघ्र प्रभावकारी हों। इसी विचार के कार्यान्वित करने का परिणाम है कि जिसने इनको व्यवहार किया उसी ने प्रसंशा की और बार-बार मंगाये। ये कैपसूल बिना अधिक प्रचार के मात्र अपने गुणों के आधार पर ही उत्तरोत्तर प्रगति कर रहे हैं। अन्य कम्पनियों के समान न हमने फ्री सैम्पिल वितरित किये हैं और न धुआंधार प्रचार ही किया है। केवल "धन्वन्तरि" के माध्यम से ही आयुर्वेद-समाज के समक्ष प्रस्तुत किये गये हैं और आज स्थिति बहुत आशाजनक है। प्रति माह लगभग २ लाख कैपसूलों की इस समय मांग है तथा हमको विश्वास है कि इनकी मांग बराबर बढ़ेगी। गुणों के आधार पर हुई प्रगति ठोस और स्थायी होती है। जो प्रगति विज्ञापन और प्रचार के आधार पर होती है वह यदि औषधि में दम नहीं है तो प्रचार में शिथिलता आने पर उसकी प्रगति रुक ही नहीं जाती प्रत्युत उसका अस्तित्व भी खतरे में पड़ जाता है।

उन चिकित्सकों से जिन्होंने अभी तक हमारे कैपसूल व्यवहार नहीं किये हैं आग्रह है कि वे इनको व्यवहार करें और परीक्षा करें। विश्वास रखें उनको सफलता मिलेगी। फ्री सैम्पिल भेजना सम्भव नहीं है। हमारे द्वारा निर्मित कैपसूलों का विवरण इसी विशेषांक के अन्त में दिया है, उसे देख-समझकर आवश्यकतानुसार मंगावें। एक बार परीक्षा अवश्य करें यही प्रार्थना है।

श्री ज्वाला आयुर्वेद भवन, अलीगढ़

ऊर्ध्वजत्रु रोगाङ्क

फरवरी+मार्च

१९७८ - (1978)

प्रकाशक :
ज्वाला प्रसाद अग्रवाल
श्री ज्वाला आयुर्वेद भवन, अलीगढ़

मुद्रक :
श्रीनाथ अग्रवाल
मीरा प्रिंटिंग प्रेस, अलीगढ़

वार्षिक मूल्य — १४.०० ।

इस विशेषांक का मूल्य — १५.०० ।

धन्वन्तरि
(चिकित्सा विशेषांक तृतीय भाग)
सम्पादक
ज्वालाप्रसाद अग्रवाल
रामकृष्ण अग्रवाल
प्रबन्ध सम्पादक
गिरिराज किशोर अग्रवाल
फरवरी-मार्च
१९७८

प्रकाशकीय निवेदन—

वर्ष १९७८ का विशाल विशेशांक "ऊर्ध्व जत्रु रोगांक" (चिकित्सा विशेषांक तृतीय भाग) आयुर्वेद-जगत के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें महान प्रसन्नता है। श्री ज्वाला आयुर्वेद भवन, अलीगढ़ द्वारा प्रकाशित 'धन्वन्तरि' का यह छटा विशाल विशेषांक है। चिकित्सा विशेषांक के पिछले २ भाग तिब्बिया आयुर्वेद एवं यूनानी महाविद्यालय दहली के सम्माननीय प्रोफेसर कवि० श्री बी० एस० प्रेमी के सम्पादकत्व में प्रकाशित किये गये थे। इस तृतीय भाग ऊर्ध्व जत्रु रोगांक का सम्पादन धन्वन्तरि के लेखक समुदाय तथा विद्वानों के कृपापूर्ण सहयोग से चि० दाऊदयाल गर्ग ने किया है। इस विशेषांक के लिये विद्वान लेखकों तथा अनुभवी चिकित्सकों का भरपूर सहयोग मिला है एतदर्थ हम उनके हृदय से कृतज्ञ हैं। चि० दाऊदयाल गर्ग नें भी इसमें प्रकाशित साहित्य के संकलन-लेखन में, चित्रों के डिजाइन, ब्लॉक आदि तैयार कराने तथा इस विशेषांक को सुरुचिपूर्ण तथा उपयोगी बनाने में दिनरात परिश्रम किया है। मुझे विश्वास है पाठक-समुदाय भी मेरे उक्त कथन की पुष्टि इस बिशेषांक का अध्ययन करने के पश्चात अवश्य करेगा। पाठकों तथा विद्वानों से सादर निवेदन है कि वे इस विशेषांक के विषय में अपने विचार तथा भविष्य के लिए उपयोगी सुझाव अवश्य प्रेषित करें।

इस विशेषांक में सम्पूर्ण ऊर्ध्व जत्रु रोगों का विस्तृत विवेचन तथा चिकित्सा विधि देना था लेकिन बहुत प्रयत्न करने पर भी तथा अनेकों लेख कम करने पर भी शिरो रोग प्रकरण इस विशेषांक में देना सम्भव नहीं हुआ। शिरोरोग-प्रकरण प्रथक परिशिष्टाँक (अप्रैल का अङ्क) रूप में प्रकाशित किया जा रहा है।

इस विशेषांक में पृष्ठ संख्या ४४२ चित्र संख्या १८०* है तथा लगभग १२५ विद्वान लेखकों तथा अनुभवी चिकित्सकों का सहयोग प्राप्त हुआ है।

धन्वन्तरि का वार्षिक मूल्य—

धन्वन्तरि का वार्षिक मूल्य पूर्ववत् १३) अग्रिम मनियार्डर से तथा १४) वी.पी. से रखा गया है, लेकिन विशेषांक छपते-छपते केन्द्रिय बजट में पोस्ट-व्यय वृद्धि का प्रस्ताव सामने आया है। इसका प्रभाव प्रति ग्राहक पर लगभग ७० पैसा पड़ेगा, फलतः आगे मूल्य वृद्धि करना अनिवार्य होगा। 'धन्वन्तरि' जैसे पत्रों के लिये पोस्ट व्यय का भार अत्यधिक हो गया है तथा निरंतर बढ़ता ही जाता है। १४) की वी.पी.

---

* यह चित्र संख्या विषय से सम्बन्धित चित्रों की ही है। लेखकों के लगभग १०० फोटो ब्लॉक तथा लेखों के हैडिंग के लगभग १५० ब्लाक इससे प्रथक हैं।

भेजते हैं ग्राहकों को १४)५० देना होता है। हमको सालभर का पोस्ट व्यय निकालकर केवल १०) प्राप्त होता है। अब प्रस्तावित बढ़ोत्तरी से यह भार और बढ़ जायगा।

लेख प्रतियोगिता–

गतवर्ष लेख प्रतियोगिता के अन्तर्गत प्राप्त सम्पूर्ण लेखों को हम प्रकाशित नहीं कर सके थे। उनमें तीन विषयों के लेख अभी प्रकाशनार्थ रखे हैं जिन्हें आगामी अङ्कों में प्रकाशित करेंगे। इन लेखों को पाठक निश्चय ही पसंद करेंगे।

इस वर्ष के चार लघु विशेषांक–

१. शिरोरोग चिकित्साङ्क---अप्रैल १९७८ में प्रकाशित किया जा रहा है। वस्तुतः यह विशाल विशेषांक का ही अङ्ग है लेकिन सामग्री बढ़ जाने के कारण से यह एक विषय उससे प्रथक कर प्रकाशित कर रहे हैं।

२. सापेक्ष निदानांक---इसमें विभिन्न व्याधियों के एक जैसे दिखने वाले लक्षणों में अन्तर प्रदर्शित किया जावेगा। प्रत्येक चिकित्सक के प्रतिदिन की काम की वस्तु होगी। इसके विशेष सम्पादक हैं आयुर्वेद जगत के जाने-माने विद्वान श्री वैद्य अम्बालाल जी जोशी, मकराना मोहल्ला, जोधपुर (राजस्थान)

३. प्रदर रोग चिकित्सांक---इसके सम्पादक हैं श्री वैद्य जयनारायण गिरि 'इन्दु'। इसमें प्रदर रोग पर अभूतपूर्व सामग्री दी जायगी। विशेष सम्पादक महोदय रातदिन प्रयत्नशील हैं।

४. श्वित्र रोगांक---नवीगंज (मैनपुरी) के श्री जहानसिंह चौहान इस विशेषाङ्क की सामग्री का लेखन सम्पादन कर रहे हैं। इसमें श्वेतकुष्ठ से सम्बन्धित विस्तृत सामग्री दी जायेगी।

अपने कृपालु ग्राहकों से अपील

हमने दिसम्बर के अङ्क में ग्राहकों से साग्रह अपील की थी कि वे धन्वन्तरि के नवीन ग्राहक बनाकर हमारी सहायता करें जिसके फलस्वरूप हजारों ग्राहकों ने नवीन ग्राहक बनाये हैं। हम उनके हृदय से आभारी हैं। जिन्होंने २८ फरवरी तक ७ या ७ से अधिक ग्राहक बनाये हैं उनसे प्रार्थना है कि अपने द्वारा बनाये ग्राहकों के विवरण के साथ अपना फोटो भेज दें जिससे कि हम उनका सचित्र परिचय प्रकाशित कर सकें।

अब समय है कि आप भी धन्वन्तरि के इस वर्ष के महान उपयोगी विशाल विशेषांक को दिखाकर नवीन ग्राहक अधिक से अधिक संख्या में बनाकर अपने प्रिय मासिक 'धन्वन्तरि' की सहायता करें।

निवेदक--ज्वालाप्रसाद अग्रवाल

शुभ-कामनाएं एवं सन्देश

PRESIDENT'S SECRETARIAT
RASHTRAPATI BHAVAN,
NEW DELHI-110004

राष्ट्रपति सचिवालय,
राष्ट्रपति भवन,
नई दिल्ली-110004.

पत्रावली सं० 8-एम/78 जनवरी 11, 1978

प्रिय महोदय,

राष्ट्रपति जी के नाम दिनांक 5 जनवरी, 1978 का आपका पत्र प्राप्त हुआ। विशेषांक की सफलता के लिये राष्ट्रपति जी अपनी शुभकामनायें भेजते हैं।

श्री दाऊदयाल गर्ग,
सम्पादक, 'धन्वन्तरि',
श्री ज्वाला आयुर्वेद भवन,
मामू-भान्जा रोड,
अलीगढ़।

भवदीय,
(हस्ताक्षर)
(के० वें० राघवराव)
हिन्दी अधिकारी

राज्यपाल उत्तर प्रदेश का शुभाशीष

मुझे यह जानकर हर्ष है कि धन्वन्तरि शीघ्र ही अपना चिकित्सा विशेषांक तृतीय भाग प्रकाशित करने जा रहा है।

आयुर्वेद चिकित्सा विज्ञान में आज भी अनेक सम्भावनायें तथा विशेषतायें निहित हैं। साथ ही उसकी उत्पत्ति हमारे देश में ही होने के कारण वह यहां के नागरिकों के लिए प्रत्येक प्रकार से अनुकूल है। मैं आशा करता हूं कि आयोजित विशेषांक आयुर्वेद शास्त्र के उद्देश्य को आगे बढ़ाने तथा उसे अत्यधिक लोकप्रिय बनाने में सहायक होगा तथा मैं उसकी सफलता के लिए अपनी हार्दिक शुभकामनायें भेजता हूं।

—ग० दे० तपासे।

उप राष्ट्रपति, भारत
नई देहली
VICE-PRESIDENT
INDIA
NEW DELHI

जनवरी 10, 1978

प्रिय महोदय,

आपका पत्र दिनांक 5 जनवरी, 1978 का प्राप्त हुआ, धन्यवाद।

यह प्रसन्नता की बात है कि आप 'धन्वन्तरि' मासिक पत्रिका का इस वर्ष 'चिकित्सा विशेषांक' का तृतीय भाग (उर्ध्व जत्रु रोगांक) के रूप में प्रकाशित करने जा रहे हैं। मैं आपके इस विशेषांक की सफलता के लिए अपनी हार्दिक शुभकामनाएं भेजता हूं।

आपका,

(ब० दा० जत्ती)

श्री दाऊ दयाल गर्ग,
सम्पादक, 'धन्वन्तरि' मासिक पत्रिका,
श्री ज्वाला आयुर्वेद भवन, मामू भांजा रोड,
अलीगढ़ (उ०प्र०)

B 1/1/78

विधान भवन,
लखनऊ।

दिनांक: 16 जनवरी, 1978

कल्याण सिंह
चिकित्सा एवं जनस्वास्थ्य मंत्री।

मुझे यह जानकर हर्ष है कि 'धन्वन्तरि' मासिक पत्र गत वर्षों की भांति इस वर्ष भी अपना "चिकित्सा विशेषांक" प्रकाशित कर रहा है।

आयुर्वेद चिकित्सा की आदि पद्धति रही है लेकिन मानव रोगों के उपचार में उसका आज भी महत्वपूर्ण योगदान है। इसी बात को दृष्टि में रखकर हमारे प्रदेश में और देश में अब इस पद्धति को और अधिक विकसित और समृद्ध करने के ठोस प्रयास किये जा रहे हैं ताकि मानव समाज को इसका अधिकतम लाभ सुलभ हो सके। इस पद्धति को लोकप्रिय बनाने में इसके विशेषज्ञ महत्वपूर्ण भूमिका अदा करेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

आशा है यह "चिकित्सा विशेषांक" अपने पाठकों को आयुर्वेद चिकित्सा के सम्बन्ध में उपयोगी सामग्री सुलभ कराने में सफल होगा। मैं विशेषांक की सफलता की कामना करता हूं।

(कल्याण सिंह)
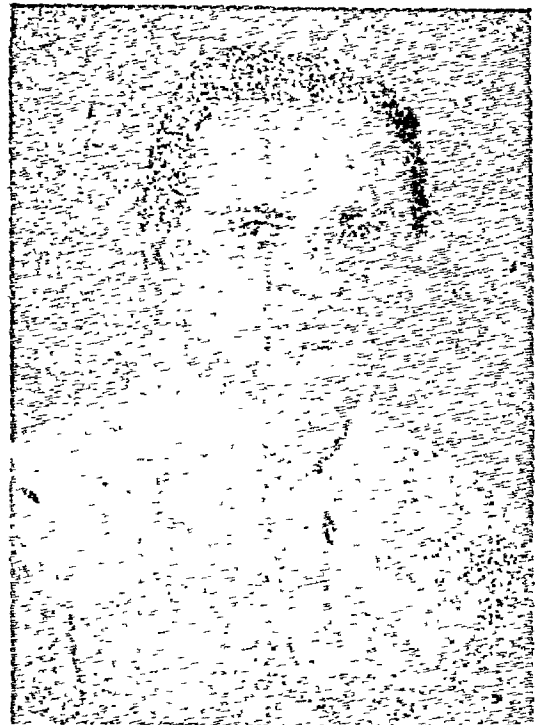
प्रिय श्री गर्ग जी,

आपका पत्र प्राप्त हुआ। धन्यवाद। "धन्वन्तरि" आयुर्वेद का एक पुराना पत्र है जो सामान्य से लेकर उच्च योग्यता प्राप्त वैद्यों, चिकित्सकों एवं आचार्यों सभी में लोकप्रिय रहा है। ऐसा भी मेरी जानकारी में है कि "धन्वन्तरि" के बहुत से विशेषांक अत्युपयोगी एवं संग्रहणीय रहे हैं। अब आप अपने पत्र का 'ऊर्ध्व जत्रु रोगांक' निकालकर आयुर्वेद जगत की सेवा में एक और कदम बढ़ा रहे हैं। मैं चाहूंगा कि आपका प्रयत्न सफल हो।

भवदीय

—डा० के० एन० उडुप्पा

ए. एम. एस., एम. एस., एफ. आर. सी. एस.

एफ. ए. सी. एस., एफ. ए. एम. एस.,

निदेशक—इन्स्टीट्यूट आफ मेडीकल साइंसेज, बी. एच. यू., वाराणसी,

अध्यक्ष—भारतीय चिकित्सा परिषद, उत्तर-प्रदेश, ७—लालबाग, लखनऊ

× × × ×

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि इस वर्ष 'धन्वन्तरि' का विशेषांक "चिकित्सा विशेषांक (तृतीय भाग)" के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है जिसमें ऊर्ध्व जत्रुगत रोगों और उनकी आयुर्वेद चिकित्सा का विशेष रूप से वर्णन किया जायगा। "धन्वन्तरि" अनेक वर्षों से आयुर्वेद जगत की अच्छी सेवा कर रहा है। उसके विशेषांक संग्रहणीय रहे हैं और धन्वन्तरि ने इस प्रकार आयुर्वेद के प्रचार और प्रसार में अच्छा योगदान किया है। मुझे आशा है कि पूर्व वर्षों की भांति "धन्वन्तरि" का नवीन विशेषांक भी आयुर्वेद प्रेमियों के लिए उपादेय सिद्ध होगा।

आपके प्रयास की सफलताओं के लिए शुभकामनाओं के साथ।

भवदीय

—एम० एल० द्विवेदी

कुलपति—गुजरात आयुर्वेद यूनिवर्सिटी

धन्वन्तरि मन्दिर, जामनगर

× × × ×
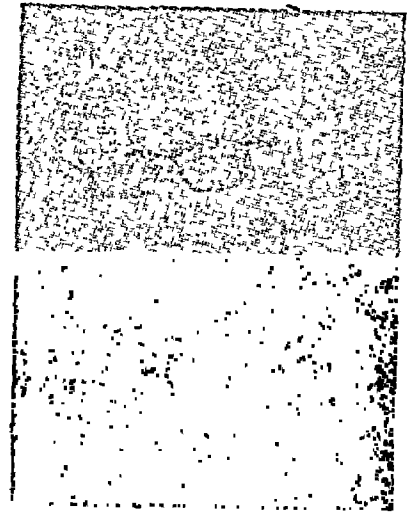
प्रिय श्री गर्ग,

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि 'धन्वन्तरि' मासिक पत्रिका का विशेषांक आप 'चिकित्सा विशेषांक-तृतीय भाग (ऊर्ध्व जत्रु रोगांक)' के रूप में प्रकाशित करने जा रहे हैं। मुझे विश्वास है कि यह विशेषांक चिकित्सकों के लिए विशेष रूप से लाभप्रद सिद्ध होगा। आपके इस शुभ कार्य के लिए मेरी शुभकामनायें हैं।

भवदीय

डा० सत्यपाल गुप्त

आयुर्वेदिक एवं यूनानी सेवा निदेशक, उत्तर प्रदेश,

सरोजिनी नायडू मार्ग, लखनऊ

आपके प्रकाशन की सफलता के लिए हार्दिक शुभ कामना करता हूं।

—शिव शर्मा

बहारिस्तान, बोमन जी पेट्टिट रोड,

बम्बई ४०००३६

× × × ×

आपका दिनांक ९-१-७८ का पत्र मिला। आपने "धन्वन्तरि" का "चिकित्सा विशेषांक तृतीय भाग (ऊर्ध्व जत्रु रोगाङ्क) प्रकाशित करने का निर्णय करके आंख, नाक, कान, मुख और सिर के रोगों का वर्णन एवं आयुर्वेद मत से चिकित्सा विवेचन जन साधारण, वैद्य तथा विद्यार्थियों के उपयोगार्थ राष्ट्र सेवा में समर्पित करने का अभूतपूर्व प्रयत्न किया है। प्राय: इस प्रकार के रोगों की विशेषज्ञता का आयुर्वेद में प्रयास ही नहीं हो रहा है। आपका उद्योग प्रसंशनीय और वैद्यवर्ग के लिये स्पृहणीय तथा समादरणीय होगा। इसी सद्भावना सहित सफलता की शुभ कामना है।

—वैद्य प्रभुदत्त शास्त्री

प्राचार्य—राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर

× × × ×
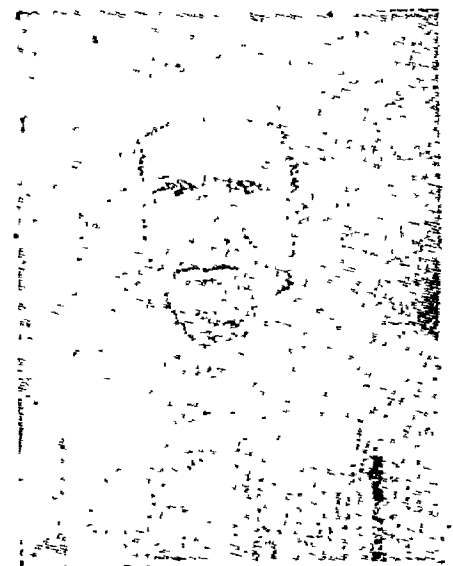
यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि 'धन्वन्तरि' का ऊर्ध्व जत्रु के सम्बन्ध में शीघ्र ही एक विशेषांक प्रकाशित होने जा रहा है। सामान्यत: किसी भी विशेषांक के प्रकाशन का मूलोद्देश्य सम्बन्धित विषय पर प्रचुर पठनीय सामग्री संकलित करना ही होता है। आशा है, आपके योग्य सम्पादन में इस उद्देश्य की पूर्ति अवश्य होगी और विशेषांक समग्र तथा सुन्दर एवं पठनीय होगा। आपके सत्प्रयत्न की शुभ कामना है।

—दुर्गा प्रसाद शर्मा

आयुर्वेद-चक्रवर्ती, आयुर्वेद-शिरोमणि, प्राणाचार्य

वैद्यरत्न, आयुर्वेदाचार्य, आयुर्वेदशास्त्र- वाचस्पति,

अध्यक्ष—अ० भा० देशी चिकित्सा परिषद् संकाय संघ

सभापति—विहार राज्य आयुर्वेदिक यूनानी अधिकाय,

अध्यक्ष—बिहार राज्य औषधि निर्माता संघ,

प्रधानमंत्री—अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन

सदस्य—केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा परिषद्,

सदस्य—केन्द्रीय आयुर्वेदिक अनुसन्धान परिषद्,

निदेशक-श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि०, पटना-१

आप आगामी वर्ष धन्वन्तरि का 'ऊर्ध्वजत्रुगत' रोगों पर विशेषांक प्रकाशित करने जा रहे हैं यह जानकर प्रसन्नता हुई। मेरी हार्दिक शुभकामना स्वीकार करें।

—प्रियव्रत शर्मा
ए. एम. एस., एम. ए., साहित्याचार्य
अध्यक्ष एवं भू. पू. निदेशक—द्रव्यगुण विभाग,
स्नातकोत्तर आयुर्वेदीय संस्थान
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

× × × ×
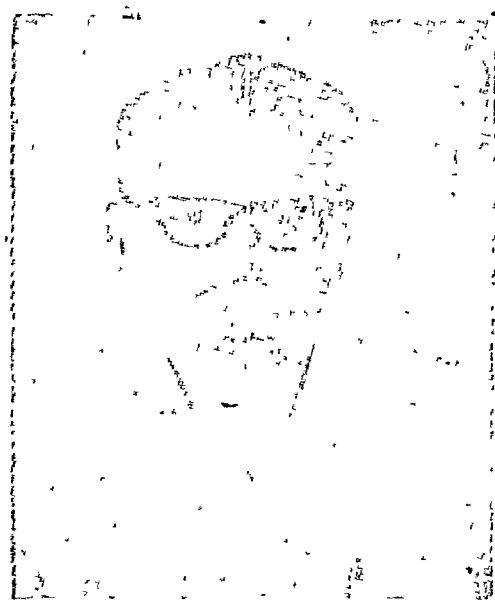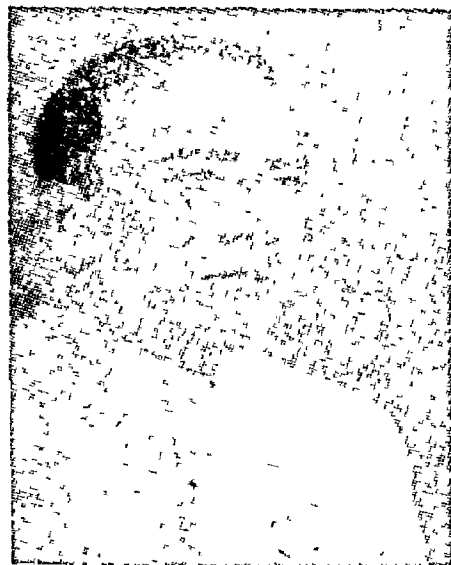
धन्वन्तरि मासिक पत्र बहुत वर्षों से आयुर्वेद जगत की सेवा करता आ रहा है। साथ ही इसके विशेषांक भी अत्युत्तम प्रकाशित होते आ रहे हैं। ज्ञात हुआ कि आप ऊर्ध्व जत्रु रोगांक प्रकाशित कर रहे हैं। आशा करता हूं भविष्य में भी "धन्वन्तरि" आपके नेतृत्व में पुष्पित और पल्लवित होता रहेगा। ऐसी मेरी शुभकामनायें हैं।

मैं आपके स्नेह के लिए बहुत आभारी हूं।

—आयुर्वेद शिरोमणी (श्री लंका) वैद्य सीताराम मिश्र
आयुर्वेदाचार्य, आयुर्वेद-वृहस्पति,
अध्यक्ष—राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन,
सदस्य—गवर्निङ्ग कौन्सिल, राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान भारत सरकार
सदस्य—आयुर्वेद परामर्शदातृ मण्डल, राजस्थान सरकार
३२४०, मिर्जा इस्माइल रोड, पांच बत्ती, जयपुर

※※※※

इस विशेषांक के विषय में—

आप भी अपनी सम्मति लिखें। हमने तो इसे रात-दिन परिश्रम करके तथा प्रचुर धन व्यय करके अधिक से अधिक उपादेय बनाने का प्रयत्न किय है, आपको कैसा लगा तथा इसमें क्या कमी है- यह अवश्य लिखें। आपके विचारों से आगे के लिये हम उत्साहित होंगे तथा अपनी कमियों को दूर करने का प्रयत्न करेंगे। साथ ही कुछ नवीन ग्राहक बना कर 'धन्वन्तरि' की सहायता भी करेंगे तो बड़ी कृपा होगी।

सुप्रसिद्ध आयुर्वेदिक कैपसूल

	नाम कैपसूल	गुण संक्षेप में (रोग निर्देश)	५० कैप.	१०० कैप.
१	रुद्रन्ती कैपसूल नं. १ (स्वर्ण बसन्तमालती युक्त)	कफ, खांसी, जीर्ण ज्वर आदि।	२५.५०	५०.००
२	रुद्रन्ती कैप. (लघुमालतीयुक्त)	,, ,,	१३.५०	२६.००
३	ज्वरान्तक कैपसूल	वात, कफ एवं जीर्ण ज्वर, मलेरिया, इन्फ्लुएंजा, खांसी श्लेष्मिक ज्वर	१३.५०	२६.००
४	विबन्धहारी ,,	कब्ज के लिये अत्युत्तम।	११.६०	२२.००
५	रक्तशोधन ,,	फोड़ा फुन्सी, खुजली, चकत्ता, व अन्य विकारों में।	१३.५०	२६.००
६	वातरोगहर ,,	गठिया, हाथ पैरों की सूजन, कमर का दर्द गृध्रसी आदि वात रोगों में अतीव लाभकारी। पहले कोष्ठ शुद्धि करालें	२५.५०	५०.००
७	ल्यूकोना ,,	श्वेत प्रदर, रक्त प्रदर मासिक धर्म अधिक दिन रहना।	१८.२५	३५.५०
८	मदन शक्ति ,,	स्तम्भन शक्ति बढ़ाते हुए सम्भोगजन्य निर्बलता को दूर करता है। बल, वीर्य, कांति और शक्ति बढ़ाता है।	१८.२५	३५.५०
९	श्वासहारी ,,	नया या पुराना श्वास-दमा, कुकुर खांसी, जुकाम आदि।	९.००	१७.००
१०	अर्शान्तक ,,	बादी तथा खूनी दोनों प्रकार के अर्श पर अत्युपयोगी।	९.००	१७.००
११	रजावरोधान्तक ,,	कष्ट रजता तथा रजः प्रवर्तन की परेशानी दूर करता, मासिक धर्म साफ लाता है।	९.००	१७.००
१२	गोनारि ,,	पेशाब में जलन, पेशाब लगकर आना, मवाद जाना आदि	१४.००	२७.००
१३	मेधा शक्ति ,,	मस्तिष्क की दुर्बलता दूर कर स्मरण शक्ति बढ़ाता है।	१३.५०	२६.००
१४	कैल्सी ,,	कैल्शियम की कमी, ज्वर के पश्चात् की कमजोरी, खांसी	८.००	१६.००
१५	कैल्सी लोह ,,	कैल्शियम तथा लोह की कमी दूर करते हैं, रक्तवर्द्धक हैं।	९.५०	१८.००
१६	त्रिशक्ति ,,	लोह युक्त कैपसूल हैं जो उग्र बीमारी के पश्चात रही कमजोरी दूर कर भूख बढ़ाते, रक्त की कमी दूर करते हैं।	११.५०	२२.००
१७	रक्तचापहारी ,,	अनिद्रा, बेचैनी, उन्माद, मस्तिष्क की उत्तेजना, रक्तचाप वृद्धि को दूर करने में अनुपम।	११.५०	२२.००
१८	शूलारि ,,	शरीर में कहीं भी तथा कैसा भी दर्द हो तुरन्त दूर होगा	१०.००	१९.००
१९	पाण्डुलोल ,,	रक्ताल्पता एवं पांडु रोग नाशक अचूक औषधि है।	१२.००	२३.००
२०	शोषान्तक ,,	बालकों के सूखा रोग के लिये अव्यर्थ औषधि है।	१२.००	२३.००
२१	हृद्रोगारि ,,	दिल की धड़कन बढ़ना, दिल का बैठना, हृदय की दुर्बलता तथा सभी प्रकार के हृदरोगों में तुरन्त लाभप्रद कैपसूल हैं	१४.००	२७.००
२२	क्लीवारि ,,	नपुंसकता, शीघ्रपतन, पतलापन, स्वप्नदोष, स्तम्भनशक्ति की कमी दूर कर बल, वीर्य, कांति तथा ओज बढ़ाते हैं।	२०.००	३९.००
२३	अतिसारान्तक ,,	ग्राही, क्षोभहर, शामक तथा आमपाचक है। बालातिसार दन्तपचन जनित, पित्त जनित अतिसार में लाभकारी हैं।	११.५०	२२.००
२४	कृमिघातिनी ,,	पेट के हर प्रकार के कीड़ों पर शीघ्र प्रभावकारी, कृमिजन्य व्याधियों के लिये उत्तम, वमकाई, कृमिज आमाशय-शूल, नजला जुकाम, अरुचिनाशक।	१२.००	२३.००
२५	गैसोना ,,	भोजन के बाद गैस बनती है तो इनको अवश्य व्यवहार करें। पेट का भारीपन, उदरशूल, क्षुधामांद्य में लाभकारी।	१२.००	२३.००
२६	हिस्टीरियाहर ,,	स्त्रियों को होने वाले दौरों के लिए लाभकारी।	१३.५०	२६.००
२७	स्वप्नप्रमेहान्तक ,,	स्वप्न प्रमेह नाशक सुपरीक्षित कैपसूल।	२५.५०	५०.००
२८	मलेरियाहर ,,	पारी से आने वाले ज्वर के लिए उत्तम।	१५.००	२९.००
२९	पुंसवनो ,,	गर्भावस्था में लगातार ४७ दिन लेने से निश्चय ही पुत्र।	१ सैट	२६.५०

विस्तृत विवरण के लिए इसी विशेषांक के अन्त में देखें।

धन्वन्तरि

चिकित्सा विशेषांक (तृतीय भाग)

ऊर्ध्व जत्रु रोगांक

की

विषयानुक्रमणिका

नासा-रोग प्रकरण ३१९-३७६

मुख एवं दन्त रोग प्रकरण ३७७–४५२

शीघ्र प्रभावकारी पेटेन्ट टेबलेट

आधुनिक ओटोमैटिक मशीनों और यन्त्रों से सुसज्जित, सरकारी मान्यता प्राप्त अनुभवी बी० फार्मा कैमिस्टों की देख रेख में सरकारी ड्रग लाइसेंस के अन्तर्गत इनका निर्माण किया जा रहा है, गुणों में अभूतपूर्व हैं, पैकिंग भी आकर्षक है, लाखों चिकित्सक पूर्ण विश्वास के साथ स्तेमाल कर रहे हैं, एक बार आप भी परीक्षा करें।

१. **एन्टेरोल टेबलेट**—हर प्रकार की प्रवाहिकाओं व अतिसारों के लिये शीघ्र प्रभावकारी व निरापद अहिफेन रहित औषधि की कमी अभी तक आयुर्वेद समाज को खटक रही है। अतएव इस कमी को दूर करने के लिये हमने विशुद्ध एलोपैथिक 'एन्टेरोल' टेबलेट का निर्माण किया। इससे सभी प्रकार की प्रवाहिकाओं (पेचिशों) और समस्त प्रकार के अतिसारों में बेसीलरी डिसैन्ट्री (Bacillary dysentery) अमीबिक डिसैन्ट्री, (Amoebic dysentery), पुरानी पेचिस (Chronic dysentery) पेट में आंव व मरोड़, खूनी पेचिश से उत्पन्न यकृत विकारों में पूर्ण व शीघ्र लाभ होता है। मू०–१०० टेबलेट स्ट्रिप पैकिंग में बिक्रीभाव २५.००, थोक भाव २०.८०।

२. **पैक्वीन (मलेरिया टेबलेट)**—सभी प्रकार के मलेरिया की विश्वसनीय औषधि है। इससे मलेरिया में अवश्य लाभ होता है। क्वीनीन से अधिक तेज असर करती है मैपाक्रीन से लगभग तीन गुना शक्तिशाली है। एक बार परीक्षा का अवसर अवश्य दें। मूल्य— १०० टेबलेट (स्ट्रिप) का डिब्बा बिक्री भाव २७.६०, थोक भाव २४.००।

३. **सीटामोल टेबलेट**—सर्दी, वर्षा, थकान अथवा तेज धूप से उत्पन्न ज्वरों तथा ज्वर के साथ होने वाले शरीर दर्द, सिर दर्द, कमर दर्द में हानिरहित आश्चर्यजनक औषधि है। इससे ज्वर २-३ घण्टे में पसीना आकर उतर जाता है। इसके अतिरिक्त दांत का दर्द, मांसपेशियों और संधियों का दर्द, आमवात का दर्द एवं सभी प्रकार की वेदनाओं को तुरन्त शान्त करती है। एलोपैथिक सुपरीक्षित 'एस्प्रीन' रहित टेबलेट हैं।
मूल्य—१०० टेबलेट (स्ट्रिप) का डिब्बा बिक्री भाव १८.००। थोक भाव १४.४०।

४. **आराम टेबलेट**—सभी प्रकार के दर्द जैसे सिर दर्द, आधाशीशी, पसली का दर्द, वायु का दर्द, चोट, फोड़े का दर्द, आंख, दाढ़, कान, नाक आदि का दर्द, गठिया का दर्द, जुकाम से दर्द या हरारत आदि को खाते-खाते दूर करती है। मूल्य—१०० टेबलेट (स्ट्रिप) का डिब्बा, बिक्री भाव ८.५०। थोक भाव ७.१०।

५. **बोमिट**—'बोमिट' हानि रहित अलेर्जी नाशक (असध्यता नाशक) औषधि है। (Antibiotic एवं Sulphonamides) औषधियों से उत्पन्न भयंकर रोगों में तथा अलेर्जी में तुरन्त आराम करती है। तीव्र शीत पित्त, त्वचा प्रदाह, संक्रमण जन्य त्वचा प्रदाह, गुदा तथा भग की खारिश में यह तुरन्त लाभ करती है।
मूल्य—१०० टेबलेट स्ट्रिप पैकिंग में बिक्री भाव ९.५० रु०। थोक भाव ७.६०

६ **एन्थेलीन**—उदर कृमियों को नष्ट करने वाली विश्वसनीय औषधि। मू०–१०० टेब. थोक भाव ९.६०

७. **पोलैक्स फोर्ट**—कब्ज दूर करने वाली अत्युत्तम टेबलेट। मू०–१०० टेबलेट थोक भाव १२.००

नोट—टेबलेट थोक भाव पर सप्लाई की जावेंगी, पोस्ट व्यय व सैलटैक्स प्रथक होगा।

मंगाने का पता—

डी-७९ इन्डस्ट्रियल स्टेट अलीगढ़-२७

आयुर्वेदिक सुपरीक्षित कैपसूल

नाम कैपसूल	गुण संक्षेप (रोग निर्देश)	५० कैपसूल	१००कैपसूल
१ रुदन्ती कैपसूल (स्वर्ण मालती युक्त)	कफ खांसी, जीर्ण ज्वर, क्षय आदि।	२५.००	४८.५०
२ ,, ,, (लघु मालती युक्त)	,, ,,	१४.५०	२८.००
३ ज्वरघ्न ,,	वात, कफ और जीर्ण ज्वर, मलेरिया, इन्फलुएंजा आदि	१४.५०	२८.००
४ एन्टेरोसूल ,,	अतिसार, आमातिसार, संग्रहणी बच्चों के हरे-पीले दस्त, अपचन जनित पित्तातिसार में लाभप्रद।	१२.५०	२४.००
५ रक्त विकारि	फोड़ा फुन्सी, खुजली, व अन्य रक्तविकारों में।	१३.५०	२६.००
६ वातारि	गठिया, हाथपैरों की सूजन, कमर का दर्द, गृध्रसि आदि वातरोगों में शीघ्र एवं निश्चित प्रभावकारी।	२५.००	४८.५०
७ ल्यूकोसूल	श्वेतप्रदर, मासिक धर्म का अधिक दिन जारी रहना	१९.२५	३७.५०
८ मदनोसूल	स्तम्भन शक्ति बढ़ाते हुए, सम्भोग जन्य निर्बलता को दूर करता है, बल वीर्य कान्ति और शक्ति बढ़ाता है।	२०.००	३८.५०
९ एजमोसूल	नया या पुराना श्वास, दमा, कुकरखांसी, जुकाम आदि।	१०.००	१९.००
१० पुंसवन	गर्भावस्था में लेने से पुत्र प्राप्ति होती है।	एक सैट	२७.५०
११ रजनोसूल	मासिक धर्म का देरी से होना आदि परेशानियों के लिये।	९.००	१७.५०
१२ त्रिकैल्सी	कैल्सियम की कमी, बुखार के बाद की कमजोरी, खांसी।	९.००	१७.५०
१३ त्रिकैल्सी लौह	कैल्सियम तथा लौह की कमी को दूर करते हैं।	११.००	२१.५०
१४ रक्तचापान्तक	रक्तवर्द्धक, अनिद्रा, बेचैनी, हिस्टीरिया, उन्माद मस्तिष्क की उत्तेजना, रक्तचापवृद्धि को दूर करने में अनुपम।	१२.५०	२४.००
१५ अर्शहारी	दोनों प्रकार के अर्श पर अत्युपयोगी सुपरीक्षित।	१०.००	१९.००

नोट—५० रुपये से अधिक मूल्य के कैपसूल मगाने पर २५% कमीशन दिया जाता है। पोस्टव्यय व सैलटैक्स पृथक। अन्य आयुर्वेदिक दवाओं की विस्तृत सूची, पत्र डाल कर मुफ्त मंगावें।

अब मंगाने का पता—

डी—७९ इन्डस्ट्रियल स्टेट, अलीगढ़

नोट—हमारे आयुर्वेदिक कैपसूल व अन्य सभी दवाओं के आर्डर अब केवल हमको ही भेजा करें।

धन्वन्तरि १९७९ का विशाल विशेषांक

शास्त्रीय सिद्ध प्रयोगांक

दूसरा भाग होगा

सन् १९७९ का वृहद विशेषांक शास्त्रीय सिद्ध प्रयोगाङ्क का दूसरा भाग होगा। पूर्व प्रकाशित प्रथम भाग की विद्वानों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। ग्राहकों का आग्रह भी है कि इसका दूसरा भाग भी प्रकाशित किया जाय। विद्वान वैद्यों से सविनय अनुरोध है कि आगामी उक्त विशेषांक अभूतपूर्व बनाने में अपना पूर्ण सहयोग प्रदान करें। आपकी कृपा हुई तो आपके ज्ञान भण्डार से, ऐसे-ऐसे लेख प्राप्त होंगे जोकि अभी तक गोपनीय रहे हैं।

इस विशेषांक में चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट, शार्ङ्गधर, भैषज्य रत्नावली प्रभृति सुप्रसिद्ध आयुर्वेदीय ग्रन्थों से व लुप्त तथा असुलभ ग्रन्थों से योगों का संकलन कर प्रकाशित किया जायगा। साथ ही लेखकों के स्वानुभूत योग होंगे, जिन्हें बार-बार अनुभव की कसौटी पर सफल सिद्ध पाया गया है।

विषय–सूची

विस्तृत विषय सूची आगामी साधारण अङ्क में प्रकाशित करेंगे। प्रत्येक योग के विषय में निम्न सामग्री देनी है––

१. प्रयोग का नाम––संदर्भ ग्रन्थ, घटक, तोल, निर्माण विधि, मात्रा, अनुपान, गुणावगुण, पथ्यापथ्य, घटकों के वानस्पतिक (Botanic) नाम। घटकों के रस गुण वीर्य-विपाक, प्रभाव, पंचभौतिक गुण, वैज्ञानिक शोध में ज्ञात गुणधर्म, उपयोगिता तथा उक्त योग में होने का प्रयोजन।

२. उक्त योग में कौन-कौन द्रव्य संदिग्ध हैं, या अलभ्य हैं। उनके स्थान पर किन-किन द्रव्यों का प्रयोग आप करते हैं, शास्त्र मत क्या है? और विद्वानों का मत क्या है?

३. उक्त योग––आपका स्वानुभूत है, या किसी अन्य वैद्य द्वारा परीक्षित है? इसका स्पष्ट वर्णन करें।

४. उक्त योगों को आपने स्वतन्त्र उपयोग किया था या इसके साथ-साथ दूसरे-दूसरे योगों का, या द्रव्यों का भी मिश्रण किया था? किस-किस रोग पर, किस चिकित्सा क्रम से चिकित्सा कर सफलता प्राप्त की, असफलता मिली तो किस कारण से मिली। बाद में आपने क्या सुधार किया।

५. देश, काल, मात्रा, दोष, दूष्य, प्रकृति, रोग की किस-किस विशेष स्थिति व लक्षणों पर लाभ व हानि करता है इसका भी स्पष्ट उल्लेख आवश्यक है।

६. कितने समय तक रोगी को चिकित्सा में रखने से लाभ देखा जा सकता है?

७. योगों की सूची भी प्रकाशित की जा रही है फिर भी उनके अतिरिक्त अन्य प्रयोगों पर भी विशेष सम्पादक से अनुमति प्राप्त कर प्रकाश डाला जा सकता है।

८. योगों का क्रम निम्न प्रकार से रहेगा––

(अ) आसवारिष्ट, घुटी, घृत, तैल, नस्य, वर्ति, अंजन, लेप, धूप, अर्क, शर्बत, मरहम, द्राव, क्षार प्रभृति।

(आ) क्वाथ, मोदक, अवलेह, पाक, चूर्ण। (इ) रस, वटी, गुग्गुल, लौह, पर्पटी।

(ई) पूर्व प्रकाशित अनुभूत योग, स्वानुभूत योग, अलभ्य ग्रन्थ का, या दुष्प्राप्य अथवा अप्रकाशित पुस्तक का योग, जिसका परीक्षण हो चुका हो।

मुझे आशा है धन्वन्तरि के पाठकगण, विद्वानजन अपने सहयोग कीसूचना शीघ्र ही देने की अति कृपा करेंगे।

निवेदक :

वैद्य मुन्नालाल गुप्त

विशेष सम्पादक—शास्त्रीय सिद्ध प्रयोगांक

५८/६८, नीलवाली गली

कानपुर—२०८००१

आविर्वभूव कलशं दधदर्ण वाद्यः पीयूष पूर्णममरत्व कृते सुराणाम् ।
रुग्जाल जीर्ण जनता जनितः प्रशंसो धन्वन्तरिः सः भगवान भविकाय भूयात ।।

भाग ५२
अङ्क २-३

फरवरी-मार्च
१९७८

ऊर्ध्व जत्रु रोगाङ्क

ऊर्ध्वाङ्ग रोग यह चिकित्सांक

धन्वन्तरि ने जैसे लोगो ! रोगी का शल्य हटा डाला ।
कर स्वस्थ, पिला कर सुधा सदा, पोषा, रख स्वस्थ सदा पाला ॥

तत्सम ही यह शुभ 'धन्वन्तरि' अज्ञानी की तमरुक् टारे ।
ले ले सद्वृत्त शतायु हों, हों स्वस्थ यहां जनतन सारे ॥

ऊर्ध्वांग रोग यह चिकित्सांक, जिसके गागर में सागर है ।
होवे विख्यात सफल अतिशय, जब साथ स्वयं नयनागर है ॥

"शर्मा" क्यों चिन्ता करते हो, जब खुद "रमेश" भी रथ में है ।
सम्पादक हों जिसके खुद "दाऊ", जय सौरभ तो हर कण में है ॥

—श्री डा० रमेश कुमार शास्त्री
साहित्यायुर्वेदाचार्य, बी. ए. एम. एस.,
श्री सदन, नेछवा (सीकर) राजस्थान

औषधि-प्रार्थना

ओऽम् सुमित्रिया न आप औषधयः सन्तु ।
दुर्मित्रियास्तस्मैसन्तुयोऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ।।
—यजु० अ० ६ मंत्र २२ ।।

हे परमात्मन् ! आपकी कृपा से प्राणवर्धक जल और औषधियां आदि सब पदार्थ तुम लोगों के लिए सुखकारक हों तथा जो कुपथ्य करने वाले तथा पापी हमारे द्वेषी हैं और जिन दुष्टों से हम द्वेष करते हैं उनके लिए विरोधी हों ।

शिवास्ते सन्त्वोषधयः उत त्वाहार्षमधरस्या उत्तरां पृथिवीमधि ।
तत्र खादित्यौ रक्षतां सूर्या चन्द्रमा साविच ।।
—अथर्ववेद काण्ड ८ सूत्र २ ।।

यह औषधियाँ तुम्हारे लिये कल्याणमय हों, यह पृथिवी अन्तरिक्ष सूर्य चन्द्र-जल और वायु भी तुम्हारे रक्षक हों, ताकि तुम दीर्घायु प्राप्त करो ।

या रोहन्त्याङ्गिसीः पर्वतेषु समेषु च ।
तानः पयस्वतीः शिवा ओषधीः सन्तु शं हृदे ।।
—अथर्ववेद काण्ड ८ सूत्र ७।१७

पार्वत प्रदेश और सामान्य भूमि में उत्पन्न होने वाली यह औषधियां जो अङ्गों की रक्षा के लिए उत्पन्न होती हैं, वह रस वाली प्रत्येक औषधियाँ हमारे लिये कल्याणकारी हों ।

सर्वाः समग्रा ओषधि बौधन्तु वचसो मम ।
यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि ।। —अथर्ववेद ८।७।१६

यह समस्त औषधियाँ मेरे बचन से इस रोगी पुरुष की व्याधि को दूर करें ।

ओषधिरितिमातरः तद् वो देवि ! रूप ब्रुवे ।
सनेयमश्वं गां वास आत्मानं तव पुरुष ।। —ऋग्वेद १०।६७।४

औषधियाँ हमारी माता हैं, यह दिव्य गुणों से युक्त है, इन औषधियों की प्राप्ति के लिये पुरुष अपने अश्व-गौ वस्त्र स्थान और आत्मा तक को भी देकर प्राप्त करें ।

औषधीः प्रतिमोदध्वं पुष्पवती प्रसूवरीः ।
अश्वा इव सजित्वरी वीरुधः पारयिष्णवः ।। —ऋग्वेद १०।६७।३

औषधियाँ जो पुष्प और फल वाली हैं, जिनमें रोगों को दूर करने की शक्ती अजेय है, वह औषधियाँ रोगियों के रोग दूर करती हुई आनन्दप्रद हों ।

हम पंचमहाभूतों से भले प्रकार परिचित हैं। हमारी ज्ञानेन्द्रियां एक-एक महाभूत का प्रतीक बतलाई गई हैं जैसे आकाश भूत की प्रतीक श्रवणेन्द्रिय, वायुभूत की प्रतीक स्पर्शनेन्द्रिय, जल भूत की प्रतीक रसनेन्द्रिय, अग्नि भूत की प्रतीक चक्षुरेन्द्रिय तथा पृथ्वी भूत की प्रतीक घ्राणेन्द्रिय है। यद्यपि प्रत्येक इन्द्रिय पञ्च महाभूतात्मक तत्वों से बनी है परन्तु उसमें एक एक महाभूत का प्राधान्य रहता है।

आंख, नाक, कान, जीभ, त्वचा जो हमको दिखलाई देते हैं वे ज्ञानेन्द्रियों के पृथक्-पृथक् अधिष्ठान हैं जो भिन्न भिन्न भूतों को ग्रहण करते हैं और जिनके द्वारा हमें देखने, सूंघने, सुनने, चखने या छूने से विशिष्ट प्रकार के ज्ञानों का बोध हो जाता है। यदि यह अधिष्ठान या यन्त्र विशेष नष्ट हो जाय तो उससे सम्पादित होने वाला कार्य अपूर्ण रह जावेगा और वह व्यक्ति अन्ध, बधिरादि संज्ञाओं से पुकारा जावेगा। कभी कभी अधिष्ठान ज्यों का त्यों रहने पर भी उस अधिष्ठान के द्वारा वह कार्य पूर्ण नहीं होता। आंख ज्यों की त्यों रहने पर भी व्यक्ति को कुछ नहीं दीखता। कान बना रहने पर भी व्यक्ति सुनता नहीं इत्यादि। कभी जब वह सुनने का कार्य करता है तो ठीक से देख नहीं पाता और जब चित्रपट पर कुछ देखता है मुख में रस गुल्ले का आनन्द नहीं ले पाता। ये उदाहरण यह प्रगट करते हैं कि इन अधिष्ठानों का और भी कहीं सम्बन्ध है तथा और ही कहीं से नियन्त्रण होता है।

ज्ञानेन्द्रियों का नियन्त्रण कर्ता मन होता है। मन मानो राजा है। राजा के लिए ५ कचहरियां बनी हुई हैं। वह एक के बाद दूसरी कचहरी में जाता है। जिस कचहरी में जाता है वहां वही कार्य करता है। आँख की कचहरी में बैठकर वह देखता है, कान की कचहरी में सुनता है, जीभ की कचहरी से चखता, नासा की कचहरी में सूंघता है, तथा त्वचा की कचहरी में स्पर्श करता है। यदि यह राजा इन कचहरियों में चक्कर लगाना बन्द कर दे तो ये कचहरियां सूनी पड़ी रहती हैं। आंख होते हुये भी व्यक्ति अन्धा, कान रहते हुये भी बहरा आदि हो जाता है। इन इन्द्रियों के राजा मन की गति आज कल की एटौमिक शक्ति के द्वारा चालित यन्त्रों से भी लाखों गुनी बढ़ी हुई होती है। इसी कारण वह झट आँख में, झट कान में, झट जीभ पर, झट नासा में और झट त्वचा में देखा जाता है और हर जगह जाने का कार्य वह इतने आनन फानन में करता है कि किसी इन्द्रिय को ज्ञान ही नहीं हो पाता कि मन उसके पास नहीं है। भगवान कृष्ण के लिए यह प्रसिद्ध है कि वे अपनी कई सहस्र रानियों के पास एक ही समय में पाये जाते थे उसी प्रकार सब इन्द्रियों के पास प्रत्येक समय मन की उपस्थिति परखी जा सकती है। पर क्या वास्तव में मन प्रत्येक समय प्रत्येक इन्द्रिय में नहीं रहता या अधिक शास्त्रीय भाषा में मन प्रत्येक कार्य युगपत् नहीं करता इसमें विश्वास करना चाहिए। शास्त्रकारों

ने मन को एक तथा अणु बतलाया है । एक होने से वह एक समय में एक ही कार्य करता है तथा अणु होने से उसके टुकड़े नहीं हो पाते परन्तु वह अतिशीघ्र अपने कार्य करने की सामर्थ्य रखता है । मन का लक्षण ज्ञान का होना या न होना इसी से जाना जाता है ।

पांचों महाभूतों के पांच ही गुण होते हैं । आकाश का गुण शब्द है, वायु का गुण स्पर्श है; अग्नि का गुण रूप है, जल का गुण रस है तथा पृथ्वी का गुण गन्ध है । ये पांचों गुण इस क्रम से हैं कि प्रथम से द्वितीय में गुण की वृद्धि हो जाती है द्वितीय से तृतीय में प्रथम और द्वितीय दोनों गुण मिलते हैं । इसे यों समझ सकते हैं शब्द प्रथम गुण; द्वितीय गुण स्पर्श में शब्द भी अन्तर्निहित है, रूप तृतीय गुण में शब्द और स्पर्श दोनों का समावेश है, रस में शब्द, स्पर्श और रूप ये तीनों गुण हैं तथा गन्ध में प्रथम चारों सम्मिलित रहते हैं । इन गुणों में इतना सम्मेलन होने पर भी अधिष्ठान अपने अपने विषय को ही ग्रहण करने में समर्थ होता है और सो भी जब मनराज की मौज आ जाय तब । आंख के द्वारा जो रूप ग्रहण होता है यह चक्षुरेन्द्रिय का इन्द्रियार्थ कहलाता है इसी प्रकार शब्द श्रवणेन्द्रिय का इन्द्रियार्थ है इसी प्रकार शेष का समझ लें ।

इन्द्रिय के द्वारा अपना इन्द्रियार्थ समनस्क होने पर ग्रहण होता है । मन का विषय या अर्थ है चिन्तन, विचार करना, ऊहापोह करना, ध्यान करना, संकल्पता करना तथा अन्य इन्द्रियनिरपेक्ष सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, ज्ञान, चेतना, धृति, स्मृति, अहंकारादि हैं उन सबका आकलन मन के विषय में आता है । जब इन्द्रियाधिष्ठान में मन आ जाता है तो फिर वहाँ वह इन्द्रियार्थ को ग्रहण कर फिर उसका ऊहापोह करता है । स्व विषय का ध्यान करने का कारण उस इन्द्रियार्थ का उसे जो स्पष्ट ज्ञान हो जाता है वह निश्चयात्मिका बुद्धि का कारण बनता है । प्रत्येक इन्द्रिय की दृष्टि से बुद्धि विविध प्रकार की होती है । यह बुद्धि ही तत्तद् इन्द्रियार्थ का निश्चयात्मक ज्ञान कहलाता है । घट देखने से घट बुद्धि का होना और निश्चयात्मक विचार उठना कि यह घट सम्बन्धी निश्चयात्मिका बुद्धि का प्रगटीकरण है ।

निश्चयात्मक ज्ञान की प्रतीति अव्यक्त वा आत्मा को होती है । अव्यक्त और बुद्धि के बीच की एक स्थिति अहङ्कार की आती है जिसमें व्यक्ति यह अनुभव करता है कि यह मैं देख रहा हूं या यह मैं चख रहा हूं इत्यादि । अव्यक्त ज्ञान प्राप्ति के लिए इङ्गित मात्र करता है । मन उस इङ्गिति पर चलकर बुद्धि एवं अहङ्कार को सचेत करता है जिनके द्वारा विषय विशेष का ज्ञान होता है ।

हमारे आचार्यों ने लोकस्थ पञ्चमहाभूतात्मक सृष्टि के ज्ञान के लिए इन्द्रियाधिष्ठान से लेकर अव्यक्त तक एक इस प्रकार की मशीनरी का क्रम मान लिया जिसके कारण उसका पूर्णतः बोध हो सके । इस ज्ञान प्राप्ति का प्रमुख साधन मन रखा ।

अब यदि हमसे कोई पूछता है कि हम कैसे देखते हैं तो हम सरलता से बतला सकते हैं कि अग्नितत्व प्रधान जिनका कोई रूप हो ऐसी वस्तुओं को हम देख सकते हैं । आक्सीजन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन आदि वायु रूप पदार्थ रूप विहीन होने से देखे नहीं जा सकते । रूपवान द्रव्यों को देखने का साधन है वह इन्द्रिय जिसका इन्द्रियार्थ रूप है और वह है चक्षुरेन्द्रिय । चक्षुरेन्द्रिय का अधिष्ठान आँख है अतः रूपवान वस्तु की ओर पहले आँख जावेगी फिर अव्यक्त उस वस्तु के देखने के लिये मन को इङ्गित करेगा । मन चक्षुरेन्द्रिय के साथ सम्पर्क जोड़ कर रूप ग्रहण करेगा और उस सम्बन्ध में यथोचित ऊहापोह करता हुआ सब रेकार्ड बुद्धि को सौंप देगा । बुद्धि उस ज्ञान का निश्चय करेगी और अहङ्कार उसमें अपनत्व प्रगट करता हुआ बुद्धि के द्वारा अव्यक्त को यथार्थ ज्ञान देगा । इसी प्रकार अन्य ज्ञानेन्द्रियों के सम्बन्ध में भाव आता है । इतना सब समझ लेने के पश्चात् आयुर्वेदीय विचार वादी के मन में शङ्का का स्थान नहीं रहता ।

"ऊर्ध्व जत्रु विकारेषु स्वप्नकाले प्रशस्यते" यह आर्ष वाक्य अति प्राचीन है। आज इस वाक्य की ओर बहुत कम वैद्यों का ध्यान रहा है। इसका तात्पर्य है कि ऊर्ध्व जत्रुगत रोगों में रात्रि को शयन काल के समय जो औषधि सेवन कराई जाती है उसका विशेष प्रभाव होता है। आजकल वैद्यों की स्थिति बड़ी विचित्र है। डाक्टरों के समान वह चिकित्सा करना चाहते हैं और उसमें वह आयुर्वेद के सिद्धान्त भी भूल जाते हैं या उन्हें ज्ञात ही नहीं हैं। इसी कारण वह दिन में अनेक बार औषधि देने की योजना करते हैं। आर्ष चिकित्सा में औषधि योजना के लिये जिन कालों का उल्लेख है उनकी ओर बहुत कम वैद्यों का ध्यान है। शास्त्रीय नियमों का ठीक पालन न होने से औषधि योजना वैसी सफल नहीं होती जैसी कि होनी चाहिये। कोई औषधि बार-बार देने या अधिक मात्रा में देने से ही रोग का नाश नहीं करती। आर्ष चिकित्सा के अनुसार—

> दूष्यं देशं बलं कालं मनलं प्रकृति वयः।
> सत्वं सात्म्यं तथाऽहारमवस्थाश्च प्रथग्विधाः॥
> सूक्ष्म सूक्ष्माः समीक्ष्यैवं दोषौषध निरूपणे।
> येवर्तते चिकित्सायां न सस्खलति जातुचित्॥

इन सब बातों का चिकित्सक को चिकित्सा के समय ध्यान रखना होता है। हममें से कितने चिकित्सक इन सब बातों पर ध्यान रखकर वर्तमान में चिकित्सा करते हैं? क्या आप स्पष्ट शब्दों में उत्तर दे सकते हैं? सम्भवतः नहीं! तो फिर क्यों न यह कहा जाय कि वर्तमान के अधिकतर आयुर्वेद चिकित्सक वस्तुतः नाममात्र के चिकित्सक हैं। सच्ची चिकित्सा तो हमसे बहुत दूर निकल गई। खैर! कहने को तो बहुत कुछ है लेकिन आप जहाँ ऊर्ध्वांग चिकित्सा में अन्य शास्त्रीय वचनों का ध्यान रखें वहाँ यह भी ध्यान रखें कि रात्रि को सोते समय औषधि का सेवन विशेष फलदायक है यथा महात्रिफलादि घृत का नेत्र रोगों में प्रयोग रात्रि को सोते समय करायें। अञ्जनों का प्रयोग प्रायः रात्रि को सोते समय ही होता है। शिरः शूल, चक्कर आना (मेनिअर्स सिनड्रोम) आदि में औषधि का युक्तियुक्त विचार कर रात्रि को शयन करते समय औषधि सेवन करायें। नेत्र रोगों में औषधि का प्रयोग रात्रि को सोते समय अवश्य करायें। आप विशेष लाभ प्रतीत करेंगे तथा आयुर्वेद को गौरवान्वित करेंगे।

कुछ प्रस्तुत विशेषांक के विषय में

'धन्वन्तरि' का यह 'ऊर्ध्वजत्रु रोगांक' पाठकों के हाथ में है, यह कैसा बन पड़ा है इसका निर्णय तो आप ही करेंगे। इसके सम्पादन में मुझे जो अनुभव हुए वह प्रस्तुत कर रहा हूँ। 'धन्वन्तरि' के विद्वान लेखकों का एक विशाल समुदाय है जिसके बल-बूते पर ही 'धन्वन्तरि' अपने विशेषांक इतनी सजधज के साथ एवं उच्चकोटि की सामग्री के साथ प्रकाशित कर पाता है। इस बार न जाने क्यों अनेकों विद्वानों ने समयाभाव का आश्रय लेकर लेख भेजने से मना कर दिया। मैं चाहता था कि इस विशेषाङ्क की जो विषय सूची प्रस्तावित की है उसमें कोई विषय अछूता न रह जाये लेकिन सितम्बर मास के अन्त तक जब सभी लेख प्राप्त हो गये तो नेत्र रोग प्रकरण में ही अनेक विषय अछूते थे जिनको कि मैंने जल्दी में लेख लिख कर पूरा किया तथा आगामी कर्ण, नासिका एवं कण्ठरोग प्रकरणों में लेख विशेष अनुरोध करके प्राप्त किये गये, इस प्रकार से यह प्रयास किया गया कि कोई विषय रह न जाये। हाँ कुछ ऐसे विषय अवश्य ही छोड़ दिये गये हैं जिनकी चिकित्सा प्रायः वैद्य नहीं करते हैं जैसेकि मोतिया बिन्द या अधिमन्थ का आपरेशन आदि-आदि। इसमें हमारी यह मान्यता रही है कि इस प्रकार के रोगी चिकित्सक के पास प्रायः नहीं आते। विशेषज्ञ के पास ही जाते हैं। आयुर्वेद के दृष्टिकोण से जो

विवरण उपलब्ध है उसे देने में हमने संकोच नहीं किया है लेकिन आधुनिक शल्य कर्म का विवरण हमने नहीं दिया है। यदि वह दिया जाता तो शायद उसके लिये एक और इससे भी अधिक पृष्ठ वाले विशेषांक की आवश्यकता पड़ती।

इतना कुछ करते हुए भी जब हम कर्ण रोग प्रकरण के अन्त में पहुंचे तो हमें प्रतीत हुआ कि हमारे पास लेख बहुत अधिक हैं लेकिन स्थान कम है। इस कारण एक निर्णय तो यह लिया कि जिन विषयों पर एक से अधिक लेख प्राप्त हुए हैं उनमें से अधिक उपयोगी लेख को प्रकाशित कर दिया जाय शेष छोड़ दिये जायें। यद्यपि यह निर्णय मुझे अत्यन्त अनिच्छापूर्वक लेना पड़ा लेकिन स्थानाभाव की विवशता थी। इस कारण जिन विद्वानों के लेख प्रकाशित न किये जा सके उनसे मैं अत्यन्त विनम्रतापूर्वक क्षमाप्रार्थी हूं। साथ ही पाठकों से भी क्षमा प्रार्थी हूं कि वे उन विद्वानों के विचारों, अनुभवों एवं योगों को न प्राप्त कर सके। इसके अतिरिक्त दूसरा निर्णय यह लिया गया कि "शिरो रोग" विषय जो इस ऊर्ध्वजत्रु रोगाङ्क में समाविष्ट था, उसको इसमें से हटा कर पृथक से परिशिष्टाङ्क रूप में अप्रेल माह में प्रकाशित कर दिया जाये। इसलिये 'धन्वन्तरि' का अप्रेल माह का अंक अब साधारण अङ्क न होकर "शिरो रोग चिकित्साङ्क" होगा। आशा है कि इस निर्णय से 'धन्वन्तरि' के पाठक अवश्य ही प्रसन्न एवं लाभान्वित होंगे क्योंकि उन्हें पठनीय सामग्री एक मास देर से सही लेकिन उपलब्ध अवश्य हो जायेगी।

इस विशेषांक के लेखन कार्य में जिन विद्वानों का सहयोग हमें प्राप्त हुआ है उनके प्रति मैं आभार प्रकट करता हूं। अनेक लेखकों के उच्चकोटि के लेख आपको इस विशेषांक में उपलब्ध होंगे। कतिपय लेखों की भाषा एवं शैली उच्चकोटि की नहीं है लेकिन उनकी सामग्री एवं योग अवश्य ही उपयोगी हैं। हमारी यह मान्यता है कि 'धन्वन्तरि' के पाठक वैद्य हैं वह किसी भाषा के विद्वान नहीं, या उपन्यास लेखक नहीं जोकि भाषा में, शैली में निखार ला सकें। वे तो मात्र अपनी चिकित्सा में जो अनुभव प्राप्त करते हैं तथा वैद्य समाज के लिये हितकारी समझते हैं उन्हें वह साधारण भाषा में लिख भेजते हैं। हमारी भी दृष्टि उनकी भाषा या शैली पर न जाकर उसमें निहित उपयोगी सामग्री पर टिकती है। पाठकों से भी निवेदन है कि वे 'धन्वन्तरि' का इसी दृष्टि से पठन करेंगे।

इस अंक को उच्च कोटि का बनाने के लिये वैद्य समाज ने जो कुछ मुझे दिया है उसे ही भली प्रकार सुसज्जित, बोधगम्य एवं सुव्यवस्थित करके मैं आपके कर-कमलों में अर्पण कर रहा हूं। मैं समझता हूं कि इस दिशा में "धन्वन्तरि" का उन्नति की ओर एक पग है तथा आपकी सेवा में संग्रहणीय और उपादेय साहित्य आपको भेंट किया जा रहा है। लेकिन इसमें अनेकों त्रुटियां भी होंगी उनके लिये क्षमा प्रार्थना करते हुए एवं भविष्य में आपसे सहयोग की कामना करते हुए विराम लेता हूं।

भवदीय :
दाऊदयाल गर्ग
सम्पादक—"धन्वन्तरि"

गुलजार नगर, रामघाट रोड,
अलीगढ़।

शालाक्य तंत्र का इतिहास

— श्री वागीश्वर शुक्ल —

अष्टाङ्ग आयुर्वेद में शालाक्य तन्त्र का परिगणन एक प्रधान अङ्ग के रूप में किया गया है। इसमें ऊर्ध्वजत्रु रोगों की चिकित्सा का वर्णन मिलता है। सुश्रुत ने स्वीकार किया है कि यह अङ्ग इतना गम्भीर है कि इसका वर्णन लाखों श्लोकों द्वारा भी नहीं किया जा सकता। उन्होंने इस तन्त्र के आचार्य के रूप में "विदेहाधिप" का उल्लेख किया है। इससे सिद्ध होता है कि उस काल में इन्हीं आचार्य प्रवर की ख्याति थी। श्रीमद्भागवत् के आख्यानानुसार 'निमि' ही मृत्यु के बाद विदेह कहलाये आयुर्वेदीय ग्रन्थों की पुरानी टीकाओं में यत्र-तत्र उद्धृत मिलते हैं।

निरुक्ति—इस सम्प्रदाय में अधिकांश चिकित्सा कार्य सूक्ष्म यन्त्रों द्वारा सम्पन्न किया जाता है जिन्हें शलाका नामक पारिभाषिक संज्ञा प्राप्त होती है। इसी के आधार पर इसकी ख्याति शालाक्य तन्त्र के रूप में हुई। इसके विपरीत शल्य तन्त्र वैद्यों के यन्त्र-शस्त्र स्थूल हुआ करते हैं। यद्यपि शालाक्य तन्त्र में कान, नाक, मुख, नेत्र, ग्रीवा, शिर आदि अवयवों की व्याधियों का समावेश होता है

शालाक्य तन्त्र का इतिहास बहुत प्राचीन एवं विशाल है। श्री शुक्ल जी ने उसे संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया है जो सहज बुद्धिगम्य है। इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में आयुर्वेद कितनी उन्नत अवस्था में था। उत्तर वैदिक काल में ग्यारह शालाक्य तन्त्रों का नामोल्लेख प्राप्त होता है जिनमें आज कोई भी उपलब्ध नहीं। हो सकता है कि अन्य भी ऐसे ग्रन्थ हों जिनका नामोल्लेख तक प्राप्त न होता हो। अब भी उपलब्ध संहिताओं एवं अन्य ग्रन्थों में शालाक्य तन्त्र के विषय में बहुत कुछ सामिग्री प्राप्त होती है। आवश्यकता है उसका अध्ययन कर उसको नवीन रूप प्रदान करने की जो सहज ही बुद्धिगम्य होवे तथा चिकित्सोपयोगी होवे।

श्रद्धेय शुक्ल जी वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय में संहिता विभाग में प्राध्यापक हैं इस कारण भी उनसे इस विषय में गहन अध्ययन की, एवं उनके इस लेख के प्रामाणिक होने की आशा की जाती है। आशा है कि पाठक इससे लाभान्वित होंगे।

— दाऊदयाल गर्ग

अतएव इनकी उत्पत्ति एवं प्रचार का काल यह तो रहा ही होगा। चाहें तो हम इनको महाभारत से पूर्ववर्ती भी मान सकते हैं, क्योंकि इन्हीं के वंशज 'जनक विदेह' की पालिता पुत्री सीता से त्रेता के मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम का विवाह हुआ था।

'निमितन्त्र' के अतिरिक्त प्राचीन काल में काङ्कायन, गार्ग्य, गालव, सात्यकि, शौनक, कराल, चक्षुष्य, कृष्णात्रेय आदि महर्षियों-राजर्षियों द्वारा निर्मित शालाक्य तन्त्रीय प्रस्थान प्रचलित थे। इन ग्रन्थों के एकाध वाक्य आज भी और इनसे सम्बद्ध शस्त्र कर्म तथा विविध औषधोपचार किये जाते हैं किन्तु नेत्र चिकित्सा विशेषज्ञों के लिये ही यह शब्द रूढ़ हो गया था।

जिस प्रकार कायचिकित्सा सम्प्रदाय के आदि आचार्य ब्रह्मा माने जाते हैं उसी प्रकार शालाक्य तन्त्र के आदि आचार्य के रूप में भास्कर को उल्लिखित किया जाता है। ब्रह्मा के बाद इन्द्र तक की परम्परा देवताओं के मध्य थी किन्तु सूर्य ने सीधे इस ज्ञान को विदेहाधिपति जनक को प्रदान किया ऐसा उल्लेख मिलता है। यों ऋग्वेद में ऐसा

वर्णन आया है कि पिता के शाप से ऋज्राश्व नामक ऋषि अन्धे हो गये थे। अश्विनीकुमारों ने उनके अन्धे नेत्रों को शालाक्य कर्म के द्वारा देखने योग्य बना दिया था। इस प्रकार सूर्य और अश्विनीद्वय—दोनों देवताओं का नाम शालाक्यविद् के रूप में मिलता है।

शालाक्य तन्त्रीय संहिताओं की सूची—

(१) विदेहतन्त्र—इसका उल्लेख चरक और सुश्रुत दोनों ही संहिताओं से मिलता है।

(२) निमितन्त्र (३) काङ्कायन तन्त्र

(४) गार्ग्यतन्त्र (५) गालवतन्त्र

(६) सात्यकितन्त्र (७) शौनकतन्त्र

(८) भद्रशौनक तन्त्र (९) करालतन्त्र

(१०) चक्षुष्यतन्त्र

(११) कृष्णात्रेय तन्त्र—ये काय-चिकित्साविद् महर्षि कृष्णात्रेय से भिन्न व्यक्ति प्रतीत होते हैं।

उपर्युक्त सभी ग्रन्थ उत्तर वैदिक कालीन हैं। मानव जाति के पास ऋग्वेद के रूप में सर्वाधिक प्राचीन लिपि-बद्ध ग्रन्थ रत्न मौजूद हैं। इसमें दो मन्त्र मिलते हैं जिनसे ध्वनित होता है कि ऋज्राश्व के अन्धे होने का कारण उनका अपना ही दुष्कर्म था। इन्होंने एक वृकी पाली थी जिसे रोज अपने हाथ से भेड़ें काटकर उसका मांस खिलाते थे। ब्राह्मण पुत्र ऐसा जघन्य कर्म करे तो उसका पिता इसे कैसे बर्दाश्त कर सकता है? पिता ने शाप दिया कि तुम अन्धे हो जाओ। बाद में ऋज्राश्व ने किसी प्रकार से अश्विनी कुमारों को प्रसन्न किया जिन्होंने उन्हें दृष्टिदान दिया। यह प्रसङ्ग ऋग्वेद के प्रथम काण्ड के ११२, ११६ और ११८ मण्डल में बहुशः आया है, अतएव तथ्यपूर्ण है। कोरी कल्पना नहीं है ऐसा सिद्ध होता है।

अब प्रश्न उठता है कि यहाँ पर किस प्रकार शस्त्र कर्म किया गया। रोगी किस व्याधि से पीड़ित था? इस कार्य को पूर्ण करने के लिए किन किन यन्त्र-शस्त्रों का प्रयोग किया? यह सब स्पष्ट रूप से जाहिर नहीं होता। रोग शस्त्र साध्य था या औषध साध्य था यह भी अनुमान लगाना कठिन है किन्तु अन्धे को दृष्टिदान किया गया यह एक तथ्य है जिसको भुलाया नहीं जा सकता। अन्धे होने के दो कारण बताये गये हैं—एक तो जीव हिंसा और दूसरा पितृ शाप। शापादि से तीनों दोषों का ही प्रकोप होता है। अतएव त्रिदोषज लिंग नाश (Cataract) और उसकी चिकित्सा का यह प्रसंग होना चाहिए। इस प्रकार के लिंगनाश को अनिमित्त माना गया है, अर्थात् कोई शारीर कारण न होते हुए भी इसकी उत्पत्ति भास्वर बीभत्स दर्शनादि से होती है।

लिङ्गनाश की शस्त्र चिकित्सा का वर्णन वर्तमान उपलब्ध आयुर्वेदीय वाङ्मय में एकमात्र सुश्रुत संहिता में मिलता है। यह वर्णन भी अत्यन्त संक्षिप्त (सूत्र रूप में) है। इसकी कुछ अधिक व्याख्या करते हुए वाग्भट ने अपने ग्रन्थद्वय (संग्रह और हृदय में) उद्धृत किया है। वहाँ पर शस्त्र कर्म के साथ ही पूर्व, प्रधान एवं पश्चात् कर्मों का भी निर्देश है जिनके विस्तार में मैं नहीं जाना चाहता। इसे उन ग्रन्थों में से ही देखा जा सकता है। प्रधान समस्या यह है कि प्राचीनकाल में इस व्याधि के लिये जो शस्त्र कर्म होता था उसे आजकल की भाषा में क्या कहा जाना चाहिए? क्योंकि आजकल भी यह अन्धेपन वाला रोग खूब होता है और शस्त्रकर्म के बाद बड़े मजे से ठीक भी हो जाता है। साथ ही इस प्रक्रिया को पूर्ण करना भी उतना जटिल नहीं है। लोग घने देहातों में जाकर नेत्र यज्ञ (Eye camp) करते हैं। अधिक साधन सम्पन्नता की भी जरूरत नहीं पड़ती। अतएव इस पर थोड़ा विचार करें।

प्रथम मत के मानने वाले इसे "काउचिंग आफ दी लेन्स" की संज्ञा देते हैं। इस विधि में काच को निकाला न जाकर इसे स्थान भ्रष्ट किया जाता है किन्तु आयुर्वेदीय ग्रन्थों में इसके लेखन करने का विधान बताया गया है। अतएव दोनों प्रक्रियाओं के एक न होने से इसे काउचिंग नहीं कह सकते।

दूसरा शस्त्रकर्म "नीडलिंग" कहा जाता है। इसमें एक सूची के सारे छिद्र बनाकर द्रव को काच से सम्बद्ध कर दिया जाता है। जिससे उसका धीरे-धीरे शोषण होता रहता है। इसमें भी लेखन क्रिया का कहीं निर्देश नहीं मिलता। सुश्रुत के शस्त्रकर्म के लिये शलाका का निर्देश दिया है—सूची का नहीं। अतएव यह प्रक्रिया भी नहीं घटित होती।

—शेषांश पृष्ठ ३३ पर देखें।

ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों में नाड़ी परीक्षा

श्री वैद्य मदनगोपाल ए. एम. एस.

श्री वैद्य मदनगोपाल जी 'धन्वन्तरि' के सन्मान्य प्राचीन लेखक एवं आयुर्वेदज्ञ हैं। 'धन्वन्तरि' पर आपकी सदैव ही कृपा दृष्टि रही है। सन् १९४८ में आप संक्रामक रोगाङ्क का सफल सम्पादन भी कर चुके हैं। नाड़ी परीक्षा में आपका विशेष अध्ययन है। ऊर्ध्व जत्रुगत रोगों में किस प्रकार नाड़ी परीक्षा करनी चाहिए इसका अत्यन्त रोचक वर्णन दिया है। विस्तारभय से नाड़ी विज्ञान की प्रारम्भिक साधारण जानकारी को लेखक महोदय ने छोड़ दिया है जो कि उचित ही है। लेख उत्तम ज्ञानवर्धक तथा सहज बुद्धिगम्य है।

—दाऊदयाल गर्ग

नाड़ी परीक्षा की कठिनाई से माधव निदान में नाड़ी परीक्षा को कोई स्थान नहीं मिला। यद्यपि नाड़ी परीक्षा शास्त्रीय व आप्तवाक्य की तरह प्रमाणिक मानी जाती है फिर भी माधवकार ने इसका बहिष्कार किया।

विशेषांक आजकल बहुत निकलते हैं पर कोई भी विषय सूची में नाड़ी परीक्षा को स्थान नहीं देते। धन्वन्तरि के सम्पादकों को धन्यवाद है कि उन्होंने नाड़ी परीक्षा को स्थान दिया तथा वर्ष ४८ सितम्बर १९७४ में नाड़ी परीक्षा का लघु विशेषाङ्क भी निकाला। लेखक का एक लेख इस विशेषांक में पृ० २६–३१ तक छपा है जिसमें नाड़ी परीक्षा देखने की प्रारंभिक विधियाँ बताई गई हैं। इस लेख का शीर्षक है 'पुरुष रोगों में नाड़ी परीक्षा' इस लेख को पढ़कर जो सज्जन आज के लेख को पढ़ेगें तो अधिक बोधगम्य होगा। ऊर्ध्व जत्रुगत रोगों में नाड़ी परीक्षा विषय को बोधगम्य बनाने के लिए लम्बे लेख की आवश्यकता है। पर यहाँ केवल छोटा लेख लिखना है।

प्राचीन समय में ज्ञात अधिकांश ऊर्ध्व जत्रुगत रोगों के विषय में शास्त्रकारों ने नाड़ी परीक्षा विषय में नाड़ी परीक्षा का वर्णन किया है यहां उनका लघु संग्रह किया जाता है और जो नये ऊर्ध्वजत्रुगत रोग ज्ञात हुए हैं उनके विषय में भी कुछ चर्चा होगी।

ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों में साधारण नाड़ी परीक्षा

ऊर्ध्वजत्रुविकारेषु यथादोषबलेषु च।
विज्ञायलक्षणं तेषां भिषग् ब्रूयात् धरागतिम्॥

—नाड़ी तत्व दर्शन

गले से ऊपर के शिर, नेत्र, कर्ण, नासिका, मुखादि के रोगों में दोषों का बलाबल जानकर वैद्य को नाड़ी लक्षण कहना चाहिए।

शिर मुख्यतः श्लेष्मा कफ का स्थान है अतः इनके रोगों की परीक्षा अनामिका अंगुली के नीचे की नाड़ी गति से की जाती है। बायें स्थित रोगों का बायें हाथ से तथा दाहिने स्थित रोगों का दाहिने हाथ से पता चलता है। नाड़ी परीक्षा की साधारण परीक्षा बिधि सचित्र लेख धन्वन्तरि वर्ष ४८ सितम्बर १९७४ के अङ्क में पढ़ें।

नाड़ी परीक्षा का विकास

नाड़ी परीक्षा का ज्यों-ज्यों विकास होता गया त्यों-त्यों नाड़ी परीक्षा के स्थलों में भी वृद्धि होती गई। साधारणतया मणिबन्ध समीपस्थ नाड़ी की परीक्षा की जाती हैं। पर बाद में (१) दोनों पैर के गुल्फ के नीचे। (२) दोनों कर्णमूल के नीचे तथा (३) दोनों नासामूल नाड़ियों की भी परीक्षा होने लगी।

हस्तयोरतुष्लकोष्ठान्ते मणिबन्धेऽङ्गुलीद्वयम्।
पादयोर्नाडिका स्थानं गुल्फस्याधोऽगुंलिद्वयम्॥

कर्णमूलेऽङ्गुलिद्वन्दं नासामूलेऽङ्गुलिद्वयम् ।
स्थानान्येतानि नाड़ीनां तासुप्राणा व्यवस्थिताः ।।
वामभागे स्त्रियायोज्या नाड़ी पुंसस्तु दक्षिणे ।।

अन्य ग्रन्थकारों ने नाड़ी परीक्षा के निम्न स्थान गिनाये हैं—

पाणि पाद कण्ठ नासाक्षि कर्ण जिह्वान्तमेढ्रगाः ।
वामदक्षिणतो लक्ष्याः षोडसप्राणवोधनाः ।।

ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों की संक्षिप्त नाड़ी परीक्षा

१. नेत्ररोग—

नेत्रामये मन्थर निष्ठुरास्यात् सपिच्छिलाक्रूरमुपैति नाड़ी ।

नेत्र रोगों में नाड़ी कठोर हो जाती है पर मन्दगामी होती है । यह नाड़ी फिसलने वाली तथा टेढ़ी हो जाती है।

२. शिरोरोग—

शिरोगदे कर्कशधीरगा स्यात्, वर्त्ताकलावप्लुतण च नाड़ी ।

शिरो रोगों में नाड़ी कठोर तथा मन्दगामी होती है पर कभी-कभी कूदती या उछलती हुई ज्ञात होती है जैसे वार्ताक व लाव परिक्षयों में होती है । दूसरों के मत से नाड़ी अति चंचल क्षीण होती है—

शिरोरोगेऽतिचपला क्षीणा क्षैण्यं च वर्त्तणः ।। प्रभाकर ।।

३. मुखरोग—

नाड़ी द्रुतं वहति मांसलनिश्चितांगी ।
क्रूरा वलावलयिनी खलु ववत्र रोगे ।।

मुख रोगों में नाड़ी का स्पर्श मांसल या मांस तन्तु की भांति प्रतीत होती है तथा वलयाकार (गोल) भी प्रतीत होती है ।

४. कर्ण रोग—

वाधिर्ये कर्णशूले च कर्णनादे च चंचला ।
विद्राविणी मांसलविस्तृता स्यात्,
क्ष्वेडादिवाधिर्यगदे च नाड़ी ।।

वधिरता, कर्णशूल, व कर्णनाद में नाड़ी चंचल होती है । अन्य मत से कर्णनाद, वाधिर्य रोग में नाड़ी द्रव के सदृश प्रतीत होती है । कभी कभी नाड़ी मांसतन्तुवत प्रतीत होती है ।

५. नासा रोग—

नासामये मन्थरगामिनी स्याद्,
आलोडिता मन्दमुपैति नाड़ी ।

नासारोगों में नाड़ी मन्दगति वाली होती है ।

ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों में नाड़ी परीक्षण स्थान

१. दोनों मणिवन्धों के ऊपर २ अंगुल स्थान जिसमें अनामिका अंगुली के नीचे की कफ क्षेत्रीय नाड़ी से बोध होता है ।

२. दोनों पैरों के गुल्फसन्धि के नीचे के दो अंगुल स्थान की नाड़ी ।

३. दोनों कर्णमूल में स्थित नाड़ी स्पन्दन प्रतीत किया जाता है । ये ८ स्थान हुए । इनके अतिरिक्त निम्न स्थानों में भी नाड़ी द्वारा प्राणवोधन होता है—

१. दोनों कण्ठनाड़ी ।
२. दोनों आंख के पार्श्व में ।
३. जिह्वाग्र की नाड़ी जिह्वा के नीचे ।
४. मेढ़ या लिङ्ग की नाड़ी ।
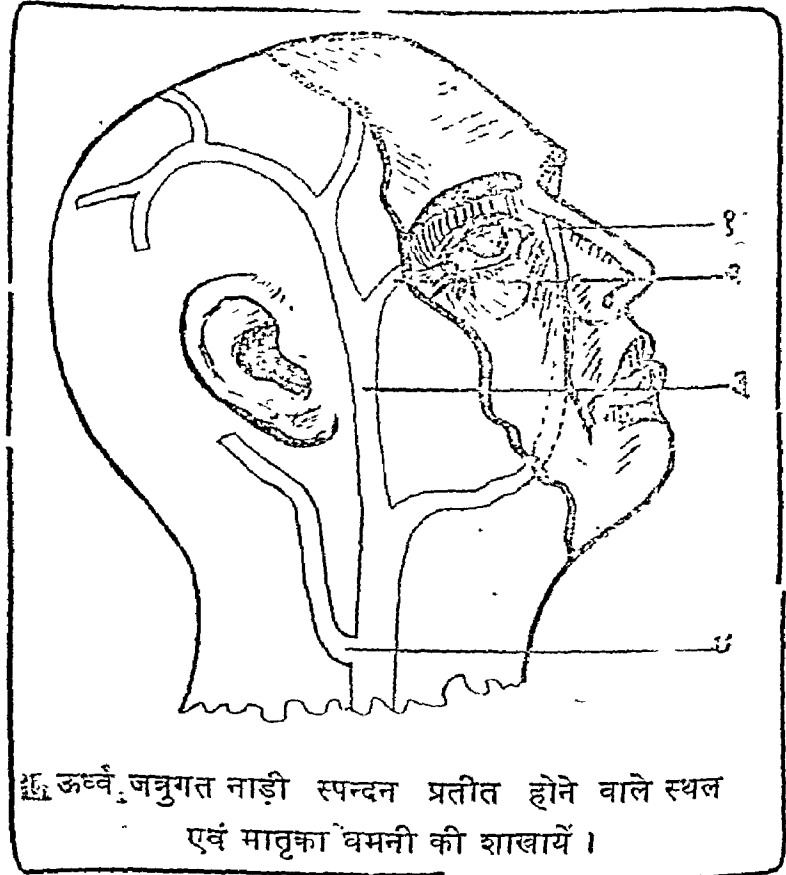
ऊर्ध्व जत्रुगत नाड़ी स्पन्दन प्रतीत होने वाले स्थल एवं मातृका धमनी की शाखायें ।

परीक्षणीय विषय

१. कंठनाड़ी से—

आगन्तुकं ज्वरं तृष्णामायासं मैथुनं क्लमम् ।
भयं शोकं च कोपं च कण्ठ नाड़ी निदर्शयेत् ।।

कण्ठ नाड़ी से आगन्तुक ज्वर, तृष्णा, परिश्रम, मैथुन, श्रम, भय, शोक, कोप का पता लगता है ।

—शेषांश पृष्ठ ३६ पर

धन्वन्तरि
ऊर्ध्वजत्रु रोगाङ्क
नेत्र-प्रकरण

अन्धता की समस्या

श्री पं॰ ध्रुवनारायण तिवारी जी॰ए॰एम॰एस॰

शैशव के प्रारम्भ में प्राक्तन संस्कार एवं जातिगत भाव के अतिरिक्त मानव अपने साथ कुछ नहीं रखता। ...न्त रूप से ही मानव ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों से अपने ...रों ओर के वातावरण से कुछ सीखता है। समुन्नत ...ता है और यह समुन्नति उसी की परिस्थितियों के अनु-...र उसे एक स्वरूप देती है तब वह वैज्ञानिक दार्शनिक ...लाकार एवं न जाने क्या-क्या हो जाता है। जन संकु-...ता और प्रशासनिक हीनताओं के कारण विशिष्ट भू...ाग में समाज की निरीह संस्थिति में प्राकृत संविधानों ...ो यथावत संयोजित करने की क्षमता सर्व साधारण को ...ुलभ नहीं हुआ करती और यदि वह भू-भाग दासता एवं ...शिक्षा की आश्रयस्थली रहा हो तो उसमें जीवन को ...वरूप देने की साधारण सुविधायें भी नहीं हुआ करतीं। ...ऐसी परिस्थिति में मानव अपने अध्ययन के प्रारम्भिक उपकरण दृष्टेन्द्रियों को खो बैठता है तो इसके सहारे चलने वाले कार्य अव्यवस्थित हो जाते हैं। नेत्र मानव को प्रत्यक्ष ज्ञान देते हैं। प्रत्यक्ष पर ही अनुमान उपमान आदि बोधक भाव समाश्रित रहते हैं जिससे मानव अनुभव एवं विवेचना के द्वारा समुन्नति का मार्ग प्रशस्त करता है। तो ! यदि इस हीनता में सामाजिकता एवं समूहशक्ति कारण बनती है-हमें मानना चाहिये कि हम अपनी ही भूलों से अपनी जाति के बहुत बड़े हिस्से को पंगु बना नारकीय जीवन बिताने के लिये दोषी होते हैं। तात्पर्य अंधों की अधिकांश संख्या शासन, समाज तथा व्यक्तिगत हीनता से बनती है।

व्यक्तिगत हीनताओं में हमारी स्वास्थ्य संस्थिति, रहन-सहन एवं जीवन यापन की पद्धतियां विवेचनीय है। यह तो निर्विवाद सत्य है कि राष्ट्र में स्वस्थ व्यक्ति को जनसंख्या वृद्धि का अधिकार है और भी सीमित अधिकार हम तो अभी भी अपने देश में सन्तानोत्पत्ति के अयोग्य अवस्था के विवाहों का अनौचित्य सिद्ध नहीं कर पाये हैं। बाल विवाह में अन्य हानियों के अतिरिक्त सबसे बड़ी हानि यह है कि इनके सम्बन्ध से उत्पन्न संतान विकलाङ्ग एवं अल्पायु होती है।[1] उत्कृष्ट सुयोग्य अविकलांग संतति कल्पना से अभिभूत हो "अप्रशस्त ऋतु काल" की विशद व्याख्या संहिताओं में की गई है।[2] दूसरे यदि हम में नैतिक हीनता होती है और परिणामतः योनि रोगों से हम संक्रान्त रहते हैं तो हमें सन्तान उत्पन्न करने का ही नहीं अपितु इस दिशा में प्रयत्न करने का भी अधिकार नहीं है। इससे हम अपने सहयोगियों एवं आने वाली पीढ़ियों को अपने पापों का परिणाम ढोने के लिये बाध्य करते हैं। हमारे देश का पूर्व काल में नैतिक जीवन बड़ा दिव्य रहा है। हमने दाम्पत्य जीवन एवं अच्छी संतति का समुपयोग किया है। आज की बढ़ी हुई नैतिक हीनता ने हमें फिरङ्ग जैसी व्याधि दी है जो संतति की अन्य हीनताओं में से अन्धता के लिए विशेष उत्तरदायी है। समय के इस मचलते हुए प्रवाह में हमने अपने आप को कुछ इस प्रकार अभ्यस्त बना लिया है जो हमारे नेत्र स्वास्थ्य को संशय में डालते हैं। हमें कितने तीव्र एवं धीमे प्रकाश में पढ़ना चाहिये, कितने मोटे एवं सूक्ष्म अक्षरों को कितनी दूर या सामीप्य से पढ़ना चाहिये, चलती सवारियों में पढ़ना चाहिये या नहीं तथा चल-चित्रों को नेत्र रक्षा की दृष्टि से किस भांति देखना चाहिये आदि बातों पर बिना विचार किये ही हम इनका मिथ्यायोग या अतियोग करते हैं। हमारे नेत्र अपनी सफाई समरक्षा और पोषण हेतु किन लक्षणों से कब क्या मांगते हैं इसे समझने की तो भाषा ही हमारे सामने अभी तक नहीं आ पाई है। ऐसे साहित्य से अरुचि भी अन्धता की समस्या में अपना बहुत हाथ रखती है।

हम एक परिवार बनाते हैं। जो समाज की एक कड़ी

---

[1] जातोवा न चिरंजीवेत जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः। तस्मात अत्यन्त बालायां गर्भाधानं न कारयेत्॥

[2] ऋतौ प्रथम दिवसात् प्रभृति ब्रह्मचारिणी दिवास्वप्नाञ्जनाश्रुपात............परिहरेत्।

होती है। इस इकाई से बना समाज देश के प्राकृतिक साधनों का सार्वजनिक न्याय संगत उपयोग करने के लिये ढांचा बनाता है। यह ढाँचा ऐसी स्थिति की कल्पना रखता है कि इसमें योग्यता के अनुकूल कार्यों का विभाजन कर मानव समाज के प्रत्येक सदस्य को जीवन यापन के लिये काम और भोजन दे सकेगा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये व्यक्ति और समाज को असाधारण कार्य प्रियता, सचाई, सहिष्णुता से ओत-प्रोत रहना चाहिए। किन्तु जब हम देखते हैं कि हम अपनी ही कमी से उद्देश्य तक न पहुँच सके तो इस दिशा से भी हम आँखें नहीं मोड़ सकते। आज की देश की खाद्य स्थिति हमें स्वास्थ्य की समग्र हीनताओं की ओर ले जा रही है। वैज्ञानिक परीक्षण ने निःसंदेह सिद्ध कर दिया है कि कृत्रिम पद्धति से निर्मित वनस्पति घी पाँचवीं—छठी पीढ़ी को अन्धता प्रदान करता है। फिर भी देश में इसके निर्माण एवं खपत पर अवरोध डालने की कोई कारगर नीति हम निर्धारित नहीं कर पा रहे हैं। नेत्रों की समरक्षा के लिये आवश्यक खाद्योज जो दूध, घी, मक्खन एवं फलों में प्रचुरतया प्राप्य हैं समाज के प्रत्येक सदस्य तक आवश्यकतानुसार पहुँचा सकें, इसकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। बढ़ती बेकारी की समस्या इतनी जटिल हो गई है कि हम स्वास्थ्य की उपेक्षा करने के लिये बाध्य होते है। मजदूर भाइयों को जिन्हें सीमेण्ट कारखानों में, ग्लास फैक्टरियों में, वस्तुओं की खराद की जाने वाले प्रतिष्ठानों में तथा भोजन सामग्री निर्माण प्रतिष्ठानों में जहाँ धूमायन वातावरण रहता है, काम करना पड़ता है। जहां वे सार्वजनिक स्वास्थ्य की अपेक्षा अपनी आँखें खराब कर डालते हैं और उनकी दयनीय स्थिति थोड़े ही काल में समुचित चिकित्सा के अभाव में उन्हें अंधता में परिणत कर देती है।

इन सब कारणों के अतिरिक्त अंधता की समस्या में सार्वजनिक स्वास्थ्य संचालक प्रतिष्ठानों की स्थिति अपना विशिष्ट महत्व रखती है। यदि ये स्वास्थ्य संरक्षक प्रतिष्ठान अपने कार्यों को समुचित रूपेण संचालित करते हैं तो सार्वजनिक स्वास्थ्य की समुन्नति के साथ नेत्र स्वास्थ्य का तो सर्वतो भावेन समाधान हो जा सकता है। अंधता की समस्या को सुलझाने के लिये गर्भवती परिचर्या से कार्य प्रारम्भ करना होगा। गर्भ के उचित परिपोषण हेतु गर्भवती के भोजन में खटिक एवं खाद्योजों के प्रकार एवं अनुपात, शरीर भार तथा बाल वृद्धि क्रम को लेकर साधारण भोजन से परिवर्तन करना श्रेयष्कर होता है। अगर ये हीनतायें रह जाती हैं तो परिणामतः अन्य हीनताओं के साथ संतति में नेत्र हीनता की विशेष सम्भावना रहती है[१]। हमारे देश में व्यवस्था पूर्ण प्रसव हो जाय इसकी भी बड़ी कमी है। देश के अधिकांश लोग गांवों में रहते हैं। साधारण स्वास्थ्य एवं प्रसूति कर्म की विशेषताओं का उन्हें प्रायः ज्ञान नहीं होता। ऐसी स्थिति में प्रसव के अनुपयुक्त वातावरण के कारण प्रसवा और बालक में अनपेक्षित शारीरिक विकृतियां घटित होने की सम्भावनायें बनी रहती हैं। इस हीनता से प्रसूता और बालक के प्राणान्त की स्थिति आ सकती है। दौहृद परिचर्या के असावधानियों के परिणामों में भी संतति विकलाङ्गता देखी जाती है[२]। अपत्य पथ संशोधन और शिशु की आँखों में साधारण विसंक्रामक विलयनों के प्रयोग से अधिक से अधिक बच्चों को अंधता की ओर बढ़ने से रोक सकते हैं। बाल कल्याण केन्द्र की समर्थता बालकों में होने वाले संक्रामक रोग यथा मसूरिका, लघु मसूरिका, रोहिणी आदि रोगों के परिणाम में आने वाली नेत्र सम्बन्धी आपदायें जो बालकों की आंखों को अतिशीघ्र अंधता तक पहुँचाती हैं, बचा सकती हैं।

---

[१](क) आहाराचार चेष्टाभिर्य्यादृशीभिः समन्वितौ। स्त्री पुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः॥

An impression upon the mother of any kind acts upon the child. Children are born happy or miserable, according to the shape of fheir mother during pregnancy. Just they are born healthy or ciseased. The most extra ordinary peculiarties are inflicted upon Children of the mother, there is abundent proof that this may extend to the body as well as mind. — Dr. Nicolus.

[२]दौहृद विमाननात् कुब्जं कुणिं खंजं जडं वामनं विकृताक्षमनक्षं वा नारी सुतं जनयति।

गणतन्त्र में व्यवस्था का ढांचा पूर्णतः सार्वजनिक रहता है एवं यह सार्वजनिकता संघटक व्यक्ति के व्यक्तिगत सामाजिक और जातीय समुन्नति के लिये प्रयत्नशील होने की शपथ लेती है। विशाल देशों में कार्य विभाजन की परम्परा से मानवीय समस्याओं को सुलझाने के लिये प्रतिवर्गीय काम के लिये एक विभाग होता है। अंधता की समस्या सुलझाने के लिये स्वास्थ्य विभाग से काम चलता आ रहा है या चलाया जाता है। किन्तु यदि हम यह चाहते हैं कि हमारे देश में अंधी सन्तान पैदा न हो, लोग अपने व्यवसाय और अज्ञान के कारण अंधे न बनें, अंधे अपनी समस्या स्वयं हल करें और हमारे लिए भार न बनें तो हमें इनके लिये एक स्वतन्त्र विभाग की आयोजना करनी चाहिये। जिस विभाग में चिकित्सक, शिक्षक एवं कला तथा विज्ञान के शीर्षस्थ व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त हो सके। क्योंकि स्वास्थ्य उपदेशकों से हमें अंधे बच्चे पैदा न हों. पैदा हुए अंधे न बनें. लोग अपने नेत्र की समरक्षा के साधनों का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लें, सीखना है।

सब कुछ होते हुए भी हम सब यह न भूलें कि आज हमारे देश में ये अंधे हमारी शासनिक, सामाजिक, वैयक्तिक भूलों से ही इस स्थिति तक पहुचे हैं. जो आज की उनकी स्थिति है। मनुष्य होकर भी अमानुषिक जीवन बिता रहे हैं। अंधे अशिक्षित हैं। आर्थिक हीनता के साथ इनमें विषाद की भावनायें है, निराशा है तो हमें अपनी शिक्षा से इनकी अशिक्षा का, अपने वैभव से इनकी गरीबी का, अपनी खुशियों से इनके गम का और अपनी आशाओं से इनकी निराशाओं का विनाश करना है. विनिमय करना है, राष्ट्र के नाम पर, मानवता के नाम पर।

—श्री पं० ध्रुवनारायण तिवारी जी. ए. एम. एस.
जिला परिषद् आयुर्वेदिक औषधालय
रायडीह (सिंहभूमि) विहार

शालाक्य तंत्र का का इतिहास : : पृष्ठ २७ का शेषांश

तीसरा शस्त्रकर्म 'इन्ट्राकैप्सूलर एक्सट्रैक्शन आफ दी लेन्स' कहलाता है। इस प्रक्रिया में काच को बाहर निकाल लेते हैं। सुश्रुत ने भी यहां "हर्तव्यः" शब्द को प्रयुक्त किया है जिसका अर्थ होता है कि निकालना चाहिए। वाग्भट ने इसी का अनुकरण करते हुए "अपहरेत्" लिखा है। इसलिए यही पद्धति सुसङ्गत प्रतीत होती है।

इनसाइक्लोपीडिआ ब्रिटैनिका के नवें संस्करण के २२ वें भाग में ६७२ पृष्ठ पर लिखा है कि आर्यो ने मेडिसिन और सर्जरी चिकित्सा के दोनों ही विभागों में अच्छी उन्नति की थी—

(१) ये लोग नेत्र में शस्त्रकर्म करके लिंगनाश (कांच) को निकाल देते थे।

(२) सुश्रुत ने नासासन्धान का जो विवरण दिया है वह विशुद्ध रूप से भारतीय आविष्कार है। इस कार्य को सम्पादित करने के लिये कपोल से जो जीवित तन्तु उठते थे उसे कुछ समय तक अपने पूर्व स्थान से संबद्ध ही रखते थे ताकि रक्त प्रवाह अनवरुद्ध रहे।

इन सब भूतकालिक बातों को देखते हुए यह प्रश्न सामने आता है कि आज जिस स्थिति में आयुर्वेद विज्ञान है उसमें पहले के ही समान क्या वह जनता की सेवा करने में समर्थ है? कुछ लोगों का यह भी कहना है कि प्राचीनकाल में जो व्याधियां शस्त्रकर्म द्वारा ठीक की जाती थीं उन्हें आजकल औषधियों के सहारे ही ठीक किया जा सकता है? किन्तु ऐसा दावा करना उचित नहीं प्रतीत होता। आज की स्थिति में हमें शालाक्य के जटिल शस्त्रकर्मो को पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान की सहायता लेते हुए पूर्ण करना चाहिये। किन्तु आत्मनिर्भर बनने का दृष्टिकोण छोड़ना नहीं चाहिए। उस दिशा में भी बराबर प्रयत्नशील रहना श्रेयस्कर होगा।

—श्री वागीश्वर शुक्ल
प्राध्यापक—संहिता विभाग, आयुर्वेद महाविद्यालय,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
निवास—आरोग्य मन्दिर.
डी ६२/४३ ई. सोनिया, वाराणसी
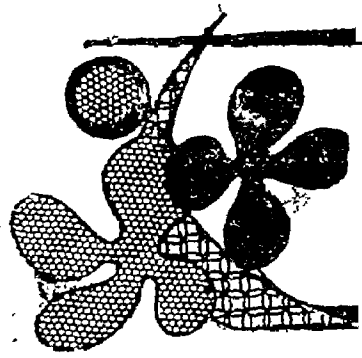
आँख-एक अनमोल मोती

शिवरैना

आपकी आँखें सचमुच बहुमूल्य मोतियों से बढ़कर हैं। छोटी, चमकीली और बाज जैसी आँखों में देखने की शक्ति और आकर्षण ज्यादा होते हैं। बड़ी आंखों वाले गम्भीर, नम्र, शान्तिमय, दूरदर्शी और बुद्धिमान होते हैं।

अपनी आंखों को धूल, गुबार, धुए, कीड़ों और कूड़े-करकट से सुरक्षित रखिए। पानी के सिवा लगभग हर तरल पदार्थ आंख को हानि पहुँचा सकता है। अतएव किसी डाक्टर या अनुभवी व्यक्ति के सुझाव पर ही कोई तरल वस्तु आंख में डालें। अश्रु-गैस और दूसरी सभी गैसें आंखों के लिये हानिकारक हैं। इनसे दूर रहना चाहिये। आंख अत्यन्त कोमल अङ्ग हैं. मामूली चोट से भी इसे सख्त हानि पहुंचती है। गर्म तेल या गर्म पानी के छींटे आंखें फोड़ देते हैं। नुकीले हथियार से काम करते समय आंखों की रक्षा विशेष रूप से करनी चाहिये।

आंखों में हर दो दिन के बाद. रात को बढ़िया किस्म का सुर्मा लगाना चाहिए। सुर्मा लगाकर तुरन्त सोना ठीक नहीं, बल्कि सुर्मा या अन्य दवा डालने के बाद आंखों को बार-बार झपकाना चाहिये। सुबह-सवेरे उठने के बाद, सूर्य की ओर मुंह करके खड़े हो जाना चाहिए और दस मिनट तक अपनी आंखें बन्द रखनी चाहिये। इस क्रिया से सूर्य की किरणें आँखों के अन्दर पहुँच कर उनके स्वास्थ्य व प्रकाश में वृद्धि करती हैं। हरियाली देखने से भी ठंडक पहुँचती है और आँखें नीरोग रहती हैं। कमजोर आँखों वालों को अंधकार या कम प्रकाश में लिखने-पढ़ने या सीने पिरोने से परहेज करना चाहिए।

आप किसी ऐसी छायादार जगह में खड़े हो जाइये, जहाँ आपकी नजरों के सामने नदी, झील, तालाब, जल-प्रपात या फलों-फूलों व हरियाली का आकर्षक दृश्य हो। अब अपनी गर्दन को हिलाये बिना दाहिनी ओर देखिये। दस-बारह बार पलकों को तेजी से झपकाइये और दस मिनट में यह हल्का व्यायाम तीन-चार बार रोज कीजिये। आप सुन्दर, चुस्त और चमकीली आँखों के स्वामी बन जायेंगे। सप्ताह में एक बार नींबू वाली चाय पीजिये और आँखों की ज्योति बढ़ाइये।. गुलकन्द का इस्तेमाल भी लाभप्रद है।

सुबह जागते ही हमें बिना नाश्ता किए, नजर का कोई काम नहीं करना चाहिए क्योंकि उस समय आँखों को भोजन की आवश्यकता होती है। गर्मियों में आँखों की सुरक्षा की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। चेचक आँखों की जन्मजात शत्रु है। बच्चों को चेचक का टीका तुरन्त लगवा लेना चाहिए। शारीरिक दुर्बलता के फल-स्वरूप चक्कर आना, आँखों के लिये बेहद हानिकारक है। आँखों का सबसे बढ़िया प्रकाश तीस वर्ष की अवस्था में होता है। भारत विश्व का तीसरा नेत्र रोग से बचने वाला देश है।

आँख के मामूली रोग की भी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। तुरन्त किसी योग्य डाक्टर या वैद्य को दिखाना चाहिए। टकटकी लगाकर देखने से बचना चाहिए। आँख में कोई कंकड़ या कीड़ा पड़ जाए. तो पानी लेकर उसमें आँख खोलनी और बन्द करनी चाहिये। पानी में आँखें खोलने और बन्द करने का व्यायाम सप्ताह में दो बार किया जाना चाहिए।

अनिद्रा रोग से बुढ़ापा जल्दी आता है और आँखों पर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं। अतएव अच्छे विचारों, संतुलित आहार और जल्दी सोने से अनिद्रा रोग भगाना चाहिये।

नेत्रहीन एवं नेत्र रोगी अधिकृत आंकड़े

आयुर्वेदज्ञ श्री डा. गंगाराम भाटी

आँखों की चिन्ता केवल हम भारतवासियों ने ही कुछ हजार वर्षों पहले से की हो ऐसी एक पक्षीय वात नहीं अपितु हमारे पश्चिमवासी गौरांग बंधुओं ने भी लगभग ३००० वर्ष पूर्व से ऐसी खोज की है और सूसा नामक स्थान से एक ऐसे अप्राप्य अमूल्य ग्रन्थ को ढूँढ़ निकाला है जिसका नाम हेमूरेवियन-संहिता है और जिसमें नेत्रों सम्बन्धी अनेक कानूनों का संग्रह है। उन कानूनों में से एक का उद्धरण करते हुए लिखना पड़ता है। कि "एक नेत्र चिकित्सक को एक आपरेशन के लिए एक शैकल अर्थात् १० चाँदी के सरकारी सिक्के (उन दिनों की प्रचलित राजकीय मुद्रा) दिये जाते थे परन्तु अगर आपरेशन असफल हो जाता (चिकित्सक की असावधानी से) तो राज्य द्वारा उसके हाथ काट दिये जाते थे। ऐसा ही एक ग्रन्थ मिस्र देश (इजीफ) की प्राचीन राजधानी थ्रैंवस में भी प्रगट हुआ है जो कि लगभग २५०० वर्ष पुराना पाँडुलिपि के रूप में सुरक्षित है। इसमें कोई २० प्रकार के नेत्र रोगों की चिकित्सा लिखी है।

एक ओर जहाँ हमारे आचार्य विदेहाधिपति निमि ने नेत्र रोगों का वहुत ही विशद विवेचन अपने काल में किया है उधर दूसरी ओर शारंगधर और वाग्भट्ट ने अपने-अपने ग्रन्थों में ९४ नेत्र रोगों पर प्रकाश डाला है। सुश्रुताचार्य के मतानुसार जवकि ७६ नेत्र रोग हैं तो उधर आचार्य चरक ने दोषों को मात्र प्रधानता प्रदान करते हुए उन्हें केवल ४ भागों में विभक्त किया है। परन्तु आधुनिक नेत्र विशेषज्ञों ने रोगों को गणना के बन्धन से पूर्णतया मुक्त रखना ही उचित समझा है।

अन्धों के प्रति समाज में सदा से दो प्रकार की भावनायें रही हैं। कुछ लोग अन्धों से घृणा करते है तो कुछ उन्हें जन्मजात पापी मानते हैं और उन्हें मानवोचित साधारण सुख सुविधाओं से वंचित रखना चाहते हैं। ऐसा ही स्वयं कुछ नेत्रहीन वन्धु भी मानते हैं और अपने नेत्रों का न होना ईश्वरीय दण्ड मानते हैं। किन्हीं-किन्हीं जातियों में तो जन्मजात अन्धे लड़के लड़कियों को जन्मोपरांत जीवन मुक्त भी कर दिया जाता था। दूसरी तरफ सहिष्णु एवं मानवीय गुणों से परिपूर्ण दयालु पुरुष अन्धों के प्रति एक करुणामय दृष्टिकोण रखते हैं और उनको सुख पहुँचाना अपना धर्म मानते हैं। इसी आधार को लेकर सन् ४०० के लगभग कैपेडोसियम में नेत्रहीनों के लिए एक आश्रम खोला गया था। उसके वाद तो अनेक और आश्रम खुले। सन् १०६६ में इग्लेंड में राजा विलियम के जमाने में एक आश्रम खुला। पश्चात् १२६० में ढेस किवन्ज विटग्स् नामक आश्रम फ्रांस देश की राजधानी पेरिस में खुला जो आज तक उसी नाम से विद्यमान है।

अन्धों को संरक्षण देना जवकि इनकी सहायता करने का एक अङ्ग है- उधर उनको अपने खुद के लिए तथा समाज के लिए उपयोगी वनाना उसका दूसरा अङ्ग है। इस द्वितीय अंग के लिए भी कार्य उसी देश फ्रांस में सन् १७८४ में आरम्भ हुआ। श्री वैलेन्टीन ह्वे नामक एक दयालु समाजसेवी ने पेरिस में अन्धे लोगों के शिक्षण के लिये एक स्कूल खोला जिसमें आरंभ में १२ नेत्रहीन थे। लिखने पढ़ने का कार्य एक वड़ी आकस्मिक घटना से आरम्भ होता है। श्री वैलेन्टीन साव का एक शिष्य उनकी टेवल पर पड़े कुछ कागजों को सफाई हेतु टटोलता है तो उसको एकाएक टेवल पर एक ऐसा सख्त कागज हाथ लगता है जिसके ऊपर उभरे चिह्नों से वह अपने गुरु को कुछ ऐसी ठोस जानकारी अंगुलियों के पोरों (अग्र भागों) से देता है जिसको नकारा नहीं जा सकता। वस यहीं से अन्धे वन्धुओं के भाग्य का फाटक धड़ाम से खुलता है।

परन्तु ब्रेललिपि के जनक तो महाशय लुई ब्रेल ही कहे जायेंगे कारण उन्होंने ही उभरे अक्षरों, आकृतियों,

चिह्नों, बिन्दुओं आदि से आरम्भ में छः संकेत बिन्दुओं से इस अन्धोपयोगी अथवा नेत्र शक्ति हीनोपयोगी भाषा का आज से ठीक १५२ वर्ष पूर्व आविष्कार किया। इस संस्था का नाम भी वही इन्स्टीट्यूट नेशनल डेस ज्वेन्स एव्युगल्स् था जोकि बैलेन्टीन साव ने सन् १२६० में पेरिस में स्थापित की थी। बाद में तो १७९१ में लीवरपूल, १७९९ में लन्दन, १८०५ में बियना तथा सन् १८०६ में बर्लिन में ऐसे विद्यालय खुले।

२० वीं शताब्दी में सन् १९४९ में आक्सफोर्ड में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ जिसमें नेत्र-ज्योति विद्वानों के लिए एक घोषणापत्र मान्य हुआ। अन्तिम आयोजन अभी अभी विश्व स्वास्थ्य संगठन के तत्वाधान में हुआ है और वह सम्मेलन २८वाँ था। अब इन सम्मेलनों में केवल मात्र अंधों के लिए ही नहीं अपितु अंधापन रोकने के उपायों पर भी विस्तार से विशेषज्ञ विचार विमर्श करते हैं।

ऐसा क्यों न हो कारण आज भी संसार में लगभग १ करोड़ व्यक्ति पूर्णतः अंधे हैं। इनके अलावा नेत्र रोगियों की संख्या तो करोड़ों में आती है। अधिकृत आंकड़े संकलन कर्त्ताओं का अनुमान है कि इस प्रकार रोगियों एवं अंधों की रफ्तार को देखते हुए अगले २५ वर्षों में ही यह संख्या दुगुनी हो जायेगी। नेत्रहीनों एवं रोगियों की सर्वाधिक संख्या जहाँ अफ्रीका महाद्वीप में है वहाँ सर्वन्यूनतम संख्या यूरोप महाद्वीप में है। सोवियत संघ में तो यह संख्या सबसे नगण्य है। इधर हमारे देश भारत में आज भीषण नेत्र रोगों से ग्रसित बन्धु बहिनों की सख्या १२ करोड़ है जोकि विश्व के तमाम रोगियों की संख्या के चौथाई के लगभग है।

—श्री डा० गंगाराम भाटी डी.सी.एच.,डी.आर.एस. (लन्दन)
एम. ए. एम. एस. (लाहौर), एम. एस. सी.ए. (झांसी)
आयुर्वेद मनीषी (राज०) आयुर्वेद महोपाध्याय (हैदरा.)
पाली (राज०)

ऊर्ध्व जत्रुगत रोगों में नाड़ी परीक्षा : : पृष्ठ २८ का शेषांश

२. नास्तनाड़ी से—

मरणं जीवितं कामं नेत्र रोगं शिरोव्यथाम्।
श्रवणान् मुखजान् रोगान् नासानाड़ी विनिर्दिशेत्॥

जीवन, मरण, नेत्ररोग, शिरोरोग, कर्णरोग तथा मुख रोगी का पता नासानाड़ी से चलता है।

आत्मा व मन का सम्पूर्ण शरीर में निवास है। ऊर्ध्वजत्रु में पंच ज्ञानेन्द्रियां तथा मुख एक कर्मेन्द्रिय स्थित है। ऊर्ध्वजत्रु के मलों का निकास नासा, मुखविवर, दन्त, त्वक्, कर्ण रन्ध्र, नेत्राश्रु द्वारा होता है। अतः ऊर्ध्वजत्रु की चिकित्सा में नस्य या शिरोविरेचन का अपूर्व महत्व है।

यह नस्यकर्म पांच प्रकार का होता है—

१. प्रतिमर्श, २. अवपीड़न, ३. नस्य, ४. प्रधमन, ५. शिरोविरेचन।

१. प्रतिसारण। २. गण्डूष। ३. कवलग्रह का प्रयोग मुख व दन्त रोगों में होता है।

नेत्र रोगों में निम्न पांच प्रकार की क्रिया होती है—

१. विडालक, २. आश्च्योतन, ३. अंजन, ४. तर्पण, ५. पुटपाक।

ज्ञात अज्ञात सब ऊर्ध्वजत्रु के रोगों में दोषों के बलाबल की परीक्षा नाड़ी से करें। संशोधन, संशमन या कर्षण बृंहण सिद्धान्त के अनुसार चिकित्सा करें तो अवश्य लाभ व यश की प्राप्ति होगी।

विषय को विधिपूर्वक समझने के लिये सद्गुरु के समीप अभ्यास करना आवश्यक है। प्रत्यक्ष के आधार पर ही शास्त्रीय लेखों में श्रद्धा पैदा हो सकती है।

नोट—कंठनाड़ी जिसे मातृका धमनी कहते हैं के पार्श्व में ही मातृका शिरा भी रहती है। अतः भूल से मातृका शिरा का स्पंदन कण्ठ नाड़ी परीक्षा के कर्णमूल नाड़ी परीक्षा के व नासामूल नाड़ी परीक्षा में निर्भ्रान्त होकर धमनी परीक्षा ही करनी चाहिए।

श्री वैद्य मदन गोपाल ए. एम. एस

रूपेन्द्रिय के विकारों को भली-भांति समझने के लिए रचना का ज्ञान अत्यावश्यक है। नेत्र की परीक्षा करने में जिस क्रम से एक के बाद एक भाग दृष्टिगोचर होते हैं उसी क्रम से उसका वर्णन नीचे संक्षेपतः किया जाता है—
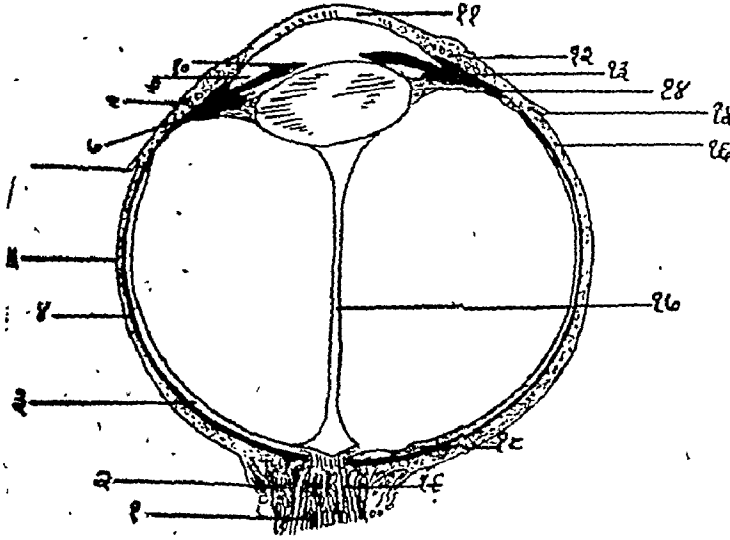
नेत्र रचना
नेत्र गोलक की पड़ी काट

१. दृष्टि पटल की केन्द्रीय धमनी (Central artery of retina)
२. दृष्टि नाड़ी की कला (Optic Nerve Sheath)
३. दृष्टि पटल (Retina) ४. कृष्ण पटल (Choroid)
५. श्वेत पटल (Sclera)
६. नेत्र चालिनी माध्यमिकी पेशी (Rectus medialis)
७. पश्चात् कोष्ठक (Posterior Chamber)
८. नेत्रावरण कला (Conjunctiva)
९. पूर्व कोष्ठक (Anterior Chamber)
१०. उपतारा (Iris) ११. कनीनिका (Cornea)
१२. Sinus Venosus Sclerae
१३. Ciliary Body. १४. ताल (Lens)
१५. नेत्र चालिनी पार्श्विकी पेशी (Rectus Laterlis)
१६. श्वेत पटल (Sclera)
१७. हाइलोयड नलिका (Hyloid Canal)
१८. मैक्यूला ल्यूटिया (Macula Lutea)
१९. दृष्टि नाड़ी (Optic Nerve)

दक्षिण नेत्र—अश्रु नलिका मुख आदि दर्शनार्थ पलकों को हाथ की अंगुलियों द्वारा चौड़ा किया गया है।

नेत्र वर्त्म (Eye-lid)—

नेत्र के सबसे बाह्य भाग को जिससे अक्षि गोलक (Eye-ball) आच्छादित रहता है नेत्रवर्त्म (पलक या Eye-lids) कहते हैं। यह त्वचा के दो स्तरों से बना होता है। इन स्तरों के मध्य में तान्तव धातु की एक किंचित कठोर रचना होती है जिससे इसका आकार स्थिर रहता है। इसे टारसस (Tarsus) कहते हैं। नेत्र-वर्त्म ऊपर नीचे करके दो होते हैं। इनके स्वतन्त्र किनारों पर बहुत से वक्र रोम लगे रहते हैं जिनको नेत्र पक्ष्म (बरौनी Eye-lashes) कहते हैं। इन पक्ष्मों से धूल आदि आगन्तुक वस्तुओं से नेत्र की रक्षा होती है। टारसस के अन्दर छोटी छोटी ग्रन्थियां (Sebaceous glands) होती हैं जिनकी नलिकायें (Ducts) नेत्र-वर्त्म

की स्वतन्त्र धारा पर निकलती हैं, इनको मीवोमियन या टारसल ग्रन्थियां (Meibomian or Tarsal glands) कहते हैं। ये नेत्र विवर्तन से मोती के गुच्छे की तरह दिखाई देती हैं। नीचे तथा ऊपर के दोनों वर्त्म बायें तथा दाहिने ओर जाकर मिल जाते हैं जिन्हें क्रमशः वाम तथा दक्षिण वर्त्मकोर या पार्श्व व अन्तः वर्त्मकोर कहते हैं। दोनों वर्त्मों के ऊपर घने रोमों की एक धनुषाकार पंक्ति होती है जिन्हें भृकुटी (Eyebrow) कहते हैं। वर्त्म में निम्न तीन पेशियां होती हैं—

१. वर्त्मसंकोचिनी ऊर्ध्वा—

(Levater Palpebrae Superioris)

इसमें तृतीय नाड़ी की शाखायें आती हैं।

२. नेत्र निमीलिनी (Orbicularis Oculi)—

इसमें मौखिकी नाड़ी (Facial-nerve) की शाखायें आती हैं।

३. भ्रूसंकोचिनी (Corrugator)—

यह एक छोटी सी पेशी है। इसमें मौखिकी नाड़ी की शंखकीय शाखा के सूत्र आते हैं।

नेत्र श्लेष्मिक-कला (Conjunctiva)—

यह एक कोमल श्लैष्मिक कला का भाग है जो नेत्र-गोलक तथा नेत्र-वर्त्मों के अन्तः पृष्ठ को ढकती हुई वर्त्मों के स्वतन्त्र किनारों तक आती है। तारका या कृष्णमण्डल (Cornea) को ढकने वाला श्लैष्मिक कला का भाग पारदर्शक होता है तथा इसकी रचना भी भिन्न होती है। इस भाग में रक्त नलिकायें नहीं होतीं।

नेत्र-गोलक के श्वेत मण्डल (Scleral portion) को ढकने वाला कला का भाग मोटा, रक्त नलिकाओं से परिपूर्ण तथा अपारदर्शक होता है। श्लैष्मिक कला का वह भाग जो वर्त्मों के अन्तः पृष्ठ को ढकता है वर्त्मांश कहलाता है तथा जो भाग नेत्र-गोलक को ढकता है उसे गोलकीय कला (Bulbar Portion) कहते हैं।

वर्त्मांश तथा गोलकीय कलांश के सीमाओं को क्रमशः Superior, inferior. medial तथा leteral fornix ऊर्ध्व, अधः, अन्तः तथा वहिः सीमायें कहते हैं।

अश्रु यन्त्र (Lacrimal Apparatus)—

इसमें निम्न विभाग होते हैं—

१. अश्रु ग्रन्थि (Lacrimal gland)—यह पूर्विकास्थि (Frontal bone) के हनुप्रवर्धन (Zygomatic Process) के भीतर की ओर अश्रुखात (Lacrimal Fossa) में स्थित है। ऊर्ध्व अधः करके इनके दो भाग हैं। इससे अश्रुस्राव होता है तथा नेत्र-मल बाहर आता है।

२. अश्रु नलिकायें—प्रत्येक वर्त्म में एक होती है। इनका विशेष कार्य अश्रुकोष में अश्रु पहुंचाता है।

३. अश्रु कोष (Lacrimal sac)—यह नासाश्रु नलिका का सबसे ऊपर का भाग है। अश्रुकास्थि ऊर्ध्व हन्विका (Maxilla) के पूर्व प्रवर्धन (Frontal process) तथा अश्रुकला इसकी सीमा बनाते हैं। इसकी लम्बाई १२म.म. है तथा नीचे की अपेक्षा ऊपर अधिक चौड़ा है।
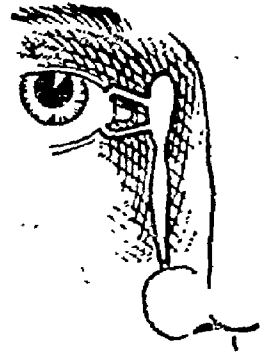
४. नासाश्रुनलिका (Naso-Lacrimal duct)—यह १८ म. म. लम्बी एक नलिका है जो अश्रुकोष से प्रारम्भ होकर नासिका के अधः फलक तक जाती है।

इन बाह्य रचनाओं के बाद ही नेत्र गोलक या अक्षि-पिण्ड (Eye ball) दीखता है जो कि ७ पेशियों द्वारा स्थित है। इनका कार्य नेत्र-गोलक को स्थिति में रखना तथा आवश्यकता व इच्छानुसार स्थिति में परिवर्तन करना है।

अक्षि-पिण्ड (Eye ball)—

नेत्र में यह सबसे प्रधान अङ्ग है। इसमें तीन पटल होते हैं जो देखने में बाहर से भीतर की ओर निम्न क्रम से मिलते हैं—

१. तान्तव पटल (Fibrous tunic)—

इसमें श्वेत पटल या बाह्यपटल (Sclera) तथा तारका कृष्ण मण्डल सम्मिलित हैं।

२. रक्त पटल (Vascular or pigmental tunic)

इसमें रक्त-पटल या मध्य पटल (Choroid), उप नेत्र प्राचीरा (Ciliary body) तथा नेत्र प्राचीरा (Iris) सम्मिलित हैं।

३. नाड़ी पटल या अन्तः पटल (Retina)—

तान्तव पटल (Fibrous tunic)

श्वेत पटल (Sclera)—तान्तव पटल के श्वेत भाग को श्वेत पटल या बाह्यपटल (Sclera) कहते हैं। यह आपादर्शक होता है। इसके आगे स्थित पारदर्शक भाग को तारका या कृष्ण

मण्डल (Cornea) कहते हैं। श्वेत पटल नेत्र गोलक के ⅚ भाग में स्थित है तथा तारका ⅙ भाग में स्थित है। पीछे की ओर श्वेत पटल में दृष्टि-नाड़ी (optic nerve) तथा श्वेत पटल-गत केन्द्रीय धमनी व शिरा का प्रवेश होता है।

तारका (Cornea) तथा श्वेत पटल (Sclera) के संयोगस्थान को शुक्ल-कृष्णगत सन्धि (Sclerocorneal Junction) कहते हैं। श्वेत पटल में इस सन्धि के समीप एक गोलीय नलिका (circular canal) है जिसे श्वेत पटलगत शिरा-कुल्या कहते हैं।

तारका या कृष्ण मण्डल (Cornea)—यह श्वेत पटल का पूर्वीय पारदर्शक गोल भाग है। अनुप्रस्थ दिशा में (Transversly) यह कुछ आगे से चौड़ा है। इसका पूर्व पृष्ठ (Anterior surface) उन्नतोदर (convex) है। इसमें रक्त नलिकायें नहीं होतीं।

रक्त पटल

१. रक्त पटल या मध्य पटल (Choroid)—

यह पटल श्वेत-पटल के अन्तः पृष्ठ पर व्याप्त होता हुआ दृष्टि पटलावसान (ora serrta) तक फैला है तथा उपनेत्र प्राचीरा (Ciliary body) द्वारा नेत्र प्राचीरा (iris) से सम्बन्धित है। यह पतला तथा रक्त नलिकाओं से परिपूर्ण भूरे रङ्ग का एक पटल है। इसमें भी दृष्टि नाड़ी (optic nerve) पीछे की ओर प्रवेश करती है।

२. उप-नेत्र प्राचीरा (Ciliary body)—

इसके निम्न तीन भाग है।

अ—वर्त्म प्राचीरा (Orbicularis Ciliaris)

यह ४ म.म. चौड़ा एक पेश्याकार भाग है जो रक्त पटल के पूर्व भाग से सम्बन्धित है। इसमें से किरणों की भांति बहुत से उत्सेध निकलते हैं।

ब—उपनेत्र प्राचीरा प्रवर्धन (Ciliary Process).

यह भाग रक्त पटल में बहुत सी सिकुड़नें पड़ जाने से बना है। इनकी संख्या लगभग ८० है। ये गोलाई में स्थित है तथा नेत्र कांच के साथ एक स्नायु (suspensory ligament) से सम्बन्धित है।

स—उपनेत्र प्राचीरा पेशी (Ciliary Muscle)—

यह बिना धारी के पेशी सूत्रों का भूरे रङ्ग का अर्ध पारदर्शक ६ म. म. चौड़ी एक गोल रचना है। इसमें गोलीय तथा तिर्यक् सूत्र पाये जाते है।

३. नेत्र प्राचीरा (Iris)—

यह एक पतली गोलाकार संकोचनशील रचना है जो कृष्ण मण्डल तथा कांच के बीच तेजो-जल में स्थित है। विभिन्न पुरुषों में यह विभिन्न वर्ण की होती है अतः इसे बहुवर्णी भी कहते है। यह कृष्ण मण्डल तथा कांच के भाग को पूर्व तथा पश्चात् कोष्ठ नामक दो भागों में विभाजित करती है। नेत्र प्राचीरा के मध्य में एक छिद्र है जिसे दृष्टि मण्डल (Pupil) कहते हैं।

नेत्र प्राचीरा में दो प्रकार की रचनायें पायी जाती हैं। एक गोलीत सूत्र दूसरे किरणानुगामी (Radiating) सूत्र। गोलीय सूत्रों के संकोच से दृष्टि-मण्डल छोटा हो जाता है तथा किरणानुगामी सूत्रों के संकोच से दृष्टि-मण्डल (Pupil) बड़ा हो जाता है।

पूर्व कोष्ठ (Anterior Chamber)—

इसके पूर्व में कृष्ण मणल का पश्चात् पृष्ठ पीछे की ओर नेत्र प्राचीरा (iris) का पूर्व पृष्ठ तथा कांच का केन्द्रीय भाग (Central portion of the lens) स्थित है।

पश्चात् कोष्ठ (Posterior Chamber)—

यह नेत्र-प्राचीरा के पीछे की ओर तथा कांच (Lens) व तङ्गतस्नायु (Suspensory ligament) के सामने की ओर स्थित है।

ये दोनों कोष्ठ एक प्रकार के द्रव से भरे रहते हैं। जिसे तेजो जल (Aqueous-Humour) कहते हैं।

❋ दृष्टि पटल (Retina) ❋

यह नाड़ी तन्तुओं का एक कोमल स्तर है जिससे प्रकाश का ग्रहण होता है। इसका वाह्य-पृष्ठ रक्त पटल से लगा होता है। अन्तः पृष्ट मेदस पिण्ड के आवरण से लगा होता है। पीछे की ओर यह दृष्टि-नाड़ी से सम्बन्धित है। यह पीछे से आगे की ओर क्रमशः पतला होता जाता है। उपनेत्रप्राचीरा के समीप खात के रूप में इस रचना का अन्त हो जाता है जिसे दृष्टि पटलावरण (Ora Serrata)

कहते हैं। दृष्टि पटल एक परमासक रक्ताभ पटल है जो प्रकाश पड़ने पर धूमिल अपारदर्शक तथा वर्णहीन हो जाता है। पटल के पश्चात् भाग केन्द्र में एक अण्डाकार पीत भाग है जिसे पीतक्षेत्र (Macula Lutea) कहते हैं। इस क्षेत्र का केन्द्रीय भाग अधिक गहरा है इसे पीत क्षेत्र केन्द्र (Fovea Centralis) कहते हैं। इस केन्द्र स्थान पर दृष्टिपटल अत्यन्त सूक्ष्म होता है। पीतक्षेत्र के ३ म. म. नासा समीपतर भाग में दृष्टि-नाड़ी दृष्टिखात (Optic Disc) में प्रवेश करती है। इसका व्यास १॥ म. म. है। दृष्टि खात (-optic disc) के केन्द्र में दृष्टिपटल की केन्द्रीय धमनी व शिरा प्रवेश करती हैं। इस खात पर प्रकाश का प्रभाव नहीं पड़ता।

इस पटल की रचना में १० स्तर पाये जाते हैं जिनमें (Rods and Cones) राड्स तथा कोन्स का सप्तम स्तर सबसे महत्व का है। इसी स्तर द्वारा रूप ग्रहण होता है।

नेत्र के प्रकाशावर्तक माध्यम (Refracting Media)–

यह हम देख चुके हैं कि रूप ग्रहण का कार्य दृष्टि-पटल में होता है। अतः इस स्थान तक प्रकाश किरणों का पहुँचना बहुत आवश्यक है। परन्तु हम देख चुके हैं कि इस पटल के आगे तारका, तेजो-जल तथा कांच आदि कई रचनायें उपस्थित हैं। अब हमें यह देखना है कि प्रकाश इनसे होकर कैसे जाता है? चूंकि इन रचनाओं से होकर प्रकाश जाता है अतः ये प्रकाशा वर्तक माध्यम कहलाते हैं। इन प्रकाशावर्तक माध्यमों के विषय में जानना आवश्यक है।

१. तेजोजल (Aqueous humour)—

यह एक प्रकार का द्रव पदार्थ है जो नेत्र-गोलक के पूर्व तथा पश्चात कोष्ठ में रहता है। इसकी प्रतिकिया क्षारीय होती है। यह तनु लवण विलयन के सदृश होता है जो कि रक्त रस (Blood plasma) से निर्मित होता है। यहां से उपनेत्र प्राचीरा प्रवर्धन (Ciliary Process) के द्वारा पश्चात्कोष्ठ में जाता है तथा विभिन्न छिद्रों से उपनेत्र प्राचीरा पूर्विका शिरा (Anterior ciliary vein) में इसका प्रवाहण होता है।

२. मेदसपिण्ड (Vitreous body)—

यह पिण्ड दृष्टि पटल (Retina) के भीतर नेत्र के ४/५ भाग में स्थित है। सामने की ओर कांच (Lens) की स्थिति के लिए एक खात है। यह एक पारदर्शक रचना है जो मेदसआवरण से ढका है। इसके बीच में दृष्टि नाड़ी (Optic nerve) के प्रवेश स्थान से लेकर कांच के पश्चात् पृष्ठ तक आवरण निर्मित एक नलिका है जिसे मेदसपिण्ड-गतनलिका कहते है।

इसमें एक प्रकार का अर्धद्रव पदार्थ भरा रहता है, जिसे मेदोजल कहते हैं। इसमें ९८.६ प्रतिशत जल, कुछ नमक तथा थोड़ा मेद (Protein) रहता है। इसमें रक्त नलिकायें नहीं होतीं।

३. नेत्र कांच—

यह एक पारदर्शक आवरण से आच्छादित रहता है। इसके सामने नेत्र-प्राचीरा (Iris) तथा दृष्टिमण्डल (Pupil) व पीछे मेदस पिण्ड (Vitreous body) हैं। इसके किनारे उपनेत्र प्राचीरा प्रवर्धन से ढके रहते हैं। एक स्नायुतंत्र के द्वारा यह स्थिर रहते हैं तथा उसके संकोच विस्तार से कांच का भी संकोच विस्तार होता है। नेत्र कांच पारदर्शक उभयतः उन्नतोदर (Convex) है। पूर्व पृष्ठ पश्चात् पृष्ठ की अपेक्षा अधिक उन्नतोदर है। दोनों पृष्ठों के केन्द्र बिन्दुओं को ध्रुव कहते हैं। इनके मिलाने वाली रेखा को कांच का अक्ष (Axis of the lens) कहते हैं। इसमें पलांडु (प्याज) की भांति स्तरमय रचना होती है। सबसे मध्य में एक केन्द्र विन्दु (Nucleus) भी होता है।

नेत्र का रक्त संचार—

नेत्र का पोषण कई धमनी तथा शिराओं द्वारा होता है। इनमें चाक्षुषी धमनी (Opthalmic artery) की निम्न उपनेत्र प्राचीरा शाखायें (Ciliary branches) मुख्य हैं।

१. लघु पश्चादुपनेत्र प्राचीरा—

यह २० धमनियों का समूह रक्त पटल (Choroid) को जाती है।

२. दीर्घ पश्चादुपनेत्र प्राचीरा—

यह श्वेत पटल (Sclera) उपनेत्र प्राचीरा तथा श्वेत पटल व रक्त पटल के मध्य में स्थित है।

इनका बराबर विभाजन होता चला जाता है। और अन्त में **बृहद् तथा लघु धमनी वृत्त बनाती हैं।**

३. पूर्व उप-नेत्र प्राचीरा धमनी—
यह नेत्र-गोलक तथा शुक्लकृष्णगतसन्धि (Sclero-corneal Junction) को जाती है।
४. दृष्टि पटल की केन्द्रीय धमनी।
५. अश्रुका धमनी।
६. पेशीगत शाखायें।

नेत्र की नाड़ियां—

नेत्र-क्रियाओं का नियन्त्रण अन्य स्थानों की भांति यहां भी नाड़ी तन्तुओं से होता है। इनमें से निम्न लिखित मुख्य हैं—

१. **दृष्टि नाड़ी (Optic nerve)—**
दोनों नेत्र गोलकों में १-१नाड़ी होती है। आगे चल कर दोनों एक दूसरे को अतिक्रमण करके Optic chiasma बनाती हैं। इसके आगे इसको दृष्टि मार्ग (Optic tract) कहते हैं।
२. **नेत्र चालिनी नाड़ी (Oculomoter)—**
नेत्र की पेशियों को जाती है।
३. **ट्राक्लियर नाड़ी (Trochlear nerve)—**
तिर्यग्गा ऊर्ध्वा पेशी में जाती है।
४. **त्रिमूलिका नाड़ी की चक्षुगा शाखायें—**
५. **दीर्घ व लघु उपनेत्र प्राचीरा नाड़ी—**
६. Abducent nerve—पार्श्व दण्डिका (Rectur Lateralis) पेशी को जाती है।

प्रायः चिकित्सा ग्रन्थों में नेत्र-रोगों के निदान व चिकित्सा का सविस्तार वर्णन पाया जाता है। आजकल ऐसा साधारण विचार प्रचलित है कि शायद प्राचीन ऋषियों को नेत्र की रचना विषयक ज्ञान नहीं के बराबर था पर यह विचार बिल्कुल भ्रमात्मक है। मैं इस लेख के साथ नेत्र-रचना सम्बन्धी शास्त्रीय वर्णन को संकलित करके उद्धृत करता हूं जिससे यह स्पष्ट हो जायगा कि ऋषियों का ध्यान इस ओर भी काफी दूर तक गया था।

१ प्रत्यंगेषु नेत्रेद्वे। —सु०शा०अ० ५
२ द्वे अक्षिकूटे, चत्वारि अक्षिवर्त्मानि, द्वे अक्षिकनीनिके, द्वे भ्रुवौ, अक्षि चतुरंगुलम्। —च०चि०अ० ८।
द्व्यंगुलानि वृषणचिबुक दशन-
नासापुटभागकर्णमूलनयनान्तराणि।
चतुरंगुलानि मेहनवदनान्तर-
नासाकर्ण ललाटग्रीवोच्छ्रायदृष्ट्यन्तराणि॥
—सु०सू०अ० ३५।
३ अस्थिप्रस्तावे—द्वे अक्ष्णोः
४ पेशीप्रस्तावे—द्वे नेत्रयोः —सु० शा० ५।
५ धमनीव्याकरणे—ऊर्ध्वगाःदश-शब्द स्पर्शरूपरस-गन्धप्रश्वासोच्छ्वास जृम्भित क्षुद्धसितकथितरुदितादीन् विशेषानभिवहन्त्यः शरीरं धारयन्ति।
शब्द रूप रसगन्धानष्टाभि गृह्णीते।
द्वे चाश्रु वाहिन्यौ —सु०शा०अ० ९।
६ शिरावर्णने—अष्टौनेत्रयोः —सु०शा० ७।
अष्टात्रिंशत् उभयोर्नेत्रयोः —सु०शा० ७।
७ सन्धिवर्णने—द्वौवर्त्ममण्डलजौ नेत्राश्रयौ।
मण्डल सन्धिरत्र सन्धिभेदेषु उक्ता
—सु.शा. ५
८ नयन त्रिभाग परिणाहा तारका
नवमस्तारकांशो दृष्टिः } सु. सू. ३५

इस प्रकार स्पष्ट है कि विभिन्न स्थलों में नेत्र रचना का पूर्ण वर्णन पाया जाता है। इसके अतिरिक्त सुश्रुत संहिता में उत्तर तन्त्र प्रथम अध्याय में नेत्र-रोगों के वर्णन के पूर्व ही नेत्र की रचना का समुचित वर्णन पाया जाता है जो निम्न प्रकार है—

विद्याद् द्व्यंगुलबाहुल्यं स्वांगुष्ठोदर सम्मितम्।
द्व्यंगुलं सर्वतः सार्धम् भिषङ् नयन बुद्बुदम्॥
सुवृत्तं गोस्तनाकारं सर्वभूतगुणोद्भवम्।
पलं भुवोऽग्नितो रक्तं, वातात् कृष्णं सितं जलात्।
आकाशादश्रुमार्गाश्च जायन्ते नेत्र बुद्बुदे॥

इस श्लोक में नेत्र की पांच भौतिक रचना का वर्णन किया है जो कि आयुर्वेद तथा अन्य प्राच्य शास्त्रों की एक विशिष्ट विचारधारा का द्योतक है।

दृष्टि चात्र तथा वक्ष्ये यथा ब्रूयात् विशारदः।
नेत्रायामत्रिभागं तु कृष्णमण्डलमुच्यते॥
कृष्णात् सप्तमिच्छन्ति दृष्टिं दृष्टि विशारदाः।

अभी ऊपर के वर्णन में दृष्टि-मण्डल को तारका का नवमांश (नवमः तारकांशो दृष्टिः) बतलाया गया है और उसी ग्रन्थ में इस श्लोक में सातवां सप्तामांश कहा गया है। अतः इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये, क्योंकि विभिन्न

विभिन्न मनुष्यों में इसके नाम में विभिन्नता पायी जाती है। संक्षेप में—

नेत्रायाम्	२॥ अंगुल	$\frac{५}{२}$ अंगुल
कृष्ण मण्डल	$\frac{५}{२} \times \frac{१}{३} =$	$\frac{५}{६}$ अंगुल
दृष्टिमण्डल	$\frac{५}{६} \times \frac{१}{७} =$	$\frac{५}{४२}$ अंगुल
	$\frac{५}{६} \times \frac{१}{९} =$	$\frac{५}{५४}$ अंगुल

(नवमः तारकांशो दृष्टि)

निम्न-श्लोकों में दृष्टि मण्डल का प्रमाण 'मसूर दल' कहा गया है यथा।—

मसूर दल मात्रां तु पंचभूत प्रसादजाम्।
खद्योत विस्फुलिंगाभां सिद्धां तेजोभिरव्ययैः॥
आवृतं पटलनेक्ष्णोर्बाह्येन निवराकृमिम्।
शीत सालयां नृणां दृष्टिमाहुर्नयनचिन्तकाः॥

—सु० उ० अ० ६

मंडलानि च सन्धीश्च पटलानि च लोचने।
यथाक्रमं विजानीयात् पंचषट् च षडेव च॥
पक्ष्मवर्त्म श्वेत कृष्ण दृष्टीनां मंडलानि तु।
अनुपूर्वन्तु ते मध्याश्चत्वारोऽन्त्या यथोत्तरम्॥

१—पक्ष्म मण्डल (Eye lashes)

२—वर्त्ममण्डल (Margin of lids)

३—श्वेत मण्डल (Cal de sac–area lined by upper and lower fornix)

४—कृष्ण मण्डल (Cornea)

५—दृष्टि मण्डल (Pupil)

पक्ष्मवर्त्मगतः सन्धिः वर्त्मशुक्लगतोऽपरः।
शुक्ल कृष्णगतस्त्वेन्त्यः कृष्णदृष्टिगतोऽपरः॥
ततः कनीनिकागतः षष्ठश्चापाङ्गगः स्मृत॥

१—पक्ष्मवर्त्मगतः सन्धिः—Union of the eye. lashes and eye-lids।

२—वर्त्मशुक्लगत संधि—The two fornix.

३—शुक्लकृष्णगत सन्धि–Sclero-corneal junction.।

४—कृष्ण दृष्टि-गत सन्धि–Pupillary margin.

५—कनीदृष्टि-गत सन्धि—Inner Canthus द्वेअक्षिकनीनिके इत्यत्र 'कनीनिका' शब्देन नासया सममक्षि सन्धिरमिधीयते। इति चक्रपाणिः।

६—अपाङ्ग सन्धि—Lateral canthus.

द्वे वर्त्मपटले विद्यात् चत्वार्य्यन्यानि चाक्षिणी।
जायन्ते तिमिरं तेष व्याधिः परमदारुणः॥
तेजोजलाश्रितं बांह्यं तेष्वन्यत् विशिताश्रितम्।
मेदस्तृतीयं पटलमाश्रितं त्वास्थि चापरम्।
पंचमांससम दृष्टेः तेषां बाहुल्यमिष्यते॥

ऊपर के इन तीन श्लोकों में नेत्र के ६ पटलों का वर्णन किया है। इनमें ३ वर्त्म पटल बिल्कुल स्पष्ट हैं। परन्तु अन्य ४ पटलों के विषय में कोई निश्चित धारणा नहीं है। कोई ४ पटलों को नेत्रकांच (Lens) का विभिन्न स्तर मानते हैं; कोई इससे दृष्टि पटल (Retina) के स्तरों का अनुमान लगाते हैं। कोई श्वेतपटल (Sclera), रक्तपटल (Choroid) तथा दृष्टिपटल (Retina) आदि को इसके अन्तर्गत समझते हैं।

इस तरह यह स्पष्ट है कि इसके विषय में विद्वानों की कोई स्पष्ट धारणा नहीं हैं परन्तु फिर भी निम्न मुख्य बातों को ध्यान में रखते हुए पटलों का निर्णय करना चाहिए—

१—इनमें तिमिर रोग (Loss of sight)।

२—पटल-गत रोगों का वर्णन दृष्टिगत रोगों में किया गया है जिसका अर्थ दृष्टि-मण्डल गत रोग हो सकता है। पर दृष्टि-मण्डल (Pupil) का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अतः दृष्टिगत शब्द से उन सब रचनाओं का ग्रहण करना चाहिये जिन्हें प्रकाश अतिक्रान्त करके अन्त में उसका ज्ञान दृष्टिनाड़ियों को होता है।

३—नक्तान्ध्य दिवान्ध्य रोग तृतीय पटल में होते हैं।

४—पटलों की मोटाई दृष्टिमण्डल का पंचमांश है।

५—बाह्यपटल तेजोजलाश्रित है, द्वितीयपटल पेशी का है, तृतीय पटल मेद से बना है, चतुर्थ पटल अस्थि पर आश्रित है। इसके विरुद्ध ध्यान करने की बात यह है कि चतुर्थपटल में लिंगनाश (मोतियाबिन्दु) रोग होता है। इससे भी विचित्र विरोधी बात यह है कि कांच की मोटाई का 'पंचमांससमं दृष्टेः' से बिल्कुल मेल नहीं खाता।

इन सब विरोधी बातों को देखते हुए जिनके आधार पर निर्णय करना है किसी निश्य पर पहुंचना असम्भव है। यदि सभी आप्त वाक्य मानकर सब बातें सही मान ली जाय तो कोई भी निर्णय नहीं हो सकता। अतः विवश होकर कुछ बातों को असंत्य मानना होगा। अब मैं आधुनिक नेत्र-रचना को ध्यान में रख जिनकी रचना पटल की भांति है तथा मोटाई भी अत्यल्प है कुछ रचनाओं का नाम नीचे देता हूं। इन रचनाओं में से पटलों की सम्भावना की जा सकती है।

१. Corneal Layer—यह पटल स्वरूप है। मोटाई भी अल्प है। तेजोजलाश्रित है इसके पीछे Agueous hunour (तेजोजल) है अथवा यह रचना अग्नि तथा जल तत्व के आश्रित होने से सौम्य तथा पारदर्शक है। यह प्रथम पटल हो सकता है।

२. **कांच कोष**–Capsule of lens—यह भी पारदर्शक है, पतला है।

३. **नेत्र-प्राचीरा**–Iris–यह भी पटल स्वरूप पतला है, पेशीमय रचना है। इसके द्वितीय पटल होने की सम्भावना है।

४. **मेदसावरण** Hyaloid Memb'ane—यह पटल की भांति है। रचना मेद की है अतः सम्भवतः तृतीय पटल है।

५. **दृष्टि पटल**—यह तो पटल की भांति है। अस्थि पर आश्रित है दृष्टिग्रहण से विशेष सम्वन्ध है। अतः यह चतुर्थ पटल हो सकता है।

इस दशा में मोतिया-बिन्दु चतुर्थ पटल का रोग नहीं है यह साफ़ तौर से मानना होगा।

अस्तु! अब इसका विवेचन समाप्त करता हूं क्योंकि इसी विषय पर बड़ा से बड़ा लेखा लिखा जा सकता है तथा यह दूसरे लेख का विषय हो जायगा। इस लेख का प्रयोजन केवल नेत्र-परीक्षा विधिओं को समझने के लिये नेत्र-रचना का ज्ञान कराना है।

शिराणां कण्डराणां च मेदसः कालकस्य च।
गुणाः कालात्परः श्लेष्मा वन्धनेऽक्ष्णोः शिरायुतः॥

इस श्लोक में नेत्र के वन्धनों का विवेचन है। साधारणतया इसके दो अर्थ किये जाते हैं।

१—(i) शिरा, कण्डरा तथा मेद के गुण अर्थात् प्रसादांश से कृष्ण मण्डल के वन्धन वने हैं।

(ii) शिरा सहित श्लेष्मा से (कालात्परः) शुक्ल मण्डल के वन्धन वने हैं।

२—शिरा, कन्डरा, मेद तथा कालक के प्रसादांश तथा शिरा सहित श्लेष्मा नेत्र के वन्धनों के लिये (कालात्) उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। अर्थात् नेत्र के वन्धनों की श्रेष्ठता का निम्न क्रम है—

१—शिरा सहित श्लेष्मा (सर्व प्रथम)
२—कालक प्रसादांश
३—मेद प्रसादांश
४—कण्डरा प्रसादांश
५—शिरा प्रसादांश।

इस प्रकार से प्राच्य शास्त्रकारों ने भी नेत्र-रचना पर काफ़ी प्रकाश डाला है।

—अगस्त सन् १९३९ में 'धन्वन्तरि' के नेत्र रोगांक विशेषांक से उद्धरित]

—श्री वैद्य मदन गोपाल ए. एम. एस.
फ़ैजाबाद [उ०प्र०]
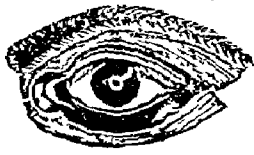
नेत्रों की बनावट

—श्री पी० सी० खरे

यों तो मानव शरीर का प्रत्येक अङ्ग अत्यन्त महत्वपूर्ण है परन्तु नेत्रों का महत्व सबको दबा लेता है। नेत्रों के बिना दुनियाँ अँधेरी है। सृष्टि का आधा सुख ही मानो समाप्त हो जाता है। नेत्र आत्मा की खिड़कियां भी हैं। अतः नेत्रों की रक्षा सावधानीपूर्वक करने की आवश्यकता है।

सम्मुख से देखने पर पलकें कनीनिका, नेत्रगोलक, पुतली आदि दिखायी देती हैं। श्वेत भाग, श्याम भाग तथा मध्य की पुतली प्रधान है।

यदि नेत्रों की पड़ी काट की जाये तो उसकी अन्तः रचना समझ में आ जाती है।

सम्मुख का खोल कार्निया अथवा कनीनिका कहलाता है जो रक्षक आवरण की भाँति कार्य करता है तथा पारदर्शक होता है। इसमें स्वस्थ अवस्था में सफेदी व चमक रहती है। रोग होने पर चमक तथा पारदर्शकता नष्ट हो जाती है। रक्तवाहिनियां उभर कर दिखायी पड़ने लगती हैं। इस कनीनिका के पीछे अगला या प्रथम कोष्ठ होता है, जिसमें मात्र २ से २.५० मिमी० स्थान होता है। इसके पीछे 'उपतारा' (Iris) है। प्रथम या अगले कोष्ठ में एक प्रकार का द्रव भरा होता है।

Iris या 'उपतारा' एक प्रकार के फूलदार कनेक्टिव टिशूज या सम्वन्ध वढ़ाने वाली पेशियों से मिल कर बना होता है। यह आमतौर पर रंगदार होती हैं परन्तु जो रंगी नहीं होती वे नीले रङ्ग की दिखायी देती हैं। उपतारा की रक्त-वाहिनियों का विस्तार अर्द्धव्यास आकार में होता है। पीछे की ओर से उपतारा दो रंगी हुई सतहों से मिल कर ढकी हुई हैं जो 'रेटिना' का जारी भाग होता है इसी कारण इसे (Pars-Iridis Retinalis) कहते हैं। पुतली में मांसपेशियों का एक गोल झुंड होता है जिसे 'गोल पेशी' (Sphincter Iridis) कहते हैं। इस पेशी के धागे जुड़े हुए हैं, जिनकी दिशा अर्द्धव्यास (Radial direction) में है तथा यह पुतली को वड़ी करने या छोटी करने में सहायता करते हैं। उपतारा का अगला भाग सिलियरी वाडीज या जोड़ के निकट के गड्ढों को छोड़ कर सम्पूर्ण एण्डोथीलियम से ढकी है। उपतारा वहुत कमजोर भाग गड्ढों के कारण ही वाह्य कोष्ठ का द्रव भीतरी कोष्ठ में तथा भीतरी कोष्ठ का द्रव वाह्य कोष्ठ में आने में सुविधा होती है। इस प्रकार इन गड्ढों का होना ईश्वरीय देन है। इनसे पुतली खुलने वन्द होने में भी शीघ्रता होती है। उपतारा के फटने की शक्यता भी यही है क्योंकि उपतारा पाँचवीं वातवाहिनी के धागों से आच्छादित रहती है तथा अत्यन्त नाजुक होती है। उसको छूते समय या काटते अथवा शल्यक्रिया करते समय सुन्न कर देना परम आवश्यक होता है। उपतारा के कोणों (Ciliary bodies) पर तथा उनके मध्य एक छिद्र (Canal of Schlemm) है। उपतारा के मध्य में पीछे ताल (Lens) एक चमकदार पारदर्शी मणि के समान नग जड़ा रहता है। इसी के कारण पुतली चमकती है तथा ताल से होकर पदार्थ की किरणें भीतरी परदे रेटीना पर चित्र वनाती हैं। ताल दोनों ओर वन्धनों से कसा रहता है तथा पीछे एक वृहत् कोष्ठ होता है जिसमें एक प्रकार का द्रव जिसे विट्रियस ह्यूमर कहते हैं, भरा रहता है। यदि यह द्रव किसी कारण सूख जाये या निकल जाये तो आँखें बैठ जाती हैं।

कनीनिका की दीवारें तीन प्रमुख परतों से घिरी हुई हैं। कनीनिका के भीतर शुक्ल परत (sclera) है, उसके
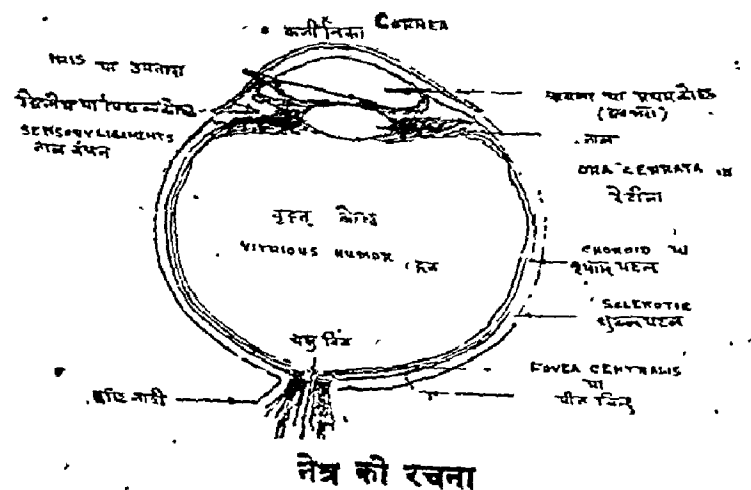
नेत्र की रचना

पश्चात् श्याम परत (Choroid) तथा रेटीना या दृष्टि पटल है। ताल के ठीक सम्मुख दृष्टि नाड़ी तथा उससे संलग्न धमनी होती है। सिलयरी वाडीज को वाहर या पीछे की ओर से देखने पर प्रतीत होता है कि ये पंखों के समान फैले हैं। आगे इसी मांसपेशी का भाग Canal of schlemen में गया है। यदि आँख को 'अग्र-पश्चिम' काटा जाय तथा अणु वीक्षण द्वारा दोनों ओर के भाग देखे जांय तो सिलयरी वाडीज (कृपया चित्र देखें) वाहर की ओर से चिकना तथा भीतर की ओर से असंख्यों
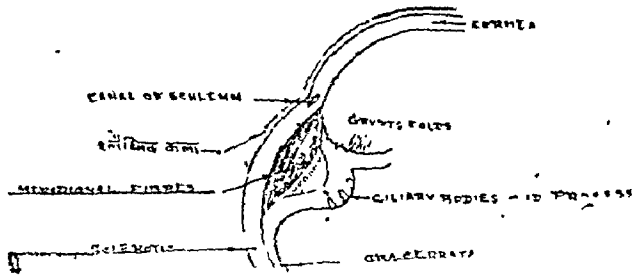
पृष्ठ ४४ पर दिखाये चित्र 'नेत्र रचना' का कुछ भाग बड़ा करके दिखाया है।

वाल के समान उभरी हुई केशिकाओं के जालीदार भाग से निर्मित दिखाई देगा। ये ही इनका पोषण करती हैं तथा इन्हें सिलयरी प्रासेस कहते है। ये केशिकायें प्राथमिक त्वचा के भीतरी भागों से आच्छादित हैं जो कि रेटीना से आयी हुई हैं। सिलियरी वाडी लगभग 'अंध-विन्दु' तक पहुँची होती है। 'अंध विन्दु' उस सीमा को कहते हैं जहाँ से 'दृष्टि-पटल' का प्रारम्भ है।

श्याम पर्त (Choroid) शुक्ल पर्त (sclera) के साथ चलती चली गई है किन्तु एकदम चिपकी हुई नहीं होती वरन् मध्य में लसिका युक्त होती है। भीतर की ओर से यह एक पतली पर्त या झिल्ली से ढकी रहती है जो Membrane of Brush कहलाती है। श्याम पर्त की रक्त-नलिकायें इस झिल्ली के पास केशिकाओं के रूप में मध्यम भाग में अधिक स्थूल तथा बाहर की ओर बड़े आकार की होती हैं। श्याम पटल का कार्य सम्पूर्ण नेत्र का पोषण करना होता है। इसमें पाँचवीं वातवाहिनी के धागे गये हुए रहते हैं।

दृष्टिपटल—रेटीना या आँखों का प्रधान दृष्टि-पटल अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग है। वस्तुओं का प्रतिविम्व इसी पर बनता तथा ग्रहण होता है। यह श्याम परत के साथ-साथ फैला हुआ रहता है। अन्वेषण से सिद्ध है कि आगे दो सतहों में वंटा है तथा ये सतहें पुतली के दोनों किनारों तक गयी हुई हैं। रेटीना ७ सतहों से मिलकर बनी है जो अन्दर से वाहर की ओर क्रमशः निम्न कही जाती हैं—

1. Nerve Fibre layer. धागों का जाल।
2. Ganglions Fibre layer. पेशियों की परत।
3. Internal Reticular.
4. Internal Nuclear.
5. External Reticular.
6. External Nuclear.
7. Rods and Cones layer.

नेत्र नाड़ी चक्र (आप्टिक डिस्क) के पास धागों का जाल (Nerve Fibre Layer) एकत्रित होता है तथा दृष्टि नाड़ी में प्रविष्ट होता है। रेटिना की शेष सतहें या परतें ऊपर ही रह जाती हैं। इसमें कपालास्थि की ओर ३ मिमी० पर 'पीत विन्दु' (Yellow spot) होता है। यह वह स्थान है जहाँ कोई सतह नहीं होती वरन् एक छोटा सा गड्ढा होता है जो आँख के पीछे की ओर मध्य में है इसी से इसे Fovea centrales भी कहते हैं। इसका पोषण कनीनिका के समान रक्त नलिकाओं से नहीं वरन् लसिका के माध्यम से होता है।

दृष्टि नाड़ी को मस्तिष्क का ही भाग माना जाता है। गर्भ शास्त्र के तर्क से सिद्ध कर दिया गया है कि मस्तिष्क की या मेद की पेशियाँ तथा रेटीना की पेशियाँ (Bipolar या-ध्रुवीय) एक सी हैं तथा (lens) अर्थात् मध्याकर्षण विन्दु या पेशी का प्राणवायु भी एकसा है। इसी नाड़ी के माध्यम से मस्तिष्क को दीखने वाले पदार्थों का ज्ञान होता है। दृष्टि नाड़ी शुक्ल परत के पीछे जो खुला भाग है (Lemina cryposa) छिद्र के द्वारा गुजरती है। इसके धागे भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न शवल के होते हैं तथा सभी धागे गुणित रूप में (cross wise) गुंथे होते हैं।

नेत्रों के कोरों पर नासिका की ओर 'अश्रु ग्रन्थियाँ' होती हैं जो नेत्रों के ऊपर पड़ने वाली धूल, कण या बाह्य पदार्थ को खारे जल से धोकर स्वच्छ रखने का प्रबन्ध

रखती हैं। प्रकृति का प्रत्येक प्रवन्ध बहुत सूझ-बूझ तथा वुद्धिमत्ता से भरा हुआ है।

नेत्रों का कार्य निकट दूर सब ओर देखना है। प्रत्येक वस्तु का प्रतिविम्व ताल पर से पार होकर दृष्टि पटल पर पड़ता है। यह छाया उलटी होती है पुनः दृष्टि नाड़ी द्वारा मस्तिष्क तक पहुँचायी जाती है तथा अपने वास्तविक रूप में सीधी वस्तु दृष्टि आती है।

इसी नेत्र की रचना का अध्ययन करके चित्र खींचने वाले कमरे का आविष्कार किया गया है। यों कहा जा सकता है कि कैमरा इसी नेत्र रचना की एक नकल है।

ढाई इन्च से कोई वस्तु नेत्रों को दिखाई नहीं देती अतः सदा कोई भी वस्तु कम से कम ६" दूर या इससे अधिक दूर रख कर देखनी चाहिये। प्रकाश की सीधी किरणें आँख में पड़कर तिरछी हो जाती हैं। यह आवर्तन क्रिया है जैसाकि जल में पड़ी किरणों के तिरछेपन से प्रगट होता है। यह तिरछापन जल के घनत्व पर निर्भर करता है।

दूर की वस्तु देखने में नेत्र के भीतर बहुत परिवर्तन नहीं होता, किन्तु पास की वस्तु देखने में होता है। प्रकाश किरणें आने पर नेत्र के भीतर की परिवर्तन क्रिया को accommodation कहते हैं। तामस यङ्ग (Young) तथा शेरिंग ने खोज द्वारा वताया है कि पानी में आँख रखकर ऊपर से नतोदर लैंस द्वारा देखा गया कि कनीनिका में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। नेत्र के फैलने व सिकुड़ने का कोई परिवर्तन नहीं हुआ। ताल या लेंस को पास की वस्तुयें देखने के लिये १० मिली० मात्र (Milimeter) आगे आना चाहिये था परन्तु यह भी नहीं होता ताल वहीं का वहीं रहता है।

Helm holtze तथा sharring का कथन है कि निकट की वस्तु देखने में ताल के वाह्य घेरे (anterior curvature) में परिवर्तन होता है। (suspensory ligaments) अर्थात् ताल को वांधने वाली वंधन पेशियाँ गुणित आकार में गुँथी होती हैं अतः भीतर से दवाव होने पर ताल तनिक सा वंधनों के सहारे उठता है। निम्न तालिका से ताल की सतह के कुछ उठने का ज्ञान या अनुमान हो जायेगा।

	निकट की दूरी	दूर की दूरी
वाह्यतल की त्रिज्या Radius of anterior surface)	६ मिली मात्रा	१० मि. मात्रा
पृष्ठ तल की त्रिज्या (Radius of Posterior surface)	५.५ ,, ,	६ ,, ,,
ताल की मोटाई	४ ,, ,,	३.६ ,, ,,
ताल का फोकस	३० ,, ,,	४४ ,, ,,
फोकल शक्ति (Focal Power)	—	या २३ डायाप्टर १३ ,,

प्रकाश किरणों के समावेश की क्रिया—दूर की वस्तुओं को देखने की क्रिया में मनुष्य के नेत्रों की पुतली में ही परिवर्तन होता है अर्थात् पुतली फैलती या सिकुड़ती है, अन्य किसी वस्तु में परिवर्तन नहीं होता। निकट वाली वस्तुओं की किरणें कुछ तिरछी होकर आती हैं अतएव उनका विम्व भीतर पहुँचाने के लिए दो परिवर्तन होते हैं। पुतली तथा ताल की उन्नतोदरता वढ़ती है तथा वे तिरछी किरणें दृष्टि-पटल पर विम्वित होती हैं।

—डा० श्री पी० सी० खरे
छावनी, वांदा (उ०प्र०)

नेत्र शारीर एवं दृष्टि दोष परीक्षा

श्री डा० एस० पी० गुप्ता

आधुनिक विज्ञान जगत में आयुर्वेद (आर्य विज्ञान) चिकित्सा दृष्टि से अपना विशेष स्थान रखता है। आयुर्वेद अर्थवेद का एक विशिष्ट अङ्ग होने के कारण प्राणिमात्र की जीवन रक्षा करना उसका मूल सिद्धान्त है। अष्टांग आयुर्वेद में शालाक्य तन्त्र (नेत्र, कर्ण, मुख, नासा इत्यादि) का प्रमुख स्थान है।

शालाक्य तन्त्र के आदि प्रणेता श्री विदेहाधिप निमि ने निमितन्त्र में सर्वप्रथम नेत्र शारीर का विस्तार रूप से वर्णन किया है। उसके उपरान्त सुश्रुत संहिता के उत्तर तन्त्र में विस्तृत विवरण मिलता है। इस प्रस्तुत लेख में नेत्र शारीर का आयुर्वेदीय एवं पाश्चात्य मत से संक्षिप्त समन्वय उल्लिखित है।

सुश्रुत उत्तर तन्त्र में नेत्र का स्वरूप

सुवृत्तं गौस्तनाकारं सर्वभूतं गुणोद्भवम्।

—सुश्रुत उ० अ० १।१०

आचार्य सुश्रुत ने नेत्र का आकार सुन्दर गोल गौस्तनाकार एवं पंचमहाभूत गुणों से युक्त बतलाया है।

समन्वय—नेत्र गोलक का पूर्व कोष्ठ उन्नतोदर होने से आचार्य सुश्रुत ने नेत्र को गोस्तनाकार बतलाया है। क्योंकि गौस्तन में गोल एवं उन्नतोदर उभार युक्त होता है। नेत्र की उत्पत्ति पाँचभौतिक होने के कारण इसमें अग्निमहाभूत की प्रधानता होती है। क्योंकि आलोचक पित्त का स्थान नेत्र है।

पलं भुवौ अग्नितो रक्तं वातात् कृष्णं सितं जलात्।
आकाशाद् अश्रुमार्गाश्च जायन्ते नेत्र बुदबुदे॥

—सु० उ० अ० १।११

१. पलंभुवौ—नेत्र बुदबुद (नेत्र गोलक) में मांस की उत्पत्ति पृथ्वी से अर्थात् मांसपेशियों की रचना पृथ्वी महाभूत से होती है। नेत्र की रचना में निम्न मांसपेशी भाग लेती हैं। **1. Levator Palpebrae superioris 2. Rectus Superior 3. Rectus inferior 4. Rectus medialis 5. Rectus lateralis 6. oblique superior 7. oblique inferior.**

२. अग्नितोरक्त—अग्नि महाभूत की प्रचुरता रक्त में होती है। अग्नि का अर्थ आलोचक पित्त का गुण रक्त या रक्तवाहिनी शिरायें हैं। जैसे Choroid, Retinal vessels & ophthalmic vessels etc.

३. वातात कृष्णं—वायु महाभूत से कृष्ण मण्डल (कार्निया) तथा आयरिस की उत्पत्ति होती है।

४. सितं जलात—जल महाभूत की अधिकता में श्वेत मण्डल की उत्पत्ति होती है। श्वेत मण्डल के अन्तर्गत

श्वेत पटल एवं नेत्रच्छद कला आते हैं। इनमें जलीय अंश बहुत मात्रा में रहता है।

पृथ्वी से मांस, जल से श्वेत भाग, अग्नि से रक्त, आकाश से अश्रुमार्ग, वायु से कृष्ण भाग की उत्पत्ति होती है। आचार्य सुश्रुत ने नेत्र बुदबुद की लम्बाई स्व अंगुष्ठ के मध्य भाग के द्वि अंगुल के बराबर बतलायी है। अर्थात् नेत्र गोलक का पूर्व से पश्चाद् व्यास द्वि अंगुलत् के समान है।

इसके अतिरिक्त नेत्र मण्डल, पटल एवं संधियों की रचना भी आधुनिक रचना से सामञ्जस्य रखती है। आधुनिक विज्ञान की रचना आयुर्वेदिक शारीर रचना के अन्तर्गत मण्डलों में पक्ष्म मण्डल (Eyelashes), वर्त्मण्डल (Eyelids) श्वेत मण्डल (Sclera & couj.) कृष्ण मण्डल (iris, cornea), दृष्टि मण्डल (Pupillary area) है। सन्धियों में पक्ष्म वर्त्म सन्धि (ciliary Junct.) वर्त्म शुक्लगत सन्धि (Fornix) शुक्ल और कृष्णगत सन्धि (Limbus), कृष्ण दृष्टिगत सन्धि (Pupillary margin), कनीनिका (Internal anthus) अपाङ्ग सन्धि (Ext. canthus) पटलों में बाह्य पटल (both Eyelids) प्रथम पटल जलाश्रित तेज (शिराश्रित रक्त) (Fibrous coat and ant. chamber) दूसरा पटल मांसाश्रित (Vascular coat), तीसरा पटलमेदाश्रित (Lens & vitrous) चौथा पटल अस्थि आश्रित (Nervous coat) है।

आधुनिक विज्ञान का नेत्र विज्ञान काफी सुलभ एवं प्रमाणिक होने से अब हम आधुनिक प्रक्रिया को समादिष्ट करते हुए आगे विस्तृत रूप से नेत्र दृष्टि दोष एवं परीक्षा का विस्तृत वर्णन करेंगे।

नेत्र एवं दृष्टि दोषों की प्रत्यक्ष परीक्षा

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान जगत में शरीर की अति सूक्ष्म कोषाओं की परीक्षा यन्त्र शस्त्रों की सहायता से अनुमानिक न रहकर प्रत्यक्षात्मक या वस्तुगत (objective) हो गई है। अतः नेत्र रोगों की परीक्षा मुख्यतः अन्धेरे कमरों में की जाती है।

नेत्र की शारीर रचना के अनुसार नेत्र की आन्तरिक परीक्षा विधियों को प्रायः निम्नलिखित भागों में बांटा जाता है—

(१) तिर्यक प्रकाश दीप्ति परीक्षा (Oblique illumination)

(२) अन्तः चक्षुवीक्षण परीक्षा (ophthalmoscopic Examination)

(३) स्लिट लैम्प द्वारा परीक्षण (Slit lamp or coreeal microscopic examination)

(४) दृष्टि पटल परीक्षा (Retinoscopy)

इन परीक्षा विधियों के करने से पूर्व पूर्वकर्म, प्रधान कर्म तथा पश्चात् कर्म पर अवश्य ध्यान देना चाहिए।

पूर्व कर्म

रोगी के नेत्र की कनीनिका (प्यूपिल) को पूर्णतया प्रसारित कर लेना चाहिए। इसके लिए यदि रोगी ३० वर्ष से कम आयु का हो तो होमेट्रोपीन सल्फेट (मिड्रियासिस ड्रग) आधे से एक प्रतिशत घोल एक-एक बूंद नेत्र में डालना चाहिए। ३० वर्ष से अधिक आयु के रोगी के ड्रासिन औषधि की एक-एक बूंद डालना चाहिये क्योंकि ३० वर्ष से अधिक आयु पर ही अधिमन्थ रोग (ग्लोकोमा) होने का भय होता है। ३० मिनट के अन्तर पर १-१ बूंद यह औषधियां डालने पर एक-डेढ़ घन्टे के अन्दर कनीनिका पूर्णरूपेण विस्तृत हो जाती है।

प्रधान कर्म

१—तिर्यक प्रकाश—दीप्ति परीक्षा oblique illuminative Examination)

रोगी की कनीनिका पूर्णतः विस्तृत हो जाने पर बिठा देते हैं। रोगी के सिर के पीछे प्रकाश (हैड लैम्प) आदि का प्रबन्ध कर दिया जाता है। इसमें ५ से ८ सेमी० प्रकाश केन्द्र (फोकस) वाला या १४ डी० अधिक शक्ति
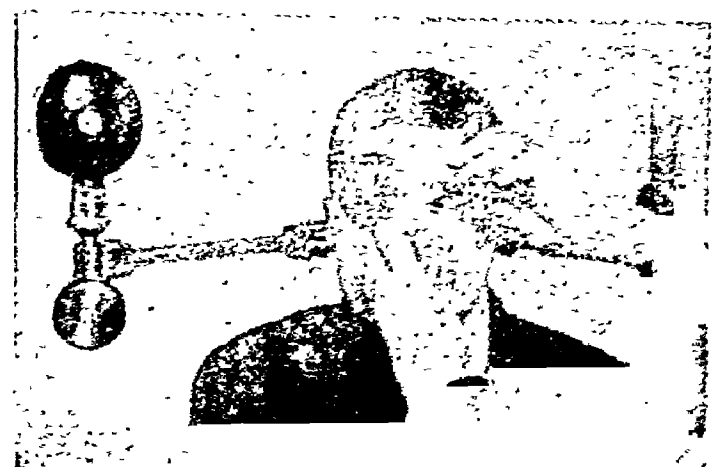
का उन्नतोदर ताल (लैन्स) लेकर परीक्षक रोगी के बगल में खड़े होकर रोगी के नेत्र में प्रकाश का प्रत्यावर्तन। (लाइट रिफलैक्स) करता है। यह प्रकाश दीप्ति (ल्यूमिनासिटी) रोगी की साइड में ४६ सेमी की दूरी से होना चाहिए। यदि परीक्षक रोगी के दाहिने नेत्र की परीक्षा करे तो ताल को बांये हाथ से पकड़े और यदि बांये नेत्र की करे तो ताल को दाहिने हाथ से पकड़े। आजकल विद्युत पेन्सिल टार्च भी प्रकाश केन्द्र दीप्ति के लिये प्रयोग की जाती है। तिरछा बाह्य या केन्द्रीय प्रकाश दीप्तिमान (फोकल इल्युमिनेशन) परीक्षण से नेत्र के अग्र खण्ड (कार्निया, एन्टीरियर चेम्बर, आइरिस एण्ड लैन्स) की सूक्ष्म परीक्षा की जाती है।

उपयोगिता—इस परीक्षा विधि के द्वारा कार्नियल आपेसिटी (अव्रण शुक्ल), चाक्षुष जल (एक्युस ह्यूमर) या लैंस में भूरे या श्वेत रंग के धब्बे देखे जा सकते हैं।

अन्तः चक्षुवीक्षण परीक्षा (Ophthalmoscopic examination)
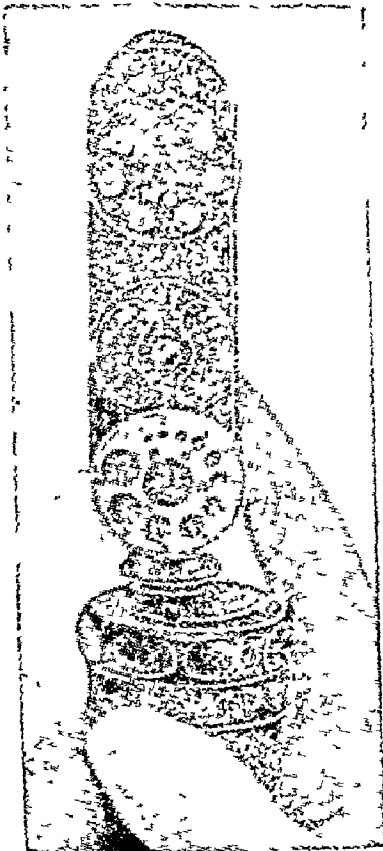
आपथेल्मोस्कोप

इस यन्त्र का आविष्कार सन् १८५१ में हेमहोल्स ने किया। इसके द्वारा नेत्र के आन्तरिक भाग या पार्श्व भाग (कोराइड-रेटिना, लैस एण्ड विट्रिस) की परीक्षा की जाती है तथा प्रभा-मण्डल (फन्डस) की परीक्षा करके विकृतिजन्य परिवर्तन ज्ञात करके रोगी की निदानात्मक एवं चिकित्सात्मक परीक्षा की जाती है। यह यन्त्र स्वप्रकाशित (सैल्फ इल्युमिनेटिंग) या प्रत्यावर्तित (रिफलैक्टिंग) दो प्रकार का होता है। स्व प्रकाशित अन्तः चक्षु वीक्षण यन्त्र, (आपथैलमोस्कोप) के हैण्डिल में विद्युत सैल प्रकाश करने के लिये लगे होते हैं तथा ऊपर की ओर एक लैस डिस्क लगी होती है जिनमें १ से लेकर २० नम्बर तक नतोदर (कानकैव) एवं उन्नतोदर, (कान्वेक्स) लैंस लगे होते है। जिसकी सहायता से रोगी के निकट दृष्टित्व (मायोपिक) नेत्र में नतोदर तथा दीर्घ दृष्टित्व (हाइयर मायोपिक) नेत्र में उन्नतोदर लैस लगाकर प्रभा मण्डल का फोकस किया जाता है। अन्तः वीक्षण यन्त्र से तीन प्रकार से परीक्षा की जाती है—

(अ) दूरदर्शी नेत्र परीक्षण (Ophthalmoscopic examination at a distance)

इसमें रोगी की कनीनिका विस्तृत करके अँधेरे कमरे में रोगी को स्टूल पर बिठाए रोगी और परीक्षक के बीच की दूरी ३८ सेमी० होनी चाहिये। प्रत्यावर्तित अन्तः चक्षु वीक्षण यन्त्र में प्रकाश रोगी के सिर के पीछे स्थित हैड लैम्प से होकर यन्त्र के दर्पण (आपथैलमिक मिरर) पर पड़ता है। वहां से प्रत्यावर्तित (रिफ्लेक्ट) होकर रोगी की आंखों में पड़ता है। फिर वहाँ से परावर्तित (रिफ्लैक्ट) होकर परीक्षक के नेत्र में पड़ता है। जिस प्रकाश के लिए नारंगी व लाल मिश्रित (रेड आरेन्ज कलर) के रूप में परीक्षक आपथैलमस्कोप में लगी लैस डिस्क की सहायता से फोकस करके प्रभा मण्डल (फन्डस) को स्पष्ट रूप से देख लेता है। प्रभा मण्डल का नारङ्गी-लाल रंग मांसल पटल (कोरायड) की रक्त-वाहनियां एवं मांसल पटल, दृष्टि पटल तथा रंजित कणों (पिगमेन्टस) के कारण उत्पन्न होती है।

उपयोगिता—

१. इस विधि के द्वारा तारका पिधान (कार्निया), चाक्षुष जल (अक्युअस फ्ल्युड) तथा मेदस द्रव (विट्रियस) माध्यमों की परीक्षा की जाती है।

२. अस्वस्थ नेत्र (एमेट्रोपिक आई) में रक्त-वाहनियों का विस्तृत वर्णन ज्ञात करके दृष्टि दोप (एरर आफ रिफ्रेक्शन) का अनुमान किया जाता है। यदि रक्त वाहनियां परीक्षक के सिर के साथ-साथ गति करती है तो रोगी हाइपरमेट्रोपिक है। यदि विपरीत गति हो तो मायोपिक है।

३. वृहद या घने अव्रण शुक्र (ओपेसिटीज) यदि किसी माध्यम में है तो कनीनिका रंजित पटल (कलर्ड बैक

ग्राउन्ड प्युपिल) पर गहरे या काले विन्दु उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त विट्रयस ओपेसिटी एवं लैन्टीकुलर ओपेसिटी को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

परोक्ष नेत्र परीक्षण (Indirect ophthalmoscopic examination)—

इस परीक्षा के समय परीक्षक रोगी से आधा मीटर दूर बैठता है। परीक्षक १४ डी० से २० डी० का उन्नतोदर लैंस जोकि ८ सेमी० प्रकाश केन्द्र (फोकस) वाला हो बायें हाथ से लैंस को पकड़ कर रोगी के परीक्षा किये जाने वाले नेत्र पर सुव्यवस्थित करे और दाहिने हाथ में (आपथैलमोस्कोप) लेकर प्रभा मण्डल की परीक्षा आगे-पीछे यन्त्र को थोड़ी गति देकर करे। इसमें प्रभा मण्डल का
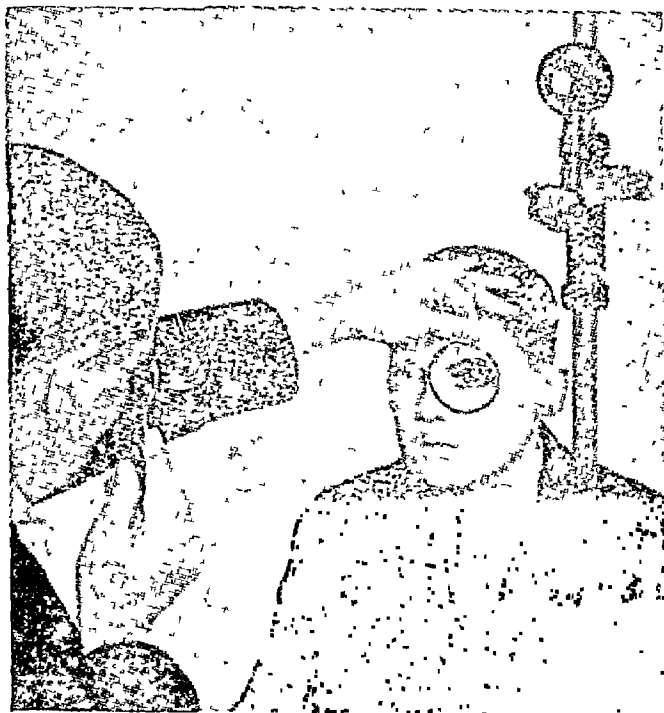
परोक्ष नेत्र परीक्षण

प्रतिभा प्रतीप (इनह्वर्टेड इमेज) बनता है तथा प्रभा-मंडल का ४ डायमीटर मैंगनीफिकेशन बढ़ जाता है।

उपयोगिता—

१. इस विधि से चतुर्थ पटल में (रेटिना, कोराइड, एण्ड रेटिनल वैसल्स) के बहुत सूक्ष्म परिवर्तन देख सकते हैं।

२. दृष्टि पटल गत रक्त-वाहनियों की धमनी काठिन्यता (Sclerosing changes of retinal vessels in Arteriosclerotic diseases) दृष्टिगोचर हो सकती है।

३. अत्यधिक दृष्टि दोष जैसे तीव्र निकट दृष्टित्व (हाई मायोपिया) तीव्र निकट दृष्टि निविन्दुत्वक (हाइमायोपिक अस्टिगमैटिज्म) में इस विधि का प्रयोग कर सकते हैं।

४. मीडिया (कार्निया या लेंस, ह्विट्रयस) की सूक्ष्म ओपेसिटीज ज्ञात करने के लिये इस विधि का प्रयोग कर सकते हैं।

(स) अपरोक्ष नेत्र परीक्षण (Direct ophthalmoscopic examination)—

इस परीक्षा विधि में परीक्षक रोगी के १ इन्च के अन्तर से नेत्र पर नेत्र रखकर परीक्षा करता है। यदि रोगी के वांए नेत्र की परीक्षा करनी हो तो दायें नेत्र से रोगी के वगल में खड़े होकर यन्त्र से देखकर परीक्षा करें।
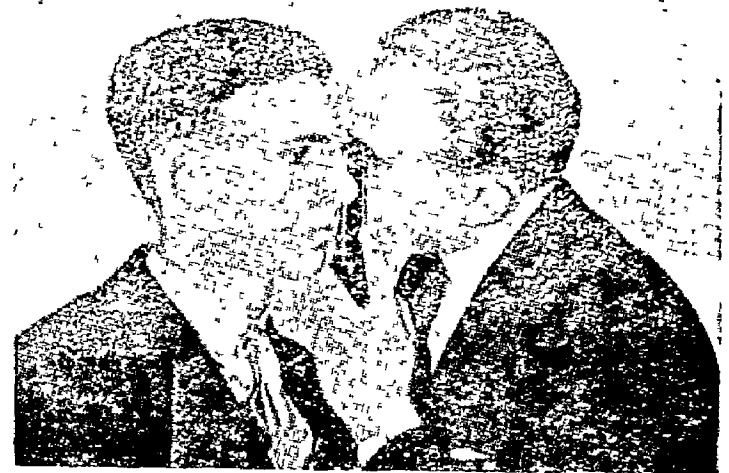
अपरोक्ष नेत्र परीक्षण

इससे प्रभामण्डल की प्रतिभा प्रतिलोम (रीयल इमेज) बनती है तथा आकार १४ डायमीटर परन्तु लघु क्षेत्र वाला होता है। इसमें परीक्षक के नेत्रों का भी दृष्टिदोष रहित (इमेट्रोपिक) होना अति आवश्यक है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के नेत्र विभागों में रोगी की परीक्षा के लिए अन्धेरे या प्रकाशित कमरे में इस परीक्षा विधि का बहुत उपयोग किया जा रहा है।

उपयोगिता—

१. इस विधि से भी सूक्ष्म परिवर्तन नेत्र के आंतरिक भाग (आप्टिक डिस्क, मैकुला, रेटिना) आदि में देखे जा सकते हैं।
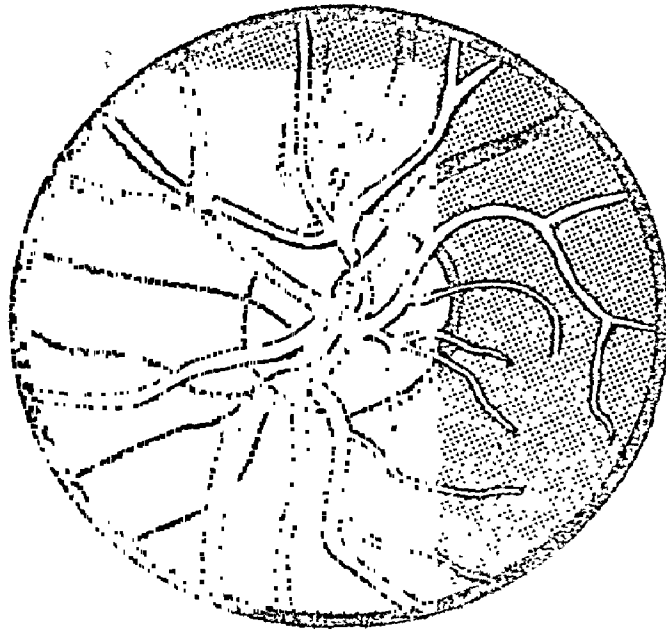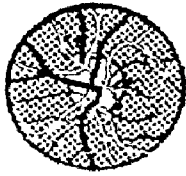
अपरोक्ष एवं परोक्ष प्रभामण्डलीय नेत्र परीक्षाओं के तुलनात्मक चित्र

२. इससे दृष्टि दोष (एरर आफ रिफ्रैक्शन) का साधारण अनुमान किया जा सकता है।

३. आधुनिक युग में नेत्र के आन्तरिक स्थानीय रोगों एवं कुछ सार्वदैहिक रोगों का निदान प्रभामण्डलीय परीक्षण (फण्डस एक्जामिनेशन) करके किया जाता है जो कि आगे विस्तृत रूप में वर्णित है।

स्वस्थ नेत्रगत प्रभामण्डलीय परीक्षण
(Examination of normal fundus)

आपथैलमोस्कोप से परीक्षा करते समय प्रभामण्डल का रङ्ग लाल नारङ्गी हो जाता है या नारङ्गी शोभित होता है। आपथैलमोस्कोप को थोड़ा सा नासिका की ओर झुकाने पर नेत्र बिम्ब (optic disc) नारङ्गी रंग की सूर्योदय के समान रक्तवाहनियों से तथा सुनहरी काले रंग के किनारों से युक्त दृष्टिगोचर होती है और इसमें कीप के आकार का गर्त होता है जहां से रक्तवाहिनियों की अनेक शाखायें प्रभा मण्डल में फैलती हैं तथा मैकुला की ओर जाते हुए समाप्त हो जाती हैं। इसमें धमनियां (arteries), सिराओं (वैन्स) से पतली नली वाली चमकदार लाल रंग से युक्त एवं सीधे मार्ग वाली होती हैं। नेत्र का आन्तरिक दवाव वढ़ने के कारण शरीर क्रिया विज्ञान के अनुसार शिराओं में धमन (पल्सेसन) दीखता, लेकिन यदि दृष्टिपटलगत धमनियों में धमन पाया जाय तो यह कई रोगों की विकृति का सूचक है। जैसे मधरोहिणी सम्बन्धी का प्रत्यावर्तन (अयोर्टिक इनकोम्पीटेन्स), अधि[illegible] (ग्लोकोमा) आदि।

स्वस्थ नेत्र प्रभा मण्डल

प्रभा मण्डल का स्वस्थ रंग अफ्रीका देशवासियों में गहरा लाल या कत्थई रंग, पश्चिमी देशवासियों में हल्का गुलाबी एवं एशियाई देशों में नारङ्गी लाल रंग पाया जाता है।

आपथैलमोस्कोप को वाह्य (टैम्पोरल) ओर झुकाने पर दृष्टि स्थान (मैकुलर) के क्षेत्र में प्रभामण्डल गहरे लाल रंग का दृष्टिगोचर होता है। इसी क्षेत्र में वहुत ही चमकदार विन्दु, जुगनू या ध्रुवतारा की तरह दृष्टिगोचर होता है। जिसको दृष्टि स्थान केन्द्र या पीत विन्दु (फोव्हिया

सैन्ट्रलिस) कहते हैं। यहीं पर साधारणतया स्वस्थ किरण (Normal rays) केन्द्रित होती हैं। आफ्थैलमोस्कोप से परीक्षा करते समय निम्न तथ्यों को ध्यान में रखना अति आवश्यक है—

(क) नेत्रविम्ब (आप्टिक डिस्क) में परिवर्तन।

(ख) दृष्टि मण्डल (रेटीना) का रंग तथा उसमें स्थित रक्त-स्राव (हैमरेज) शोथ द्रव (इकजूटैड) एवं विकृत रंजित कण (पिगमैन्टस)

(ग) दृष्टिपटलगत रक्तवाहिनियों की स्थिति।

(घ) दृष्टि स्थान (मैकुला) के चारों ओर विकृतिजन्य परिवर्तन।

प्रभा मण्डलीय विकृतिजन्य परिवर्तन

(Pathological changes in the Fundus).

यह विकृतियाँ स्थानीय तथा सार्वदेहिक रोगों में पाई जाती हैं और उनका ज्ञान अन्त: नेत्र वीक्षण यन्त्र (आफ्थैलमोस्कोप) से किया जाता है। ये निम्नलिखित हैं—

१—द्वितीय पटल या मांस पटलगत शोथ (choroiditis or Post Uveitis)

इस रोग में दृष्टिपटल में शोथ द्रव (Exudate) के चकत्ते या पैचैज पाये जाते हैं। यह श्वेत या पीत रङ्ग के एवं दृष्टिपटलजन्य रक्तवाहिनियों से युक्त होते हैं।

२—द्वितीय पटल गत घातक अर्बुद (Malignant Melonoma)

इस रोग में अर्बुद (ट्यूमर) के स्थान पर प्रभा मण्डल नीला या काले रंग का दीखता (रैटिनल सैपरेशन) है। रक्त वाहिनियां गहरे रंग की तथा दृष्टि पटल कुछ उठा हुआ (रेटिनल सैपरेशन) पाया जाता है। कभी-कभी अर्बुद वाले भाग पर कुछ रंजित कण एवं रक्त स्राव के चकत्ते पाये जाते हैं।

३—दृष्टिदोष जन्य द्वितीय पटलगत शोथ (Myopic choroiditis)

इस रोग में कोरोयड की रक्त वाहिनियों में निर्जीव परिवर्तन (डिजनरेटिव्ह चेन्जैज) होने के कारण थोड़ा सा रक्तस्राव पाया जाता है जो कि अन्त में चारों ओर फैले हुए श्वेत चकत्ते एवं कणों के रूप में दृष्टिगोचर होता है। मायोपिया की अन्तिम बढ़ी हुई अवस्था में कोराइड नेत्र विम्ब के किनारों पर श्वेत, अर्द्ध चन्द्राकार (मायोपिक क्रैसैन्ट या कौनस) एवं निष्क्रिय (ऐट्रोफिक) पाया जाता है।

४—द्वितीय पटलगत विकीर्ण शोथ (Disseminated Choroiditis)

दृष्टिपटल में श्वेत निष्क्रिय चकत्ते असमान काले किनारों वाले समस्त प्रभामण्डल में विशेषतया बाहर की ओर फैले हुये पाये जाते हैं।

५—नाड़ी तन्तुजन्य नेत्र विम्बगत शोथ (Optic Neuritis)

यदि दोष नेत्र विम्ब में नेत्रनाड़ी (आप्टिक नर्व हैड) के निकट है तो नेत्र विम्ब में शोफ हो जाती है और अन्त में अन्य स्थान की अपेक्षा नेत्र विम्ब का अर्द्ध वाह्य भाग (हाफ टैम्पोरल) पीत दीखता है। (टैम्पोरल पेलर)

६—दृष्टि पटलमय नेत्र विम्बगत शोफ (Papilloedema)

इसमें दृष्टि पटल गत शिरायें उभरी एवं विस्तृत होती हैं तथा नेत्र विम्ब की रक्तिमा बढ़ने से यह लाल एवं नासिका की ओर से रुई की तरह (पल्फी) दीखती हैं। प्राकृतिक गर्त (फिजिओलाजीकल कप) के भरने पर नेत्र विम्ब छत्रक (मशरूम) की तरह शोफयुक्त एवं धुंधली हो जाती है। धमनियां तंग मुख वाली और शिरायें विस्तृत मुख या नलियां वाली होती हैं। अन्त में दृष्टि पटल नेत्र विम्ब के चारों ओर रक्तस्राव से आच्छादित हो जाता है। धीमे-धीमे यह शोफ परिवर्तन कम होकर नेत्र विम्ब की निविक्रयता (एट्रोफी) हो जाती है।

७—प्रथम नेत्र विम्बगत निष्क्रियता (Primary optic Atrophy)

इसमें डिस्क पीत श्वेत रङ्ग की चीनी मिट्टी की तरह (पोर्सीलीन) आकार में छोटी तथा स्पष्ट किनारों वाली होती है। डिस्क में लैमिना क्रिब्रीरोजा भूरा श्वेत रंग का दीखता है तथा रक्तवाहिनियाँ तंग मुख वाली दृष्टिगोचर होती हैं।

८—द्वितीय नेत्र विम्बगत निष्क्रियता (Secondary Optic atrophy)

इसमें नेत्र विम्ब श्वेत एवं काठिन्य तन्तु (फाइब्रस टिस्यूज) के जमा होने से किनारे धब्बायुक्त (ब्लरड) हो जाते हैं, रंजित कण (पिगमैन्ट्स) डिस्क के चारो ओर उत्पन्न होकर नैसर्गिक गति निर्मित करके शोथ द्रव (एक्जूडेट्स) से भर जाते हैं, रक्त वाहिनियां फायब्रस शोथ के बढ़ने के कारण तंग मुख वाली दीखती हैं।

९–वृद्धावस्था जन्य दृष्टि स्थान (Senile Macular Degeneration)

इस रोग में कोरायड रक्त वाहिनियों की काठिन्यता (स्कलोरोजिंग) पायी जाती है। दृष्टि स्थान क्षेत्र में रंजित कण तथा शोथ द्रव पाये जाते हैं।

१०–चतुर्थ पटल या दृष्टिपटलगत रक्तवाहिनी शोथ (Vascularitis Retinae)

यह बहुत महत्वपूर्ण रोग है। इसमें दृष्टिपटलगत रक्तवाहिनियों की शोथ के कारण इन रक्त वाहिनियों के चारों ओर शोथ द्रव (एक्जूडेट्स) एवं रक्तस्राव (हेमरेज) पाया जाता है। शिरायें (फिलिवायटिस) बहुत ही मोटी, लालिमा युक्त तथा टेढ़ी-मेढ़ी हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त प्रभा मण्डल में केन्द्रीय शिराओं का रक्त स्कन्दन (सैन्ट्रल वेनस थ्रम्बोसिस) भी पाया जाता है। यदि व्हिट्रियस (तृतीय पटल या मेदाश्रित) में अत्यधिक मात्रा में बार बार रक्तस्राव पाया जाये तो उसे दृष्टिपटलगत रक्तवाहिनी शोथ (इल्स डिजीज) कहेंगे और जब रक्तस्राव रकन्दित (आर्गेनाइज) होकर रेटिनल एवं विट्रयसवेन्डस निर्मित हो जाये तो उसे रेटिनायटिस परोलीफरेन्स कहेंगे।

११–धमनी काठिन्यता (Arteriosclerosis)

इसमें छोटी-छोटी धमनियां (आरटेरिओल्स) सीधे मार्ग वाली, तंग नलिकाओं वाली एवं तीव्र कोणित शाखाओं वाली होती है। इसके अतिरिक्त धमनी काठिन्यता (डिफ्यूज हार्डनिंग एण्ड स्टिफनिंग) पायी जाती है।

१२–दृष्टिपटलगत रक्तवाहिनीगत अवरोध (Occlusion of Central retinal vessels)

केन्द्रीय दृष्टिपटलगत धमनी में अवरोध उत्पन्न होने पर दृष्टिपटलगत अचानक पीत एवं शोपित हो जाती है, धमनी रक्तहीन एवं बहुत तंग मार्ग वाली दृष्टिगोचर हो जाती है। दृष्टि स्थान क्षेत्र में चेरी (Cherry) रंग के लाल बिन्दु चारों ओर से एक बहुत पीत क्षेत्र से ग्रस्त होते हैं। केन्द्रीय दृष्टिपटलगत शिरा के अवरोध उत्पन्न होने पर शिरायें विस्तृत एवं टेढ़ी-मेढ़ी हो जाती हैं तथा छोटी-छोटी रक्तवाहिनियां अधिक उभरने से फटकर रक्तस्राव उत्पन्न करती है एवं शोथ द्रव (एक्जूडेटस) उत्पन्न होकर नेत्र बिम्ब के चारों ओर शोफ उत्पन्न हो जाती है।

१३–दृष्टिपटलगत अधिमन्थ रोगजन्य परिवर्तन (Glaucomatous changes)

इसमें नेत्र बिम्ब कप के आकार की एवं उथली (एक्सकेवेटेड) पायी जाती है। डिस्क के किनारों पर रक्तवाहिनियां अचानक मुड़ी हुई पाई जाती हैं। दृष्टि पटल और रक्तवाहिनियों में निष्क्रियता उत्पन्न हो जाती है।

१४–दृष्टि पटलगत पृथकत्व (Detachment of Retina)

दृष्टि पटल में अर्द्ध चन्द्राकार दरार (कैसेन्ट्रिक टीअर) पाया जाता है। दृष्टि पटल का छिद्र बिना रक्तवाहिनियों के तथा चारों ओर से भूरा लाल रङ्ग से सुशोभित होता है एवं अनेकों अस्थिर (व्हिट्रियस आपेसिटीज) पायी जाती हैं।

१५–रंजित दृष्टिपटलगत शोथ या पित्त विदग्ध दृष्टि (Retinitis Pigamentosa)

इसमें रैटिनल एवं कौरायडल रक्तवाहिनियों की नलिकायें कम दीखती हैं एवं नेत्र बिम्ब पीत रङ्ग (वैकसी) तथा बाह्य ओर कणों से युक्त दीखती है।

१६–दृष्टि पटलगत रक्तस्राव (Haemorrhage in the retina)

रक्तस्राव के चकत्ते बड़ी-बड़ी रक्त वाहिनियों के पास पाये जाते है। एक गोल असमान या ज्वाला (फ्लेम सेड) की तरह प्रदर्शित होते हैं। कभी-कभी एक बहुत बड़ा चकत्ता दृष्टि स्थान एवं दृष्टि पटल के बीच पाया जाता है।

१७–दृष्टि पटलगत रक्तक्षय (Anaemia of Retina)

इसमें दृष्टि पटल की रक्तवाहिनियां बहुत ही पतली तंग मार्ग वाली धागे की तरह सुशोभित व रक्तहीन दृष्टिगोचर होती है तथा डिस्क पीली दीखती है। अन्तिम अवस्था में बहुत ही सूक्ष्म रंजित कणों में परिवर्तन पाये जाते हैं। यदि दोष नेत्र बिम्ब के निकट है तो नेत्र बिम्ब भी क्षतिग्रस्त हो जाती है।

१८–दृष्टि पटलगत क्षत (Contusion of Retina)

दृष्टि स्थान क्षेत्र में शोफ पाया जाता है। फिर उसमें छोटे-छोटे कण उत्पन्न होते है या सिरिटक डिजैनरेशन हो जाता है।

१६–दृष्टि पटलगत तीव्र प्रकाशक्षत

इसमें तीव्र प्रकाश से दृष्टि पटल पर क्षत होने के कारण प्रारम्भिक अवस्था में दृष्टि स्थान केन्द्र (फोव्हिया) पर पीला लाल कत्थई चक्र बन जाता है। अन्त में छोटे छोटे कण जमा होकर, छोटे भूरे रङ्ग के धब्बे, फोव्हिया के चारों ओर हो जाते हैं, इसको दृष्टिस्थान दग्ध (मैकुलर वर्न) भी कहते हैं। यह प्रायः सूर्य ग्रहण देखने से होता है।

२०–दृष्टि पटलगत शोथ (Retinitis)

इसमें दृष्टि पटल थोड़ा धुंधला एक या दो रक्तस्राव के धब्बे एवं शोथ द्रव (एक्जूडेटस) से युक्त होता है।

२१–रक्तचापवृद्धिजन्य दृष्टिपटलगत परिवर्तन—

रक्तचाप वृद्धि की प्रथमावस्था से धमनियाँ तंग, टेढ़ी-मेढ़ी एवं श्वेत धागे की तरह होती हैं। द्वितीय अवस्था में धमनी शिराओं के (आर्टेरियो वेनस) संगम पर धमनियां ऐंठी हुई (डिस्टोर्टेड) एवं शिराओं द्वारा सामने से आच्छादित होती है। तृतीय अवस्था में ज्वाला की तरह रक्तस्राव का बड़ा चकत्ता तथा रक्तस्राव के छोटे-छोटे धब्बे, काटन वूल की तरह एवं गहरे पीले या भूरे रंग के शोथ द्रव (एक्जूडेटस) दृष्टिपटल में पाये जाते हैं। ये दृष्टि स्थान के चारों ओर अधिक पाये जाते हैं। जब पैपीलोडिया उत्पन्न हो जाता है तो रक्तचाप वृद्धि (मैलिग्नेन्ट हाइपरटैन्सन) कहलाती है।

२२–प्रोभूजन विषमता या वृक्क शोथजन्य दृष्टि पटलगत परिवर्तन (Albuminuric Retinopathy)

प्रथमावस्था में शोथ जब नेत्र विम्ब के चारों ओर प्रारम्भ होती है। अन्त में सम्पूर्ण डिस्क को क्षतिग्रस्त, (पैपीलोडिया) करती है। द्वितीय अवस्था में दृष्टिपटल में रक्तस्राव पाया जाता है और ज्वाला की तरह (फ्लेम शेड) चकत्ते नेत्र विम्ब के चारों ओर या रक्तवाहिनियों के निकट पाये जाते हैं। तृतीयावस्था में लघु या वृहदाकार काटन वूल की तरह चकत्ते, मखमली, वैलवैटी किनारों से युक्त दृष्टिपटल में पाये जाते हैं। चतुर्थावस्था में दृष्टि स्थान क्षेत्र में श्वेत, चमकदार विन्दु पाये जाते हैं और यह विन्दु तारा (स्टार) के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं।

२३–मधुमेहजन्य दृष्टिपटलगत शोथ

इसमें धमनी काठिन्यता के परिवर्तन के अतिरिक्त नेत्र विम्ब स्वस्थ दीखती है परन्तु कभी-कभी आप्टिक ऐट्रोफी हो सकती है। इसके अतिरिक्त प्रभा मण्डल में रक्तस्राव के धब्बे पाये जाते हैं तथा दृष्टिपटल के पश्चिमी ध्रुव पर छोटे-छोटे लाल विन्दु फैले हुए होते हैं। इसमें शिरायें सोसेज की तरह विस्तृत होती हैं तथा मधुमेहजन्य एक्जूडेट्स श्वेत या पीत रंग के चमकदार (वायनापीसेज) की तरह बहुत ही सूक्ष्म दीखते हैं जोकि के० डब्ल्यू० (कायमल्स्टील-विल्सन) सिन्ड्रोम का सूचक है। मधुमेह रोग की अन्तिम अवस्था में रक्तस्राव दृष्टिपटल में होते हैं जोकि व्हिट्रियस से सम्बद्ध होते हैं और यह रक्तस्राव के धब्बे व्यवस्थित होकर फायब्रस वैन्डस तथा नवीन रक्तवाहिनियां नियमित करते हैं और अन्त में डिटैचमेन्ट या रेटीनायटिस प्रोलीफरेन्स उत्पन्न करते हैं।

२४–श्वेत मण्डलीय उभार (Coloboma of choroid and Retina)-प्रभामण्डल में श्वेत क्षेत्र, श्वेत मण्डल (स्क्लेरा) के उभरने में बनता है जोकि औरा सेरेटा के आप्टिक डिस्क तक फैला रहता है।

२५–दृष्टिपटलगत अर्बुद (Retinoblastoma)

इसमें दृष्टिपटल श्वेत या पीत, धातु की तरह चमकदार, रेटिनल डिटेजमेन्ट से ढका रहता है या व्हिट्रियस की ओर उठा हुआ प्रतीत होता है। पृष्ठ पर नवीन रक्तवाहिनियां निर्मित हो जाती हैं एवं कभी-कभी रक्तस्राव के या श्वेत धब्बे उत्पन्न हो जाते हैं।

नेत्र अणु वीक्षण यन्त्र परीक्षा

यह स्व प्रकाशित द्विनेत्र अणु वीक्षण यन्त्र (बाइनौकुलर माइक्रोस्कोप) द्वारा होता है। इस यन्त्र से नेत्र के अग्र भाग (एन्टीरियर सेगमैन्ट) की परीक्षा की जाती है। इस यन्त्र के उर्ध्व भाग से बहुत ही तीव्र चमकदार प्रकाश रोगी के नेत्र में परीक्षा लिये जाने वाले भाग पर पड़ता है। शेष नेत्र का भाग अन्धेरे में रहता है। इसमें प्रकाश का वृहद डायमीटर मैगनीफिकेशन उत्पन्न होते हैं। श्वेत मण्डल (कन्जक्टाइवा), तारका पिधान (कार्निया), तारका (आयरिस) कांच, (लेन्स) चाक्षुष जल (एक्वयस फिलुइंड) सीलीयर्स वाडी व्हिट्रयस आदि के अतिसूक्ष्म परिवर्तन देखे जा सकते हैं।

उपयोगिता—१. इस यन्त्र से नेत्र के अग्रभाग, (ऐन्टीरियर सैगमेन्ट) के किसी भाग में स्थित बाह्य वस्तु,

(फारिन बाडी) का पता लगाया जा सकता है।

२. इसके द्वारा लिंगनाश की अवस्थाओं (लिन्टीकुलर औपेसिटीज) का आसानी से पता लगाया जा सकता है।

३. नेत्र की शोथमय स्थिति में स्लिट लैम्प माइक्रोस्कोप का बहुत योगदान है। इससे शोथमय या संगठित कोषाणु चाक्षुष जल (एन्टिरियर, पोस्टीरियर चैम्वर्स, एण्ड ह्विट्रयस एक्विस) में तैरते हुये देखे जा सकते हैं।

यदि एन्टिरियर चैम्बर के द्रव में शोथमयी कोषाणुओं को पाया जाये तो मासाश्रित पटलगत शोथ (यूह्विवायटिस) के द्योतक हैं। यदि नेत्र के *अग्रभाग में इन कोषाणुओं* के उपस्थित होते हुये भी शोथ के लायक नहीं तो आपथलमस्कोप से नेत्र के पक्षम भाग (कोराडायटिस) की परीक्षा करनी चाहिये। यदि तारका पिधान (कार्निया) के पश्चिम पृष्ठ पर कुछ कणों का एकत्रीकरण हो तो कैराटिक प्रेसीपिटेट्स कहलाते हैं। आयरिडो सायक्लायटिस एवं कोरायडायटिस रोगी की तीव्रावस्था में स्पष्ट एवं पारदर्शक तारका पिधान के शोथमय कणों (कैराटिक प्रेसीपिटेट्स) को ज्ञात करके इन रोगों का निदान किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त दृष्टिपटलगत अर्बुद (रेटिनोब्लास्टोमा), नेत्रों का घातक अर्बुद या शोथमय द्रव को ज्ञात करके निदान किया जा सकता है।

गोनियोस्कोपी—यन्त्र को तारका पिधान (कार्निया) के अग्रभाग पर लगाकर स्लिट लैम्प से अग्रभाग के कोण (एण्टीरियर चैम्बर ऐन्गैल) को देख सकते हैं। इस यन्त्र से आयरिस, सीलियरी बाड़ी के अर्द्ध या प्रान्तीय वाह्य वस्तु (पेरीफ़ल फारेन बाडी) का पता लगा सकते हैं। अधिमन्थ रोग में कार्नियो-सीलियो-आयरिडिक ऐन्गिल का उचित स्थान पर पता लगा सकते हैं।

रेटीनोस्कोपी (Retinoscopy)
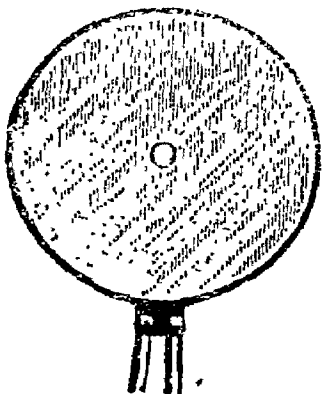
दृष्टि दोष (एरर आफ रिफ्रेक्शन) ज्ञात करने के लिए बहुत महत्वपूर्ण एवं विशिष्ट विधि है। यह मध्य में एक छिद्र वाला समतल दर्पण (प्लेन मिरर) से युक्त होता है। इस यन्त्र से प्रभामण्डल (फण्डस) का क्षेत्र दृष्टिगोचर नहीं होता परन्तु लाल प्रत्यावर्तन (रेड रिफलेक्स) दिखाई देता है। रेटिनोस्कोपिक दर्पण को उर्ध्व अधोगति या बाह्य अन्दर की ओर थोड़ा गति देने पर रेड रिफ्लैक्स गतिमान दीखेगा। रेड रिफलैक्स रेटीनोस्कोपिक दर्पण के साथ-साथ गति करता है तो दूर दृष्टित्व (हायपर मैट्रोपिया) एवं विपरीत गति करने पर निकट दृष्टित्व (मायोपिया) का द्योतक है।

इन परीक्षाओं को करने से पूर्व रोगी को अन्धेरे कमरे में परीक्षक से १ मीटर दूरी पर वैठा देते हैं तथा रोगी के
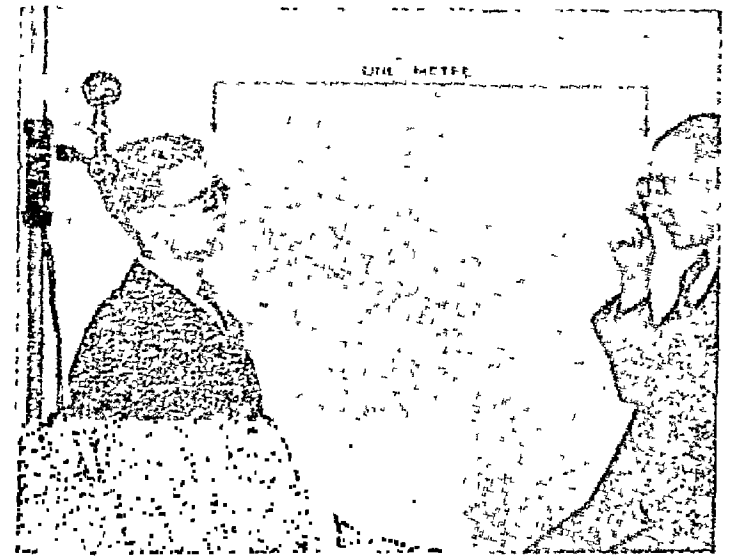
सिर के पीछे प्रकाश (हैड लैम्प) का प्रवन्ध कर दिया जाता है। रोगी को परीक्षक के माथे पर देखना चाहिये। सर्व प्रथम समतल माध्यम (हारीजैन्टल मेरीडियन) की परीक्षा करें फिर लम्बवत माध्यम (वर्टिकल मेरीडियन) का परीक्षण करना चाहिए। यदि छाया चारों ओर चक्कर खाती है एवं दर्पण के साथ-साथ उसी माध्यम में गति नहीं करती परन्तु दर्पण की अक्ष रेखा (एक्सिस) के साथ-साथ गति करती है तो रोगी विषम दृष्टि या निबिन्दुत्व दोष वाला (अस्टिगमैटिज्म) है।

दृष्टि पटल परीक्षण में विशिष्ट ज्ञातव्य—

१. स्वस्थ नेत्र (इमेट्रोपिक आई) में फण्डस रिफलैक्स लाल एवं चमकदार, परन्तु अत्यधिक अस्वस्थ नेत्र (ग्रेटर एमेट्रोपिया) में फण्डस रिफलैक्स कम चमकदार होता है।

२. विषम दृष्टि दोष (अस्टिग्मैटिज्म) में छाया (फण्डस रिफलैक्स) अण्डाकार एवं किनारे तिरछे एवं अर्द्ध चन्द्रा-

कार होते हैं। कभी-कभी फण्डस ल्यूमिनेशन वैण्ड के आकार का दिखायी देता है और एक गहरी छाया इस वैण्ड के समानान्तर वनती है। इस प्रकार की गति को सीजर मूवमेन्ट कहते हैं। यह कैंची के आकार की छाया प्राय: मिकस्ड अस्टिग मैटिज्म में बनती है।

३. दूरदृष्टित्व, निकट दृष्टित्व एवं स्वस्थ नेत्र में यह छाया गोल एवं दोनों माध्यमों में स्पष्ट एवं सीधी वनतीहै।

४. यदि छाया समतल दर्पण के साथ-साथ गति करती है तो हायपरमैट्रोपिक है। यदि विपरीत गति करती है तो मायोपिया १ डी० से अधिक है। यदि मायोपिया १ डी० का है तो कोई छाया दिखाई नहीं देती और यदि स्वस्थ नेत्र (इमेट्रोपिक आई) तथा मायोपिया १ डी० से कम का है तो हल्की छाया दर्पण के साथ-साथ गति करती दिखाई देती है।

५. अत्यधिक दोष वाले दृष्टिदोष (हाइ डिग्री-एमेट्रोपिया) में छाया अर्द्ध चन्द्राकार वहुत ही गहरी एवं मन्द गति वाली होती है। परन्तु कम दोष वाले दृष्टि दोष में छाया के किनारे सीधे, वहुत हल्की एवं तीव्र गति वाली होती है।

गणना—यदि छाया समतल दर्पण के साथ-साथ गति करती है तो कम शक्ति का उन्नतोदर लैंस रोगी के नेत्र के सामने पहने हुये फ्रेम में लगा दो। यदि अव भी छाया साथ-साथ गति करे तो अधिक शक्ति वाला उन्नतोदर लैंस लगा देते हैं जव तक कि कोई छाया दिखाई नहीं दे। परन्तु फिर भी एक अधिक शक्ति का उन्नतोदर लैन्स ऐसा लगाते हैं कि छाया दर्पण के विपरीत गति करने लगे। अव इन दो अवस्थाओं के बीच अर्थात अन्तिम दो लैन्स के बीच तटस्थ विन्दु आ जाता है। यही यथार्थ दृष्टि का मूल्यांकन विन्दु या लैन्स नम्बर है।

उदाहरण—१. यदि छाया दर्पण के साथ-साथ–३ डी० लैन्स लगाने पर गति के साथ–४ डी० लगा देने पर विपरीत गति करने लगती है तो तटस्थ विन्दु इन दोनों के बीच–३.५ डी० होगा। स्वस्थ नेत्र १ डी० मायोपिक होने के कारण वास्तविक दृष्टिकोण–३.५ डी०—१ डी० =–२.५ डी० होगा।

२. इसी प्रकार स्फेरिकल मायोपिया में भी यदि छाया–३ डी० लैन्स लगाने पर फिर भी विपरीत गति करती है और–३.५ डी० पर साथ-साथ गति करने लगती है तो तटस्थ विन्दु इन दो लैन्स के मध्य ३-२५ होगा परन्तु स्वस्थ नेत्र भी–१ डी० मायोपिक होता है अत: उचित दृष्टिकोण –३.२५–१ डी =–४·२५ डी० होगा।

३. अस्टिगमैटिज्म में प्रत्येक माध्यम का पृथक-पृथक रूप से मूल्यांकन किया जाता है और छाया के समकोण पर उचित माध्यम (मेरीडियन) का मूल्यांकन हो जाता है अर्थात समकोण से ही अक्ष रेखा (ऐक्सिस) का भी पता चल जाता है। इसमें एक माध्यम से दूसरे माध्यम संख्या घटाकर सिलिन्ड्रिकल लैन्स के नम्वर को ज्ञात करें।

(अ) २ डी० सिलिन्डर ऐक्सिस वर्टिकल

(व) १.५ डी० स्फेरिकल–२.५ सिलिन्डर ऐक्सिस वर्टिकल

(स) ३ डी० स्फेरिकल–२ डी सिलिन्डर ऐक्सिस वर्टिकल

(द) २ डी० स्फेरिकल–१.५ डी० सिलिन्डर ऐक्सिस ६० डिग्री

नोट—यदि दृष्टि दोषों (एरर आफ रिफ्रक्शन) की परीक्षा अन्धेरे में होमेट्रोफि या ड्रासिन औषधि डालकर की गई है तो दो या तीन दिन वाद अन्तिम परीक्षा करते समय १ डी० या १/२ डी० लैन्स नम्वर यथार्थ दृष्टि दोष मूल्यांकन में से कम कर देना चाहिये। जैसे—

१. हायपर मेट्रोपिया में२.५–१ डी=१.५ डी लैंस नम्वर विशिष्ट परीक्षा का द्योतक है।

२. मायोपिया में–४.२५–१ डी=–५.२५ डी० लैंस नम्वर विशिष्ट परीक्षा का द्योतक है।

पश्चात कर्म—प्रसारित कनीनिका को संकुचित करने के लिये इसेरिन औषधि का १/२ से १ प्रतिशत घोल १-१ बूंद नेत्र में डाल देते हैं ताकि रोगी में दृष्टि संवधी कोई लक्षण नहीं हो।

—श्री डा० एस. पी. गुप्ता वी. ए. एम. एस.,
डी. ए-वाई. एम (वी. एच. यू.)
प्रवक्ता–शल्य-शालाक्य विभाग,
ल. ह. राजकीय आयु. कालेज, पीलीभीत (उ० प्र०)

पथप्रदर्शक—श्री डा० पी. जे. देशपाण्डेय
प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष—शल्य-शालाक्य विभाग
चिकित्सा विज्ञान संस्थान, का. हि.वि.वि., वाराणसी-५

श्री सन्मतकुमार जैन वैद्यराज श्री पं० सुरेन्द्रकुमार जी जैन के सुपुत्र हैं। आपने जबलपुर विश्वविद्यालय से बी०ए० एम०एस० परीक्षा उत्तीर्ण की है। परिवार में तीन पीढ़ी से चिकित्सा व्यवसाय चला आ रहा है। आपके पिता जी उदर रोग एवं वातनाड़ी संस्थान के रोगों के विशेषज्ञ हैं, तथा ५० वर्ष से चिकित्सा कर रहे हैं। उनकी योग्यता आपको विरासत में मिली है तथा दोनों पैथियों से चिकित्सा कर रहे हैं।

प्रस्तुत लेख आपने अत्यन्त बोधगम्य लिखा है, वह परीक्षायें जिन्हें केवल नेत्र विशेषज्ञ ही कर सकते हैं उनको छोड़ दिया है जिससे लेख साधारण चिकित्सक के लिए भी उपयोगी है। आशा है कि पाठक लाभान्वित होंगे।

—दाऊदयाल गर्ग

विभिन्न नेत्र रोगों की परीक्षा विधि जानने से पूर्व एक चिकित्सक को मोटे तौर से नेत्र शारीर का ज्ञान होना आवश्यक है और तब ही वह नेत्र की परीक्षा सम्यकतया कर सकेगा और तदनुसार निदान और उपचार भी कर सकेगा।

नेत्र की सामान्य परीक्षा—

चिकित्सक के पास नेत्र की परीक्षा के लिए एक अच्छे फोकस की टार्च होना आवश्यक है। टार्च में अधिक तीव्र बेटरी न हो अन्यथा रोगी को चका-चौंध लगेगी।

वैसे विशिष्ट और शुद्ध परीक्षा के लिए चिकित्सक के पास 'फण्डस्कोप' और 'आपथेलमोस्कोप (Ophthalmoscope), स्लिट लेम्प (Slit lamp) आदि उपकरण होने चाहिए, परन्तु जनरल प्रेक्टिस में इतना नहीं मिलता, दूसरे सूक्ष्म परीक्षा नहीं करनी होती है, कि देर तक जांच की जा सके, और फिर यह उपकरण मंहगे हैं, और चिकित्सक को इनका पूरा ज्ञान होना चाहिए।

परीक्षा करते समय रोगी को अपने सामने स्टूल पर सीधा बैठाना चाहिए, और अपने बांए हाथ से रोगी के नेत्र के दोनों पलक खोलने चाहिए तथा दाहिने हाथ से टार्च से नेत्र में रोशनी डालनी चाहिए तथा रोगी को नेत्र को घुमाने को कहना चाहिये, और नेत्र में देखते समय, उसकी तुलना एक सामान्य-स्वस्थ नेत्र से करनी चाहिए, पश्चात् किसी निर्णय पर पहुँचना चाहिए। यदि बैठ न सके तो रोगी को लिटा कर परीक्षा करनी चाहिए।

ऐसी स्थिति में, परीक्षण टेबिल पर रोगी को सीधा लिटाना चाहिए और चिकित्सक को उसके सिर के पास खड़े होना चाहिए तथा परीक्षा करनी चाहिए। ऐसी स्थिति नेत्र की शल्य क्रिया में अधिक सुविधा जनक होती है तथा ऐसी स्थिति में रोगी का श्वास भी चिकित्सक के चेहरे पर नहीं आता।

विभिन्न नेत्र रोग और उनकी परीक्षा विधि

१. तीव्र नेत्र शोथ (Acute conjuctivitis)

यह स्वतन्त्र रूप से या किन्हीं जीवाणु जन्य उपसर्गों के फलस्वरूप भी पाया जाता है। परीक्षा करने पर—

१. नेत्र लाल।

२. नेत्र शूल, पीड़ा, खोलने में पीड़ा होना।

३. नेत्रों में शोथ के फलस्वरूप कंकड़ जैसा लगना, शोथ होना।

४. अधिक अश्रु निकलना।

५. आक्रांत नेत्र पर रोशनी डालने पर रोगी प्रकाश नहीं सह सकता।

ऐसी स्थिति में—आक्रान्त नेत्र में एनीथेन .५ से १ प्रतिशत घोल प्रति दो मिनट में दो-तीन वार डालना चाहिए, इसके डालने से पीड़ा खतम हो जाएगी क्योंकि नेत्र में स्थानिक संज्ञाहीनता हो जाएगी। इस समय नेत्रों की सम्यक परीक्षा करें।

२. मोतियाविन्दु—

१. मोतिया विन्दु की परीक्षा करने के लिए रोगी को
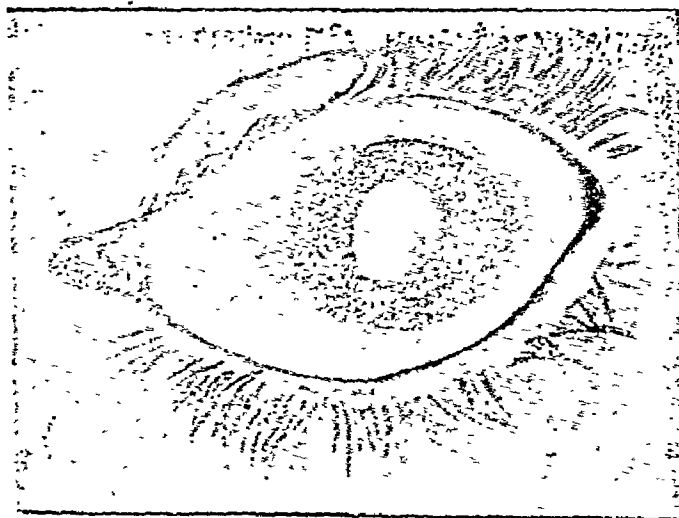
लेंस और उसकी अपारदर्शकता

सामने वैठाना चाहिए। रोगी से इतिहास पूछना चाहिए। कई वार चोटजन्य मोतिया विन्दु (Injury catact) भी छोटी उम्र में पाया जाता है। साधारणतः यह पैंतीस वर्ष की उम्र से आरम्भ होता है। पर छोटी उम्र अपवाद नहीं है।

२. नेत्र पर रोशनी डालने से रोगी पलक नहीं झपकेगा, कारण कि मोतिया विन्दु में लेंस में ओपेसिटी (Opicity & Turbidity of the lens) हो जाने से प्रकाश का विम्व रेटीना पर नहीं वनता है।

३. रोशनी डार्क रिफलेक्शन के रूप में दिखती है अर्थात् लेंस एक 'स्लेटी दीवार' जैसा दिखता है।

४. रोगी पूछने पर कहेगा कि नेत्रों में रोशनी पहले धीरे-धीरे कम हुई। वाद में प्रकाश एक 'झांई' के रूप में दीखता है।

५. इसके साथ कई उपद्रव भी मिल सकते हैं।

इसका उपचार शल्य चिकित्सा ही सर्वोत्तम है पर प्रारम्भिक अवस्था में होम्योपैथी दवा से निश्चित लाभ होता है।

३. कांच विन्दु (Glaucoma)

परीक्षा करने पर तथा इतिहास पूछने पर—

१. सतत् शिरःशूल—यह शिरःशूल I.O. P. (intra ocular pressure) के वढ़ने से होता है। रोगी शिर के

> अधिमन्थ या कांच विन्दु (ग्लौकोमा) का चित्र टाइटिल पर रङ्गीन दिया गया है।

असहनीय दर्द से पीड़ित रहता है। दिलचस्प वात यह है कि दर्द शामक औषधियों से दर्द में लाभ नहीं होता है। वल्कि मूत्रल+शामक औषधि से राहत मिलती है क्योंकि प्रेशर कम हो जाता है।

२. रोशनी डालने पर तीव्र डार्क रिफ्लेक्स नहीं मिलता, वल्कि रोशनी में रोगी पलक-झपक सकता है। वैसे देखने की क्षमता इस व्याधि में कम हो जाती है। शिरःशूल इस व्याधि का खास लक्षण है।

३. नेत्र में प्रेशर वढ़ने से नेत्र में रक्तवाहिनियां स्पष्ट रूप से फूली दीखती हैं।

४. यह भी मध्य वय की व्याधि है।

५. पुतली फैली हुई होती है, रोशनी डालने पर रोगी कहता है कि वहुत से रङ्ग दीखते हैं तथा इन्द्र धनुष जैसा दीख रहा है।

४. नेत्र में चोट लगना—

मेडीकल प्रेक्टिस में ऐसे चोट लगे रोगी प्रायः ही आते हैं, इनकी जांच करने से पूर्व नेत्र में एनीथेन घोल १० प्रतिशत का डाल देना चाहिए जिससे स्थानीय संज्ञाहरण हो जावेगा और दर्द कम हो जायेगा। पश्चात् आवश्यकतानुसार उपचार करना चाहिये। चोट निम्न प्रकार की हो सकती है।

वाह्य घूंसा या पत्थर लगने पर, गिर जाने पर यह स्थिति उत्पन्न हो सकती है। परीक्षा करने पर नेत्र के श्वेत पटल पर दोनों ओर रक्ताधिक्य होकर रक्त का जमाव
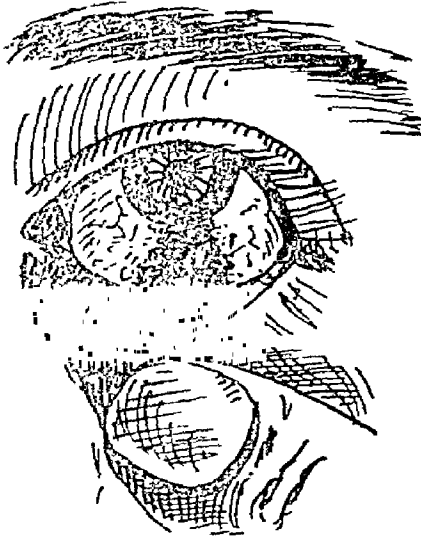
नेत्र में रक्ताधिक्य (अर्जुन)

हो जाता है, यह आघातजन्य होता है। ऐसी स्थिति में विशेष सावधानी रखनी होती है। कई वार नवीन टैरेजियम (अर्म) और पुराने रक्त जमाव (Old blood clot) में भेद करना होता है। रक्ताधिक्य नेत्र गोलक पर कहीं भी हो सकता है पर यह श्वेत पटल पर विशेष परिलक्षित होता है। टैरेजियम में आघात जैसी पीड़ा नहीं होती। औषधि एवं उपचार से जैसे-जैसे चोट का रोहण होता है वैसे ही रक्ताधिक्य न्यून होता जाता है तथा जमाव का भी शनैः शनैः लोप हो जाता है।

चोट से नेत्र गोलक का विदार भी हो सकता है पर यह लगभग नहीं होने वाली स्थिति है। नेत्र गोलक, खोपड़ी की अस्थि के कोटर में रहने से आघात सह्य होते हैं तथा नेत्र के ऊपर मांसल पलक होने से आघात नेत्र तक नहीं पहुँच पाता या उसकी तीव्रता घट जाती है।

कई वार कार्निया की झिल्ली चोट के फलस्वरूप कट या फट सकती है। ऐसी स्थिति में सूक्ष्म कर्व्ड सूचिका से सीवन कर्म करना चाहिये। इसके लिये हरा या काला सिल्क थ्रेड लेना चाहिये।

४. नेत्र में वाह्य पदार्थों का जाना—

इस प्रकार का रोगी आने पर साधारणतः लिटाकर नेत्र की परीक्षा करनी होती है। सर्वप्रथम नेत्र में एनीथेन १ प्रतिशत का विलयन नेत्र में डालते हैं तथा साथ में एण्टीवायोटिक १ प्रतिशत का विलयन भी डालते हैं।
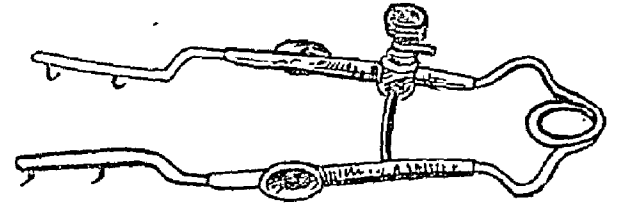
नेत्र विस्फारक यन्त्र

अब नेत्र विस्फारक से दोनों पलकें विस्फारित कर लेते हैं। इसके वाद परीक्षा करने के लिये प्रयुक्त विशेष मेगनीफाइंग ग्लास से देखते हैं।

कई वार नेत्र में तार का टुकड़ा चला जाता है ऐसी स्थिति में रोशनी डालने पर वह चमकने लगता है। यदि तार का टुकड़ा लोहे का है तो उसको चीमटी में चुम्वक से पकड़कर उससे चिपका कर निकाल देते हैं। यदि तांवे का तार है तो उसे पानी की फुहार डालकर वहा देते हैं, यदि तार चुभा है, तो नेत्र गोलक को मोटी नोंक की चीमटी से हल्के से दवा तार को पकड़कर निकाल देते हैं।

(व) कंकड़, मिट्टी कण, कोयला कण तथा अन्य वस्तुएं नेत्र में जाने पर उनको इरीगेशन करके वहा देते हैं, या 'आई कप' में नार्मल सेलाइन का पानी भर कर उसमें देखने दिया जाता है, ऐसा करने से वस्तु पानी में गिर जाती है।

(५) रोहे, पोथकी (Trachoma)—

पलकों पर इस प्रकार के दाने हो जाते हैं।
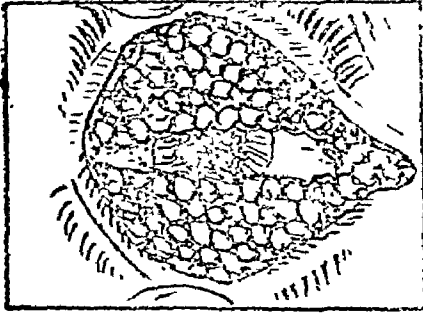
१. इसके रोगी की परीक्षा अत्यन्त सरल है।

२. ८०% भारतीय इससे पीड़ित रहते हैं, क्योंकि यह धूल, धूप, धुँआ से उत्पन्न होता है और हमारे देश में इन तीनों की कमी नहीं है।

३. रोगी स्वयं जानता है कि उसे रोहे हैं। परीक्षा करते समय रोगी निम्न इतिहास बताता है—नेत्र में—

१. अधिक अश्रुस्राव। २. खुजली। ३. लालामी।

४. नेत्र के दोनों पलकों पर भीतर की ओर पोस्त जैसे छोटे-छोटे दाने होते हैं, जिनमें जलन होती है।

५. यह ऊपर की पलक में विशेषतः मिलता है।

६. परीक्षण से—नेत्रों में (पलकों में) सूजन, प्रकाश संत्रास (Photophobia), अश्रुस्राव, नेत्रों में किरकिरापन।

७. ट्रेकोमा के दानों से पूयस्राव मिल सकता है जो कि इसकी चिरकालीन अवस्था है।

८. पीड़ा और दृष्टि विकार भी मिल सकता है।

(६) अर्म (Pterygium —

इस व्याधि से आक्रान्त नेत्र परीक्षण में निम्न बातें मिलती हैं।

१. यह एक चिरकालीन अवस्था है।

२. चित्रानुसार इसमें नेत्रों में कृष्ण पटल और शुक्ल पटल पर मांस-सूत्र सदृश आकृतियां जमी हुई सी पाई जाती हैं। इनमें सूक्ष्म रक्त वाहिनियां भी दृष्टिगोचर होती हैं।

३. इनके होने से रोगी को कोई विशेष तकलीफ नहीं होती, परन्तु जब यह सूत्र कृष्ण पटल पर फैलने लगते हैं तब रोगी चेतता है।

४. नेत्र में रोशनी डालने पर यह स्पष्ट हो जाते हैं, चमकने से लगते हैं।

(७) रात्र्यन्धता—

नेत्र परीक्षण में निम्न बातें मिलती हैं, परन्तु रोगी स्वयं ही बताता है कि उसे रात्रि में नहीं दिखता है—

परीक्षण में—१. नेत्र गोलक गंदला और धूमिल।

२. प्यूपिल सूक्ष्म छिद्रित दिखता है।

३. नेत्र कनीनिका शुष्क (Dry conjuctiva)

४. बिटोट का चिह्न (Bitot's Spot), कार्निया के पार्श्व में मिलना इसकी विशेष पहिचान है।

५. इलाज में इंजेक्शन विटामिन 'ए' (Arovit Roche या Prepalin Glaxo) लगना चाहिए, चार से सात दिन के अन्तर से, मुँह से भी एरोविट (रोश) की गोली देना चाहिए। नेत्र में शुद्ध लिक्विड पैराफिन की बूंदें दिन में दो बार डालें।

नेत्र परीक्षण में सावधानी

१. चिकित्सक के हाथ तथा परीक्षण औजार साफ हों।

२. परीक्षण करते समय दो ट्रे पास में होनी चाहिए जिसमें एक में स्वच्छ पानी में उबाली हुई रुई के फावे हों तथा दूसरी में उपयोग की हुई रुई को फेंकना चाहिए।

३. अधिक शूल होने पर पहले नेत्र के शूल का ही निवारण करना चाहिए, इसलिए एनीथेन १% का घोल २-३ बार नेत्र में टपकाना चाहिए। पश्चात परीक्षण करें।

४. परीक्षण के पश्चात आंख में मरक्यूरोक्रोम १ २% या एण्टीबायोटिक ड्राप्स १% नेत्र में डाल दें। इससे परीक्षण के दौरान होने वाले उपद्रवों से रक्षा होगी।

—डा० श्री सन्मत कुमार जैन आयुर्वेदाचार्य
बी., ए.एम.एस. (ज.वि.वि.) डी.एच.बी. (स्टेट)
बीना (म. प्र.)

विभिन्न नेत्र रोगों की परीक्षा विधि

श्री पं० कृपाशंकर शुक्ल

शिरानुसारिभिर्दोषैर्विगुणौरुर्द्धमाश्रितैः ।
जायन्ते नेत्र भागेषु रोगाः परम दारुणाः ॥

शिराओं में रहने वाले वातादि दोष बिगड़ कर उच्च भाग में जाकर नेत्र में अत्यन्त दारुण रोगों को उत्पन्न करते हैं। सुश्रुत के मत से नेत्र रोग मुख्यतः ७६ प्रकार के हैं। इनमें से २४ पलकों और नेत्र सन्धियों के, १३ नेत्र श्वेत भाग के, ५ कृष्ण भाग के, ५ कांच विन्दु के, ६ तिमिर के, ७ लिंग नाश के, ८ दृष्टि रोग, ४ अधिमन्थ और कुछ सर्वाक्षि रोग के भी होते हैं।

नेत्र रोगों की परीक्षा

१. **चक्षु प्रदाह (आँख का आना)**—किसी वस्तु के गिर जाने, धूप लगने, आँख से अधिकता में काम लेने आदि कारणों से आँख आ जाती है, जिसमें कोंचने के समान पीड़ा होती है, रक्त के समान लाली, दाह, खुजली और पलकों में सूजन आ जाती है आँसू बहता है। कीचड़ आता है और पलकें चिपक जाया करती है।

२. **दृष्टिक्षीणता**—किसी महीन वस्तु को बार-बार अवलोकन करने, किसी वस्तु को एक टक देखने से, दुखती आँखों में लिखने पढ़ने एवं नेत्र को आराम चाहने पर भी जबर्दस्ती काम लेने से दृष्टि में एक प्रकार की क्षीणता पैदा हो जाती है।

३. **धुन्द**—वृद्धावस्था में शरीर के समस्त अङ्गों के क्षीणता के कारण रक्ताल्पता हो जाने से नजर मोटी हो जाती है कुहरा के समान दिखाई पड़ने लगता है। इसी को 'धुन्द' कहते हैं।

४. **मांड़ा**—नेत्र में धुआं लगने, तेज गर्मी में सूर्य की ओर देखने से आँखों के आने पर चिकित्सा आदि न करने पर नेत्रों में एक झिल्ली के समान रूप हो जाता है जिसे मांड़ा कहते हैं।

५. **फुल्ली**—आँखों के अधिक दिन वन्द रहने के कारण प्रकाश वाले तिल पर श्वेत फाँकी पड़ जाती है। जिससे ज्योति रुंध जाती है और व्यक्ति काना या अन्धा हो जाता है, उसको "फुल्ली" कहते हैं।

६. **जाला**—नेत्रों में किसी वस्तु के गिर जाने या आ जाने या शरीर के किसी अङ्ग से खून की पर्याप्त मात्रा गिर जाने पर आँख से धुन्ध जैसा दिखाई पड़ने लगता है, इसका उपचार सरल है।

७. **मोतिया विन्दु**—जब दूषित द्रव्य नेत्र की भीतरी झिल्लियों में चला जाता है जिससे कनीनिका के मध्य का विन्दु तथा उसकी नाड़ियां स्थानच्युत हो जाती हैं अथवा उन पर पर्दा आ जाता है तब "मोतिया विन्दु" आदि अन्य रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

८. **नाखूना**—यह रोग तम्बाकू आदि नशीली वस्तुओं का सेवन, अति स्त्री प्रसङ्ग, तप्त भूमि में नंगे पांव चलना, आवश्यकता न रहने पर भी चश्मे का प्रयोग, दुखती आंखों से लिखना पढ़ना आदि कारणों से नेत्र बिल्कुल रक्त की तरह सुर्ख हो जाते है। इसे "नाखूना कहते है।

९. **रोहा**—यह रोग प्रायः आँख की ऊपर वाली पलकों के भीतर उत्पन्न होता है। इसमें लाल रङ्ग की मांस के समान ऊपर की ओर उठी हुई पलकों के भीतर छोटी पिड़िका होती है और पलकों में सूजन आ जाती है, जिससे व्यक्ति आँखों को वन्द किये रहता है। बहुत प्रयत्न करने पर अन्धेरे में कुछ दिखाई देता है किन्तु तेज प्रकाश में नहीं, रोग के बढ़ जाने से चौबीसों घण्टे आँखें वन्द रखता है फलतः फूली, माड़ा पड़ कर दृष्टि का नाश हो जाता है। यह रोग लोक में "खथुआ" नाम से भी प्रसिद्ध है।

१. **नक्तान्ध्य**—इस रोग से तो प्रायः सभी लोग परिचित रहते हैं क्योंकि एक तो भारत एक गर्म देश है दूसरे आधुनिक युग में दूध घी पूर्णरूप से मिल नहीं पाता,

एवं नेत्र से कार्य न करते हुए पर लिये जाते एवं धूप में चलने आदि के कारण से नक्तान्ध्य हो जाता है। यह रोग तो आधुनिक युवकों में भी बहुधा देखा गया है। इस रोग में दिन में तो स्पष्ट दिखायी देता है किन्तु रात को बिल्कुल नहीं दिखाई देता। यह रोग लोक में "रतौंधी" नाम से प्रसिद्ध है।

११. गुहांजनी—यह रोग नेत्र के ऊपर या पलकों में होता है। यह प्रायः जल्दी अच्छा होते देखा गया है। इस रोग
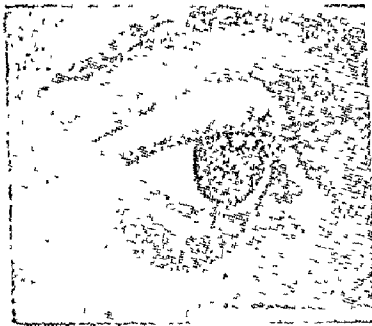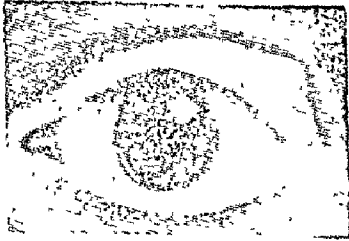
में आँखों के पलकों में सूजन होकर फोड़िया का रूप पकड़ लेती है। इस रोग को लोक में "बिलनी" कहते हैं।

१२. नेत्रों की खुजली—नेत्रों के पलकों में किसी जन्तु के काटने या रक्त की अशुद्धता के कारण नेत्रों में खुजली होने लगती है जिससे पलकें लाल हो जाती है एवं छोटी-छोटी फुन्सियों का होना भी देखा गया है।

१३. बरौनियों का झड़ना—प्रायः प्रोटीन की कमी से बाल झड़ते हैं। शरीर को सन्तुलित आहार मिलना परमावश्यक है क्योंकि शरीर के किसी भी अङ्ग में यदि उसके अवयवों की पूर्ति न हो सकेगी तभी रोग होंगे। अतः बरौनियों का झड़ना विटामिनों के अभाव के कारण ही होता है। कभी कभी तो इस रोग में नेत्र की पलकों की समस्त बरौनियाँ झड़ जाती हैं।

१४. पैनस—रोहे या नेत्रों में किसी वस्तु के गिर जाने, बिजली के चमकने, सूर्य की ओर देखने आदि से यह
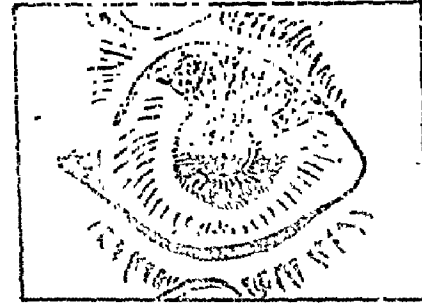
रोग हो जाता है। इसमें आँखों के सामने अँधेरा दिखाई देता है।

१५. पीलिया—यह रोग प्रायः पेट की खराबी से होता है, जिसमें रोगी को लाल पीला दिखाई देने लगता है एवं नजर मोटी हो जाती है।

१६. दिनौंधी—यह रोग शरीर के अंगों के शिथिल एवं कमजोर हो जाने पर भी अंगों से जबरदस्ती कार्य लेने पर, सूर्य की तरफ अधिक देखने पर, मन्द प्रकाश में आँखों पर जोर देकर कार्य करने से हो जाता है। इस रोग में रोगी को दिन में स्पष्ट नहीं दिखाई देता।

१७. धूसर मंथ—जब शरीर स्थित विजातीय द्रव्य नेत्रों के भीतर स्थित तरल पदार्थ में पहुँच कर उसमें कोई उपद्रव कर देता है तब दृष्टि कमजोर हो जाती है। इसी तरह जब दूषित द्रव्य नेत्रों की भीतरी झिल्ली में चला जाता है जिससे कनीनिका के मध्य का बिन्दु तथा उसकी नाड़ियाँ स्थानाच्युत हो जाती हैं अथवा उन पर पर्दा आ जाता है तब धूसर मंथ हो जाता है। यह रोग विष या नशीली वस्तु का सेवन, नेत्रों में धूआँ लगना, अधिक सिनेमा आदि देखने से हो जाता है। यह रोग लोक में "काला मोतियाबिन्दु" नाम से प्रसिद्ध है।

१८. द्विदृष्टि—इसको भेंगापन के नाम से भी पुकारत हैं इसमें दृष्टि तिरछी हो जाती है। यह रोग बहुधा जन्मजात ही होता है। इस प्रकार के नेत्र वाले व्यक्ति को देखने से ऐसा मालूम होता है कि व्यक्ति मेरी ओर या सामने देख रहा है किन्तु वास्तव में वह दांये-बांये देखता रहता है।

१९. धूम दृष्टि—यह रोग प्रायः एक आदत सरीखे होता है जोकि अपर्याप्त भोजन, पलकों को जल्दी-जल्दी मारने, चित्त लेटकर पढ़ने एवं दुखती आँखों में लिखने पढ़ने से हो जाता है। इसमें रोगी को धुयें के समान दिखाई देने लगता है।

२०. क्लांत दृष्टि—यह रोग दुखती आँखों का ठीक एवं कुछ दिन तक उपचार न करने के कारण हो जाता है जिससे नेत्र कमजोर पड़कर ढीले पड़ जाते हैं व आँखों से पानी बहने लगता है और आँखें कुछ न कुछ हमेशा सुर्ख रहती हैं।

२१. निकट दृष्टि—जिस मनुष्य के आँख में यह दोष होता है वह पास की वस्तुओं को स्पष्ट देख सकता है किन्तु दूर की वस्तुओं को नहीं। स्वस्थ आँख २५ सेमी० से अनन्त तक की वस्तुओं को देख सकती है परन्तु ऐसे मनुष्य को दूर की वस्तु साफ नहीं दिखाई देती। इसका कारण यह है कि दूर से आने वाली प्रकाश की किरणें रेटिना के (जो रेशेदार पतली झिल्ली का बना होता है) सामने फोकस हो जाती हैं इससे प्रतिविम्ब साफ नहीं दिखाई देता परन्तु पास की वस्तु का प्रतिविम्ब रेटिना पर बनता है।

इस दोष के दो कारण हो सकते है या तो लैंस (जो पुतली के ठीक नीचे जिलेटिन समान पदार्थ होता है) का फोकस अन्तर कम होगा या लैंस और रेटिना के बीच की दूरी अधिक होती है। इस दोष को दूर करने के लिये या तो लैंस का फोकस अन्तर बढ़ा दिया जाय या लैंस और रेटिना के बीच की दूरी कम करदी जाय। यह दोष लेट कर पढ़ने से भी हो जाता है।

२२. दूर दृष्टि—कुछ मनुष्यों को दूर की वस्तु साफ दिखाई देती है परन्तु पास की वस्तुयें दिखाई नहीं देतीं। इस दोष को दूर दृष्टि कहते हैं। इस दशा में वस्तु का प्रतिविम्ब रेटिना के पीछे बनता है। आँख अपनी संविधान क्षमता से प्रतिविम्ब रेटिना पर बना देती है परन्तु जैसे जैसे वस्तु निकट आती जाती है प्रतिविम्ब और पीछे बनता जाता है और संविधान क्षमता से कोई सहायता नहीं मिलती है। यह दोष दो कारणों से हो सकता है या तो लैंस का फोकस अन्तर अधिक हो या आँख के लैंस और रेटिना के बीच की दूरी कम हो। इस दोष को दूर करने के लिये भी चश्मों का प्रयोग होता है। यह दोष उत्तल लैंस की सहायता से दूर होता है एवं खड़े-खड़े व रास्ता चलते हुए पढ़ने आदि से हो जाता है।

२३. अर्द्ध दृष्टि—यह दृष्टि दोष थोड़ा-थोड़ा देखने, धूप में पढ़ने आदि से हो जाता है जिसमें व्यक्ति को आधा या थोड़ी छोटी वस्तु दिखाई पड़ती है जिसका कारण लैंस का छोटा होना एवं पुतली का बड़ा होना है। यह अवतल लैंस का चश्मा प्रयोग करने से ठीक हो जायेगा।

२४. वक्र दृष्टि—आइरिस में जो छिद्र होता है वह समयानुसार छोटा और बड़ा होता है यह लैंस के आगे का भाग होता है। इसके एवं इसके छिद्र के बड़ा एवं छोटा होने से प्रतिविम्ब रेटिना पर नहीं बनता जिससे व्यक्ति को तिरछा देखना पड़ता है। यही वक्र दृष्टि है। इस दोष को लैंस को बड़ा करके या आइरिस को छोटा करके दूर किया जाता है।

२५. वर्ण दृष्टि—इस दोष में व्यक्ति को हमेशा रंगीन दिखाई पड़ता है। यह आइरिस के कारण होता है जो कि कोर्निया के पीछे पतला पारदर्शक भाग होता है। इस पर्दे का रङ्ग भिन्न-भिन्न हो सकता है। ज्यादातर ठण्डे और गर्म देशों के मनुष्य के पर्दे के रङ्गों में अन्तर होता है। यह दोष सूर्य के सात रङ्गों के कारण होता है।

२६. दृष्टि वैषम्य—यह दोष प्रायः अधिक पढ़ने से हो जाता है जिससे आंख कमजोर एवं नजर कुछ मोटी हो जाती है जो कि उत्तल लैंस का चश्मा लगाने से ठीक हो जाता है।

किन्तु बालकों की आंख में प्रायः चार प्रकार के रोग अधिकांश होते हैं। उन्हीं का संक्षिप्त निदान और चिकित्सा वर्णन आगे किया जाता है—

१. अभिष्यन्द (आंख का उठना)
२. कुकूणक
३. रोहुवा
४. फूली
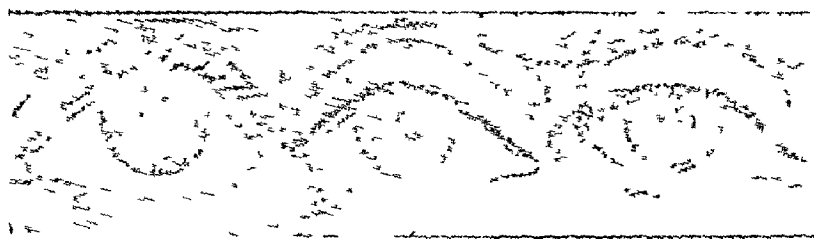
पतली या हल्की फूली गहरी फूली बहुत गहरी फूली

१. फूली—आखो के आ जाने, चोट लग जाने, किसी वस्तु के गिर जाने आदि कारणो से आखों के अधिक दिन वन्द रहने से प्रकाश वाले तिल पर श्वेत फांकी पड़ जाती है जिससे ज्योति रुँध जाती है उसको फूली कहते है।

२ अभिष्यन्द—आख के उठने पर उनमे कोचने के समान पीड़ा होती ह, रक्त के समान लाली, दाह, खुजली और पलको मे सूजन आ जाती है। आसू वहता है, पलक चिपक जाया करती हे, कीचड आता हे। यदि इस रोग का समय पर उचित उपचार न किया जाय तो भयानक हो जाता है, फूली आदि पड़कर आखो के नष्ट हो जाने का भय होता हे।

३. कुकूणक—दूषित दूध के पीने से वातादि दोष क्रुद्ध होकर वरौनी की जड़ मे इस रोग को उत्पन्न करते है। इसमे पलको मे खुजली होती है पानी वहता है और बालक प्रकाश की ओर नही देख सकता। आंखे वन्द किये हुए नेत्र, नाक, ललाट को अपने हाथो से वार-बार मलता है।

४. रोहुवा—यह रोग प्राय आख के ऊपर वाली पलकों के भीतर उत्पन्न होता है। इसमे लाल रङ्ग की मास के समान ऊपर की उठी हुई पलको के भीतर छोटी पिड़िका होती है और पलकों मे सूजन आ जाती है जिससे बालक आखें वन्द किये रहता है। वहुत प्रयत्न करने पर अन्धेरे मे कुछ दिखाई देता है किन्तु सूर्य, विजली अथवा दीपक के प्रकाश मे आख नही खोल सकता। आरम्भिक अवस्था मे कुछ देर आखे खोलता है—परन्तु रोग वढ़ जाने पर चौवीसो घड़ी आखे वन्द रखता है। देर तक आखों के वन्द रहने से फूली, माड़ा पड़कर दृष्टि का नाश हो जाता है। यह रोग लोक मे खथुआ नाम से प्रसिद्ध है।

—श्री प० कृपाशकर शुक्ल
सुधा सजीवनी आयुर्वेदिक चिकित्सालय एव विद्यालय
नारीवारी, प्रयाग (उ०प्र०)

नेत्र रोगों के सामान्य कारण, पूर्व रूप, रूप एवं चिकित्सा

श्री महावीर प्रसाद जैन बी.ए.एम.एस.
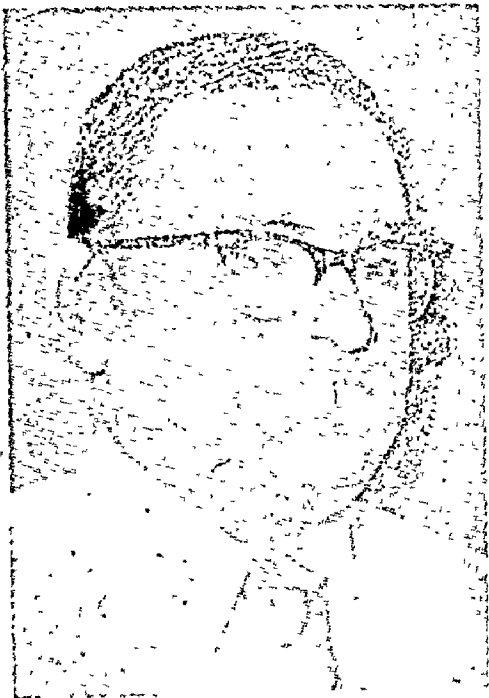
आपने जबलपुर विश्वविद्यालय से बी.ए.एम.एस. तथा स्टेट काउन्सिल से डी.एच.बी. किया है।

आपने शिक्षा के दौरान कई विषयों एनाटामी, क्रिया शारीर, निदान, काय चिकित्सा आदि विषयों में विशेष योग्यता अर्जित की है।

लगभग ८ वर्षों से चिकित्सा क्षेत्र में हैं। चिकित्सा में भारतीय चिकित्सा विज्ञान (आयुर्वेद) और पाश्चात्य चिकित्सा, दोनों प्रणालियों से कार्य करते हैं।

परिवार में तीन पीढ़ियों से चिकित्सा व्यवसाय का कार्य होता है। पच्चीस से अधिक वर्षों से 'धन्वन्तरि' के ग्राहक हैं।

—दाऊदयाल गर्ग

नेत्र रोगों के सामान्य कारण, पूर्व रूप, रूप एवं चिकित्सा को पूर्ण रूप से समझने के लिए चिकित्सक को मोटे तौर से नेत्र शारीर का ज्ञान प्रत्यक्ष होना आवश्यक है। तथा आयुर्वेदीय दृष्टि से सम्पूर्ण त्रिदोष का भी सम्यक ज्ञान अभीष्ट है। क्योंकि त्रिदोष के ज्ञान के बिना यह जानना कठिन है कि नेत्र में व्याधि किस दोष की प्रमुखता से तथा प्रकुपित होने से हुई है। इसलिए इस लेख को पूरी तरह स्पष्ट करने के लिए मैं दोनों, प्राचीन और अर्वाचीन प्रणालियों का सहारा ले रहा हूं।

सामान्य कारण—

१. गर्मी से शरीर तपा हुआ होने की दशा में तुरन्त जल में प्रवेश या कम तापक्रम में अचानक आवागमन।

२. धूल, धूप, धूंआ तथा ताप के नेत्रों में लगने से या इनके अति सेवन से।

३. वमन होने से, वमन रोकने से, मल मूत्र वायु का वेग रोकने से।

४. लगातार क्रोध करने से, रोने से, शिर पर आघात लगने से या नेत्र में ही आघात लगने से।

५. नेत्रों की दृष्टि में असामान्यता होना तथा उसके निराकरण के लिए उचित चश्मे का प्रयोग न करना।

६. ऋतुओं के क्रम में विकृति होने से, अभिघात से।

७. सूक्ष्म वस्तुओं के निरीक्षण से व जागरण करने से।

८. विभिन्न प्रकार के संक्रमणों तथा उपसर्गों से। अन्य नेत्र के रोगियों के अधिक सम्पर्क से उनके उपयोग की हुई वस्तुएं यथा चश्मा रूमाल आदि के प्रयोग से।

९. नेत्रों में प्रारम्भिक अवस्था की विकृतियों के होने पर उसका उचित उपचार न करने पर, उसी का चिरकालीन और स्थाई विकृति में परिवर्तित हो जाना।

१०. कुलज और पैतृक बीमारियाँ।

उपरोक्त सब कारण नेत्रों में व्याधि और विकृति होने के कारण हैं।

नेत्रों में होने वाले सामान्य विशिष्ट रोग (उनके पूर्वरूप और रूप)—

१. **अभिष्यन्द**—नेत्रों होने वाले रोगों में यह सबसे सामान्य रोग है और बहुतायत से होता है। प्रायः सब ही चिरकालीन रोगों की यह प्रथमावस्था है। अथवा पहले यह
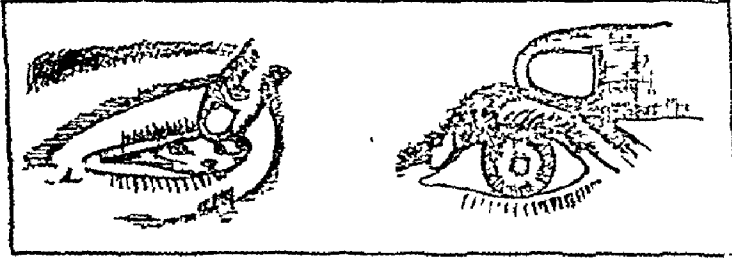
व्याधि होती है बाद में दूसरी सब। यह चार प्रकार का होता है—१. वातज २. पित्तज ३. कफज ४. रक्तज।

यह अत्यन्त कष्टदायक और प्रायः सब प्रकार के नेत्र रोगों को उत्पन्न करने वाला होता है।

चारों अभिष्यन्दों के पूर्वरूप और रूप—

१. नेत्रों में चुभन, जकड़ाहट, रोम हर्ष, रगड़ लगने का अनुभव होना, रूखापन तथा शिर दर्द आदि होते हैं।

२. नेत्रों से गर्म अश्रुपात, नेत्र खोलने में असमर्थ होना, नेत्रों में लालामी होना, नेत्रों में शूल होना।

३. नेत्रों के आसपास की नाड़ियाँ लाल होना, दोनों पलकों के भीतर की श्लैष्मिक झिल्ली का अत्यधिक रक्त वर्ण होना।

४. उपरोक्त के साथ ही नेत्रों के दोनों कोणों से अधिक कीचड़ निकलना और जिसके फलस्वरूप शयन के पश्चात नेत्रों का चिपक जाना।

२. **अधिमन्थ** (Glaucoma)—नेत्रों में सामान्य व्याधि होने पर उसकी चिकित्सा न कराने वाले मनुष्यों को अधिमन्थ नामक व्याधि हो जाती है। यह एक चिरकालीन अवस्था है, जो सहसा ही उत्पन्न नहीं होती है। यह भी दोष भेद से ४ प्रकार का है। (१) वातज (२) पित्तज (३) कफज (४) रक्तज। पूर्वरूप, रूप—१. यह एक तीव्र शिरःशूल उत्पन्न करने वाली व्याधि है। शिरःशूल आंतरिक नेत्र द्रव दाब (Intra ocular pressure) के सामान्य से अधिक बढ़ने पर होता है।

१. शिरःशूल सतत् होता है।

३. शूल के परिणामस्वरूप दृष्टि भ्रम, दृष्टि वैषम्य तक होता है।

४. एक टार्च से नेत्रों में रोशनी डालने पर पीड़ित रोगी को रोशनी में तारे से छूटने लगते हैं, उसको इन्द्र धनुष जैसा भासता है। रोशनी झांई जैसी लगती है।

५. चिरकालीन होने पर रोगी को कुछ भी स्पष्ट नहीं होता सब एक दूसरे में मिलता सा प्रतीत होता है।

(६) यह एक मध्य आयु में होने वाली व्याधि है।

(७) भारतीय चिकित्सा विज्ञान आयुर्वेदानुसार अधिमन्थ निम्न प्रकार से दृष्टिनाश करता है—

(१) वातज—६ दिन रात में।

(२) पित्तज—३ दिन रात में।

(३) कफज—७ दिन रात में।

(४) रक्तज—५ दिन रात में। कई बार इस प्रकार शीघ्र दृष्टिनाश के कई प्रकरण होते देखे गये हैं, सम्भवतः वे सब तीव्र अधिमन्थ से ही अंधता को प्राप्त होते हों। वैसे आधुनिक शल्य विज्ञान से इस को किसी हद तक आरोग्य कर दिया जाता है।

३. **नेत्रपाक और नेत्र की आमावस्था** (Panophthalmitis)—(१) नेत्रों में तीव्र वेदना, लाली, शोथ, किरकिराहट होने के फलस्वरूप शूल एवं नेत्रों से अधिक मात्रा में अश्रु निकलना।

(२) खुजलाहट, नेत्रमल (कीचड़) का अधिक उत्पन्न होना तथा फलस्वरूप नेत्र पलकों का आपस में चिपक जाना।

(३) तीव्र लाली, नेत्र गोलक का वर्ण पके हुए गूलर के फूलों के समान लाल होना। अविरल गर्म आंसुओं का निकलते रहना।

(४) नेत्र पाक और शोथावस्था प्रायः जीवाणुजन्य संक्रमण (प्रायः स्टेफिलोकाक्कस) के कारण होता है।

४. **शुष्काक्षिपाक** (Xerophthalmia)—(१) नेत्रों में दाह व खोलने में कष्ट प्रतीत होता है।

(२) नेत्र का श्वेत पटल देखने में सूखा, धूमिल, आभारहित और गंदला (टरबिड) दिखता है।

(३) इसके चिरकालीन होने पर उपद्रव स्वरूप नेत्र पलक बाह्य मुड़ जाता (Ectropion) है। इसका उपचार शल्य क्रिया है।

५. अव्रण और सव्रण शुक्ल (Corneal Ulcers)—

१. नेत्रों में कृष्ण पटल और शुक्ल पटल दो बाह्य हिस्से दृष्टिगोचर होते हैं। कार्नियल अलसर कृष्ण पटल पर होते हैं।

२. छोटे-छोटे सरसों के समान यह व्रण, कृष्ण पटल पर उठी हुई आकृति के होते हैं। यह गिनती में एक से तीन तक हो सकते हैं। टार्च की रोशनी डालने पर चमकते हैं।

३. नेत्र बन्द करने में ऐसा लगता है, जैसे भीतर कोई वस्तु नेत्रों की पलकों से लग रही है।

४. इसके होने में उम्र की कोई बाध्यता नहीं है। किसी भी उम्र में हो सकता हैं।

५. कई बार सिफलिस, डिफ्थीरिया, चेचक, रोहे, और नेत्र में आघात लगने के फलस्वरूप यह हो जाता है।

६. आक्रान्त नेत्र से पानी बहना, शूल और चौंध लगना इसका सामान्य कारण है।

७. कई बार अलसर के होने पर, खांसने से या नेत्र पर दबाव पड़ने पर यह अलसर फट भी सकता है पर यह अपवाद है।

८. इसके सूक्ष्म और सही निदान के लिए फ्लोरेसीन २% घोल की एक दो बूंदें नेत्र में डालने से आक्रांत नेत्र का वर्ण हरा-पीला सा हो जाता है।

६. **तिमिर**—तिमिर का मुख्य लक्षण नैदानिक दृष्टि से दृष्टिमांद्य या शनैः शनैः अंधत्व को प्राप्त होना है। यह कई कारणों से विभिन्न प्रकार का होता है। आधुनिक मतानुसार किसी भी नेत्र व्याधि का चिरकालीन रूप तिमिर में परिवर्तित हो सकता है। भारतीय चिकित्सा विज्ञान अर्थात् आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार यह पांच प्रकार का है—

१. वातज २. पित्तज ३. कफज ४. रक्तज ५. त्रिदोषज।

तिमिर में रोगी—

१. वातज में—पदार्थों को घूमता हुआ सा, अरुण वर्णवाला, मलिन, अपने विशिष्ट आकार से भिन्न और कुटिल देखता है।

२. पित्तज में—पदार्थों को पीला देखता है। कई बार पदार्थों को जुगनू, इन्द्र धनुष, और विजली के समान चमकदार और मोर के समान नाचता हुआ देखता है।

३. कफज में—पदार्थों को चिकना (स्निग्ध), श्वेत देखता है। मेघरहित आकाश को मेघाच्छन्न देखता है। पदार्थों को जल में डुबोए के समान गीले देखता है।

४. रक्तज में—रोगी विभिन्न प्रकार क लाल काले रङ्गों को देखता है। वह सफेद और पीले पदार्थों को भी लाल-काला देखता है।

५. त्रिदोषज में—इसमें रोगी विपरीत और विचित्र देखता है। जो वस्तु नहीं है उसे भी कल्पना में देखता है। नेत्रों के सामने बिजली सी छूटती मालूम होती है।

तिमिर के सामान्य और विशिष्ट कारण—

१. दृष्टि वितान की केन्द्रीय शिरा में घनास्रता (Thrombosis) होने से।

२. रेट्रोवल्बर न्यूराइटिस(Retro-bulbar neuritis) होने से।

३. दृष्टि वितान की केन्द्रीय धमनी में अन्तःशल्यता (Embolism) या आक्षेप होने से।

४. दृष्टि वितान का पार्थक्य (Detachment) और हिस्टीरिया।

५. चिरकालीन ग्लोकोमा होने से।

६. दृष्टि नाड़ी का अर्बुद या नाड़ी पर किसी भी प्रकार का दबाव होने से तिमिर से पीड़ित होना अवश्यम्भावी है।

७. दृष्टि वितान या कोरोइड का स्थानिक रोग तथा चिरकालीन फिरङ्गी-खंजता में आंख की क्षीणता। इन सबमें शनैः शनैः नेत्रान्धता (तिमिर) होती है या हो सकती है।

सहसा अन्धत्व के कारण—

१. हिस्टीरिया।

२. वर्फ या विद्युत प्रकाश तथा वेल्डिंग स्पार्क की चौंध से।

३. आमाशय, आंत्र या गर्भाशय से सहसा और बडी

मात्रा में रक्तस्राव होने पर।

४. यूरेमिया (मूत्र विषमयता) होने पर।

५. मधुमेह में नाड़ी शोथ (Diabetic optic Neuritis) होने पर।

६. इन्सुलीन के प्रयोग से रक्त में शर्करा का परिमाण अतिशय कम हो जाने पर।

७. शिर या नेत्र में सीधे आघात लगने से।

७. नक्तांधता (Night Blindness)—

१. इस व्याधि में रोगी को रात्रि आरम्भ होते ही दिखना वन्द हो जाता है या अन्धता आ जाती है। तथा पुनः प्रातःकाल में सामान्य रूप से दिखने लगता है।

२. यह अधिकांशतः पुरुषों में मिलता है।

३. शरीर में होने वाली चया-पचय की क्रिया में विटामिन 'ए' का पूर्णरूपेण उपयोग और शोषण नहीं हो पाता है जिसके फलस्वरूप यह नक्तान्धता की बीमारी होती है।

४. कंजक्टाइवा शुष्क मिलता है, शुक्ल पटल आभाहीन मैला होता है। विटोट का चिह्न (Bitot's Spot) नेत्र गोलक के पार्श्व में छोटी-छोटी तिकोनी आकृति के रूप में मिलती हैं, जो कि इसका मुख्य नैदानिक चिह्न है।

५. अधिक पुरानी व्याधि होने पर विटामिन 'ए' की कमी से त्वचा शुष्क मिलती है। लोम कड़े हो जाते हैं। और लोमों की जड़ों में पिड़िकायें—शोथ उत्पन्न हो जाता है। इसके साथ ही संस्थानिक लक्षण भी प्रगट होते हैं। इसमें मुख द्वारा और सूचीवेध से विटामिन 'ए' (एरोविट, प्रीपेलिन) देने से रोगी पुनः सामान्य हो जाता है, और रोग मुक्त हो जाता है।

८. अर्म रोग (Pterygium)—

१. नेत्र के श्वेत पटल पर मृदु मांस सूत्र सदृश पतला, विस्तीर्ण, श्यामवर्ण या लाल वर्ण की मांसल रचना का होना अर्म रोग का लक्षण है।

२. यह नेत्रच्छद कला की एक विशेष प्रकार की वृद्धि है जो प्रायः नाक की तरफ के कोण से आरम्भ होकर क्रमशः कनीनिका को आच्छादित करती है। कनीनिका की ओर क्रमशः यह सकरी होती जाती है। इसमें रक्त केशिकायें भी होती हैं। इसका उपचार शल्य क्रिया है।
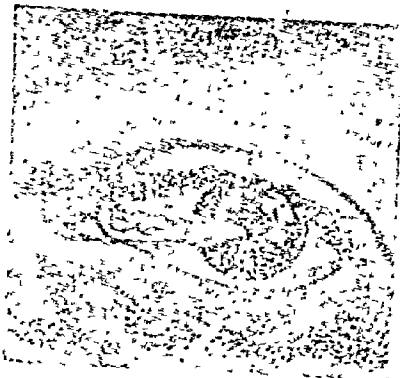
९. पूयालस (Dacryocystitis)

१. दृष्टि संधि में बड़ी न पकने वाली, प्रायः खुजलाने वाली ग्रन्थि हो जाती है जो अश्रु नलिका का मार्ग अवरुद्ध होने से होती है।

२. उपरोक्त अवस्था के पश्चात् पक्व शोथ जो तोदयुक्त हो और दुर्गन्धित पूय स्राव करे वह पूयालस कहलाता है। यह अवस्था ग्रन्थि में द्वितीयक संक्रमण होने से उत्पन्न होती है। इसका उपचार मुख्यतः शल्य क्रिया है।

१०. पोथकी—

१. हमारे भारत देश में यह व्याधि प्रधानतः लगभग ८० प्रतिशत मनुष्यों में पाई जाती है। क्योंकि धूल, धूप, धुँआ इसके उत्पन्न होने में मुख्य कारण हैं।
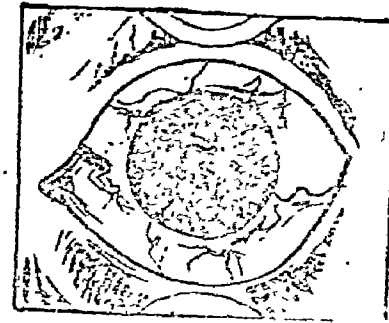
२. नेत्रों के अधिकांशतः ऊपरी पलकों में भीतर की ओर पोस्त के दाने सदृश रचनायें उत्पन्न हो जाती हैं जो पोथकी के नाम से जानी जाती हैं।

३. पीड़ित रोगी के अश्रुस्राव, रूमाल, वस्त्र आदि के प्रयोग से यह फैलता है।

४. प्रकाश संत्रास (Photophobia), अश्रुस्राव, खुजलाहट और जलन रोगी नेत्रों में महसूस करता है।

५. चिरकालीन होने पर—१. पलकें सूज जाती हैं। २. नेत्रों से कीचड़ और पूय स्राव होता है।

११. लिंगनाश (cataract) —

१. यह एक नेत्र की चिरकालीन स्वरूप की व्याधि है। जब नेत्र के लैंस में उम्र के प्रभाव से, संक्रमण से, आघात से अपारदर्शकता हो जाती है। ऐसी स्थिति में प्रकाश या वस्तु का प्रतिबिम्ब दृष्टिपटल (Retina) पर नहीं बन पाता है और मनुष्य देखने में असमर्थ हो जाता है। ऐसी स्थिति को लिंगनाश कहते हैं।

२. नेत्र में कृष्ण पटल पर रोशनी डालने से नेत्र का लैंस एक स्लेटी चमकदार दीवार जैसा दृष्टिगोचर होता है तथा रोशनी के प्रभाव से रोगी पलक भी नहीं झपकता कारण कि, प्रकाश नेत्र के भीतर नहीं पहुँचता।

३. यह छोटी उम्र में आघातजन्य (Traumatic) भी उत्पन्न हो सकता है।

१२. तिर्यक दृष्टि और दो दिखना (Squint & diplopia)

१. दूर की वस्तु को देखने में दृष्टि के केन्द्र विन्दु में समानता नहीं रहती।
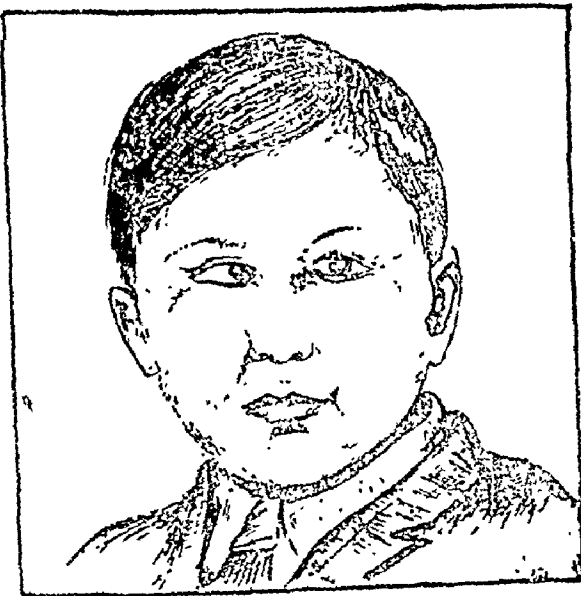
२. जब एक अक्षि गोलक भीतर की ओर देखता है तब इसे (convergent squint–आंतरिक तिर्यक दृष्टि) कहते हैं। और जब अक्षिगोलक वाह्य की ओर देखता है तब इसे (Divergent squint–वाह्य तिर्यक दृष्टि) कहते हैं।

दो दिखना—

१. यह नेत्र की एक या अधिक मांसपेशियों की निर्बलता से होता है। यह दृष्टि केन्द्र के बदलने से भी होता है।

२. इस अवस्था के साथ चक्कर आना (Vertigo) वस्तु के स्वरूप का शुद्ध निर्णय नहीं कर पाना सम्मिलित है

३. जब एक वस्तु को देखा जाता है, तो दोनों आँखों के केन्द्र समान नहीं रहते। इससे दृष्टि वितान (रेटिना) पर दो प्रतिविम्ब वनते हैं। यह द्वि-दृष्टि (डिप्लोपिया) में होता है।

नेत्र रोगों की चिकित्सा

सामान्य एवं विशिष्ट नियम—

१. आवश्यकतानुसार नेत्र की गर्म (सह्य) सेंक। यह बोरिक एसिड के जल से, नमक के जल से भी की जा सकती है।

२. नेत्रों के उचित व्यायाम करना चाहिए। प्रातः काल उठकर उगते हुए लाल सूर्य को देखना तथा इसी स्थिति में विना सिर हिलाये नेत्रों का सब दिशाओं में चालन करना।

३. एक अंगुली या वस्तु को नाक के सामने रख कर देखना।

४. औषधियों में–त्रिफला जल, नमक का जल, फिटकरी का जल, नीम के पत्तों को उबाल कर उस जल से नेत्रों का प्रक्षालन करना।

५. संक्रमण होने पर विशेष संक्रमण विरोधी औषधियों का प्रयोग जैसे—

(अ) सल्फा ड्रग्स–सल्फा सीटामाइड, गेन्ट्रीसिन (रोश) बूंदें।

(ब) एण्टीवायोटिक्स–टेट्रासाइक्लिन, क्लोरम्फेनीकाल, नियोमाइसिन, पालीमिक्सिन, वेसीट्रेसिन आदि।

(स) लालिमा और शोथहर प्रयोग जैसे–आक्सीफेन बुटाझोन मलहम (आक्सीमाइड केडिला), डेक्सामेथासोन (डेक्सोना) आइड्राप्स, बीटामीथासोन (बेटनेसॉल), हाइड्रोकार्टीसोन मलहम डालना चाहिये।

(द) विभिन्न संक्रामक घोल जैसे—बोरिक एसिड ५% जिंक सल्फेट ०.५ से २%(जिंकोसल्फा), मर्क्यूरोक्रोम १%, माइल्ड सिल्वर प्रोटीन ५%, एक्रीफ्लेविन आदि के आईड्राप्स नेत्रविन्दु के रूप में उपयोग होते हैं।

६. नेत्रों में दृष्टि दोष (Refraction error), दृष्टि वैषम्य (squint, diplopia) आदि होने पर कुशल नेत्र विशेषज्ञ से उचित नम्बर का चश्मा लेना चाहिये और उसके निर्देशों का पालन करना चाहिये। नेत्रों को प्राकृतिक उपसर्गों यथा धूल, धूप, धुँआ से बचाना चाहिये।

७. जहाँ आवश्यकता हो वहाँ मुख द्वारा और सूचीवेध द्वारा भी चिकित्सा करानी चाहिए। यथा—

—शेषांश पृष्ठ ७४ पर देखें।
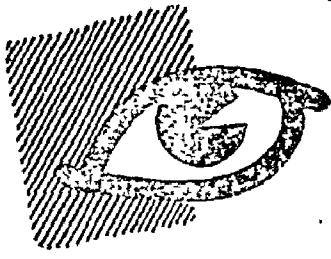
नेत्र सन्धिगत रोग

श्री दाऊ दयाल गर्ग ए० एम० बी० एस०

पूयालस (Dacryocystits)

पक्वः शोफः सन्धिजः संस्रवेद्यः सान्द्रं पूयं पूति पूयालसः सः।

—सुश्रुत उ० २

अर्थात् सन्धिजन्य-जिस शोफ के पकने पर यह दुर्गन्ध युक्त पूय वहती है उसे पूयालस कहते हैं। आधुनिक मतानुसार इसे अश्रुकोष प्रदाह (Dacry-ocystitis) कह सकते हैं।

यह बहुत अधिक पाया जाता है। इसका सबसे प्रमुख लक्षण अश्रुस्राव है जो कि हवा या आंधी में रहने से बढ़ जाता है। अश्रुकोप के स्थान पर सूजन मिल भी सकती है। पास की नेत्रश्लेष्मकला तथा मांसांकुर (Caruncle) पर भी सूजन मिल सकती है। अश्रुकोप स्थल को दवाने से पूय या श्लेष्मयुक्त पूय की बूंद निकल सकती है अथवा नाक में जा सकती है। उक्त पूय की सूक्ष्म परीक्षा करने पर स्टेफिलोकोकाई, न्यूमोकोकाई या स्ट्रेप्टोकोकाई में से कोई एक या अधिक मिल सकते हैं। जीर्ण अश्रुकोष प्रदाह प्रायः नासिका में खुलने वाली अश्रुकोष की नलिका के वन्द हो जाने से होता है। यह नलिका नाक में शोथ हो जाने के कारण या नासिकार्बुद के कारण या नासापट (Nasal septum) में वक्रता आने के कारण या अन्य किसी कारण से भी हो सकता है। यदि इस अश्रुकोष प्रदाह की चिकित्सा नहीं की जाय तो यह स्वयं ठीक नहीं होता अपितु धीरे-धीरे अश्रुकोप की भित्तियाँ कड़ी हो जाती हैं तथा अश्रुकोष में स्राव वरावर भरा रहता है जो कि वाहर से दवाव डालने पर ही निकलता है। किसी भी समय अश्रुकोप का तीव्र शोथ हो सकता है जिससे अश्रुकोष में विद्रधि वन जाती है। यह विद्रधि अश्रुकोप में गलत तरह से शलाका प्रवेश करने के कारण एक घाव वन जाने के कारण भी हो सकती है। यह रोग प्रायः बड़ी उम्र वालों में तथा ऐसे लोगों में मिलता है जो धूल में काम करते हैं या गन्दे रहते हैं। नवजात शिशुओं में उपदंश या क्षय के कारण भी हो सकता है।

चिकित्सा

नवजात शिशुओं में—पेन्सीलन की बूंदें डालें। इससे लगभग एक सप्ताह में बच्चा स्वस्थ हो जायेगा। यदि
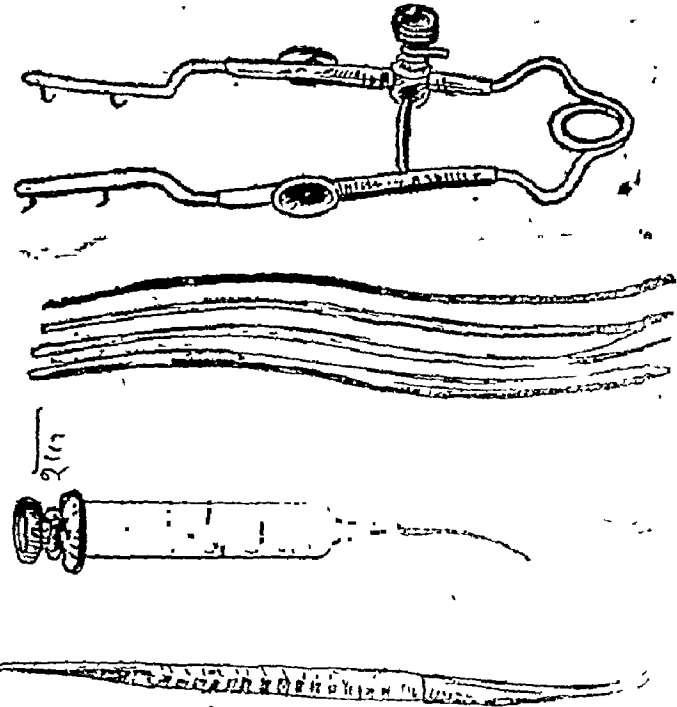
अश्रुकोष प्रक्षालनार्थ प्रयुक्त होने वाले उपकरण

पन्द्रह दिन में भी स्वस्थ न हो तो अश्रुकोष की नासिका में खुलने वाली नलिका को स्थानीय संज्ञानाशन के अन्तर्गत शलाका प्रवेश द्वारा स्वच्छ करना चाहिए। इस बात का ध्यान रखें कि शलाका प्रवेश द्वारा कोई घाव न वने।

वृद्धों में अश्रुकोप नासिका नलिका का लैक्रीमल सिरिंज द्वारा प्रक्षालन सर्वप्रथम करें। एतदर्थ नेत्र में

एनीथेन या अन्य कोई संज्ञाहर द्रव डालकर सुन्न करलें। अश्रु रन्ध्रक (Punctum) को विस्फारित करलें तथा अश्रु-कोष का प्रक्षालन करें। यह क्रिया प्रतिदिन १५ दिन तक किया करें। कुछ रोगियों में तो २-३ दिन की इस चिकित्सा से ही द्रव नासिका में निकलने लगेगा। यदि दो बार अश्रु-कोष प्रक्षालन के बीच के समय में अश्रुकोष में कोई द्रव एकत्रित हो जाता है तो रोगी से कहदें कि वह स्वच्छ हाथों से दबाकर उसमें से द्रव को बाहर निकाल दिया करें।

उपरोक्त प्रक्षालन क्रिया के साथ-साथ रोग की तीव्रता के अनुसार पेन्सलीन या टेट्रासायक्लिन का मौखिक प्रयोग करायें तथा बोरिक एसिड द्वारा सिकाई करायें। नेत्र में डालने के लिये लोक्यूला या किसी अन्य विन्दु का निर्देश दिया जा सकता है। इस चिकित्सा द्वारा सूजन धीरे-धीरे कम हो जाती है तथा रोगी ठीक हो जाता है। यदि फिर भी ठीक न हो तो किसी विशेषज्ञ द्वारा नासिका खातों की किसी संक्रमण हेतु जांच की जानी चाहिये तथा यदि किसी संक्रमण का पता चलता है तो उसकी उचित चिकित्सा की जानी चाहिए। यदि नासिका में किसी कारण का पता नहीं चल पाता तो किसी विशेषज्ञ द्वारा अश्रुकोष को विशेष शल्य कर्म द्वारा निकाल दिया जाना चाहिये। क्योंकि अश्रु-कोष निष्कासन शल्य कर्म विशेषज्ञों द्वारा ही किया जा सकता है एक सामान्य चिकित्सक द्वारा नहीं इस हेतु से हम इस शल्य कर्म का विस्तृत विवेचन करना यहां उपयुक्त नहीं समझते।
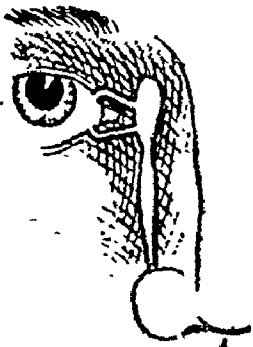
सुश्रुत ने पूयालस की चिकित्सा मे रक्त विस्रावण, उपनाह, स्वेद तथा अक्षिपाक की चिकित्सा का विधान बतलाया है। यथा—

पूयालसे शोणित मोक्षणं च हितं तथैवाप्युपनाहं च।
कृत्स्नो विधिश्चेक्षणपाकघाती तथाविधानं भिषजा प्रयोज्यम्॥

सैंधवादि अञ्जन करने से लाभ होता है। इस हेतु सैंधा नमक और कासीस समभाग मिलाकर आदी स्वरस से भावना देकर वर्तिका बना कर रखलें तथा इसका अञ्जन करें। इन्हीं द्रव्यों में ताम्र भस्म और लौह भस्म का भी उपयोग मधु के साथ मिलाकर रस क्रिया के रूप में बनाकर अञ्जन के रूप में किया जा सकता है।

वाग्भट्ट का कथन है कि यदि उपचार से पूयालस का शमन न हो तो सूक्ष्म शलाका द्वारा अग्निकर्म करना चाहिये।
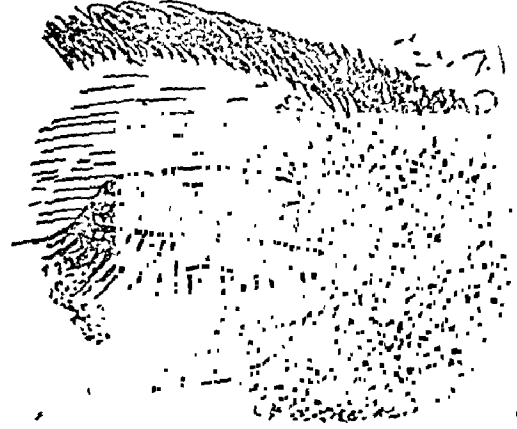
पूयालस या उपनाह में अश्रुकोष स्थल पर शोथ की स्थिति

पूयालस में मुखाकृति

पूयालस की उपेक्षा से बना नाड़ी व्रण

उपनाह

यह एक कफज एवं साध्य व्याधि है। इसमें वर्त्म सन्धि में स्थित अश्रुकोष या कनीनिका की सन्धि में सूजन होकर एक गांठ जैसी बन जाती है। इसमें पूयोत्पत्ति नहीं होती तथा इसी कारण से प्रायः वेदना भी नहीं होती मात्र कण्डू पाई जाती है।

लक्षण और चिकित्सा का विचार करने पर उपनाह एक प्रकार की पुटी (cyst) या ग्रन्थि (Benign tumour) ज्ञात होता है। बहुत सम्भव है, यह वर्णन टार्सल से निकलने वाली पुटी (cyst) का हो। आजकल इसकी चिकित्सा में इसे समूल काट कर तत्पश्चात् दाहक पदार्थों द्वारा या विद्युत दहन से दग्ध करने का विधान है। अश्रुजनक पिण्ड (Lacrymal glands) के अर्बुदों के कारण अश्रुजनक पिण्डों के स्रोतसों का अवरोध होकर बच्चों में प्रायशः बड़ी-बड़ी ग्रन्थियाँ बन जाती हैं। यह शस्त्र साध्य हैं।

पर्वणी एवं अलजी

ताम्रा तन्वी दाहशूलोपपन्ना,
रक्ताज्ज्ञेया पर्वणी वृत्तशोफा।
जाता सन्धौ कृष्णशुक्लेऽलजीस्या–
तस्मिन्नेव ख्यापिता पूर्वलिङ्गैः॥

—सुश्रुत उ० २

यह दोनों कृष्ण एवं शुक्ल मण्डल की सन्धि में उत्पन्न होने वाले रोग हैं। सन्धि स्थल पर एक लाल रंग का वृत्ताकार शोथ होता है जो यदि पतला हो तो उसे पर्वणी कहते हैं और यदि मोटा (स्थूल) हो तो उसे अलजी कहते है। पर्वणी रक्त दोष से उत्पन्न होती है तथा साध्य है। लेकिन अलजी तीनों दोषों के प्रकोप से होने के कारण असाध्य होती है। पर्वणी एवं अलजी के लक्षण तथा चिह्न प्रायः समान होते है। मात्र तीव्रता का अन्तर होता है। इन दोनों में नेत्र में तीव्र दाह, लालिमा, शूल आदि पाये जाते हैं।

इनका आधुनिक पर्याय करना कठिन ही है। फिर भी स्थान, लक्षणों की तीव्रता और वृत्ताकार शोथ (आकृति)

तथा साध्यासाध्यत्व पर विचार करें तो हम इसे कृष्ण मण्डल (cornea) की परिधि पर उत्पन्न व्रण या शोथ कह सकते हैं। आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में इसे शुक्ल मण्डल प्रदाह (Keratitis) कहते हैं। यह आधुनिक मतानुसार दो प्रकार का होता है—क्षतसहित एवं क्षतरहित।

शुक्ल मण्डल आरोग्यता की स्थिति में पारदर्शक होता है लेकिन क्षत होने पर इसमें न्यूनता आ जाती है। यह गड्ढे जैसे दिखाई पड़ते हैं। यदि इन गड्ढों में पूयजनक कीटाणु हों तो इन गड्ढों का तल मटमैला या श्वेत आवरण से आच्छादित प्रतीत होता है।

रोगी के नेत्र में वेदना बनी रहती है। यदि क्षत अधिक गहरा हो तो वेदना असह्य होती है। रोगी को रात्रि को नींद नहीं आती, शिरःशूल भी हो जाता है जो कि किसी-किसी में असह्य होता है। सम्बन्धित नेत्र में से अश्रुस्राव होता रहता है जोकि गाढ़ा या चिपचिपा न होकर जल सदृश होता है। नेत्र खोलने में बहुत कष्ट होता है। क्षत के कारण दृष्टि में न्यूनता आती है। तारा मण्डल प्रदाह के कारण कनीनिका में स्राव हो तो दृष्टि में अतिशय हानि पहुँचती है

नेत्र की परीक्षा करने पर नेत्र में लाली पाई जाती है जो कि कनीनिका की परिधि पर अधिक होती है तथा एड्रिनलीन बिन्दु डालने पर भी कम नहीं होती क्योंकि यह लालिमा गहराई में स्थित रक्तवाहिनियों में रक्त के भरे रहने के कारण होती है।

कनीनिका स्थित क्षत यदि सौम्य प्रकार का हो, कीटाणु अधिक घातक न हो तो उचित उपचार से वह धीरे-धीरे भर जाता है तथा रोग के लक्षण यथा—नेत्र में पीड़ा, अश्रुस्राव, लालिमा आदि शनैःशनैः समाप्त हो जाते हैं। जिस स्थान पर क्षत हुआ था वहाँ शुक्ल मण्डल (कनीनिका) अपारदर्शक तथा कुछ फूला हुआ हो जाता है। यह फूलापन क्षत के अनुसार होता है। यदि क्षत

...रा हुआ तो यह अधिक होगा तथा कम गहरा होने की स्थिति में यह फूलापन भी कम होता है।

यदि क्षत भरने के बदले गहरा और गहरा होता जाय तथा शुक्ल मण्डल की ४ वृत्ति (पर्त) गल जायें तो नीचे मात्र डेसिमेंट(Descement)वृत्ति(पर्त) रहती है। वह वृत्ति जलमय रस के दवाव के कारण ऊपर उठ आती है। फिर क्षत के मूल में एक-छाला हो गया हो, ऐसा दिखाई देता है। यदि यह डेसिमेंन्ट वृत्ति भी गल जाय तो शुक्ल मण्डल का क्षत फूट जाता है। फिर क्षत छोटा हो तो उसमें से तारा मण्डल का कुछ भाग बाहर निकल आता है और शुक्ल मण्डल के ऊपर काला विन्दु जैसा प्रतीत होता है। इस तरह शुक्लमण्डल में उपस्थित छिद्र में फंसा हुआ तारा मण्डल आजीवन उससे चिपका हुआ रह जाता है। फिर इस हेतु से कनीनिका अनियमित बन जाती है। इसकी आकृति में परिवर्तन हो जाता है। कितनी ही बार कनीनिका यहां तक खिचती है कि वह बिल्कुल बन्द हो जाती है। इस स्थिति को तारामण्डल के अग्रभाग की सलग्नता (Symblepheron) कहते हैं।

यदि क्षत अधिक गहरा हो और शुक्ल मण्डल के अधिक भाग का ध्वंस हो जाय, तो शुक्ल मण्डल का बहिर्निःसरण (Anterior staphyloma) हो जाता है। यह स्थिति कितने ही रोगियो के नेत्रों मे प्रतीत होती है। जैसे नेत्र गोलक पर द्राक्षा चिपकाई हो ऐसा दिखाई देता है।

अगर क्षत शुक्लमण्डल की परिधि पर हो तो वह नेत्र दृष्टि में बाधक नहीं होता। यही क्षत यदि शुक्ल मण्डल के केन्द्र में हो फिर चाहे वह सूक्ष्म ही हो लेकिन उसके रोपण होने पर जो शुक्र (अपारदर्शकता) उत्पन्न होता है उससे दृष्टि में बाधा पड़ती है। क्षत का रोपण यदि शीघ्र हो जाय तो हानि कम होती है अन्यथा हानि की सम्भावना अधिक है। क्षत के कारण यदि शुक्ल मण्डल में छेद हो जाय तथा उस छेद में से तारामण्डल का पर्दा बाहर निकल कर छिद्र में धंस जावे तो दृष्टि को अत्यधिक हानि पहुंचती है। यदि क्षत के कारण शुक्ल मण्डल पूरा ही फूट जाय तथा उसमें से तारामण्डल का पर्दा बाहर निकल आये और उसमें फंस जाय तो दृष्टि को अत्यधिक हानि पहुँचती है। कभी-कभी तो इस छिद्र में से दृष्टिमणि, काचरूप रस आदि बाहर निकल जाते हैं और नेत्र बिल्कुल बैठ जाता है अथवा नष्ट हो जाता है।

इस छिद्र द्वारा संक्रमण का अन्तः प्रवेश होकर तारा मण्डल शोथ या समग्र गोलक का पूय प्रदाह (Panophthamitits) तो उत्पन्न होते ही है तथा कभी-कभी यह संक्रमण नेत्र नाड़ी (Optic nerve) द्वारा मस्तिष्क आवरण पर पहुँच कर उसका शोथ उत्पन्न कर देता है।

चिकित्सा—

सर्व प्रथम नेत्र क्षत रोगी के नेत्र को नमक के विलेय या बोरिक एसिड के विलेय (०.१ प्रतिशत) द्वारा प्रक्षालन करना चाहिये। यह विलयन इससे अधिक शक्ति का नहीं लें। यह किञ्चित सहने योग्य उष्ण होना चाहिए। खाली गर्म जल या मैग्नेशियम सल्फेट के विलयन द्वारा भी नेत्र प्रक्षालन कर सकते है। यह प्रक्षालन या सेक करने की क्रिया दिन में ३-४ बार तथा प्रत्येक बार कम से कम १५-२० मिनट करें। इससे रोगी की नेत्र पीड़ा में एकदम लाभ प्रतीत होगा। नेत्र प्रक्षालन के पश्चात् नेत्र मे कोई सा मलहर यथा टेरामाइसीन आइन्मेंट या कार्टीसोन आइन्टमेंट लगाकर नेत्र पर पट्टी बांध देनी चाहिये। नेत्र पर पट्टी बांधने के कारण नेत्र में प्रकाश न जाने से नेत्र को आराम मिलता है। इससे क्षत का रोपण शीघ्र होता है और रोगी को भी शान्ति मिलती है। जिस नेत्र में क्षत के कारण जलमय रस के पूर्व खण्ड में स्राव संग्रह (Hypopyon) हुआ हो उस नेत्र में एट्रोपीन १ से २ प्रतिशत का उपयोग विन्दु रूप मे या मलहम के रूप मे करने से स्राव का शोषण ठीक हो जाता है तथा कनीनिका प्रसारित हो जाती है। प्रारम्भ के दिन एट्रोपीन का दिन में २-३ बार प्रयोग करें। तत्पश्चात् यही स्थिति कायम रखने हेतु दिन में एक बार इसका उपयोग करना पर्याप्त है। यदि क्षत शुक्लमण्डल की परिधि में हो तथा इतना गहरा हो कि उसका फूटना सम्भव हो तो एट्रोपीन का प्रयोग कदापि न करें। जब तक एट्रोपीन का प्रयोग चलता रहे, नेत्रान्तर्गत दवाव पर टोनोमीटर द्वारा निगाह रखे। यदि दवाव बढ़ता हुआ प्रतीत हो तो एट्रोपीन को बन्द कर इसरिन, पाइलोकार्पिन आदि कनीनिका संकोचक किसी औषधि के विन्दु या मलहम का प्रयोग प्रारम्भ कर दें। नेत्रान्तर्गत दवाव बढ़ने पर नेत्र में पीड़ा बढ़ जाती है। अतः

रोगी यदि नेत्र पीड़ा बढ़ने की तनिक भी शिकायत करें तो आप नेत्रान्तर्गत दवाव पर अवश्य ध्यान दें। इस दवाव के बढ़ जाने से नेत्रान्तर्गत द्रव के प्रवाही मार्ग में अवरोध हो जाने से शुक्ल मण्डल क्षत के रोपण में विलम्व होगा। जब तक सल्फा तथा एन्टीवायोटिक्स का आविष्कार नहीं हुआ था उस समय संक्रमण अवरोधार्थ आयडोफार्म, एरिस्टोल, कलोमल (रसकपूर) मरक्यूरोक्रोम, आर्जिरोल (५ से १० प्रतिशत), कोलार्गोल आदि का प्रयोग करते थे। लेकिन आजकल सल्फा औषधियाँ, पेन्सलीन या ब्राड स्पेक्ट्रम एन्टीबायोटिक्स का प्रयोग नेत्र विन्दु, नेत्र मलहम, कैपसूल, टिकिया या सूचीवेधन द्वारा कर सकते हैं। कार्टीसोन का उपयोग करने से लाभ अधिक होता है लेकिन इसका उपयोग सावधानीपूर्वक करना चाहिए।

किसी किसी रोगी में दागना (cauterisation) शल्य क्रिया द्वारा जलमल रस निकालना (paracentesis of anterior chamber) आदि की आवश्यकता पड़ती है। लेकिन यह सब कार्य दक्ष नेत्र शल्य चिकित्सक द्वारा ही सम्पन्न किये जा सकते हैं। इस कारण से इनका यहां विवेचन नहीं कर रहे।

—श्री डा० दाऊदयाल गर्ग ए., एम. बी. एस.
आयुर्वेद बृहस्पति, सम्पादक 'धन्वन्तरि'
गुलजार नगर, रामघाट रोड, अलीगढ़

नेत्र रोगों के सामान्य कारण, पूर्वरूप, रूप एवं चिकित्सा : : पृष्ठ ६९ का शेषांश

(अ) पोथकी (ट्रकोमा) में—सल्फा का एक कोर्स मुख द्वारा।

(ब) संक्रमणों में–मुख द्वारा और सुई द्वारा–पेनीसिलीन या अन्य एण्टीवायोटिक्स का सेवन।

(स) शोथों में—उपरोक्त के साथ ही मुख द्वारा कार्टीसोन समूह की दवाइयाँ और आक्सीफेन बुटाझोन की गोलियाँ।

(द) नेत्र शूल में—शूलहर औषधियाँ यथा एनालजिन और आक्सीफेन बुटाझोन मिश्रित (आक्सेलजिन केडिला) गोलियाँ। शूल के अस्थाई निवारण के लिय एनीथेन ड्राप्स एक प्रतिशत का नेत्र में डालना।

(य) नेत्रों में खुजली होने पर मुख द्वारा एण्टीहिस्टेमिनिक दवाइयाँ लेनी चाहिए।

(र) वातनाड़ी संस्थान के दोषों में विटामिन बी$_1$ बी$_6$बी$_{12}$ (बीथाडोक्सिन, न्यूरोक्सिन आदि) के सूचीवेध।

(ल) विटेमिन की कमी जन्य बीमारी यथा नक्तान्धता में विटेमिन 'ए' की गोलियाँ और इन्जेक्शन (एरोविट) लेना चाहिये।

(व) पुनः संक्रमण या द्वितीयक संक्रमण में–पेनीसिलेन या टेट्रासाइक्लिन के इन्जेक्शन यथा आवश्यक देने चाहिये।

८. जहाँ जिस व्याधि में यथा–लिंगनाश, अर्म, अन्तंपलक (Entropion), वाह्य पलक (Ectropion), पूयालस आदि में निश्चित रूप से कुशल नेत्र विशेषज्ञ (सर्जन) से शल्य क्रिया करानी चाहिये और आरोग्य प्राप्त करना चाहिये तथा पश्चात् उपचार के निर्देशों का सावधानी से पालन करना चाहिए।

९. प्रत्येक व्याधि के समान यहाँ भी यही नियम लागू होता है कि 'सफाई आधी दवाई है' अतः सफाई (sanitation) पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

—श्री डा० महावीर प्रसाद जैन बी. ए. एम. एस.
सुरेन्द्र सदन, वजरिया, बीना
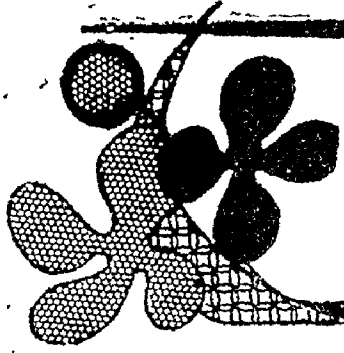
नेत्र रोग कहने का तात्पर्य यह है कि जिस रोग में आंखों की क्रिया में या स्वरूप में कोई विकार हो जावे उसे नेत्र रोग कहते हैं। नेत्र मण्डल दो अंगुल मोटा और ढाई अंगुल लम्बा है। कहा है—

विद्या द्वयागुंल वाहुल्यं स्वांगुष्ठोदर सम्मितम। द्वयगुलं सर्वत: सार्द्ध भिषक नयन मण्डलम॥ इसी प्रकार पलक-वर्त्म श्वेत, कृष्ण दृष्टियों के मण्डल॥ आनुपूर्वी क्रम सैमध्य में और चार उतरोत्तर क्रम अन्तर भाग में है।

यथा च पक्षमवर्त्म-श्वेत कृष्ण दृष्टीनां मण्डलनित।
अनुपूर्वन्तु ते मध्याऽपत्वारोन्त्या यथोतरम्॥

इस प्रकार नेत्र रोगों की बहुत संख्या है और बहुत विस्तृत है लेकिन संधिज रोगों के बारे में लिखा है कि—

पक्षमवर्त्मगतः सन्धिर्वर्त्म शुक्लगतोऽपरः।
शुक्लकृष्ण गतश्चान्य कृष्ण दृष्टिगतोऽपिच॥
यतः कनीनकगतः षष्ठश्चापाङ्गाश्रितः॥

संधिगत रोगों के नाम और संख्या इस प्रकार हैं—

१. पूयालस २. उपनाह ३. पित्तस्राव ४. कफस्राव ५. सन्निपातस्राव ६. रक्तस्राव ७. पर्वणी ८. अलजी चैव ९. जन्तुग्रन्थी सन्धौनगामया:

पूयालस—संधियों में उत्पन्न पकी हुई जो सूजन दुर्गन्धित तथा गाढ़ी राध जिसमें वहे उसको पूयालस कहते हैं।

दृष्टि की संधि में कम पकने वाली बड़ी खुजली-युक्त, कठिन-लाल और अल्प वेदना वाली जो गांठ होती है उसको उपनाह कहते हैं।

पित्तस्राव—संधि के बीच में से लाल तथा पीला मिला हुआ या केवल पीला गरम जल स्राव होता है उसे पित्त स्राव कहते हैं। स्राव वैसे चार प्रकार के होते हैं। वायु से स्राव नहीं होता, कफ से सफेद गाढ़ा तथा चिकना स्राव होता है। संधियों में पकने वाली सूजन राध को बहती होय तो जानना कि यह सान्निपातिकस्राव है। स्राव गरम हो तथा उसमें विशेष रुधिर गिरता होय तो जानना कि यह रुधिरजन्य स्राव है।

पर्वणी—काले भाग की तथा सफेद भाग की संधियों में गोल सूजन वाली लाल वारीक और दाह युक्त तथा पकने वाली फुन्सी हो उसे पर्वणी समझें।

इसी प्रकार लाल सफेद फुन्सियों से व्याप्त और दारुण ऐसी फुन्सी संधि में हो तो उसको अलजी जानना। पलक के तथा पलक के रोमों की संधियों में उत्पन्न अनेक आकृति वाली कृमि खुजली को उत्पन्न कर तथा नेत्र को विगाडकर पलक तथा सफेद भाग की संधियों में जाते हैं जन्तुग्रंथी कहते हैं। यही नेत्र संधिगत रोग हैं। नेत्रों के श्वेत भाग में उत्पन्न रोगों को ही शुक्लगत रोग कहते हैं और वे हैं—१. प्रस्तार्म २. शुक्लार्यर्म ३. रक्तार्म ४. अधिमांसार्म ५. स्नाय्वर्म ६. शुक्ति ७. अर्जुन ८. पिष्टक ९. शिराजाल १०. शिराजपिडका ११. वलासग्रंथी यह ग्यारह रोग हैं।

शुक्लगत संधिगत नेत्र रोगों के लिए सामान्य चिकित्सा क्रम लंघन, आलेप, सेक, परिषेचन, विरेचन, अंजन आश्च्योतन आदि क्रिया करने का निर्देश है। वैसे नेत्र रोगों में साधारण लोग भी प्राय: हल्का भोजन अम्ल खटाई आदि का परहेज करते हैं। स्वेद, सेक, लेप वगैरा भी करते हैं पर यह एक दो दिन वाद करते है वैसे चार दिन वाद करने का विधान है। इन रोगों में अंजन का निषेध है लेकिन आश्च्योतन, बूंद की दवा डालना निषेध नहीं है। इसके लिए रसांजन (रसौत) को गुलाव जल में भिगोकर

—शेषांश पृष्ठ ८० पर देखें।

वर्त्मगत रोग

श्री दाऊ दयाल गर्ग एम०एम० बी०एस०

जब पृथक-पृथक वातादि दोष या समस्त रूप में दोष अतिशय प्रकुपित होकर वर्त्म (eye lid) के मध्य में आश्रित शिराओं में फैलकर वर्त्म (पलक) में स्थित होते हैं तो मांस और रक्त को बढ़ाकर वर्त्म में आश्रित रोगों को उत्पन्न करते हैं। यह संख्या में २१ हैं जो निम्न है—

१. उत्संगिनी (Chalazion)
२. कुम्भीका (Hordeol.m)
३. पोथकी (Trachoma)
४. वर्त्मशर्करा (Infection of meibomian gland)
५. अर्शोवर्त्म (Warts & Tumour of eye lid)
६. शुष्कार्श (" " " ")
७. अञ्जननामिका (Stye)
८. वहल वर्त्म (Multiple chalazion)
९. वर्त्मावबन्धक (Oedema of eye lids)
१०. क्लिष्ट वर्त्म (Angioneurotic oedema)
११. कर्दमवर्त्म (Nonulcerative Blepharitis)
१२. श्याववर्त्म (Ulcerative Blepharitis)
१३. प्रक्लिन्न वर्त्म (Ulcerous and Squamous Blepheritis)
१४. अपरिक्लिन्न वर्त्म " " "
१५. वातहत वर्त्म (Paralysis of VII cranial nerve)
१६. अर्बुद (Tumour of the eye lid)
१७. निमिष (Stimulation in III cranial nerve)
१८. शोणितार्श (Warts)
१९. लगण (Tumours of eye lid)
२०. विस वर्त्म (May be Kanthalasma)
२१. पक्ष्मकोप (Trachiasis & Districhiasis, Entropion)

टिप्पणी—वाग्भट्ट ने पक्ष्म शात आदि तीन रोग और वर्णित किये हैं।

१. उत्संगिनी—जो पिड़िका पलक के अन्दर मुख किये हुए वाहर की ओर उभरी प्रतीत हो, पलक के नीचे उत्पन्न होती है उसे उत्संगिनी पिड़िका कहते हैं। यह इसी प्रकार की छोटी पिड़िकाओं से व्याप्त रहती है। विदेह ने कहा है कि नीचे के पलक में तीनों दोषों के प्रकोप से होने वाली आभ्यन्तर मुखी पिड़िका उत्संगिनी
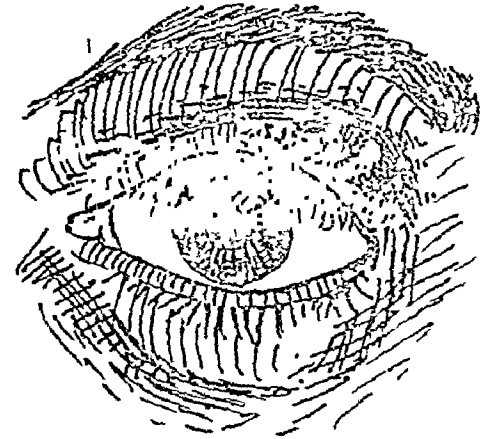
उत्संगिनी

पिड़िका कहलाती है। यह वाहर से देखने में काफी स्थूल, स्पर्श में कठिन तथा मन्द वेदना वाली होती है। यह एक या एकाधिक भी हो सकती हैं। इनके फट जाने से कुक्कुराण्ड के रस के समान द्रव निकलता है।

२. कुम्भीक पिड़िका—वर्त्म में होने वाली जो पिड़िका कुम्भी के वीज के समान होती है, फूटने के पश्चात् फिर
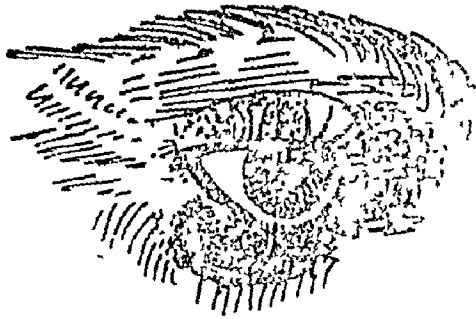
कुम्भीक पिडका (Hordeolum)

भर जाती है उसे कुम्भीक पिड़िका कहते हैं। यह त्रिदोषज है तथापि साध्य है।

३ **पोथकी**—स्राव वाली कण्डूयुक्त, भारी, लाल सरसों के आकार की, वेदनाकारक होती है।

४. **वर्त्म शर्करा**—सूक्ष्म घनी पिड़िकाओं से जो खर (कर्कश) एवं स्थूल पिड़िका घिरी रहती है उसका नाम वर्त्म शर्करा है।

५. **अर्शोवर्त्म**—खीरा या ककड़ी के बीज के आकार सदृश, मन्द वेदनायुक्त, सूक्ष्म, खर जो पिड़िका वर्त्म में उत्पन्न होती है, उसे अर्शोवर्त्म कहते है।

६. **शुष्कार्श**—लम्बे अंकुर के समान, खर, कठिन, अतिकष्टदायक, वर्त्म में उत्पन्न यह शुष्कार्श नाम से जाना जाता है।

७. **अञ्जननामिका**—दाह तथा चुभने की वेदना (तोद) से युक्त तांबे के रंग वाली जो पिड़िका वर्त्म में उत्पन्न होती है उसे अञ्जन हारी या अञ्जननामिका कहते है। इसमें मन्द वेदना होती है तथा आकार मे छोटी होती है। क्योंकि इसके उत्पन्न होने पर नेत्र में काजल नहीं लगाया जा सकता इसी कारण इसको यह नाम दिया गया प्रतीत होता है। आधुनिक विज्ञान मतानुसार इसे गुहेरी (Stye) कहते है तथा इसका विस्तृत लेख आप आगे श्री वेद प्रकाश शर्मा द्वारा लिखित पढेगे।

८. **बहल वर्त्म**—जिसका वर्त्म समान वर्ण की आकार मे समान पिड़काओं से सम्पूर्ण रूप मे भर जाता है उसे बहल वर्त्म कहते है।

९. **वर्त्मावबन्धक**—जो मनुष्य कण्डूयुक्त, अल्प वेदना युक्त पलक की सूजन के कारण आंख को पूरी तरह बन्द नहीं कर सकता उसे वर्त्म बन्ध कहते है।

१०. **क्लिष्ट वर्त्म**—इस रोग में पलक में अकस्मात् अल्प वेदना हो जाती तथा वह नरम और तांबे के रङ्ग के समान लाल हो जाता है। विदेह कहते है कि श्लेष्म से दूषित रक्त के द्वारा क्लिष्ट मांस सदृश या दुपहरिया (बन्धुजीव) के फूल सदृश दोनों पलक हो जाते है। इसे क्लिष्ट वर्त्म कहते है।
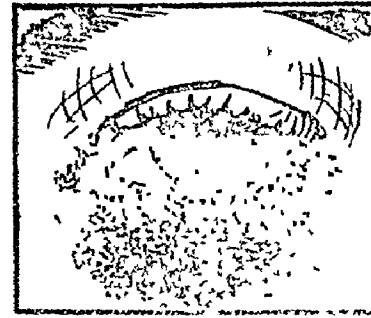
११. **कर्दम वर्त्म**—क्लिष्ट वर्त्म का प्रारम्भिक कफ पित्त से मिल कर रक्त को जब विदग्ध कर देना है तब उसमें आर्द्रता (क्लिन्नत्व) उत्पन्न होकर उसमें कीचड़ (कर्दम) जैसी पैदा हो जाती है इसे कर्दम वर्त्म कहते है। यह तीनों दोषों से उत्पन्न होता है परन्तु साध्य है।

१२. **श्याव वर्त्म**—जो वर्त्म बाहर और अन्दर से काला, सूजा हुआ, वेदनायुक्त, दाह, कण्डू, क्लेद वाला होता है उसको श्याववर्त्म कहते हैं। इसमे दाह होता है तथा कीचड़ के कारण पलक आपस मे चिपक जाते है।
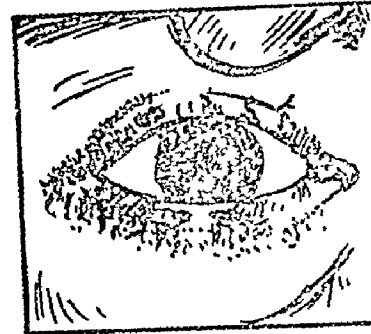
१३. **प्रक्लिन्न वर्त्म**—जो वर्त्म वेदनारहित बाहर से सूजा हुआ, अन्दर से क्लिन्न (गला हुआ) तथा स्राव से युक्त होता है, कण्डू (खुजली) और चुभन अधिक रहती है उसे क्लिन्न वर्त्म कहते हे।

१४. **अपरिक्लिन्न वर्त्म** इसमे वर्त्म पुनः पुनः धोने पर भी आपस मे चिपक जाते है जिनमे पाक नहीं होता। यह एक प्रकार की सन्निपातज साध्य व्याधि हे। इसी का वर्णन विदेह ने पिल्ल नामक रोग से किया है ऐसा डल्हण का मत है। पिल्ल सम्भवतः उपदेह या कीचड़ को कहते है।

१५. **वातहत वर्त्म**—इसमे पलको का स्वाभाविक कार्य नष्ट हो जाता है। वर्त्म खुली हुई अवस्था में रहते

हैं तथा निश्चेष्ट हो जाते हैं। रोगी नेत्र बन्द नहीं कर पाता। इसमें पीड़ा हो सकती है या नहीं भी हो सकती।

१६. अर्बुद—जिस रोगी के पलक के अन्दर के भाग में कष्टदायक परन्तु वेदनारहित ग्रन्थि के समान गांठ हो जाती है उसे अर्बुद कहते हैं। पित्त के कारण इसमें अल्प रक्तिमा रहती है।

१७. निमिष—वर्त्म में स्थित निमेषणीय शिरा में जब वायु पहुंच कर पलकों को अतिशय रूप में चलायमान कर देती है तो रोगी बहुत जल्दी-जल्दी पलक झपकता है। इसी को निमिष कहते हैं।

१८. शोणितार्श—पलक में स्थित कोमल अंकुर बार-२ काटने पर जब बढ़ जाते हैं, दाह एवं कण्डू से युक्त रहते हैं इनको अर्श कहते हैं। यह रक्तजन्य होते हैं।

१९. लगण—न पकने वाला, कठिन, स्थूल, वेदना-रहित, वर्त्म में उत्पन्न, बेर सदृश ग्रन्थि को लगण कहते हैं। इसमें खुजली और चिपचिपाहट बहुत रहती है।

२०. बिषवर्त्म—जो वर्त्म सूजा हुआ एवं सूक्ष्म छिद्रों वाले बहुत से छेदों से चारों ओर से भरा रहता है, जैसा कि बिष के अन्दर जल भरा रहता है, ऐसा पलक बिषवर्त्म कहलाता है।

२१. पक्ष्मकोप—पक्ष्माशय (बालों की जड़) में पहुंचे दोष पलकों के बालों को आगे से तीक्ष्ण और कर्कश बना देते हैं, इनकी रगड़ पड़ने पर आंख दुखने लगती है। बार-

पक्ष्मकोप (पुतली पर रगड़ खाते हुए पलकों के बाल)
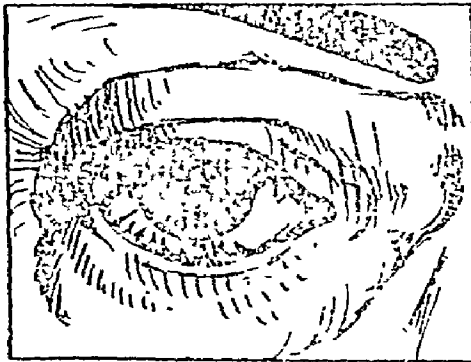
बार बालों को उखाड़ने से रोगी को शान्ति मिलती है। रोगी वायु, धूप, अग्नि से द्वेष करता है। इस रोग को पक्ष्मकोप कहते हैं।

चिकित्सा—

उत्संगिनी, कुम्भिका, पोथकी, वर्त्म शर्करा, बहल वर्त्म, वर्त्मविबन्धक, क्लिष्ट वर्त्म, कर्दमवर्त्म इन नौ वर्त्म रोगों में लेखन कर्म अभीष्ट है जिसे कि आजकल स्क्रैपिंग या स्कैरीफिकेशन (Scrapping or Scarification) कहते हैं। इसकी प्राचीन विधि संक्षेप में निम्न प्रकार है—

रोगी को स्नेहन करा कर वमन एवं विरेचन से शुद्ध करके चित्त लिटाकर आप्त और मजबूत परिचारकों द्वारा पकड़वा कर उसके शरीर को निश्चल कर लें। यह पूर्व कर्म है। आजकल एनीथेन या अन्य किसी स्थानीय संज्ञाहर नेत्रबिन्दु का उपयोग करते हैं। इससे रोगी को कष्ट प्रतीत नहीं होता और शल्य कर्म करते समय स्वयं ही निश्चल रहता है उसे पकड़ने की आवश्यकता नहीं रहती।

कर्म—सर्व प्रथम नेत्रों का स्वेदन करें। एतदर्थ सहने योग्य उष्ण जल में पिचु या स्वच्छ वस्त्र भिगोकर नेत्रों के आसपास स्वेदन करें। तत्पश्चात् नेत्रों को पीड़ा न पहुँचे इस प्रकार से ऊपर के पलक को उलट कर बांये हाथ के अंगूठे और अंगुली के द्वारा उन्हें स्थिर करके किसी खुरदरे पत्ते यथा हारश्रृंगार के द्वारा खुरच दें। जब रक्त स्राव बन्द हो जाय तो पुनः स्वेदन करें और मनः शिला, रसौत, कासीस, सैन्धव लवण आदि द्रव्यों के पिसे हुए महीन चूर्ण के द्वारा प्रतिसारण करके नेत्र का प्रक्षालन कर घृत लगाकर व्रणवत् उपचार करें। आँख पर पट्टी बांध दें। शेफालिका पत्र के स्थान पर स्वच्छ मोटे सफेद खुरदरे वस्त्र का प्रयोग भी किया जा सकता है।

इस लेखन कर्म के पश्चात् ३-४ दिनों तक नेत्र को पूर्ण विश्राम मिलना चाहिये। इसलिये स्वेदन, अवपीड़न आदि कर्मो को ३-४ दिन पश्चात् ही पुनः, यदि आवश्यकता हो तो, करें।

लेखन कर्म के पश्चात होने वाले रक्तस्राव को पिचु द्वारा सुखाते रहना चाहिए। लेखन कर्म में पलकों को उलटने के बाद पलकों को स्थिर करने के लिये पलकों पर जो उंगलियां रखी जाती हैं उससे पलक भली प्रकार स्थिर नहीं हो पाते। इसके लिये पलकों पर रहने वाले अंगूठे तथा अंगुली पर एक स्वच्छ भीगा हुआ सफेद कपड़ा लपेट लें। इससे वर्त्म भली प्रकार स्थिर हो जायेंगे।

सम्यक्लेखन के चिह्न—जब वर्त्मगत रोगों में लेखन की क्रिया के बाद रक्त तथा जलस्राव रुक जाय, खुजली और शोफशान्त हो जाय, वर्त्म समान (ऊँचे नीचेपन से हीन) हो जाँय तथा संक्षेप में वर्त्म की आभा नख सदृश हो जाय तो वर्त्म का लेखन सम्यक् हो गया है ऐसा समझना चाहिये।

दुर्लिखित वर्त्म के लक्षण—आँख लाल हो जाती हैं, सूजन और जल स्राव बढ़ जाता है, रोगी की दृष्टि धुँधली हो जाती है, रोग का उपशम नहीं होता है। वर्त्म काले रंग के, भारी, स्तब्ध, कण्डु, सिहरन और कीचड़ (उपदेह) से युक्त हो जाते है। यदि उचित प्रतिकार न किया जाय तो नेत्रपाक हो जाता है। इन चिह्नों से युक्त लिखित वर्त्म को दुर्लिखित समझना चाहिये। ऐसी अवस्था में नेत्र का स्नेहन और स्वेदन करके पुनः लेखन करने का विधान है।

अतिलिखित वर्त्म के चिह्न—वर्त्म मुड़ जाते है, पक्ष्म जटिल हो जाते हैं या टूट जाते हैं, नेत्रगत पीड़ा बढ़ जाती है और स्रावाधिक्य होने लगता है। इसकी चिकित्सा में भी स्नेह, स्वेदन तथा अन्य वात शामक उपचारों को करना चाहिये।

भेद्य वर्त्म रोग—तीन वर्त्मगत रोग विसग्रन्थि, लगण, अञ्जन नामिका ऐसे हैं जिनमें पहले भेदन करके तत्पश्चात् लेखन करना चाहिये। इन रोगों के प्रारम्भ में जब तक इनकी आमावस्था है, पूर्ण पाक नहीं हुआ है, तब तक अपतर्पण आदि के द्वारा शोथवत् प्रतिकार करना चाहिये। इन पिडिकाओं में स्नेहन, स्वेदन, रक्त विस्रावण, विरेचन वमन आदि उपचार करने चाहिये। यदि इनसे शोथ का शमन न हो, पूय की उत्पत्ति हो जाय तो भेदन करके तत्पश्चात् रोपण आदि उपचार व्रणवत् करने चाहिये। योग रत्नाकर में अञ्जन नामिका की चिकित्सा हेतु कहा है कि अंगुली तवे पर घिसकर उससे सेंक करें। जोक द्वारा रक्त निकलवायें, चाँदी को हाथ के तलवे पर घिस कर उससे नेत्र का बार-बार अञ्जन करे। रसौत और त्रिकुट को पीसकर उसकी वटिका बनाकर घिसकर अंजनी पर उसका लेप करने से अञ्जन नामिका की खुजली तथा पाक दोनों समाप्त होवे हैं।

अर्शोवर्त्म, शुष्कार्श और वर्त्मार्बुद—इन तीनों वर्त्म रोगों में छेदन कर्म किया जाता है। ये सभी रोग पलक के अन्दर के भाग में होते है। प्राचीन मतानुसार इनकी चिकित्सा का इस प्रकार उल्लेख है—

पलकों का स्वेदन कर उन्हें उलट दें, उनके अन्तः प्रदेश पर सावधानी पूर्वक वडिश लगाकर अर्श या अर्बुद को ऊपर की ओर उठा रखें। तदनन्तर तीक्ष्ण मण्डलाग्र शस्त्र के द्वारा रोग के मूल में भेदन करना चाहिये। पश्चात् वहां सैन्धव, कासीस और पिप्पली से प्रतिसारण करना चाहिये। रक्तस्राव बन्द होने पर शलाका के द्वारा वर्त्म का युक्तिपूर्वक दाह करें। यदि इससे भी व्याधि निर्मूल न हो तो क्षार के द्वारा लेखन करना चाहिये। यदि आवश्यक हो तो सार्वदैहिक दोषों को दूर करने के लिये इस रोगी का वमन और विरेचन के द्वारा उभयतः शोधन करना चाहिये। साथ ही दोषानुसार अभिष्यन्द की चिकित्सा में कही जाने वाली प्रक्रियाओं का भी विधान करना चाहिये। नेत्र के इस शस्त्र कर्म के बाद एक मास तक रोगी को सुयन्त्रित होकर (बिना अधिक हिले-डुले) रहना चाहिये।

क्लिन्न और अपरिक्लिन्न वर्त्म—इन दोनों की चिकित्सा में तर्पण, सेक, आश्च्योतन, अञ्जन, नस्य और धूम आदि का प्रयोग मुख्य है। इन दोनों वर्त्म रोगों का दूसरा नाम पिल्ल रोग भी है। इनमें चिकित्सा का सूत्र इस प्रकार का रहता है कि रोगी के स्नेहन, शिराव्यध, शिरोविरेचन, आस्थापन आदि क्रियाओं के द्वारा दोषों का निर्हरण कर यथा दोष बल, काल और वय के नेत्रों का तर्पण करो। पश्चात् सेक, आश्च्योतन, अंजन, नस्य एवं धूम का उपयोग करें।

पक्ष्मकोप—पक्ष्मकोप को प्राचीन संहिताओं में याप्य बतलाया गया है। इसलिये पलक के सिरे पर होने वाले बालों को इस रोग में पुनः पुनः निकालने की आवश्यकता पड़ती रहती है। अन्यथा वे बढ़कर कृष्ण मण्डल को हानि पहुँचा कर दृष्टि शक्ति को नष्ट कर सकते हैं। इन अनावश्यक बालों की, जिनको कि बार-बार उखाड़ना पड़ता है, संज्ञा उपपक्ष्म हैं। सुश्रुत ने इसकी चिकित्सा चार प्रकार से बताई हैं—सर्व प्रथम विधि भेषज चिकित्सा है

जिसमें कि विरेचन, आश्च्योतन, धूम, नस्य, लेप, स्निग्धाञ्जन एवं रसक्रिया का समावेश होता है। द्वितीय विधि शस्त्र चिकित्सा है जिसमें कि उपपक्ष्म का उत्पाटन (उखाड़ना) उपपक्ष्मोन्मीलन, संदंश (Cilia forceps) द्वारा किया जाता है तथा स्थायी चिकित्सा हेतु एक शस्त्र कर्म है जिसका कि वर्णन आगे करेंगे।

तृतीय एवं चतुर्थ सुश्रुतोक्त चिकित्सा विधि अग्नि एवं क्षार कर्म हैं। यदि शस्त्र क्रिया से भी पक्ष्मकोप का उपशमन न होवे तो पलक को पलट कर उपपक्ष्म माला को अग्नि या क्षार कर्म के द्वारा प्रतिसारण करते हुए दाह कर्म करें। योग रत्नाकर में लोहे की तप्त शलाका से उपपक्ष्मों को जलाने को बड़ा उपयोगी बतलाया है। तप्त शलाका द्वारा उपपक्ष्मों का दहन कर्म उपपक्ष्म की मूल में करना चाहिये जिससे कि उनका पुनः उत्पादन न हो। आजकल तप्त शलाका के स्थान पर विद्युत दहन (Electrolysis) द्वारा यह दहन कर्म किया जाता है तथा इससे बालों का पुनरुद्भव नहीं होता।

पक्ष्मकोप निवारणार्थ सुश्रुतोक्त शल्य कर्म

सर्व प्रथम रोगी को स्नेहपान द्वारा स्निग्ध करलें तथा बैठा लें। रोगी अपने नेत्रों को बन्द रखे। वर्त्म के ऊपर तथा भौं के नीचे दो भागों में बांट कर उनमें पक्ष्माश्रित एक भाग को छोड़कर कनीनिका अपांग के ठीक बीच में वर्त्म के ऊपर जौ के आकार का चर्म का भाग तिर्यक शस्त्र से काट कर निकालें। चर्म को निकालने के बाद वहां पर घोड़े के बाल से सींवन कर्म करें। पुनः इस सीवन के बालों को आपस में बांध कर सभी को माथे पर ले जाकर एक पट्टी बांधकर स्थिर करदें। व्रण के संधान हेतु 'घी और मधु का लेप करें। जब शस्त्र कर्म का स्थान स्थिर या रूढ़ हो जाय अर्थात् व्रण का रोपण हो जाय तो बालों को एकैकशः टांके काटकर निकालें।

यह सुश्रुतोक्त शल्य कर्म आजकल किये जाने वाले शल्यकर्म से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। अन्तर केवल उस समय प्रयुक्त होने वाली औषधियों आदि का है।

—श्री दाऊदयाल गर्ग ए., एम.बी.एस.
सम्पादक—'धन्वन्तरि'
गुलजार नगर, रामघाट रोड, अलीगढ़

नेत्र संधिगत रोग : : पृष्ठ ७५ का शेषांश

उसकी बूंद डालनी चाहिए। इसी तरह बोरिक पाउडर का सेक, या स्फटिक जल का सेक करना तथा त्रिफला क्वाथ का सेक करना चाहिए। लेप—नीमपत्र, हरिद्रा, रसौत, अहिफेन, चन्दन, मेंहदी आदि का करना चाहिए। दारुहरिद्रा का भी विशेषोपयोगी रहता है। नेत्ररोगोक्त चन्द्रोदयादि वर्ति घिसकर ठण्डे पानी या गुलाब जल से लगानी चाहिए। इससे सभी प्रकार के नेत्रगत रोग ठीक होते हैं। सुबह उठते ही मुंह धोते समय आंखों को ठण्डे जल से धोना विशेष लाभदायक है।

मैंथी बीज को पानी में भिगोकर लुआब को आंखों में डालना, बांधना इससे भी पक्ष्म रोग ठीक होते हैं। इस प्रकार नेत्र संधिगत रोगों में तथा शुक्लगत रोगों में अच्छा अनुभूत तो यह है कि सफेद फिटकरी (शुद्ध स्फटिका सफेद) की डली लेकर पानी डाल-डालकर साफ पत्थर पर घिसकर उसकी वर्ती बना लेवें। बाद में उस बत्ती को दिन में आंख में पांच-चार बार सलाई की तरह आंख में लगाते रहने से सब ठीक होगा।

—आचार्य विरिंचि लाल वैद्य शास्त्री
पो० इस्लामपुर (राजस्थान)

वर्त्म रोग विमर्श

आचार्य श्री भवानी शंकर

श्रद्धेय आचार्य श्री भवानी शंकर जी अपने जीवन के ९६ वसन्त देख चुके हैं। 'धन्वन्तरि' पर आपकी कृपादृष्टि है तथा इस वृद्धावस्था में भी आप लेख भेजकर पाठकों को उपकृत करते रहते हैं। आपके लेख सीधी सरल भाषा में होते हैं। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की चका-चौंध से आप कदापि प्रभावित नहीं हैं यह इस लघु लेख से भी परिलक्षित होता है। भगवान धन्वन्तरि आपको सौ वर्ष से भी अधिक की आयु प्रदान करें।

—सम्पादक

आँख के दायरे मे ५ मण्डल, ६ ग्रन्थियाँ, ६ पटल और चार संधि स्थान हैं। वाग्भट्ट ने ६ स्थान माना है। पक्ष्म मण्डल जिसमें लोम होते है वर्त्म मण्डल इसी को नेत्र छद (पलक) कहते है। श्वेत मण्डल यही शुक्ल मन्डल (गोलक) है। कृष्ण मन्डल यह गोलक का काला भाग है दृष्टि मन्डल यह काले-काले भाग के बीच में होता है। शास्त्रानुसार ६ पटल (पलक) बताये गये है। दो दिखाई देते हैं और ४ नेत्र गोलक में बताये गय है। शायद दीवार या पर्दे को ही पलक मान लिया गया है। बताया गया है कि इन्हीं ४ पटलों में तिमिर रोग होता है। मेरे ख़्याल से मोतियाबिन्द का पूर्वरूप तिमिर है।

चरक में बताया गया है कि यद्यपि नेत्र रोग ९६ प्रकार के हैं। जिनका वर्णन शल्य शालाक्य तन्त्र में हैं। चक्षु नामक इन्द्रिय का अधिष्ठान नेत्र है। उसकी उत्पत्ति का विशिष्ट द्रव्य ज्योति है जो अग्नि तत्व (आलोचक पित्त) है। इसका विषय रूप है यानी रूपवान पदार्थ।

सन्धियाँ ४ हैं—

१. पक्ष्म मन्डल और वर्त्म मन्डल का जोड़ (सन्धि स्थान)।

२. पलक और श्वेत मण्डल का सन्धि स्थान।

३. श्वेत मण्डल और कृष्ण मण्डल का सन्धि स्थान।

४. कृष्ण मण्डल और दृष्टि मण्डल का संधि स्थान।

इन सन्धि स्थानों के ९ रोग हैं यह संकेत कर दिया गया। संयोगवस, अन्यथा हमारा विषय है वर्त्म रोग और अञ्जन।

वर्त्म के २४ रोगों का वर्णन

१. **कृच्छोन्मील**—सोकर जगने के समय कुपित वायु पलकों के शिराओं में घुसकर स्तब्ध कर देता है। मालूम पड़ता है कि धूलि पड़ गई है। आंसू गिरते है और पलक उठाने में तकलीफ होती है। आँखों को मल देने से ठीक हो जाता है।

२. **निमेष**—यह भी वात विकृति से होता है। पलकों को वायु बराबर जल्दी-जल्दी खोलता बन्द करता रहता है। इसी का नाम निमेष-उन्मेष है। इसमें किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता है।

३. **वातहत**—यह भी वात विकृति कारण का रोग है। ऊपर का पलक गोलक पर छाया रहता है। इसमें
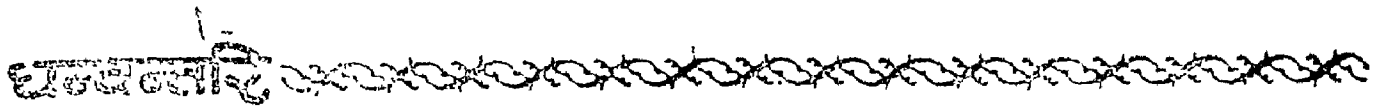
दोनों पलकों का मिलन नहीं होता। ऊपर वाला पलक शक्तिहीन हो जाता है।

४. कुम्भी—पलक के भीतर ककड़ी के बीज जैसा चिकना और अनार दाने सा कण्डु (फोड़ा) होता है। ये फोड़े मवाद भरे होते हैं। फूटकर बह जाते हैं, पुनः मवाद भरे उठते-वहते रहते है। यह क्रम जारी रहता है। जाली और लाली कुछ नहीं होता। कफज-पित्तज है।

५. पित्तोक्लिष्ट—इसमें दाह, लाली, वेदना रहती हैं।

६. पक्ष्मशात—वरौनी के जड़ों में दाने निकलते हैं जो पककर फूट जाते है। दाह होता है, बरौनियाँ गिर जाती है। आमतौर पर वहमनी के नाम से पुकारते हैं।

७. पोथकी—पलक के भीतर सरसों जैसे घने दाने निकलते है। पलक मोटी हो जाती हैं। सूजन होती है। दाह होती हे, चिपचिपी आंसू बहती है। रोहा भी कहते हैं।

८. कफोत्क्लिष्ट—सूजन होती है, कीचड़से भरी होती हैं। यह कफज होने का स्पष्ट लक्षण है।

९. लगण—पीले रंग का कठोर मटर बराबर वेदना रहित कण्डु होता है पकता भी नहीं।

१०. उत्संगा या उत्संगिनी—लाल रंग का एक फोड़ा होता है। उसके चारों ओर नन्हें-नन्हें दाने होते हैं। बाहर पलक के होना सुश्रुत में बताया गया है। उसका मुख भीतर बताया गया है। अन्यत्र वरौनी के अधो भाग में इसका स्थान बताया गया है।

११. उत्क्लिष्ट—पलकों पर रेखा सी दिखाई देती है। पलक छूना बर्दाश्त नहीं करता।

१२. अर्शोत्क्लिष्ट—पलक के भीतर बवासीर की तरह पुत्ती निकलती है। वास्तव में यह मांसांकुर है। मगर कठोर होता है। चिकना जलनयुक्त लाल रंग का होता है। दर्द के साथ स्राव होता रहता है। अगर काट दिया जाय तो पुनः बढ़ जाता है।

१३. अंजन—पलक के मध्य या अन्त में फुंसी निकलती हैं। लाल रंग की होती हैं। मगर बढ़कर मूंग के बराबर हो जाती है।

१४. विष—ऊपरी पलक में शोथ होता है। भीतरी भाग में नन्हें-नन्हें छेद होते हैं। बिस नाम कमल का है। जिस प्रकार कमल की नाल से जल टपकता रहता है

१५. उत्क्लिष्ट—त्रिदोषज होता है, पलक सूखता जाता है।

१६. श्याव—इसमें भी रक्तदोष त्रिदोषज होता है। पलक का भीतरी-बाहरी दोनों भाग काला हो जाता है। शूल, शोथ, कीचड़ तीनों साथ होता है।

१७. श्लिष्ट—दोनों पलकें बन्द होने पर आपस में सट जाती हैं। खोलने में देर लगता है। लाली लिये फोड़ा भी हो सकता है शोथ तो होता ही है। सुश्रुत में इसका नाम "अक्लिन्न" लिखा है।

१८. सिकता—इसमें बालू जैसे सूखे दाने होते हैं। सुश्रुत में इसका नाम "वर्त्म शर्करा" लिखा है।

१९. कर्दम—पलक काले होते हैं। जब पित्त खून को गर्म कर देता है तब क्लेद भर जाता है।

२०. बहल—इसमें पलकों की मांसपेशियाँ मोटी हो जाती हैं मगर रंग नहीं बदलता। सुश्रुतानुसार पलक पर अनेक पिड़िकायें निकल आती हैं।

२१. कुकूणक—यह रोग क्षीरप शिशु को ही होता है। इसका कारण माता का दूषित दूध बताया गया है। नेत्र में लाली होती है, पलकें सूजी होती हैं और चिपचिपापन बना रहता है। साधारण दर्द रहता है। शिशु ललाट, कान, नाक और आँख मलता रहता है।

२२. पक्ष्मावरोध—पलक के भीतर केश निकल आता है, गोलक पर खरास होता है, क्योंकि पलक खोलने और बन्द करने पर यह केश गड़ता है। चिमटी से उखाड़ देने पर जब तक पुनः केश नहीं बढ़ता आराम मिलता है। हवा लगने से कष्ट होता है, आग और धूप (घाम) की तरफ देखना कठिन होता है। गर्मी बनी रहती है। सुश्रुत ने पक्ष्मकोप बताया है।

२३. अलजी—नाक की ओर बाहर कोने में लाल ग्रन्थि उगती है। पकने पर लाल रंग का श्राव होता है और बराबर उठती पकती रहती है।

२४. अर्बुद—पलक के भीतर मांसपिन्ड की ग्रन्थि होती है। बाहर उठा रहता है। दर्द नहीं होता, जलन होता है।

नोट—सुश्रुत ने २१ ही वर्त्म रोग माने हैं, मगर वाग्भट्ट और शार्ङ्गधर ने २४ माने हैं। देखिए सु० उ० ३ में और वाग्भट्ट उ० अ० ११ में।

—श्री वैद्य भवानी शंकर
रसरा (बलिया)

कवि० श्री राजेन्द्रप्रकाश भटनागर भिषगाचार्य, एच.पी.ए.

कविराज जी ने पोथकी रोग का विवेचन सरल भाषा में भली प्रकार से किया है। आप विद्वान लेखक हैं। 'धन्वन्तरि' पर आपकी कृपा सदैव से रही है। पोथकी एक ऐसा रोग है जो देखने में छोटा है लेकिन इसके उपद्रव स्वरूप नेत्र की अनेक व्याधियां उत्पन्न हो सकती हैं यहां तक कि अन्त में अन्धता भी हो सकती है। इस पर आपने उभय पद्धति से विवेचन किया है। लेख उत्तम बन पड़ा है। आशा है कि पाठक लाभ उठायेंगे। —दाऊदयाल गर्ग

परिचय—लोकभाषा में पोथकी को 'आंख में दाने पड़ना', 'कुकरे' या 'रोहे' कहते है। आयुर्वेद में एक वर्त्मरोग के रूप में इसका वर्णन मिलता है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में इसे 'ट्रेकोमा' (Trachoma) कहते हैं। यही इसकी प्रसिद्ध संज्ञा है। अन्य नाम 'अंकुरयुक्त नेत्राभिष्यन्द–ग्रेन्युलर आई लिड्स' है। यह ऊर्ध्व वर्त्म (ऊपर की पलक) को भीतर की ओर से ढकने वाली नेत्रश्लैष्मिक कला जिसे 'पल्पेब्रल कंजक्टिवा (Palpebral conjunctiva)' कहते है, का चिरकालीन संक्रामक (छूत का) रोग है।
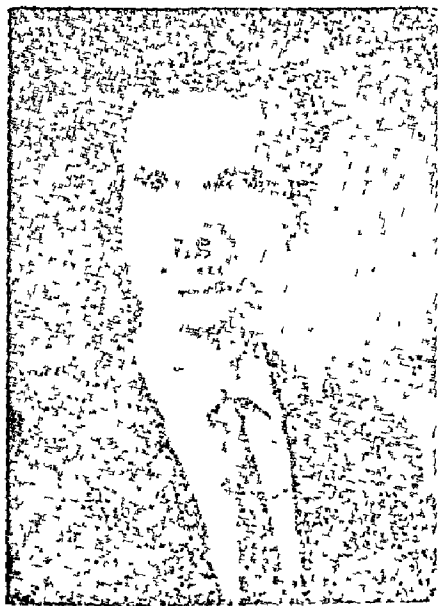
वर्तमान युग में आन्ध्य (अन्धता) उत्पन्न करने वाले कारणों में यह एक प्रधान व्याधि है। यह स्त्री और पुरुषों में सभी आयु में हो सकता है। विश्व का कोई ऐसा देश नहीं जहां यह नहीं पाया जाता हो। फिर भी विशेष रूप से अरब और मिश्र में मिलता है। कहा जाता है कि नैपोलियन के सैनिकों द्वारा मिश्र पर आक्रमण करके पुन: लौटने पर यह रोग यूरोप में फैला। अत: इसे 'मिश्र का नेत्ररोग' (Egyptian ophthalmia) भी कहते हैं। निग्रो जाति इसके प्रति विशेष रूप से क्षम (Immune) है, किन्तु पूर्णरूप से मुक्त नहीं है।

भारतवर्ष में यह रोग पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश व गुजरात में अधिक, मध्य प्रदेश, आसाम, बिहार और मैसूर में कुछ कम तथा महाराष्ट्र, काश्मीर, केरल, उड़ीसा व बंगाल में सबसे कम पाया जाता है।

कारण

यह संक्रामक व्याधि है जो रिकेट्सिया के समान जीवाणु 'क्लेमिडिया ट्रैकोमिटस' (Chlamvdia Trachomatis) के संक्रमण से होता है। ये जीवाणु रोगी के नेत्रस्राव में पाये जाते हैं और उसका स्वस्थ व्यक्ति के नेत्र में सम्पर्क होने से संक्रमित होता है। स्राव से युक्त हाथ, अंगुलियां, रूमाल, टॉवेल, पात्र, जल, मक्खियां आदि के माध्यम से इसका संक्रमण फैलता है। पोथकी के उत्पादक कारण के विषय में विद्वानों में मत भिन्नता है। जापान के दो वैज्ञानिकों–हालवेरस्टीड्टक और प्रोवाज्क ने सूक्ष्म-पिण्ड के रूप में पाये जाने वाले विशिष्ट विषाणु (वायरस) को कारण बताया है। ये विषाणु नीलिमा लिये हुए कोशिका द्रव युक्त अन्तर्वेशन पिन्ड (Cytoplasmic inclusion bodies) के रूप में मिलते हैं।

सहायक कारण—गन्दे और घने (संकुल) स्थानों व घरों में निवास करना, अस्वच्छ वातावरण (धूलि, धूप, रज और आतपयुक्त वायुमण्डल में) रहना। वास्तव में यह रोग निर्धन लोगों में विशेष पाया जाता है। अस्वास्थ्यकर परिस्थिति इस रोग के फैलने में मदद करती है।

स्वरूप

पोथकी
ऊपर–दानेदार अवस्था
नीचे–व्रण वस्तुमय अवस्था

यह चिरकालीन संक्रमणशील व्याधि है। यह रोग व्यक्तिगत और महामारी दोनों ही प्रकार का मिलता है। रुग्ण श्लैष्मिक कला की खुरचन को अणुवीक्षण यंत्र परीक्षण द्वारा साइटोप्लाज्म युक्त उभरे हुए विशेष प्रकार के पिण्ड पाये जाते हैं।

आश्रय—

प्राचीनमत—वर्त्म।

आधुनिक मत—नेत्र श्लैष्मिक कला और स्वच्छ मण्डल

लक्षण

आयुर्वेदीयमत—

स्राविण्यः कण्डुरा गुर्व्यो रक्तसर्षपसन्निभाः।
पिडकाश्च रुजावत्यः पोथक्य इति संज्ञिताः॥
—सु० उ० ३।११

सुश्रुत–'स्राविण्यो बहुस्रावाः। × × रुजावत्य इति कफजा अपि वेदनायुक्ताः इत्यर्थः॥ —डल्हण

स्राव, कण्डू (खुजली), भारीपन और पीड़ायुक्त, लाल सरसों के समान (वर्त्मोद्भूत) पिड़काएं 'पोथकी' कहलाती हैं। यह कफज और साध्य रोग है।

पोथक्यः पिडका श्वेताः सर्षपाभाः घनाः कफान्।
शोफोपदेहरुक् कण्डू पिच्छिला श्रुसमन्विताः॥
—अ. हृ. उ. ८।१०

घना इति कठिनाः। उपदेह पिञ्चोडिका (शिवदाससेन)।

पोथकी में पिडकायें (दाने) श्वेतवर्ण, सरसों के बराबर (आकृतियों में गोल) व कठिन होती हैं। ये कफज होती हैं। शोथ (वर्त्मगत) और नेत्रमल (उपदेह) की अधिकता होती हैं। रुजा, कण्डू और पिच्छिलाश्रु पाये जाते हैं।

आधुनिक मत— कम या अधिक प्रकाशासह्यता (Photophobia), पलकों का चिपक जाना, अश्रुस्राव, जलन, किरकिराहट (नेत्र में वस्तु या कण पड़े हुए जैसी प्रतीति), वेदना और दृष्टि सम्बन्धी गड़बड़ियां इसके मुख्य लक्षण हैं। नेत्रस्राव—श्लेष्मपूयाभ निकलता है। प्रारम्भ में स्राव अधिक व पतला होता है, किन्तु बाद में गाढ़ा व कम हो जाता है। पलकें शोथयुक्त होती हैं। वर्त्मकला पर छोटे छोटे दाने दिखाई देते हैं और लालिमा विशेष पायी जाती है। यही इसका मुख्य और निदान में सहायक चिह्न है। इसके साथ कण्डू (खुजली) भी अधिक रहती है।

रोगावधि को निम्न चार अवस्थाओं में विभक्त किया जा सकता है—

प्रथम अवस्था (अप्रकट या अनुद्भूत अवस्था)—यह रोगारम्भ में कुछ काल तक रहती है। इस दशा में स्वल्प नेत्रकला शोथ होता है। कला में मोटापन, शोथ और रक्ताधिक्य पाया जाता है। कुछ महीन दाने और अंकुर ऊपरी पलक की नेत्रकला में बन जाते हैं। यही दशा कुछ सप्ताहों से लेकर कुछ महीनों तक बनी रहती है। इसमें ही उचित चिकित्सा से उपशम हो जाने पर नेत्रकला में कोई विकृति शेष नहीं रहती है और उपद्रव भी उत्पन्न नहीं होते।
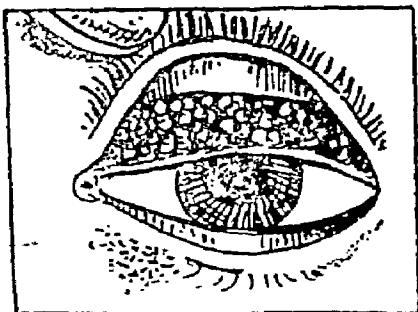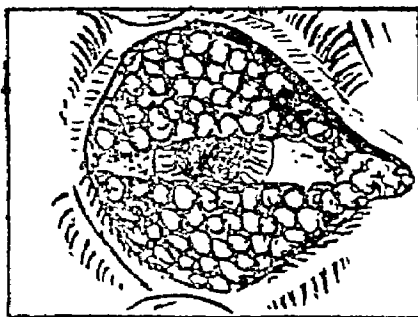
द्वितीय अवस्था (तीव्र और प्रकट अवस्था)—पोथकी की यह तीव्रावस्था है। इसके साथ शोथ के लक्षण और पूयाभ स्राव अत्यधिक मात्रा में होता है। इस स्राव का 'स्मीअर' और 'कल्चर' परीक्षण करके इस बात का निश्चय
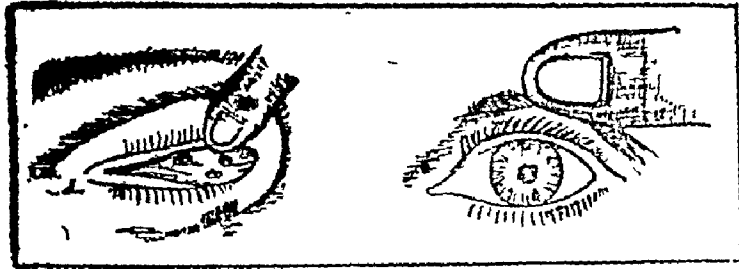
पलक पलट कर पोथकी के दानों को दिखाया गया है।

करना चाहिए कि रोग केवल शुद्ध 'ट्रैकोमा' है अथवा अन्य जीवाणु संक्रमण का परिणाम है। तीव्र शुद्ध 'ट्रैकोमा' में अनेक अंकुर (Papillae) वन जाना मुख्य लक्षण है। जबकि द्वितीय जीवाणु संक्रमण में वर्त्म का शोथ विशेष रूप से मिलता है, जिससे वर्त्म नहीं खुल पाते। पोथकी में भी कला अधोवर्ती प्रसार के कारण वर्त्मशोथ और तज्जन्य पलकों का न खुलना मिलता है।

तृतीय अवस्था (रोहण या व्रण वस्तु वनने की अवस्था)-वर्त्म कलागत-अंकुर और दाने क्रमशः लुप्त हो जाते हैं और उनके स्थान पर श्वेत व्रण वस्तु वन जाती है जिससे उपद्रव रूप वर्त्म का संकोच हो जाता है। यह रोग की भयंकरता पर निर्भर करता है। वर्त्मगत कला में निर्मित व्रण वस्तु कभी श्वेत रेखा, कभी जाली और कभी-कभी भयंकर दशा में पूरी तरह धूमिल व चिकनी व्रणवस्तुमय कला (Cicatrical membrane) के रूप में वदल जाती है। वर्त्म तोरणिका (Fornix) में व्रण वस्तु वनने से कला का वर्ण धूमिल व नीलाभ श्वेत हो जाता है जिसके संकोच से कला का ढ़ीलापन कम या समाप्त हो जाता है।

चतुर्थ अवस्था—यह ट्रैकोमा की रूढ़ अवस्था है। शोथ नहीं रहता, केवल व्रणवस्तु अवशिष्ट रह जाती है, जिससे उपद्रव उत्पन्न हो जाते है।

साध्यासाध्यता

प्राच्यमत से यह कफज और साध्य रोग है। अर्वाचीन मत से रोग की वृद्धि शनैः शनैः होती है। चिकित्सा जल्दी वन्द कर देने से पुनरावर्तन होता है। सौम्य प्रकार में ही पूर्ण उपशम सम्भव है। अथवा रोग की प्रारम्भिक दशा में ही उचित चिकित्सा चालू कर देने से लाभ होता है। किन्तु नेत्रकला, स्वच्छमण्डल और वर्त्म से सम्वन्धित दुष्परिणाम या उपद्रव प्रायः पाये जाते हैं और वे नेत्र की अक्षमता उत्पन्न करते हैं।

परिणाम व उपद्रव
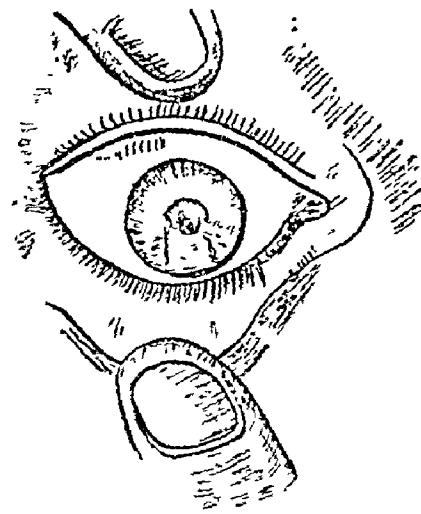
पोथकी का महत्वपूर्ण परिणाम 'पोथकी जन्य सिराजाल' (Trachomatous Pannus) है। यह स्वच्छ मण्डल में होने वाला परिवर्तन है। 'लिंवस' (श्वेत और स्वच्छ मण्डल का सन्धिस्थान) के समीप की रक्तवाहिनियां वढ़कर स्वच्छमण्डल की वाह्य आवरक कला और वाऊमेन की कला के वीच में फैलती हैं। इसका प्रारम्भ लिंवस के ऊपर के भाग से होता है और स्वच्छमण्डल के ऊपर के अर्धभाग तक वढ़ता जाता है। इसके वाद वढ़ना रुक जाता है। कभी-कभी पूरा स्वच्छमण्डल (Cornea) इससे आच्छादित हो जाता है, जिससे प्रकाश का प्रवेश वन्द हो जाता है और दिखाई नहीं देता। पैनस के कारण स्वच्छमण्डल का वर्ण वादलों जैसा धूमिल और अपारदर्शक हो जाता है। प्रवर्धमान पैनस में स्वच्छमण्डल पर प्रायः किनारे पर उत्तान व्रण पाये जाते हैं। प्रकाशासह्यता और वेदना होती है।

अन्य उपद्रव—

१. पक्ष्मकोप और वर्त्म का अन्तरावर्तन।
२. वर्त्म का वहिरावर्तन। ३. वर्त्म विवंध।
४. स्वच्छ मंडल की अपारदर्शकता (फूली)।
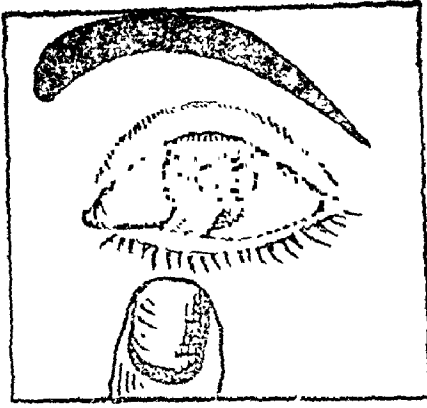
५. स्वच्छमण्डल का उभर जाना (Staphyloma)

६. रतौंधी (Xerosis)

७. कनीनिका पक्ष्म वन्धन (Symblephreon) साथ का चित्र देखें।

चिकित्सा

आयुर्वेदीय चिकित्सा—

सुश्रुत और वाग्भट्ट ने 'पोथकी' को शस्त्रसाध्य रोग माना है और इसमें 'लेखनकर्म' का उल्लेख किया है।

—सु० उ० ८/७, अ०हृ०उ० ८/२९

लेखनकर्म विधि का सुश्रुत ने विस्तार से वर्णन किया है। (सु० उ० १३/३१४)। इस सम्पूर्ण विधि को निम्न विन्दुओं में स्पष्ट किया जा सकता है—

१. स्नेहन, वमन, विरेचन (अन्तः शोधन)।

२. निवातातपगृह में रोगी का उत्तान शयन तथा विश्वसनीय व्यक्तियों द्वारा नियन्त्रित करना।

ऊपरी पलक में पोथकी उपचार हेतु तुत्य वर्तिका का लगाया जाना

ऊपरी पलक में पोथकी उपचार हेतु नैप्स रौलर संदंश द्वारा लेखन कर्म

३. स्वेदन—वर्त्म को उलट कर सुहाते गर्म पानी में भिगोये हुए कपड़े से वर्त्म को वायें हाथ के अंगुष्ठ और अंगुली से पकड़ कर स्थिर रखा जाय।

४. प्रमार्जन—उलटे हुए वर्त्म को वस्त्राच्छादित अंगुष्ठ और अंगुली से पकड़ कर स्थिर करके प्लोत (वस्त्र खंड) से पोंछना।

५. लेखन शस्त्र (मंडलाग्र शस्त्र) या पत्रों में शेफालिका, गोजिह्वा आदि में से किसी एक से।

६. स्वेनदन—रक्त रुक जाने पर कोष्ण जल से आर्द्र-वस्त्र से स्वेदन करना चाहिये।

७. प्रतिसारण—मैनसिल, कासीस, सौंठ, मरिच, पीपल, रसौत, सैंधा नमक के सूक्ष्म चूर्ण में मधु मिला करें।

८. प्रक्षालन—गरम जल से।

९. सिंचन—घृत से।

१०. व्रणवत् उपचार—कवलिका स्थापन व पट्टबंधन।

११. तीन दिन के बाद स्वेदन, अवपीड़न आदि करना चाहिये। वाग्भट्ट के अनुसार दूसरे दिन यह खोलकर आंख का परिषेचन करें, चौथे दिन नस्य आदि का प्रयोग और पांचवें दिन यह बन्धन करना छोड़ देवें।

पोथकी में पहले 'प्रच्छान कर्म' करके 'लेखन कर्म' करना चाहिये। प्रासंगिक होने से लेखन के साम्य योग, हीनयोग और अतियोग के लक्षण नीचे दिये जा रहे हैं।

१. सम्यग्योग के लक्षण—वर्त्म में रक्त और स्राव का न होना, कण्डू व शोथ का अभाव, समतल और नख के समान वर्त्म होना।

२. हीनयोग (दुर्लिखित) के लक्षण—नेत्र का लाल होना, शस्त्रकृत घाव से रक्त अधिक निकलना, नेत्र में लालिमा, शोथ, परिस्राव होना, तिमिर दर्शन, व्याधि का शमन न होना, चिकित्सा न करने या उचित रीति से न करने पर तीव्र नेत्रपाक (Panophthamia) हो जाना।

चिकित्सा—स्नेहन करके पुनः लेखन करें।

३. अतियोग के लक्षण—पलक का व्यावर्तन (बाहर की ओर मुड़ जाना), पक्ष्मों का उलझ जाना या टूटना, वेदना व स्राव की अधिकता होना।

चिकित्सा—स्नेहन, स्वेदन और वातनाशक उपक्रम करें।

सिराजाल (Pannus) का उपाय सुश्रुत ने वडिश यंत्र द्वारा पकड़ और लटका कर मण्डलाग्र शस्त्र से काट देना (सु० उ० १५/२०) बताया है।

वाग्भट्ट ने 'कुम्भीका वर्त्म' (Phlyctenular conjunctivitis) रोग की चिकित्सा के प्रसङ्ग से वर्त्म लेखन की सामान्य चिकित्सा विधि का वर्णन करने के अनन्तर पोथकी के उपचार के लिये लिखा है—

पोथकीर्लिखिताः शुण्ठीसैंधव प्रतिसारिताः।
उष्णाम्बुक्षालिताः सिञ्चेत् खदिरादकिशिग्रुभिः।
अप्सिद्धं द्विनिशाश्रेष्ठामधुकैर्वा समाक्षिकैः॥
—अ० हृ० उ० ६/२१

बाद के ग्रन्थों में पोथकी के लिये कतिपय लेखनांजनों का प्रयोग भी मिलता है। शार्ङ्गधरोक्त 'तुत्थादि रसक्रिया' एक अच्छा व प्रभावकारी योग है।

नव्य मत—

पोथकी की चिकित्सा के चार भाग हैं—

१. **प्रतिषेध चिकित्सा**—यह रोग से बचने का उत्तम उपाय है। रोगी को और उसके सम्पर्क में आने वाले स्वस्थ व्यक्तियों को सावधानी बरतनी चाहिये। रोगी द्वारा प्रयुक्त (अर्थात् रोगी के नेत्रस्राव से संस्पृष्ट) रूमाल, वस्त्र, पात्र, जल आदि का प्रयोग दूसरे व्यक्ति न करें। स्कूल, सार्वजनिक गृह और भीड़ के स्थानों में महामारी के रोकने के उपाय बरतें जांय। इस दशा में रोगी का पृथक्करण (isolation) उपयुक्त है।

२. **सामान्य उपाय**—रोगी को स्वास्थ्यकर परिस्थितियों में रखा जाय। खुली व शुद्ध हवा में टहलना, हल्का व पौष्टिक आहार व बल्य औषधियाँ रोगी के स्वास्थ्य को उन्नत करने के सामान्य उपाय हैं।

३. **मुख्य चिकित्सा**—इसके पुनः दो स्वरूप हैं—

(अ) **औषधि चिकित्सा**—जो स्थानिक और सार्वदैहिक दो प्रकार की होती है—

स्थानिक उपचार

१. **सिल्वर नाइट्रेट** (१० ग्रेन १ औंस जल में) के घोल का फुरेरी से पलक के भीतर कला पर प्रलेप करना, पश्चात् बोरिक द्रव से धो देना। प्रतिदिन हर तीसरे दिन करना चाहिये।

२. कापर सल्फेट की शलाका को रोहों पर रगड़ने से (संज्ञाशून्य करके) फिर बोरिक द्रव (१० ग्रेन /१ औंस जल में) से धोना।

३. **औरियोमाइसिन**—इस रोग की सर्वोत्तम औषधि है।

सार्वदैहिक उपचार—१. सल्फावर्ग की औषधियों में से किसी एक का, युवा में उसे १ ग्राम की मात्रा में १० से १४ दिन तक दिन में चार बार प्रयोग करें।

२. टेट्रासाइक्लिन जीवाणु नाशक औषधियों में से एक का यथा टेरामाइसिन, ओरियोमाइसिन, एक्रोमाइसिन का २५० मिग्रा. की मात्रा में प्रति ६ घण्टे से १० से १२ दिन तक प्रयोग करें।

(आ) **शस्त्र चिकित्सा**—इसके पुनः दो भेद हैं—

१. **लेखन**—वर्त्म को कोकेन मलहर के प्रलेप से संज्ञाशून्य करके लेखनक शस्त्र (Scraper) से पोथकीमय कला का लेखन कर्म किया जाता है। पश्चात् बोरिक द्रव से सेक और ओरियोमाइसिन नेत्र मलहर का प्रयोग करें।

२. **छेदन**—स्थानिक संज्ञाशून्यता करके नेत्रकला का अधोवत् भाग मांसल भाग सहित काटकर पृथक कर दिया जाता है अथवा विद्युत से दहन कर दिया जाता है।

उपद्रवों की चिकित्सा

१. पैनस सिराजाल—प्रायः विशेष चिकित्सा की आवश्यकता नहीं पड़ती, फिर भी अधिक बढ़ जाने पर शस्त्रकर्म द्वारा स्वच्छपटल के चारों ओर नेत्रकला की संकरी पट्टी काट कर पृथक करदी जाती है। इसे 'पेरीटोमी' कहते हैं। इस शल्यकर्म का उद्देश्य वाहिनियों की पूर्ति या बढ़ने पर रोक लगाना है।

नेत्रकला में रक्त संचार बढ़ाने वाली औषधियाँ जैसे डायोनीन का प्रयोग भी इसमें होता है।

२. ट्रिकियासिस में शल्यकर्म किया जाता है।

३. शेष उपद्रवों की यथाविधि चिकित्सा की जाती है।

—श्री कविराज राजेन्द्र प्रकाश भटनागर
एम. ए., भिषगाचार्य आयुर्वेदाचार्य,
एच. पी. ए. (जामनगर), साहित्यरत्न
प्राध्यापक—राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय
उदयपुर (राजस्थान)

पोथकी

—श्री रमेश कुमार शास्त्री

पोथकी एक चिरकालानुबन्धी संक्रामक नेत्र रोग है जिसमें ऊपरी पलक के भीतर सरसों के दाने के समान अनेक पिडिकायें हो जाती हैं। रोगी को ऐसा अनुभव होता है मानों उसकी आँखों में मिट्टी गिर गई हो और वह बुरी तरह से रड़क रही हो। इस क्षोभक रड़कन के साथ ही आँखें लाल हो जाती हैं, अत्यन्त जलस्राव होता है रोगी प्रकाश में आँखें नहीं खोल पाता। सुबह जब सोकर उठता है तो पलकें चिपकी हुई और अक्षिविट् से भरी हुई मिलती हैं। जिस भी स्वस्थ आँख को किसी के माध्यम से रोगी के आँसू लग जावे उसे ही यह व्याधि हो जाती है। इसीलिए प्रायः घर में एक पुरुष के होने पर यह व्याधि इतर गृह सदस्यों तक फैलती पाई गई है। यदि शीघ्र सम्यक् चिकित्सा न की जावे तो उपद्रव स्वरूप रोगी की दृष्टिहानि हो सकती है।

वैज्ञानिकों ने प्रोबेक के इन्क्लयूजन पिण्डो (Provozck's inclusion-bodies) को इस रोग का कारण निर्धारित किया है। कुछ भी हो यह निश्चित है कि यह रोग जीवाणु संभूत और प्रबल संक्रमणशील है।

संक्रमण प्रकार—रोग संक्रमण रोगी के आँसुओं का दूसरी स्वस्थ आंखों तक पहुँचने से होता है। जिसके कई रास्ते हैं—

१. यूरोपियन जीवन—योरोपी लोग एक ही बर्तन में जल डालकर मुंह आँखें धोते हैं जिससे एक रुग्ण आंख से निसृत जलागत रोगाणु दूसरी स्वस्थ आंख तक पहुंच जाते हैं।

२. कज्जल प्रयोग—भारत में कज्जल का प्रयोग बहुतायत से होता है। एक ही मां या व्यक्ति एक ही कज्जल पात्र से सभी घर के बच्चों में जब काजल डालती

बन्धुवर श्री रमेशकुमार जी शास्त्री ने आधुनिक मतानुसार पोथकी (रोहे) का विशद विवेचन किया है जिससे कि पाठकों का पर्याप्त ज्ञानबर्धन होगा। चिकित्सा में प्रयुक्त की जा सकने योग्य अनेकों औषधियों का नामोल्लेख किया है जो कि आपके असीम ज्ञान का द्योतक है। भगवान 'धन्वन्तरि' आपको चिरायु करें।

—सम्पादक

हैं तब रुग्ण आंख से रोगाणु कज्जलपात्र तक पहुँच जाते हैं जो कि बाद में जिसे कज्जल लगाया जाता है उसकी स्वस्थ आंखों तक पहुँच जाते हैं।

३. वस्त्र प्रयोग—कज्जलवत् वस्त्र जिससे कि रोगी का मुंह पौंछा गया हो का प्रयोग भी स्वस्थ नयनों तक इन रोगाणुओं का वहन करता है। इसी प्रकार बिस्तर तकिया जिस पर रोगी के अश्रु गिरे हों पर सोने से स्वस्थ आंखों तक यह रोग पहुँच जाता है।

४. वातातप रजोधूम—हालांकि तेज वायु, धूप, धुंआं, धूल इस रोग के प्रसारक माध्यम नहीं हैं फिर भी यह आंख को रुग्ण बनाकर इस व्याधि के लिए अनुकूलता उत्पन्न कर देते हैं।

पर्याय—पोथकी को आंग्ल भाषा में ट्राकोमा (Trachoma) या ग्रेन्यूलर लिड्स (Granule.-Lids) तथा बोलचाल में रोहे, कुकरे तथा निनावा कहते हैं।

हेतुकीया

आयुर्वेदीय वाङ्मय के अनुसार यह व्याधि सान्निपातिक मानी गई है। अर्थात पोथकी का कारण प्रवृद्ध अक्षिगत दोषत्रय ही है जो वर्त्मान्त में स्थानसंश्रय कर इस रोग को पैदा करते हैं लेकिन सतत शोधसंलीन पाश्चात्य चिकित्सकों ने प्रायोगिक परीक्षण कर यह तथ्य उद्घाटित किये हैं कि यह व्याधि रोगाणु सक्रमणसंभूत है फिर भी आज तक निर्णीत नहीं हो पाया है कि कौन सा कीटाणु इस रोग को पैदा करता है। जापान वैज्ञानिक नगूची ने कीटाणु को इसका कारण माना है जबकि जर्मन

विकृति विज्ञान

संवाहक माध्यमों से रोगाणु स्वस्थ नेत्र के वर्त्मान्त श्लेष्मावरण अर्थात् टारसल कन्जन्क्टाइवा (Tarsal Conjunctiva) तक पहुँचकर वहाँ स्थान संश्रय कर अपनी वंशवृद्धि करते है। उसकी प्रतिक्रिया में वर्त्मान्त श्लेष्मावरण में रक्ताधिक्य होकर आंखें लाल हो जाती हैं। बहु संख्यक सरसों के समान लाल लाल दाने वहाँ उभड़ आते हैं जो बढ़ते हुए ऐसे प्रतीत होते है कि मानों श्लेष्मावरण के नीचे सावूदाने भर दिये गए हों। फलत: श्लेष्मावरण खुरदरा हो जाता है। पलकों में भी न्यूनाधिक स्वयथु हो जाती हे। सप्ताह भर, वाद छोटे छोटे कोमल दानों की जगह कठिन दाने पैदा हो जाते हैं जो कुछ पिंगल वर्ण के गोल होते है जिनमें उत्तरोत्तर परिवर्तन होता रहता है। इस परिवर्तन चक्र को चार अवस्थाओं में बांटा जा सकता है—

१. आद्य अवस्था—इस अवस्था में ऊपरी वर्त्मान्त कला अर्थात् टारसल कन्जन्क्टाइवा में कोमल रक्त सर्षप सम दाने पैदा होते हैं। वहाँ रक्ताधिक्य होने से रक्तव्रण का उभड़ा हुआ दिखाई देता है। अश्रुस्राव भी प्रबल रूप से होता है। इसके साथ आँखों में मिट्टी गिरने के समान क्षोभक रड़कन व प्रकाशासह्यता के लक्षण दिखाई देते है। रोगी सोकर उठता है तो उसकी आखें चिपकी रहती है। यह अवस्था एक सप्ताह तक रहती है। यदि योग्य चिकित्सा की जावे तो रोग विना कुछ चिह्न छोड़े शीघ्र शान्त हो जाता है। लेकिन तीव्र अवस्था में इन लक्षणों की जगह ऊर्ध्व वर्त्मान्त कला अर्थात् ऊपरी टारसल कंजंक्टाइवा में अंकुर पैदा हो जाते है जिसकी रोगी को कोई प्रतीति नहीं होती।

२. द्वितीय अवस्था—यदि प्रथम अवस्था में रोग का कोई प्रतिषेध न हुआ तो दाने बढ़ जाते है, उनका रंग भूरा या पीला हो जाता है। वे प्रकाश के परावर्तक हो जाते है। *कभी कभी इनकी आकृति मस्सों के समान हो* जाती है। ऐसा प्राय: वर्त्मकोण (Fornix) में पाया जाता है। ये मस्से प्राय: पंक्तियों में मिलते है। वर्त्मकोण से गोलीय श्लेष्मावरण पर एक सिरागुच्छ कृष्णमण्डल अर्थात् कोर्निया की तरफ जाता दिखाई देता है जिसे पोथकीय रक्तराजि या ट्राकोमेटस पेनस (Trachomatous Pannus)
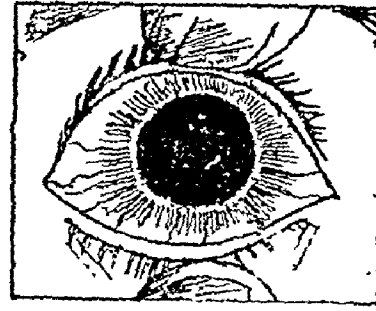
कहते हैं। प्रारम्भ में स्वच्छ शुक्ल सन्धि (Sclero-corneal Junction) जिसे लिम्बस (Limbus) भी कहते हैं पर दिखाई देता है। स्वच्छ मण्डल में घुसने पर यह तेजी से प्रसार करता है। इसी समय स्वच्छ मण्डल में एक पिन के समान व्रण भी बन जाता है जिसे पोथकीय व्रण या ट्राकोमेटस अल्सर कहते हैं। जो बढ़ता हुआ सारे स्वच्छ मण्डल को व्रणित कर देता है। इसे सव्रण शुक्र या कार्नियल अल्सर कहते हैं। इसमें दृष्टि मन्द पड़ जाती है। तारा मन्डल (Iris) में भी प्रदाह (Iritis) हो जाता है।

३. प्राकौपद्रविक अवस्था (Precomplicational Stage)—इस अवस्था में व्रण का रोपण होने लगता है अत: इसे रोपणावस्था भी (Stage of Granulation) कहते हैं। इस अवस्था में वर्त्मार्श व दाने लुप्त होने लगते हैं। वर्त्मान्त श्लेष्मल कला (Tarsal Conjunctiva) में तनु धारायें (Bands) तथा व्रणवस्तु (Scars) जाली (Net) के रूप में बनने लगते है। वर्त्मान्त कला सुचिक्कण (Smooth) पाण्डुर वर्ण रोपणकला (Pale Cicatrical membrane) के रूप में बदल जाती है। लेकिन गोलीय श्लेष्मावरण व स्वच्छ मण्डल की स्थिति में कोई फायदा नहीं होता। वर्त्मकोण की श्लेष्मल कला नील श्वेत पाण्डुरवर्ण की हो जाती है।

४. औपद्रविकावस्था (Complicational Stage)—जब तृतीय अवस्था में रोग का उपशम नहीं होता है तो वर्त्मान्त श्लेष्मावरणीय व्रणवस्तु (Tarsal Conjunctival Scars) का संकोच हो जाता है जिससे पक्ष्मरेखा अन्दर की ओर तनकर वर्त्म का अन्तरावर्तन (Entropion) रूप उपद्रव हो जाता है। स्वच्छमण्डलीय व्रण बहुत गहरा होता हुआ *कृष्णमण्डल का अधिकांश भाग नष्ट कर* देता है अन्ततः व्रणदार बन कर गोलकान्त द्रव्य बाहर की ओर निकल आते है। जिससे स्वछमण्डलीय भूमि पर बकरी की सुखी मिगनी के समान पीड़ायुक्त प्रवर्द्धन उत्पन्न हो जाता है। जिसे अजकाजात कहते है जिसका एक मात्र उपचार पोथक निर्हरण ही है। इसी प्रकार

कभी गोलकीय श्लेष्मावरण शुष्क निस्तेज और सिलवट युक्त होकर मलीन घिसे काँच के समान शुष्क हो जाता है जिसे शुक्तिका (Xerosis) कहते हैं। इसी प्रकार कभी स्वच्छमण्डल पारभासक या अपारदर्शक सफेद धूसर वर्ण का हो जाता है जिसे अव्रण शुक्ल या कार्नियल ओपेसिटी तथा लोक में फूली नाम से पुकारा जाता है। कभी-कभी उपद्रव रूप में वर्त्मान्त श्लेष्मावरण गोलकीय श्लेष्मावरण के साथ चिपक जाता है जिसे वर्त्मगोलकीय सशक्ति (Symblepheron) कहते हैं। (चित्र पृष्ठ ८६ व ९३ पर) कभी पक्ष्मधारा पर वर्त्मों में शोथ हो जाता है जिसे पक्ष्मधारा प्रदाह (Marginal Blephritis) कहते हैं। इसी प्रकार के अन्य कतिपय उपद्रव पोथकी रोग में हो सकते हैं यथा पूयालस (Dacryo-cystitis), पक्ष्मकोप (Trichiasis) मिथ्या अर्म (Pseudopterygium) इत्यादि।

लाक्षणिकी (लक्षण)—

पोथकी में मुख्यतः निम्न लक्षण देखे जाते हैं—

१. प्रकाशासह्यता या फोटोफोबिया अर्थात् रोगी धूप में आखें नहीं खोल पाता। उसे धूप में आंखें वन्द करनी पड़तीं या नीचे देखना पड़ता है।

२. सतत जल स्राव अर्थात् रोगी की आँखों से हर समय अश्रुधारा प्रवाहित होती रहती है।

३. रजकण समक्षोभ अर्थात् रोगी को ऐसा प्रतीत होता है मानों उसकी आंखों में मिट्टी के कण गिर गये हों और वे रड़क रहे हों।

४. कण्डू व जलन।

५. पलकों की सूजन।

६. श्लेष्ममिश्रित पूयस्राव—जिसे भाषा में गीड़ अक्षिमल कहा जाता है। उसका सतत कनीनक कोण (Inner Canthus) में संग्रह दर्शन होता है।

७. उर्ध्व वर्त्मान्त का लाल व दानेदार होना।

८. नेत्र खोलने में अक्षमता।

इन सभी मुख्य लक्षणों का आयुर्वेद संहिताकारों ने घर्षतो नाक प्रभा दृष्टम् स स्राविण्यः शूकपूर्णोभमेव च कण्डूरुजावत्यः न नेत्रोन्मिलनेक्षमः तथा रक्तसर्षपसन्निभाः आदि शब्दावलियों से उल्लेख किया है।

चिकित्सा—

आयुर्वेदीय चिकित्सा

आयुर्वेद का प्रथम सूत्र जिसे आयुर्वेद का प्रयोजन सूत्र भी कह सकते है वह है स्वस्थस्य स्वास्थ्य रक्षणम्। जिसके अनुसार यह आवश्यक है कि पहले स्वस्थ नेत्रों को संक्रमण लगकर अस्वस्थ होने से वचाकर स्वस्थ वनाया रखा जावे। इसी प्रयोजन मूलक चिकित्सा को अनागत वाधा चिकित्सा (प्राफिलेक्सिस या प्रिवेन्टीव थेरापी) कहते हैं। एतदर्थ निम्न निर्देशों का पालन करें।

१. अलगीकरण (आइसोलेशन)—अर्थात् रोगी को अलग ही रखें। उसके कपड़े लत्ते भी अलग रखें। उनका स्वस्थ व्यक्ति कभी प्रयोग न करें।

२. विशोधन या स्टरलाइजेशन—रोगी की आंख में दवा लगाने पौंछने आदि कर्मों के वाद परिचारक अपने हाथ सावुन से धो लेवें। रोगी के कपड़ों को गर्म पानी में उवाल, सावुन से धो तथा तेज धूप में सुखाने के वाद ही प्रयोग करें।

३. औषध प्रयोग—अर्थात् स्वस्थ आंख में गुलाव जल में शुद्ध स्फटिक मिलाकर उसके नेत्र विन्दु आंख में डाले। इसी प्रकार चन्द्रोदय वर्ति को जल में घिसकर आंख में आंजे। यदि संसर्ग की शंका हो तो तुत्थकांजन तुत्थकादि रसक्रिया आदि सिद्ध प्रयोगों का स्थानीय प्रयोग करें।

इस प्रकार 'स्वस्थ स्वास्थ्य रक्षणम्' उद्देश्य की पूर्ति के वाद आयुर्वेद का दूसरा प्रयोजन सामने आता है कि 'आतुरस्य विकार प्रशमनम्, अर्थात् जो रोगी है उसके रोग की शान्ति करो। इस उद्देश्य की पूरक चिकित्सा को आगतव्याधि चिकित्सा कहते हैं। इस उद्देश्य विषयक आयुर्वेद में दो प्रकार चिकित्सा निर्दिष्ट है—

१. शल्य क्रिया या आपरेशन।

२. औषधचिकित्सा या कीमो थिरापी।

शल्य चिकित्सा—

आचार्य सुश्रुत ने पोथकी को लेख्य रोग वतलाया है। लेखन का मतलव है खुरचना जिसे पाश्चात्य वैद्यक में स्क्रैपिंग कहते हैं जिसकी विधि वड़े ही सुन्दर ढङ्ग से आचार्य सुश्रुत ने वतलाई है जो इस प्रकार है—

१. पूर्व कर्म—रोगी को स्नेहन वमन और विरेचन से शुद्ध कर वातातपरक्षित गृह में सीधा शल्यकर्म-पीठिका पर लेटा देवें। फिर आप्त और मजबूत परि-चारकों से पकड़वा कर रोगी को स्थिर कर लेवें। अधुना सम्मोहक विधि के अनुसंधान से स्थानीय सम्मोहन कर लेने से पकड़ने बांधने की विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती।

२. प्रधान कर्म—रोगी की आंखों के आस पास सुखसह्य उष्णजल में भीगा तौलिया रखकर आर्द्र स्वेद (Wet fomentation) देवें। तदनन्तर शेफालिका गोजिह्वा आदि के खुरदरे पत्ते से रुग्ण श्लेष्मल कला का लेखन करें। आजकल सतह स्थानीय सम्मोहन (Surface aneasthe-sia) करके पोथकी घर्षकयन्त्र (Rasp) से लेखन किया जाता है। यदि दाने बढ़कर अर्श के समान हों तो शस्त्र से छेदन कर देवें। इस समय निकलते रक्त को शुद्ध कपास कवलिका से पोंछते सुखाते रहें। यहाँ एक बात बता देना प्रासंगिक होगा कि आर्द्र स्वेदन करने के बाद बांये हाथ पर शुद्ध कराच्छादक पहन करतर्जनी और अंगुष्ठ से पलक
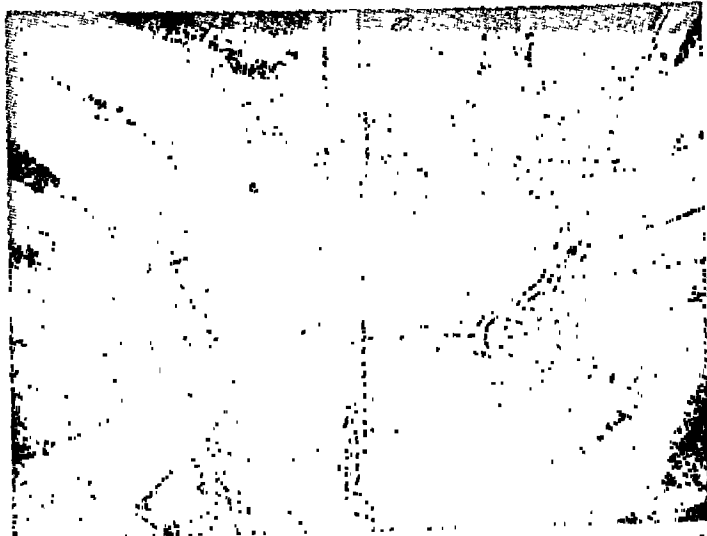
ऊपरी पलक में पोथकी उपचार हेतु तुत्थ वर्तिका का लगाया जाना | **ऊपरी पलक में पोथकी उपचार देतु नैप्स रौलर संदंश द्वारा लेखन कर्म**

को उलट कर स्थिर कर लेना चाहिये। लेखन उतना ही करें जो कि उचित हो। सम्यक् लेखन का मतलब है कि वह लेखन जिसमें वर्त्मान्त सतह में ऊँचा नीचापन न रहे, वर्त्म नख के समान सफेद हो जावें, कण्डू और शोथ नष्ट हो जावे और शीघ्र ही रक्त व जलस्राव बन्द हो जावे। लेखन के बाद जब रक्त रुक जावे तब पुनः स्वेदन करके लेखनांजन से लेखित स्थल का घर्षण करें। लेखनांजन निर्माण के लिए मनःशिला, रसांजन, हराकसीस, त्रिकटु, सैन्धव, स्वर्णमाक्षिक, स्वर्ण, पीतल, सीसा, ताम्र, चांदी, काला लोहा वैदूर्य मरकत गाय-बैल आदि के काले सींग आदि द्रव्यों का सूक्ष्म चूर्ण प्रयुक्त होता है। प्रघर्षण के बाद नेत्र का उदुम्बर द्रव, रसांजनद्रव, त्रिफला क्वाथ आदि से प्रक्षालन कर घी लगाकर व्रण बन्धन कर चारपाई पर पूर्ण विश्राम के साथ सुला देवें।

३. पश्चात् कर्म—तीन दिन तक पूर्ण विश्राम देते हुए चौथे दिन पट्टी खोल नेत्र में पुनः पट्टी बांध देवें। रोगी को दुग्ध घृत से भूयिष्ठ आहर देवें। रक्षोघ्न धूपों से धूपन करें। रक्षोघ्न द्रव्यों मन्त्रों व मणियों से रोगी का रक्षण करें। समाश्वासन से रोगी का आत्मबल बढ़ाते रहे। फिर दिन के अन्तर पर पांच छः पट्टियां कर देवें। अन्त में हरित नेत्राच्छादक दें।

औषध चिकित्सा—

औषधि चिकित्सा में कई योग आयुर्वेद जगत् में वैद्य प्रयुक्त करते हैं। कुछ सफल प्रयोग दिये जा रहे हैं—

१. नागरमोथा, हल्दी, मुलहठी, प्रियंगु, उत्पल, लोध्र, सरसों व सारिवा के सूक्ष्म चूर्ण का वर्षा जल में बना शीतकषाय आंखों में टपकावें। जलस्राव रोधक है।

२. त्रिफला की रसक्रिया से बना अंजन आंजें।

३. दीपक की लौ में उपाड़ा काजल व तुत्थ समान भाग ले फिर इन तीनों को ताम्बे के घड़े पर घिसते हुए मसृण चिकना चूर्ण तैयार कर लेवें। इस अंजन का रुग्ण वर्त्मान्त पर घर्षण करें। इससे निश्चितरूपेण पोथकी नष्ट हो जाती है। यह ज्योतिर्विद आचार्य श्री वल्लभ जी शास्त्री साहित्यायुर्वेद व्याकरणाचार्य का बतलाया हुआ योग है। उनका शतशः रोगियों पर अनुभूत है। चूंकि इस अंजन से जलन बहुत तेज होती है अतः आंख का स्थानीय सतह संज्ञाहरण के बाद प्रयोग करें तो उत्तम है।

इसी प्रकार चन्द्रोदय वर्ति, गुलाबजल व इतर शीत गुण प्रधान नेत्रबिन्दुओं का प्रयोग किया जा सकता है।

पाश्चात्य चिकित्सा—

१. अनागत व्याधि चिकित्सा—आयुर्वेदीय चिकित्सा प्रकरण में बताये गये उपक्रमों का ही प्रयोग किया जाता है। यदि संक्रमण भय हो तो सिल्वर नाइट्रेड १० ग्रेन प्रति औंस के या आर्जिराल के २-३ बूंद नेत्र में डाले

२. आगत व्याधि चिकित्सा(क) औषध चिकित्सा—पाश्चात्य चिकित्सक इसमें कतिपय औषध योगों का प्रयोग करते हैं जिनमें प्रचलित औषध व्यवस्थायें निम्न हैं—

१. सिलवर नाइट्रेट लोशन १० ग्रेन प्रति औंस वर्त्मान्त श्लेष्मावरण (Tarsal Conjunctiva) पर नित्य लगाकर टंकण धावन (Boric-Lotion) से धो देवें। फिर पेनिसिलिन स्निग्धांजन (penicillin-Eye Oint.) लगा देवें। साथ में जीवाणुसूदक (Antibiotics) योगों का आभ्यन्तर प्रयोग भी करते रहें। लेकिन रजत द्रव से क्षोभ बहुत प्रबल होता है और लाभ अल्प अतः वियना के प्रसिद्ध नेत्र चिकित्सक कार्डलिण्डसर ने सिलवर नाइट्रेड का इस रोग में पूर्ण निषेध किया है।

२. यदि रोग प्रारम्भिक स्थिति में हो तो एनीथीन घोल ५ ग्रेन प्रति औंस दो-दो मिनट पर दो-दो बूंद तीन बार डाल देवें। फिर टंकण धावन से नेत्र प्रक्षालन कर सिलवर आयोडायज्ड की दो-दो बूंद डाल देवें। इससे प्रबल अश्रुस्राव होता है जिसे रुई से सोखकर सल्फोनेमाइड आयण्टमेण्ट ६ प्रतिशत लगा देवें।

३. चिरकालीन स्थिति में आंख में चेतनाहर जाइलोकेन आदि द्रव डालकर सम्मोहन कर लेवें। फिर टंकण या पारद धावन से नेत्र का प्रक्षालन कर हल्के हाथ से तुत्थ के टुकड़े को तीन चार बार रुग्ण वर्त्मान्त श्लेष्मावरण पर फिरावें। तज्जन्य नीलाश्रुओं का कपास से शोषण करते रहें। आजकल इसकी विशेष शलाकायें बनी आती है। जिनमें तुत्थ के साथ स्फटिक भी मिली होती है।

४. आजकल इस व्याधि में शुल्वा व भूतघ्न औषधियां बहुतायत से प्रयुक्त होती हैं तथा लाभप्रद भी पायी गई हैं। इसी प्रकार इन औषधियों के साथ कोर्टीसोन मिलाकर भी प्रयोग किया जा रहा है जो बहुत ही लाभकारी सिद्ध हो रहा है। अब इन पेटेण्ट नेत्रांजनों की एक सारणी प्रस्तुत की जा रही है—

शुल्वा नेत्रांजन या सल्फा आई प्रिपरेशन्स

१. इ० शेरिंग कं० का अल्ब्यूसिड आइ ड्रोप्स
२. बंगाल केमिकल का आइ ड्रोप्स
३. यूनिकम का आइमाइड ड्रोप्स
४. विन्थ्रोप स्टरलर का आई ड्रोप्स
५. सुहृद गायगी का इर्गाफिन आइ आयण्टमेण्ट
६. यूनिवर्सल ड्रग्स का आइ लोशन
७. आर पी केमिकल इण्ड० का आरपीमाइड
८. इण्टर कोन्टीनेण्टल का विकामाइड लोशन
९. इस्ट इण्डिया का लोकुला १० व २० प्रतिशत लोशन व आयण्टमेन्ट
१०. एलम्बिक का सल्फासिटेमाइड
११. फीजर का नीवा सल्फ आइ आयण्टमेण्ट

विस्तृत क्षेत्रीय भूतघ्न योग या ब्रोडस्पेक्ट्रम एण्टीबायोटिक्स

१. लिडर्ले का एक्रोमाइसीन आइ एण्ड इयर ड्रोप्स
२. लिडर्ले का ओरियोमाइसीन ओप्थेल्मिक आयण्ट०
३. पार्क डेविस का क्लोरोमाइसेटीन आफ्थेल्मिक आयण्टमैन्ट
४. स्क्विब का केनालोग आइ आयण्टमेण्ट
५. कालो इर्वा का क्रैमीसेटीन आफ्थेल्मिक आयण्ट०
६. हेक्स्ट का केम्विसोन आइ आयण्टमेण्ट
७. फीजर का टेरामाइसीन आप्थेल्मिक आयण्टमेण्ट
८. एलम्बिक का पेनिसिलिन आइ आयण्टमेण्ट
९. डेज का सुबामायसीन आफ्थेल्मिक आयण्टमेण्ट
१०. स्पेक्ट्रोसीन आफ्थेल्मिक आयण्टमेण्ट

कोर्टीसोन मिश्रित योग

१. ग्लेक्सो का एफकोर्लिन नियोमाइसीन आइ आइ०
२. ड्यूमेक्स का टेराकोर्टिल आइ इयर आयण्टमेण्ट
३. यूड्मेक्स का हीनी वाकार्टिल आफ्थेल्मिक आयण्ट०
४. स्क्विब का फ्लोरीनेफ आफ्थेल्मिक आयण्टमेण्ट
५. डेज मेडिकल का सुबाकोर्ट आफ्थेल्मिक आयण्ट०
६. कोर्टीस्युड आइ ड्रोप्स

इसी प्रकार तुवरक तैल का अंजन भी उत्तम है।

पोथकी की शस्त्र क्रिया—

आधुनिक चिकित्सक भी पोथकी का शल्यकर्म आयुर्वेदीय रीत्या ही करते हैं लेकिन उनकी विधि कुछ परिष्कृत है—

१. लेखन या एक्सप्रेशन आफ ट्राकोमा—यदि रोग औषधोपचारों से शान्त न हुआ हो तो पोथकी घर्षक यन्त्र

—शेषांश पृष्ठ ९७ पर देखें।

पोथकी जन्य विकृतियां

वैद्य श्री डा० अम्बर नाथ शर्मा

प्रारम्भिक अवस्था में यह रोग कुछ काल तक बना रह कर फिर स्वतः शमन हो जाता है। यदि यह स्वयं नष्ट नहीं हुआ तो फिर उग्र रूप धारण करके निम्नलिखित उपद्रवों में से एक या अधिक उपद्रव होने की सम्भावना रहती है जो काफी और अत्योचित चिकित्सा द्वारा चिरकाल से ठीक होती है।

१. सफेदी (Pannus)—नेत्रों के श्वेत मण्डल में यह विकार रोहे के जीर्णावस्था में प्राप्त होता है। वह भाग
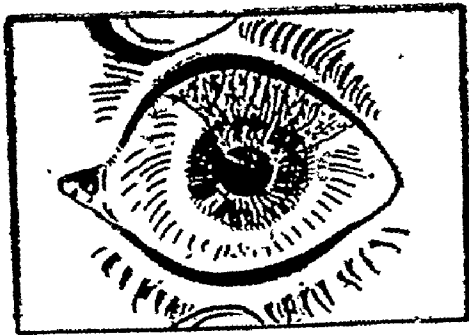
पोथकी जन्य सफेदी (पैनस)

कम या अधिक मात्रा में अपारदर्शक होकर अनेक सूक्ष्म रक्त प्रणालियां इस अपारदर्शक भाग में से निकली हुई प्रतीत होती है। ये प्रणालियां ऊपर से नीचे को गमन करती हैं। अधिक उपद्रव होने पर तारा मण्डल का चिरकारी प्रदाह (Chronic Iritis) होकर दृष्टि निर्बल हो जाती है।

२. श्वेत मण्डल का क्षत (Corneal ulcer)—चिरकारी रोहे होने से किसी भी समय श्वेत मण्डल में व्रण उत्पन्न होकर नेत्र में पीड़ा होने लगती है। साथ ही साथ शिरःशूल भी हो जाता है। नेत्र खोलने पर अश्रुस्राव होकर चकाचौंध सा होता है। रोगी को छींकें आती हैं। श्वेत मण्डल के चारों ओर रक्त प्रणालियां कुछ मोटी होकर लाली भासती है तथा यह लाली क्षत की संख्या और गहराई के अनुरूप ही होती है।

३. परवाल (पलक का वाहर या भीतर मुड़ना)—(Trichiasis, Districhiasis and Entropion and Ectropion)—पलकों के भीतर रोहों के साथ न्यूनाधिक अंश में शोथ उत्पन्न होकर शमन होने की दशा में पलकों के भीतर भागों के अंशों में कुछ आकुंचन(सिकुड़न) होता है जिससे पलकों के भीतर कोमलास्थि की रचना में अन्तर हो जाता है और चिपके हुये वाल गढ़ने लगते हैं तथा पलक भी अन्दर या वाहर की ओर जिधर झुकाव रहता है मुड़ जाती है।

४. पलक धारा का पाक(Marginal Blepharitis)—नेत्रों से अत्यधिक स्राव होने के कारण रोगी उस स्राव को वार-वार मोटे कपड़े अथवा किसी अन्य खुरदरी वस्तु से पोंछता है जिससे त्वचा छिल कर पक जाती है।

५. पलक और गोलक की संलग्नता (Symblepharon)—नेत्र गोलक और पलक के मध्य श्लेष्मावरण का

बन्धन संकुचित होकर नीचे की पलक नेत्र गोलक में चिपक जाने जैसा प्रतीत होता है।

६. नेत्र श्लेष्मावरण की शुष्कता (Xerosis)—पलक का ऊपरी आवरण सिलवटमय शुष्क, कुछ त्वचा सदृश निस्तेज और अपारदर्शक होकर नेत्र में एक प्रकार का विकृत स्राव होता है।

७. अश्रुकोष प्रदाह(Dacryocystitis)—चिरकाल तक रोहे रहने पर अश्रुकोष पर दवाव अधिक पड़ता है। नेत्र का विकृत स्राव अश्रुकोष में जाता है जिससे नेत्र में प्रदाह अधिक होता है।

चिकित्सा-क्रम

आरम्भ में योग्य चिकित्सक द्वारा उचित चिकित्सा से आरोग्य होने की सम्भावना रहती है। सिलवर नाइट्रेट का घोल प्रयोग करने से क्षणिक लाभ होता तो अवश्य है किन्तु आजीवन पथ्य का वद्धमूल होना पड़ता है। पाश्चात्य चिकित्सा द्वारा इसका प्रयोग करने से विकृत पलक का रोग कभी ठीक नहीं होता है। अतः रोग की उचित शान्ति के लिए यदि उचित उपचार न किया गया तो दृष्टि दौर्वल्यता का भी भय रहता है।

पोथकी की चिकित्सा दो भागों में विभक्त की गई है—

(अ) रोगोत्पत्ति रोधक चिकित्सा।

(ब) रोग शामक चिकित्सा।

(अ) रोगोत्पत्ति रोधक चिकित्सा—

१. यदि रोग शारीरिक दुर्वलता के कारण हुआ हो तो रोगी को सौम्य, वीर्य, वृष्य और बृंहण पौष्टिक आहार देना चाहिए। धूल, गर्द, गोवर एवं अधिक तेज प्रकाश से नेत्रों की रक्षा करनी चाहिए। वहुधा रोगोत्पत्ति दूषित रक्त एवं रक्त में पित्ताधिक्य से होती है। ऐसी दशा में रोगी दोपहर के समय घूमने अथवा आतप सेवन न करें।

२. रोगी को कोष्ठ वद्धता नहीं होनी चाहिए। मलावरोध की अत्यन्त सम्भावना होने पर ५-६ ग्राम त्रिफला चूर्ण अथवा अन्य कोई मृदुरेचक पाचक औषधि उष्ण जल अथवा दूध के अनुपान से प्रातः सायं देने पर कोष्ठवद्धता दूर होकर रक्त शुद्धि, रक्तस्थ पित्ताधिक्य शान्ति तथा दृष्टि शक्ति प्राप्त होती है।

३. प्रतिदिन शौचादि नित्य कर्मों से निवृत होकर आवश्यक शुद्धि के पश्चात् मुंह में जल का घूंट (कुल्ला) रखकर नेत्रों में शीतल जल की छींटें देनी चाहिए। दस-वारह वार छींटें देने के वाद मुखस्थ कुल्ला का जल निकाल दें। पुनः ३-४ वार यही क्रिया करनी चाहिए।

४. रात्रि को सोने से पूर्व १५-२० मिनट तक अंजली में स्वच्छ जल भरकर नासिका द्वारा जल ऊपर खींचना चाहिऐ। यह क्रिया ३-४ वार करनी चाहिए। इस क्रिया के लिए गर्मी के दिनों में शीतल जल तथा शीत ऋतु में गरम जल का प्रयोग करना चाहिए।

५. यह ध्यान रखना चाहिए कि किसी भी कारण से स्वस्थ नेत्रों को इस रोग के विष का संसर्ग कदापि नही हो। इसलिए रोगी के वस्त्र, रूमाल, तौलिया आदि अज्ञानतावश अथवा प्रमादवश दूसरों के उपयोग में न आवें। इस प्रकार रोगी की कोई भी वस्तु प्रयोग में न लावें तथा रोगी के पास बैठने एवं स्पर्श से भी दूर रहें। यदि किसी कारणवश स्पर्श हो जाय तो हाथ व शरीर को स्वच्छ कर लेना चाहिए। ठीक इसी प्रकार अपनी वुद्धि और विवेकपूर्ण विचार कर लेना चाहिए

(ब) रोगशामक उपचार—

१. रोग की प्रथमावस्था में श्वेत फिटकरी १ ग्राम को २५० ग्राम परिश्रुत जल अथवा गुलाव जल में घोलकर रख लें। प्रतिदिन ३-४ वार दो-दो तीन-तीन बूंद आंख में डालने से आश्चर्यजनक लाभ होता है।

२. एक पाव परिश्रुत जल अथवा गुलाव जल में कलमी शोरा ४ रत्ती, नौसादर ४ रत्ती, हरित कासीस ४ रत्ती एवं सौभाग्य ४ रत्ती के घोल को छान कर २-२ बूंद दिन मे ३-४ वार नेत्रों में डालने से २-३ वर्ष की पोथकी प्रशमित होती है।

३. पलकों में शोथ तथा पित्ताधिक्य लक्षणों युक्त पोथकी में, हरीतकी चूर्ण ३ ग्राम, हरिद्रा चूर्ण ३ ग्राम, लौह भस्म १ ग्राम स्वच्छ खरल में सूक्ष्मतम पीसकर पलकों के वाहर दिन में २-३ वार लेप करना चाहिए। तथा लेप सूखने पर तुरन्त ही स्वच्छ जल से लेप को धो डालना चाहिए।

४. पोथकी की द्वितीयावस्था में नौसादर २ तोला, नीबू का रस १० तोला लेकर कांस्य पात्र में डाल दें।

ऊपर से नीम का ऐसा डण्डा जिसके तल भाग में ताम्र पत्र लगा हो से खूब घोटाई करें। लेही जैसा पदार्थ तैयार होने पर शीशी में रख लें। इन पदार्थ को ताम्र या चांदी की सलाई से दिन रात. में ३-४ वार अंजन करें। इस औषधि का प्रयोग लगभग दो मास तक करें।

५. सर्व प्रथम नेत्रों को हाइड्राजिराई .सायनाइड लोशन द्वारा धो डालें। पश्चात् नीले थोथे का चूर्ण शलाका द्वारा प्रयोग में लाया जा सकता है।

६. १ औंस में ५ ग्रेन एनीथेन प्रवाही से २-२ बूंद २-२ मिनट के अन्तर से तीन वार डालें। फिर नेत्र को पारद धावन (१-५००) या वोरिक धावन से धो दें। सिलवर आयोडाइड से तत्काल जलन होकर अश्रुस्राव होने लगता है। अतः इस जल का शोषण रुई से कराते रहें। जब स्राव बन्द हो जाय तो सल्फोनामाइड ६ प्रतिशत का मलहम दोनों नेत्रों में लगा दें।

७. पोथकी की तृतीयावस्था में—शास्त्रीय योगों में चन्द्रोदय वर्ति, तिल पुष्पादि वर्ति, चन्द्रप्रभावर्ति में से कोई एक प्रयोग में लावें। शोधन कर्म के साथ-साथ महामंजिष्ठादि क्वाथ तथा आरोग्यवर्द्धिनी का भी प्रयोग करें।

८. कृष्ण चेतकी चूर्ण २ तोला, सत्यानासी का स्वरस १० तोला, अगस्त पुष्प का रस १० तो० को एक साथ निरन्तर पीसकर शुष्क होने पर पुनः खरल में अत्यन्त सूक्ष्म करलें। फिर २ ग्राम तूतिया (नीला थोथा), ३ ग्राम सूर्यक्षार, ३ ग्राम गैरिक के सूक्ष्म चूर्ण को उक्त पिष्ट चूर्ण में मिलाकर ३-४ दिन तक निरन्तर शुष्क मर्दन करें। अत्यन्त सूक्ष्म होने पर ४ रत्ती सत पोदीना मिलाकर शुद्ध शीशी में रख लें। शलाका को जल में डुबोकर उक्त अंजन को दिनमें ३-४ वार लगाने से शस्त्र कर्म की पर्याप्त मात्रा में आवश्यकता समाप्त हो जाती है।

यदि उपरोक्त उपचारों से भी रोग का शमन न हुआ तो शल्य कर्म ही अन्तिम उपचार इसके शमनार्थ शेष रह जाता है और शस्त्रोपचार के वाद भी नेत्रों का सौन्दर्य दीर्घ काल तक प्राप्त नहीं होता है। सुश्रुत में भी शस्त्र क्रिया की आज्ञा दी गई है।

वर्त्म विबन्ध विलष्टंच बहलं यच्च कीर्तितम्।
पोथकीश्चाप्य व लिखेत प्रच्छमित्वाऽगुतः शनैः ॥

अतः शस्त्र चिकित्सा में दानों को यन्त्र से निकाल देते हैं। इसके लिए एक विशेष प्रकार का चिमटा आता है। जिसे नैप्स आवर्तन संदशक (Knapps Roller Forceps) कहते हैं। इस यन्त्र से उन दानों को पकड़ पकड़ कर बाहर खींचकर निकाल देते हैं। कुछ चिकित्सक दानों के सिरे को पोथकी घर्षक (Rasp) से घिस देते हैं। इसके लिये रोगी को मेज पर सुला कर नेत्रों में चेतनाहर (संज्ञाहर) औषधि लगा देनी चाहिए। और पलक को पारद धावन से धोकर साफ करें। फिर पलक को उलट कर जो दाने प्रतीत हों उन्हें इस प्रकार से घिस दें ताकि उन दानों के शिखर टूट जांय और फिर सिल्वर आयोडाइड जैसी औषधि डालें। इसके अतिरिक्त नेत्रों की निरन्तर सफाई रखना अनिवार्य है। सफेदी नष्ट करने के लिए गुंजा का क्वाथ प्रयोग में लावें।

—श्री डा० अम्बर नाथ शर्मा वैद्य
गायत्री आंशिक चिकित्सालय,
गोड़हिया (वहराइच) उ०प्र०
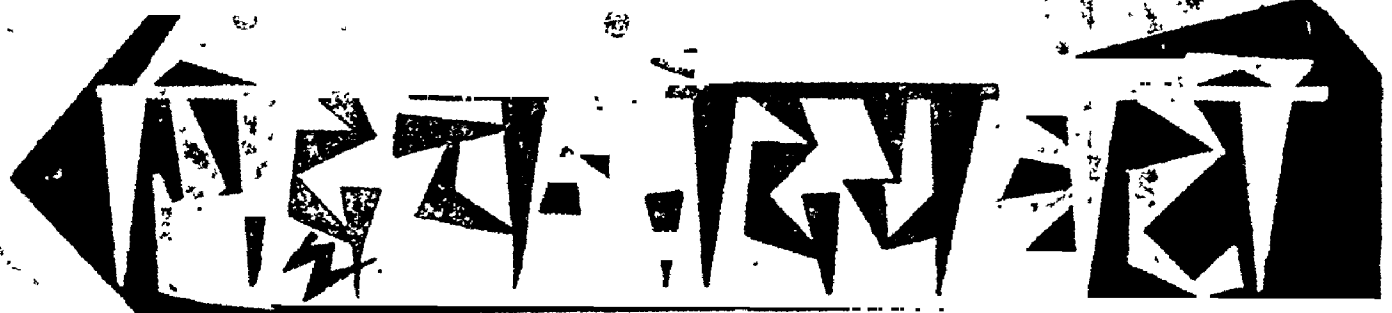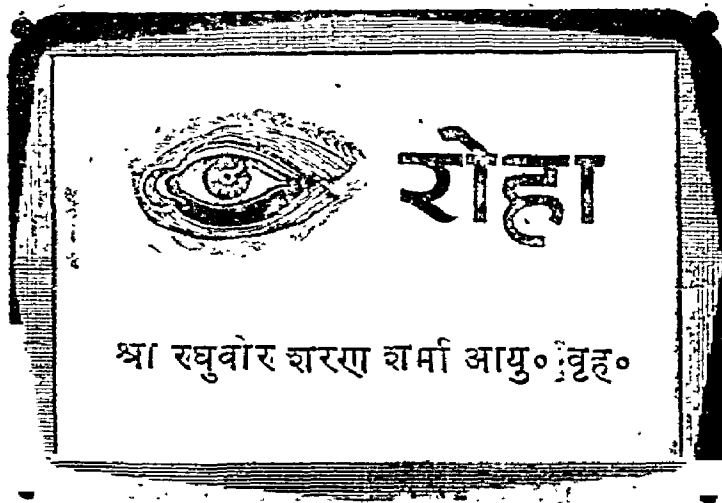
रोहा आंखों का प्रसिद्ध रोग है। इसे कुकरे भी कहते हैं। यह रोग बालकों को अधिक होता है। अपवाद स्वरूप तरुणों और वृद्धों को भी होता है।

चिकित्सा—

(१) चन्द्रोदय वर्ति (शार्ङ्गधर संहिता)—शंख की नाभि, बहेड़े की मींग, बड़ी हर्र का वक्कल, मैनसिल, छोटी पीपल, काली मिरच, कूठ कड़वा, घोड़ा वच हरेक समभाग।

विधि—इनको कूट कर कपड़छन करके खरल में डाल कर बकरी के दूध में मर्दन करके वत्ती बनाकर छाया में सुखा कर शीशी में भर कर रखलें।

सेवन विधि—वत्ती को प्रातः काल और रात को सोते समय पानी में घिसकर सलाई से लगावें।

गुण—इसके सेवन से रोहे, रतौंधी और फूला नष्ट होता है। मैंने केवल रोहों पर ही वर्ती है।

(२) ममीरी का योग—ममीरी का वृक्ष ३-४ फुट का होता है। इसके पत्ते सिरस के समान होते हैं। इसकी जड़ का वर्ण पीला होता है। सूखने पर पीलापन कम हो जाता है। इसकी जड़ ही काम में आती है। सर्व प्रथम मैं स्वयं अल्मोड़ा से लाया था दूसरी वार एक मित्र से नैनीताल से मंगाई थी। तीसरी वार दून फार्मेसी देहरादून से मंगाई थी। इसकी जड़ को साफ कर के पत्थर पर घिसकर प्रातः सायं सलाई से या हाथ के पोरुये से लगावें। गुण—इसके सेवन से रोहे, फूला और नाखूना नष्ट होता है। कुछ काल तक निरन्तर लगावे से आँखों की रोशनी बढ़ती है, चश्मा की बहुत कम आवश्यकता रहती है।

दूसरी विधि—ममीरी को कूट कर कपड़े में छानकर अर्क गुलाब में ६-७ घण्टे घोट कर गोली बना कर छाया में सुखाकर रखलें। विधि और गुण उपर्युक्त हैं।

तीसरी विधि—ममीरी को कूट कर कपड़छन कर लें। फिर इसी के समान काला सुरमा लेकर अर्क गुलाब में घोटें। जब लगाने लायक हो जाय तब इसका व्यवहार करें। इसके निरन्तर लगाने से रोहे, ढलका नष्ट होते हैं और नेत्र की ज्योति बढ़ती है।

(३) पुराना घृत—पुराना घी कम से कम २०-२५ वर्ष का इसको रात में सोते समय १ चावल भर सलाई से लगावें। गुण—इससे रोहे नष्ट होते हैं, रोशनी बढ़ती है। इसक अतिरिक्त ६ माशे घृत को दूध के साथ सेवन करने से उन्माद (पागलपन) में लाभ होता है। यह तीक्ष्ण है अतः बालकों पर प्रयोग न करें।

(४) नरसार का योग (स्वयं कल्पित)—नौसादर कतल का १० तो० इसका चूर्ण करके पीतल के तसला में डाल दें। फिर इसमें इतना पानी डालें जो नौसादर के चूर्ण से एक अंगुल ऊँचा रहे। फिर इसको बढ़िया पत्थर मूसली से घोटें। घोटते-घोटते जब नरसार का वर्ण हरा हो जाय और पानी भी सूख जाय तब तसला में से निकाल कर उत्तम खरल में मर्दन कर शीशी में भर कर रखलें। इसमें में से २ रत्ती लेकर २॥ तोला ग्लिसरीन में मिलाकर २ घण्टा खरल में मर्दन करके शीशी में भर कर रखलें।

वक्तव्य—ग्लिसरीन के अभाव में मधु या घी भी ले सकते हैं परन्तु ये दोनों जाड़ों में जम जाते हैं।

सेवन विधि—प्रातः काल और रात को सोते समय सलाई से लगावें। यह रोहों की अव्यर्थ औषधि है। यह तीक्ष्ण है अतः बालकों पर प्रयोग न करें या सावधानी से करें। मेरा अनुमान है कि यह योग फूला को भी नष्ट कर देगा।

रूपान्तर—एक रत्ती नरसार योग और २॥ तो० गुलाब जल को शीशी में भर कर रखलें। जब यह घुल जाय तब इसको प्रातः सायं आंखों में डालने से आंखों का दुःखना ठीक होता है और रोहे भी नष्ट होते हैं।

(५) पलान्डु का योग—प्याज का रस और शुद्ध मधु दोनों समान भाग लेकर शीशी में भर कर रखलें। इसमें से २-३ बूंद प्रातः सायं आंखों में डालने से रोहे नष्ट होते हैं और प्रारम्भिक अवस्था में डालने से लिङ्ग नाश (मोतियाविन्द) भी नष्ट हो जाता है।

कुछ काल बाद यह तीक्ष्ण बन जाता है गाढ़ा भी हो जाता है। ऐसी स्थिति में थोड़ा सा अर्क गुलाब डाल दें।

(६) बबूल का योग (शा० सं० उ-ख-१३/१०१) बबूल की हरी पत्ती १० तोले कूट लें। फिर इसमें ४० तो० पानी डालकर कलई के बर्तन में पकावें। जब मधु के समान गाढ़ा हो जाय तब वस्त्र से छान कर इसके समान शुद्ध मधु मिला कर शीशी में भर कर रखलें। इसको प्रातः सायं दोनों समय सलाई से लगावें।

गुण—इसके सेवन से नेत्र स्राव (ढलका) और रोहे नष्ट होते हैं। गले में फुरैरी से लगाने से काग गिरना ठीक होता है।

(७) फिटकरी का योग—सफेद फिटकरी १ रत्ती, गुलाब जल १॥ तोले दोनों को शीशी में भर कर रख लें। प्रातः सायं आँखों में २-३ बूंद डालें। इसके सेवन से आँखों का दुखना, आँखों की सुरखी, ढ़लका, फूला तथा रोहे नष्ट होते है।

वक्तव्य—गुलाब जल के अभाव में गंगा जल तथा ओले का पानी भी ले सकते हैं।

वर्जित—रोहे के रोगी को धूप, धूम्र, पढ़ना लिखना हानिकर है, खास तौर से गर्मियों में। भोजन में दही, खट्टे पदार्थ लाल मिरच का भी सेवन गर्मियों में न करें।

आँखों का धोना

१. त्रिफला को जौ कुट करके शीशी में रखलें। इसमें से रात को ६ माशे लेकर १० तोले पानी में चीनी या काँच के पात्र में भिगो दें। पात्र को वस्त्र से ढक दें जिससे मच्छर आदि न पड़ें। सवेरे निथरे हुए पानी को वस्त्र से छान लें। इस पानी से आई ग्लास द्वारा आँखों को कम से कम ५ मिनट तक धोवें। बचे हुए पानी को पीलें। आवश्यकता हो तो इसी प्रकार शाम को भी धोवें।

२. बोरिक एसिड ६ माशे स्वच्छ पानी आधा सेर दोनों को स्वच्छ तथा सफेद बोतल में भर कर रखलें। आई गिलास द्वारा उपर्युक्त विधि से आंखों को धोवें। यह पानी ५-६ दिन तक विकृत नहीं होता।

—श्री रघुवीर शरण शर्मा आयुर्वेद वृहस्पति
जाल खेड़ा (बुलन्दशहर) उ० प्र०

पोथकी : : पृष्ठ ९३ का शेषांश

से घर्षण किया जाता है एतदर्थ रोगी को शल्यकर्म पट्ट (operation table) पर लेटा कर आंख में चेतना हर औषध डाल देवें। फिर पारद या टंकण धावन से आंख का प्रक्षालन करें। फिर पलकों का उलट कर यन्त्र (Rasp) से दानों का लेखन कर देवें। फिर सिल्वर आयोडाइड की बूंद आंख में टपका देवें।

२. श्लेष्मावरणीय छेदन (एक्सिजन आफ टारसल कन्जक्टाइवा)—इस शस्त्र कर्म में श्लेष्मावरण व उसके नीचे की रुग्ण भूमि को ही काटकर निकाल देते हैं।

मेरी सफल चिकित्सा—

वर्त्मान्ति पर सुबह सतह सम्मोहन के बाद टंकण धावन से नेत्र प्रक्षालन कर आयुर्वेदीय तुत्थकांजन जिसका कि पूर्व में विवरण दिया जा चुका है, लगाता हूँ।

सायंकाल ड्यूमेक्स की टेराकोटिल आइ आयण्टमेण्ट टंकण धावन से ही प्रक्षालित आंखों में लगाता हूँ।

खाने के लिए प्रति छः घण्टे पर विटामिन बी कम्पलैक्स व सी के साथ लिडर्ले के आरियोमाइसीन कैपसूल।

—श्री डा० रमेश कुमार शास्त्री बी. ए. एम. एस.
साहित्यायुर्वेदाचार्य
श्री सदन, नेछवा (सीकर) राजस्थान
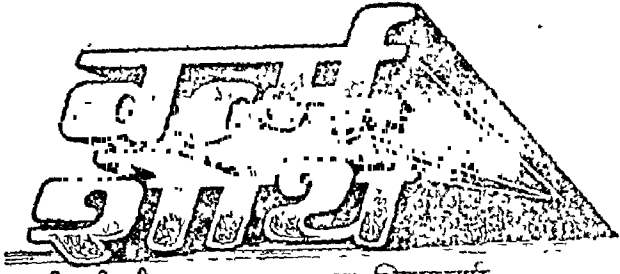
अंग्रेजी के 'ब्लेफेराइटिस' शब्द का अर्थ 'वर्त्म' (पलक) का शोथ है। यह एक व्यापक संज्ञा है। इससे अनेक रोगों का ग्रहण किया जाता है—

१. वर्त्मगत रक्ताधिक्य (Hyperaemia)

२. वर्त्मधारा का शोथ (Blepharitis marginalis or ciliaris)—'वर्त्मशोथ' अथवा 'ब्लेफेराइटिस' शब्द से प्राय: इसी रोग को ग्रहण किया जाता है। व्यवहार हेतु हिन्दी में इसे 'वर्त्मधारा शोथ' या वर्त्म का शोथ कहते हैं।

३. वर्त्मशोफ—यह अनेक कारणों से हो सकता है। जैसे—

(अ) व्रणशोथजन्य—यह अञ्जनामिका (Stye), पूयालस, नेत्रगोलक के रोग, नासाविवर शोथ आदि वर्त्म व उनसे सम्बन्धित अवयवों की विकृति के कारण होता है।

(आ) अभिघातज और कीटदंशज

(इ) सार्वदैहिक रोगजन्य—यथा वृक्क, चुल्लिका व हृदय के रोग और ट्रिकिनोसिस में मिलता है।

(ई) अव्रणशोथात्मक —जैसे— Angio-neurotic या Allergic Oedema.

(उ) त्वग्रोग —यथा—वर्त्मीय त्वचा की विचर्चिका (एक्जिमा) त्वक्शोथ आदि।

(ऊ) पक्ष्मों व पक्ष्ममूल में पराश्रयी जन्तुजन्य आश्रय से भी वर्त्मधारा शोथ हो सकता है। इसे Phthiriasis Palpebrum कहते है ('क्रमि ग्रन्थि' से तुलना कीजिए) जो Phthirus pubis के कारण होता है।

प्राचीनों ने जिन वर्त्म रोगों का उल्लेख किया हैं (सुश्रुत ने २१, वाग्भट ने २४ वर्त्म रोग बताये हैं) उनको मोटे तौर पर विकृति के स्वरूप के आधार पर निम्न विभागों में बांटा जा सकता है—

१. वर्त्मीय कला (Palpebral Conjunctiva) की शोथात्मक विकृतियां। जैसे—

(१) पोथकी, (२) वर्त्मशर्करा, (३) अर्शोवर्त्म, (४) शुष्कार्श। ये एक ही रोग की भिन्न-भिन्न अवस्थायें कही जा सकती हैं।

२. वर्त्मगत ग्रन्थियों के रोग—(१) उत्संगिनी, (२) कुम्भीक पिडिका, (३) अंजननामिका, (४) बहल वर्त्म और (५) लगण।

३. वर्त्मगत शोथरूपी विकार—(१)वर्त्मबन्ध, (२) क्लिष्टवर्त्म, (३) वर्त्मकर्दम (४) श्याववर्त्म, (५) क्लिन्न वर्त्म, (६) अक्लिन्नवर्त्म, (७) विसवर्त्म।

४. नाड़ी (व मांसपेशी) विकृतिजन्य रोग—(१) वातहत वर्त्म (२) निमेष।

५. अर्बुद व अर्श—(१) वर्त्मार्बुद, (२) वर्त्मार्श।

६. पक्ष्मरोग—पक्ष्मकोप। वाग्भट ने 'पक्ष्मशात' नामक नवीन रोग भी बताया है।

उपर्युक्त में से वर्त्मशोथात्मक विकृतियों को स्पष्टतया आधुनिक मतानुमोदित 'वर्त्मशोथ' या 'ब्लेफेराइटिस' के अन्तर्गत लिया जा सकता है। इन शोथात्मक विकारों का पुन: नव्यमतानुसार निम्न प्रकार से समन्वित वर्गीकरण प्रस्तुत किया जा सकता है—

अपाकी वर्त्मशोथ—

१. वर्त्मबन्ध—Angio-neurotic Oedema or allergic oedema.

१. क्लिष्टवर्त्म—Systemic Oedema of lids.

३. वर्त्मकर्दम—Oedema of lids का द्वैतीयक संक्रमणजन्य सपाकी (Inflammatory) प्रकार।

४. श्याव वर्त्म—अभिघातज और कीटदंशज शोथ (Sting of insect).

सपाकी वर्त्मशोथ—

५. प्रक्लिन्नवर्त्म (Ulcerative Blepharitis)

६. अक्लिन्नवर्त्म (Squamous Blepharitis)

यह समन्वयात्मक दृष्टिकोण मुख्य लक्षण-साम्य पर आधारित है, पूर्णतया समन्वित है।

ज्ञातव्य—कुछ विद्वान्, जैसे आचार्य श्री विश्वनाथ द्विवेदी आदि, वाग्भट्टोक्त 'पक्ष्मशात' रोग से Blepharitis का ग्रहण करते हैं (इसका सुश्रुत ने वर्णन किया है)। यह उपर्युक्त निर्धारित मान्यता के आधार पर युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता है। पक्ष्मशात रोग पित्तज व्याधि है और इन्द्रलुप्त की भांति ही पित्त पक्ष्मों के गिरने में कारण है। वहां शोथ जैसी स्थिति नहीं बनती, अतः वर्त्मान्तशोथ (Blepharitis), जिसमें वर्त्मधारागत शोथ व व्रण के कारण पक्ष्म भी गिरते हैं, को 'पक्ष्मशात' नहीं माना जा सकता। साथ ही, 'पक्ष्मशात' अपाकी अवस्था है। वर्त्मान्तशोथ (Blepharitis) में पक्ष्म गिरने पर पुनः प्रायः अविकृत रूप में (कभी-कभी भीतर मुड़े हुए) निकल आते हैं।

वर्त्मशोथ या वर्त्मान्तशोथ—

जैसा कि ऊपर बताया गया है, व्यवहार में प्रायः 'वर्त्मशोथ' या 'वर्त्मान्तशोथ' या Blepharitis शब्द से 'वर्त्मधारा' या 'वर्त्मान्त शोथ (Blepharitis Marginalis) का ही ग्रहण किया जाता है। प्रस्तुत लेख में इसका ही वर्णन किया जावेगा।

परिचय—यह नेत्र की एक सामान्य व्याधि है, जो विशेषकर बच्चों में मिलती है। यह वर्त्मधारान्तर्गत स्थान की जीर्णशोथात्मक अवस्था है, जिसमें वर्त्मधारा लालिमायुक्त, मोटी और सूजी हुई होती है। साथ ही उस पर शल्क (Scales) और पपड़ी या खुरण्ड (Crust) भी पाये जाते हैं। रोग की भयंकर दशा में वर्त्मधारा पर पर्त से ढंके हुए व्रण पाये जाते हैं। और शोथ का प्रसार बाहर त्वचा पर तथा भीतर वर्त्मीय श्लैष्मिक कला पर पाया जाता है। इसके साथ स्वच्छमण्डल (Corneal) सम्बन्धी उपद्रव (सव्रण शुक्र आदि) भी मिलते हैं।

संक्षेप में यह वर्त्मधाराओं की जीर्ण व्रणशोथात्मक अवस्था है।

प्रकार—

इसके दो प्रकार मिलते हैं—

१. व्रण युक्त २. व्रण रहित।

नैदानिक दृष्टि से रोग की अनेक अवस्थायें मिलती हैं—जैसे—

१. Blepharitis oleosa—वर्त्मधारा पर तैलीय पर्त जम जाती है, जिसके नीचे व्रण नहीं पाये जाते।

२. Blepharitis Squamosa—वर्त्मधारा पर श्वेत या पीताभ शल्कमय शुष्क पपड़ी जम जाती है, किन्तु व्रणोत्पत्ति नहीं होती।

३. Blepharitis ulcerosa—वर्त्मधारा पर पीताभ पर्त जम जाती है, जिसके उखड़ने पर नीचे व्रण पाये जाते हैं।

४. Blepharitis angularis—वर्त्मधारा के शोथ के साथ बाह्य व अन्तः नेत्रकोण (Canthi) पर लालिमा व शोथ पाया जाता है।

उपर्युक्त प्रथम प्रकार एक प्रकार का त्वग् रोग है, जिसे Seborrhic dermatitis कहते हैं।

द्वितीय व तृतीय प्रकार—स्टेफिलोकोकस-संक्रमण जन्य है और वस्तुतः एक ही रोग की दो अवस्थायें हैं—अव्रणयुक्त या शल्कमय और सव्रण।

चौथा प्रकार—'कोणीय वर्त्मशोथ' का कारण वर्त्मधारा में 'मोरेक्स एक्सनफिल्ड दण्डाणु' का संक्रमण है।

प्रथम और चतुर्थ प्रकार स्वतन्त्र रोग नहीं हैं और इनका वर्णन यहां अपेक्षित नहीं है।

अतः वर्त्मशोथ के अन्तर्गत अवशिष्ट दो प्रकार का ही वर्णन करेंगे, जो जीवाणुजन्य व्रण शोथयुक्त दशायें हैं।

लक्षण और चिह्न—

सभी प्रकार के वर्त्मशोथ के रोगियों में असुविधा, अश्रुस्राव और प्रकाशसंत्रास लक्षण मिलते हैं, किन्तु वेदना नहीं मिलती। वर्त्मधारायें लाल, शोथयुक्त होती हैं। उन पर श्वेत व पीताभ स्राव मिलता है और पक्ष्मों के गिरने की प्रवृत्ति पाई जाती है। ये सामान्य चिह्न हैं।

प्रकार के अनुसार अन्य स्थानिक चिह्नों में भेद पाया जाता है।

१. शल्कमय या व्रणरहित शोथ—इसमें वर्त्म की धारा लाल व सूजी हुई होती है। पक्ष्मों की भूमि (Base)

में अनेक श्वेताभ शल्क बन जाते हैं। पक्ष्म (Lashes) शीघ्र गिर जाते हैं किन्तु फिर उग आते हैं। शल्कों को हटाने पर लालशोथयुक्त स्थान दिखाई हैं, परन्तु व्रण नहीं पाये जाते।
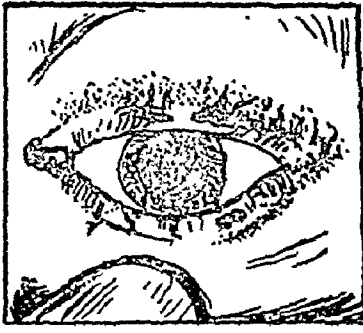
२. व्रणयुक्त शोथ—वर्त्मधारा लाल व शोथयुक्त होती है। उन पर पीताभ पपड़ियां पायी जाती हैं, जिससे पक्ष्म परस्पर चिपके हुए दिखाई देते हैं। पपड़ियों को हटाने पर छोटे-छोटे व्रण मिलते हैं, जिनसे रक्त निकलने लगता है। पक्ष्म मुड़ जाते हैं, गिरते हैं और पुनः कम प्रमाण में निकलते हैं, क्योंकि उनके पक्ष्मकोण (Hair Follicles) नष्ट हो जाते हैं।

कुछ विद्वान् 'वर्त्मान्त शोथ' के लाक्षणिक अवस्था की दृष्टि से पुनः दो प्रकार मानते हैं—तीव्रशोथ (Acute) और जीर्ण (Chonic) शोथ।

१. तीव्र वर्त्मान्त शोथ—स्थानिक त्वचा और नेत्र सम्बन्धी विकृतियों से उत्पन्न होता है जैसे फिलक्टेन्युलर अभिष्यन्द, चेहरे की विचर्चिका आदि। संक्रमण के प्रसार को वर्त्मधारा पर्यन्त रोकने का उपाय करना चाहिए। जब समीपवर्ती शोथयुक्त धातुयें प्राकृत हो जाती हैं तब वर्त्मान्त शोथ भी समाप्त हो जाता है।

२. जीर्णशोथ—रोगियों में प्रायः कोई लक्षण पैदा नहीं होते। किन्तु कुछ रोगियों में हल्का शोथ, नेत्रशोथ व प्रकाश संत्रास मिलते हैं। दोनों वर्त्मधारायें लाल, रक्ताधिक्ययुक्त, वर्त्म पक्ष्मों के नीचे खुरण्ड या पपड़ी जमी हुई मिलती हैं और कुछ रोगियों में प्रातः सोकर उठने पर पलकें चिपकी हुई मिलती हैं। भयंकर दशाओं में वर्त्मधारा मोटी और कठिन हो जाती है, पक्ष्म गिरते हैं। कभी-कभी व्रण भी पाये जाते हैं।

प्राच्यमत—जैसाकि पूर्व में लिख चुके हैं कि ब्लेफेराइटिस या वर्त्मान्तशोथ रोग के अन्तर्गत आयुर्वेदोक्त प्रक्लिन्न वर्त्म और अक्लिन्न वर्त्म संज्ञक दो वर्त्म रोगों का समावेश होता है।

१. प्रक्लिन्न वर्त्म—यह बाहर से शोथयुक्त और पीड़ाहीन होता है, किन्तु भीतर से क्लेद व स्राव से युक्त होता है, अतः इसे 'क्लिन्न या प्रक्लिन्नवर्त्म' कहते हैं। कण्डू व तोद की बहुलता होती है (सुश्रुत)। यह कफज व्याधि है।

अरुजं बाह्यतः शूनमन्तः क्लिन्नं।
कण्डूनिस्तोदभूयिष्ठं क्लिन्नवर्त्म तदुच्यते॥

—सु० उ०

माधवकर ने लिखा है—

अरुजं बाह्यतः शूनं वर्त्म यस्य नरस्य हि।
प्रक्लिन्नवर्त्म तद्विद्यात् क्लिन्नमत्यर्थमन्ततः॥

—मा. नि. ५१

आचार्य चक्षुष्य ने इसे 'पिल्ल' कहा है (वाग्भट ने 'पिल्ल' संज्ञा से चिरकारी अष्टादश नेत्ररोगों का ग्रहण किया है)। किन्तु विदेह ने 'अक्लिन्नवर्त्म' को 'पिल्ल' संज्ञा दी है। वस्तुतः दोनों एक ही रोग (वर्त्मान्त शोथ) की दो भिन्न संज्ञा हैं। अतः आचार्यों का मतभेद स्वतंत्रानुरोधी है।

श्रीकण्ठदत्त ने वाग्भट्टोक्त 'कफोत्क्लिष्ट वर्त्म' को ही 'प्रक्लिन्न वर्त्म' माना है। वस्तुतः वाग्भट ने क्लिन्न वर्त्म नामक रोग का वर्णन नहीं किया है।

इस विवेचन के आधार पर इसे 'वर्त्मान्त शोथ' का व्रणयुक्त प्रकार माना जाता है। 'अन्ततः' (मा. नि.) शब्द का अभिप्रायः भीतर से या वर्त्मधारा के अन्तर्गत किया जाना चाहिए।

२. अक्लिन्नवर्त्म—जिसमें पलकें बार-बार धोने से भी चिपक जाती हैं और उनमें पाक नहीं होता, उसे अक्लिन्न वर्त्म कहते हैं। यह सन्निपातज व्याधि है।

(सुश्रुत)

यस्य धौतानि धौतानि सम्बध्यन्ते पुनः पुनः।
वर्त्मान्यपरिपक्वानि विद्यादक्लिन्नवर्त्म तत्॥

—सु० उ० ३

माधवकर के वचनों में कुछ अन्तर है—

'यस्य धौतानि अधौतानि' (शेष सुश्रुतवत्) अर्थात् वर्त्म बार-बार धोने पर या बिना धोये ही चिपक जाते हैं।

वाग्भट ने इसे पिल्लसंज्ञक रोगों में परिगणित किया है क्योंकि यह एक चिरकारी व्याधि है। विदेह ने अक्लिन्न वर्त्म को ही 'पिल्ल' बताया है।

प्रक्षालिते यदा मृष्टे आनह्योते पुनः पुतः।
अपरिक्लिन्नवर्त्मानं पिल्लाख्यमिति निर्दिशेत् ॥
(डल्हण और श्रीकण्ठदत्त द्वारा उद्धृत विदेह वचन)

उल्हण में 'पिल्ल' शब्द को 'उपदेह' या 'नेत्रमल' का सूचक माना है, जो प्रत्यक्ष में वर्त्मधारा पर जमने वाली पपड़ी या शल्क के रूप में मिलता है।

उपद्रव एवं दुष्परिणाम (Sequelae)–

प्रायः वर्त्मान्तिशोथ के कारण निम्न उपद्रव या दुष्परिणाम होते हैं—

१. पक्ष्मों का पूर्णत या लोप या अनुपस्थिति (Madarosis)।

२. वर्त्मधारा का मोटा हो जाना (Hypertrophy of lid-margin or tyosis).

३. शोथ के कारण वर्त्म के भीतर मुड़ने (Ectropian) और पक्ष्म के भीतर मुड़ जाने से और उसी रूप में बढ़ने से (Distorted growth, trichiasis) नेत्रगोलक, विशेषकर स्वच्छमण्डल (कार्निया) पर निरन्तर क्षोभ और उसका विनाश।

कारण—

(अ) सहायक कारण—

१. गन्दी और अस्वास्थ्यकर परिस्थितियां (बाह्य और शारीरिक), यथा सामान्य दौर्बल्य, कुपोषण और अस्वास्थ्यकर व्यवसाय।

२. चेचक आदि का निकलना।

३. धूप और धूलि से युक्त वायु मण्डलों में रहना।

४. जीर्ण अभिष्यन्द।

६. दृष्टि दोष।

६. स्वेदाधिक्य (Seborrhoea)–यह बड़ों में वर्त्मान्तशोथ का सामान्य कारण है। वर्त्म की त्वचा और ललाट पर पसीना होना।

७. त्वगरोग, यथा–Acne yorsacea।

८. नासा रोग।

९. क्षोभक शृङ्गार सामग्री का चेहरे व वर्त्म पर प्रयोग।

१०. चर्म जुओं (Pediculii) की उपस्थिति।

११. पक्ष्मों व पक्ष्ममूल में पराश्रयी जन्तुजन्य आश्रय जिसे Phthiriasis palpabrum कहते हैं, से भी वर्त्मशोथ हो जाता है।

(आ) मुख्य कारण—

इसका मुख्त कारण स्टेफिलो कोकस जीवाणुओं का संक्रमण है जो वर्त्मधारा की ग्रन्थियों में होता है।

वय—यह किसी भी वय के व्यक्तियों में पाया जा सकता है, परन्तु बच्चों में अधिकतर मिलता है।

सामान्य चिकित्सा—

१. सामान्य स्वास्थ्य को उन्नत करने का प्रयत्न करें। पौष्टिक आहार और शुद्ध वायु सेवन अपेक्षित है।

२. दृष्टिदोष, यदि कोई हो तो उसे (चश्मे आदि के प्रयोग से) ठीक करना।

३. कपाल के स्वेदाधिक्य के कारण वर्त्मान्तशोथ बार-बार हो रहा हो, तो बालों को नियमित कटवाते रहें।

४. स्टेफिलो कोकस जीवाणुओं के प्रति रोगी की क्षमता बढ़ाने के लिए टोक्सोइड या अविशिष्ट सूचीवेधों का प्रयोग करना चाहिए।

प्राच्य मत—

सुश्रुत ने 'प्रक्लिन्न' और 'अक्लिन्न वर्त्म' दोनों रोगों को औषधिसाध्य माना है और सामान्यतया स्वेदन व ग्राही औषधियों का प्रयोग बताया है।

वाग्भट ने 'कफोत्क्लिष्ट वर्त्म' में लेखन कर्म लिखा है।

—कविराज श्री राजेन्द्रप्रकाश भटनागर एम. ए.
भिषगाचार्य आयुर्वेदाचार्य, एच. पी. ए.,
प्राध्यापक—राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, उदयपुर (राज.)

परिचय—इस रोग का वर्णन सुश्रुतसंहिता में नहीं मिलता। सर्वप्रथम वाग्भट्ट ने इसे लिखा है, उसी के पाठ का अनुसरण करते हुए माधवनिदान में भी इसका लक्षण दिया गया है।

पर्याय—पक्ष्मशात, पक्ष्मसदन।

सम्प्राप्ति लक्षण

यह एक 'वर्त्म रोग' है। मुख्य विकृति वर्त्मगत 'पक्ष्ममूलों' में होती है। यह 'पैत्तिक' रोग है, कफ का भी इसमें अनुबंध रहता है।

करोति कण्डूं दाहं च पित्तं पक्ष्मान्तमास्थितम्।
पक्ष्मणां शातनं चानु पक्ष्मशातं वदन्ति तम्॥

—अ० हृ० उत्तर ८।६

पक्ष्मान्तमिति पक्ष्ममूलम्। शदनमित्युन्मूलनम्।

(शिवदास सेन कृतं तत्व बोधनी टीका)

पित्तं पक्ष्मान्तमास्थितं कण्डूं दाहं च करोति। अनु पश्चात् पक्ष्मशातं करोति तं पक्ष्मशातं। (अरुणदत्त टीका)

वर्त्मपक्ष्माशयगतं पित्तं रोमाणि शातयेत्।
कण्डूं दाहं च कुरुते पक्ष्मशातं तमादिशेत्।

—मा० नि० ५६।६६

मधुकोष टीका—पक्ष्माशयोऽत्र पक्ष्ममूलं,शातयेदुन्मूलयेदिति। अयं च कफपैत्तिकः कण्डूदाहवत्त्वात्...... पक्ष्मणां वर्त्माश्रयत्वादयमपि वर्त्मरोग एव।

वर्त्म की धारा (किनारे) पर स्थित पक्ष्माशय पक्ष्ममूल में रहने वाला पित्त- कफ से अनुबन्धित हो प्रथम कण्डू और दाह उत्पन्न करता है। इसके बाद 'पक्ष्मशात' करता है अर्थात् पक्ष्म (बाल) गिर जाते हैं।

नव्यमत—आधुनिक दृष्टि से इसे 'मेडेरोसिस (Madarosis) कहा जा सकता हैं, जो वर्त्मधारा शोथ (ब्लेफेराइटिस) का उपद्रव है।

अथवा पक्ष्मशात को पक्ष्ममूल में स्थित सूक्ष्म कीटों से उत्पन्न व्याधि कहा जाना चाहिए। इनके कारण वर्त्मधारा पर खुजली व जलन होती है तथा बाल गिरते जाते हैं।

चिकित्सा

पक्ष्मणां सदने सूच्या रोमकूपान् विघर्षयेत्।
ग्राहयेद्वा जलौकोभिः पयसेक्षुरसेन वा॥
वमनं नावनं सर्पिः श्रतं मधुरशीतलैः।
संचूर्ण्य पुष्पकासीसं भावयेत् सुरसारसैः।
ताम्रे दशाहं परमं पक्ष्मशाते तदञ्जनम्॥

—अ० हृ० उत्तर ६।१६-२०

शिवदाससेन कृत तत्वबोध टीका—विघर्षयेदिति कुट्टयेत्। पयसा इक्षुरसेन वा वमनमित्यन्वयः। मधुरशीतलैः शृतं सर्पिनविनमित्यर्थः। सुरसा तुलसी निर्गुण्डी वा।

अरुणदत्तकृत सर्वांगसुंदरी टीका—रोमकूपान् रोममूलानि सूच्या विकुट्टयेत्। जलौकोभिः ग्राहयेत्। क्षीरेणेक्षुरसेन वा वमनं हितम्, मधुरशीतलैर्द्राक्षादिभिः पक्वं घृतं नावनं हितम्। पुष्पकासीसं संचूर्णयित्वा ताम्रपात्रे दशाहं सुरसारसै समूर्वारसैर्भावयेत्। तदेतत्पक्ष्मशाते श्रेष्ठमञ्जनम्।

—शेषांश पृष्ठ १०४ पर देखें।

कविराज जी की 'धन्वन्तरि' पर सुकृपा सदैव ही रही है। नेत्र रोगों पर आपने इस विशेषांक में प्रकाशनार्थ चार लेख भेजे हैं जो सभी उत्तम हैं तथा प्रकाशित किये जा रहे हैं। यह चारों ही लेख आपकी विद्वता तथा उत्तम लेखन शैली के द्योतक हैं।

पक्ष्मशात उपचार हेतु आपने एक अञ्जन का वर्णन किया है। उसमें कुछ संदिग्धता भी है। अच्छा होता आप कोई ऐसा अंजन लिखते जिसमें कोई संदिग्धता न होती तथा उसे प्रयोग कर वैद्य समाज उपकृत होता। हमारे विचार से सुरसा से तात्पर्य तुलसी से ही लिया जाना अधिक उपयुक्त है। निर्गुण्डी का विशेष कर्म वातशामक है जबकि यह पैत्तिक रोग माना गया है।

—दाऊदयाल गर्ग

अञ्जन नामिका (गुहेरी)

डा० वेद प्रकाश शर्मा

बन्धुवर वेदप्रकाश जी मेरे सहपाठी, तथा अभिन्न मित्र हैं। अत्यन्त आग्रह पर यह लेख प्रेषित किया है। आप राजकीय आयु० चिकित्सालय मांट में चिकित्सा-धिकारी हैं। आप चिकित्सा में शुद्ध आयुर्वेद के पक्षधर हैं जोकि आपके इस लेख से ही परिलक्षित होता है। आपने जो चिकित्सा लिखी है वह अनुभूत है, केवल पढ़कर या अनुमान से नहीं लिखी। अतः निःसंकोच लाभ उठाया जा सकता है। "धन्वन्तरि" को आपसे अभी और अपेक्षायें हैं। भगवान आपको चिरायु करें।

—दाऊदयाल गर्ग

सुश्रुत ने नेत्र में पाँच मण्डल (पक्ष्म मण्डल, वर्त्म मण्डल, श्वेत मण्डल, कृष्ण मण्डल तथा दृष्टि मण्डल) बताये हैं। यह अंजन नामिका वर्त्म मण्डल की व्याधि है।

वर्त्म अर्थात् पलक में आगे की ओर त्वचा तथा पीछे की ओर पतली झिल्ली तथा नेत्रच्छद कला होती है। इन दोनों के बीच में ग्रन्थियाँ, मांस पेशियां, रक्तवाहिनियाँ तथा नाड़ियाँ होती हैं और यह सब संयोजक तन्तु से बंधे रहते हैं और एक प्लेट सी बनाते है। पलक की त्वचा ढीली तथा पतली होती है। इसके नीचे चर्बी नहीं होती। पलक के आगे के किनारे पर बाल होते हैं। और इन बालों की जड़ों के पीछे छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ होती है जिनको जीस ग्रन्थि (Zeis Clands) तथा मौलस ग्रन्थि (Mollus Glands) कहते हैं। इन जीस ग्रन्थियों में शोथ होने पर पलक के किनारे पर एक छोटी पिड़का सी निकलती है। इसी को अंजन नामिका (गुहेरी) कहते हैं।

> दाह तोदवती ताम्रा पिड़का वर्त्म सम्भवः।
> मृद्वी मन्दरुजा सूक्ष्माज्ञेया साञ्जन नामिका॥

अर्थात् दाह (जलन), तोद (चुभने वाली पीड़ा) से युक्त ताम्र वर्ण वाली, कोमल तथा मन्द वेदना वाली जो छोटी पिड़का पलक में होती है। इसे अञ्जन नामिका कहते हैं।

रोग के शुरू में यह ग्रन्थि शोथ युक्त, कड़ी तथा पीड़ा से युक्त होती है। पलक का किनारा सूज जाता है। और २–३ दिन में उसमें पीव (पूय) पड़ जाता है और
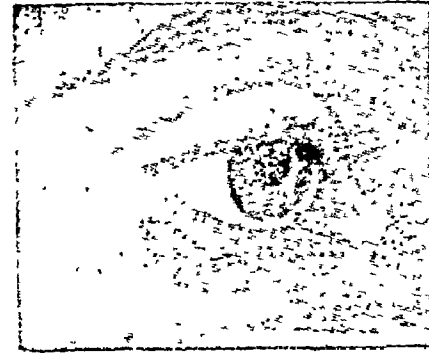
विद्रधि बन जाती है। समीप के वाल के नीचे विद्रधि का मुंह बनता है। और जब तक पीव निकल नहीं जाता पीड़ा बनी रहती है। कभी कभी शोथ समीप की ग्रन्थि को भी दूषित कर देता है। इस स्थिति में यह अञ्जन-हारी एक के वाद एक निकलती रहती हैं—

चिकित्सा

सुश्रुत ने अञ्जननामिका को भेदन योग्य नेत्र रोगों में गिना है।

श्लेष्मोपनाह लगणौ च विसं च भेद्या।
ग्रन्थिश्च यः कृमिकृतौ अंजन नामिका॥

अञ्जन नामिका रोग होने पर स्वेदन करके मृदु होने पर भेदन करके धीरे से दवाकर इसके दोष पीव को निकाल देना चाहिए। इसके बाद मनःशिला, इलायची, तगर और सैन्धव लवण का महीन चूर्ण शहद में मिलाकर प्रतिसारण करें।

स्विन्नां भित्वा विनिष्पीड्य भिन्नामंजननामिकां।
शिलैलामतसिन्धुत्थैः सक्षौद्रैः प्रतिसारयेत॥

इसकी प्रारम्भिक अवस्था में उष्ण परिषेक करें। इसके लिए बोरिक एसिड का प्रयोग किया जा सकता है। पाक होने पर सम्बन्धित वाल को निकाल देने से पीव निकल जाता है। अन्यथा इसका भेदन करना होता है।

शुरू में जब पाक न हुआ हो तब बोरिक एसिड से परिषेक करके चन्द्रोदय वर्ति पानी में घिसकर लगाने से यह बैठ जाती है। यह अनुभूत है।

तथा साथ में कांचनार गुग्गुल, सप्तामृत लोह खाने को देना चाहिए। आधुनिक सल्फाड्रग का तथा एन्टी बायोटिक्स को यदि प्रयोग करें तो शोथ और भी शीघ्र ठीक हो जाता है।

यदि यह अञ्जननामिका एक के वाद एक निकलती रहती है तो रोगी को स्वास्थ्यवर्धक चिकित्सा दें।

—श्री डा० वेदप्रकाश शर्मा ए., एम. बी. एस.
राजकीय आयु० चिकित्सालय,
मांट (मथुरा)

पक्ष्मशात : : पृष्ठ १०२ का शेषांश

स्थानिक उपचार—

शस्त्रकर्म—रोमकूपों में सुई से छेदकर रक्तमोक्षण करें। अथवा—जलौका (जौंक) से पकड़वाकर रक्त मोक्षण करें।

अंजन—पुष्पकासीस (जिंक आक्साइड) के चूर्ण को ताम्रपात्र में डालकर दस दिन तक सुरसा के स्वरस से भावना देकर अंजन तैयार करें। इसका अंजन पक्ष्मशात में उत्तम है

विशेष—'सुरसा' का अर्थ शिवदास सेन ने 'तुलसी' या 'निर्गुण्डी' तथा अरुणदत्त ने 'तुलसी' और 'मूर्वा' किया है।

सार्वदैहिक उपचार—

१. **वमन**—दूध या इक्षुरस आकण्ठ पिलाकर वमन करायें।

२. **नावन** (नस्य)—द्राक्षा आदि मधुर शीतल द्रव्यों से सिद्ध घृत से नस्य करें।

यह एक शस्त्रसाध्य 'लेख्य' रोग है। लिखा है—
'कुट्टयेत्पक्ष्मसदनं' —अ० हृ० उत्तर, ८।२६

—कविराज श्री राजेन्द्रप्रकाश भटनागर
प्राध्यापक—राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय,
उदयपुर (राज०)

नेत्रवैद्य शिरोमणि
श्री डा॰ इन्द्रभान सी॰ भटनागर

श्री भटनागर जी आयुर्वेद पद्धति से शल्य कर्म करते हैं। प्रस्तुत लेख अनेकों शल्य कर्म के पश्चात् आपने लिखा है जिससे अत्युत्तम बन पड़ा है। साथ ही आधुनिक विज्ञान से आपने समन्वय भी किया है। पक्ष्म कोप (परबाल) पर आपने लेख प्रकाशित करने हेतु प्रेषित किया है जोकि ज्ञानवर्धक एवं रोचक सामग्री प्रदान करता है। आशा है कि पाठक लाभान्वित होंगे।

—सम्पादक

मैं एक लेख 'पक्ष्म कोप' (परवाल) पर संज्ञाहर औषध प्रयोग बिना का शस्त्रकर्म प्रगट कर रहा हूं। सुश्रुत में जितने नेत्र शस्त्रकर्म हैं ये बिना संज्ञा शून्यतोत्पादक औषध के, बिना तकलीफ सफल होते हैं। हमारे मिश्रित कोर्स के वैद्यों व आयुर्वेद चिकित्सकों में यह भ्रम आधुनिकों द्वारा उत्पन्न किया गया है। वह एक पत्थर के थम्बे को अँधेरे में भूत कह कर बच्चे को डरा देने के समान है। अब आप सिद्धहस्त क्रिया कुशल अनुभवी नेत्र वैद्यों का प्रत्यक्ष शस्त्रकर्म देखेंगे तो ये भूत रूपी भ्रम शीघ्र ही मिट जायगा। डा॰ हर्स वेबर्ग आफ बर्लिन ने भारत के इतिहास में, जो कुछ लिखा है वह आज भी सत्य है। उन्होंने लिखा है—

"The transplanting of sensible skin flaps is also entirely an Indian method"

महाशय वेबर अपने ग्रन्थ में लिखते हैं—"In surgery to the indians seem to have attained a special proficiency and in this department Europeon surgeons might have perhapes even at the present day will learn somethiog from them as indeed they have already borrowed the operation of Rhinoplasty from them."

इससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल में सुश्रुत का नेत्र सर्जरी पक्ष्म कोप शस्त्र कर्म में जीवित त्वचा को काटकर पुनः जोड़ना असत्य नहीं था। आज भी जीवित त्वचा बिना तकलीफ के काटकर जोड़ दी जाती है। इसका उदाहरण इस शस्त्र कर्म से आपको मिलेगा।

पूर्वरूप—रोगी बार-बार पोथकी (ट्रकोमा) रोग से पीड़ित होता है। यह पित्तादि दोषों से उत्पन्न होता है। जब इस रोग की रोगी अवहेलना करता है तब यह रोग पक्ष्मकोप में परिणित हो जाता है। इसका मूल कारण पोथकी ही है।

रूप—इस रोग के कारण वर्त्म के नीचे के स्तर में टारसल (Tarsal) के ऊपर के भाग में वात पित्त दोष के कारण मांसवृद्धि हो जाती है और मोटी हो जाती है। उसकी ऊपरी मुलायम त्वचा अब टारसल तक नरम नहीं रहती। इस कारण उस वर्त्म की पक्ष्म वल्ली (Eyelashes) आँख के भीतर की ओर मुड़ जाती हैं। वह पक्ष्मवल्ली नेत्र गोलक के स्वच्छ पारदर्शक स्वच्छ पटल (Cornea) को स्पर्श करने लगती है। इससे सदा अश्रु स्राव बना रहता है। बार-बार स्पर्श से कोर्निया अपारदर्शक बनकर शुक्र

(Opacity) के रूप में परिणित हो जाता है। बहुत से लोगों में वर्त्म की पक्ष्मबल्ली के कुछ भीतर भी बाल उगते हैं जो नेत्र गोलक में स्पर्श करने पर भयंकर पीड़ा करते हैं अतः रोगी चीमटी[१] द्वारा उन बालों को उखड़वाते रहते हैं परन्तु वे तीसरे दिन पुनः उत्पन्न होते हैं और पीड़ा करने लगते हैं। इस प्रकार बार-बार बालों को उखड़वाने से पक्ष्मबल्ली मोटी हो जाती है और भीतर मुड़ जाती है।

इस प्रकार नेत्र में निरन्तर अश्रुस्राव बना रहता है।

याप्यः पक्ष्मोपरोधश्च, रोमोद्धरण लक्षणैः।
वर्त्मन्युपचितं लेख्यं स्राव्यमुत्क्लिष्ट शोणितम्॥
—सुश्रुत

कारण—

पृथग्दोषा समस्ता वा यदा वर्त्म व्यपाश्रयाः।
.... विकाराञ्चन ....बोधत॥
—सु. उ. अ. ३ श्लोक ३।४
दोषाः पक्ष्माशय गलास्ती.... ....स उच्यते॥
—सु. उ. अ. ३ श्लोक २९-३०

अर्थात् पक्ष्माशय (बालों की जड़) में पहुंचे दोष पलकों के बालों को आगे से तीक्ष्ण और कर्कश बना देते हैं। इनकी रगड़ पड़ने पर आँख दुखती हैं। बार-बार बालों को उखाड़ने से रोगी को शांति मिलती है। रोगी वायु, धूप, अग्नि से द्वेष करता है। इस रोग को पक्ष्मकोप कहते हैं।

चिकित्सा -

यह रोग याप्य है। इसके शमनार्थ हमारे शास्त्र में चार कर्म बतलाये हैं—

(१) भेषज कर्म—लेखन अंजनों द्वारा अथवा गूंद के प्रयोग से अन्तर्मुख वालों की पंक्ति का रुख बाहर की ओर ऊपर की पलक तरफ चिपकाकर कर देना। इस प्रकार बाल बहिर्मुख होने से रोगी को शांति मिलेगी तथा बड़े होने पर वे सदा के लिए बाहर की ओर ही रहेंगे।

(२) दाह कर्म, (३) क्षार कर्म—दो चार बालों के अन्तः मुख होने पर चिमटी (Cilia Forceps) द्वारा बालों को उखाड़ कर उनकी जड़ों को स्वर्ण के तप्त तार द्वारा दाह कर्म कर दो अथवा उसमें क्षार का लेपन करदो जिससे रोग पुनः उत्पन्न न हो (चक्रदत्त)। एलोपैथी में विद्युत द्वारा दाह कर्म [Cautrisation] कहते हैं।

(४) शस्त्र कर्म—पक्ष्म कोप याप्य रोग है—उसको नष्ट करने के दो प्रकार हैं—प्रथम सौश्रुतीय, आधुनिक. इन दोनों शस्त्र कर्मो में केवल भेद इतना ही है कि एलोपैथी में पलक की नीचे की टारसल भी काटकर उसे छोटी करते हैं। रेशम के धागों से सीवन कर्म होता है—ऊपर वैसलीन का रुई का पिचु रख कर पट्टी बांधते है। टारसल काटने के लिए उन्हें पलक में संज्ञाहर औषधि नोवोकेन का त्वचान्तर्गत सूचीवेध करना पड़ता है।

दोष—टारसल (Tarsal) कम कटने पर या ऊपर की पलक कम कटने पर दोष पुनः उत्पन्न होते देखा गया है इससे रोमबल्ली बराबर बहिर्मुख नहीं रहती। रेशम के धागे के प्रयोग से वे त्वचा में चिपक जाते हैं। उनको निकालते समय रोगी को कष्ट होता है। वैसलीन प्रयोग से पलक, भ्रू व पलक के नीचे फुन्सियां होती देखी गई हैं क्योंकि ये अति गरम है।

सुश्रुत ने संक्षेप में निम्न प्रकार से शस्त्र कर्म बतलाया है—स्निग्ध शरीर वाले रोगी को लिटाकर भ्रूवों के नीचे दो भागों में पक्ष्माश्रित में एक भाग को बचा कर कनीनिका (नासा के ओर का भाग) और अपांग (कान की ओर का भाग) के समान बराबर प्रदेश को लक्ष्य में रखते हुए सब स्थानों में बालों की पंक्ति के साथ पलक के ऊपर से अगले (अग्रिम) भाग में जौ (जव) के आकार में त्वचा को तिरछे रूप में शस्त्र से काटें। चर्म को काट कर पलक को अश्व आदि के बाल से वैद्य सावधानी से सीं देवें। फिर मधु और घृत लगाकर शेष चिकित्सा व्रण के समान करें। माथे पर एक पट्टी बांधकर सीं देवें। दूसरी

[१] इसके लिये विशेष चीमटी दाऊ मैडीकल स्टोर्स, अलीगढ़ से उपलब्ध हैं।

पट्टी आंख पर बांध देवें। शस्त्र कर्म के स्थिर हो जाने पर अर्थात् घाव मिल जाने पर वैद्य उन वालों को घावों में से काटकर जो पलक को सीने में वरते गये हैं निकाल लेवें।

— देखिए सुश्रुत उ. अ. १६ श्लोक ३-६

इस प्रकार भी यह रोग शान्त न हो तो वैद्य पलक को उल्टा कर उस पक्ष्मवल्ली को अग्नि अथवा क्षार से जला देवें। —सु० श्लोक ७

अथवा उस पक्ष्म की वल्ली को मूल में से सारी काट देवें। फिर हरड़ के पानी से घिसकर या तुवरक फल से इस शेष किनारे को रगड़ें। इस प्रकार यह रोग सदा के लिये नष्ट हो जायगा। कारण, न रहेगा बांस न वनेगी वांसुरी। —देखिए सु० श्लोक ८

आज जितने भी सुश्रुत के अनुवादक हैं उन्होंने इसे चित्र देकर नहीं समझाया। इससे स्पष्ट है कि या तो वे इस शस्त्र कर्म के कर्माभ्यासी नहीं अथवा दूसरों को समझाने में अपनी कृपणता दिखलाई हो ऐसा जान पड़ता है। चित्र विना पाठक उस शस्त्र कर्म को करने में भय खाते हैं। न आधुनिक आयुर्वेद शिक्षण मण्डल ने इसके प्रैक्टिकल ज्ञान का प्रवन्ध किसी महाविद्यालय में कर रखा है। यही कारण है कि हमारे आयुर्वेदाचार्य वैद्य आधुनिक नेत्र सर्जनों के समक्ष इस चिकित्सा में किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर खड़े रहते हुए देखा है।

परन्तु लेखक ने इस शालाक्य विकास में सुश्रुत के नेत्र के सभी शस्त्र कर्मों को संक्षिप्त रूप में चित्र देकर "सचित्र धन्वन्तरि आदर्श शालाक्य तंत्र" प्रकाशित कर रखा है जो तुलनात्मक है जिसके आधार पर आप आसानी से शस्त्र कर्म करने में सफल हो सकते हैं और इस वैज्ञानिक युग में उन नेत्र सर्जनों के समक्ष तत्सम शस्त्रकर्म में वेधड़क खड़े रह सकते हैं–मंगवा कर पढ़ सकते हैं।

इस वैज्ञानिक युग में जो सुश्रुत संहिता चित्र सहित है वह तो केवल शिक्षित शस्त्र कर्माभ्यासी वैद्यों के लिये एक गुटका (गाइड) है परन्तु अव अशिक्षित अकर्माभ्यासी छात्रों के लिये वैसा शास्त्र नहीं है जैसा आधुनिकों ने सचित्र नेत्र रोग विज्ञान रखा है

लीजिये अव आपके समक्ष इसी शस्त्रकर्म को वैज्ञानिक ढङ्ग से सविस्तार प्रगट करता हूं जिसके अनुसार कोई भी वैद्य निर्भयतापूर्वक इस शस्त्र कर्म को कर सकेगा।

यहाँ इस शस्त्रकर्म में एक विशेष वात स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि इस जीवित त्वचा को काटने में टाँके लगाने में थोड़ी वहुत रोगी को तकलीफ अवश्य पड़ती है वह इतनी नहीं कि उसे चिल्लाना पड़े परन्तु उस तकलीफ को मिटाने के लिये लेखक के अनुभूत औषधि के क्षारों का विलयन वनाकर पलक में आधुनिकों की तरह सूचीवेध कर पलक में चीरा लगाने पर उतनी ही तकलीफ पड़ती है जितनी आधुनिक संज्ञाहर सूचीवेध नोवोकेन से।

(१) यष्टि मधु के क्षार का लोशन वनावें उसमें फिटकरी का मिश्रण कर सूचीवेध तैयार करें।

(२) सरपुंखा क्षार का सूचीवेध तैयार करें। ये दोनों ही आयुर्वेदिक संज्ञाहर और इस शस्त्रकर्म में कम पीड़ा कारक हैं।

वैज्ञानिक ढंग का सुश्रुत का संशोधित शस्त्रकर्म

पूर्वकर्म—रोगी को वमन विरेचन देकर १ दिन पहले शुद्ध० कर लेना चाहिये; दूसरे दिन शस्त्र कर्म के लिये स्नानादि कराकर स्वच्छ शुद्ध रक्षोघ्न धूप से धूपित कपड़े पहनाकर पटोलादि क्वाथ घृत मिश्रित अथवा चाय दूध पिलाकर भूखे पेट ही शस्त्र कर्म के लिये रोगी को तैयार करें।

(२) रोगी का शस्त्र कर्म कक्ष, शय्या व उसका कमरा, विस्तर इत्यादि रक्षोघ्न धूप से धूपित कर शुद्ध करें।

(३) यंत्र व सामग्री-चीमटी (Fixation Forceps), परवाल उखाड़ने की चीमटी (Cilia Forceps), तेजधार की कैंची (Scissors), अर्धवृत्त वाली सूचिका, चाकू, रुई, पट्टी, एप्रिन, ट्रे इत्यादि धूपित कर शुद्ध कर शस्त्र कर्म टेविल के पास रख देना चाहिये। साथ में घृत, मधु (शहद), घोड़े के वाल, जात्यादि तेल इत्यादि आवश्यक वस्तु, उष्ण जल को एकत्र कर रख लेना चाहिए।

अव रोगी को शुद्ध एप्रिन पहनाकर आपरेशन टेवल पर पीठ के वल सीधा लिटावें। उसके शिर के नीचे एक तकिया लगा देना चाहिए। उसका सिर वैद्य की ओर न किये नीचे झुका रहना चाहिए। किडनी ट्रे का उपयोग रक्त एवं खराव रुई के लिये करें। फिर वैद्य शुद्ध वस्त्रों सहित एप्रिन पहनकर रोगी के शिर की ओर अपने सहायक के साथ खड़ा रहे।

प्रधान कर्म—यदि रोगी की एक आंख का शस्त्र कर्म करना हो तो ठीक आँख पर रुई रखकर पट्टी बाँधकर बन्द कर देना चाहिए। दूसरी वेधन करने वाली को खुली रखें। अब रोगी से आँख बन्द कर लेने को कहें। नेत्रवैद्य यष्टिमधु अथवा शरपुँखा क्षार कच्ची फिटकरी मिश्रित उष्ण जल से उस पलक पर अच्छा स्वेद देवें। इस प्रकार स्वेद देने पर रोगी की पलक कुछ शून्य होगी। वैद्य अपने बायें हाथ में चीमटी (Fixation Forceps) लेकर रोगी की उस पलक को बीच में से इस प्रकार पकड़कर उसके ऊपरी मुलायम त्वचा को पूर्ण रूप से ऊपर की ओर खींचे। फिर दायें हाथ में तेज कैंची से उठे हुए भाग की जड़ को पलक में से एक बार में ही काट देवे-चीमटी के बीच रोमवल्ली के पास दो सूत्र भाग छोड़े और शेष भ्रू की ओर उतना भाग स्थिर करके रोमवल्ली का मुंह बाहर को हो जाय होना चाहिए। इस पकार चीरा लगाने पर पलक पर यव के आकार का व्रण बनेगा। फिर उष्ण जल का सींचन करते हुए कटे हुए भाग का मांस पलक की टारसल के निम्न स्तर तक काटकर साफकर देवें। सीचन का कार्य सहायक से लेवें। इस लोशन से रक्त बन्द हो जायगा कारण उसमें फिटकरी रक्त स्तम्भन औषध है।

फिर सहायक अर्धवृत्त टेढ़ी सुई में घोड़े का बाल पिरोकर वैद्य को देवे। वैद्य प्रथम बीच की कटी चमड़ी के किनारों को उन बालों से सी कर जोड़ दे। फिर आजू बाजू शेष भाग को टाँके लगाकर जोड़ देवे। इस प्रकार पांच छः टांके लगाकर पलक के कटे भाग को जोड़कर मिला दें। फिर नेत्र को साफ कर जुड़े हुए भाग पर मधु व घृत मिश्रित कर लगाकर उस पर रुई का पैंड रख दें। टांके के बालों के छोरों को भ्रू के ऊपर ललाट पर खींच कर एक अंगुल चौड़ी पट्टी शिर के चारों ओर बांधकर स्थिर कर दें फिर दूसरी पट्टी नेत्र की पलक पर इस प्रकार बांधें कि अवेध्य आँख खुली रहे।

दूसरी विधि—आधुनिक ढङ्ग पर—

बन्द पलक पर के बीच त्वचान्तर्गत संज्ञाहर औषधि का सूचीवेधन यष्टिमधु सरपुंखा क्षार अथवा नोवोकेन का लगाकर पलक को पूर्ण रूप से फुला देवें। उस पर स्वेद देवें—दस मिनट बाद ही वैद्य एक धार वाले फलक के उस्तरे अथवा चाकू से रोमवल्ली को दो सूत्र छोड़ कनीनिका के पास रोमवल्ली से अपाँग की ओर की रोमवल्ली तक सीधा चीरा लगावें। फिर कनीनिका के चीरा से पलक के ऊपरी भाग भ्रू की ओर दो भाग छोड़कर यव के आकार का चीरा करें। फिर कटे हुए भाग को कैंची से काट देवें। उसके बीच के भाग के मांस को काटकर साफ कर देवें—
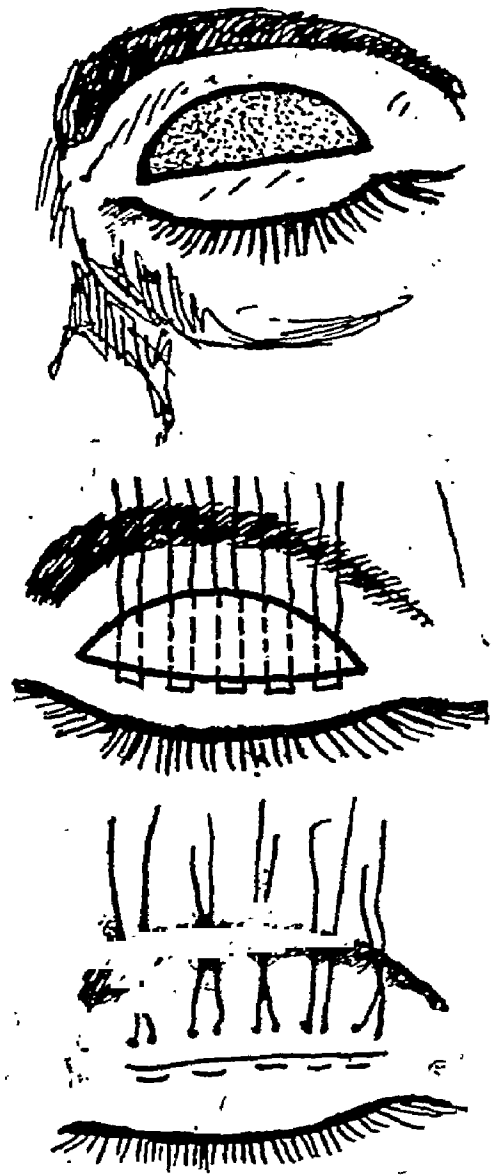
इस प्रकार कटी हुई पलक के दोनों किनारों में घोड़े का बाल किनारों को कुछ छोड़ प्रवेश कर शेष बालों के छोर से गांठ बांधकर कटे हुए भाग को जोड़ देवें। इस प्रकार पलक पर पास-पास टांके लगाकर कटे भाग को जोड़कर उस पर शहद मिश्रित घृत लगा दें। और बचे बालों को पूर्व की तरह पट्टी बांधकर ललाट पर स्थिर करदें। फिर रुई रखकर पट्टी बांध देवें। ये प्रधान कर्म पूरा हुआ।

—शेषांश पृष्ठ ११२ पर देखें।

शुक्लगत रोग

श्री दाऊदयाल गर्ग
-ए.एम.बी.एस सम्पादक 'धन्वन्तरी'

सुश्रुत मतानुसार आँख के शुक्ल भाग में ग्यारह निम्न रोग होते हैं—

१. प्रस्तारि अर्म (Pterygium)
२. शुक्ल अर्म (,,)
३. क्षत अर्म (,,)
४. अधिमांस अर्म (,,)
५. स्नायु अर्म (,,)
६. शुक्तिका (Xerosis)
७. अर्जुन (Subconjuctival Echymosis)
८. पिष्टक (Pinguecula)
९. शिराजाल (Scleritis)
१०. शिरापिडका (Scleritis Deep)
११. बलासग्रन्थि (Periuaud's conjunctiva)

अर्म—इसको साधारण बोलचाल की भाषा में नाखूना कहते हैं। आधुनिक विज्ञान मतानुसार यह एक ही प्रकार का होता है जबकि सुश्रुत ने इसे पांच प्रकार का बतलाया है।
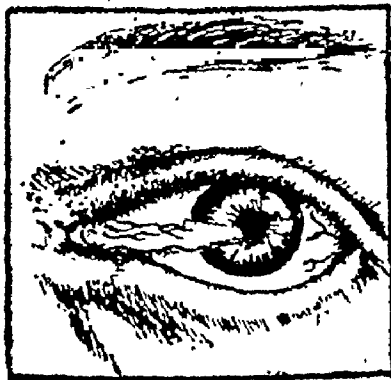
१. प्रस्तारि अर्म—शुक्ल भाग में फैला हुआ पतला रक्त के समान थोड़ी सी नीली झाई लिये हुए होता है।

अर्म

२. शुक्ल अर्म—शुक्ल भाग में किंचित श्वेत वर्ण वाला, मृदु, सम तथा देर में बढ़ने वाला होता है तथा साध्य है।

३. क्षत अर्म या लोहितार्म—शुक्ल भाग में मांस बढ़कर लाल कमल के समान रहता है उसे लोहितार्म कहते हैं।

४. अधिमांस अर्म—जो अर्म फैला हुआ, कोमल, मोटा यकृत के समान आभावाला या काला होता है उसे अधिमांस अर्म कहते हैं।

५. स्नायु अर्म—शुक्ल भाग में जो मांस बढ़कर कर्कश एवं पाण्डु वर्ण हो जाता है उसे स्नायु अर्म कहते हैं।
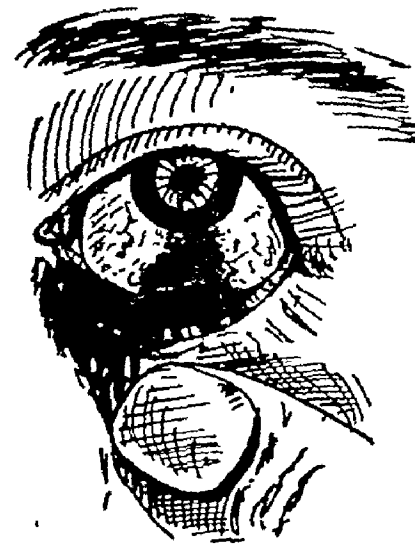
अर्जुन

६. शुक्तिका—श्वेत भाग में काले, अथवा मांस के सदृश लाल जो विन्दु सिपी के समान लम्बे होते हैं उनको शुक्तिका या शुक्ति कहते हैं।

७. अर्जुन—शुक्ल भाग में खरगोश के रक्त के समान लाल, अकेला ही जो एक विन्दु होता है उसे अर्जुन कहते हैं।

८. पिष्टक—शुक्ल भाग में चावलों की पिट्ठी के समान सफेद, जल सदृश निर्मल तथा उत्सन्न (उठा हुआ) विन्दु होता है उसे पिष्टक कहते हैं। यह प्रायः गोल होता है। यह कफजन्य एवं साध्य है।

९. शिराजाल—अनुलोम, विलोम रूप फैले शिरा-समूहों के कारण जाला की भांति कान्ति वाला कठिन

शिराओं से युक्त बड़ा, शिराओं के सन्तानयुक्त (एक दूसरे से लगातार मिली शिरायें) शिराजाल कहलाता है। यह साध्य है। सुश्रुत ने इसे रक्त दोष के कारण होने वाला कहा है।
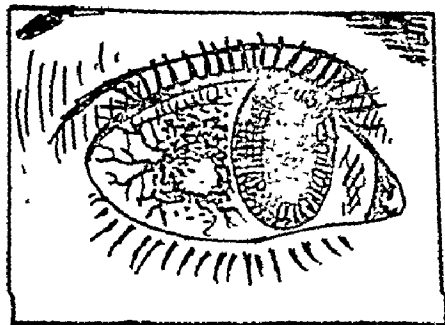
१०. शिरा पिडिका—शुक्ल भाग में काले भाग के समीप शिराओं से घिरी जो श्वेत पिडिका होती है उसे शिराज पिडिका कहते हैं।

११. बलासग्रन्थि—श्वेत भाग में जल के बिन्दु के समान कांस्याभा से युक्त, कठिन, वेदना रहित जो गांठ जैसी होती है उसे बलासग्रन्थि कहते हैं। यह श्लैष्मिक विकार है तथा साध्य है। सुश्रुत ने इसे कठोर बतलाया है जब कि दूसरे आचार्य इसे मृदु बतलाते हैं तथा यह मृदु पाठ ही उचित प्रतीत होता है।

चिकित्सा

अर्म की औषधि चिकित्सा तथा शल्य चिकित्सा हैं। औषधि चिकित्सा में कृष्णादि पुटपाक, पिप्पलादि गुटकांजन, मरिच्यादि लेखन, पुष्पादि रस क्रिया आदि का प्रयोग किया जाता है। इन औषधियों का पाठ योग रत्नाकर में मिलता है और अर्म की अवस्था में लाभप्रद बतलाया गया है। सुश्रुत ने अर्म की चिकित्सा में केवल शस्त्र कर्म बतलाया है। आधुनिक नेत्र विशेषज्ञ भी यही मानते है कि अर्म की चिकित्सा मात्र शल्य कर्म ही है। लेकिन प्रारम्भ अवस्था में जब तक कि अर्म कृष्णमण्डल की परिधि तक ही सीमित रहे तो वह योगरत्नाकरोक्त उपरोक्त प्रयोगों के प्रयोग से ठीक हो जाता है परन्तु जब अर्म कृष्ण मण्डल की परिधि का उल्लंघन करके उसके मध्य भाग की ओर बढ़ने लगा हो अथवा मध्य भाग तक पहुँच गया हो, स्थूल हो गया हो और कुछ अंश में दृष्टि में बाधा उत्पन्न करने लगा हो तो उसे शस्त्र क्रिया द्वारा निकाल देना चाहिए। औषधि उपचार उतना फलप्रद नहीं होगा। सुश्रुत ने अर्म की शस्त्र चिकित्सा का बड़ा विशद और व्यवहारिक वर्णन किया है जिसका कि अविकल अनुवाद मात्र नीचे दे रहे हैं—पांचों प्रकार के अर्म का शस्त्र कर्म एक ही प्रकार से किया जाता है—

वमनादि से शरीर का शोधन करके पेया आदि संसर्जन विधि या स्निग्ध भोजन रोगी को देकर, रोगी को बैठाकर (आधुनिक मतानुसार लिटाकर) यत्नपूर्वक जिससे पीड़ा न हो उस प्रकार सैंधव के चूर्ण से आंख में क्षोथ उत्पन्न करे जिससे अर्म शिथिल हो जाये। अर्म के क्षोभित होकर ढीला हो जाने पर तुरन्त जल्दी से स्वेदन देकर इसको हिलाये। जहां पर अर्म में झुरियां न हों वहां पर वडिश (हुक) से अर्म को पकड़कर ऊँचा उठायें। इस समय रोगी को निर्देश दें कि वह अपनी दृष्टि कान की ओर रखे। वडिश को हाथ की चुटकी से पकड़कर जरा ऊँचा करें अथवा सुई में धागा डालकर उसे अर्म के नीचे से गुजार कर अर्म को थोड़ा ऊँचा उठा लें। उठाते समय चिकित्सक को शीघ्रता नहीं करनी चाहिए अपितु यह सावधानी रखनी चाहिए कि अर्म टूट न जाय। तीन वडिशों से इसे पकड़कर तीक्ष्ण मण्डलाग्र से लेखन कर देवें। कृष्ण मण्डल शुक्ल मण्डल से सम्पूर्ण रूप में अलग करके इसका परिशोधन करें। इसके लिये इस अर्म को अलग करके कनीनिका के नासा के समीपस्थ भाग के पास लाकर कनीनिका को बचाते हुये इसे काट दें। मांस को एक चौथाई छोड़ देने से आंख को किसी प्रकार की हानि नहीं होती। कनीनिका में हानि पहुँचने से रक्तस्राव होता है या नाड़ी व्रण हो जाता है। कम परिमाण में अर्म काटने पर अर्म शीघ्र ही पुनः वृद्धि को प्राप्त हो जाता है। जो अर्म मछली पकड़ने के जाल के समान फैला हुआ, पलक और शुक्ल भाग के पास में स्थित हो उसे भी सैंधव से रगड़कर वडिश द्वारा उठाकर मण्डलाग्र से काट देना चाहिए। इस छेदन कर्म के पश्चात् आंखों में प्रतिसारण करना चाहिए। प्रतिसारण के लिए यवक्षार, त्रिकटु या सैंधव लवण को रगड़ना चाहिए। पीछे से स्वेद देकर नेत्र को पट्टी बांध देनी चाहिए।

तत्पश्चात् यथा योग्य स्नेहन देकर व्रण की भांति इसका उपचार करना चाहिए। तीन दिन बाद पट्टी खोल-

कर हाथों को गरम करके स्वेद देवें और रोपण आदि शोधन बर्तें। शूल होने पर कंजा के बीज, आंवला, मुलैठी से सिद्ध दूध शहद मिलाकर प्रातः सायं आश्च्योतन (अधिपूरण) में वर्ते। मुलैठी, कमल, कमल केशर, दूब इनको दूध के साथ पीसकर घी मिलाकर शीतल प्रलेप सिर पर करें। यदि अर्म कुछ बच जाये तो लेख्य अंजन का उपयोग करें। जो अर्म छोटा, दही के समान अथवा नीला या लाल अथवा मटियाला, पतला हो उसकी चिकित्सा शुक्र की भांति करें। जो अर्म चमड़े के समान मोटा, स्नायु मांस के कारण मोटा या कृष्ण मण्डल में पहुँचा हुआ हो उस अर्म का अवश्य ही छेदन करना चाहिये।

अर्म के छेदन कर्म के पश्चात् आंख का स्वाभाविक वर्ण निकल आता है। खोलने, बन्द करने, देखने में कुछ भी कठिनाई नहीं होती।

६. **शुक्तिका**—वाग्भट्ट ने लिखा है कि शुक्तिका रोग पित्त के कारण होता है। इसमें नेत्र के श्वेत भाग में श्याम या पीत वर्ण का विन्दु बन जाता है जिस प्रकार से कि दर्पण मलयुक्त होकर स्वरूप ले लेता है उसी प्रकार की स्थिति नेत्र के शुक्ल भाग की हो जाती है। रोगी को ज्वर, अतिसार, तृषा, नेत्र में वेदना एवं दाह पाये जाते हैं। आधुनिक चिकित्सा ग्रन्थों में Xerosis नामक रोग के लक्षणों की साम्यता है। आधुनिक चिकित्सा ग्रन्थों में इसकी कोई उचित चिकित्सा नहीं मिलती। प्राचीन ग्रन्थों में इसकी चिकित्सा पैत्तिक अभिष्यन्द या अम्लाध्युषित नामक रोगों के सदृश बतलाई गई है। इस रोग में रक्त विस्त्रावण का निषेध है। विरेचन द्वारा पित्त का निर्हरण करना श्रेयस्कर है। शीत द्रव्यों यथा—वैदूर्य, स्फटिक, विद्रुम, मोती, शंख स्वर्ण, रौप्य आदि के सूक्ष्म चूर्ण में मधु और शर्करा मिलाकर अंजन करना चाहिए। पीने में रोगी के संशमन के लिए पुराने घृत, तिल्वक घृत या त्रिफला घृत का प्रयोग करें।

७. **अर्जुन**—इसकी चिकित्सा में पित्तघ्न चिकित्सा करनी चाहिए। ऊख का रस, शहद, चीनी, दूध, रसौत, मुलैठी सैंधव आदि द्रव्यों का सेक या आश्च्योतन करना चाहिए। दोषबल और काल का विचार करते हुए चीनी, मुलैठी, मठा, शहद, सैन्धव, नीबू का रस, छोटी बेल का रस, खट्टे अनार का रस इनमें से किसी एक या अधिक का आश्च्योतन करना चाहिये। मुर्गी के अण्डे का छिलका, लहसुन, सौंठ, मिर्च, पीपल, करंज बीज, छोटी इलायची इन द्रव्यों से निर्मित अंजन अर्जुन में लाभप्रद है। शंख, शहद और चीनी को घिसकर, अथवा समुद्रफेन और मिश्री को घिसकर अथवा रसांजन या कसीस को शहद के साथ घिसकर अंजन करने से अर्जुन रोग दूर होता है। सैंधा नमक, निर्मली, शहद आपस में मिलाकर नेत्रों में अंजन करें तो अर्जुन रोग दूर हो। आधुनिक मतानुसार यह कुकुर कास से पीड़ित बच्चों या हृदय, वृक्क आदि के विकारों से ग्रस्त रोगियों में हो जाता है। इस अवस्था के उपचार में किसी बड़े प्रयास की आवश्यकता नहीं पड़ती तथापि रोगी की सांत्वना के लिए उसे शीतल उपचार दें यथा—बरफ, शीतल जल, गुलाब जल, शर्करा जल आदि का आश्च्योतन।

८. **पिष्टक**—इसमें नेत्र में किसी प्रकार की पीड़ा नहीं होती तथा न दृष्टि को ही हानि पहुँचने का भय रहता है। फलतः इसमें किसी उपचार की आवश्यकता नहीं रहती। बहुत बढ़ जाने पर कैंची व चीमटी द्वारा इसे काट दें यही इसकी आधुनिक चिकित्सा है। प्राचीन मतानुसार महौषधादि अंजन या कण्टकार्यादि अंजन का प्रयोग करें। सौंठ, पीपल, नागर मोथा, सैंधा नमक, श्वेत मरिच, सहजन के बीज, इन द्रव्यों को समान भाग में लेकर बिजौरे नीबू के रस में मर्दन कर सुखाकर रख लें। यह महौषधादि अंजन है। कण्टकारी का फल जब पूरी तरह पक जाय तो उसके बीजों को निकाल कर उसके भीतर पिप्पली और सौवीराजंन को सम मात्रा में लेकर भर देना चाहिए। एक सप्ताह पश्चात् उसे पीसकर या घिसकर अंजन करना चाहिये। यह कण्टकार्यादि अंजन है। कण्टकारी के फल के सदृश ही इन्द्रायण के फल के भीतर उक्त द्रव्यों को भर अंजन का निर्माण किया जाता है। यह भी पिष्टक में लाभप्रद है।

९. **शिराजाल**—आधुनिक दृष्टया इस रोग को नेत्र बाह्य पटल शोथ (Scleritis) कहते हैं। यह रोग प्रायः वर्षों तक रहता है। परन्तु नेत्र को कोई हानि नहीं पहुँचती।

इस व्याधि को नेत्र बाह्य पटल का उत्तान शोथ (Episcleritis) कहते हैं। यह भी सम्भव है कि सुश्रुतोक्त शिराजाल का इससे तात्पर्य हो। आधुनिक नेत्र ग्रन्थों में इसका कोई विशेष उपचार नहीं लिखा। प्राचीन ग्रन्थों में शिराजाल की चिकित्सा अर्मवत् करने का निर्देश है।

१०. शिराजपिड़िका—इसकी चिकित्सा भी अर्म या शिराजाल सदृश है।

११. बलास—यह विकार भी आधुनिक मतानुसार बाह्य पटल शोथ का कोई सौम्य प्रकार प्रतीत होता है। इसमें शस्त्र कर्म का निषेध है। केवल औषधि प्रयोग से ठीक हो जाता है। रोगी को वमन एवं विरेचन देकर शरीर का शोधन करें।

तत्पश्चात् क्षारांजन का प्रयोग करें। यवक्षार, सेंधा नमक, गोरोचन, वन तुलसी की मंजरी, विष्णुक्रान्ता, वेल, निर्गुण्डी, चमेली का फूल सब समान भाग लेकर सूक्ष्म चूर्ण तैयार करें। इस चूर्ण को वीस गुने गोघृत में मिलाकर रखें। यह क्षारांजन है। इस अंजन की क्रिया तीक्ष्ण एवं क्षणन की होती है। किसी शलाका की सहायता से बलास ग्रन्थि के अंश पर लगाकर नेत्र का परिषेक करें। इससे ग्रन्थित अंश नष्ट होकर व्रण का रोपण शीघ्र हो जाता है।

—श्री दाऊदयाल गर्ग ए. एम. बी. एस.
सम्पादक 'धन्वन्तरि'
गुलजार नगर, रामघाट रोड, अलीगढ़

पक्ष्म कोप : : पृष्ठ १०८ का शेषांश

पश्चात कर्म—यदि एक आँख का शस्त्र कर्म हुआ हो तो अवेध्य आँख की ओर करवट बदलकर रोगी को सुलादें। और यदि दोनों आंखों का शस्त्र कर्म हो तो उत्तान तकिये के सहारे शुद्ध शय्यन कक्ष में सुलादे।

पथ्य—प्रथम तीन दिन रोगी को लंघन करावे अथवा गरम किया हुआ ठण्डा पानी पिलावें। दूध, चाय पीने को दें। रोगी उठ बैठ सकता है परन्तु ध्यान रहे बैठते समय रोगी मुँह ऊँचा रखे। तीसरे दिन आंख पर हरे रंग का कपड़ा रख पट्टी खोली जाय। ऊपर की पतली पट्टी खोल दी जाय और सीये हुए वालों की गांठें छोड़कर काटकर वाल छोटे कर दें। टांकों को उष्ण जल से सफाई कर पुनः उन पर मधु व घृत लगाकर पूर्ववत चौड़ी पट्टी बाँध कर रोगी को सुला दें। फिर पांचवे दिन इसी प्रकार पुनः पट्टी बदलें। यदि घाव पलकों का खुला न हो तो वाग्भट्टानुसार सर्वदा के लिए खोलकर बालों को काटकर टांके अलग कर देने चाहिए और उस पर स्वर्ण गेरू पाउडर लगाते रहने से घाव सूख जायेगा। सुश्रुत ने आठ दिन बाद टांके निकालने को कहा है। मेरा अनुभव भी सुश्रुतानुसार ऐसा ही है।

तीसरे दिन के बाद रोगी को खिचड़ी, विलेपी इत्यादि देना प्रारम्भ करदें। टांके निकालने के बाद रोगी को काले रंग का चश्मा १५ दिनों के लिए पहने रहने को कह दें। नेत्र रोगों के अधिकार में दिये गए पथ्य का १ माह पालन करने पर रोग पूर्ण रूप से शमन हो जाता है। तीक्ष्ण नस्य व तीक्ष्ण अंजन चन्द्रोदय वटी का १ माह प्रयोग करें।

—नेत्रवैद्य शिरोमणि श्री डा. इन्द्रभान सी. भटनागर,
समीप महिला मण्डल,
उदयपुर।

नेत्रगत मांस वृद्धि और उसकी चिकित्सा

श्री वैद्य अम्बालाल जोशी

श्री जोशी जी शुद्ध आयर्वेद के हामी, विद्वान लेखक तथा ग्रन्थकार हैं। आपने बाल्मीकि रामायण में आयुर्वेदिक औषधियों के प्रसंग एकत्रित किये हैं जोकि एक पुस्तक रूप में हैं। 'धन्वन्तरि' पर आपकी सुकृपा सदैव से रही है। आपने हमारे आग्रह को टाला नहीं है। सदैव ही उसकी पूर्ति की है। इस बार हमने आपको दो विषयों पर लेख लिख कर प्रेषित करने का निवेदन किया था जो आपने अनेक व्यस्तताओं के बावजूद लिख कर भेजे हैं। प्रस्तुत लेख अपने विषय में नाति संक्षिप्त विस्तरेण जानकारी प्रस्तुत करता है। आशा है कि पाठक लाभ उठायेंगे।

—दाऊदयाल गर्ग

आयुर्वेद में नेत्रगत रोगों का विषद वर्णन उपलब्ध है। नेत्रगत मांस वृद्धि रोग श्वेत पटल का रोग है परन्तु यह बढ़कर काले मणि को आवृत कर देता है और इस प्रकार दृष्टि में अन्तर आने लगता है. यह रोग पीड़ादायी नहीं है। इसीलिए अनेक रोगी रोग की प्रारम्भिक अवस्था में इसका उपचार नहीं करवाते परन्तु जब यह दृष्टि पटल को आवृत करने लगता है और दृष्टि में कुछ हीनता आनी प्रारम्भ हो जाती है तब इसकी चिन्ता की जाती है और उपचार के लिए दौड़ लगनी प्रारम्भ हो जाती है। अति उन्नत मांस वृद्धि में शल्य कर्म या विद्युत उपचार ही शेष रह जाता है।

सुश्रुत तथा अष्टांग हृदयकारक ने इस रोग को 'शुष्कार्म' के नाम से सम्बन्धित किया है। आधुनिक वैद्यक शास्त्र इसे (Pter'gium) कहते हैं। यूनानी वैद्यक में इसे नाखूना या जफरा कहते हैं। आयुर्वेद ने इसे अर्म के नाम से भी पुकारा है।
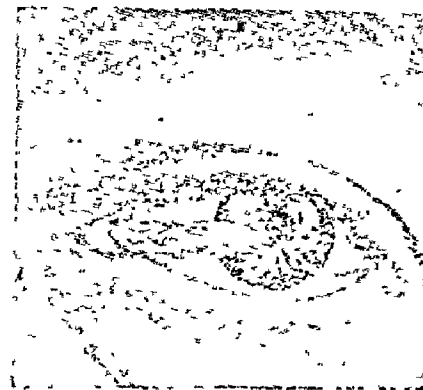
इस रोग के निदान का उल्लेख करते हुए आचार्य वाग्भट्ट ने लिखा है-

'कफाच्छ ुक्ले समश्वेतं चिरवृद्धयधिमांसकम् ।'

अर्थात् कफ के कारण नेत्र के शुक्ल भाग मे श्वेत, देर से बढ़ने वाली मांस की वृद्धि हो जाती है इसी को शुक्लार्म कहते है। (अष्टांग हृदय, उत्तर स्थान अध्याय १० श्लोक १२) महर्षि सुश्रुत ने भी—

शुक्लाख्यमृदु कथयन्ति शुक्लभागे सश्वेतं सममिहं वर्धतेचिरेण। —सु० उ० अ० ४ श्लोक ५

अर्थात् कफ विकृति के कारण शुक्ल पटल पर मृदु (कोमल) अभिवृद्धि होती है। वह किंचित् श्वेत तथा हल्की रक्तवर्ण की होती है जो धीरे-धीरे बढ़ती रहती है, यह बताया है जिसका समर्थन वाग्भट्ट ने किया है।

इस रोग की उत्पत्ति के कारणों का विश्लेषण करते समय यह ध्यान देने की बात है कि जहाँ यह रोग पथ्य विकृति के कारण होता है वहाँ बाह्य कारण भी इस रोग को पैदा करते हैं। निग्टाचार्य ने कफ प्रकोपक पथ्य का उल्लेख करते हुए बताया है कि अधिक गुरु, मधुर, स्निग्ध दुग्ध सेवन, गन्ने का रस, द्रव पदार्थों का अति सेवन, दधि, घृत में तली हुई पूरी आदि खाद्य, दिवा स्वाप, हिमपात के समय, दिन तथा रात्रि के पूर्व भाग में, भोजन के तत्काल बाद तथा बसन्त ऋतु में कफ का प्रकोप होता है। इस प्रकार उपरोक्त कारण इस रोग की अभिवृद्धि कर सकते हैं विशेपकर नेत्राभिष्यन्द के समय।

आगन्तुक कारणों का उल्लेख करते समय निम्न बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है। १. रेत उड़ कर आँखों में गिरना। २. नेत्राभिष्यन्द (आँखें दुखना) के उपचार के समय रही हुई असावधानी के कारण। ३. नेत्राभिष्यन्द या नेत्रक्षत के समय कठोर द्रव्य (वेर पापड़, सूखी रोटी, सेव आदि पदार्थ) सेवन, मसूर, प्याज, लहसुन, मछली, तेज मिर्च मसाला आदि वाष्पजनक पदार्थों का पुष्कल सेवन करना। ४. नेत्र क्षत का सम्यग् उपचार न करना। ५. नेत्रों पर आघात होने या कोई शल्य का गिर जाने पर तत्काल उचित उपचार न करना।

उपरोक्त सभी कारणों का परिहार कर तदनन्तर मांस वृद्धि का उपचार करना रोग का वास्तविक उपचार है। ऊपर बताया जा चुका है कि इस रोग का उपचार शल्य क्रिया द्वारा (काटना) सम्भव है तथा जहाँ यह बिजली से जलाया जा सकता (कैटराइजेशन) है वहाँ आयुर्वेद भी इस रोग के उपचार में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। हमने अपने चिकित्सा काल में ऐसे अनेक रोगियों का उपचार सफलता पूर्वक किया है। इसका विवरण हम यहाँ प्रस्तुत करेंगे।

चिकित्सा—

इस रोग की चिकित्सा करते समय हमने रोगी तथा रोग के बलाबल अवस्थानुसार निम्न औषधियों का प्रयोग किया है तथा सफलता प्राप्त की है—

(१) चन्द्रोदय वर्ति (वृन्द माधव)—हरीतकी त्वक्, वचा, कूठ, पीपल, काली मिर्च, बहेड़े की मींगी, शंखनाभि और मनःशिला सभी सममाग। वस्त्रपूत चूर्ण बनाकर दो दिन तक सूखी खरल करें। फिर बकरी का दूध डाल कर ६ घण्टे खरल कर वर्ति बना लें।

विशेष—शंखनाभि अधिक कठिन होती है। अतः इसे अलग से कूटकर बारीक पीस लें फिर सभी चूर्णित औषधियाँ मिला लें।

यह वर्ति उत्तम लेखन करती है। माँस वृद्धि तथा कफ वृद्धि को दूर कर दृष्टि स्वच्छ करती है। इस वर्ति को शुद्ध मधु के साथ घिस कर लगाना चाहिये।

(२) तुत्थादि वर्ति (स्वानुभूत)–तुत्थ पुष्प, शंखनाभि, मनः शिला, मयूराण्ड त्वक्, समुद्र फेन, कुक्कुटाण्ड त्वक्, निर्मली के बीज, बिजली के खम्भों पर लगी चीनी मिट्टी, स्वर्ण माक्षिक शुद्ध, नर कपालास्थि।

उपरोक्त सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर वस्त्रपूत छानें। फिर सहजने के रस में मर्दन (३ दिन) कर वर्ति बनालें। यह वर्ति मधु या सहजने के रस में घिसकर नेत्रों में लगावें। इससे निश्चयपूर्वक मांस वृद्धि कटती है।

(३) पुष्पहर अंजन (रस तन्त्रसार)—शोरा कल्मी ४० तोला पत्थर की खरल में शुद्ध शीशा धातु के बट्टे से ४० दिन तक गुलाब जल के साथ घोटें। तदनन्तर २ तो. कपूर मिला कर ६ घण्टे खरल करें। नेत्राञ्जन सिद्ध है।

अन्य प्रकार—कल्मी शोरा ४० तोले, समुद्र के झाग १६ तोले दोनों को सात दिन तक खरल में घोट कर नेत्राञ्जन बना लें।

नियमित नेत्रों में डालने से मांस वृद्धि को मिटाता है।

(४) नीले थोथा को तवे पर भूनकर महीन कर लें। फिर सलाई से केवल नाखूना (वृद्ध मांस) पर लगाने से कटता है। यह प्रयोग अत्यन्त ही सावधानी का है।

(५) हरिद्रा को पुटपक्व कर समभाग फिटकरी मिला कर खरल कर सुरमावत् बनालें। फिर नियमित आँखों में अञ्जन करने से मांस वृद्धि कटती है। यह सुरमा तैयार कर पहले आँख में डालकर देख लेना चाहिये। रगड़ न होने पर ही प्रयोग में लावें।

(६) नौसादर २ माशा, शोरा कलमी १ तोला, सिरस के बीज २ दाना, काली मिर्च १२ दाना, नीला थोथा ४ रत्ती सबको पीस कर वर्ति बना लें। प्रतिदिन यह वर्ति पानी में घिसकर नाखून के ऊपर लगावें।

—यूनानी चिकित्सासार

इस रोग में उपरोक्त सभी प्रयोग अनुभूत हैं परन्तु तुत्थादि वर्ति सर्वोत्तम है। यह अत्यन्त ही निरापद औषधि है। जिसका प्रयोग निःशंक होकर किया जा सकता है। इस अवधि में त्रिफला जल से दिन में १-२ बार आँखों का छाँटना भी जरूरी है। इस रोग में उदर में (मुख द्वारा) औषधि प्रयोग भी किया जा सकता है।

(अ) अत्रीफल उस्तेखद्दूस—सुप्रसिद्ध यूनानी औषधि है जिसका प्रयोग इस रोग में किया जा सकता है। इसे १ तोले की मात्रा में चाट कर ऊपर से दूध पीना चाहिए।

(ब) आयुर्वेदीय सप्तामृत लोह—१ माशा की मात्रा दुग्ध के साथ सेवनीय है—

(स) स्वर्ण माक्षिक भस्म, वंशलोचन, त्रिफला, मुलहठी मिलाकर गौघृत तथा मधु के साथ सेवन करने से सत्वर लाभ होता है।

(द) रौप्य भस्म २ रत्ती की मात्रा में आंवले के मुरब्बे में सेवन करने से लाभ होता है।

(य) हरड़, बहेड़ा, आंवला, निर्मली के बीज तथा गोरख मुण्डी समभाग मात्रा १ तोला घृत तथा शक्कर में मिलाकर खाने से लाभ होता है।

उपरोक्त प्रयोग यदि असफल रह जावे तो रोगी को अपनी नेत्रगत मांस वृद्धि की शल्य चिकित्सा करा लेनी चाहिए। इसमें शस्त्र या बिजली की सहायता से मांस को काटा या जलाया जाता है। इसके बाद ३-४ रोज तक या आवश्यकता होने पर इससे भी अधिक दिनों तक नेत्र पर पट्टी बंधी रहती है। फिर रंगीन चश्मा रखना पड़ता है। इस प्रकार नेत्रगत मांस कट जाता है। परन्तु कभी कभी यह भी देखा गया है कि काटने या जलाने के बाद भी पुनः मांस वृद्धि हो जाती है। परन्तु आयुर्वेदीय उपचार में यदि रोगी पूर्ण स्वस्थ हो जावे तो पुनः मांसवृद्धि नहीं होती।

हमारे चिकित्सालय में अनेक रोगी इस रोग के आते है और ४-६ मास के उपचार के बाद पूर्ण स्वस्थ हो जाते है तथा उन्हें वापिस मांस वृद्धि नहीं होती। यह भगवान धन्वन्तरि का प्रताप है।

—श्री वैद्य अम्बालाल जोशी आयुर्वेद केशरी
मकराना मोहल्ला, जोधपुर (राजस्थान)

नेत्र के श्वेत पटलगत शोथ

कवि० श्री बंसरीलाल साहनी

वयोवृद्ध कविराज श्री साहनी जी की भी 'धन्वन्तरि' के ऊपर सदैव कृपा रही है। 'धन्वन्तरि' के सभी विशाल विशेषाङ्क आपके लेखों से सज्जित मिलेंगे। आपने अनुभूत योग चर्चा, जो कई खण्डों में है, का लेखन किया है जो कि आपकी विद्वता का द्योतक है। प्रस्तुत लेख भी आपके प्रगाढ़ शास्त्र ज्ञान का द्योतक है। इस लेख में आपने श्वेत-पटल (Sclera) में शोथ के कारण होने वाले रोग एवं उनकी चिकित्सा का उल्लेख संक्षेप में किया है। अर्म की आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में शल्योपचार के अतिरिक्त अन्य विशेष चिकित्सा नहीं, लेकिन आयुर्वेदोल्लिखित चिकित्सा द्वारा विना शल्यकर्म के अर्म से छुटकारा पाना सम्भव है। इस अनुभूत चिकित्सा को श्री साहनी जी ने यहां दिया है जो निश्चय ही उपयोगी है। पाठकों से हमारा निवेदन है कि अर्म का रुग्ण आने पर वह आयुर्वेदोक्त चिकित्सा कर यश एवं धन उपार्जित करें। —दाऊदयाल गर्ग

यह एक नेत्र रोग विशेष है, जो नाम से ही स्पष्ट प्रतीत हो रहा है, कि नेत्रगत श्वेत पटल में होने वाला कोई शोथ है। पाश्चात्य विद्वानों ने नेत्रगत इस रोग के नाम की कल्पना तो अवश्य की है परन्तु इसके निदान, चिकित्सा आदि का विशेष वर्णन नहीं किया।

आयुर्वेद में भी जहां नेत्रगत ७६ (सुश्रुत के मत के अनुसार) और ७८ (चरक के मत के अनुसार) नेत्र रोगों का वर्णन किया है; वहां उन्होंने इसे दो प्रकार से कहा है—

१. दोषानुसार, २. स्थानानुसार।

स्थानानुसार नेत्र रोगों की गणना करते हुए (चरक और सुश्रुत दोनों ने) नेत्र के शुक्ल भाग में ११ रोगों का वर्णन किया है। यथा—

प्रस्तारि शुक्ल क्षतजाधिमांस
स्नाय्वर्म संज्ञाः खलु पंच रोगाः।
स्युः शुक्तिका चार्जुन पिष्टकौच
जालं सिराणां पिडिका च यास्युः।
रोगाः बलास ग्रथितेन सार्द्धमूए दशाक्ष्णोः खलु
शुक्लभागे॥

वैसे तो नेत्रगत शोथ अभिष्यन्द और अधिमन्थादि अनेक रोगों में आम के अधिक होने से, हो जाती है। नेत्र स्वयं भी कफ प्रधान है और जहां आम, कफ, आदि कफ प्रधान दोष अथवा मेदादि कफ वर्ग की धातुओं में वृद्धि हो जाय तो नेत्र को अवश्य भय होता है। कहा भी है—

श्लेष्मण अक्षयोः भयम्।

पूर्वोक्त ११ भेदों में जब हम 'सिराजाल' नामक रोग का वर्णन पढ़ते हैं तो प्रतीत होता है कि इसी को नेत्र बाह्य पटलगत शोथ कहा है। यथा—नेत्र के श्वेत मण्डल में कठिन शिराओं से युक्त तथा रक्तवर्ण का जो शिराओं का समुदाय होता है उसे शिरा जाल कहते हैं। वैसे तो—रक्तार्म में भी—श्वेत भाग में रक्त वर्ण तथा कोमल मांस की वृद्धि—शोथ के समान ही होती है, और अधिमांस में भी विस्तीर्ण, कोमल, पुष्ट तथा किंचित कालिमा लिए हुए

रक्त वर्ण की जो मांस वृद्धि होती है, स्नाय्वर्म में कठिन फैलने वाला स्राव रहित मांसपिण्ड होता; शुक्ति में–एकत्रित श्याव वर्ण का मांस के समान अथवा शुक्ल वर्ण विन्दु होता है, पिष्टक में भी–कफ तथा वायु के प्रकोप से आटे के समान श्वेत अथवा मैलयुक्त शीशे के समान उन्नत मांस होता है; शिराजपिडिका में भी कृष्ण मण्डल के समीप उत्पन्न हुई शिराओं से आवृत श्वेत वर्ण की फुन्सियाँ भी शोथ के सदृश ही हैं। तथा बलासग्रन्थि में भी कांसे के समान श्वेत, कठिन तथा जलविन्दु के समान किंचित् उन्नत विन्दु शोथ के समान नहीं है। अर्थात् प्रायः सब भेदों में शोथ की प्रतीति होती है तो भी शिराजाल के लक्षण अधिक मिलने से हम इसे शिराजाल ही कहेंगे।

पाश्चात्य इसे भी दो प्रकार का कहते हैं–१. उत्तान और २. गम्भीर।

यह रोग प्रायः आमवात, वातरक्त, फिरंग, क्षय, गण्डमाला आदि रोगों के उपद्रव रूप में भी होता है। इसमें नेत्रगत श्लेष्मावरण के नीचे कृष्णाभ रक्त व नीलाभ रक्त का चिह्न हो जाता है। यह चिह्न उभरा हुआ (शोथ युक्त) दिखाई देता है। उस स्थान का श्लेष्मावरण भी लाल हो जाता है। बाह्य पटल और नेत्र श्लेष्मावरण की लाली में भेद रहता है। प्रायः नेत्र में स्राव, चिपचिपा पदार्थ नहीं निकलता, वेदना भी प्रायः नहीं होती अथवा अल्प होती है। चार-पांच अथवा अधिक सप्ताह के पश्चात् शनैः शनैः घटने लगता है। एक बार शान्त होकर पुनः आक्रमण करता है। इस प्रकार चिरकाल तक पुनरावृत्ति होती रहती है। यह रोग प्रायः वर्षों तक रहता है परन्तु नेत्रों को कोई हानि नहीं होती। इस रोग को नेत्र बाह्य पटल का उत्तान शोथ कहते हैं। सम्भवतः सुश्रुत का वर्णित शिराजाल यही रोग हो।

चिकित्सा

आधुनिक ग्रन्थों में इसका कोई विशेष उपचार नहीं बताया गया। तो भी निदानानुसार आमवात, वातरक्त और फिरंग आदि की चिकित्सा करनी चाहिए। प्राचीन ग्रन्थों में शिराजाल को सुश्रुत ने ५२ साध्य रोगों और ११ छोटे रोगों में कहा है। इसकी चिकित्सा अर्म के समान की जाती है–अर्थात् बडिश से मोटी-मोटी शिराओं को ऊपर उठाकर मण्डलाग्र शस्त्र से उनको काट देना चाहिए—

शिराजालैः सिरा यास्तु कठिनाश्चाश्च वृद्धिमान्।
उल्लिखेन्मण्डलाग्रेण बडिशेनावलम्बिता ॥

—सु० उ० १५

इसके पश्चात् लेखनाञ्जनों से प्रतिसारण करना चाहिए–एतदर्थ कुछ अनुभूत औषधियों का वर्णन करते हैं–

१. नेत्र विन्दु—गुलाबजल १ बोतल, कर्पूर ३ माशे, अहिफेन १ तोला, रसोत ४ तोला इन सब औषधियों को मिलाकर सूक्ष्म वस्त्र से छानकर शीशी में भरकर सुरक्षित रखें। प्रातः सायं दोनों समय नेत्र में डालने से नेत्रगत शूल, अभिष्यन्द, नेत्रदाह, स्राव, कण्डु, शोथ आदि दूर हो जाते हैं।

२. फुल्लिका द्रव—परिस्रुत जल, अथवा शरद्ऋतु में एकत्रित किया वर्षा का गांगेय जल अथवा गुलाबजल २ सेर, मिश्री ४ तोला, सैन्धव लवण ४ तोला, स्फटिका ४ तोला, इन सबको परस्पर मिलाकर तथा छानकर प्रातः सायं नेत्र में डालने से अभिष्यन्द, कण्डु, शोथ, स्राव आदि नेत्र रोग शान्त होते हैं।

३. चांगेरी द्रव—चांगेरी स्वरस १ बोतल, नवसादर १ से ३ माशे तक मिलाकर छानकर रख लें। प्रातः सायं नेत्र में डालने से अनेक प्रकार के नेत्र रोगों का नाश होता है। [अनुभूत योग चर्चा[1] में विशेष वर्णन देखें]।

४. विचित्र नेत्र विन्दु—अर्क गुलाब, गंगाजल, परिस्रुतजल अथवा शरद्ऋतु में संग्रहित वर्षा का गांगेय जल १ बोतल, नौसादर २½ तोला, शोरा कलमी १ माशा, सबको मिला दें। घुल जाने पर छानकर रख लें। नेत्र में कोई भी रोग होने पर इसका प्रयोग करें। नेत्रों में भावी रोगों के निरोध के लिए भी प्रतिदिन इसका प्रयोग करें। इससे दृष्टिमांद्य दूर होता है। ऐनक लगी हो तो उतर जाती है। कांच (मोतियाबिन्दु) कच्चा पूर्णतया नष्ट हो जाता है और पका हुआ कदाचित् पतला पड़ जाता है। हमारा शतशः अनुभूत है।

५. मधुर क्षार—केवल सोडाबाई कार्ब के प्रयोग से भी बहुत लाभ होता है।

६. नीबू का स्वरस, मधु, सफेद प्याज का रस तीनों मिलाकर प्रयोग करने से भी अनेक लाभ होते हैं। ❋

[1] प्राप्ति स्थान—श्री ज्वाला आयुर्वेद भवन, अलीगढ़।

श्री दाऊदयाल गर्ग सम्पादक धन्वन्तरि

सर्वगत रोगों में चार प्रकार के अभिष्यन्द तथा चार प्रकार के ही अधिमंथ, सशोफ पाक और अशोफ पाक, हतादिमंथ, वात पर्यंय, शुष्काक्षि पाक, अन्यतोवात, अम्लाध्युषित दृष्टि, सिरोत्पात और सिराहर्ष ये कुल मिला कर १७ रोग हैं।

लोक भाषा में अभिष्यन्द का अर्थ आंख का आना, दुखना या उठना कहा जाता है। अभिष्यन्द की उपेक्षा करने पर अधिमन्थ रोग हो जाता है जिसमें एक तरफ के नेत्र और आधे सिर में भयङ्कर वेदना होती है। रोगी को ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई नेत्र का मन्थन कर रहा हो या नेत्र को निकाल रहा हो। मस्तिष्क एवं नेत्र के अतिरिक्त वेदना की तीव्रता के कारण शंख प्रदेश, दांतों में, गालों में भी वेदना होने लगती है।

चारों प्रकार के अभिष्यन्द तथा चारों प्रकार के अधिमन्थ के बारे में पूरा विवरण आगे के कुछ लेखों में
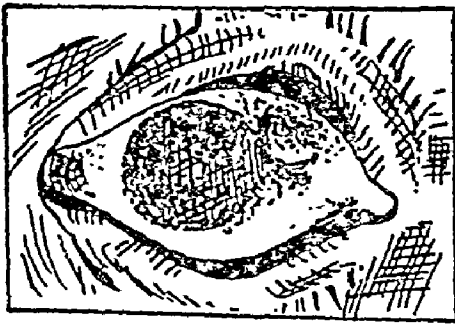
आप पढ़ेंगे। शेष सर्वगत रोगों का संक्षिप्त विवेचन यहाँ दिया जाता है।

सशोफ नेत्र पाक—जिस नेत्र पाक में कण्डू, कीचड़ का आना, अश्रुस्राव, आँख का पके गूलर के समान लाल हो जाना, जलन, रगड़, सूजन, चुभन, भारीपन एवं उष्णता या शीतता, पिच्छिलता, बार-बार अश्रुस्राव एवं नेत्र में पाक होना ये इसके लक्षण हैं। जिस नेत्र पाक में सूजन नहीं हो और ऊपर के सभी लक्षण पाये जांय वह अशोफ नेत्र पाक है। आधुनिक दृष्टि से इसरोग को **Panopthalm'tis** तथा **Pthisls bul-bi** कह सकते हैं।
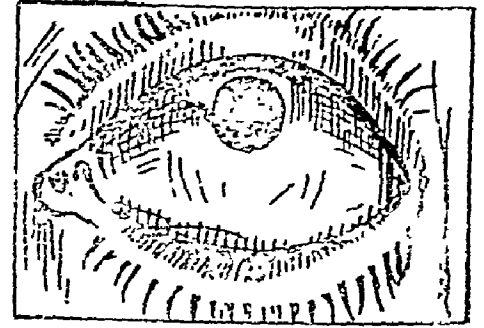
इन दोनों नेत्र पाकों की चिकित्सा में जलौका के द्वारा रक्तावसेचन, विरेचन, शिरावेध, शुक्ल चिकित्सा के सदृश सेक और लेप आदि किये जाते हैं। इसमें त्रिफला, निम्ब, पटोल, वासा के क्वाथ को गूगल के साथ दिया जाता है। यह दोनों त्रिदोषज परन्तु साध्य रोग हैं। आचार्य सुश्रुत ने इन दोनों की चिकित्सा में स्नेहन, स्वेदन, शिरावेध, सेक, आश्च्योतन और पुटपाक करने को कहा है। इसमें निम्न अंजनों का प्रयोग किया जा सकता है। लेकिन अंजन के प्रयोग से पूर्व रोगी की शुद्धि अन्तः और बहिः परिमार्जन के द्वारा कर लेनी चाहिये—

तांबे के बर्तन में घी और सैंधा नमक एक मास तक रखकर अंजन बनाया जा सकता है। अनार, अमलतास, अश्मन्तक, कोल या नारंगी में सैंधा नमक मिलाकर रस क्रिया के तरीके से बने अंजन का ठीक प्रकार से प्रयोग करने पर नेत्रपाक नष्ट होता है। इसे रसक्रिया अंजन कहते हैं। सैंधव लवण जो घृत में एक मास तक पड़ा रहा हो, सौंठ स्त्री के दूध में मिलाकर आश्च्योतन करने से नेत्र पाक में लाभ होता है। चमेली का फूल, सैंधानमक, सौंठ, पिप्पली का तण्डुल (कृष्णा बीज), विडंग सार—इनको शहद के साथ घिस कर लेप करें। इसे जाति पुष्पाद्यंजन कहते हैं।

हतादिमन्थ—वातज अधिमन्थ जब उपेक्षा करने पर आंख को बलपूर्वक सुखा देता है, इसमें अतिशय तीव्र वेदना होती हो तब यह हतादिमन्थ कहा जाता है। इसे आधुनिक विज्ञान मतानुसार Atrophy of the Optic disc कहते हैं। यह असाध्य है।

वातपर्यय—दूषित वायु जब दोनों पलक, नेत्र, भौं में आश्रित होकर गति करती है और कभी भौं में, कभी आँख में तथा कभी पलकों में वेदना करती है तो इसे वात पर्यय कहते हैं। आधुनिक मतानुसार इसे Atrophy of the Fifth cranial nerve कह सकते हैं। यह वात प्रधान लेकिन साध्य है। इसमें वाताभिष्यन्द के समान चिकित्सा करनी चाहिये। भोजन करने से पहले प्रचुर मात्रा में घृत और क्षीर का सेवन तथा स्नेहन करना चाहिये। किंचित उष्ण जल में सैंधानमक मिलाकर उससे सेक करें।

शुष्काक्षिपाक—इसमें पलक सिकुड़ी हुई, कठिन, रूक्ष होती हैं। दृष्टि में धुंधलापन तथा आँख को खोलने में अति कठिनाई होती है। इसे शुष्काक्षिपाक कहते हैं। इसी को Opthalmoplagia कह सकते हैं। यह वात प्रधान लेकिन साध्य विकार है। सुश्रुत ने इसकी चिकित्सा में कई अञ्जनों के प्रयोग करने का निर्देश किया है। यथा—

सैंधवादि अञ्जन—सैंधानमक, देवदारू, सौंठ, बिजौरे नींबू का रस, घी इनकी रस क्रिया पानी के योग से करके माता के दूध को मिलाकर अञ्जन करें।

रजन्यादि अञ्जन—हल्दी, देवदारू, सैंधानमक, सौंठ, घृत और शहद मिलाकर अञ्जन करना।

वसाद्यंजन—आनूपदेशज और जलज प्राणियों की वसा, सैंधानमक और सौंठ के मिश्रण से बने योग का अञ्जन करें। इन अञ्जनों के अतिरिक्त घृतपान, नेत्रों का तर्पण, जीवनीय घृत या अणु तैल से नस्य लेना तथा आश्च्योतन और सेक के लिये ठण्डे दूध में नमक डाल कर नेत्रों में प्रयोग करना हितकर है।

अन्यतोवात—जिसमें वायु ग्रीवा के पिछले भाग, कान, सिर, हनु या मन्या में अथवा पीठ में स्थित होकर भौं तथा आँख में तीव्र वेदना करती है उसे अन्यतोवात कहते हैं। यह पंचम क्रेनियल नर्व पर विकार होने के कारण होता है। इसकी चिकित्सार्थ वन्दाल, कपित्थ और बृहद् पंचमूल से सिद्ध घृत पियें या क्षीर और कर्कट स्वरस में सिद्ध घृत का पान करें या क्षीर अथवा कर्कट शृङ्गी के स्वरस से सिद्ध घृत या सरकण्डे (बीरतर) के स्वरस से सिद्ध घृत का भोजन के पूर्व पान करना उचित रहता है।

अम्लाध्युषित—खटाई एवं विदाही भोजन के खाने से आंख सम्पूर्ण रूप में शोफयुक्त, लाल और किञ्चित नीलिमा से ढक जाती है। यह पैत्तिक और साध्य विकार है। इसमें खट्टे पदार्थों के सेवन से कुपित हुआ पित्त नेत्र का वर्ण लाल, नीला कर देता है। आधुनिक मतानुसार यह अधिमन्थ (Glaucoma) की ही किसी अवस्था का द्योतक है। इसकी चिकित्सा में पैत्तिक नेत्राभिष्यन्द के उपक्रमों का उपयोग करना चाहिए। पित्तघ्न उपचारों में अन्तः प्रयोग के लिए तिल्वक् घृत, त्रिफला घृत या पुराण घृत का सेवन करना चाहिए। बहुत बार विरेचन देना और शीतल लेप करना लाभप्रद है।

शिरोत्पात—वेदनायुक्त या बिना वेदना के ही जिनके नेत्र की रेखायें तांबे के रंग की हो जाती हैं। ये रेखायें बार-बार चारों ओर से सुर्खी रहित हो जाती हैं। इस रोग को शिरोत्पात कहते हैं। इसे Circumciliary congestion कहते हैं। यह एक स्थूल लक्षण है जिसका कि समावेश नेत्र श्लेष्मावरण के रक्ताधिक्य में किया जा सकता है। यह रक्तज तथा साध्य रोग है।

इसकी चिकित्सा अभिष्यन्द, अधिमन्थ आदि के समान करनी चाहिये। रोगी का स्नेहन तथा किंचिदोष्ण घृत से स्वेदन कराकर रक्त विस्रावण करायें। शहद और घी का अंजन करें या इसी प्रकार सैंधव और कासीस को माता के दूध में पीसकर अंजन करना हितकर है।

शिराहर्ष—शिरोत्पात की उपेक्षा करने से शिराहर्ष रोग होता है। इसमें तांबे के समान रंग, निर्मल गाढ़ा अश्रु बहता है। रोगी देख नहीं सकता। इसे Photophobia या Loss of vision कहते हैं। फाणित और मधु का अंजन, तार्क्ष्य सैल और शहद का अंजन या कसीस और मधु का अंजन या वेतसाम्ल, फाणित, सैंधव और मधु का अंजन उपकारी है। पित्ताभिष्यन्द की चिकित्सा लाभप्रद होती है।

—श्री डा. दाऊदयाल गर्ग आयु. बृहस्पति, ए.,एम.बी.एस
सम्पादक 'धन्वन्तरि'
गुलजार नगर, रामघाट रोड, अलीगढ़

अभिष्यन्द या आंख आना

श्री पुण्यनाथ मिश्र आयुर्वेदाचार्य

श्री मिश्र जी 'धन्वन्तरि' के विद्वान लेखक हैं। आपके सरल भाषा में लिखे विद्वतापूर्ण लेख सदैव ही प्रकाशित होते रहते हैं। इस लेख में श्री मिश्र जी ने नेत्र रचना का संक्षिप्त वर्णन कर आयुर्वेद मतानुसार चार प्रकार के अभिष्यन्द का वर्णन कर उनकी आयुर्वेदिक चिकित्सा दी है। अभिष्यन्द रोग का सर्वगत रोगों में वर्णन किया गया है। आधुनिक मतानुसार इसे नेत्रच्छद कला का शोथ माना गया है जिसे Conjuctivitis कहते हैं। यह स्रावी, पूयजनित, पोथकी आदि के भेद से कई प्रकार का होता है। इनके लक्षण पृथक-पृथक होते हैं लेकिन चिकित्सा लगभग एक ही है जिसमें प्रमुखतः बोरिक एसिड द्वारा नेत्र का सेंक दिन में एक या दो बार करना, किसी एण्टीबायोटिक (ब्राड स्पेक्ट्रम या शार्ट स्पेक्ट्रम) का आन्तरिक तथा मलहम के रूप में बाह्य प्रयोग, कार्टीसोन का आन्तरिक तथा मलहम के रूप में बाह्य प्रयोग आदि हैं। यदि मिश्र जी इसकी आधुनिक चिकित्सा आदि का वर्णन भी कर देते तो अधिक उपयुक्त रहता। लेकिन अपने विषय में लेख अत्यन्त उपयोगी सामग्री से परिपूर्ण है। भगवान 'धन्वन्तरि' से प्रार्थना है कि आपको शतायु बनावें।

— दाऊदयाल गर्ग

उभारयुक्त नेत्राभिष्यन्द

कफज नेत्राभिष्यन्द
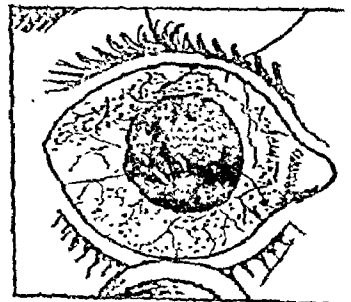
नेत्र के इस चित्र में चक्षुनाड़ियां और रक्तवाहिनियों का क्रम दिखाया गया है।

बाह्य पटल, कनीनिका के अतिरिक्त बाह्य पटल और मध्य पटल के बीच की रहने वाली नाड़ियाँ तथा मध्य पटल की रक्त वाहिनियाँ मात्र दिखाई गयी हैं।

इस सभी सन्धियों के स्थल, द्रवीभूत कण लसीकाओं से युक्त तेजोमय चक्षु के बारे में चरकाचार्य ने कहा है "तेजश्चक्षुष्यः" अर्थात् तेजः अभिप्राय पंचमहाभूत के एक, अग्नि का आंशिक गुण प्रकाश चक्षु में निहित है, किन्तु इसकी पुष्टि पुनः करते हैं 'सूर्यश्चक्षुष्य" अर्थात् तेजोमय चक्षु का अधिष्ठाता सूर्य है। इसका प्रकाश

नेत्राभिष्यन्द
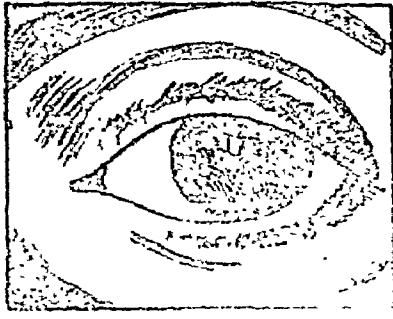
नेत्राभिष्यन्द विशेष
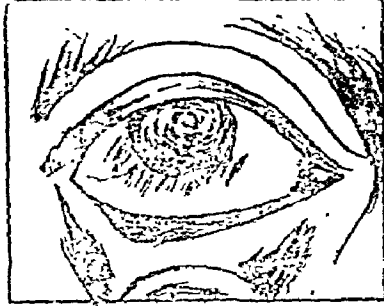
नेत्राभिष्यन्द विशेष
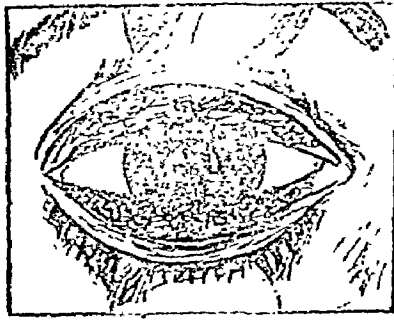
चक्षु के पिछले भाग से आरम्भ होती है जिन तारों से उक्त नाड़ी वनती है वह अन्तरीय पटल में रहने वाली नारी सेलों से निकलकर तार केन्द्रगामी और सांवेदनिक है जो इकट्ठे होकर चक्षुष बिंब से मध्य और वाह्य पटलों से होकर बाहर निकलते हैं। जैसे किसी अन्धकार में लेम्प के प्रकाश में चक्षुदर्शक यन्त्र द्वारा चक्षु की परीक्षा होती है। तभी चाक्षुष विंव पूर्ण चन्द्रमा की भांति सुन्दर और चमकता हुआ दिखाई देता, इसमें अगर कोई रोग फैल जाता है तो चाक्षुष विंव का रूप, रङ्ग आकार और प्रकार बदल जाती है।

अभिष्यन्द रोग समस्त अक्षिगोलक में होता है। इसका कारण—निम्न प्रकार के आहार-विहार की विषमता से बताया गया है—

कड़ी धूप में अति परिश्रम के बाद संतप्त हुए मस्तिष्क में शीतल स्नान या हठात जल में प्रवेश करना या शीतल जल का पीना, हमेशा दूर में कुछ देखते रहना नींद लगने से न सोना या असमय में सोने से रात्रि जागरण, दिन में शयन, अग्नि के सामने अधिक काम करने से चक्षु में अधिक धूल या अधिक धूप लगने से, वमन होने से, तरल पदार्थ तथा आम-इमली मिला घोल सत्तू के साथ खटाई का अधिक खाने से, विशेष जल और अधिक शर्वत पीते से, मल-मूत्र, अधोगतवायु, छींक, जृमा (जंभाई) मैथुन के वेगों को रोकने से, शोक संताप जन्य अधिक रोने से या मस्तक में किसी आघात और तेज सवारी पर चलने से नेत्र पिण्ड में टकराई हवा के कारण, ऋतु विपरीत आहार-विहार, अधिक क्रोध,पश्चाताप, और पीड़ा (व्यथा), अधिक मैथुन से तथा नेत्रवस्ति न लेने से (कभी गुलाव जल आदि से नेत्र को साफ न करने से), अत्यन्त वारीक शब्दों को अधिक या कम प्रकाश में पढ़ने से चक्षु की सूक्ष्मनाड़ी पोषक पदार्थ का वहन न कर विकृति की कारण वन जाती है।

इतना ही नहीं चक्षु शिराओं में स्थित चलने वाली वायु प्रविष्ट होकर कनीनिका, तारा, उपतारा, उपतारानुमंडल, पटल, मध्यपटल, दृष्टिनाड़ी आदि स्थान में विकार पैदाकर देती है। यह रोग सारी आंखों में अचानक उत्पन्न होकर अभिष्यन्द के नाम से रोग पहचाना जाता है।

अभिष्यन्द रोग के चार भेद

१. वाताभिष्यन्द—रूखी हवा, रूखा भोजन, रूखे वचन और क्रोध से प्रभावित उर्द्ध जत्रुगत वायु की प्रविष्टि होते ही चक्षुपटल, उपतारानुमण्डल की धमनियों में विकार उत्पन्न कर समस्त चक्षु का रङ्ग धूमिल तथा लाल वना देता है–वेदना होती है, चुभती है, खुजलाती है, और नेत्र रूक्ष हो जाता है, नेत्र पलकों में हल्की सूजन होती है। सोकर उठने पर चक्षु पलक चिपक जाती हैं, आँखों से आसू निकलते हैं–सिर में दर्द होता है। यह वाताभिष्यन्द का लक्षण है।

२. पित्त प्रकोप से दूषित हुई नेत्र, अधिक जलन, वेदना और शीतलता से शान्तिवोध, चक्षुकी सफेदी, रक्त पीताभ, उष्ण अश्रु प्रपात, रात में चिपक जाना, अधिक दुखना, वेचैन रहना, पित्ताभिष्यन्द कहलाता है।

३. श्लेष्मा के प्रकोपजन्य हुई चक्षुकी नाड़ियों में भारीपन, सूजन और नेत्र पलक में भी सूजन रहना, खुजली और कीचड़ होना, चक्षु का चिपक जाना तथा चिकना अश्रु-

प्रपात और सफेदी में लालीयुक्त रहना, रोगी का सिर भारी रहना आदि लक्षण होता है। गरम प्रसेक से शान्ति-बोध होता है।

४. शरीरगत रक्ताणुओं की कमी या अधिक रक्त की वृद्धि, क्षारीय और अधिक अम्ल पदार्थ का सेवन पैत्तिक आहारों के सेवन से कुपित रक्ताश्रित वायु चक्षु गोलक के समस्त भागों में पहुँच कर विकृत कर देता है—चक्षु से स्रवित अश्रु में लाली, आँख लाल होना, लाल-लाल शिरायें स्पष्ट दिखाई देना आदि लक्षण के अतिरिक्त पित्ताभिष्यन्द के भी लक्षण इसमें सम्मिलित रहने से रक्ताभिष्यन्द समझना चाहिये।

यह रोग देहातों में, नगरों में और शहरों में उत्पन्न होकर सब जगह फैल जाता है और यह छूआ-छूत की बीमारी है। इसके रोगियों को यदि दूसरा व्यक्ति नेत्र को देखा करें तो उनकी भी आँख दुखने लगती हैं।

यह रोग आँख आना, आँख दुखी, जयबंगला आँख उठना के नाम से प्रसिद्ध है—

यही रोग जब अधिक समय तक उपेक्षित रहता है तो रोग बढ़कर 'अधिमन्थ' के नाम से पुकारा जाता है, यह कष्टसाध्य हो जाता है (अधिक समय में ठीक होना सम्भव) यह भी चार भागों में विभक्त हो जाता है, इसलिए यह रोग होते ही तुरन्त इलाज शुरू कर देना चाहिये।

आँख को स्वस्थ रखने के लिए गुलाब जल डालते रहना चाहिए। मोती सुरमा, काजल और ज्वाला आयुर्वेद भवन का "नेत्रामृत सुरमा" का व्यवहार करना चाहिए, जिससे आँख खराब न होगी।

जब कहीं से चलकर आयें अथवा रात को जब सोने लगें उस समय अच्छी तरह पांव को धो लेना केवल मन की ही स्वच्छता नहीं रहती बल्कि चक्षु नाड़ियों में भी तर्पण होता है। इन क्रियाओं से अच्छी नींद आती और चक्षु हमेशा स्वच्छ रहता है।

उर्द्ध गामिनी धमनी ग्रीवा के पार्श्व से ऊपर शिर के समस्त भागों में फैली हुई रक्त का परिवहन करती है, उसी धमनी से लगे हुए मुख्य शिरायें नेत्र से संलग्न रहता है जिसे हम मध्य पटल, उपतारा एवं उपतारानुमण्डल की धमनियाँ और नाड़ियाँ कहते हैं। इन नाड़ियों का सीधा सम्बन्ध अधोगत धमनियों से रहता है अतएव-पैर में या तलवे में छाग दुग्ध एरण्ड तैल और चमेली के पत्ते का स्वरस, गोदुग्ध का मक्खन मर्दन या लेप कर देने से वायुगत नेत्रविकार नष्ट हो जाता और चक्षु को बल मिलता और कष्ट दूर हो जाता है।

इसी तरह पित्ताश्रित चक्षु विकार में—छाग दुग्ध, घृत कुमारी के गूदे, गौघृत में कपूर मिला कर, त्रिफला का हिम या फांट से सिर धोना या तलवे में रगड़ने से नेत्र विकार नष्ट हो जाता है।

कफाश्रित नेत्राभिष्यन्द में पीत सर्षप तेल (पीली सरसों का तेल) में सौंठ चूर्ण मिलाकर, छागदुग्ध १ बड़ा चम्मच में २ रत्ती भर अफीम मिला कर या महुए से बने देशी शराब से रोगी के तलवे में मर्दन करने से नेत्र की पीड़ा जल्द आराम हो जाती है और आंख ठीक हो जाती है।

रक्त से दूपित अभिष्यन्द में चमेली के पत्ते का स्वरस घृत कुमारी स्वरस और भृङ्गराज स्वरस सम प्रमाण में लेकर रोगी के तलवे पर मर्दन करने से आँख की लाली कट जाती और पीड़ा शांत हो जाती है।

ये सभी उप र नेत्र में छींटे मारकर, लेप या कपड़े से छानकर दो से चार बूंद डाल कर भी प्रयोग कर सकते हैं।

१. बरगद का दूध लाकर दो से तीन बूंद चक्षु में डालने से अभिष्यन्द रोग नष्ट हो जाता और आँख स्वच्छ हो जाती है।

२. देहाती अंजन है जिसे अभिष्यन्द रोग पर आजमाइश किया हुआ है—

दारु हल्दी १/२ तोला, रसौत १/२ तो०, स्वस्थ पुत्रवती स्त्री का दूध १/२ तोला प्रत्येक (५-५ ग्राम), स्त्री के दूध में उपर्युक्त दोनों को महीन सिल पर पीस छानकर प्रतिदिन दो-तीन बार आँख में आँजने से अभिष्यन्द रोग जल्द आराम हो जायगा। पीड़ा शांत होगी।

३. फिटकरी, सैंधा नमक और रसौत १/२ तोला प्रत्येक महीन चूर्ण कर रखलें और आवश्यकतानुसार रोज प्रतिवार स्त्री के दूध में साफ सिल पर पीसकर अभिष्यन्द रोग में आँजने से आँख की लाली कट जायगी और पीड़ा भी मिट जायगी।

—शेषांश पृष्ठ १३० पर देखें।

नेत्राभिष्यन्द

श्री डा० मोहम्मद मन्नान सिद्दीकी

प्रायेण सर्वे नयमायास्ते भवन्त्याभिष्यन्द निमित्तमूलाः ।
तस्मादभिष्यन्दमुदीर्यमाणमुपाचरेदाशुहिताय धीमान ।।

अभिष्यन्द रोग प्रायः समस्त नेत्र रोग का कारण है अतः अभिष्यन्द रोग होते ही चिकित्सा कार्य शुरू करने का निर्देश सुश्रुत संहिता अध्याय ६ उत्तर खण्ड में आया है । आँखों से स्राव तथा दर्द प्रमुख रूप से अभिष्यन्द के लक्षण हैं । साधारणतया अभिष्यन्द को आंखों का दुखना, आंख आना नाम से सम्बोधित किया जाता है तथा पाश्चात चिकित्सा विज्ञान में (Conjunctivitis) आयुर्वेद चिकित्सा विज्ञान में अभिष्यन्द (नेत्राभिष्यन्द) के नामों से जाना जाता है । चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से नेत्राभिष्यन्द में आँखों की श्लेष्मावरण कला में शोथ हो जाता है ।

अभिष्यन्द पर प्रकाश डालते हुए माधव निदान में आया है—

प्रसंगात् गात्र संस्पर्शान्निःश्वासात्सह भोजनात् ।
सह शय्यासनाच्चैव वस्त्रमाल्यानुलेपनात् ।।
कुष्ठं ज्वरश्च, शोषश्च, नेत्राभिष्यन्द एव च ।
औपसर्गिक रोगांश्च संक्रामन्ति नरान्नरम् ।।

प्रसङ्ग, गात्र स्पर्श, विश्वास, सहभोजन साथ-साथ सोने तथा दूसरे व्यक्ति के उतारे-वस्त्र, माला, लेप आदि के प्रयोग करने से कुष्ठ, ज्वर, शोष, तथा नेत्राभिष्यन्द आदि रोग जो औपसर्गिक हैं फैलते हैं । अभिष्यन्द अधिकतर ग्रीष्म काल के मौसम में गरीवी तथा निम्नस्तर पर जीवन व्यतीत करने वाले वर्गों में अधिकतर देखा जाता है । ये व्यक्ति जिन्हें प्रथक प्रथक सोने उठने बैठने, भोजन, वस्त्र की सुविधा नहीं होती औपसर्गिक रोग होने के कारण अभिष्यन्द शीघ्रता से फैलता है । सुश्रुत संहिता में दोषानुसार अभिष्यन्द के चार भेद बताये गये हैं—

१. वाताभिष्यन्द—वाताभिष्यन्द में सुई चुभने की सी पीड़ा, स्तम्भता, रोमहर्ष, नेत्रों में रगड़क तथा खुरदराहट, शिरोभिताप शीतल अश्रु के साथ ही साथ नेत्रों का शुष्क हो जाना लक्षण पाये जाते हैं ।

२. पित्ताभिष्यन्द—पित्ताभिष्यन्द में दाह, पाक, धूमायन, नेत्रों का पीला हो जाना, शीतल पदार्थों की इच्छा, गर्म अश्रुओं की अधिकता के साथ अन्य लक्षण भी पाये जाते हैं ।

३. श्लेष्माभिष्यन्द—नेत्रों की शीतलता के साथ श्वेतता तथा शीतल आँसुओं की स्रावता के अतिरिक्त नेत्रों में भारीपन, शोथ, कण्डू तथा उपदेह इत्यादि उपद्रव श्लेष्माभिष्यन्द में पाये जाते हैं ।

२५ वर्षीय श्री सिद्दीकी साहब ने मनेन्द्रगढ़ जिला सरगुजा में एक आयुर्वेदिक एवं यूनानी चिकित्सालय स्थापित किया हुआ है । रोगियों से अवकाश मिलने पर लेखन कार्य आपका विशिष्ट शौक है । चिकित्सा आपका पैतृक व्यवसाय है । आप 'आयुर्वेद वारिधि' सम्मानोपाधि भी प्राप्त कर चुके हैं । सरगुजा क्षेत्र के विशिष्ट पत्रकार हैं । आपने अपना जीवन आयुर्वेद चिकित्सा विज्ञान को समर्पित कर दिया है ।

प्रस्तुत लेख में छोटे छोटे सरल प्रयोग पाठकों को रोजमर्रा की चिकित्सा में अत्यन्त सहायक होंगे ।

—सम्पादक ।

४. रक्ताभिष्यन्द—रक्ताभिष्यन्द में मिश्रित लक्षण प्रमुखता से पाये जाते हैं। प्रमुख रूप से नेत्रों में लाली,लाल रंग के डोरी की प्रमुखता के साथ किंचित लाल रंग के अश्रुओं के स्राव के अतिरिक्त पित्ताभिष्यन्द के लक्षण होते हैं।

अभिष्यन्द की चिकित्सा--

सुश्रुत संहिता चिकित्सा प्रकरण उत्तर तन्त्र अध्याय ९ में अभिष्यन्द की चिकित्सा के विषय में आया है। अभिष्यन्द तथा अधिमन्थ रोग से पीड़ित रोगियों को दोषानुसार पुराने घृत से स्नेहन, स्वेदन, सिरामोक्षण, स्निग्ध विरेचन, तर्पण, पुटपाक, धूम, आश्चोतन, नस्य, स्निग्ध परिषेक तथा शिरोवस्ति का प्रयोग करना चाहिये।

वातविकार में वातनाशक जलजीवों के अम्ल कषायों तथा चार के उष्ण स्नेहों से सेवन करायें। दूध को त्रिफला तथा वातनाशक द्रव्यों से सिद्ध कर पिलायें। स्नेहिक पुटपाक, धूम और नस्य भी हितकारक हैं। आश्च्योतन कर्म के लिए सैंधानमक, नागरमोथा, तथा मुलैठी में आधा जल डालकर औटाया हुआ दूध सेक तथा आश्च्योतन कर्म में हितकारक है। तांबे के पात्र में एक मास तक रखा घृत सैंधा नमक मिला कर अञ्जन करे अथवा मुलैठी, हल्दी, हरड़, देवदारू, बकरी के दूध में पीस अंजन करे। वाताभिष्यन्द में विशेष लाभकारी है।

सुश्रुत संहिता उत्तर तन्त्र अध्याय १० में पित्ताभिष्यन्द में रक्तस्राव कराना तथा स्रंसन कर्म कराना हितकारक होता है। नेत्रों में सेक, आलेपन तथा अञ्जन हितकारक है। कायफल तथा नागरमोथा से आश्च्योतन करायें। समुद्रफेन को शहद में घिसकर अंजन प्रयोग करें।

श्लेष्माभिष्यन्द में शिरामोक्षण, स्वेदन, अवपीड़न, अंजन, धूम, सेंक, प्रलेप और कवलग्रह, रूक्षण, आश्च्योतन तथा रूक्ष पुटपाक का प्रयोग करें। ऐसे अन्नपान का सेवन बन्द कर दें जिससे कफ की वृद्धि होती हो।

रक्ताभिष्यन्द में रक्तदोष शामक प्रदेह, परिषेक, नस्य, धूम, आश्च्योतन, अभ्यङ्ग, तर्पण, स्निग्ध पुटपाक प्रयोग करें।

अभिष्यन्द में लाभकारी प्रयोग—

१. प्रवाल भस्म ३ रत्ती तथा सप्तामृत लौह २ माशा मिला प्रति मात्रा प्रातः सायं गोघृत तथा मधु के संयोग से दें।

२. आमलकी चूर्ण, श्रृङ्ग भस्म तथा भृङ्गराज चूर्ण ३ माशा की मात्रा से प्रातः सायं मधु से १ सप्ताह करायें।

३. ५ तोला बबूल पत्र को १ सेर पानी में क्वाथ कर चतुर्थांश शेष रहने पर उतार कर मल छानकर पुन कढ़ाई में रखकर औटाओ। जब लेई सदृश होने लगे त उतार लें। शीतल होने पर चौथा हिस्सा मधु मिला डिब्बे में रखकर प्रयोग करें। आँखों से स्राव बन्द करता है।

४. अर्क गुलाब ४ तोला, असली भीमसेनी कपूर १ तोला भर, कत्था सुर्ख १॥ तोला, फिटकिरी तथा शुद्ध रसौत १॥ तोला सबको मिला अर्क को हलकर रख दें दवा नीचे बैठ जाने पर छानकर शीशियों में सुरक्षित रख प्रयोग करें। प्रातः सायं २-२-३-३ बून्द आँखों में डालने से आंखों का बहना, रतौंधी, नेत्राभिष्यन्द, आँखों की सुर्खी तथा नेत्रों के दोषों को दूर करता है।

५. गुलाब के १ तोले अर्क में २॥ मांशा अफीम तथा २॥ माशा कश्मीरी केशर पीसकर अर्क में हलकर के रखदे। दवा नीचे बैठने पर साफ अर्क २-२ बून्द दिन में तीन बार प्रयोग करें।

६. भीमसेनी कपूर १ तोला लाल, फिटकिरी १ तोला, स्वच्छ रसौत ९ तोला इन सब को कूट घोंट कर १ छटाँक असली गुलाब अर्क में मिलाकर शीशी में सुरक्षित रखें। २-२ बून्द दिन में तीन बार प्रयोग करें।

७. घृतकुमारी गूदा २ तोला, अफीम १ तोला, भुनी फिटकिरी २ माशा, आमा हल्दी ६ माशा, शुद्ध रसौत १ माशा, शुद्ध कपूर डली १ माशा इन सबको सफेद साफ कपड़े में बाँधकर दो पोटली बनायें। फिर १ सेर पानी में दो तोला अफीम के डोडों को कूटकर डालें तथा औटावें। आधा सेर पानी शेष रहने पर उतार कर जब पानी थोड़ा गरम रह जाऐ तो इसी पानी में पोटलियों बांध कर डाले तथा सुहाता सुहाता आँखों में सेंक करें।

पथ्यापथ्य—आमावस्था में पाचन के लिए पथ्य—लंघन, स्वेदन, प्रलेप तथा तिक्तान्न का सेवन पथ्य है।

अपथ्य—आमावस्था की अवस्था में गरिष्ठ भोजन, कषाय, अञ्जन, स्नान तथा घृत का सेवन अपथ्य है।

—डा० श्री मोहम्मद मन्नान सिद्दीकी
बी.ए.,डी.एस.सी.ए. वैद्य विशारद, आयुर्वेद रत्न
महासचिव—मनेन्द्रगढ़ श्रम जीवी पत्रकार संघ
सिद्दीकी दवाखाना—आजाद रोड नं० ५
मनेन्द्रगढ़ (सरगुजा) म०प्र०

शैशवीय नेत्रशोथ गांवों में बहुत पाया जाता है जहाँ कि चिकित्सा सुलभ नहीं होती। चिकित्सा के अभाव में शिशु के नेत्रों में विकार बृद्धि प्राप्त करता जाता है तथा उससे अन्य अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं। आधुनिक मतानुसार तथा प्राचीन मतानुसार यह एक प्रथक रोग है। इसकी चिकित्सा का भी प्रथक ही उल्लेख मिलता है। काश्यप संहिता में इसका विस्तृत वर्णन किया गया है। इस लेख के विद्वान लेखक ने इस संक्षिप्त लेख में जो सम्बन्धित विवेचनात्मक सामग्री दी है वह उनके विस्तृत अध्ययन का प्रतीक है। चिकित्सा में दिये प्रयोग सर्वजनोपयोगी हैं। आशा है कि पाठक लाभान्वित होंगे।

—दाऊदयाल गर्ग

वयस्क वर्ग में पाये जाने वाले अक्षिरोग प्रायः बालकों में भी होते हैं परन्तु कुछ नेत्र रोग ऐसे भी हैं जो केवल शिशुओं में ही पाये जाते हैं जैसा सुश्रुत संहिता में कहा है—

षट्सप्ततिर्नयनजा य इमे प्रदिष्टा
रोगा भवन्त्यमहतां महतां च तेभ्यः।
स्तन्यप्रकोपकफमारुतपित्तरक्तै
र्बालाक्षिवर्त्मभव एव कुकूणकोऽन्यः॥

—सु० उ० तं० १६।८-६

अर्थात् आँख के जो ये छिहत्तर रोग बतलाए हैं ये रोग बालकों तथा बड़ों को होते हैं। दूध के प्रकोप से कफ, वायु, पित्त, रक्त के कारण बालकों की पलकों में कुकूणक नाम का एक दूसरा रोग होता है। सुश्रुत, वाग्भट्ट, माधवानिदानादि ग्रन्थों में विभिन्न अक्षि रोगों का वर्णन है परन्तु काश्यप संहिता में जो एक कौमार भृत्य ग्रन्थ है, बाल सम्बन्धी चक्षु रोगों की जो गणना की गई है वह अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है। कल्प स्थान के षट्कल्पाध्याय में निम्न ऐसे नेत्र रोग कहे हैं जो केवल बालकों में ही पाये जाते हैं—

दूषिका चोपलेपश्च दृष्टिव्याकुलताऽरतिः।
वर्त्मशोथ शिरोरोगः स्रावशेषेऽक्षिपक्ष्मणिः॥ ८॥

बालकों में दूषिका, उपलेप, दृष्टिव्याकुलता, वर्त्मशोथ, शिर रोग व स्राव रोग होते हैं। इन वर्णित रोगों में शिर रोग का वर्णन विचित्र सा लगता है क्योंकि ऐसा विचार हो सकता है कि नेत्र रोगों में शिर रोग कहाँ से आ टपका परन्तु यह काश्यप की विशेषता को परिलक्षित करता है। आजकल देखा जाता है कि विद्यार्थी बालकों में शिरःशूल रहने लगता है जिसमें शिरःशूल के सभी उपचार व्यर्थ या अल्पावधि लाभ कर देते हैं। अन्ततः अक्षिरोग की चिकित्सा करने पर या नजर का चश्मा लगाने पर लाभ देखा जाता है। अतः काश्यप द्वारा वर्णित शिर रोग युक्तिसङ्गत है। ऊपर वर्णित रोगों का काश्यप में निर्देश मात्र है। इनका विस्तृत वर्णन नहीं किया है।

काश्यप ने कुकूणक का विस्तृत वर्णन किया है अतः यहां केवल कुकूणक का ही वर्णन किया जायगा। इस नेत्र वर्त्म रोग का संक्षिप्त वर्णन अन्य ग्रन्थों में भी है जो इसे शिशु रोग ही मानते हैं यथा—

कुकूणकः क्षीर दोषाच्छिशूनामेव वर्त्मनि ।
—मा० नि० बा० रो० ८

कुकूणकः शिरोरेव दन्तोत्पत्तिनिमित्तजः ।
—अ० हृ० उ० त० १८

स्तन्यप्रकोप·······बालक्षिवर्त्मभव एव कुकूणकोऽन्यः
—सु० उ० तं० १९

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि कुकूणक एक बाल रोग है जिसका अधिष्ठान वर्त्म है। काश्यप भी ऐसा ही मानते हैं। यहां वाग्भट्ट का वचन दन्तोत्पत्ति निमित्तजः भी विशेष ध्यान देने योग्य है कि यह रोग दन्तोत्पत्ति के समय पाया जाता है—

दन्तोद्भ्दश्च सर्वरोगायतनम् । विशेषेण तन्मूला ज्वरशिरोऽभितापतृष्णाभ्रमाभिष्यन्द कुकूणक पोथकी कास श्वासातिसार विर्सपाः ।

यह रोग दन्तोत्पत्ति के समय ही क्यों होता है? सम्भवतः इसका एक कारण यही हो सकता है कि दन्तोत्पत्ति के समय दन्तवेष्ट सुषिर हो जाते हैं। जैसा काश्यप ने कहा है।

·······सुषिरत्वाद दंशानां मृदुस्वभावाच्च·······।
—का० दन्त० ५।

सुषिर होने के साथ-साथ इस समय मसूढ़ों में रक्त प्रवाह अधिक रहता है। ऐसी अवस्था में दूध में उपस्थित अवांछित अंश जो आमाशय या आन्त्र में नष्ट हो सकते हैं वह सीधे मसूढ़ों द्वारा रक्त में प्रवेश कर सकते हैं और रोग को उत्पन्न कर सकते हैं। काश्यप ने भी इसका संकेत किया है—

परिषेकास्तु बालानां दन्तजन्मनि ये मयाः ।
कीर्तितास्ते प्रयोक्तव्या परिभूताक्षिरोगेषु ॥
— का० खिल० कु० चि० २९, ३०

बालकों के दांतों की उत्पत्ति के समय मैंने पहले जिन परिषेकों का वर्णन किया है उनका इन सम्पूर्ण अक्षि रोगों में प्रयोग करना चाहिए। सम्भवतः उस अध्याय में कश्यप ने कुकूणक का वर्णन किया होगा (वह अंश उपलब्ध काश्यप संहिता में नहीं है)। काश्यप ने विशेष तौर पर कहा है कि यह रोग केवल बालकों में ही होता है जिसकी पुष्टि काश्यप के निम्न वचनों से होती है।

··········बालस्यानन्न भोजिनः ॥
—का० खि० कु० चि० १३-७

कुकूणक निदान

कुकूणक के निदान का जितना स्पष्ट और विस्तृत वर्णन काश्यप ने किया है वह अन्यत्र उपलब्ध नहीं है।

यदा माता कुमारस्य मधुराणि निषेवते ।
मात्स्यं मांसं पयः शाकं नवनीतं तथा दधि ॥३॥
सुरासवं पिष्टमयं तिलपिष्टाम्लाञ्जिकम् ।
अभिष्यन्दीनि सर्वाणि काले-काले निषेवते ॥४॥
भुक्त्वा भुक्त्वा दिवाशेते विसंज्ञा च विबुध्यते ।
तस्य दोषाः प्रकुपिता दूरं गत्वा च तिष्ठते ॥५॥
—का० खि० कु० १३

जब शिशु की माता सदा मधुर द्रव्य, मछली, मांस, दूध, शाक, मक्खन, दधि, सुरा, आसव, उड़द की पीठी के बने हुए पदार्थ, खट्टी कांजी तथा सम्पूर्ण अभिष्यन्द द्रव्यों का सेवन करती है, दिन में भोजन करके सो जाती है तथा संज्ञा शून्य हो जाती है तब उस स्त्री के दोष प्रकुपित होकर शरीर में दूर जाकर स्थित हो जाते हैं। उपर्युक्त सभी पदार्थ कफ तथा पित्त वर्धक हैं और इससे माता का दूध दूषित हो जाता है।

सम्प्राप्ति

काश्यप ने कुकूणक की निम्न सम्प्राप्ति वर्णित की है—

दोषेणावृतमार्गायास्ततः स्तन्यं च दूष्यते ।
प्रदुष्ट दोषसज्जं तु यदा पिबति दारकः ॥६॥
अनुप्रवेशादाक्षेपादुष्णसत्ववनादपि ।
जायते नयन व्याधिः श्लेष्मलोहित सम्भवः ॥८॥

दोषों से आवृत होने के कारण दूध दूषित हो जाता है और इस प्रकार दुष्ट दूध को जब शिशु पीता है तब (दोष) प्रविष्ट होकर आक्षेप व उष्णता के कारण कफ रक्तजन्य नेत्र व्याधि हो जाती है। सुश्रुतानुसार कुकूणक की सम्प्राप्ति में वात, पित्त, कफ और रक्त को सम्मिलित किया है—

स्तन्य प्रकोपककफमारूत पित्तरक्तैर्बालाक्षिवर्त्म भव
—सु० उ० तं० १९-६

लक्षण

काश्यप ने कुकूणक के निम्न लक्षण कहे हैं—

अभीक्ष्णमस्त्र स्त्रवते न च क्षीवती दुर्मनाः।
नासिकां परिमृदति कर्णं वाञ्छ(ह्य)ति दुःखितः ॥९॥
ललाटमक्षिकूटं च नासां च परिमर्दति।
नेत्रे कण्डूयतेभीक्ष्णं पाणिना चाप्यतीव तु ॥१०॥
स प्रकाशं न सहते अश्रुचास्य प्रवर्तते।
वर्त्मनि श्वयथुश्चास्य जानीयात्तं कुकूणकम् ॥११॥
—का० खि० कु० चि० १३

उसकी आंखों से निरन्तर पानी बहता रहता है। उसे छींक नहीं आती, अप्रसन्न, नासिका तथा कानों को दुःखित हुआ कुरेदता है। ललाट, अक्षिकूट व नासिका को मलता है। नेत्रों में अत्यन्त कण्डू होती है। हाथ से उन्हें रगड़ता है। वह प्रकाश सहन नहीं करता, नेत्रों से अश्रु बहते हैं तथा नेत्र वर्त्म सूज जाते हैं।

सुश्रुतादि ग्रन्थों में भी काश्यपोक्त लक्षणों से साम्य रखते हुए लक्षण वर्णित हैं—

मृद्नाति नेत्रमति कण्डूमथाक्षिकूटं नासा ललाटमपि तेन शिशुः सनित्यम्। सूर्य प्रभां न सहते स्त्रवति प्रवृद्धम्
—सु० उ० त० अ० १९–८

माधवानुसार—
**जायते तेन तन्नेत्रं कण्डूरं च स्रवेन्मुहुः।
शिशुः कुर्याल्ललाटक्षिकूटनासावघर्षणम्॥
शक्तोनार्कप्रभां द्रष्टुं न वर्त्मोन्मीलनक्षमः॥**
—मा. नि. बा. रो. नि, ८/९

**अष्टांग हृदय—
स्यात्तेन शिशुरुच्छूनताम्राक्षो वीक्षणाक्षमः।
सवर्त्मशूल पैच्छिल्यः कर्णनासाक्षिमर्दनः॥**
—अ. हृ. उ. तं. ८–२०, २१

योगरत्नाकरानुसार इस नेत्र रोग में नेत्र कमजोर हो जाते हैं तथा बालक सूर्य के प्रकाश या चमकीले पदार्थ देखने में असमर्थ होता है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि लगभग सभी आचार्यों ने कुकूणक के निम्न मुख्य लक्षण कहे हैं—

१. विशिष्ट लक्षण—
(क) नेत्रों से अत्यधिक अश्रुस्राव
(ख) ललाट, अक्षिकूट व नासा का घर्षण
(ग) नेत्र कण्डू
(घ) प्रकाश संत्रास (च) वर्त्म शोथ

२. सामान्य लक्षण—
(क) बेचैनी (ख) छींक का अभाव

ऊपर कहे लक्षणों के आधार पर यदि आधुनिक नेत्र विज्ञान में वर्णित रोगों के साथ कुकूणक का साम्य किया जाय तो विभिन्न रोग सामने आते हैं और लक्षणों के आधार पर अलग-अलग विद्वानों ने वर्त्मशोथ (Blepharitis), नेत्राभिष्यन्द या पोथकी (Trachoma) या इनसे संयुक्त कोई रोग माना है। इनमें पोथकी से साम्य तो ठीक ही नहीं क्योंकि कुकूणक व पोथकी का वर्णन वाग्भट्ट ने एक साथ किया है। इस रोग का साम्य करने से पहले कुकूणक के बारे में कुछ तथ्य समक्ष रखना आवश्यक है।

यह रोग संक्रामक रोग नहीं है। निदान सम्प्राप्ति लक्षण को ध्यान में रखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि वह अनूर्जताजन्य (Allergic) रोग है जो दूध के कारण हो सकता है। इसका संकेत काश्यपोक्त कुकूणक चिकित्सा से मिलता है।

तस्या वान्तविरिक्तायाा निर्दुह्य च स्तनावुभौ ॥१३॥

धात्री को वमन विरेचन कराने के बाद उसके दोनों स्तनों का दोहन करें। इसका उपयोग यही हो सकता है कि शुद्धि के बाद जो शेष दुष्ट दुग्ध स्तनों में है उसे भी निकाल दिया जाय ताकि जो नया दूध उनमें आये उसमें दूषित (Allergic) अंश उपस्थित न हो।

कुकूणक की चिकित्सा में आश्च्योतन आदि के लिए कई योगों में हल्दी का प्रयोग किया गया है जिसका अनूर्जता विरोधी गुण परखा जा चुका है। नेल्सन में माता के दुग्ध पान के दुर्गुणों का वर्णन करते हुए लिखा है—

Infrequently, allergens to which the infant is *sensitized may* be conveyed in tha milk. In such instances on attempt should be made to find the specific allergen and remove it from mother's diet; the presence of such allergens rarely becomes a valid reason of weaning the baby.

अर्थात् कभी वह Allergens जिनसे बालक द्वेष रखता है दूध के द्वारा उसके शरीर में पहुँच जाते हैं। ऐसी अवस्था में उस Allergen को ढूंढा जाय और

माता के भोजन में से वह वस्तु निकाल जाय। कभी ऐसी अवस्था में बच्चे को दूसरे भोजन पर डालना पड़ सकता हैं।

अनूर्जताजन्य नासाकला शोथ के वर्णन में Nelson कहते है कि यह रोग प्रायः प्रथम वर्ष में बालकों में खाद्यों के कारण होता है और इसके निम्न लक्षण कहे है—

Mild nasal Congestion with Sniffing, a tendency to an itchy nose... .. recurre t edema of the eyelids reflects congestion in the ethmoid area......

वर्त्म रोगों के वर्णन में Harley, R. .D. (Nelson) कहते है—

Edema of lids may be due to local and general disease. Allergy is a Common cause. Paranasal sinuses, orbit, tear sac or eye ball may produce oedema Hemorrhage in the lids results in ecchymosis

इस सारे वर्णन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि कुकूणक एक अनूर्जता जन्य रोग है जो नासाकला शोथ सह वर्त्मशोथ हो सकता है।

चिकित्सा

क्षीरप बालकों का रोग होने के कारण सर्वप्रथम धात्री (माता) का शोधन आवश्यक है। इसके लिए वमन विरेचन कराने के बाद दोनों स्तनों का दोहन करना चाहिये।

पथ्यं भुञ्जीत खादेत विपरीतं च बर्जयेत ॥१४॥
—काश्यप कु० चि०

इसके बाद बालक की आँखों को अच्छी तरह खोल कर साफ करें तथा उनमें से दूषित रक्त निकालकर पानी के छींटे देवें यथा—

ततो वर्त्मनि बालस्य निर्भुज्याथ प्रमृज्य च।
निर्मुच्य रुधिरं दुष्टं कुर्याद्धीरोऽवसेचनम् ॥१५॥

अक्षिरोगों में उष्णोपचार भी लाभकारी है यथा—

परिषेको भवेच्छ्रेष्ठो जलेनोष्णेन योजयेत।
अक्षिरोगेषु सर्वेषु योग एष प्रशस्यते ॥२५॥
—का० खि० कु० चि०

सुश्रुत ने बालक को वमन कराना चाहिए ऐसा निर्देश किया है

तं वामयेत् मधुसैन्धवसंप्रयुक्तैः,
पीतं पयः खलु फलैः खरमञ्जीणाम ॥११॥
स्यात्पिपलीलवण मक्षिक संयुतैर्वा नैनं वमन्तमपि वामयितुं यतेत, दत्वावचामशम दुग्ध भुजे प्रयोज्यमूर्ध्वं ततः फलयुतं वमन विधिज्ञः ॥१२॥ —सु० उ० त० १९

कुकूणक चिकित्सा के लिए विभिन्न परिषेचन, लेप, वर्ति व रसक्रिया का विभिन्न आचार्यों ने वर्णन किया है।

एरण्ड, रोहिष, त्वक्क्षीरी तथा वरुण के क्वाथ का परिषेक करें।

फणिज्झक तथा तुलसी के पत्तें का रस, जातिपत्र स्वरस प्रसन्ना मण्ड तथा मधुयष्टि मिलाकर आश्च्योतन करें।

भृङ्गराज के पत्र तथा विल्व (की गोंद) व पत्र स्वरस को सुरामण्ड में पीसने से उत्तम आश्च्योतन बनता है।

भृङ्गराज, नीली, तुलसी, श्वेत सरसों तथा हल्दी के कल्क का लेप आँख मे करें।

हल्दी के छिलके तथा पिप्पली को उत्तम प्रसन्ना के मण्ड से अञ्जन वर्ति बनाकर नेत्र में लगायें।

पुण्डरीक, लोध्र, हल्दी, शर्करा तथा मधु इनमें उष्ण-जल मिलाकर उसके द्वारा परिषेक करें।

गोघृत, मधु और शंख के साथ सैन्धव नमक को पीसकर सात दिन तक उसका स्रोतोञ्जन पर लेप करें। तदनन्तर उस स्रोताञ्जन को पीसकर जल के साथ पीस कर गोलियाँ बनालें। पुष्य नक्षत्र मे वे सब गोलियाँ पृश्नि-पर्णी तथा अंशुमती (शालिपर्णी) दो भाग, श्वेत एरण्ड तथा वृहती ३ भाग तथा लोह चूर्ण तथा ताम्र चूर्ण भी ३-३ भाग इसको बकरी के दूध में पीसकर गोलियां बना कर सुखा लें। उन गोलियों का बकरी की मेंगनी तथा शमी के पत्तों से धूपन करें। इन गोलियों को रसौत तथा हल्दी की त्वचा के साथ सुरामण्ड से पीसकर अञ्जन वर्तिका बनाये।

काश्यप द्वारा वर्णित कल्याणिका रस क्रिया भी कुकूणक में लाभदायक है।

—डा० रमेश शर्मा बी०ए०, बी०आई०एम०एस०;
पी०जी०एस०; डी०ए वाई०एम० (बी०एच०यू०)
अध्यक्ष–राजकीय आयुर्वेद चिकित्सालय
जस्सल (तत्तापानी) शिमला हिल्ज (हि० प्र०)

नवजातस्य नेत्राभिष्यन्द

-प्राणाचार्य श्री सीताराम अग्रवाल-

भारत की नारी कुछ अपनी लज्जाशीलता के कारण कुछ अपनी अज्ञानतावश अपने रोगों को विशेषकर प्रजननांगों के बारे में किसी से कुछ कहने में हिचकती है। नारी की तो बात ही छोड़िए यहां का कामलोलुप पुरुष भी रोगों से ग्रस्त होते हुए अपनी स्त्री को भी रोग ग्रस्त कर देता है, तथा इन सबका परिणाम एक भविष्य के गर्भ में हुई संतान को भोगना पड़ता है। सुजाक, पूयमेह आदि ऐसे ही रोग हैं। जो संतान राष्ट्र व समाज को मजबूत कर सकती है वही अपने माता पिता की गलतियों का दंड भोगती हुई सारी जिन्दगी दुखों के सागर में डूबती रहती है।

नवजातस्य नेत्राभिष्यन्दः एक ऐसा ही रोग है, जो माता से बच्चे को प्रसूतिगृह में ही लग जाता है। इस रोग से हजारों बच्चे बचपन में ही अन्धे हो जाते हैं।

इस रोग का उत्पादक जीवाणु पूयमेह का जीवाणु (Neisseira Gonorrheae) होता है

लक्षण एवं चिह्न—

जिस समय पूयमेह व्याधि से पीड़ित स्त्री प्रसूति-गृह में एक सुन्दर, स्वस्थ बालक के स्वप्नों को लेती हुई शिशु को उत्पन्न करती है उसी क्षण माता के अपत्य पथ के दूषित स्राव से नवजात बच्चों के नेत्रों में उपसर्ग का संबंध हो जाता है। तथा लक्षण उत्पन्न होने में लगभग २ या ३ दिन लग जाते हैं।

प्रथमतः बालक नेत्रों को खोलने में वर्त्म शोथ की वजह से असमर्थ होता है। नेत्र श्लेष्मावरण जलन युक्त, शोथ युक्त व चमकदार लाल हो जाती है। Chemosis (नेत्र गोलक की शोथ) पाया जाता है। नेत्र से पहले जलीय स्राव होता है जो बाद में पिच्छिल हो जाता है। बालक के नेत्रों में स्पर्शासह्यता होती है जिससे बालक नेत्रों को नहीं छूने देता है। रसायनी ग्रन्थि (Preauricular Gland) शोथ युक्त हो जाती हैं। दोनों ही नेत्र पीड़ित होते हैं।

नवजात शिशु के नेत्र से पूय बाहर निकलता हुआ
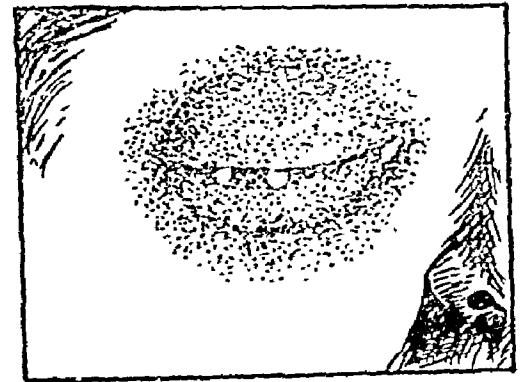
३ या ४ दिन बाद शोथ व स्पर्शासह्यता कम हो जाती है परन्तु पिच्छिल पीले रंग का स्राव अधिक मात्रा में निकलने लगता है। कभी-कभी रक्त भी स्राव में मिश्रित होता है।

उपसर्ग अति तीव्र न होने पर रोगी २ या ३ सप्ताह में ठीक हो जाता है। अन्यथा उचित चिकित्सा न कराने पर शुल्क मण्डल में सव्रण शुल्क (Corneal ulcer) हो जाता है। इससे शुक्रमण्डल नष्ट होने लगता है तथा व्रण के बड़ा होते रहने से छिद्रण होने की सम्भावना रहती है। एकाएक छिद्रण होने की दशा में तारामण्डल (Iris) स्थानभ्रंश हो जाता है तथा दृष्टिमणि (ताल) आदि फूट-कर बाहर निकल आते हैं व दृष्टि बिल्कुल नष्ट हो जाती है।

रोग निर्णय—नेत्र स्थान के अन्दर सूक्ष्म दर्शक यंत्र से देखने पर पूयमेह के जीवाणुओं (Neisseria Gonorrhoeae) की उपस्थिति होने से रोग विनिश्चय होता है।

चिकित्सा—

इस व्याधि के लिए प्रतिषेधात्मक चिकित्सा काफी महत्व रखती है। माता के ही व्याधि पीड़ित होने पर पूयमेह की चिकित्सा करनी चाहिए।

गर्भकाल मे योनि से किसी भी प्रकार का स्राव होने पर एक्रीफ्लेविन या पारद धावन (A. Mercurochrome) के घोल से उत्तरवस्ति देनी चाहिए। विशिष्ट चिकित्सा रोग विनिश्चय के बाद करनी चाहिए।

क्रीड की विधि (Crede's Method)—

प्रसव के बाद शिशु के नेत्रों को स्वच्छ पानी या पारदधावन के तनु घोल से स्वच्छ करके एक प्रतिशत सिल्वर नाइट्रेट के घोल की १-२ बूंद दोनों नेत्रों में छोड़नी चाहिए। प्रोटार्गल २०% या आर्जिरौल ३०% के घोल से भी नेत्रों का प्रक्षेप किया जा सकता है। रोग स्थापित होने की दशा में तलीय क्रिस्टलीय पेंसिलीन १०,००० यूनिट प्रति ३ घण्टे पर नितम्ब की पेशियों में लगाना चाहिए। दुग्ध या दुग्ध से बने सूचीवेध १-१ मि.लि. एक-एक दिन के अंतर से दिये जा सकते हैं। पैंसिलीन खोज से पहले सल्फा ग्रुप की औषधियां दी जाती थीं। सल्फाडायजीन व सल्फाडायमीडिन को शिशु आसानी से सहन कर लेते हैं।

स्थानिक प्रयोग—

पैंसिलीन ड्रोप्स व मलहम प्रयोग किया जाता है। १% सिल्वर नाइट्रेट के घोल से लेखन कर्म भी करें।

सव्रण शुक्र हो जाने की अवस्था में एक प्रतिशत एट्रोपीन सल्फेट का घोल दिन में ३ या ४ बार डालें।

सल्फा ग्रुप की औषधियां स्थानिक रूप से कोई लाभ नहीं करतीं।

—डा० श्री सीताराम अग्रवाल
बी. एस-सी, बी. ए. एम. एस.
अमरहरी क्लीनिक, धौली प्याऊ, मथुरा।

अभिष्यन्द या आँख आना : : पृष्ठ १२२ का शेषांश

४. रसौत १ तोला को गुलाब जल में महीन पीसकर पतला कर छान शीशी में रखलें और दिन में चार से छः बार डालते रहें। पित्त-रक्तजन्य अभिष्यन्द जल्द आराम हो जायगा।

५. शुद्ध स्फटिक (फिटकरी का फूला) १ तोला (१० ग्राम), रसौत १ तोला (१० ग्राम), अफीम १/२ तो. (५ ग्राम) महीन पीस कर शीशी में रख लें। प्रत्येक बार आवश्यकतानुसार निकाल कर स्त्री के दूध में मिला कर आँख में दो बूंद टपका दें। चक्षु की पीड़ा शांत और चिपकना बन्द हो जायगा।

६. शुद्ध उत्तम सोड़ा १/२ तोला (५ ग्राम), भीमसैनी कपूर १/२ तोला (५ ग्राम), शु० सौवीरांजन ४ तो० (४० ग्राम) इन तीनों द्रव्यों को अच्छी तरह मर्दन कर कणरहित कर लें और शीशी में रखलें और १ चिकने शलाका से नेत्र में दो तीन बार लगाते रहने से नेत्र की जलन, कीचड़ आना और लाली मिट जाती है। यह अभिष्यन्द रोग की मुफीद दवा है।

अभिष्यन्द होने से पहले ही हर व्यक्ति का कर्त्तव्य हो जाता है कि नेत्र का स्वस्थवृत्त क्रिया (चक्षु को निरोग रखने के लिए) त्रिफला के काढ़ा, हिम, फाण्ट को छानकर नेत्र को प्रतिदिन प्रातः धोते रहना, स्वच्छ जल के अन्दर चक्षु खोलकर देखना या जल से छींटे मारना, चन्द्रमा की तरफ देखना, ठीक समय पर सोना। प्रातः ४ बजे उठकर बासी जल पीना और उसी समय में घूमना चाहिये।

कभी-कभी मोती सुरमा काजल और ज्वाला आयुर्वेद भवन का नेत्रामृत सुरमा का प्रयोग करते रहना चाहिये जिससे नेत्राभिष्यन्द के अतिरिक्त अन्य चक्षु रोग न होगा।

—श्री पुण्यनाथ मिश्र आयुर्वेदाचार्य
चिकित्सक—अरियादह आर. एन. सी. औषधालय
५—एम. एम. फीडर रोड, कलकत्ता—७०००५७

अधिमन्थ

—श्री धर्मदत्त वैद्य

नेत्र रोगों में सर्वगत रोगों का यह एक प्रधान रोग है। यह अधिकतर प्रौढ़ावस्था (लगभग ४० से ५० वर्ष की आयु) में होता है। इस रोग की उत्पत्ति 'अभिष्यन्द' नामक नेत्ररोग की उपेक्षा करने से होती है। इस रोग में ऐसा मालूम होता है कि जैसे कोई आँख का मन्थन कर रहा हो और आँख को बाहर निकाल रहा हो, नेत्र में असह्य वेदना होती है तथा उसी तरफ सिर में भी भयङ्कर वेदना होती है। यह रोग इतना दुष्ट होता है कि उचित समय पर उपचार न किया जाय तो आँख सदा के लिए चली जाती है फिर किसी भी चिकित्सा से लाभ नहीं होता। इस रोग में नेत्र गोलक की कठिनता बढ़ जाती है तथा नेत्रान्तरीय भार की वृद्धि हो जाती है जिसके कारण शूल,मन्थ आदि लक्षण मिलते हैं। इसमें अभिष्यन्द क सभी बढ़े हुए लक्षण मिलते हैं तथा इसके अतिरिक्त शंख प्रदेश, दन्त प्रदेश और कपाल के देशों में भी तीव्र पीड़ा होती है।

मान्यवर श्री वैद्य जी ने अत्यन्त कृपा कर यह लेख भेजा है। इसमें आपने अधिमंथ के भेद, लक्षण लिखकर आयुर्वेदीय चिकित्सा विधि दर्शित की है। लेख संक्षिप्त होते हुए भी स्वविषय में पूर्ण है तथा वैद्य जी की योग्यता का दिग्दर्शक है।

मान्यवर वैद्य जी आयुर्वेद जगत की एक महान विभूति हैं। आप विगत में विद्यापीठाध्यक्ष तथा उ० प्र० के स्वास्थ्य मन्त्री रह चुके हैं। भविष्य में भी आयुर्वेद जगत को आपसे पर्याप्त आशायें हैं।

— दाऊदयाल गर्ग

अधिमन्थ के सामान्य लक्षण—

उत्पाट्यत इवात्यर्थं नेत्रं निर्मथ्यते तथा।
सिरसोऽर्द्धं च तं विद्यादधिमन्थं स्वलक्षणैः॥

—सु० उ० ६

जिसमें रोगी को ऐसा प्रतीत होता है कि मानो कोई नेत्र निकाल रहा हो अथवा नेत्र का मंथन किया जा रहा हो अथवा सिर के अर्द्ध भाग में भयंकर पीड़ा हो उसे स्वलक्षणो (वातादिजन्य, अधिमन्थ लक्षणों) से अधिमन्थ जानना चाहिये। अधिमन्थ चार प्रकार के होते हैं—

१. वाताधिमन्थ, २ पित्ताधिमन्थ, ३. श्लेष्माधिमंथ, ४. रक्ताधिमंथ।

१. वाताधिमंथ—इसमें अरणि के मंथन के समान तीव्र पीड़ा होती है। पीड़ा के कारण रोमांच, संघर्ष, सूची भेदनवत् पीड़ा या शस्त्र से काटने के समान पीड़ा होती है। नेत्र का आविल या कीचड़युक्त होना। नेत्र के मांस का उपचित होना, आस्फोट (फटने के समान), आध्मान (टैंशन) कम्प आदि लक्षण मिलते हैं। आधे सिर में वेदना रोग के स्वभाव के कारण होती है।

२. पित्ताधिमंथ—इसमें नेत्र लाल-लाल उक्त शिराओं से भर जाता है, स्राव अधिक होता है,नेत्र जलता हुआ सा मालूम होता है, नेत्र गोलक यकृत पिण्ड सदृश ताम्र वर्ण का हो जाता है। उसमें क्षार लिप्त क्षत के समान या आग से जलने के समान जलन होती है। वर्त्मान्त भाग शोथयुक्त हो जाता है। पित्ताधिक्य के कारण रोगी सभी चीजों को पीला देखता है। पीड़ा और दाह के कारण स्वेदागम, मूर्च्छा, शिरोदाह भी होती है।

श्लेष्माधिमन्थ—इसमें नेत्र में साधारण संरभ होता है शोथ नहीं होता है, नेत्र स्पर्श में शीतल, गाढ़, कीचड़ युक्त

होते हैं। देखने में कठिनाई भी होती है, नेत्रों में धूल पड़ गई। इस प्रकार का अनुभव जिससे आँख न खोली जा सके, नाक में खुश्की, सिर में दर्द आदि लक्षण मिलते हैं।

रक्ताधिमन्थ—इसमें रोगी का नेत्र गहरे लाल वर्ण का हो जाता है जितनी दूर तक लालिमा होती है वहाँ तक मंथन जैसी पीड़ा होती है रोगी का नेत्र स्पर्शनाक्षम हो जाता है। रोगी सब तरफ लाल वर्ण का देखता है। इसमें रक्त वर्ण का अश्रुस्राव होना भी एक लक्षण माना गया है।

परिणाम—

कफज अधिमंथ ७ दिन में, रक्तज ५ दिन में, वातज ६ दिन में तथा पित्तज अधिमंथ मिथ्या आहार विहार में सद्य दृष्टि को नष्ट कर देता है।

उपद्रव—

अधिमंथ के होने पर यदि इसकी उपेक्षा की जाय तो हताधिमंथ नामक रोग हो जाता है।

हताधिमंथ में तीव्र वेदना होती है। शिराओं के भीतर संचरण करने वाला वायु नेत्र को बाहर निकाल देता है। इस अवस्था को असाध्य बताया है। यह अवस्था विशेषतः वातज अधिमंथ की उपेक्षा से होती है।

विदेह ने हताधिमंथ के सम्बन्ध में लिखा है—

नेत्राभ्यन्तरीय शिराओं को शोथयुक्त करके वायु जब अपना प्रभाव डालता है तब देखने की शक्ति क्षीण हो जाती है। पश्चात् वायु की बढ़ती हुई क्रियाओं द्वारा नेत्र शिरायें विकृत होकर नेत्र को बाहर की ओर निकाल देती है। नेत्र गोलक कोटर से उभरा हुआ दिखाई देता है। इसमें शूल, तोद, भेद आदि लक्षण होते हैं अथवा नेत्र की शिराओं को सुखाकर नेत्र को संकुचित कर देता है। इसमें अल्प सार्वदैहिक लक्षण भी उत्पन्न हो जाते हैं जैसे शारीरिक बल का क्षीण होना, कान्ति का नष्ट होना, दृष्टि हीनता। इस प्रकार अक्षि गोलक का सूखना इस रोग में प्रमुख प्रकार मिलता है।

साध्यासाध्यता—

अधिमंथ के सभी प्रकार साध्य हैं परन्तु हताधिमंथ असाध्य व्याधि है। आधुनिक दृष्टि से अधिमंथ को विद्वानों ने तीव्र नेत्र गुहा शोथ (Acute orbital cellulitis) माना है और अधिमंथ का पर्याय तीव्र नेत्र गुहा शोथ माना है। परन्तु कुछ विद्वानों ने इसको ठीक न मान कर इसके लक्षणों को देखते हुए इसको Glaucoma कहा है। उन्होंने ग्लोकोमा से इसकी तुलना की है। वैसे तो दोनों ही युक्तियाँ ठीक हैं परन्तु लक्षणों को अधिक साम्यता ग्लोकोमा से ही है। अधिमंथ के लक्षण एवं उपद्रव सीधे ग्लोकोमा से साम्यता रखते। अतः अधिमंथ रोग को हम अंग्रेजी में Glaucoma कह सकते हैं।

चिकित्सा—

अधिमन्थ में सामान्य चिकित्सा-रोगी के शरीर तथा नेत्र को पूर्ण विश्राम देना चाहिए। एक वर्ष पुराने घृत का पान कराकर स्नेहन कराना चाहिए। एरण्ड तैल का स्निग्ध विरेचन देकर कोष्ठ शुद्धि करानी चाहिए। बीच-बीच में वस्ति देकर भी कोष्ठ शुद्धि कराते रहना चाहिए। लघु स्निग्ध एवं पौष्टिक आहार देना चाहिए। औषधि सिद्ध घृत एवं दुग्ध का सेवन लाभप्रद है। घृतों में पुराण घृत, त्रिफला घृत, तिल्वक घृत या केवल गौघृत का पान भोजन के पश्चात् कराना चाहिए। दुग्ध में कपित्थ सिद्ध क्षीर या पंचमूल सिद्ध क्षीर का उपयोग करना चाहिए।

रक्तमोक्षण—स्थानिक उपचारों में नेत्रों का स्वेदन, विडालक तथा रक्तमोक्षण सिरा का वेधन करके अथवा बार-बार जोंक लगाकर उत्तम है।

दाहकर्म—औषधि चिकित्सा से लाभ न हो तो अग्नि कर्म भी बताया है। सुश्रुत ने भ्रूप्रदेश पर अग्नि दाह का विधान बताया है।

अञ्जन पारद नाग रसाञ्जन—शुद्ध पारद, शुद्ध नाग रसाञ्जन, प्रवाल, कासीस, लोध्र, ताम्र भस्म, **निशोथ**, त्रिकटु, गैरिक, तुत्थ, समुद्र फेन, त्रिफला, मोती, अपराजिता, पुत्रंजीव, धतूरे की जड़, इमली, पंचलवण—इन सबको लेकर खूब बारीक पीस कर चूर्ण बनाकर घिस कर ताम्र पात्र पर लेप कर वर्ति बना लें। गुलाब जल में घिस कर नेत्रों में लगावें।

—श्री धर्मदत्त वैद्य एम.एल.ए.,
बरेली

यह एक सर्व नेत्रगत रोग है। इससे सम्पूर्ण नेत्र में भयंकर पीड़ा होती है। आधुनिक नाम इसका Glaucoma है। सुश्रुत ने इसके उत्पादक कारण के रूप में लिखा है कि चिकित्सा न करने पर अभिष्यन्द की उचित चिकित्सा न होने पर वही बढ़कर अधिमन्थ को उत्पन्न करता है। जिससे नेत्र में भयंकर पीड़ा होती है।

> वृद्धं रेतैरभिष्यन्दैर्नराणाम् क्रियावताम्।
> तावन्तस्त्वधिमन्थाः स्युर्नयने तीव्र वेदना॥

नेत्र का आभ्यन्तरीय दबाव सामान्य से अधिक होना ही अधिमन्थ (Glaucoma) है। यह दबाव समान्यतः प्रातः काल अधिक और सायंकाल कम होता है। यह दबाव पुतली (Cornea) के पीछे स्थित द्रव के कारण होता है। यह द्रव लसीका मय कोष्ठ (Aquous chamber) में रहता है। इस कोष्ठ के सामने की ओर पुतली तथा पीछे की ओर लैन्स (कांच) होता है। इस चैम्बर की गहराई भिन्न-२ व्यक्तियों
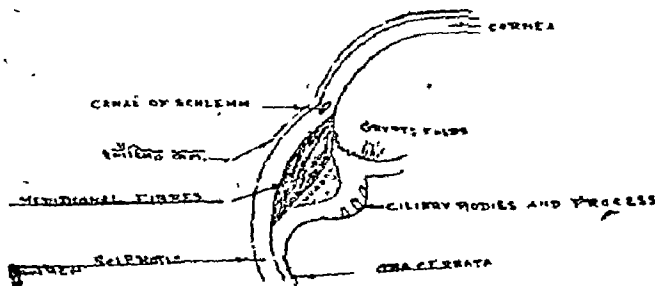
अग्र कोष्ठीय कोण दिखाया गया है।

में भिन्न-२ होती है। युवा मनुष्यों में यह वृद्धों की अपेक्षा गहरा होता है। इस कोष्ठ को तारा मन्डल दो भागों में बांटता है। इनको अग्रकोष्ठ (Anterior chamber) तथा पृष्ठ कोष्ठ (Posterior chamber) कहते हैं। जिस स्थान पर तारामण्डल (Iris), कृष्ण पटल (Cornea) तथा श्वेत पटल (Sclera) मिलते हैं उसे अग्र कोष्ठीय कोण (Angle of Anterior chember) कहते हैं। यह कोण [illegible] महत्व का है। क्योंकि इसके द्वारा [illegible] इस द्रव [illegible] ठीक प्रकार होता है। यदि इसमें रुकावट हो [illegible] द्रव का दबाव बढ़ जाता है और [illegible]धिमन्थ उत्पन्न हो [illegible] है।
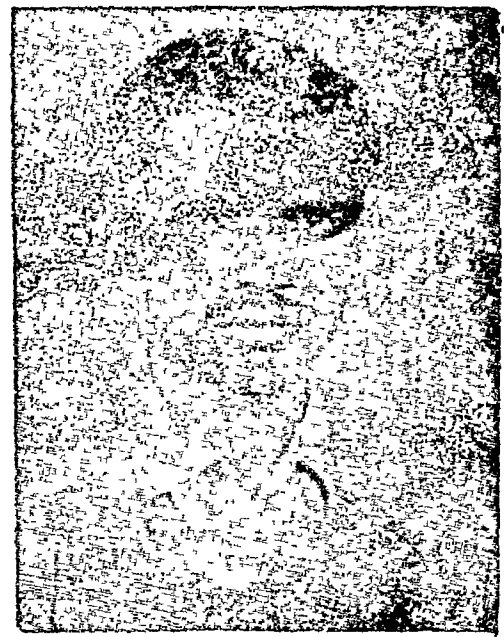
इस रचना विवरण [illegible] यह समझ [illegible] सकता है। कि आभ्यन्तरीय दबाव बढ़ने के तीन मुख्य कारण होते हैं—

(१) द्रव की मात्रा बढ़ जाने से।

(२) द्रव में प्रोटीन अधिक हो जाने के कारण द्रव का प्रवाह ठीक न होने से।

(३) अग्र कोष्ठीय कोण में रुकावट (अवरोध) होने से। और इन कारणों को उत्पन्न करने के भिन्न-भिन्न कारण हो सकते हैं।

नेत्र की इस आभ्यन्तरीय दबाव की परीक्षा दो प्रकार से की जाती है—

१. अंगुलियों के स्पर्श द्वारा।

२. यन्त्र (Schiatz Tonometer) द्वारा
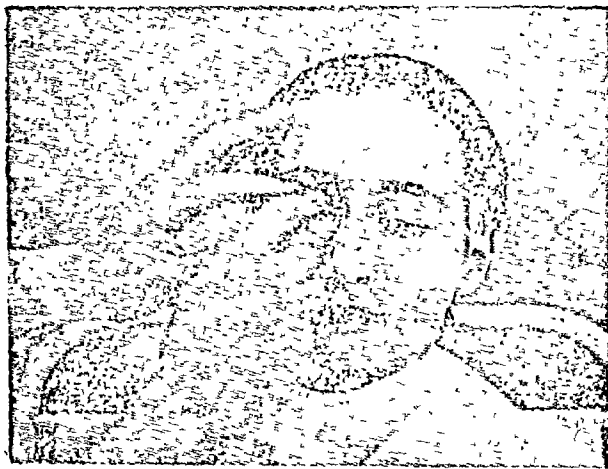
अंगुली स्पर्श द्वारा दवाव ज्ञात करने की विधि

अंगुलियों के स्पर्श से दवाव का अनुभव अनुभवी अंगुलियाँ ही कर सकती हैं। इसके लिए चिकित्सक रोगी को अपने सामने स्टूल पर विठा लेवे। फिर नेत्र वन्द करके दृष्टि नीचे करने को कहें। इसके बाद चिकित्सक अपने दोनों हाथों की तर्जनी अंगुली रोगी के नेत्र के ऊपर रखें। शेष अंगूठा तथा अंगुलियाँ माथे और कनपटी पर स्थिर रखें। फिर एक तर्जनी से नेत्र को हल्के से दवा कर दूसरी तर्जनी से अनुभव करना चाहिए।

सिट्ज टोनोमीटर

लक्षण

उत्पाट्यवत् इवात्यर्थं नेत्रं निर्मथ्यते तथा।
शिरसोऽर्धं च तं विद्यादधिमन्थ स्वलक्षणैः॥

अर्थात् रोगी को ऐसा अनुभव होता है कि उसके नेत्र तथा आधे शिर को कोई उखाड़ रहा है या मथ रहा है। नेत्र बाहर निकल कर गिरता सा प्रतीत होता है और तीव्र वेदना होती है।

प्रारम्भिक अवस्था में रोगी के शिर में पीड़ा होती है। विशेषकर पीड़ित नेत्र की ओर (निगाह के सामने) चमकीली तथा रङ्ग-विरङ्गी चिनगारियाँ उड़ती दीखती हैं। इस समय शोथ के कोई लक्षण नहीं होते हैं। यह लक्षण अधिक चिन्ता या अधिक देर तक नेत्र पर जोर पड़ने से जैसे सिनेमा देखने के बाद अधिक पैदा होते हैं।

द्वितीय अवस्था में शोथ के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। तीव्र पीड़ा होती है। निगाह कम होने लगती है। रोगी कमजोरी महसूस करता है। अधिक पीड़ा के कारण रोगी को वमन होती है। चक्कर आते हैं। दिल घबड़ाता है। पलक में शोथ होता है। आँख में लाली पुतली के चारों ओर अधिक होती है। वैसे सारी आंख लाल होती है। पुतली धुंधली सी दिखती है। अग्रकोष्ठ शोथ के कारण उथला प्रतीत होता है। तारक मण्डल भी शोथ युक्त होता है और तारक विस्फारित होता है। इस समय इस पर प्रकाश का कोई प्रभाव नहीं होता है। जैसे जैसे रोग बढ़ता जाता है रोगी के देखने की शक्ति कम होती जाती है और यह दृष्टि की कमी दृष्टि नाड़ी तथा दृष्टि पटल के नष्ट होने से होती है। अतः यह पुनः ठीक नहीं होती है।

तृतीय अवस्था में रोगी पूरी तरह अन्धा हो जाता है। क्षोभ के लक्षण कम हो जाते हैं। पुतली संज्ञाशून्य हो जाती है तथा तारक विस्फारित रहती है। तथा नेत्र पत्थर की तरह कठोर हो जाता है।
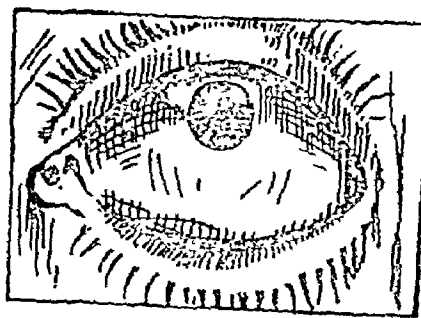
बैठी हुई आँख

चतुर्थ अवस्था में कृष्ण पटल (पुतली) धुंधला हो जाता है। श्वेत पटल वाहर की ओर उभर जाता है और उसके बाद आंख फट जाती है और फिर आँख बैठ जाती है।

प्रकार—

स्पन्दास्तु चत्वार इहोपदिष्टा,
स्तावन्त एवेह तथाधिमन्थाः।

नेत्राभिष्यन्द की तरह अधिमन्थ भी चार प्रकार का होता है। यथा—वातिक, पैत्तिक, कफज, रक्तज।

वातिक अधिमन्थ— नेत्र उखड़ता प्रतीत होता है। तथा मथने, रगड़ने, चुभने तथा चीरने जैसी पीड़ायें होती हैं। शोथ युक्त संकुचित नेत्र शिर में कम्पन आदि वात प्रधान लक्षण होते हैं।

पित्तज अधिमन्थ— नेत्र लाली युक्त, स्रावयुक्त जलता सा होता है तथा ऐसा प्रतीत होता है कि व्रण पर नमक मला गया हो। मूर्छा, शिर में दाह, पीला दिखना, पसीना आदि पित्त प्रधान लक्षण मिलते हैं।

कफज अधिमन्थ— नेत्र शोथयुक्त, भारी, पिच्छिल, शीतल, स्राव युक्त, रूप कठिनता से धुंधला दीखना आदि कफ प्रधान लक्षण मिलते हैं।

रक्तज अधिमन्थ— नेत्र दोपहरिया के फूल के समान चटक लाल होता है। आँसुओं में लाली, चुभने जैसी पीड़ा, चारों ओर आग सी लगी दिखना, दाहयुक्त होना आदि रक्त प्रधान लक्षण अधिक मिलते हैं।

रोग अवधि—

मिथ्याचार तथा उचित चिकित्सा न होने से कफज अधिमन्थ सात दिन में, रक्तज अधिमन्थ पाँच दिन में, वातज अधिमन्थ छः दिन में तथा पित्तज अधिमन्थ तुरन्त ही दृष्टि का नाश कर देते हैं। यथा—

हन्याद दृष्टि सप्तरात्रात्कफोत्थः
अधिमन्थोऽसृक संभवः पंच रात्रात्।
षड्रात्राद्वै मांसतोत्थो निहन्यान्
मिथ्याचारात् पैत्तिकः सद्य एव॥

चिकित्सा

सुश्रुत ने अधिमन्थ को शिरावेधन से शान्त होने वाला रोग कहा है। इसके लिए शिरावेधन से पूर्व स्नेहन-स्वेदन भी कराना चाहिये। यथा—

पुराण सर्पिषा स्निग्धौ स्पन्दाधिमन्थ पीड़ितौ।
स्वेदयित्वा यथान्यायं सिरामोक्षेण योजयेत्॥

अर्थात् रोगी का पुराण घृत से स्नेहन करके स्वेदन देकर जैसा ठीक हो सिरा मोक्षण करें।

नेत्र पर सुखोष्ण सेक करना चाहिए क्योंकि यहाँ वसा नहीं होती। इसके बाद प्रमेय, परिषेचन, नस्य, धूम योग को दोषों के अनुसार प्रयोग करें। आश्च्योतन, अभ्यंग, अंजन, तर्पण तथा स्निग्ध पुटपाक का प्रयोग करें। असह्य पीड़ा होने पर आँखों के चारों ओर कोमल स्वेदन करें और जोंक लगावें। घी की बड़ी मात्रा पीने से भी पीड़ा शान्त होती है।

रोगी को योगराज गुग्गुल का सेवन कराने से शीघ्र लाभ होता है। अनुभूत है।

आधुनिक मतानुसार—रोग का निश्चय होते ही इसेरिन नेत्रबिन्दु ०.५% से १% तक का अथवा पिलोकारपीन ०.५% से २% तक का प्रयोग (आश्च्योतन) शुरू करें। अत्यधिक पीड़ा होने पर उसकी शान्ति के लिये पीड़ा नाशक औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। मारफीन इन्जेक्शन का प्रयोग किया जा सकता है। उष्ण परिषेक करें। विरेचन योग देवें तथा शंख प्रदेश पर जलौका का प्रयोग करें।

यदि इन उपायों से रोग में लाभ न हो तब तुरन्त ही शल्य चिकित्सा करनी चाहिए।

—श्री डा० वेद प्रकाश शर्मा ए., एम. बी. एस.
चिकित्साधिकारी—राजकीय आयुर्वेदिक चिकित्सालय,
मांट (मथुरा)

दृष्टिगत रोग

श्री दाऊदयाल गर्ग

दृष्टि में आश्रित १२ रोग है। दूषित दोप शिराओं द्वारा जब बहुत अन्दर प्रविष्ट होकर दृष्टि में प्रथम पटल के अन्दर स्थित हो जाते है तो रोगी को सभी चीजे धुन्धली दिखाई देती है। द्वितीय पटल में पहुंच जाने पर दृष्टि और अधिक मलिन हो जाती है। रोगी आंखों के सामने मक्खी, मच्छर, बाल, जाले आदि नाना प्रकार की वस्तुएें, वर्षा, बादल, अन्धकार को देखता है। दृष्टि मे विभ्रम होने के कारण पास की वस्तु को दूर और दूर की वस्तु को पास देखता है। बहुत कोशिश करने पर भी सुई के छिद्र को नही देख पाता। आधुनिक विज्ञानानुसार इसे (Choroiditis) कह सकते है। दोष के तीसरे पटल में
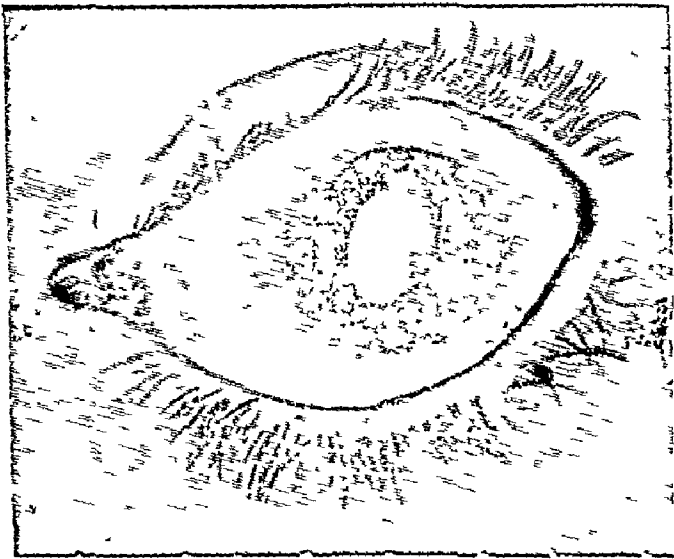
स्थित हो जाने पर रोगी ऊपर देख सकता है परन्तु नीचे नही देख पाता। बड़े भारी रूपों को भी कपड़े से ढके सदृश देखता है। दोष के दृष्टि के निचले भाग में स्थित होने पर समीपस्थ वस्तु को नही देखता है। दोप के ऊपर के भाग में स्थित होने पर दूर की वस्तु को नही देखता। यदि दोप पार्श्व में स्थित हो तो पार्श्व की वस्तु नही दिखलाई पड़ती। यदि दोप दृष्टि में चारों ओर स्थित हो तो रोगी वस्तु को संकुचित हुआ देखता है। यदि दोष दृष्टि के मध्य में स्थित हो तो एक वस्तु की दो वस्तु दिखाई देती हैं। इसी प्रकार दोप के दो स्थानों पर स्थित होने पर एक वस्तु को तीन प्रकार से (तीन भागों में) देखता है। दोप के चंचल होने पर अनेक प्रकार से अनेक रूपों में देखता है इसको तिमिर कहते है। इस पर विस्तृत विवेचन श्री भालचन्द्र एच० हाथी बी० एस०ए०एम०, गान्धी नगर (गुजरात) के लेख में देखें।

जब दोप चतुर्थ पटल मे पहुँचता है तो वह दृष्टि को सम्पूर्ण रूप में रोक देता है। इसको लिंगनाश कहते है। साधारण बोलचाल की भाषा में इसे मोतियाबिन्द तथा आधुनिक विज्ञान मतानुसार Cat ract कहते हैं। लिंगनाश का विस्तृत विवेचन भी आगे कई लेखों में दिया है।

पित्त विदग्ध दृष्टि—दूषित हुए पित्त के कारण जिस मनुष्य की दृष्टि पीली हो जाये, जो मनुष्य रूपों को पीला मानता है उस मनुष्य की दृष्टि पित्त विदग्ध दृष्टि होती है। दोष के तीसरे पटल में पहुंच जाने पर रोगी दिन में ठीक प्रकार से नही देख पाता परन्तु रात्रि में ठीक से देख लेता है। इसका कारण यह है कि रात्रि में शीत के कारण पित्त कम हो जाता है जिससे रोगी देख लेता है। इस रोग को दिवान्ध्य या दिवान्धता (Day blindness) कहते हैं। वर्ण विन्दु सह दृष्टि वितान (Retinitis Pigmentosa) से पीड़ित रोगियों में ५० वर्ष की आयु के बाद जब मध्यस्थ मोतिया विन्द बनता है तो ऐसे रोगी अधिक प्रकाश मे कम देख पाते है। इस प्रकार की अवस्था आज कल बहुत कम प्राप्त होती है।

पित्त विदग्ध दृष्टि में पित्तहर चिकित्सा करनी चाहिए। शिरावेध न करें। त्रिफलाघृत या तैल्वक घृत अथवा

इन दोनों के अभाव में केवल पुराण घृत का ही सेवन करावें। पश्चात् रोगी को वमन कराना चाहिये। इससे रोगी का अन्तः परिमार्जन होता है। बहिः परिमार्जन के लिये गैरिकादि अञ्जन या वृन्ताञ्जन का प्रयोग करें। कुब्जकाद्यञ्जन का प्रयोग भी लाभप्रद है। हरेणुकाद्यञ्जन, रसांजनाद्यञ्जन, कासमर्याद्यञ्जन, सैंधवाद्यञ्जन, कर्पूराद्यञ्जन का दिवान्धता में विशेष प्रयोग होता है।

श्लेष्म विदग्ध दृष्टि—तीनों पटलों में थोड़ा स्थित दोष रात्रि अन्धता (रात में न दीखना) उत्पन्न कर देता है। रोगी सभी चीजों को सफेद देखता है। सूर्य के प्रकाश में श्लेष्म का वेग कम हो जाने के कारण रोगी देख लेता है परन्तु दिखलाई नहीं पड़ता। इसे रतौंधी, नक्तांध्य (Night Blindness) कहते हैं। आधुनिक दृष्टि से विचार करने पर इसे एक लक्षण मात्र ही कहा जा सकता है। दृष्टि वितान के क्षय (Degeneration of Retina) में इस प्रकार की अवस्था का होना सम्भव है। विशेषतः दृष्टि वितान में रञ्ज विन्दुओं के क्षय से यह होता है। परन्तु सदैव ऐसा होना आवश्यक नहीं है। कई बार यह रोग नेत्रगत परिवर्तनों के अभाव में भी हो सकता है। विटामिन 'ए', 'वी' तथा 'डी' की कमी से, रक्ताल्पता और पाण्डु रोग में यह अवस्था उत्पन्न हो जाती है। इस रोग का आरम्भ प्रायः छोटी आयु में ही होता है। जैसे जैसे आयु बढ़ती चली जाती है वैसे-वैसे दृष्टि कम होती चली जाती है। धुन्धले प्रकाश में या संध्या काल के बाद कम दिखाई देता है। लगभग ३५ वर्ष की आयु में रोग इतना बढ़ जाता है कि रोगी रात्रि के समय बाहर निकल ही नहीं सकता। बढ़ने से वृद्धावस्था में मोतिया विन्दु हो जाने पर रोगी अन्धा हो जाता है। इस रोग का ठीक कारण अभी ज्ञात नहीं हैं। यह एक पारिवारिक विकार है जिससे प्रतीत होता है कि माता पिता के रज वीर्य दोष ही इसके कारण हो सकते है। आचार्य वाग्भट इसके कारणों में बतलाते हैं कि गर्मी से सन्तप्त होकर एकदम शीतल जल में अवगाहन करने से शारीरिक ऊष्मा शिर पर चढ़ कर रात्रि अन्धता उत्पन्न कर देती है।

श्लेष्म विदग्ध दृष्टि (रात्रि अन्धता) में श्लेष्महर चिकित्सा करनी चाहिए शिराविध नहीं करें। त्रिवृत घृत, तैल्वक् घृत, पुराण घृत में से किसी एक का सेवन करावें। पश्चात् वमन करावें। इससे रोगी का अन्तः परिमार्जन हो जायेगा। इसके लिए प्राचीन शास्त्रों में अनेक योग उपलब्ध होते हैं। जिनमें से कुछ को यहाँ दे रहे हैं—

स्रोताञ्जनादि अञ्जन—स्रोताञ्जन, सैंधा नमक, पीपल, रेणुका को बकरी के मूत्र में पीसकर अञ्जन करना रतौंधी में लाभकर है।

तगरादि अञ्जन—तगर, पीपल, सौंठ, मुलैठी, तालीसपत्र, हल्दी, दारूहल्दी, नागरमोथा इन सबको यकृत के रस में भावना देकर बत्ती बनाकर छाया में सुखाकर रख लें। इसका अञ्जन रतौंधी में हितकर है।

मनःशिलादि अञ्जन—मैनशिल हरड़, त्रिकटु, वला, तगर, समुद्रफेन इन सबको अजा दुग्ध में पीसकर बत्ती अञ्जन लगायें।

मुद्राञ्जन या रसक्रियाञ्जन, अजामोदाँजन, हरेण्वाद्यञ्जन, गोधायकृदञ्जन, छागयकृदञ्जन, यकृत्प्लीहाञ्जन—इनमें से किसी भी अञ्जन का प्रयोग करने से नक्तांध्य चला जाता है। विस्तारभय के कारण इनके पूरे प्रयोग नहीं लिखे। उन्हें सुश्रुतादि ग्रन्थों में अवलोकन करें। साधारणतया पीपल को गाय के दही में या गोमूत्र में या गाय के गोबर के रस में घिसकर अञ्जन करने से लाभ होता है। चन्द्रोदय वर्ती को गोमूत्र या गोबर के रस में घिसकर लगाने से भी लाभ होता है।

इस रोग की कोई विशेष चिकित्सा आधुनिक ग्रन्थों में प्राप्त नहीं होती। वैसे विटामिन 'ए' का प्रयोग लाभदायक होता है। ग्लैक्सो कम्पनी का Adexolin capsule मुख द्वारा दें तथा Pripelin का मांसान्तर्गत सूचीवेध करें। भोजन में दूध तथा अण्डे का अधिक व्यवहार करायें।

धूमदर्शी—शोक, ज्वर, परिश्रम (जैसे भाड़ झोंकने वाले, रेलवे ड्राइवर आदि), सिर का दुखना आदि कारणों से जिस मनुष्य को दृष्टि नष्ट हो जाये वह सब वस्तुओं को धुयें से ढकी हुई जैसी देखता है। यह साध्य पित्तज विकार है। आधुनिक मतानुसार यह अधिमन्थ (Glaucoma) का एक लक्षण मात्र है। इससे दृष्टि में मन्दता

धुआं जैसा देखना, शिरःशूल आदि लक्षण मिलते हैं। वाग्भट्ट ने धूमर के नाम से इसका वर्णन किया है।

पुराण घृत का पान, विरेचन, रक्तज और पित्तज अभिष्यन्द या अधिमन्थ के समान शिरावेध, सेक, पुटपाक, आश्च्योतन, अञ्जन, नावन आदि उपचारों को करना चाहिए। पैत्तिक विसर्प की चिकित्सा करें। गोवर का रस, गोदुग्ध, गाय के घी में बने स्वर्ण गैरिक, तालीस पत्र आदि की रसक्रिया का अञ्जन इस रोग में लाभप्रद है।

ह्रस्वजाड्य—इसमें मनुष्य दिन में कठिनाई से रूपों को छोटे आकार में देखता है। यह चतुर्थ पटल आश्रित पित्तज रोग है तथा इसे असाध्य बतलाया गया है। इस कारण प्राचीन ग्रन्थों में इसकी चिकित्सा उपलब्ध नहीं होती।

नकुलांध्य—इसमें दोषों से आक्रान्त होने पर जिसकी दृष्टि नेवले के समान चमकती है वह दिन में सब दोषों के रूपों को देखता है। रात को बिल्कुल नहीं देखता। यह त्रिदोषज और असाध्य है। इसकी भी चिकित्सा प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होती। इसे भी रात्र्यन्धता का ही एक भेद मान सकते हैं।

गम्भीरिका—वायु से युक्त दृष्टि-विकृत रूप वाली, संकुचित और अन्दर से बैठती जाती है। इसमें अतिशय वेदना होती है। इस रोग को गम्भीरका कहते हैं। इसे भी असाध्य माना गया है और इसकी चिकित्सा प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होती। आधुनिक मतानुसार यह वातिक रोग है और सम्भवतः षष्ठम् क्रेनियल नर्व (6th Cranial Nerve) के घात के कारण होता है।

सुश्रुत के अनुसार दृष्टिगत बारह रोगों का ऊपर उल्लेख किया है। वाग्भट्ट में अम्लविदग्ध दृष्टि, उष्ण विदग्ध दृष्टि तथा दोषान्ध्य अधिक बतलाये गए हैं लेकिन इनके लक्षण, चिकित्सा आदि को देखा जाय तो इनका समावेश सुश्रुतोक्त १२ रोगों में ही हो जाता है।

—श्री डा. दाऊदयाल गर्ग आयु. बृहस्पति, ए.,एम.बी.एस
सम्पादक 'धन्वन्तरि'
गुलजार नगर, रामघाट रोड, अलीगढ़

श्रद्धेय आचार्य जी की विद्वता के बारे में कुछ कहना सूर्य को दीपक दिखाना है। आप संदिग्ध वनौषधि विशेषांक का सम्पादन कर चुके हैं। विगत में आप अनेकों आयुर्वेदिक संस्थानों में जिनमें जामनगर का स्नातकोत्तर आयुर्वेदिक प्रशिक्षण केन्द्र भी है, उच्च पदों को सुशोभित कर चुके हैं। वर्तमान में आप हण्डिया जिला इलाहाबाद में लालबहादुर शास्त्री स्मारक आयुर्वेद महाविद्यालय के प्रिंसिपल हैं। प्रस्तुत लेख आपने अति शीघ्रता में लिखा है। आपने इसमें दृष्टि पटल (Retina) में होने वाली विकृतियों का विवेचन किया है तथा चिकित्सा दी है। लेख पढ़कर पाठक लाभान्वित अवश्य ही होंगे।

—दाऊदयाल गर्ग

आयुर्वेदिक साहित्य में दृष्टि की व्याख्या निम्न रूप से की गई है। दृष्टि को एक न मानकर दृष्टि को एक दर्शक माध्यम बतलाया है। उन सबको कहीं समस्त कहीं व्यस्त रूप में दृष्टि की संज्ञा दी गई है। दृष्टि के रोग समझाने से पूर्व दृष्टि की जानकारी आवश्यक है। निमि विदेह सुश्रुत सात्यकी आदि ने सुश्रुत की निम्न परिभाषा को ही मान्यता दी है—

मसूरदलमात्रां तु, पंच भूत प्रसादजाम्।
खद्योत विस्फुलिंगाभामिद्धां तेजोभिरव्ययैः।
आवृतां पटलेनाक्ष्णो, बाह्येन विवराकृतिम्।
शीत सात्म्यां नृणां दृष्टिमाहुर्नयन चिंतकाः॥

अर्थात्—दृष्टि को नेत्र विशेषज्ञों ने निम्न प्रकार का कहा है—

१. मसूर दल की तरह उन्नतोदर लिंग या दृष्टि काच (Lens)। जो पांचभौतिक संगठन से बना हुआ है।

२. बाहर के श्वेतपटल के पारदर्शक भाग से आवृत भीतर को विवर (छिद्र) की आकृति वाला भाग (Pupil & cornea)

३. शीतसात्म्य भाग जो प्रकाश से सिकुड़ता है और प्रकाश के हटते ही स्वाभाविक दशा में आ जाता है (Iris)।

४. प्रकाश पड़ने पर खद्योत विस्फुलिंग की तरह आभ्यंतर पटल पर चमकदार हो जाने वाला दृष्टिपटल (Retina, Maculat lutia) व मेदस द्रव्य (Vitrious Humour)।

शीतसात्म्य से अर्थ—"संकुचत्यातपेऽत्यर्थं छायायां विस्तृतो भवेत्॥" जो तारा उपतारा जो शीतप्रदाह से सामान्य रहता है और आंख पर (धूप) पड़ने पर सिकुड़ता है और छाया में पुनः फैल जाता है। इस प्रकार दृष्टि के माध्यम—कर्णिका, तारा-उपतारा, मेदस द्रव्य, दृष्टि पटलस्थ दृष्टिपीठ व काच यह सब मिलकर दर्शन क्रिया करने में समर्थ होने से सबका सामूहिक नाम "दृष्टि" है। इन प्रकाश के जाने के माध्यमों में से किसी एक के रुग्ण होने पर दृष्टि दोष हो जाते हैं।

किन्तु दृष्टि रोग में रूढ़ि शब्द काच व दृष्टि पीठ की क्रिया की हानि को अधिक मानते हैं।

कर्णिकी (Cornea), तारा-उपतारा (कृष्ण मण्डल) (Iris & Pupil), काच (Lens), दृष्टिपटल (Retina) व दृष्टिनाड़ी (Optic Nerve) की आकृति, निर्माण, आकार प्रकार, क्रिया आदि का पृथक-पृथक वर्णन सुश्रुत ने दिया है। यहां इनका वर्णन उचित ज्ञात नहीं होता। अभिनव नेत्र चिकित्सा विज्ञान में देखिए। रोगों के लिए अलग-अलग रोगों का नाम सुश्रुत ने दिया है।—क्योंकि दृष्टि के माध्यम कई हैं अतः रोग भी कई हैं। यथा—

दृष्टिपटल के रोग—

१. दृष्टिपटल सदाह शोफ (Retinitis simple & melastatic)।

२. रक्त प्रणालीय दोष (Hyperaemia Anaemia)

३. रंजक स्तरीय विकृति (Pigmentary Degeneration)।

४. दृष्टिपटलीय निराश्रयत्व (Detachment of Retina)

५. अर्बुद (Retinoblastoma)

६. दृष्टि पटलीय व्याघात (Injuries)

इसी प्रकार श्वेत पटलीय कर्णिका, तारा-उपतारा, काच, मेदसरस, दृष्टि पटल के पृथक-पृथक रोग हैं।

किन्तु प्राचीन आचार्य तीन प्रधान रोग इसके मानते हैं—

(१) तिमिर (२) काच (३) लिंगनाश।

किन्तु तिमिर शब्द से इनका बोध हो जाता है। सुश्रुत व वाग्भट्ट दोनों की यही सम्मति है। यह विषय बहुत बड़ा है और अलग-अलग इनका विवरण सुश्रुत व वाग्भट्ट में मिलता है। अतः इसे यहां नहीं दिया है।

दृष्टिपटल के रोगों में यहां दृष्टि पटलीय प्रदाह को दे रहे हैं। साक्षात दृष्टि पटल में होने वाले रोगों में दृष्टि पटलीय प्रदाह बहुत महत्वपूर्ण है संपादक जी ने इस पर विचार मांगा है। अतः इसका ही विवरण देते हैं।

दृष्टिपटल शारीर

दृष्टिपटल एक मृदु, तनु कला है जो नेत्र नाड़ी का प्रसार मात्र है और नेत्र के भागों में फैली रहती है। यह भीतर से ह्यलायड कला व मेदसद्रव (Velrious humour) तथा बाहर से कालक के बीच में स्थित है। यह आगे उपतारानुमंडल तक फैलती है। और इसके अन्तिम मोड़ को ओरा सेराटा कहते हैं जो कि नाड़ी सूत्रों से रहित सरल व पतली होकर उपतारानुमण्डल के आभ्यन्तरिक भाग व उपतारा के पश्चात पृष्ठीय किनारे तक पहुंचती है। जीवित आंखों में यह पारदर्शक पीत व रक्त वर्ण की होती है

स्वस्थ दृष्टि पटल का चित्र

और प्रकाश किरणों के पड़ते ही सत्वर श्वेत वर्ण की हो जाती है। मृत्यु के बाद यह अपारदर्शक व श्वेत हो जाती है। दृष्टि पटल अपने पार्श्विक भाग कालक पर नेत्र नाड़ी के प्रवेश स्थल व ओरा सेराटा इन दोनों स्थानों तक पहुंचती है। साधारणतया यह इस कला पर पहुँचती है किन्तु संसक्त नहीं होती।

पीतबिन्दु (Yellow spot or Macula Lutia)—

इस कला के भीतरी तरफ मध्य भाग में एक पीत स्थान दिखाई पड़ता है जिसका व्यास १.२ मि० मीटर होता है। यही पीत बिन्दु है जो भीतर की ओर दबा होता है। यह वही स्थान है जहाँ दृष्टि स्थिर होती है।

नाड़ी शीर्ष (Papilla)—

नेत्र गोलक के बीच पश्चात् गोलार्ध के पास ३ मि० मीटर पर एक गोलाकार पीला क्षेत्र है जिसे नेत्र नाड़ी शीर्ष कहते हैं। यहाँ पर ही नेत्रनाड़ी भेदन कर प्रविष्ट होती है। इसकी परिधि दृष्टि स्तर के सतह से कुछ उभरी हुई होती है। अतः आकृति प्याली की तरह बन जाती है। यहाँ ही रक्तवाहिनी नलिकायें प्रविष्ट होती हैं।

पटल की धमनी शिरायें—

दृष्टि पटल की केन्द्रीय धमनी (Central Artery) जो सिरा से लगी होती है नेत्रगोलक में नेत्रनाड़ी भेदन करती हुई १२ मि. मी. की दूरी पर नाड़ी शीर्ष के बीच नाड़ी सूत्रों से निकलती है जिसको छोड़कर कहीं कहीं पर छोटी मोटी प्रणाली रेटीना के बीच निकलती हैं। दृष्टि पटल की धमनी प्रवेश नहीं करती बल्कि मुड़ी हुई शाखा रूप में होती है। अतः केन्द्रीय धमनी के अवरोध काल में अंधता पैदा होती है।

सूक्ष्म शारीर— दृष्टि पटल का सूक्ष्म शारीर बहुत गूढ़ है। इसमें दो प्रकार के सूत्र मिलते हैं (१) नाड़ी तन्तु सम्बन्धी स्तर जिसमें ८ स्तर हैं।

(२) पोषक तंतु (Supporting Tissue)

क्रिया विज्ञान—जब प्रकाश की किरणें दृष्टि पटल के रंजक सेलों व दण्डों ((Rods) पर पड़ती हैं तो पीले लाल (Purple) रङ्ग को श्वेत रङ्ग में परिवर्तित कर देती है। जब आँख अंधेरे में होती है तो रंजक वस्तु एकत्र होते हैं जो दण्डों में संग्रहीत होते हैं। प्रकाश पड़ने पर रंजक कण दण्डक कोणों के भीतर चले जाते हैं और कोण संकुचित व छोटे हो जाते हैं। प्रकाश से रंजक कण श्वेत बनते हैं। आते हैं जाते हैं। अतः निमेष होने पर कण एकत्र होते हैं, उन्मेष होने पर रंजक कण बढ़कर चलकर श्वेत हो जाते हैं। इससे उत्पन्न कंपनों पर नाड़ीगति (Impulse) उत्पन्न होते हैं जो नेत्रनाड़ी में पहुंचते हैं और प्रकाश को स्पष्ट (Sensation of light) करते हैं। जब किसी वस्तु की छाया दृष्टि पीठ पर पहुँचती है तो दृष्टि स्पष्ट होती है।

जो प्रकाश की किरणें दृष्टि पटल पर टकराती हैं क्षेत्र की विपरीत क्षेत्र से आती हैं और वस्तु का ज्ञान होता है।

दृष्टि पटल प्रदाह—यह रोग दृष्टि पटल का रोग है और बहुत भयंकर होता है किन्तु पाया बहुत कम जाता है। यह स्वतन्त्र रूप में अल्प किन्तु अन्य रोगों के उपद्रव रूप में अधिक होता है। जैसे कालक (Choroiditis) का संक्रमण चूंकि कालक की रक्तवाही शिरा संक्रमित होकर अपने रक्त से रेटीना का पोषण करती है इसका संक्रमण दृष्टि पटल में पहुँच जाता है। अतः दृष्टि पटल रुग्ण हो जाता है। अतः कालक और दृष्टि पटल संयुक्त रूप से रुग्ण (Choroidoretinitis) हो जाते हैं।

साधारण दृष्टि पटल प्रदाह (Simple Retinitis)

यह सदैव केन्द्रीय क्षेत्र में होता हुआ पाते हैं। दृष्टि पटल का स्थानिक संरंभ दृष्टि सम्बन्धी कठिनाई पैदा करता है। रंजक स्तर सूत्र दण्डों में रचना अनियमित होती है अतः दृष्टि की कमी व प्रकाशान्तक हो जाता है।
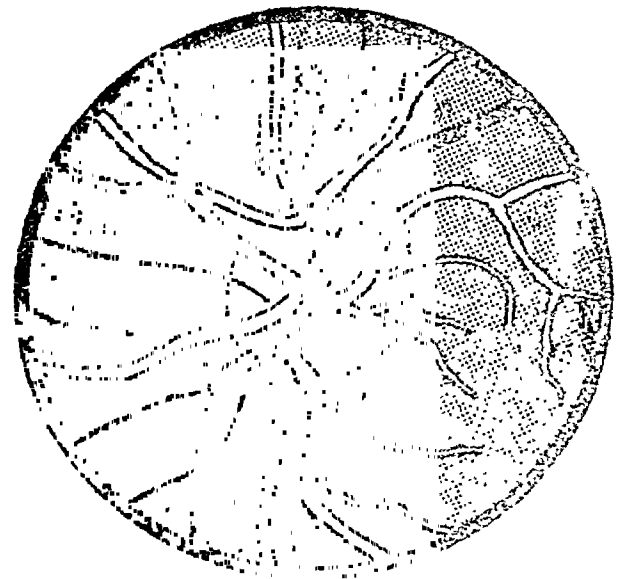
दृष्टि पटल की धमनी एवं शिरायें

चिकित्सा—इस दशा में विश्राम, प्रकाश की ओर न देखना धूप के चश्मों का प्रयोग करने से लाभ होता है।

औषधि—आरोग्य वर्धिनी व सप्तामृत लौह का घृत मधु से सेवन लाभप्रद होता है। यह एक सप्ताह तक चलना चाहिए।

लेप—शुद्ध त्रिफला घृत का नेत्राभ्यन्तर प्रयोग पुट-पाक स्वरसवत आल वाल बनाकर कटुष्ण घृत भरकर १५ मात्रा तक रुकना चाहिये।

आहार—शुद्ध सात्विक लवणरहित देना चाहिये। दुग्धपान क्षीरान्नपान श्रेयस्कर है।

परित्याग—अधिक पढ़ना तथा प्रकाश में कार्य करना, वेल्डिंग का कार्य करना, अधिक अम्ल व कटु रस सेवन से यह रोग हो जाता है। अतः इनसे बचना चाहिये।

बचाव—महालक्ष्मी विलास रस के सेवन से इससे बचा जा सकता है। आधुनिक चिकित्सा में विश्राम, धूप में न देखना व चिंतन परित्याग बतलाया गया है। स्ट्रैप्टोमाइसिन (Ointment) का आभ्यन्तर प्रयोग कुछ लाभकर होता है। एन्टीबायोटिक्स के सूचीवेध से भी कुछ लाभ होता है।

उपदंशज दृष्टिपटलीय प्रदाह (Syphilitic Retinitis)

यह उपदंश की तीव्रावस्था में अथवा उपसर्ग के रूप में उपदंश के साथ पाया जाता है। यह कालक प्रदाह के साथ ही होता है।

सपूय दृष्टि पटल प्रदाह—यह रोग उपदंशज संक्रमण अथवा कालक के कोणों में संक्रमण से हो जाता है। और संक्रमण दृष्टिपटलीय रक्तवाहिनी शिराओं में भी फैल जाता है। प्रारम्भ में श्वेत दाने दिखाई पड़ते हैं। इसके पश्चात यहां रक्तस्राव दृष्टि पटल के शोथ युक्त प्रदेश में विशेषकर दृष्टि पीठ व नेत्र नाड़ी शीर्ष पर दिखाई पड़ता है। चिकित्सा व उपचाराभाव में यह कालक दृष्टि पटलीय प्रदाह व कभी-कभी शृङ्गाटकीय प्रदाह का रूप धारण करता है और इसका परिणाम नेत्र पाक व नेत्र नाश के रूप में होता है।

इस अवस्था में चिकित्सक को विशेष सावधानी रखनी चाहिए। उपचार नेत्र पाक की तरह ही करना चाहिए। चिकित्सा में नेत्र पाक न हो अतः उत्तम पाकघाती औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

उष्णशैतिक सेक—दशांग लेप या केवल मधुयष्ठी के क्वाथ में शुद्ध वस्त्रखण्ड डालकर उसे निचोड़कर सेक करना चाहिए।

लेप—पाकघाती लेप—उदुम्बरसत्व, मधुयष्टि, पलाश त्वक व घृत कुमारी का लेप शीघ्र पाक की क्रिया रोकता है। दिन में ३-४ बार लेप ठंडा-ठंडा लगावें।

शिरावेध—रोग के ज्ञात होते ही शिरावेध करके रक्त निस्कासन करा देना चाहिए। शांखिकी शिरा का वेध जिधर के नेत्र में हो उधर से करना चाहिए।

दग्ध क्रिया—विद्युत दग्ध या अग्नि दग्ध की क्रिया को भी नेत्रपाक होने से बचने के लिए प्रारम्भिक दशा में करते हैं।

पूय निष्कासन—यदि पूय पड़ ही जाय तो श्वेत पटल भेदन कर पूय निकाल देना चाहिए ताकि सम्पूर्ण नेत्र का नाश न हो जाय। इसमें श्वेत पटल के पश्चात् पृष्ठ पर नेत्र नाड़ी के पास के स्थान पर छेदन करके पूय निकालने का मार्ग बना देना चाहिए। इससे पूय निकलकर रोपण हो जाता है। इसमें देर करने से नेत्र नाड़ी का नाश सम्भव है।

औषधि—रक्त शोधक, विरेचक, प्रदाह नाशक औषधि का प्रयोग भूरि-भूरि मात्रा में करके प्रदाह रोकना चाहिए। पाक न होने देना चाहिए।

गंडूष-नावन—

नस्य, स्नेह, परिषेक, शिरोवस्ति, स्वेदन व शिरामोक्ष प्रधान कार्य है। रोग के ज्ञात होते ही तीन दिन तक उपवास करना चाहिए अथवा मात्र रात्रि में भोजन करना चाहिए। यथा—

> प्रागेवक्ष्यामये भक्तं त्रिरात्रमगुरु स्मृतम्।
> उपवास श्यहं वा स्याद् नक्तं वाप्यशनं हितम्॥
> प्राग् रूपेव रोऽगेस्मिन तीक्ष्ण गंडूष नावनम्।
> कारयेदूपवासं च कौपावन्यत्र वातजात्॥
> × × × ×
> पुराण सर्पिषा स्निग्धौ स्यंदाभिमंथ पीड़ितौ॥
> स्वेदयित्वा यथन्यायं शिरामोक्षणयोजयेत्।
> नस्य स्नेह परिषेकैः शिरो वस्ति भिरेव च॥

अतः रोग की तीव्रता के अनुसार इनमें से आवश्यक कार्यों को यथासमय प्रयोग करना चाहिए।

सेचन द्रव्य—एरण्ड पल्लव, मूलत्वक, कंटकारीमूल, पलाशत्वक, मधूक, मुस्ता, तगर, विल्व को क्वथित कर नेत्र पर सेचन करना चाहिए।

तर्पण—पुराणघृत, मधुयष्ठी, हल्दी, हरीतकी, देवदारु सिद्ध घृत से तर्पण करना चाहिए। विदारिगंधादिगण सिद्ध घृत, क्षीर कल्याण घृत, त्रिवृतघृत, दशमूली घृत द्वारा नेत्र तर्पण उचित है।

पुट पाक—एरण्ड पुट पाक, पलाश पुट पाक, लोध्र पुट पाक, मधूक पुट पाक, श्योनाक पुट पाक विधि से इनका रस नेत्र मे डालने से वेदना तत्काल बन्द होती है।

आश्च्योतन—एरण्ड रस क्रिया (ताजे हरे एरण्डपत्र पुटपाक से), ह्रीवेरादि रस क्रिया, सैंधव आश्च्योतन से तत्काल लाभ होता है।

अंजन—मुक्ताप्रवालादि अंजन का प्रयोग पाक को रोकता है।

गंडूष—पंचकोल का गण्डूष व कवलधारण लाभप्रद है।

इस प्रकार की बहुत सी विधियां पाकघाती होती हैं और नेत्र पटलीय प्रदाह से बचा जा सकता है।

दृष्टि पटलीय शिरा प्रदाह (Periphlebitis Retinae)

यह रोग बहुत कम पाया जाता है। युवा व तरुणों में अधिक होता है। विशेषकर शोथ के रोगियों में मिलता है। दृष्टि पटलीय शिरा में शोथ व उभार दिखाई पड़ता है। कभी-कभी रक्तस्राव भी हो जाता है। दृष्टि की दर्शन शक्ति कम पड़ जाती है।

अतिस्रावी दृष्टि पटलीय प्रदाह (Massive exudative Retinitis)—यह भयङ्कर रोग है किन्तु बहुत कम मिलता है। दृष्टि पटल के स्तर में श्वेत-पीत धब्बे दिखाई पड़ते हैं और स्राव तीव्र होता है। अभिष्यन्द के अन्य लक्षण भी मिलते हैं।

पाकघाती और जीवाणु विष नाशक द्रव्य
(Antiseptic & Anti Biological Medicines)

१. सिद्ध मकरध्वज व आरोग्य वर्धिनी वटी मिलाकर १ : ३ के संयोग से लाभप्रद है।

२. मकरध्वज रसमाणिक्य १ : ३ की संख्या में।

३. नारदीय लक्ष्मी विलास—२ से ४ रत्ती मात्रा में।

४. रससिन्दूर षड्गुण बलिजारित १ रत्ती- आरोग्य वर्धिनी ४ रत्ती की मात्रा में प्रातः दोपहर सायंकाल दिन में ३-४ मात्रा तक देना नेत्रपाक शोथ नाशक होता है।

५. त्रिफला रस क्रिया, पलाश रस क्रिया, उदुम्बर रस क्रिया को द्रव बनाकर (परिश्रुत जल में १ : १० भाग) नेत्र में बार बार टपकाने से दर्द बन्द होता है।

६. पुष्करमूल शृङ्ग भस्म—दो दो रत्ती मिलाकर लेने से वेदना तत्काल बन्द होती है।

७. पुष्कर मूल—वातकुलान्तक सिद्ध मकरध्वज २-२ रत्ती मिलाकर मात्रा से वेदना तत्काल शांत होती है।

आधुनिक चिकित्सा में—वेदनाशामक कई औषधियाँ हैं ब्यूटा कार्टिण्डम्, बूटा जालिडिन, एनलजिन, नोवलजिन, ए०पी०सी० यह वेदना शामक हैं।

पाकरोध के लिये एण्टीबायोटिक इन्जेकशन बहुत हैं पाकरोधक आश्च्योतन व अंजन भी मिलते हैं।

—आचार्य श्री विश्वनाथ द्विवेदी
प्रिंसिपल—लालबहादुर शास्त्री स्मारक आयुर्वेद
महाविद्यालय हंडिया (इलाहाबाद)

नेत्रगत विकारों में दृष्टि को न्यूनाधिक रूप से हानि करने वाले कई रोगों में तिमिर रोग भी मुख्य रोग है। तिमिर रोग की गणना शास्त्रों में दृष्टिगत रोगसमूह में की गई है। नेत्र के कुल छः पटलो में से चार पटल नेत्र गोलक में होते है। प्रथम तीन पटलों में विकार होता है तो उनको तिमिर कहते हैं, और चतुर्थ पटल गत विकार को लिङ्ग-नाश कहते हैं। लिङ्ग नाश में दृष्टि धीरे-धीरे कम होती जाती है। उसमें प्रथम लक्षण तो तिमिर के ही होते हैं। बाद में जब पूर्ण दृष्टिनाश हो जाता है तो उसे लिंगनाश कहते हैं।

तिमिर रोग की उपेक्षा करने से काच और काच की उपेक्षा करने से लिङ्गनाश की उत्पत्ति होती है। उससे दृष्टिशक्ति का नाश होता है। लिङ्ग नाश जैसी घोर व्याधि से बचने के लिये तिमिर की चिकित्सा प्रथम से ही करनी चाहिये।

तिमिर एक स्वतंत्र रोग होते हुए भी लिंगनाश रोग की पूर्वावस्था भी है। जब लिंगनाश का प्रारम्भ होता है तो तिमिर के लक्षण पाये जाते है, तब तिमिर को Progressive cataract कहा जाता है। पहले कहा गया है कि तिमिर तीन पटलों में होने वाली व्याधि है। उनके लक्षण एवं संप्राप्ति निम्नानुसार हैं। प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय पटलगत यह तिमिर की प्रथम एवं द्वितीय अवस्थारूप भी बताया जाता है।

१. प्रथम पटलगत तिमिर—दूषित दोष प्रथम पटल में जाकर दृष्टि को अल्प करता है। स्पष्ट दृष्टि नहीं होती, दोषों में वायु की अधिकता होने से संचारी लाल रङ्ग, पित्तमें पीतवर्ण, श्लेष्मज में सफेद रङ्ग, रक्तज में लाल रङ्ग और सन्निपातज में विभिन्न रङ्ग दिखाई देते हैं। "अव्यक्तानि रूपाणि" लक्षण तारा मण्डल शोथ में भी होता है।

२. द्वितीय पटल में दोष स्थित होता है तो विह्वल दृष्टि होती है। मक्षिका, मच्छर, केश, जाले जैसा दृष्टि के सामने होता है। मण्डलाकृति, ध्वज, कुण्डल, तारागणों की विचित्र चमक, अन्धकार आदि दिखलाई पड़ते हैं। दूर की चीजें नजदीक दीख पड़ती हैं।

३. दोषकी प्रवृत्ति जब तृतीय पटल में होती है तब रोगी नीचे नहीं देख सकता है, केवल ऊपर की ओर देख सकता है। बड़ी वस्तुओं को वस्त्राच्छादित देखता है। व्यक्ति बिना कर्ण, नाक तथा आंख वाला दिख पड़ता है। तत्तद दोष के प्रभाव से अलग अलग रङ्ग दिख पड़ते हैं। दोष का स्थान नीचे, ऊपर या पार्श्व में हो तो क्रमशः समीप की चीज, दूर की चीज या पार्श्व की चीज को नहीं देख सकता। यदि दोष का स्थान चारों ओर है तो सभी चीज साथ मिली हुई दिख पड़ती है। दोष दृष्टि के मध्य में है तो एक वस्तु को दो दिखता है। दृष्टि की दो तरफ दोष है तो एक वस्तु को तीन देखता है। दोष अस्थिर है तो रोगी एक वस्तु को अनेक देखता है।

ऊपर जो वर्णन किया गया है उनमें क्रमशः क्रमशः पटलों में स्थित दोष से दृष्टि में क्या क्या परिवर्तन होता है यह बताया गया है। चतुर्थ पटल गत तिमिर से दृष्टि का संपूर्ण नाश होता है उसको लिङ्गनाश कहते हैं। लिंगनाश की दो अवस्थायें हैं—
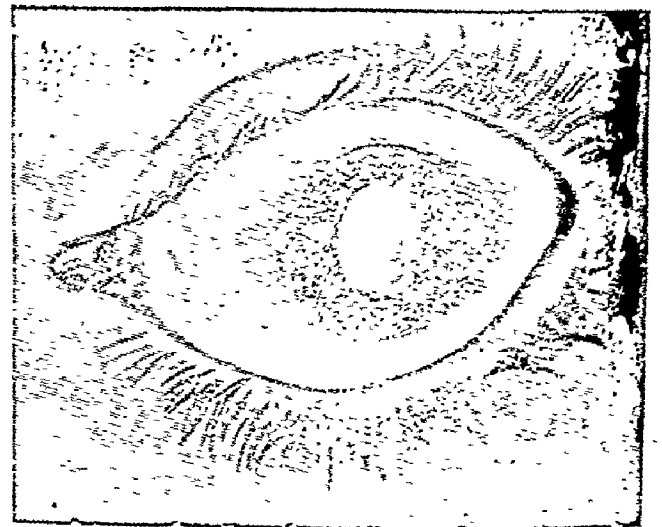
१. रूढ़ (Matured) और २. नाति रूढ़ (Immatured)। लिंगनाश अलग अवस्था होने से तिमिर प्रकरण में अब उनका उल्लेख शायद थोड़ा विषयान्तर हो जायेगा।

तिमिर रोग को दोष प्रभाव के कारण छः प्रकारों में बाँट दिया गया है। यह छः प्रकार निम्नानुसार हैं—

१. वातिक २. पैत्तिक ३. श्लैष्मिक ४. रक्तज ५. संसर्गज ६. सन्निपातज। दोषानुसार ये जो भेद हैं उनमें संसर्गज तिमिर रक्त और पित्त के साथ मिलने से होता है।

भेदवार लक्षण—

१. वातिक तिमिर—चलित, मलिन एवं रक्त वर्ण के दृश्य दिखाई देते हैं।

२. पैत्तिक तिमिर—रोगी को तरह-तरह के रङ्ग, चमकदार पदार्थ, सूर्य, बिजली आदि दिखाई देते हैं।

३. श्लेष्मिक तिमिर—श्वेत रंग की विशेषता सब चीजों में लगती है। आँखों के सामने बादल जैसा दिखाई देता है। सब चीजें वृहत् प्रमाण में स्निग्ध दिखाई देती हैं।

४. रक्तज तिमिर—रोगी को रक्त वर्ण के एवं धूसर वर्ण के दृष्य दिखाई पड़ते हैं।

५. संसर्गज तिमिर—रक्त और पित्त दोष के मिलने से जो तिमिर होता है तो रोगी को दृष्य रक्त, कृष्ण एवं पीले रंग का दिखाई देता है।

६. सन्निपातज तिमिर—दोष प्रभाव से उत्पन्न तिमिर में चित्र-विचित्र दृष्य दिखाई पड़ते हैं। एक वस्तु को अनेक देखता है।

ऊपर तिमिर के दो प्रकार के भेद बताये गये हैं। १. पटलगत दोष से २. दोष प्रभाव से। दोषानुसार तिमिर, काच एवं लिंगनाश को रोग के दृष्टिकोण से अगर देखा जाय तो मूल रोग लिंगनाश ही है और तिमिर एवं काच उनकी पूर्वावस्था हैं। प्रथमावस्था में तिमिर, द्वितीयावस्था में काच एवं तृतीयावस्था में लिंगनाश ऐसी एक रोग की तीन अवस्था हैं। निम्न शास्त्र विधान में स्पष्ट बताया गया है कि तिमिर की उपेक्षा से काच एवं काच की उपेक्षा से अंधत्व (लिंगनाश) होता है। यह लिंगनाश में दृष्टि का सम्पूर्ण अवरोध होने से अंधत्व आता है एतदर्थ लिंगनाश की पूर्वावस्था तिमिर का ही घोर रोग बताकर इस रोग की चिकित्सा तुरन्त करने का आदेश है।

वा० उ० १३ में निम्न श्लोक से तिमिर की घोरता का निरूपण किया गया है—

तिमिरो काचतां याति काचोऽप्यान्ध्यमुपेक्षया।
नेत्र रोगेस्यतः घोरं तिमिरं साधयेद्रुतम्॥

नेत्र रोगों में परिम्लायि काच का भी वर्णन आता है। यह परिम्लायि काच ऊपर बताया हुआ संसर्गज तिमिर ही है। तिमिर दृष्टि में अगर रंग आया है तो उसे परिम्लायि काच कहते हैं। लिंगनाश की तीन अवस्थायें जो आगे कही गई हैं यह इस प्रकार भी स्पष्ट होती हैं। प्रथम और द्वितीय पटलाश्रित दोष को तिमिर, तृतीय पटलाश्रित दोष को काच और चतुर्थ पटलाश्रित को लिंगनाश कहते हैं। ऊपर दोषानुसार जो भेद बताये गये हैं वो तीन पटलाश्रित दोष के हैं जिसमें लिंगनाश को प्रथम और द्वितीय पटलाश्रित दोष को तिमिर, तृतीय पटलाश्रित दोष को काच और चतुर्थ पटलाश्रित को लिंगनाश कहते हैं। ऊपर दोषानुसार जो भेद बताये गये हैं वो तीन पटलाश्रित दोष के हैं जिसमें लिंगनाश की प्रथम और द्वितीयावस्था का समावेश होता है। फिर लिंगनाश में भी दोषानुसार प्रकार होते हैं। यह सब समझने के लिये भेदानुसार निम्न तालिका बनाई गई है—

चिकित्सा—

तिमिर रोग की चिकित्सा का क्रम निम्नानुसार है—
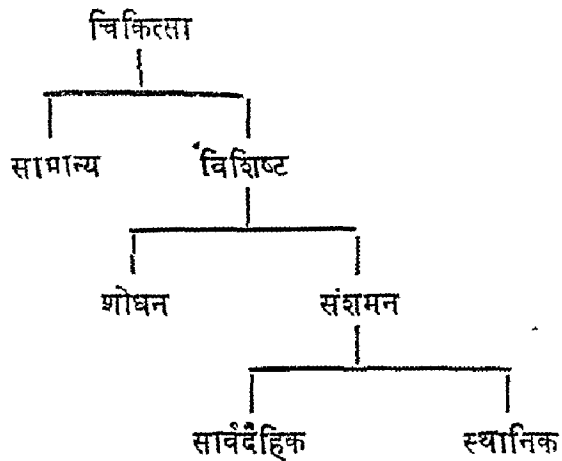
उपरोक्त क्रम में सार्वदैहिक एवं स्थानिक चिकित्सा क्रम को भी समाविष्ट किया गया है। उपरोक्त क्रम के साथ-साथ सार्वदैहिक और स्थानिक चिकित्सा को भी वर्णित किया जायेगा।

चिकित्सा क्रम को देखने से पहले साध्यासाध्यता का भी ध्यान बरतना चाहिए। यह निम्नानुसार है—

प्रथम पटलाश्रित —औषधि साध्य

द्वितीय पटलाश्रित—कृच्छ साध्य

तृतीय पटलाश्रित—याप्य

चतुर्थ पटलाश्रित (लिंगनाश)—श्लैष्मिक लिंगनाश केवल शस्त्र क्रिया से साध्य, अन्य सभी लिंगनाश असाध्य हैं।

सामान्य चिकित्सा—तिमिर चिकित्सा में खास तौर पर कोई सामान्य चिकित्सा नहीं बताई गई, किन्तु रोगोत्पत्ति होने पर चिकित्सा में आलस्य नहीं बरतना चाहिए ऐसा आदेश है।

विशिष्ट चिकित्सा—तिमिर की विशिष्ट चिकित्सा दो प्रकार की (१) शोधन और (२) संशमन-बताई गई है।

(१) शोधन—शोधन चिकित्सा में पूर्वकर्मपूर्वक विरेचन तथा रक्तस्राव का निर्देश किया गया है। विरेचन द्रव्यों की योजना दोषों को ध्यान में रखते हुये करनी चाहिए।

वातिक—एरण्ड तैल, पैत्तिक—त्रिफला घृत

रक्तज—तिल्वक घृत, श्लैष्मिक—निशोथ

त्रिदोषज—त्रिदोषहर द्रव्यों द्वारा साधित तैल

रक्तस्राव—तृतीय पटलगत रोग में शिरावेध का निषेध है।

(२) संशमन—शोधन चिकित्सा सम्यक्तया पूर्ण होने पर संशमन चिकित्सा बरतनी चाहिये। प्रथम सार्वदैहिक संशमन चिकित्सा देखें—

१. सप्तामृत लोह १ ग्राम, प्रवाल पिष्टी २५० मि. ग्रा.—२ बार शहद के साथ

२. त्रिफला घृत—१ तो. (१० ग्रा.) २ बार दूध के साथ

३. संशमनी वटी—२ गो. ३ बार

४. च्यवनप्राशावलेह—१ तो. २ बार

५. त्रिफला चूर्ण ८ रत्ती, प्रवाल भस्म ४ रत्ती—२ बार शहद के साथ

स्थानिक चिकित्सा में—

१. आश्च्योतन-(१) निशा जल। (२) उदुम्बर योग.

२. लेप—(१) जटामांसी लेप। (२) चन्दन लेप।

३. स्वेद—(१) हरिद्रा उपनाह।

४. धावन—(१) त्रिफला क्वाथ। (२) दार्वी क्वाथ। (३) निम्ब क्वाथ।

५. प्रतिसारण—(१) चन्द्रोदय वर्ति।

६. अञ्जन—(१) चन्द्रोदय वर्ति।

अन्य औषधि—

(१) नेत्रविन्दु, (२) रसांजनाम्बु, (३) त्रिफला जल प्रक्षालनम्, (४) अजाक्षीर प्रक्षालनम्।

नेत्र एक अमूल्य मणि बराबर है अतः नेत्र की भलीभांति रक्षा करनी चाहिए। ऊपर जो औषधि बताई गई हैं, उनका यथाविधि प्रयोग करने से नेत्रगत विकार का शमन होता है और दृष्टि की रक्षा होती है। अस्तु!

—श्री भालचन्द्र हर्षदराय छायी,
चिकित्साधिकारी—राजकीय आयु० चिकित्सालय
गांधीनगर (गुजरात)

कवि० श्री राजेन्द्रप्रकाश भटनागर

परिचय—

लिङ्ग्यते ज्ञायतेऽनेनेति लिंगमिन्द्रियं दर्शन शक्तिः तन्नाशोऽस्मिन्निति लिंगनाशः।

जिस रोग में दर्शनशक्ति का नाश (या ह्रास) होता है, उसे लिंगनाश कहते हैं। इस निरुक्ति के आधार पर यह नेत्रगोलक के किसी एक ही अवयव के किसी विशिष्ट रोग का बोधक नहीं है। इसमें उन समस्त रोगों का समावेश होता है, जिनसे आन्ध्य-उत्पन्न होता है। प्राचीन वर्णन का आधुनिकमत में समन्वय करने से यह दृष्टि मणि, सांद्रजल, और दृष्टिपटल के रोगों का साकल्येन बोधक है।

आन्ध्य की उत्पत्ति १.—प्रकाशावर्तक अवयव (Cornea, Aquous Humour, Lens, Vitreous body) मुख्य रूप से दृष्टिमणि और सांद्रजल की विकृति से, तथा—

२.—प्रकाशज्ञान ग्राहक अवयव—दृष्टिपटल, और दृष्टि-नाड़ी के रोगों से होती है।

लिंगनाश (मोतिया बिन्दु)

हरित लिंगनाश

आयुर्वेद में 'दृष्टि' शब्द से निम्न चार अवयवों का बोध होता है—

१. दृष्टि मणि (Lens)
२. सांद्रजल (Vitreous body)
३. दृष्टि पटल (Retina)
४. दृष्टि नाड़ी (Optic Nerve)

शास्त्र में इसके पटल, लिंगनाश, नीलिका, काच आन्ध्य पर्याय कहे गये हैं।

लक्षण

(अ) इसकी तीन अवस्थाओं का वर्णन मिलता है—

१. तिमिर २. काच ३. लिंगनाश.

दोष जब प्रथम व द्वितीय पटल के आश्रित होता है तो उसे 'तिमिर' कहते हैं।

तृतीय पटलाश्रित होने पर 'काच' और चतुर्थ पटल में पहुँचने पर 'लिंगनाश' कहलाता है।

आयुर्वेद में नेत्रगत ६ पटल बताये गये हैं—दो वर्त्म पटल और चार पटल नेत्रगोलक में होते हैं। नेत्रगोलकगत इन्हीं चार पटलों में अत्यन्त दारुण (कष्टकर) तिमिर नामक रोग होता है। इनमें से प्रथम बाह्यपटल तेज व जल के आश्रित, द्वितीय पटल मांस के आश्रित, तृतीयपटल मेद के आश्रित और चतुर्थ पटल अस्थि के आश्रित है।

द्वे वर्त्मपटले विद्याच्चत्वार्यन्यानि चाक्षिणि।
जायते तिमिरं येषु व्याधिः परमदारुणः॥
तेजोजलाश्रितं बाह्यं तेष्वन्यत् पिशिताश्रितम्।
मेदस्तृतीयं पटलमाश्रितन्त्वस्थि चापरम्॥

—सु० उ० १।१७-१८

समन्वय—प्रथम पटल—तेजोजलाश्रित (Cornea; Aquous humour)
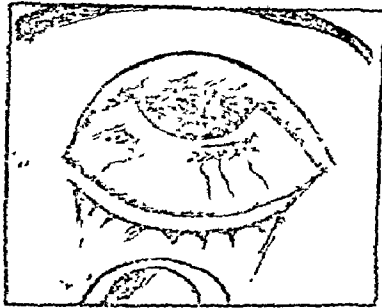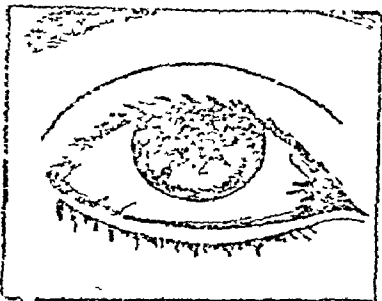
द्वितीय पटल—मांसाश्रित (Ciliary body)

तृतीय पटल—मेद:समाश्रित (Lens)

चतुर्थ पटल—अस्थ्याश्रित (Retina & optic Nerve)

इस प्रकार लिंगनाश, जो तिमिर की ही प्रवृद्ध अवस्था है, उक्त चारों पटलों में होने वाली व्याधि है।

तिमिर में अस्पष्ट दर्शन (साफ दिखाई न देना), काच में रागप्राप्ति और लिंगनाश में दर्शन शक्ति का नाश होना, मुख्य लक्षण हैं।

तिमिरं काचतां याति, काचोऽप्यान्ध्यमुपेक्षयां ॥

—अ० हृ० उ० १३।१

यह वर्गीकरण रोग की अवस्थानुसार है।

(अ) दोषानुसार वर्गीकरण—

दोषानुसार तिमिर लिंगनाश के ६ प्रकार हैं—

(१) वातिक, (२) पैत्तिक, (३) श्लैष्मिक (४) रक्तज, (५) सान्निपातिक, (६) परिम्लायी (द्वन्द्वज-पित्त रक्तज) इनमें दोषानुसार ही लक्षण व वर्ण (राग) पाये जाते हैं।

चिकित्सा

सूत्र—

१. षड्विध तिमिर—औषधि साध्य।

२. षड्विध काच—याप्य। औषधि प्रयोग से यापन।

३. षड्विध लिंगनाश—में से कफज लिंगनाश शस्त्र साध्य, और शेष पांच प्रकार असाध्य होते हैं।

आवस्थिक उपचार—

(१) तिमिर की अवस्था में—

(अ) आभ्यन्तर प्रयोग—

१. त्रिफला घृत या महात्रिफलाद्यघृत (अ० हृ०) १०—२० ग्राम।

२. सप्तामृत लौह (भै० र०) मात्रा—१ ग्राम। ३ बार

३. नेत्राशनि रस (भै० र०)

(आ) अञ्जन—

१. बहेड़े की मींगी, मरिच, आमले की छाल, तुत्थ, मुलैठी।

(इ) दोषानुसार स्नेहपान, रक्तमोक्षण, विरेचन, नस्य, अंजन, शिरोवस्ति, तर्पण, लेप और सेक (बार-बार)।

(२) काच की अवस्था में—

१. दोषानुसार उपर्युक्त उपक्रम करें। शिरावेध छोड़ दें।

२. अंजन-गुड़, समुद्रफेन, अंजन, पिप्पली, मरिच, केसर, मधु।

(३) लिंगनाश की अवस्था में—

पक्व कफज लिंगनाश में शस्त्रकर्म।

पूर्वकर्म—

१. स्नेहन, स्वेदन। २. रोगी का यंत्रण।

३. रोगी को नासा की ओर देखने लगाना।

प्रधान कर्म—

४. दैवकृतछिद्र में यववक्त्र शलाका से वेधन,

५. शलाका से लेखन।

पश्चाद् कर्म—

६. पट्टबंधन ७. आहारादि नियंत्रण

८. तीसरे दिन पट्ट खोलकर वातघ्न क्वाथ से प्रक्षालन, स्वेदन, प्रसादन, अंजन का प्रयोग।

विशेष—यह शस्त्रकर्म भारत में आज भी कतिपय वैद्य घरानों में परम्परागत रूप से प्रचलित है और किया जाता है। यहां पक्व कफज लिंगनाश से शुद्ध Matured cataract का बोध होता है।

—कविराज श्री राजेन्द्रप्रकाश भटनागर
एम. ए., भिषगाचार्य, आयुर्वेदाचार्य, एच. पी. ए.
प्राध्यापक—राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, उदयपुर (राज)

सौश्रुतीय कफज लिङ्गनाश

नेत्र वैद्य शिरोमणि श्री पं० इन्द्रभान सी. भटनागर

इसका आविष्कार अथर्ववेद के उपांग आयुर्वेद के साथ हुआ है। स्वर्ग वैद्य अश्विनी कुमारों ने कण्व ऋषि को मोतिया बिन्दु से अन्धे होने पर पुन: इसी पद्धति से स्वस्थ किया था। ऋग्वेद के समय में राजा इन्द्र ने इसी पद्धति से ऋज्राश्व ऋषि को पुन: दृष्टि प्रदान की। आज इस पद्धति को प्रारम्भ हुए करीब ६५०० वर्ष व्यतीत होने पर भी अपनी पूर्ण सत्यता के कारण उसी अवस्था में जीवित है। उसे ही सर्व श्रेष्ठ चिकित्सा समझ हमारे महर्षियों ने अन्य कोई पद्धति का वर्णन शास्त्रों में नहीं किया, न उस पद्धति में आज तक कोई परिवर्तन हुआ, न परिवर्तन करने की आवश्यकता समझी।

डा० रोवर्ट हेनरी सा. ने अपनी Tropical में दो प्रकार का Couching Method बतलाया है (१) Posterior Couching (२) Anterior Couching सौश्रुतीय कफज लिंगनाश ही Posterior Couching method से साक्षर मिलती है अत: इसे सुश्रुतीय पद्धति मानने में कोई आपत्ति नहीं है। यह पद्धति सु० उ० अध्याय १७ श्लोक ५७ से ६१ तथा वाग्भट्ट उ० अ० १४ के श्लोक ६ से १७ साक्षर मिलती है।

सौश्रुतीय यवमुखी शलाका—ताम्री शलाका द्विमुखी मुखे

कुरु यवाकृतिः लिंगनाशं तथा विध्येत।
अष्टांगुलायता मध्ये सूत्रेण परिवेष्ठिता।
अंगुष्ठ पर्व समिता वक्त्रयोर्मुकुलाकृति॥

—सु. उ. अ. १७ श्लोक ८४

ये द्विमुखी शलाका सुश्रुत काल तक थी जिसका एक भाग Lencet की तरह पैना था दूसरा भाग यव की आकृति का त्रिधार में था।

महाभारत काल पश्चात् सात्यकि ऋषि शालाक्य तंत्री ने इस शलाका को दो भागों में विभक्त कर दिया। पैना भाग का Lencet बना दिया और यव मुख के आकृति की शलाका रक्खी। प्रथम Lencet से Puncture करना और पुन: यवमुख शलाका को Probe को नेत्र में Puncture प्रवेश करना या द्विमुखी शलाका के पैने भाग से Puncture करके पुन: शलाका में यव मुख से Purcture में प्रवेश करना। दोनों का एक ही कार्य है। यूनानी में भी आजकल ये ही दो यंत्र प्रतीत होते हैं। आधुनिक हिन्दू नेत्र वैद्यों व मुसलमान हकीमों के पास ऐसे ही दो यंत्र मिलते हैं। परन्तु मुसलमानों की शलाका के मुख की आकृति में कुछ अन्तर पड़ता है। नेत्र वैद्यों की शलाका का मुख यव की आकृति का त्रिधारी होता है परन्तु हकीमों की शलाका का मुँह दो धारा देखा गया है।

डॉ० रोवर्ट सा० ने लिखा है' The patient looks well towerds the nose and the surgeon gently marks out the selected spot·· " दैवकृत स्थान····" on the conjunctiva about 8 m. m. out from the limbus······। इसी selected spot दैवकृत स्थान में lencet द्वारा छिद्र कर शलाका प्रवेश करने को लिखा हैं। सुश्रुत में भी रोगी "स्वां नासां पश्यत: सयम्" नाक की तरफ देखता है जिससे दैवकृत स्थान (Selected spot) स्पष्ट प्रतीत हो अत: इसमें कोई शंका नहीं कि यह सुश्रुत पद्धति से भिन्न हो। हाँ एक मवराम ने इस पद्धति का साहित्यिक होना बतलाया जो एक प्रकार की पत्तियों पर लिखा हुआ मिला। उन्होंने नेत्र वैद्यों (Couchers) को दो भागों में बाँटा—(१) पंजाबी काउचर्स उ. हिन्दुस्तान के कायस्थ (नेत्र वैद्य) (२) मद्रास के मुसलमान हकीम (नेत्र हकीम)। हिन्दू नेत्र वैद्य कोई संज्ञाहर वस्तु का प्रयोग नहीं करते थे उनकी पद्धति शास्त्रीय और सफल चिकित्सा थी। उनकी सफलता का परिणाम मुसलमान हकीमों से बहुत अधिक संख्या में था। (२) मुसलमान हकीम और नेत्र वैद्यों की शस्त्र-कर्म पद्धति एक सी थी परन्तु मुसलमानों का Status पश्चात् कर्म नेत्र वैद्यों से बिलकुल भिन्न था वे शस्त्र कर्म के बाद एक प्रकार की चिड़िया के खून का Dressing करते थे। इस प्रकार के चिड़िया के खून का Dressing का विवरण सुश्रुत संहिता (आयु. नेत्र सर्जरी ग्रन्थ) में कहीं नहीं मिलता। अत: उनकी काउचिंग पद्धति को नेत्र वैद्यों की काउचिंग पद्धति मान लेना सुसंगत व न्यायसंगत नहीं।

डॉ० रोबर्ट हेनरी ने स्वार्थवश अपनी आधुनिक Extraction of lens पद्धति को श्रेष्ठ बतलाने के लिए इन मद्रास के नेत्र मुसलमान हकीमों के परिणामों को अपनी Tropical में प्रकट कर उसे असत्य रूप से बदनाम करने का जो प्रयास किया है वह न्याय संगत नहीं है। उनकी ऐसी अवैज्ञानिक पद्धति द्वारा अनेक उपद्रव बतलाये जो दृष्टि को नष्ट करते है। अधिमन्थ का होना, Septic होना, Iritis होना इत्यादि। ये सभी उपद्रव सुश्रुतीय काउचिंग पद्धति में दृष्टिगोचर नहीं होते और दृष्टि आजीवन बनी रहती है। इन पाश्चात्य सर्जनों ने इस हमारी भारतीय सुश्रुतीय काउचिंग पद्धति को अवैज्ञानिक सिद्ध करने का भागीरथ प्रयत्न किया। परन्तु पाश्चात्य नेत्र सर्जनों डॉ० एकमबराम K. J. सर्जन, डॉ० हिमली, डॉ० मेनौर्डे जी सुश्रुतीय काउचिंग पद्धति के सुशिक्षित थे, ने मिलकर ब्रिटिश चक्षु विशारद सभा में घोर विरोध कर अपने काउचिंग पद्धति के सुपरिणामों को प्रत्यक्ष रूप में प्रकट कर यह सिद्ध कराया कि मोतियाबिन्दु मे भारतीय काउचिंग मैथड (सु. काउचिंग पद्धति) अति उत्तम सफल चिकित्सा है देखिये U. K. Society of Canada. Voll. xxxvii 1910. A. D. उस समय आधुनिक पद्धति के कई मैथड प्रचलित थे। इतना होने पर भी इन पाश्चात्य सर्जनों ने भारत में इस पद्धति को अवैज्ञानिक सिद्ध करने के लिए कई अदालती मुकदमे नेत्र वैद्यों पर किऐ परन्तु अन्त में परास्त हुए। नागपुर के मजिस्ट्रेट ने इस भारतीय सु० काउचिंग पद्धति को वैज्ञानिक चिकित्सा घोषित किया और भारतीय रजिस्टर्ड वद्यों को अन्य सर्जरी के साथ काउचिंग करने का अधिकार कायम रक्खा। देखिए—आयु० जगत बम्बई अङ्क १६ (ता० २७ जुलाई १९४६)

हमारे आयुर्वेद के उपाधि प्राप्त वैद्य कहते है कि हमें भी लैन्स बाहर निकालने की पद्धति का आविष्कार करना चाहिए। क्योकि वे निम्न प्रकार की दृष्टि की त्रुटियाँ इसमे बतलाते हैं—

१—लेन्स पुनः अपने स्थान पर आ दृष्टि रोक देता है।
२—शिर नीचा करने पर लैन्स दृष्टि में अवरोध करता है।
३—अधिमन्थ होना सम्भव है।
४—दृष्टि दो मास बाद ही नष्ट हो जाती है

ये सभी उपद्रव नेत्र हकीमों के हैं—सुश्रुतानुसार शस्त्रकर्म करने पर व सुपथ्य रखने पर किसी प्रकार का उपद्रव सम्भव नहीं। नेत्र वैद्य की लापरवाही से लिंगनाश पूर्ण रूप से न करने पर लैन्स पुनः अपने स्थान पर आ जाता है तो पुनः शस्त्र-कर्म कर दीजिये सफलता मिलेगी। यों तो आधुनिक पद्धति में भी लैन्स निकाला जाता है और आवरण रह जाने पर रोगी अन्धा ही पड़ा रहता है, तब उसका दूसरा शस्त्रकर्म Needling करना पड़ता है। आज आधुनिक विज्ञान मे कच्चे मोतियाबिन्दु का शस्त्र कर्म होता है। परन्तु वह दृष्टि धीरे-२ दो चार मास में नहीं तो वर्ष में अवश्य नष्ट होती देखी गई है। आधुनिक पद्धति में भी दृष्टि अधिकतर काउचिंग से कम ही आती है और चश्मे विना रोगी देख नहीं सकता। इसमें भी Extraction करने पर अधिमंथ रहता है और कभी-२ Triphening करना पड़ता है।

आज आधुनिक नेत्र चिकित्सालयों से रोगी निराश होकर आयुर्वेद परामर्श के लिए लेखक के पास आते हैं। घर पर बुलाते हैं। उनके शस्त्र कर्म देखने से ऐसा मालूम पडता है कि उसकी दृष्टि को पुनः प्राप्त करने में कोई गुंजायश नहीं रहती और आंख की स्थिति बेडौल अप्राकृतिक बन जाती है। ये आपत्तियाँ सुश्रुत की सर्जरी में नहीं।

लैंस बाहर निकलने की पद्धति में कितने उपद्रव हैं और कितनी सफलता है देखें। जब विना लैन्स निकले ही दृष्टि प्राप्त हो जाती है तो कठिन पद्धति का क्यों उपयोग किया जाय।

आयुर्वेद के प्रादुर्भाविक धन्वन्तरि ने अपने शिष्य सुश्रुत को मोतियाबिन्दु शस्त्र कर्म में लिंग (लैंस—दृष्टिमणि) नेत्रगोलक से बाहर निकालने का आदेश क्यों नहीं दिया? दृष्टिमणि लैंस लिंग, चार पारदर्शक पटलों से आच्छादित है। लिंग लैंस भी जन्म के साथ पारदर्शक काँच के समान-मसूर दल सदृश होता है।

मसूर दलमात्रां तु पंच भूत प्रसादजाम्।
खद्योत विस्फुलिङ्गमामिद्धां ने जो मिल्ययैं॥
आवतां पटलेवाक्ष्णो बहियेन विवश कृतम्।
शीतसात्म्यां नृणां दृष्टिमाहुर्नयन चिन्तका॥ ४॥
—सु० उ० अ—७।३–४

यह दृष्टिमणि मोतियाबिन्दु के + १० के लैंस की ताकत रखता है। जब तक यह पारदर्शक स्वच्छ पटलों से आच्छादित रहता है दृष्टि पूर्ण रूप में रहती है। जब दृष्टि वन्धन की वात वाहिनियों द्वारा इस लिंग में दोष प्रवेश करता है तब धुंधला दीखने लगता है, तिमिर कहलाता है। जैसा दोष प्रवेश करता है उसी दोष के नाम से वह तिमिर दृष्टि कहलाती है। जब दोष इसके चारों पटलों में पूर्ण रूप से भर जाता है तब उस दोष का वह लिंगनाश कहलाता है जैसे वात से नीलबिन्दु (काला मोतिया), पित्त से पीतबिन्दु और कफ से मोतिया बिन्दु (कफज लिंगनाश) बनता है। इन भिन्न-२ दोषों से कनीनिका में लिंग का रङ्ग प्रतीत होता है। दो-दो दोष के कारण मिश्रित रंग वाला प्रतीत होगा। निकालने पर पाश्चात्य सजन + १० के लैंस का चश्मा लिंगनाश शल्य कर्म करने पर लगाते हैं।

नेत्र में दो प्रकार के जल हैं। (१) सान्द्र जल—गाढ़ा स्वच्छ गोंद के समान पारदर्शक Vitrious (२) तनु जल-क्षारीय जल Aquous जो सांद्र जल (मेदो जल) में आई हुई विकृतियों को नष्ट कर उसे स्वच्छ बनाये रखने का कार्य करता है। यह तनु जल दृष्टिमणि के आगे पीछे है। अतः मामूली विकृति जो मेदा जल में उत्पन्न हो उसे नष्ट कर देती है।

कफज लिंगनाश—लिंग कफ के कारण अपारदर्शक बन जाता है। मणि दृष्टि मार्ग के ठीक बीच मे कनीनिका के पीछे दृष्टि वन्धन से ऊपर नीचे लटका हुआ है। यह लिंग अपारदर्शक होने पर बाहर के प्रकाश व चित्र को दृष्टि नाड़ी तक पहुंचने में अवरोध करता है। इस अवरोध को दूर कर दृष्टि पुनः प्राप्त करना प्राचीन आयुर्वेद व आधुनिक पंथी का उद्देश्य है।

प्राचीन आयुर्वेद में दृष्टि मार्ग से अपारदर्शक लिंग को क्षारीय जल Aqueous humour में posterior chamber में गिराकर दृष्टि माग निर्मल करना है।

आधुनिक मे—नेत्र गोलक से लैंस बाहर निकाल लेने से दृष्टि मार्ग निर्मल हो जाता है।

जैसे क्षारीय जल में कफ डाला जाय तो नष्ट हो जायगा। उसी प्रकार इस क्षारीय जल Aqueous humour में कफ सहित लैंस (कफज लिंग) को डाल देने से लिंग की मणि का कफ नष्ट हो जायगा और दृष्टि मार्ग में अवरोध नहीं करेगा। आधुनिक में भी चाकू की सहायता से Cornea काटकर Pupil को विस्फारित कर Iris काटकर कृत्रिम Pupil बनाकर लैंस (मोतियाबिन्दु) को नेत्र गोलक से बाहर करते हैं। उस समय लिंग या कफ Aqueous humour में थोड़ा गिरता है थोड़ा बाहर निकलता है जो क्षारीय जल में घुल जाता है। बाहर निकालने की (Extraction) पद्धति कठिन है और उपरोक्त कथित से अधिक उपद्रव सभव हैं। परन्तु मोतिया को डुबो देने की पद्धति सरल है उसका लैंस या कफ भी Aqueous humour में क्षारीय जल के कारण घुल जाता है। पड़ा हुआ लैंस कुछ अवस्था मे दृष्टि को बल देता है अतः सुश्रुतीय पद्धति से सुधारी हुई आंख बिना चश्मे आधुनिक पद्धति से सुधरी आंख से अच्छा देखती है और आधुनिक पद्धति से सुधरी हुई आंख वाला रोगी बिना चश्मे देखने मे कठिनाई अनुभव करता है।

जब कफ दोष नष्ट हो जाता है तो दृष्टि में कोई विकार नहीं रहता और दृष्टि आजीवन उपद्रवरहित स्वच्छ बनी रहती है। अतः मोतियाबिन्दु में लिंग को निकालना या न निकालना में कोई अन्तर न समझ धन्वन्तरि ने सुश्रुत को शालक्य कर्म कर लैंस को भीतर ही रखने का आदेश दिया था जो सुश्रुत व जन कल्याण हेतु सरल, कम खर्चीली, सत्वर लाभप्रद चिकित्सा है। मेरे अनुभव से आज भी दुनियां में सुश्रुतीय कफज लिंगनाश (Indian couching method) ही सफल चिकित्सा है।

आज मिश्रित आयुर्वेद उपाधि प्राप्त वैद्य पाश्चात्य पंथी द्वारा सुलाकर मोतियाबिन्दु का शस्त्रकर्म (शल्यकर्म) कर उसे आयुर्वेदीय शालाक्य व शल्य कर्म घोषित करते हैं, यह गलत है। मोतियाबिन्दु का शालाक्य कर्म तो बैठे-२ ही किया जाता है। अतः सुलाई हुई स्थिति से शल्य कर्म को सुश्रुत का शल्य कर्म न समझें।

—नेत्र वैद्य श्री पं० इन्द्रभान सी० भटनागर
श्री धन्वन्तरि आदर्श औषधालय एवं प्रशिक्षण केन्द्र
सिद्धपुर (उ. गु.), ब्रांच—महिलामण्डल के पास,
उदयपुर (राज०)

नेत्रों का बहुप्रचलित रोग लिंगनाश

श्री ज्ञानचन्द जैन बी०एस०सी०, बी०ए०एम०एस०

आचार्य श्री जैन ने लिङ्गनाश (मोतियाविन्द) का सरल सुवोध शैली में आयुर्वेदीय मतानुसार वर्णन किया है। उसका सुश्रुतोक्त शल्य कर्म भी दिया है। जगह-जगह आपने रोग के संभावित आंग्ल नाम भी दिये हैं जिससे पाठकों को आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में उसका वर्णन उपलब्ध करने में अधिक कठिनाई नहीं होगी। पाठक देखेंगे कि सुश्रुतोक्त शल्य कर्म में तथा आधुनिक शल्य कर्म में थोड़ा सा ही अन्तर है। विद्वान लेखक ने कतिपय ऐसे अंजनों का भी उल्लेख किया है जिनसे दृष्टि स्थिर रहती है। आशा है कि पाठकों को यह लेख रुचिकर लगेगा तथा लाभान्वित होंगे।

—दाऊदयाल गर्ग

परिचय

लिंगनाश या मोतियाविन्दु का विकार भारतवर्ष में एक बहुत प्रचलित रोग है। यह रोग प्रायः ४० वर्ष की आयु के ऊपर वाले व्यक्तियों को होता है। वृद्धावस्था में यह सबसे अधिक पाया जाने वाला रोग है। लिंगनाश के रोगी जोकि भारतवर्ष में देखने को मिलते हैं उनमें ६६% इसी प्रकार से (वृद्धावस्था में) पीड़ित मिलते हैं। यह रोग आंखों की दर्शन शक्ति को नष्ट कर देता है। अतएव इस रोग से वचने के लिए इसके कारण एवं चिकित्सा सभी को ज्ञात होना चाहिये।

परिभाषा

१. आचार्य सुश्रुत ने निम्न परिभाषा दी है—

सुरर्षि गंधर्व महोरगणं संदर्शनि नापिच भास्वराणाम्।
हन्यते दृष्टिर्भुजुनस्य यस्य सालिंगनाशस्य निमित्त संज्ञः॥

अर्थात् काच या ताल की किसी प्रकार अपारदर्शकता जन्य दृष्टि की कमी को लिंगनाश (मोतियाविन्दु) कहते हैं।

जब कांच विन्दु पक जाता है तो वह पुतली के नीचे मोती जैसा दिखलाई पड़ता हैं और जब वह (दृष्टिमणि) बाहर निकाला जाता है तो मोती के रङ्ग का और बिलकुल चमकीला होता है इसलिए वह कांच विन्दु या मोतियाविन्दु कहलाता है।

२. आ० डल्हण ने इस रोग की निम्न परिभाषा बतलाई है—

लिंगनाश इति लिंगं चक्षुरीन्द्रिय शक्तिः तस्यनाशो यस्मिन् सालिंगनाशो दोषः।

अर्थात् देखने की शक्ति को लिंग कहते हैं, उसका नाश जिस रोग में हो उसे लिंगनाश रोग कहते हैं।

३. ....चतुर्थ पटलं गतः।
रूणद्धि सर्वतो दृष्टिं लिंगनाश स उच्यते॥

अर्थात् जब दोष चतुर्थ पटल (IV Tunic layer) में पहुंच जाते हैं तो लिंगनाश की अवस्था उत्पन्न हो जाती है और दृष्टि सर्वतोभावेन रूद्ध हो जाती है और इस पूर्ण अन्धता को लिंगनाश कहते हैं।
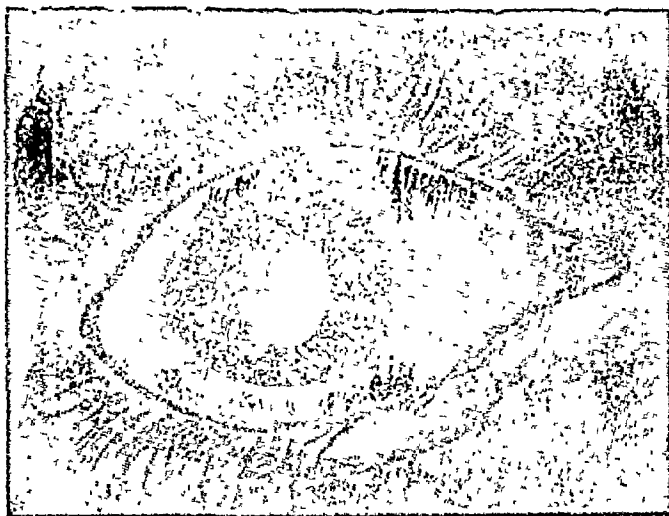
कारण

आचार्य सुश्रुत ने लिंगनाश के कारण बतलाते हुए लिखा है—

> निमित्तस्तत्र शिरोभितापाज
> ज्ञेयस्त्वभिष्यन्द निदर्शनैश्च ।
> सुरर्षि गंधर्व महोरगाणां
> संदर्शनेनापि च भास्वराणाम् ॥
> हन्यते दृष्टिर्मनुजस्य यस्य स
> लिंगनाशस्त्व निमित्तसंज्ञः ।
> तत्राक्षि विस्पष्टमिवावभाति
> वैदूर्य वर्णा विमलाच दृष्टि ॥

१. सनिमित्त कारण—इसके अन्तर्गत शिरोभिताप, विष सम्पर्क, पुष्प सम्पर्क, पुष्पगन्ध सम्पर्क और तेज वायु आदि कारण आते हैं। इससे नेत्र में अभिष्यन्दवत लक्षण मिलेंगे और इस प्रकार का लिंगनाश साध्य होता है।

२. अनिमित्त कारण या *औपसर्गिक कारण*—देवर्षि, गन्धर्व, महासर्प आदि के दर्शन से एवं अत्यन्त भास्वर (चमकदार) पदार्थ के कारण भी लिंगनाश हो जाता है। इसमें आंख बिलकुल नैसर्गिक रहती हैं, वैदूर्य मणि के सदृश्य आभा रहती है, रोगी को आंख से दिखाई नहीं पड़ता। यह अवस्था असाध्य बतलाई गई है।

रोग के लक्षण और चिह्न

रोगी की दृष्टि में क्रमशः न्यूनता, लिंगनाश का प्रारंभिक दृष्टि मणि के जिस में भाग और जिस तरह होता है उसी के प्रकार रूप ग्रहण की शक्ति की न्यूनता आधारित रहती है। यह न्यूनता दृष्टिमणि की अपारदर्शकता के कारण होती है।

दृष्टिमांद्य के अतिरिक्त मोतियाबिन्दु में पाए जाने वाला दूसरा लक्षण मिथ्यादर्शन भी है। जैसे दृष्टि के समक्ष स्थिर काले धब्बे का आभास होना। कई बार यदि मोतियाबिन्दु दृष्टि मण्डल के कुछ अंश में एक ओर हो और दृष्टिमणि का भाग स्वच्छ हो तो एक आंख से देखने पर रोगी को दो भासता है। इस स्थिति को द्विधा दर्शन या एकाक्षि द्विधा दर्शन (Monocular Diplopia) कहते हैं।

उपरोक्त लक्षण लिंगनाश के पूर्वरूप में मिलते हैं ऐसा आचार्य सुश्रुत ने कहा है। मोतिया विन्दु के बढ़ने से दृष्टि अधिकाधिक मंद हो जाती है। बाद में नेत्र के समक्ष वाले काले मण्डल, पदार्थ या धब्बे बिल्कुल नहीं भासते। द्विधा दर्शन भी दूर हो जाता है। शनैः शनैः मोतियाबिन्दु वाली दृष्टि बिल्कुल बन्द हो जाती है। फिर कोई भी वस्तु दिखाई नहीं देती है। रोगी अंधकारमय हो जाता है।

लिंगनाश की अवस्थायें—

लिङ्गनाश की चार अवस्थायें होती हैं और प्रत्येक अवस्था अपने पूरे लक्षणों को प्राप्त करने के बाद दूसरी अवस्था में परिवर्तित हो जाती है। ये निम्नलिखित हैं—

१. प्रारम्भिक अवस्था (Incipient stage)—इसमें रोगी की दृष्टि को विशेष हानि नहीं पहुंचती और दृष्टिमणि का वर्ण पीताभ या कृष्णाभ होता है। इसमें धुंधलापन धारी के रूप में प्रारम्भ होता है और बढ़ता है। यह धारियाँ प्रांत भागों में चौड़ी और केन्द्र में पतली होती हैं। रोगी काले रङ्ग के चक्र के धुरी के आकार की किरणों को देखता है *यानी रोगी को मकड़ी के जाल के* समान भासता है।

२. अर्द्ध पक्वावस्था (Intumescent cataract)—इस अवस्था में कांच द्रव पदार्थ को शोष लेता है और कुछ उभरा हुआ दिखलाई पड़ता है। इस हालत में उपतारा (Iris) आगे की तरफ दब जाती है और इसका वर्ण पीत श्वेत चमकदार दिखलाई पड़ता है और इसकी आकृति तारे (star) की तरह हो जाती है। इस समय उपतारा की छाया कांच पर पड़ती है और जब प्रकाश द्वारा इसके

पार्श्व भाग को देखने पर कांच की ऊपरी सतह पारदर्शक दिखलाई पड़ती है और अपारदर्शक भाग उपतारा से कुछ दूर होता है। अर्थात् उपतारा प्रकाश के प्रति सक्रिय (sensitive) होती है। नेत्र पर प्रकाश डालने पर यह सिकुड़ती है और प्रकाश हटा लेने पर फैल जाती है।

३. पक्वावस्था (Mature stage)—इस अवस्था में कांच अपने बहुत से द्रव अंश को नष्ट कर चुकता है और कुछ दबा हुआ अपारदर्शक दिखलाई पड़ता है। इस अवस्था में दृष्टिनाश हो जाता है। नेत्र के समीप हाथ हिलाने पर रोगी को उसका बोध होता हैं। दृष्टिमणि पूर्ण अपारदर्शक हो जाता है। उसका वर्ण श्वेताभ या पीताभ दिखता है। तारक आकुञ्चन और प्रसारण प्रकाश प्रतिक्रिया के अनुरूप होता है। सारा का सारा कांच कड़ा हो जाता है। इस समय काच सरलता से पृथक किया जा सकता है। इस समय इसको परिपक्व कांच, सुजात कांच कहते है और शस्त्र क्रिया के योग्य जाना जाता है। यह अवस्था साध्य होती है जैसाकि आचार्य सुश्रुत ने कहा है—

श्लैष्मिके लिंगनाशे तु कर्म वक्ष्यामि सिद्धये।
न चेदर्धेन्दुघर्माम्बु बिन्दु मुक्ताकृतिः स्थिरः॥

४. अतिपक्वावस्था (Hypermature stage)—यदि पक्वावस्था में लिङ्गनाश दूर न किया जावे तो उसमें दिन प्रतिदिन परिवर्तन प्रारम्भ हो जाता है। इसकी सतह प्रकाश की किरण को ग्रहण नहीं करती और सर्वत्र ही यह एक समान हो जाती है। इस लिङ्गनाश में काच का द्रवांश छोड़ना प्रारम्भ हो जाता है। अतः यह सिकुड़ा हुआ, शुष्क और फैला हुआ दिखाई देता है। इसे संकुचित लिङ्गनाश (Shrinked cataract) कहते हैं। कांच और उपतारा कापता हुआ चंचल दिखलाई पड़ता है और इसके बन्धक तन्तु खिंचे हुए दिखाई पड़ते है। रोगी के ऊपर नीचे, बाहर-भीतर चलने पर मोतियाबिन्दु भी साथ-साथ चलता है। आचार्य सुश्रुत इसका वर्णन 'चलत्पद्म पलाशस्थ शुक्लो बिन्दूरिवाम्भसः' लिखकर किया है।

यदि काच द्वारा शोषण क्रिया न हो और पदार्थ द्रव रूप धारण करले तो वह प्रतिदिन गलने लगता है फिर दृष्टि मणि के बीज के अतिरिक्त शेष कांच बिन्दू का भाग सफेद दूध जैसा प्रवाही बन जाता है। इस स्थिति में इसे दूधिया कांच या मार्गेनियन कांच (Milky or Marganian Cataract) कहा जाता है। यदि इस दूधिया बिंदु को रहने दें तो वह उसी स्थिति में रह जाता है या प्रवाही पदार्थ शोषित होने लगता है और अन्त में बीज ही शेष रह जाता है जोकि तारा मण्डल के पीछे पड़ा रहता है। यदि बिन्दु का पर्त अपारदर्शक न बना हो तो इस स्थिति में रोगी बिना कोई चिकित्सा कराये अपने आप देखने लगता है।

प्रकार

लक्षणों के आधार पर इसे दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१. परिवर्धनशील लिंगनाश—इस प्रकार में कांच के बढ़ने के काल में कुछ कमी रह जाती है। चाहे इसका कारण सहज (Congenital) हो, सशोथ हो, पोषक आहार की कमी से हो या कांच के सूक्ष्म तन्तुओं की स्वभाविक वृद्धि में कमी के कारण हो। इससे कांच के सूत्र अपारदर्शक हो जाते हैं।

२. विकृतशील लिंगनाश (Degenerative cataract)—इसमे पूर्ण वृद्धि प्राप्त कांच वस्तु अपनी पारदर्शकता खो देता है। प्रथम प्रकार (१) के सहज भेदों का जो काच के विभिन्न भागों में होते है माने जाते है। यथा—पूर्व ध्रुवीय लिंगनाश (Ant. polar Catarct), पश्चिम ध्रुवीय लिंगनाश, केन्द्रीय लिंगनाश, बहुकेन्द्रीय लिंगनाश (Coronary cataract) वृत्ताकृति लिंगनाश (punctate cataract), पूर्ण सहज (Complete congenital) एवं आवस्थिक (Juvenile) लिंगनाश में गिने जाते हैं।

उपरोक्त भेदों को प्रारंभिक लिंगनाश (Primary Cataract) कहते है। यह अन्य नेत्र रोगों के कारण होता है।

दूसरे भेद में जिसे आनुषंगिक (Secondary) लिंगनाश कहते है इसके अन्तर्गत वार्धक्यज लिंगनाश (Senile cataract) जिसमें कोषीय (Cortical) व केन्द्रीय (Nuclear) लिंगनाश, आघातज (Traumatic) लिंगनाश, औपद्रविक (Complicated) लिंगनाश, व्याधिजन्य लिंगनाश और विषजन्य लिंगनाश सम्मिलित हैं।

इसके अलावा कांच की विकृति के अनुसार भी लिंगनाश के नाम रखे जा सकते है। यथा—कोषीय (capsular) लिंगनाश, कोष काचीय capsulo lenticular), केन्द्रीय (Lenticular) लिंगनाश आदि।

चिकित्सा

मोतिया बिन्दु की एकमात्र चिकित्सा शस्त्र कर्म ही है जिसका वर्णन सुश्रुतानुसार निम्न प्रकार है। इन्होंने इस कर्म को ३ प्रधान विभागों में बांट दिया है—

१. पूर्व कर्म। २. प्रधान कर्म। ३. पश्चात् कर्म।

१. पूर्वकर्म—इस कर्म में स्वस्थ रोगी के शरीर को स्निग्ध व स्विन्न करके सर्व शरीरगत दोषों का परिमार्जन किया जाता है। इसके बाद नियमपूर्वक आहार संयम इत्यादि कराकर रोगी को तैयार किया जाता है। यन्त्रादि भी शुद्ध करके रख लिये जाते हैं। इस कर्म में निम्न यंत्र, शस्त्र प्रयोग में लाये जाते हैं—
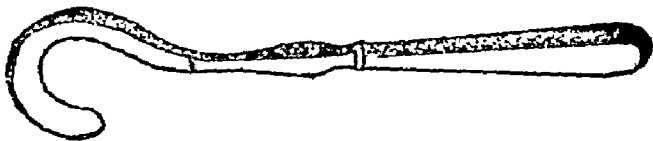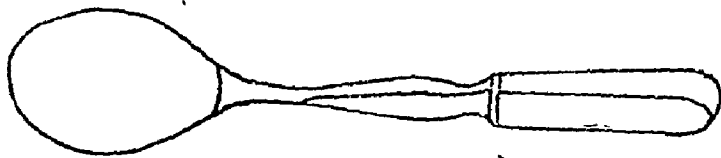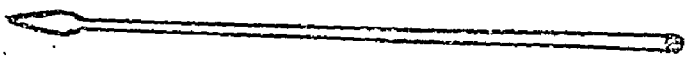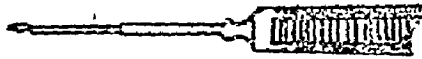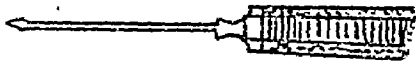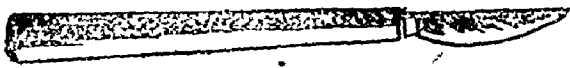
लिङ्गनाश शल्यकर्म में प्रयुक्त होने वाले प्राचीन उपकरण एवं शस्त्र

१. वर्त्मग्राही यन्त्र (Lid retractor or Eye speculum)। (चित्र पृष्ठ ५९ पर)

२. यवमुखी शलाका (Iris Repositor) सर्पफण शलाका (Curved Iris forceps), वडिश यन्त्र (Iris hook blunt) ताल यन्त्र (Spoon and Scoop) आदि।

शस्त्र—व्रीहिमुख, वेतस पत्रक, तीक्ष्णाग्र शलाका (Narrow knife)।

उपयन्त्र—वस्त्रपट्ट, सूत्र, वस्त्र प्रकोष्ठ तथा अन्य कांच कूपी।

औषधि—परिसेचन द्रव्य, आश्च्योतन द्रव्य एवं अंजन द्रव्य आदि।

उपरोक्त सभी यन्त्र शस्त्रों का संशोधन सार्वांगिक करके स्थानिक शुद्धि करके एवं संज्ञाशून्य करने के बाद रोगी को शस्त्र कर्म के योग्य समझें।

२. प्रधान कर्म—

इस कर्म में रोगी को फलक (Operation Table) पर लिटाकर उसकी आँखों पर जीवाणुघ्न घोल से प्रक्षालन करें। इसके बाद सुश्रुतानुसार निम्न प्रकार से लिंगनाश का वेधन करें—

> मतिमान् शुक्ल भागौ द्वौ कृष्णान्मुक्त्वा ह्यपाङ्गतः।
> उन्मीलय नयने नयने सम्यक् सिराजाल विवर्जिते॥
> नाधोनोर्ध्वं न पार्श्वाभ्यां छिद्रे दैवकृते ततः।
> शलाकाया प्रयत्नेन विश्वस्तं यववक्त्रया॥

अर्थात् यवमुखी शलाका के द्वारा ठीक दैवकृत छिद्र में जहां पर शिराजाल न हो वहां पर वेध करें। यहाँ पर दैवकृत छिद्र का अर्थ योग्य प्रदेश है जहां पर वेध कर्म किया जाता है। आचार्य ने दैवकृत छिद्र का स्थान बतलाते हुये लिखा है कि अपांग (Outer Canthus) से कृष्ण भाग तक की दूरी मापकर उसके तीन भाग करें। अपांग से प्रारम्भ होने पर प्रथम तृतीय (१/३) के अन्त और दूसरे तृतीय (२/३) के प्रारम्भ स्थल या संधि स्थल पर वेध करें। यह वेधन न नीचे न ऊपर और न पार्श्व में हो अर्थात् न कृष्ण भाग के अति समीप या न अपांग के अतिसमीप हो। इस प्रकार यह वेधन कर्म नेत्र श्लेष्मावरण के अधो भाग में होता है।

लिङ्गनाश शल्य कर्म के समय रोगी स्थिति

आचार्य वाग्भट्ट ने भी इसी मत का समर्थन किया है--

कृष्णादर्धांगुलं मुक्त्वा लथाऽर्धांर्धमयाङ्गतः।

अर्थात् कृष्ण से आधा अंगुल छोड़कर और अपांग से
चौथाई अगुल वचाकर शुक्ल भाग वेध करें।

उपरोक्त कर्म के वाद उस स्थान के कफदोष को
निकालने के लिए लेखन कर्म (De ision of the lens)
करना चाहिए। यह भी मोतिया विन्दु का एक अच्छा
शस्त्रोपचार माना जाता हैं।

लेखन विधि—वेधन कर्म ठीक होने पर वारि बिन्दू
तेजोजल का मिलता है। इसके वाद लेखन कर्म करने में
सरलता होती है। इसके लिए स्त्री स्तन्य वार-वार डालना
चाहिए। इसस पुतली फैलती है और दोष साफ दीख पड़ता
है; पुतली फैलाने क पूर्व मे भी रोगी के नेत्र पर स्वेदन वायु
नाशक पत्रों से करना चाहिये। शलाका को उसी स्थान
पर पड़े रहने देना चाहिए। जैसा कि सुश्रुत ने कहा है—

दैवकृत छिद्र पर व्रीहिमुख शास्त्र का प्रयोग दर्शाते हुए

सम्यक शलाका संस्थाप्य भंगैर्लिगनाशनैः।
शालाकाग्रे तु ततो निर्लिखेद दृष्टि मण्डलम्॥

स्वदेन हो जाने के वाद शलाका के अग्र भाग से दृष्टि
मण्डल का लेखन (खुरचना) करना चाहिये। इसके वाद
जिस नेत्र का शस्त्रकर्म हुआ हो उसके दूसरी तरफ के
नासाछिद्र को वन्द करके जोर से नाक को साफ करना
चाहिए। इस क्रिया से दृष्टि मण्डलगत कफ निकल जाता
है। इस कफ के निकल जाने से लिंगनाश दूर हो जाता
है और रोगी की दृष्टि अच्छी हो जाती है।

३. पश्चात् कर्म—

शस्त्रकर्म के पश्चात् सुश्रुतानुमार नेत्र का घृत
से अभ्यङ्ग करके कवलिका (रुई) रखकर पट्टी वांध देनी
चाहिये। रोगी को धूलि, धूम, तेज हवा आदि से रहित
गृह में विस्तर पर उत्तान लिटा देना चाहिए। रोगी को
तत्काल खाँसना, थूकना और शरीर हिलाना वन्द रखें।

—शेषांश पृष्ठ १५८ पर देखें।
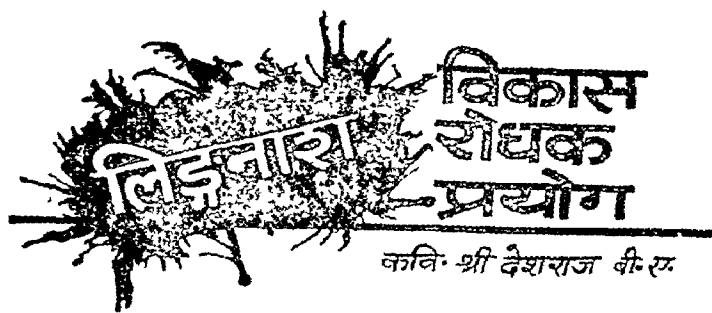
लिंगनाश एक नेत्र रोग है जिसको साधारण भाषा में मोतियाबिन्दु कहा जाता है। जब यह रोग पूर्वरूप से आगे बढ़कर वृद्धि को प्राप्त होता है तो सम्पूर्ण नेत्र को ढक लेता है और चक्षु इन्द्रिय व्यापार ठप सा हो जाता है। इस सम्पूर्ण विकसित लिंगनाश की चिकित्सा सुश्रुत तथा आधुनिक शास्त्रानुसार शल्य चिकित्सा के अतिरिक्त अन्य कोई सफल चिकित्सा नहीं है। यह सत्य भी है। लिंगनाश को नष्ट करने के लिये या इसके विकास के रोकने के लिये कई प्रकार के ड्राप्स या अञ्जनादि उपलब्ध होते हैं पर इन सबके प्रयोग से आंशिक लाभ ही मिल पाता है। नेत्र विशेषज्ञ के परीक्षण द्वारा यदि यह सिद्ध हो कि रोग के पूर्वरूप उत्पन्न हो रहे हैं (Developing opacities) तो उस समय यदि किसी उपयोगी ड्राप्स या अञ्जन का निरन्तर प्रयोग किया जाय तो सम्भव है कि पूर्वरूप सर्वथा नष्ट हो जांय और पुनः उत्पन्न न हों।

द्रव्यगुण शास्त्र का भली प्रकार अवलोकन करने से लिंगनाश को रोकने अथवा नष्ट करने के लिये हमें नृसार द्रव्य उपयुक्त मालूम हुआ। इसके कई पर्याय यथा विड-लवण, चुल्लिका लवण, नवसार, नरसार, नृसारादि इसका लेटिन नाम अमोनिया वाई कोराइण्म है। इसकी उत्पत्ति भिन्न प्राणियों के विष्टा एक प्रकार की विशेष मिट्टी तथा करीर एवं पीलु वृक्ष की राख से होती है। इसे साधारण रस, क्षार तथा लवण वर्ग में माना गया है। यह श्वेत स्फटिक तथा दानेदार चूर्ण में उपलब्ध होता है। यह लघु, सूक्ष्म तथा तीक्ष्ण गुणयुक्त है। लवण रस युक्त है। नृसार मधुर विपाकी, उष्ण वीर्य और प्रभाव पित्त-दोषहर है। कम तीक्ष्ण, लेखन, वात शमन, दीपन, पाचन, अनुलोमन, सारक, पित्तकारक, जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाला, गुल्म प्लीहा नाशक, धातु विद्रावण इत्यादि अन्य कई कर्म करने वाला है। लिंगनाश के संदर्भ में इसके तीक्ष्ण और सूक्ष्म गुण तथा तीक्ष्ण और लेखन का विद्रावण कर्म ही प्रभावकारी सिद्ध होते हैं। नृसार धातुओं के गलाने और पिघलाने के काम आता है जो द्रव्य धातुओं को गला-पिघला सकता है वह निश्चित रूप से नेत्र को आच्छादित करने वाली झिल्ली का भी छेदन कर सकता है। मोतिया बिन्दु के विकास को रोक सकता है। लिंग-नाश नेत्र में कफ प्रकोप के कारण से ही उत्पन्न होता है। नृसार कफ दोष नाशक है। इसी गुण के कारण नृसार लिंगनाश को नष्ट कर सकता है या उसको नष्ट करने से रोक सकता है।

लिङ्गनाश (मोतिया बिन्दु) एक ऐसा रोग है जिसका कि शल्य उपचार ही वर्तमान काल में प्रचलित है। इस रोग से बुद्धिजीवी वर्ग बहुत त्रस्त होता है क्योंकि शल्य कर्म से पूर्व कम दिखने के कारण तथा शल्य कर्म के पश्चात् लगभग १-१॥ मास तक उसकी पठन-पाठन की समस्त क्रियाओं में अवरोध हो जाता है। प्रस्तुत लेख में वयोवृद्ध कविराज जी ने अत्यन्त सरल नृसारांजन का प्रयोग बतलाया है जो प्रयोग की कसौटी पर परखे जाने की अपेक्षा रखता है। यदि यह प्रयोग खरा सिद्ध होता है तो एक बहुत महत्व-पूर्ण उपलब्धि होगी। कविराज जी की अवस्था इस समय लगभग ९५ वर्ष है तथा इस अवस्था में आपने हमें लेख भेजकर अत्यन्त उपकार किया है। भगवान धन्वन्तरि आपको शतायु बनायें। —दाऊदयाल गर्ग

एक लिंगनाश के रोगी का इतिहास—दिल्ली निवासी (क) आयु ६४ वर्ष दोनों नेत्रों से प्रभूत मात्रा में स्राव होने लगा और यह अवस्था ३-४ मास तक बनी रही।

रोगी दैनिक पत्रादि पढ़ने में नितान्त असमर्थ हो गया। १४-३-६६ को रोगी सन्त परमानन्द नेत्र आतुरालय में नेत्र परीक्षणार्थ रजिस्टर हो गया। आतुरालय के नेत्र विशेषज्ञ ने दोनों नेत्रों की जाँच के बाद यह निदान किया कि रोगी के दोनों नेत्रों में लिंगनाश है। इस रोग की एक मात्र चिकित्सा शल्य चिकित्सा ही है। रोगी विद्या अभ्यासी था। वह बड़ा दुखी हुआ कि शल्य चिकित्सा का कब उपयुक्त समय आयेगा। उसने आयुर्वेद चिकित्सा की सहायता लेने का निश्चय किया। अञ्जन रूप में प्रयोगार्थ नृसार वस्त्रपूत चूर्ण एक छोटी सी शीशी में सुरक्षित कर रोगी को दे दिया गया। रात्रि को सोते समय सलाई से दोनों नेत्रों में लगाने को कहा गया। शीशी में गीली शलाका नहीं डालनी चाहिये। यह अञ्जन नेत्रों को पीड़ित करता है परन्तु कोई विकार उत्पन्न नहीं करता। रोगी ने ३ मास आस्थापूर्वक अञ्जन का प्रयोग किया। परिणाम स्वरूप नेत्रस्राव बिलकुल बन्द हो गया और रोगी पढ़ने-लिखने के समर्थ हो गया। अञ्जन की उपयोगिता सिद्ध होने पर रोगी ने इसे पूरे दो वर्ष और प्रयोग किया।

नेत्रों के पुनः परीक्षणार्थ रोगी विलिंगडन आतुरालय में १६-२-७१ को रजिस्टर हुआ। परीक्षण करने के उपरान्त नेत्र विशेषज्ञ ने रोगी की एनक का नम्बर अङ्कित करने की व्यवस्था की। रोगी ने विशेषज्ञ से पूछा कि उसे लिंगनाश तो नहीं है। विशेषज्ञ ने नकारात्मक उत्तर दिया।

विशेष जानकारी—लिंगनाश के पूर्वरूप उत्पन्न होते ही नृसाराञ्जन का प्रयोग करना प्रारम्भ कर देना चाहिये और निरन्तर प्रयोग करते रहना चाहिए। ऐसा करने से लिंगनाश का विकास रुक जाता है और पूर्णरूप से नष्ट भी किया जा सकता है। अञ्जन लगाने से नेत्रों में जो पीड़ा होती है उससे भयभीत नहीं होना चाहिये। शलाका अंजन से खूब भरकर लगानी चाहिये। नेत्र स्राव होगा इससे भी चिन्तित नहीं होना चाहिये। इस प्रक्रिया से किसी प्रकार की हानि या विकार उत्पन्न नहीं होता। अञ्जन लगाना बन्द कर देने पर मोतिया बिन्दु का पुनः भी विकास हो सकता है। अतः इसका निरन्तर प्रयोग करते रहें या कुछ समय बन्द कर फिर प्रयोग करें। मोतियाबिन्दु के अतिरिक्त किसी अन्य रोग में इस अञ्जन का प्रयोग वर्जित है।

—कवि० श्री देशराज बी. ए. आयुर्वेदाचार्य
४-बी/६३, राजेन्द्र नगर, नई दिल्ली-७०

नेत्रों का बहुप्रचलित रोग लिंगनाश : : पृष्ठ १५६ का शेषांश

एवं त्वशक्ये निर्हतुं दोषे प्रत्यागतेऽपिवा।
स्नेहाद्यैरुपपन्नस्य व्याधौ भूयो विधीयते॥
घृतेनाभ्यज्य नयनं वस्त्रपट्टेन वेष्टयेत्।
ततो गृहे निराबाधे शयीतोत्तान एव च॥

इसके बाद प्रति तीसरे दिन पट्टी को खोलकर वातघ्न कषायों से नेत्र का प्रक्षालन और वायु के भय को बचाने के लिये स्वेदन भी करना चाहिये।

इस प्रकार १० दिन तक रोगी को संयम (उत्तान शयन) से रखना चाहिये। पश्चात् उसको नेत्रप्रसादन, अंजन प्रभृति कर्मों का उपदेश करना चाहिये और लघु आहार खाने को देना चाहिए।

दृष्टि शक्ति को स्थिर रखने के लिए कुछ योग—

१. मेष शृङ्गी, शिरीष, धव, चमेली इनके पुष्प तथा मुक्ता और वैदूर्य इन द्रव्यों को बकरी के दूध में पीसकर ताम्र के बर्तन में एक सप्ताह तक रखें। फिर इसकी वर्ति बनाकर नेत्रों में अञ्जन करें।

२. सौवीराञ्जन (सफेद सुरमा), प्रवाल, समुद्रफेन, मैनशिल और मरिच इनको पीसकर पूर्ववत् वर्ति बना नेत्रों में अंजन करें। इससे दृष्टि शक्ति स्थिर बनी रहती है।

३. हरिद्रामलकी कृष्णा कतक श्वेत सर्षपैः।
व्योषवारियुता वर्तिः सर्वं नेत्रामयापहा॥

अर्थात् हल्दी, आंवला, पीपल, कतक (निर्मली) तथा सफेद सरसों—इन द्रव्यों के चूर्ण को व्योष (सोंठ, पीपल, मरिच) के क्वाथ के साथ भावित कर वर्ति बनावें। यह वर्ति सभी नेत्र रोगों का नाश करने वाली है।

—श्री ज्ञानचन्द जैन बी.एस.सी., बी.ए.एम.एस.
शास० आयु० महाविद्यालय एवं चिकि० जबलपुर

आरम्भ में यद्यपि मोतिया बिन्द के रोगी की निकट की दृष्टि अस्थायी रूप से बढ़ी लगती है परन्तु धीरे-धीरे और क्रमश: उसे दूर की चीजें कम दिखाई देने लगती हैं। इस रोग में रोगी को न कभी सिर दर्द होता है और न किसी प्रकार की अन्य पीड़ा और न आँखें लाल होती हैं। रोग के आरम्भ में चिराग वा चन्द्रमा जैसी चीजें एक की जगह कई दिखाई देती हैं, और कभी कभी रोगी की आँखों से पानी गिरता है। कुछ वर्षों बाद रोगी की मोतियाबिन्द वाली आँख से इतना कम दिखाई देने लगता है कि वह टट्टी-पेशाब आदि का अपना रोज का काम भी मुश्किल से कर पाता है। उसके बाद एक ऐसा वक्त आता है जब वह केवल टार्च या चिराग की रोशनी ही थोड़ी बहुत देख पाता है। उसी दशा को मोतिया बिन्द का पक जाना कहते हैं। उस बक्त तक यदि मोतिया बिन्द जड़ से ठीक न किया जा सके तो आँख में बड़ी जटिलतायें पैदा हो जाती हैं और ग्लोकोमा आदि आँख के कई अन्य रोग भी पैदा हो जाते हैं।

मोतिया बिन्द रोग से कैसे बचें ?

१. विटामिनों और खनिज लवणों से भरपूर संतुलित भोजन के करने की आदत डालें। अपने दैनिक भोजन में प्रोटीन, विटामिन 'ए', 'बी' और 'सी' वाले खाद्य पदार्थ जरूर रखें।

२. अपनी आँखों को अत्यधिक गर्मी, सूर्य-किरणों, एक्स-रेज तथा चोटों से बचायें। सिर में चोट लगने से प्राय: आँखों में मोतिया बिन्द उतरने लगता है।

३. मधुमेह, गर्मी जैसी बीमारियां यदि शरीर में मौजूद हों तो उनसे शीघ्र मुक्ति पायें। इन रोगों के शरीर में बने रहने से आँखों में मोतिया बिन्द बन सकता है।

४. उत्तेजक तथा विषैली दवाइयों से जहाँ तक हो सके, परहेज करें।

५. नेत्रों में अधिक धुआँ-धक्कड़ न लगने दें।

६. भट्टी की तेज लपटों तथा सूर्य की ओर कभी न ताकें।

७. किसी महीन वस्तु को बार-बार आँखों पर जोर देकर न देखें।

८. वीर्य के वेग को एकाएक न रोकें।

९. अति स्त्री-प्रसंग और धातु-विकार से बचें।

१०. दन्त-रोग न होने दें। दाँत न उखड़वायें।

११. तेज बिजली की रोशनी में काम काज न करें।

१२. अनिद्रा रोग से बचें।

१३. नशीली वस्तुओं का सेवन न करें।

१४. किसी वस्तु को एक टक न देखें।

१५. चित्त लेटकर न पढ़ें। रास्ता चलते न पढ़ें। धूप में बैठकर न पढ़ें।

१६. दिन में कृत्रिम ज्योति का प्रयोग न करें।

१७. तप्त भूमि पर नंगे पाँव न चलें।

१८. आवश्यकता न रहने पर भी शौकिया चश्मे का प्रयोग न करें।

१९. पर्दे के निकट बैठकर सिनेमा न देखें।

२०. कब्ज कभी न होने दें।

२१. डर, चिन्ता, क्रोध आदि मानसिक आवेगों से बचे रहें।

२२. प्राकृतिक खान-पान और संयमी जीवन-यापन की आदत डालें।

२३. रोज रात को सोते समय असली मधु का आँजन आँखों में लगायें।

मोतिया बिन्द की चिकित्सा

आँखों में मोतिया विन्द बनना अथवा कफ के रूप में शरीर स्थित विजातीय द्रव्यों का आँखों में एकत्र होकर रोशनी को रोक रखना अपने देश में अँधेपन का एक बहुत बड़ा कारण है। इसलिए इसकी सरल चिकित्सा का ज्ञान हर खास व आम को होना ही चाहिये। आजकल भारत में लगभग ३ करोड़ से अधिक अँधे व्यक्ति केवल मोतिया विन्द के कारण बेहाल हैं।

ऊपर संकेत किया जा चुका है कि प्राकृतिक चिकित्सा में जिस प्रकार शरीर के अन्य सभी रोगों का कारण उसमें स्थित विजातीय द्रव्य, दूषित पदार्थ या गन्दगी माना जाता है, उसी प्रकार मोतिया विन्द का भी कारण आँखों में दूषित कफ का एकत्र होना है जो उनके 'लेन्स' को अपारदर्शी (Opaque) बनाता है। अतः मोतिया विन्द की सही चिकित्सा उस दूषित कफ को आँखों से किसी तरह हटा देना है और ऐसा इन्तजाम करना है कि फिर वह दूषित कफ आँखों में जमा होकर मोतियाविन्द न बनावे। इन दोनों बातों के लिए मोतिया विन्द के रोगी को निम्नलिखित प्रयोग करने चाहिए—

रोगी का भोजन प्राकृतिक, क्षार धर्मी और शीघ्र पाची तो हो ही, साथ ही वह संतुलित और ऐसा भी हो जिससे विजातीय द्रव्य शरीर में विशेषतः रक्त में अधिक मात्रा में एकत्र न होने पाये और जो एकत्र हो वह जल्दी से जल्दी शरीर के मल मार्गों द्वारा बाहर निकल जाया करे ताकि शरीर और उसका रक्त सदा-सर्वदा विशुद्ध बने रहकर मोतियाबिन्द के निराकरण में योगदान दे सके। भोजन-सुधार का यह प्रयोग रोगारम्भ के समय से ही शुरू कर देना चाहिए और रोग के शमन अथवा मोतियाविन्द के दूर हो जाने तक चलना चाहिए, बल्कि, हमेशा चलाते रहना चाहिए। ऐसा करने से मोतिया बिन्द या अन्य किसी भी रोग के होने की फिर सम्भावना नहीं रह जायगी।

दूसरी बात यह करे कि रोज सुबह-शाम घर्षण कटि स्नान व शाम को मेहन स्नान या सुबह को घर्षण कटि स्नान व शाम को मेहन स्नान दोनों १०-१० मिनट अवश्य करें। इससे यह होगा कि रोगी को कब्ज की शिकायत कभी न होगी, और यदि पहले से ही होगी तो वह अवश्य मिट जायगी। यह दुनिया जानती है कि कब्ज समस्त रोगों की जड़ व जननी होती है। मोतिया विन्दु भी एक रोग है, फिर मोतिया विन्दु के रोगी की पाचन शक्ति प्रबल व नार्मल होने पर उसका मोतिया विन्द क्यों न ठीक होगा?

स्थानीय उपचार के लिए सप्ताह में एक या दो बार मोतियाविन्द वाली आंख पर पलक से मूंदे हुये १० मिनट तक वाष्प स्नान देना चाहिए। उसके तुरन्त १० मिनट का घर्षण कटिस्नान या मेहन स्नान जरूर लेना चाहिए। दोनों वक्त भोजन कर चुकने के बाद भीमसेनी कपूर मिश्रित विशुद्ध कमल मधु कांच की सलाई से मोतिया विन्द वाली आँख में अंजन की भांति लगावें और ३ मिनट बाद आंख खोल दें।

सुबह सोकर उठने पर आक्रान्त आँख को बासी ठण्डे पानी से २० छींटे देकर, तथा रात को सोते वक्त जल मिश्रित कागजी नीबू का दो बूंद रस (३ बूंद कागजी नीबू के रस में ९ बूंद शुद्ध ताजा और ठंडा जल मिलाकर) आँख में टपकावें और ५ मिनट तक उसे बन्द रखें, फिर खोल दें।

—श्री डा० गंगाप्रसाद गौड़ 'नाहर' एन०डी०
हरियाणा प्राकृतिक चिकित्सालय
भिवानी (हरियाणा)

नेत्रक्षत और उसकी चिकित्सा

वैद्य श्री अम्बालाल जोशी
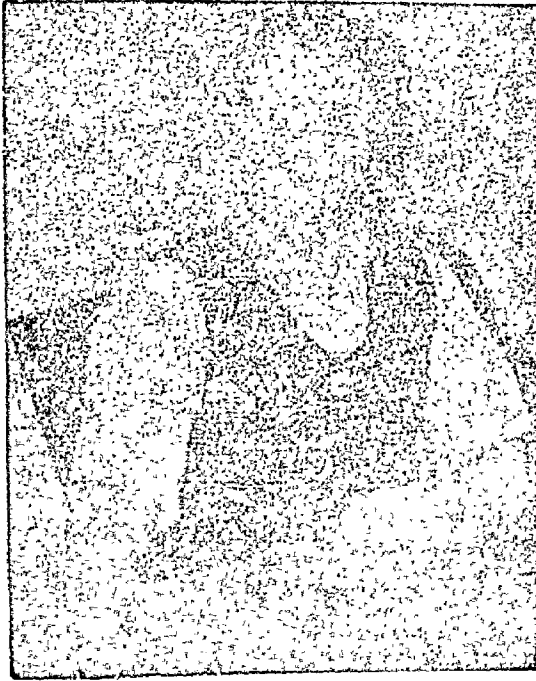
मान्यवर श्री जोशी जी की 'धन्वन्तरि' के ऊपर सदैव ही कृपा रही है। शायद ही कोई 'धन्वन्तरि' का विशेषांक ऐसा होगा जिसमें आपका लेख न हो। लेख भी आपके सारगर्भित तथा अपने विषय में पूर्ण होते हैं जैसाकि प्रस्तुत लेख है। कृष्णगत रोगों में नेत्र क्षत तथा उसके भरने पर शुक्र का उत्पन्न होना एक प्रमुख रोग है। आधुनिक चिकित्सा में इसका शल्य कर्म करना होता है जबकि आयुर्वेद में नेत्रगत शुक्र नाशक अंजनों का उपयोग कारगर होता है। आशा है कि पाठक इसे पढ़कर लाभान्वित होंगे।

इसी वर्ष आप 'धन्वन्तरि' के लघु विशेषांक "सापेक्ष निदानांक" का सम्पादन कर रहे हैं जो कि आशा है कि अभूतपूर्व होगा। भगवान धन्वन्तरि आपको चिरायु बनायें।

—दाऊदयाल गर्ग

नेत्र शरीर का एक कोमल अंग है। तनिक भी इसके विपरीत कार्य हुआ यह रुग्ण हो जाता है। सामान्यतः नेत्र रोगों के कुछ कारण हैं जिनसे नेत्रों को बचना आवश्यक है। वे हैं चार "ध"। स्पष्टतः (१) धूप (२) धूल (३) धुंआ (४) धक्का। ये चारों ही नेत्र रोग के सामान्य कारण हैं। सम्पूर्ण नेत्र रोगों के कारणों का समावेश इन चार 'ध' में आ जाता है।

सामान्य कारण—आयुर्वेद के मतानुसारः इसके दो कारण माने हैं—(१)आहार तथा (२) विहार। आहार के अन्तर्गत नेत्र रोगों के कारण में तिक्त, उष्ण आहारों से तथा अन्य नेत्र के लिये अहितकर आहारों के सेवन से प्रकुपित हुये मल पित्त का अनुसरण कर शिराओं द्वारा ऊपर की ओर फैलकर नेत्रों के अवयवों में आश्रित होकर विभिन्न नेत्र रोगों को पैदा कर देते हैं। विहार का उल्लेख करते हुये आयुर्वेद ने उपरोक्त मत की ही पुष्टि की है। इन विहार सम्बन्धी कारणों पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो उपरोक्त चारों 'ध' इसके अन्तर्गत आ जाते हैं।

नेत्र रोगों का परस्पर सम्बन्ध—

सामान्यतः अपने विषय की दृष्टि से सभी नेत्र रोग तीन भागों में विभक्त किये जा रहे हैं—(१) वर्त्म रोग (पलक के रोग) (२) शुक्लगत रोग (नेत्र के श्वेत भाग के रोग) तथा (३) कृष्णगत रोग(नेत्र के काले भाग का रोग)

इन तीनों ही प्रकार के रोगों का परस्पर सम्बन्ध है। किसी भी एक भाग में रोग हो जाने पर दूसरे दोनों ही भाग पीड़ित हो जाते हैं। उदाहरण के तौर पर नेत्राभिष्यन्द रोग होने पर पलक में भारीपन तथा स्राव तो हो ही जाता है श्वेत भाग भी रक्त होता है और कृष्ण भाग भी आवृत होने के कारण दृष्टि में व्यवधान पैदा हो जाता है।

सामान्य कारण—

नेत्र क्षत रोग के भी इसी प्रकार कुछ सामान्य तथा विशेष कारण होते हैं। सामान्य कारण ये हैं—कृष्ण भाग या दृष्टि के समीप के भागों का छेदन कर पित्त तोद, अश्रु तथा सुर्खी वाला शुक्र उत्पन्न करता है। इससे कृष्ण मण्डल पके हुये जामुन के समान तथा कुछ दबा हुआ होता है।

—अष्टांग हृदय उत्तर तंत्र १०, २२, २३

इसके विशेष कारण हैं आँखों में चोट लगना, नेत्र कुकूणक व्याधि, पोथकी, पक्ष्म रोग, अर्म रोग आदि अन्य नेत्र रोग। इन रोगों में नेत्र स्राव के कारण तथा नेत्र में खुजलाहट चलने के कारण उसे रगड़ने से क्षत पैदा हो जाता है। यह क्षत मूलतः कृच्छ साध्य है। दूसरे पटल का बन्धन कर तोद आदि अधिक उत्पन्न करने वाली तथा सुई के समान चुभन वाली पीड़ा याप्य है। तीसरे पटल के बन्धन से उत्पन्न शुक्र असाध्य है यह व्रणों से भरा होता है। ऐसी मान्यता वाग्भट्ट की है।

सुश्रुत का मत—सुश्रुत के मतानुसार यह चार प्रकार का बताया है। (१) शिराशक्त (अव्रण शुक्र) (२) पाकात्यय (३) अजका (४) सव्रण शुक्र। इन कारणों में पीड़िका की उत्पत्ति प्रथम बताई गई है। सुई की तरह चुभन, दारुण पीड़ा, तथा पीड़िका दर्शन से यह रोग भासित होता है। विदेह ने भी लाल राई के समान कुछ कालापन लिये, सुई की नोक के बराबर स्रावी व्रण होना लिखा है। इनमें सामान्य व्रण साध्य माना गया है तथा गम्भीर व्रण असाध्य कहा गया है। रूपान्तर से पाकात्यय तथा अजका व्रण असाध्य माना गया है। शिरासक्त व्रण में शिराओं पर रक्त का दबाव अधिक आ जाने से शिरायें फट जाती हैं और उनमें से रक्त स्राव होने लगता है। इस प्रकार व्रण हो जाता है। सभी प्रकार के कृष्ण व्रण दृष्टि पटल पर घातक प्रभाव डालते हैं। व्रण युक्त हो जाने पर ही दृष्टि का पुनरागमन सम्भव हो सकता है। सव्रण शुक्र कठिनता से असाध्य है। इसकी चिकित्सा पथ्यापथ्य तथा आहार विहार की ओर अधिक ध्यान दिया जाने पर भी इसकी शुद्धि अनिश्चित है।

उपरोक्त कारणों से ही तथा आघात के कारण श्वेत पटल पर भी कभी कभी व्रण उत्पन्न हो जाते हैं परन्तु वे सुसाध्य हैं। सुश्रुत ने इसे क्षतज कर्म कहा है। नेत्र के शुक्र भाग में आघात लग जाने से या अन्य किसी आगन्तुक कारण से लाल लाल कमल के वर्ण जैसी उत्पन्न मांस वृद्धि इसका लक्षण बताया है।

नेत्रक्षत के पश्चात् उत्पन्न सफेदी की तीन अवस्थायें

महर्षि सुश्रुत ने नेत्र के कृष्ण भाग में स्थित कण जो कठिनाई से दीखने वाला 'ईषद्-दृष्ट' सूई से विद्ध किये हुए की तरह प्रतीत होने वाला तथा जिसमें उष्ण स्राव स्रवित होता हो तथा तीव्र पीड़ा देता हो को सव्रण शुक्र माना है।

आधुनिक मत—

आधुनिक मतानुसार भी कृष्ण मण्डल शोथ का एक प्रकार क्षत सहित सव्रण शुक्र का माना है, दूसरा प्रकार है क्षत रहित अव्रण शुक्र। क्षत सहित सव्रण शुक्र को भी दो प्रकार का बताया है (१) प्राथमिक (Primary) तथा औपद्रविक (Secondary)। इस रोग में नेत्र के कृष्ण मण्डल में व्रण होता है तथा इसी के कारण से उसमें

शोथ उत्पन्न हो जाता है। इसी से कृष्ण मण्डल में सफेदी दिखाई देने लगती है। व्रण गहरे होने से तीव्र वेदना होती है जिससे सिरःशूल भी होता है तथा रात्रि में नींद नहीं आती, निरन्तर अश्रुस्राव होता रहता है तथा नेत्र में लालिमा रहती है। दृष्टि में भी अन्तर आता है। क्षत स्थान पर श्वेत चिह्न सा गढ्ढा पड़ जाता है। ऐसे एक या अनेक व्रण पड़ जाते हैं। कभी-कभी पूय भी इकट्ठी हो जाती है जो अत्यन्त ही पीड़ादायी होती है।

व्रण में सुधार होने पर वेदना, लालिमा तथा स्राव में कमी आ जाती है। क्षत भरने लगता है। परन्तु यदि व्रण में जीवाणु उपसर्ग हो जाय तो यह असाध्यता की ओर बढ़ जाता है। सम्पूर्ण आँख में पूय भर जाती है और ऐसी अवस्था में आंख निकलवानी पड़ती है। कभी-कभी व्रण की विकृति से सम्पूर्ण नेत्र गोलक एक विद्रधि का रूप धारण कर लेती है और असह्य वेदना हो जाती है। इसी को 'पाकात्यय) कहते हैं।

निदान—

उपरोक्त लक्षणों के आधार पर अनुभवी चिकित्सक व्रण की पहिचान कर सकते हैं। इस रोग की रासायनिक परीक्षा भी होती हैं। रोगी के नेत्र में फ्लूरोसीन की ३-४ बूंद डाल दें। दो मिनट बाद बोरिक लोशन से नेत्र को धोवें। तदन्तर देखने से यदि नेत्र में व्रण हो तो वह स्थान पीला-नीला हो जाता है। यदि व्रण न हो तो वही रंग रहता है। व्रण स्थान को वीक्षण यन्त्र से भी देखा जा सकता है। यह कार्य रोगी को प्रकाश में रख कर किया जाना चाहिये।

असाध्य लक्षण—

साधारणतः एक व्रण सुसाध्य है तथा इससे अधिक कष्टसाध्य तथा असाध्य। मूंग के आकार का या इससे बड़ा हो, गर्म अश्रु निकलते हों, कृष्ण मण्डल के भाग में एक से अधिक पीड़िकायें उठी हुई हों, तो वह असाध्य है। पीड़ा से नेत्र गोलक बाहर आजावे तथा विद्रधि का रूप ले ले तो वह रोग असाध्य माना जावेगा। उपदंश तथा अन्य औपसर्गिक रोगों से सर्जित यह रोग असाध्य होगा। रोग जितना पुराना तथा गम्भीर होगा उतना ही दृष्टि पटल पर हानिकारक प्रभाव करेगा। जितना अल्प होगा तथा शीघ्र रोपी होगा उतना दृष्टि पर कम प्रभाव डालेगा। अवश्य ही इस रोग का दृष्टि पटल पर कुछ न कुछ प्रभाव तो होता ही है।

चिकित्सा

इसकी चिकित्सा करते समय नेत्रोपयोगी विष नाशक व्रण रोपक तथा व्रण शोधक औषधियों की तरफ ध्यान देना आवश्यक है। सुश्रुतने निम्न प्रयोग बताये हैं—

१. शिरीष के बीज, कालीमिरच, पिप्पली तथा सैंधव इनका सममाग अत्यन्त मृदु चूर्ण नेत्रों में घर्षण करें।

२. केवल सैंधव का घर्षण करें।

३. ताम्रका चूरा, रजत का चूरा, शंखनाभि, मनःशिला, कालीमिरच, सैंधव इन चीजों को प्रथम से द्विगुण तथा उत्तरोत्तर द्विगुण कर अंजन बना कर नेत्रों में डालने से व्रण रोपण होता है। टिप्पणी—शंख नाभि से आगे की औषधियों को चूर्णित कर रजत की थाली में डालकर ताम्बे के लोटे से मर्दन करें। अंजनवत हो जाने पर नेत्र में डालकर देखें। ठीक होने पर रोगी की आंखों में डालें।

४. गाय का दांत, समुद्र फेन, शिरष का चूर्ण तथा मधु का अञ्जन करे।

५. सुश्रुत उत्तर तंत्र ११ वें अध्याय के ११-१२ श्लोक में वर्णित क्षाराञ्जन का प्रयोग करे।

आधुनिक मतानुसार तथा हमारे अनुभव से निम्न औषधियां इस रोग में उपयोगी पाई गई हैं—

१. मर्क्यूरोक्रोम तथा आर्जिरोल (सिल्वर वेटेलिन) के गाढ़े लोशन को फुरेरी में भरकर लगावें।

आर्जिरोल को नेत्र में ब्रुश से लगाते हुए

२. इस रोग में एट्रोपीन डालें।

३. कनपटी पर चूना, क्षतोत्पादक औषधि लगा कर क्षत पैदा करें। जमालगोटे के बीज को नींबू के रस में पीसकर नेत्र तथा कान के बीच में टीकी सी लगा दें कुछ ही समय में
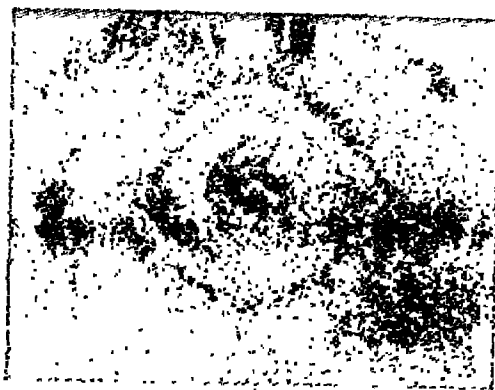
—शेषांश पृष्ठ १६८ पर देखें।

नेत्र के अङ्गों की बनावट और अन्य रोगों के सम्बन्ध में पाठक अन्य लेखकों के विद्वतापूर्ण लेख पढ़ेंगे। प्रस्तुत लेख में हम केवल उन रोगों का ही वर्णन करेंगे जो नेत्र के विभिन्न भागों में होते हैं किन्तु उनकी चिकित्सा में शस्त्रों का उपयोग करना पड़ता है।

नेत्र रोग में शस्त्रों का उपयोग तीन कार्यों के निमित्त किया जाता है। वे हैं छेदन, भेदन और लेखन। छेदन शब्द का अर्थ है काटकर अलग कर देना, भेदन का अर्थ है चीरा लगाना और लेखन का अर्थ खुरचकर फोड़ देना।

छेदन, भेदन और लेखन कार्य शरीर के अन्य अंगों के शल्यों के निकालने के हेतु भी किये जाते हैं और नेत्र रोगों के उपशम के लिये भी इनका प्रयोग किया जाता है। आधुनिक युग में विसंज्ञीकरण (सुन्न करने की क्रिया) के हेतु अनेक साधन उपलब्ध हो गये हैं और उन साधनों और औषधियों का प्रयोग सफलतापूर्वक हो रहा है और बिना किसी कष्ट के छेदन, भेदन और लेखन आदि क्रियायें सम्पन्न की जा रही हैं। विदेशों में तो विसंज्ञीकरण एक विज्ञान का रूप धारण कर रहा है और इस विषय के ही विशेषज्ञ मिलने लग गये हैं। विसंज्ञीकरण का विशेषज्ञ उन औषधियों का प्रयोग मात्र करते हैं और जब आवश्यक विसंज्ञा आ जाती है तब सर्जन, धन्वन्तरि या शल्य चिकित्सक अपने शस्त्र का प्रयोग करके रोग को ठीक करते हैं और शस्त्र क्रिया सम्पन्न होने के पश्चात् उनके सहायक उस घाव पर मरहम पट्टी करते हैं। इस प्रकार कार्य का विभाजन हो जाने से अधिक व्यक्तियों की सेवा अल्प काल में ही सम्पन्न हो जाती है। यदि एक ही डाक्टर विसंज्ञीकरण करे, वही शस्त्र कर्म करे और वही मरहम पट्टी करें तो एक व्यक्ति के पीछे ही बहुत समय लग जाय और बहुत से स्वास्थ्यार्थी सेवा से वंचित रह जांय।

पुस्तक या लेख पढ़कर किसी भी वैद्य या व्यक्ति को छेदन, भेदन एवं लेखन कार्य करने का दुस्साहस नहीं करना चाहिए। इस विद्या की विधिवत शिक्षा लेकर निपुणता प्राप्त करने के बाद ही यह चिकित्सा करने का साहस करना चाहिये। विसंज्ञीकरण, शस्त्र चालन एवं मरहम पट्टी करने का भरपूर अभ्यास करना चाहिये। किसी अच्छे सर्जन को गुरु बनाना चाहिये और उनकी देख-रेख में अभ्यास करना चाहिये। शरीर में अन्य अंगों के शस्त्र साध्य रोगों का छेदन, भेदन और लेखन कर्म बहुत जोखिमों से भरा है। नेत्र रोगों की चिकित्सा के हेतु इन क्रियाओं का सहारा तो और भी जोखिम का कार्य है। यदि क्रिया में थोड़ी भी असावधानी हो जाय तो आंख सदैव के लिये चौपट हो जाय। संसार में यों तो सभी अंगों की अपनी विशेषता है परन्तु नेत्रों के समान कीमती अंग कोई नहीं है। इसलिये नेत्र चिकित्सक को विशेष सावधान रहना चाहिये और अपनी कला में पूर्ण निपुणता प्राप्त करने में पूरी सावधानी बरतनी चाहिये। और तभी यह क्रिया करनी चाहिये।

निम्नलिखित शस्त्र छेदन, भेदन और लेखन कर्मों में प्रयोग में लाये जाते हैं—

मण्डलाग्र और कर पत्र—इन दोनों शस्त्रों का प्रयोग छेदन और लेखन कर्म में होता है। मण्डलाग्र को Circular knife या Round head knife या Decapitating knife कहते हैं। कर पत्र आरी को कहते हैं इसको Bone Saw कहते हैं। वृद्धि पत्र, नख शस्त्र,
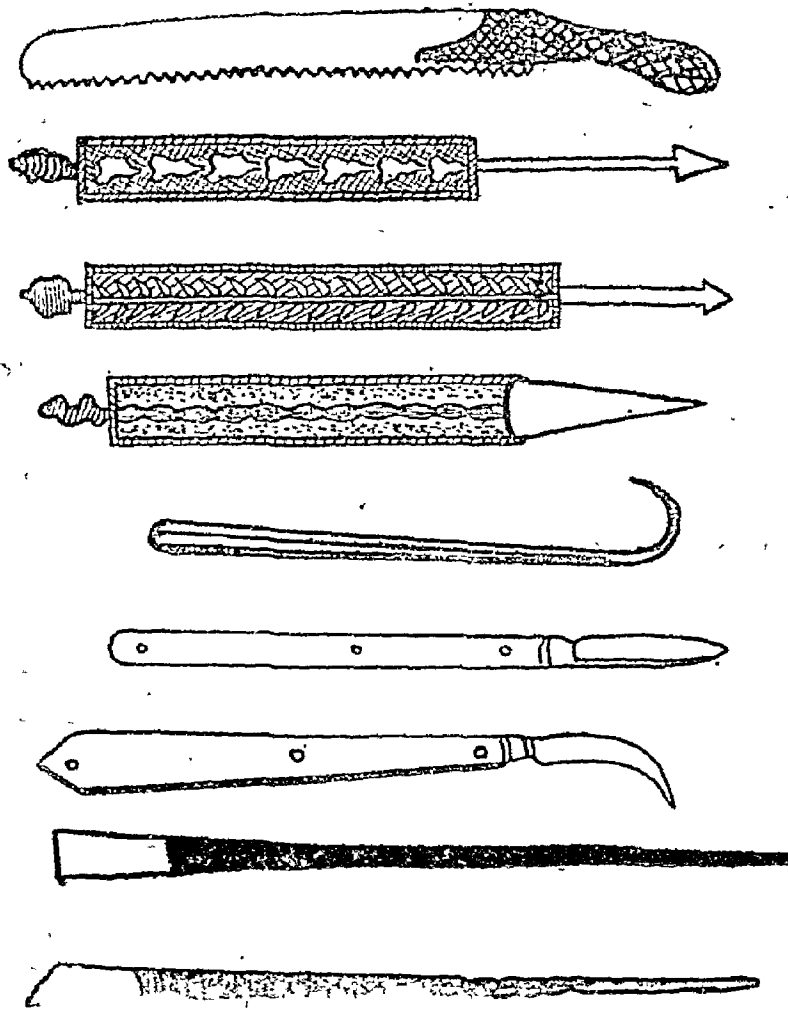
विभिन्न शल्य कर्मों में प्रयुक्त होने वाले छेदन, भेदन एवं लेखनार्थ शस्त्र

मुद्रिका, उत्पल पत्र और अर्द्धधार इस पांच शस्त्रों का प्रयोग छेदन और भेदन कर्म में किया जाता है।

वृद्धि पत्र दो प्रकार का काम में लाया जाता है। एक का नाम है प्रपताग्र Scalpel या Dissecting knife और दूसरा अञ्चिताग्र Curved Bistoury। नखशस्त्र नहरनी को कहते हैं जिससे हजाम नाखून काटते हैं। इस प्रकार के शस्त्र का प्रयोग चिकित्सा में भी होता है। मुद्रिका को finger knife कहते हैं। उत्पल पत्र Lancet को कहते हैं। अर्धधार उसी छुरी को कहते हैं जिसमें एक ही तरफ धार होती है इसको Single edged knife कहते हैं। इसके अतिरिक्त नेत्र चिकित्सा में टांके लगाने के लिये सूची या सुई की भी आवश्यकता पड़ती है। तीन प्रकार की सुइयों का प्रयोग टांके लगाने के लिये स्थान के अनुसार आवश्यकता पड़ती हैं। सुई सरल Straight दूसरी वक्रमुख Half Curved और तीसरी धनुर्वक्र Fully Curved टाँका लगाने के लिये खास ढंग के तागे की भी आवश्यकता पड़ती है।

इन शस्त्रों के अतिरिक्त सुश्रुत ने अनुशस्त्रों के प्रयोग की भी व्यवस्था बताई है। शस्त्र के स्थान पर कुछ अन्य वस्तुओं का प्रयोग प्राचीन काल में होता था। उनको अनुशस्त्र कहते थे। अनुशस्त्र का अर्थ होता है शस्त्रों के स्थान पर काम आने वाले अशस्त्र। हलके काम करने वाले ऐसे पदार्थ जिनका प्रयोग शस्त्र के बदले में किया जाय।

बालकों के छेदन, भेदन एवं लेखन कार्य के लिए अथवा शस्त्रों से डरने वाले लोगों के लिए अथवा ऐसे स्थान पर जहां शस्त्र उपलब्ध न हों और शस्त्र कर्म करना आवश्यक हो ऐसे स्थानों पर अनुशस्त्रों का प्रयोग करना चाहिए। छेदन भेदन कर्म के लिए त्वक् सारादि जिसमें बाँस की पनच, स्फटिक काँच और कुसविन्दु का प्रयोग करना चाहिए। अगर कोई काँटा आदि पकड़ कर खींचता, एवं छेदन के लिए साफ नाखूनों का भी प्रयोग किया जाता है। आगे सुश्रुत लिखते हैं कि नेत्र के वर्त्म (पलक) में होने वाले रोगों का विस्रावण गोजी, शेफालिका और शाक के पत्रों से करना चाहिए।

अष्टाँग संग्रह में इन अनुशस्त्रों के अतिरिक्त लेखन कर्म के लिए समुद्र फेन का प्रयोग करने को लिखा है। सूखे गोबर की कण्डी का प्रयोग लेखन कर्म के लिए होता हैं।

जैसी आवश्यकता हो और जो वस्तु प्राप्त हो उसका प्रयोग रोगी को सुख पहुँचाने के विभिन्न चतुर चिकित्सक को करना चाहिए।

छेद्य रोगों के लक्षण

आयुर्वेद शास्त्र में निम्नलिखित ११ रोग छेद्य माने गये हैं। वे हैं अर्शोवर्त्म, शुष्कार्श, अर्बुद, शिरो पिडिका, शिराजाल, पर्वणिका और पांच प्रकार के अर्म, अर्शोवर्त्म, शुष्कार्श और अर्बुद ये तीन रोग वर्त्म (पलकों) में होने वाले रोग हैं और शेष ८ श्वेत भाग (शुक्ल भाग) में होने वाले रोग हैं।

अर्शोवर्त्म—आंख के कोये के भीतर, छोटे-छोटे खुरदरे अंकुर निकल आते हैं, उन्हें अर्शो वर्त्म कहते हैं। इस का अर्थ है वर्त्म या पलक में होने वाले अर्श या मस्से। निमि राज विदेह के मत से ये अंकुर निरुज (मन्द वेदना

वाले या वेदना रहित) होते हैं और वर्त्म या पक्ष्म के भीतर और बाहर भी होते हैं।

माधव निदान के मत से गर्मी की ऋतु में होने वाली ककड़ी के बीज के समान पिडिका पलकों में होती है। यह चिकनाहट लिए खुरदरी होती है और उसमें कम वेदना होती है। यह रोग सन्निपातज है।

शुष्कार्श—पलकों के भीतर खुरदरे, कड़े, सूखे हुए कठोर और दारुण (बहुत दुख देने वाले) अर्श (अंकुर) हो जाते हैं उन्हें शुष्कार्श कहते हैं। (यह रोहे का भेद है और इसे अंग्रेजी में ग्रैनुल्स कहते हैं। इसे काटकर अलग कर देने की जरूरत पड़ती है।

अर्बुद—पलकों के भीतर (ऊँची चीनी) वेदनारहित या मन्द वेदना वाली जल्दी बढ़ने वाली, गोल और लाल रंग की गांठ उत्पन्न हो जाती है उसे वर्त्मार्बुद (पलक में होने वाला अर्बुद) कहते हैं। इसे भी काट कर निकाल दिया जाता है।

अर्म रोग पांच प्रकार का होता है ये पांचों अर्म आंख के शुक्र भाग में होते हैं उनके नाम हैं प्रस्तार्यर्म, रक्तार्म, स्नाय्वर्म, शुक्लार्म और अधिमांसार्म। अर्म एक प्रकार का मांस का संचय है जो गाँठ की तरह उभर आता है। इनके लक्षण ये हैं—

प्रस्तारि अर्म—नेत्र के सफेद भाग में पतला, लाल या नीले रंग का फैलावदार मांस संचय या गांठ सी ऊँचाई हो जाती है। उसे प्रस्तारी अर्म कहते हैं। इसे भी काट कर निकाल दिया जाता है।

रक्तार्म—यदि आँख के सफेद भाग में लाल कमल के समान मांस संचित हो जावे तो उसे रक्तार्म कहते हैं।

शुक्लार्म—आँख के सफेद भाग में अत्यन्त सफेद कोमल, देर से बढ़ने वाला मांस संचय हो जाता है उसे शुक्लार्म कहते हैं।

अधिमांसार्म—नेत्र के सफेद भाग में कोमल, यकृत के रंग का लाल या काले रंग का छोटा सा मांस संचय होता है उसे अधिमांसार्म कहते हैं।

स्नाय्वर्म—नेत्र के श्वेत भाग में खुरदरा, कुछ पीलापन लिये सफेद कठोर और और बहुत मांस संचय हो जाता है, उससे कोई स्राव नहीं होता। उस अर्म को स्नाय्वर्म कहते हैं। ये सभी अर्म शस्त्र साध्य हैं।

पर्वणी—वर्त्म और शुक्ल भाग की सन्धि में मूंग के समान छोटी सी लाल रंग की फुन्सी होती है और फूटने पर उससे लाल लाल स्राव होता है एवम् उसमें जलन और दर्द होता है, और फुन्सी के चारों ओर भी थोड़ी बहुत सूजन होती है, इसे पर्वणी या पर्वणिका कहते हैं। यह पिड़िका भी शस्त्र साध्य है।

भेद्य रोगों के लक्षण

नेत्र में होने वाले पांच रोग ऐसे हैं जिनमें भेदन क्रिया करने या चीरा लगाने की आवश्यकता पड़ती है। ये पांच रोग हैं—श्लेष्मोपनाह, लगण, बिस, कृमि ग्रन्थि और अंजन नामिका। श्लेष्मोपनाह सन्धियों में होने वाला रोग है, लगण, बिस और अंजन नायिका वर्त्म में होने वाले रोग हैं। कृमि ग्रन्थि नामक रोग नेत्र की सन्धि में होता है। नीचे हम इनके लक्षण दे रहे हैं—

श्लेष्मोपनाह—उपनाह एक प्रकार की गांठ है और कफ के कारण होती है इसलिए इसे श्लेष्मोपनाह कहते हैं। कुछ आचार्य इसे उपनाह कहते हैं। इसके लक्षण ये हैं—

दृष्टि की संधि में बड़ी सी गांठ पैदा हो जाती है, यह गाँठ वात और कफ से उत्पन्न होती है। उसमें पीड़ा नहीं होती और पकती नहीं है। उसमें केवल खाज होती है और रंग लाल होता है। कुछ आचार्यों का मत है कि इसमें कभी-कभी थोड़ी पीड़ा भी होती है और कभी-कभी यह ग्रन्थि पकती भी है। यह रोग कफ की प्रधानता से होता है अतः इसमें दर्द कम होता है। इसमें भेदन क्रिया की जाती है।

कृमिग्रन्थि—वर्त्म (भीतरी पलक) और पक्ष्म (बरौनी के पास) की सन्धियों में अनेक प्रकार के कृमि उत्पन्न होकर खुजली रोग उत्पन्न करते हैं और वर्त्म और शुक्ल भाग की सन्धियों में प्राप्त होकर खुजली उत्पन्न करते हैं और वहां के मांस को खा जाते हैं तथा आँख को बिगाड़ देते हैं।

वाग्भट्ट के मत से वर्त्म और पक्ष्म की संधि में कृमि के कारण कृमि से युक्त गाँठ उत्पन्न होती है, उसमें खुजली और दर्द होता है और पूय बहता है। वस्तुतः इसी में भेदन क्रिया करने की आवश्यकता पड़ती है।

लगण—पलकों में न बढ़ने वाली मोटी, पीड़ा रहित, बेर के आकार की चिकनी गाँठ पड़ जाती है। उसमें

खुजली होती है, इसे लगण कहते हैं यह कफज है और साध्य है।

बिस वर्त्म—तीनों दोष कुपित होकर पलकों में बाहर की ओर सूजन पैदा कर देते हैं और भीतर की तरफ अनेक बारीक छेद कर देते हैं और इन छेदों से पानी बहा करता है जैसे कमल की नाल से बहता है, बिस कमल की नाल अथवा जड़ को कहते हैं।

अंजन नामिका पलकों में लाल रंग की, कोमल और थोड़े-थोड़े दर्द वाली, पिडिका होती है, उसमें काटने की पीड़ा और जलन होती है। यह रक्तज होती है और साध्य है। इसी को बिलनी और गुहांजनी भी कहते हैं।

लेख्य रोग

जिन नेत्र रोगों में लेखन कर्म या खुरचने की क्रिया करनी पड़ती है उनकी संख्या ९ हैं। ये सभी रोग वर्त्म में होने वाले हैं। नीचे हम उनके नाम और लक्षण दे रहे हैं। उत्संगिनी, बहल वर्त्म, कर्दम वर्त्म, श्याववर्त्म, बद्धवर्त्म क्लिष्ट वर्त्म, पोथकी, कुम्भिका और वर्त्म शर्करा।

कुम्भिका और वर्त्म शर्करा—

उत्संगिनी—नीचे की पलक के कोये में अन्तर्मुख वाली पिड़िका उत्पन्न होती है, यह ऐसी होती है मानों पलकों की गोद में रखी हुई है। इसके आस पास और अनेक फुन्सियाँ हो जाती हैं। इसमें पीड़ा कम होती है, और यह कड़ी होती है और इसमें खुजली होती है, जब यह फूटती है तब इसमें से मुर्गी के अण्डे के रस के समान स्राव होता है। यह सन्निपात (तीनों दोषों) से होती है।

बहल वर्त्म—पलकों के ंग के समान रंग वाली पिड़िकायें पलकों के चारों ओर होती हैं। यह भी सन्निपातज है।

कर्दम वर्त्म—इस रोग में पलकें लाल हो जाती हैं, छूने में कोमल रहती हैं, पित्त युक्त यह रोग पलकों के रक्त को जला देता है और उसमें जलन उत्पन्न कर देता है। इसमें पलकें काली पड़ जाती हैं। यह कार्तिकेय का मत है। इसमें पलकें कीचड़ के समान हो जाती हैं। इसको वर्त्म कर्दम कहते हैं।

श्याव वर्त्म—इस रोग में पलकें बाहर से और भीतर से आग से जली हुई की तरह काली पड़ जाती हैं। उनमें सूजन, वेदना, जलन और खुजली होती है। वे गीली रहती हैं यह सुश्रुत का मत है।

बद्ध वर्त्म—इस रोग में पलकें सूज जाती हैं और उनमें थोड़ी वेदना और खुजली होती है। सूजन के कारण पलकें आँख को पूरा नहीं ढक पातीं। कुछ आचार्य इसे वर्त्म बंध भी कहते हैं।

क्लिष्ट वर्त्म—इस रोग में पलकें गुड़हर के फूल के समान या तांबे के समान लाल हो जाती हैं छूने में कोमल होती हैं मन्द वेदना होती है किन्तु सूजन नहीं रहती। यह रोग रक्त और कफ के विकार से होता है।

पोथकी—लाल सरसों के आकार की छोटी छोटी फुन्सियाँ पलकों के कोये में होती हैं। उनमें खुजली और दर्द होता है, उनसे मवाद भी आता है।

कुम्भिका—पलक के अन्त में बरौनी के पास कुम्भी के बीज सदृश पिडिका उत्पन्न होती है कुम्भी के बीज अनार के बीज के समान होते हैं, यह फूटती और बहती है।

वर्त्म शर्करा—पलकों के भीतर मोटी और खुरदरी अथवा कठिन पिडिका होती है, उसके चारों ओर छोटी-छोटी फुन्सियाँ हो जाती हैं, यह रोग सन्निपातज है।

चिकित्सा

ये सभी रोग शस्त्र क्रिया द्वारा आराम होने वाले हैं। अतः इस चिकित्सा में जो सावधानियाँ बर्तनी चाहिये उनकी चर्चा इसी लेख में पहले कर दी गई है। शस्त्र क्रिया केवल उन्हीं चिकित्सकों द्वारा कराई जानी चाहिये जिसे इस क्रिया का पूर्ण अभ्यास हो। अन्यथा लाभ के बदले हानि ही होनी सम्भव है।

रोग शुरू हुआ हो और अधिक बढ़ा न हो तो एनिमा लेने, उपवास करने और फलाहार करने मात्र से उसमें सुधार होने लगता है। अतः इस चिकित्सा विधि का भी सहारा लेना चाहिये और भरसक प्रयास करना चाहिये कि शस्त्र क्रिया न करानी पड़े। जब सामान्य उपचार से लाभ न हो तभी शस्त्र चिकित्सा की शरण लेनी चाहिये।

शस्त्र क्रिया द्वारा ठीक होने वाले रोगों के लक्षण ऊपर बताये गये हैं। नेत्र में लिंगनाश या मोतियाबिन्दु एक रोग होता है। इसमें रोगी अन्धा तक हो जाता है। इसकी भी शस्त्र चिकित्सा होती है। प्राचीनतम पुस्तक

सुश्रुत में भी इसकी शस्त्र चिकित्सा बताई गई है। खेद है कि आज आयुर्वेद के चिकित्सक इस क्रिया को नहीं करते। कहीं कहीं साँतिये जो प्रायः सुशिक्षित नहीं होते इस क्रिया को करते हैं। अपने पूर्वजों से यह विद्या उन्होंने विरासत में पाई है। किसी अच्छे सुशिक्षित साँतिये से यह विद्या पुनः प्राप्त करके आयुर्वेदीय कालेजों में पढ़ाई जानी चाहिये अन्यथा इस विद्या का लोप हो जायगा।

आयुर्वेद में लिंगनाश वेधिनी शलाका (Cataract needle) का उल्लेख है। इससे दूषित लेंस अन्दर की ओर ढकेल दिया जाता है। एलोपैथी में लेंस को निकाल कर बाहर कर दिया जाता है। एलोपैथी इलाज से भी सब आपरेशन सफल नहीं होते। कुछ लोगों की रोशनी वापस नहीं लौटती। सांतियों के इलाज से भी सबको लाभ नहीं होता है। आयुर्वेद कालेजों में भी इसकी शस्त्र चिकित्सा का विकास किया जाना चाहिये। तभी आयुर्वेद का सर्वांगीण विकास सम्भव है।

इस लेख के तैयार करने में हमने अपनी पुस्तक "आंख का अचूक इलाज" से भरपूर सहायता ली है। जो लोग चाहें इस पुस्तक को पढ़कर पूर्ण लाभ उठा सकते हैं। श्री ज्वाला आयुर्वेद भवन से यह पुस्तक प्राप्य है।

—श्री महेन्द्रनाथ पाण्डेय, महेन्द्र रसायन-शाला
२५ नया ममफोर्ड गंज, इलाहाबाद-२
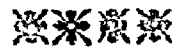
नेत्रक्षत और उसकी चिकित्सा : : पृष्ठ १६३ का शेषांश

क्षत उत्पन्न हो जावेगा, फिर इस क्षत को फोड़कर पानी निकाल दें तथा मलहम या घृत लगा दें।

४. नेत्र में औषधि डाल कर नेत्रोपयोगी मलहम, डायोनी, टेरामाइसीन, ओरियोमाईसिन, एक्रोमाइसिन, पेनसिलीन आदि मलहम आँख में लगा कर ऊपर रुई रख कर पट्टी बाँध दें।

हमने आयुर्वेदीय नेत्र विशेषज्ञ डा० पुरुषोत्तम व्यास के परामर्श से रस सिन्दूर को बारीक पीसकर घृत में मिला कर एक लाल मलहम बनाया तथा उसे नेत्र क्षत रोग में प्रयोग किया अत्यन्त लाभकर पाया। पाठक इसका प्रयोग कर लाभ उठावें। यह मलहम उपरोक्त मलहमों की तरह क्षत भरने में सक्षम है।

पथ्य—कम नमक मिर्च का मृदु भोजन, खिचड़ी आदि दुग्ध, मक्खन, घृत का सेवन, त्रिफला घृत का सेवन, त्रिवृत् क्वाथ में तीन बार सिद्ध किया घृत, द्राक्षा, मुलहठी, काकोली, विदारीकन्द आदि पथ्य है। इनका क्वाथ या चूर्ण दुग्ध के साथ पीवें। हलुवा भी लिया जा सकता है।

अपथ्य—कठोर खाद्य, पापड़, बदरी फल सुपारी आदि नहीं खावे, पान भी नहीं खावे, तेज मिर्च मसालों का त्याग करे, तेज खटाई का भी त्याग करे। बार-बार खाना, अधिक भाषण बन्द, तैल नहीं खाना चाहिए। इस रोग में पित्त वर्द्धक, नेत्र पर तनाव पैदा करने वाले द्रव्य नहीं खाने चाहिए।

विहार—आंखों को मलना नहीं चाहिये। आंखों सीधी हवा नहीं जानी चाहिए, चोट नहीं लगनी चाहिए धूम्रपान, धूम्र सेवन, धूलि का प्रभाव आँख पर नही चाहिये, धूप नहीं लगनी चाहिए। इन बातों का पूरा ध्य देना चाहिए। दूर्वा पर घूमा जा सकता है, पगतली (पैरों के तलुवों में) पर घृत या मक्खन का मर्दन किया जा है। कठोर शैया, मैथुन आदि भी त्याज्य हैं।

नेत्र क्षत रोग की विशेष अवस्थाओं में चिकित्सा भी सम्भव है परन्तु इनका विस्तृत उल्लेख हम इस लेख में नहीं कर पा रहे हैं। यहाँ हम इतना कह देंगे कि आयुर्वेद के ऋषि इस रोग से पूर्णतः थे तथा इसकी चिकित्सा करने में वे पूर्ण समर्थ थे। भी यदि प्रयत्न किया जाय तो यह रोग आयुर्वेद चिकि के वश में आ सकता है।

—वैद्य श्री अम्बालाल जोशी आयुर्वेद
मकराना मुहल्ला,

डा. जगदीश चन्द्र असावा

नेत्र शरीर का सर्वाधिक महत्व का अङ्ग है जिसके अभाव में जीवन अधंकारमय हो जाता है। अतः नेत्र की रक्षा एवं देख-रेख प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक हो जाती है।

सुश्रुताचार्य ने ७६ नेत्र रोगों का उल्लेख किया है इन नेत्र रोगों में नयनाभिघात का समावेश किया गया है। नेत्र अभिघात अर्थात् नेत्र में चोट लगना सामान्य घटना है। दुर्घटना मुख पर चोट लगना, युद्धकाल के आघात तथा विभिन्न उद्योगों में प्रायः नेत्र अभिघात हो जाते हैं।

सुश्रुत संहिता में नेत्र रोगों के सामान्य कारणों का वर्णन करते हुए आघात का भी समावेश किया है तदनुसार—

उष्णाभितप्तस्य जले प्रवेशाद,
दूरेक्षणात् स्वप्न विपर्ययाच्च।
प्रसक्त संरोदन कोप शोक,
क्लेशाभिघातादति मैथुनाच्च॥

अर्थात् तीक्ष्ण अंजन, धूप-धूल धुए आदि से मनुष्यों की आंखों में अनेक रूप से आघात हो जाते हैं।

आधुनिक वर्णन के अनुसार नेत्र आघात के प्रमुख कारण इस प्रकार हैं--

१. विभिन्न दुर्घटनाएं।
२. युद्ध के आघात।
३. बाह्य वस्तु प्रवेश।
४. मुखानन के आघात।

अतः आघात (चोट लगना) नेत्र रोगों का कारण भी है। नेत्राभिघात का महत्व इस कारण अत्यधिक है कि इन के कारण कार्य क्षमता के अभाव से लेकर दृष्टिनाश तक हो जाता है।

नेत्र आघात में सर्वाधिक भय संक्रमण का बना रहता है जिसके कारण कृष्ण मण्डल के व्रण से लेकर सर्वाक्ष शोथ (Panophthalmitis) अथवा छिद्रित व्रण तक हो जाते हैं अतः नेत्र आघात का सम्यक निदान एवं चिकित्सा का ज्ञान आवश्यक हो जाता है।

नेत्र आघात के कारण—

सुश्रुत उ०त० में नयनाभिघात के कारणों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

अभ्याहते तु नयेन वहुधा नराणां
सरम्भरागतुमुलासु रुजासु धीमान्।
नस्यस्पलेपपरि सेचन तर्पणाद्य,
मुक्तं पुनः क्षतजपित्तजशूलपथ्यम्॥ –सु.उ.त. १९-३

आजकल भौतिक युग में प्रतिदिन होने वाली दुर्घटनायें होती रहती हैं जिनसे नेत्र पर भी आघात पहुंचता है तथा उसकी तुरन्त चिकित्सा आवश्यक होती है। बन्धुवर असावा जी ने अत्यन्त संक्षेप में वर्णन किया है लेकिन कोई ऐसा विवरण छूटने भी नहीं पाया है जिसकी चिकित्सा साधारण चिकित्सक की पहुंच में होती है। आपने आगरा विश्वविद्यालय से बी० ए०, तत्पश्चात् ए०, एम० बी० एस० परीक्षा उत्तीर्ण की है। आप गुरुकुल कांगड़ी आयुर्वेद महाविद्यालय में लैक्चरार रह चुके हैं। सम्प्रति पीलीभीत के राजकीय आयुर्वेदिक महाविद्यालय में रीडर हैं। आप अभी ३७ वर्षीय नवयुवक हैं तथा आयुर्वेद जगत को आपसे बहुत कुछ आशायें हैं। आपके लेख 'धन्वन्तरि' में प्रकाशित होते रहते हैं। आशा है कि यह लेख पाठकों को अत्यन्त रुचिकर प्रतीत होगा तथा उसे पढ़कर लाभान्वित होंगे।

—दाऊदयाल गर्ग

५. तीव्र प्रकाश ।

६. विशिष्ट उद्योग ।

नेत्र आघात के सामान्य लक्षण

सु०उ०त०अ० १९ में चोट लगने के कारण—नेत्र में सूजन, सुर्खी तथा वेदना का उल्लेख किया है तथा क्षत होने पर नेत्र में राग, दाह, तोद, शोफ पाक, घर्षण आदि वेदनायें होती हैं। परन्तु ये लक्षण नेत्र के अनेक रोगों के सूचक होते हैं। आघात के कारण शोथ होता है। जिसके निम्नलिखित सामान्य लक्षण होते हैं—

उत्सेद—अंग में सूजन हो जाना ।

रक्तिमा—अंग में लाली होना ।

उष्णता—अंग में ऊष्मा का आभास ।

वेदना—पीड़ा होना ।

क्रिया हानि—अंग की सामान्य क्रिया में बाधा ।

नेत्र के किसी भी भाग पर आघात के कारण उपरोक्त लक्षण न्यूनाधिक दृष्टिगोचर होते हैं। इनके अतिरिक्त अश्रु स्राव होना, प्रकाश के सहन करने में असमर्थता (Photo-sensitivity) तथा अन्य विशेष लक्षण आघात की प्रकृति, उनके स्थान तथा तज्जन्य प्रभाव के अनुसार पाये जाते हैं।

नेत्र आघात की सामान्य चिकित्सा

सु० उ० त० अ० १९–४–५ में नयन आघात की सामान्य चिकित्सा कही गई है—

चिकित्सा सूत्र—

दृष्टि प्रसाद जननं विधिमाशु कुर्यात् ।

अर्थात् तुरन्त ही दृष्टि को प्रसन्न अर्थात् साफ करने वाली विधि वरतनी चाहिए। इस हेतु स्निग्ध-शीतल तथा मधुर वस्तुओं का सेवन करें।

स्वेदाग्नि धूम्र भय शोक रुजाभिघातै
रभ्याहतमपि तथैव भिषक् चिकित्सेत ।

अर्थात् स्वेद अग्नि भय शोक पीड़ा आघात आदि से आँख दुखने पर भी इसी प्रकार चिकित्सा करने का निर्देश किया गया है।

अभ्याहतं नयनमीषदपास्य वाष्प
संस्वेदितं भवति तन्निरुजं क्षणेन

अर्थात् चोट लगी आँख पर मुख से फूंक कर गर्म वाष्प से स्वेदन देने से आँख शीघ्र पीड़ारहित हो जाती है।

चोट खाई आँख को ७ दिन से अधिक समय व्यतीत हो जाने पर दोषानुसार नेत्र अभिष्यन्द की चिकित्सा करनी चाहिए।

नेत्र पर चोट लगने पर तुरन्त प्राथमिक उपचार रूप में शीतल पानी या बरफ की पट्टी का प्रयोग करना चाहिए।

स्फटिका चूर्ण को मलाई के साथ मिलाकर नेत्र पलक के ऊपर बन्धन करने से आँख की रक्तिमा नष्ट हो जाती है।

सामान्य रूप से नेत्र पर चोट के कारण होने वाली सूजन पर बोरिक एसिड को उष्ण जल से ढालकर परिषेक करने से लाभ होता है।

विशिष्ट नेत्र आघात—

१. वर्त्म के आघात—

(अ) वर्त्म में रक्त का जमाव (Haematoma of eyelid)—वर्त्म मण्डल के संयोजक तन्तु शिथिल होता अतः साधारण आघात से भी रक्त वाहिनियां विदीर्ण हो जाती हैं तथा रक्त तन्तुओं में भर जाता है। पलक नीला जाता है शोथ अधिक होता है तथा वेदना होती है। पलक खुलने में बाधा पड़ती है।

सुश्रुत ने इसको श्याव वर्त्म संज्ञा दी है तथा वर्त्म शोथ, काला वर्ण, दाह एवं कण्डु युक्त वेदना लक्षण कहे हैं।

चिकित्सा—सुश्रुत ने लेखन चिकित्सा का निर्देश किया है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार और अ रक्त स्राव रोकने हेतु शीतल पट्टी, बरफ की पट्टी का प्रयोग कराते हैं। शनैः शनैः रक्त शोषित हो जाता है तथा नेत्र सामान्य कार्य करने लगता है।

(ब) कीट दंश—वर्त्म में मशक, मक्षिका आदि कीट दंश के कारण भी शोथ, कण्डु तथा वेदना होती है।

चिकित्सा—शीतल पिचु (Cold compress) करें तथा अनूर्जतानाशक दवाओं का सेवन करायें।

(स) दग्ध—अग्नि-दाहक पदार्थ, नील लोहित प्रकाश किरणें, बीटा एवं गामा रश्मियों के प्रभाव से वर्त्म दग्ध
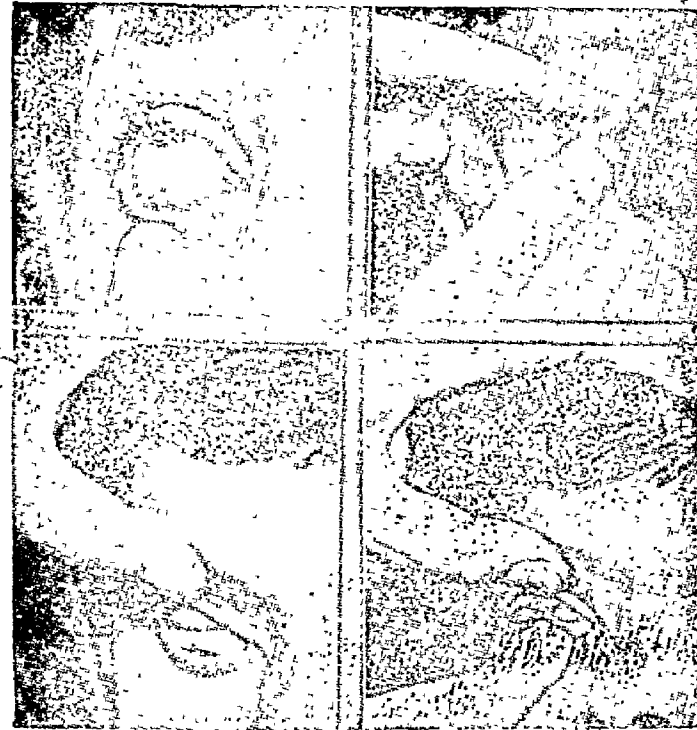
पलकों को पलटने की विधि

नीचे के पलक को पलटना।
ऊपर के पलक को पलटने के लिए पलक को नीचे खींचें।
पलटे पलक को स्थिर रखना।
नेत्रच्छद कला का ऊपरी मोड़ देखना।

कृष्णमण्डल से चिपकी बाह्य वस्तु हटाना

१. चिकित्सक रोगी के बायें खड़ा है।
२. चिकित्सक रोगी के पीछे खड़ा है।

कृष्णमण्डल से चिपकी बाह्य वस्तु हटाने वाली शलाका (स्पड)

हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप कुरूपता, संकोच तथा नेत्र रक्षा की हानि आदि लक्षण होते हैं। अन्त में कृष्णमंडल शोथ (Keratitis) तथा दर्शनाभाव भी हो सकते हैं।

चिकित्सा—दग्ध की गम्भीरता का अनुमान करना चाहिये। साधारण दग्ध हानि रहित होते हैं।

नेत्र में स्निग्ध बिन्दु का आश्च्योतन करना चाहिए। सल्फासिटामाइड पाउडर छिड़कें।

जीवाणुनाशक का सूचीवेध प्रयोग कर संक्रमण से रक्षा करें। दग्धवत् उपचार करें।

(द) तन्तुक्षय (Tissue Damage)—वे आघात जहाँ वर्त्म तन्तुओं का ही नाश हो जाये वहां प्लास्टिक सर्जरी या त्वचा ग्राफ्टिङ्ग का सहारा लेना चाहिए।

२. अक्षि गोलक के आघात—

तीन प्रकार के प्रभाव होते हैं—

१. बाह्य शल्य।
२. विदररहित आघात (Non perforating injury)
३. विदरयुक्त आघात (Perforating injury)

१. बाह्य शल्य—आघात के कारण बाह्य वस्तु का नेत्र में प्रवेश हो जाता है। यह बाह्य वस्तु निम्न भागों में हो सकती है—

(अ) नेत्रच्छद कला पर बाह्य वस्तु जम जाना—नगर निवासियों अथवा धूल के कणों वाले उद्योगों में लगे व्यक्तियों में पाई जाती है जब यह पलक के नीचे स्थिर हो जाती है तब नेत्र में खड़कना, सुर्खी तथा अश्रुस्राव आदि लक्षण पाये हैं।

उपचार—ऊपर के पलक का आवर्तन कर रुई के पिचु से धो देना चाहिये।

(ब) कृष्ण मण्डलगत बाह्य वस्तु—कृष्णमण्डल (Cornea) का ऊपरी स्तर अत्यधिक संवेदनशील होता है। अतः इस भाग में बाह्य वस्तु अत्यधिक पीड़ाकर होती है।

इसके निष्कासन हेतु अधिक प्रकाश आवश्यक होता है।

चिकित्सा—स्थानिक संज्ञाहर द्रव्य यथा 4% Cocaine Hydrochloride drop डालकर ऊपरी तल पर स्थित शल्य को रुई के पिचु से पोंछकर साफ कर लेते हैं एवं अन्तः तल में प्रविष्ट बाह्य पदार्थ को स्पड (Foreign body needle) से निकालते हैं।
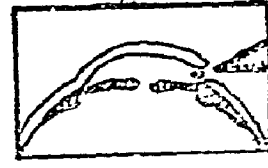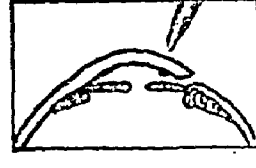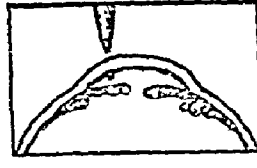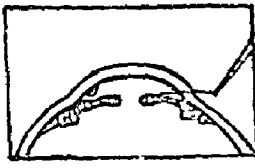
नेत्र के अग्र कोष्ठक में प्रविष्ट चुम्बकीय वस्तु के अपकर्षण की विधि

१. कृष्णमण्डल को काटा जाता है। २. ३. ४. चुम्बक की सहायता से चुम्बकीय वस्तु को बाहर निकालना
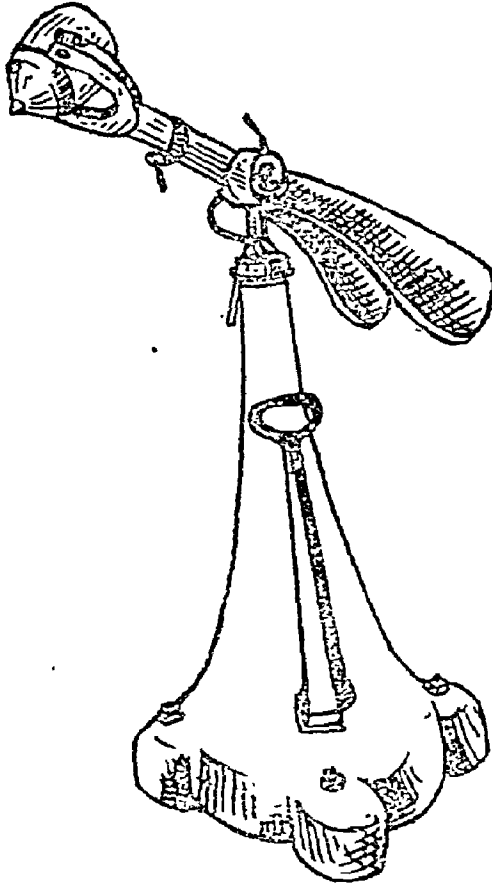
कृष्णमण्डल पर चिपके लोह कण हटाने वाला चुम्बक—बड़ा साइज
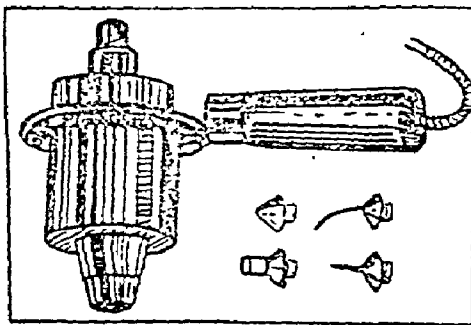
कृष्णमण्डल पर चिपके लोह कण को हटाने वाला चुम्बक (ले जाने योग्य)—चार चुम्बक के इसमें लगने वाले गुटके नीचे दिखाये हैं।

बाह्य वस्तु निकल जाने के बाद एट्रोपीन का १ प्रतिशत विन्दु डालते हैं तथा उपसर्ग रोकने हेतु जीवाणुनाशक घोल डालते हैं।

२. विदररहित आघात—

(अ) हाइफीमा (Hyphaema)—नेत्र पर आघात के कारण अग्र कोष्ठ (Anterior chamber) में रक्त आ जाता है। यह रक्त तारा की लघु केशिकाओं के विदीर्ण होने के कारण आता है।

सुश्रुतोक्त अर्जुन रोग इस अवस्था का सूचक है।

चिकित्सा—रोगी को विश्राम करना चाहिए।

दारु हरिद्रा स्वरस से परिषेक,
शर्करा-मधुयष्ठी का आश्च्योतन।
रसौत तथा मधु का अंजन प्रयोग करें।
आर्जिरौल ड्राप्स का प्रयोग करें

(ब) आघातज लिंगनाश (Concussion Cataract) आघात के कारण ताल के पश्चात् सिर पर पारांधता जाती है। इस अवस्था की चिकित्सा लिङ्गनाश चिकित्सा विधि से करनी चाहिए।

(स) ताल की स्थान च्युति—चोट लगने पर ताल स्थान च्युत हो जाता है। यह आगे की ओर अग्र कोष्ठ.. आ जाता है अथवा पीछे की ओर सांद्र द्रव (Viterous body) में चला जाता है। कभी-कभी कोण (Angle) के अवरुद्ध होने से अधिमन्थ (Glaucoma) का भी उत्पन्न हो जाता है।

सुश्रुतोक्त तिमिर रोग के अन्तर्गत इस अवस्था का समावेश किया गया है।

चिकित्सा—आंख का चाप न बढ़ने पर कोई भय नहीं होता। विश्राम के द्वारा कभी-कभी पुनः लैन्स अपने स्थान पर स्थिर हो जाता है परन्तु Ocular tension की वृद्धि होने पर शल्य कर्म आवश्यक होता है।

(द) Rupture of choroid—आघात के कारण प्राय: Choroid विदीर्ण हो जाता है। यह विदार Posterior pole पर नेत्र नाड़ी के चारों ओर होता है। जब यह विदार Fovea centralis पर होता है तब हानि होती है। कभी-कभी सान्द्र द्रव में रक्तस्राव हो जाता है।

चिकित्सा—रोगी को एक सप्ताह का पूर्ण विश्राम कराना चाहिए। एट्रोपीन का प्रयोग अधिमन्थ से रक्षा हेतु करना चाहिए।

(इ) आघातज अधिमन्थ—चोट लगने पर नेत्रान्तर्गत चाप की वृद्धि, शिर:शूल, तारा मण्डल का गतिहीन होना यह अधिमन्थ रोग के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं।

चिकित्सा—स्वत: लक्षण समाप्त हो जाते हैं। ऐसा न होने पर अधिमन्थ की चिकित्सा एवं शल्य कर्म करना होता है।

(फ) आघातज दूर दृष्टि (Traumatic Myopia) आघात के कारण रोगी को दूरस्थ वस्तु दर्शन में बाधा हो जाती है। वह निकट की वस्तु स्पष्ट देखता है। यह अवस्था १-२ सप्ताह की अवधि में स्वयं ठीक हो जाती है।

(द) नेत्र के विदारयुक्त आघात (Perforating injuries of eye ball)—

घातक आघात के कारण नेत्र अवयव विदीर्ण हो जाते हैं तथा उग्र रूप के लक्षण होते हैं। ऐसे आघात में संक्रमण का भय सर्वाधिक रहता है। श्वेत पटल कृष्ण पटल अथवा ताल पर के सूक्ष्म छिद्रित व्रण बिना किसी बाधा के भर जाते हैं परन्तु अधिक बड़े व्रण दृष्टि हानि का कारण बन जाते है।

इस प्रकार के गम्भीर आघात नेत्र में निम्न अवस्था उत्पन्न करते हैं।

Prolapse of Iris (अजकाजात)
Traumatic Cataract (आघातज लिङ्गनाश)
Sympathetic Ophthalmitis }
Pan ophthalmitis } सर्वांग नेत्र पाक
Intra occular foreign body—
Rupture of Sclera—

इन सभी अवस्थाओं की चिकित्सा नेत्र रोग विज्ञान के अन्तर्गत उल्लिखित विधियों से की जाती है। जिज्ञासु पाठक तद्विषयक साहित्य का अनुशीलन करें।

अक्षि गुहा के आघात (Injuries of Orbit)

आघात मृदु तन्तुओं से लेकर अस्थियों तक को क्षति पहुँचा सकते हैं तथा अक्षिगुहा के निर्माण में भाग लेने वाली अस्थियों के अस्थि भग्न तक कर देते हैं।

कभी-कभी जब नाड़ियां प्रभावित होती हैं तब नेत्र सम्बधी मांसपेशियां प्रभावित होकर नेत्र की आकृति विकृत हो जाती है। आंख अन्दर को धंस जाती है अथवा बाहर को उभर जाती है अथवा तिर्यक स्थिति में आ जाती है।

आंख का अंदर धंसना (Orbital Blowout Enophthalmus)—अक्षि गुहा के तल में विदार होने से वसा अन्दर को धस जाती है आंख भी धस जाती है। सुश्रुत उ० तं० अ० १९ में इस प्रकार की अवस्था का उपचार कहा गया है तदनुसार—

> प्राणोपरोध वमन क्षुत कंठ रोधै।
> रूत्नम्यमाशु नयनं यदिति प्रविष्टम् ॥

अर्थात्—यदि नेत्र अन्दर बहुत दब गई हो तब गल पीड़न, वमन से छींक से श्वास को रोककर आँख को बाहर लाना चाहिए। सात दिन के अन्दर भग्न का उपचार आवश्यक होता है। अस्थि को पुन: फिसलने से बचाने हेतु अतिरिक्त आधार प्रदान किया जाता है। इस हेतु Caldwell Lac approoch विधि अपनाते हैं।

नेत्र का बाहर निकल आना (Exophthalmus)—नेत्र बाहर को उभर जाती है। यह अवस्था विशेषकर चुल्लिका ग्रन्थि के विकारों में पाई जाती है। सुश्रुत में आँख उभर आने पर नाक से वायु को अन्त: खीचने तथा शिर पर शीतल जल धारा डालने का विधान बताया है।

नेत्र आघात की साध्यासाध्यता—

> साध्यं क्षतं पटलमेकमुभे तु कृच्छ्रे
> त्रीणि क्षतानि पटलानि विवर्जयेतु।
> —सु. उ. त. १९-६

प्रथम पटल में हुआ क्षत साध्य होता है। दो पटलों का क्षत कष्ट साध्य तथा तीनों पटलों का क्षत असाध्य होता है। क्षत के उपद्रव विशेष कर—पिच्चित आँख, शिथिल लटकती हुई आँख तथा दृष्टि नष्ट होने पर याप्य होती है। जिसमें दृष्टि फैल गई हो, सूक्ष्म हो गई हो, सुर्खी आ गई हो, दृष्टि भ्रमित हो वह याप्य होती है। जहाँ दृष्टि स्थिर तथा स्पष्ट हो वह साध्य होती है।

—डा० श्री जगदीश चन्द्र असावा
बी. ए., ए. एम. बी. एस.
रीडर—ल. ह. राज. आयु. कालेज, पीलीभीत
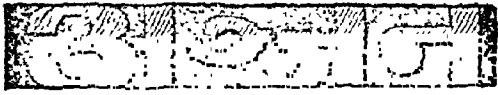
- श्री दारोगा मिश्र वैद्य

अञ्जन का सम्बन्ध शालाक्य शास्त्र से माना जाता है, पर तथ्य यह है कि अञ्जन सम्पूर्ण अष्टांग आयुर्वेद से सम्बद्ध देखा जा रहा है। अञ्ज् धातु व्यक्ति, म्रक्षण, कान्ति, गति अर्थ में सिद्धान्त कौमुदी के तनादि प्रकरण में सम्पर्णित है। अतः अञ्जु धातु व्यक्ति यानि सुस्पष्टता या व्यक्तित्व तथा म्रक्षण माने शुद्धिकरण और कान्ति प्रभा एवं गतिगमन या गतार्थता का द्योतक है। अञ्जयतीति अञ्जनम् तथा अनक्ति इति अञ्जनम् की व्युत्पत्ति से कई एक पूर्वोक्त अर्थ प्रतिभासित होता है।

ग्रन्थ नष्ट हो गये हैं। अष्टांग आयुर्वेद ही नष्ट है। सिद्धों तन्त्रविदों के ग्रन्थों के भी अभाव हो गये हैं। आठों सिद्धियों को वश में करके जयवज्रांगी हनुमान जी ने सिद्धांजन को नेत्रों में आंजकर "गिरि पर चढ़ लंका कपि देखी" अन्यथा भारत से लंका लाँघना सम्भव न था। जंगली मनुष्यों के पास एक से एक अञ्जन होते हैं जो पर्वत पर चढ़कर देखने से दूर विदूर की चीजों को दर्शाते हैं। महाभारत, रामायण में बहुत सी ऐसी कथा हैं जो अनुसन्धानीय हैं। यूनानी लोग, अरबी लोग तथा बहुत से फकीर लोग आज भी विविध प्रकार के जादू-टोना में अञ्जन का प्रयोग किया करते हैं। ऐसे-ऐसे अञ्जन ऋषि मुनियों के पास थे जिनके आँज लेने पर वे अगोचर लोप, अन्तर्ध्यान हो जाते थे। महर्षि वात्स्यायन के पास काम शक्तिवर्धक अनेकों अञ्जन थे। आज भी विहार प्रान्त के मग वैद्यों के पास नाना प्रकार के कामांजन मौजूद हैं, वे व्यक्तिगत सम्पत्ति बनाये हुए हैं। अञ्जन शब्द चूर्णाञ्जन, मिथुनाञ्जन, वर्त्यञ्जन, रसक्रियाञ्जन, कज्जलाञ्जन, द्रवाञ्जन, तर्पणाञ्जन, लेपाञ्जन, समाञ्जन, क्षुद्राञ्जन के रूप में अनेकों अञ्जन की प्रक्रिया का रोधक है। जो भी औषध द्रव्य नेत्रों में लगाये जांय वे सब अञ्जन शब्द में गतार्थ हैं। अञ्जन शब्द का बड़ा व्यापक अर्थ है। ऐसे तो अञ्जन शब्द से ऐण्टीमनी को लोग जानते हैं। अञ्जन शब्द भावप्रकाश, रसेन्द्रसार संग्रह, रसरत्न समुच्चय, रसेन्द्र सम्प्रदाय, रसतरंगिणी में स्रोतोञ्जन, सौवीराञ्जन, रसाञ्जन, पुष्पांजन के रूप में पढ़ा जाता है। पर सुश्रुत में अंजन शब्द से जो भी वनस्पति वानस्पत्य-लता-औषधि के रस, घनसत्व, चूर्ण, कज्जललेप और गोघृत, मधु, शंख, यशद आदि की भस्में, सर्प की भस्में, मृगचर्म की भस्में, गोरोचन, केशर, विविध पुष्परस, पराग,

> श्री मिश्र जी की 'धन्वन्तरि' पर दीर्घकाल से कृपा है। आपके लेख विवेचनापूर्ण, विद्वतापूर्ण तथा उपयोगी होते हैं। इस समय आप विहार प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन के प्रधानमन्त्री हैं तथा रसना में दाबूलाल जैन चिकित्सालय के अध्यक्ष हैं। आपने अपने व्यस्त समय में से कुछ समय निकालकर यह लेख भेजा है जो निश्चय ही पाठकों को पसन्द आयेगा। इसमें अञ्जन विवेचन के पश्चात् कई शास्त्रीय अञ्जनों का उल्लेख किया है तथा अञ्जन कैसे करना चाहिये, किनको करना चाहिये एवं किन्हें नहीं करना चाहिए यह शास्त्रीय उद्धरण देकर समझाया है। आशा है पाठक लाभान्वित होंगे।
>
> —दाऊ दयाल गर्ग

तदञ्जनत्वात् तन्मयत्वाद्य तद्गुणाः एव पुरुषाः भवन्ति।
—सु. शा. १

आंजना, आंजन ये शब्द लोक में अञ्जन शब्द के ही द्योतक हैं। आँखों में अंजन लगाने से प्रभा व्यक्तित्व, खूबसूरती और आँखों में शुद्धि होती है। ऐसे अञ्जन बनाये जाते हैं जिनसे आँखों में प्रकाश, जहाँ चाहे वहाँ यथेच्छ गमन, सम्मोहन, उच्चाटन एवं वशीकरण भी हो जाता है। भारतीय सिद्ध शास्त्रों एवं तंत्रशास्त्र में ऐसे ऐसे अंजन हैं जिनके नेत्रों में आंजने पर योगी लोग बैठे बैठे भूतल, पर्वत, अतल-सुतल, पताल-तलातल के समस्त गतिविधि को देखा करते हैं। शालाक्य शास्त्र के बहुत से

हस्तिदन्त, कच्छपास्थि की भस्में, धातु-रत्न की भस्में, आँखों में वर्ति-पूर्व कज्जल, रसक्रिया, आलेप, प्रलेप आदि के रूप में आँजे जांय ये सब अंजन हैं।

रसरत्न समुच्चय तृतीय अध्याय एवं रसतरंगिनी बाइसवें अध्याय में अञ्जन का वर्णन है। यह अंजन पांच प्रकार के हैं।

१. सौवीरांजन जो अण्टीमनी और गन्धक के योग से निर्मित हैं।

२. रसाञ्जन जो भावप्रकाश के दारूहल्दी प्रकरण हरीतक्यादि वर्ग में वर्णित है कि देवदारू के अष्टमांश अवशेष काढ़े के बराबर गाय के दूध मिलाकर औटाने पर जब सूखकर चौथाई बचे और गाढ़ा हो जाय तो उसे ही रसाञ्जन कहा जाता है।

३. स्रोतोञ्जन—यह अण्टीमनी और गन्धक के यौगिक है। बर्मा, मैसूर में स्रोतोञ्जन मिलता है। आजकल सफेद सुरमा के नाम से जो अंजन बाजारों मिलते हैं वे चूने के वर्ग के पत्थर हैं उसे न ग्रहण करें। वह स्रोतोञ्जन नहीं हैं। रसतरंगिनी में स्रोतोञ्जन को ही नीलाञ्जन पर्याय दिये हैं और तीन ही अंजन बताये है (१) स्रोतोञ्जन (२) सौवीराञ्जन (३) पुष्पांजन रसरत्न समुच्चय में।

४. चौथा अञ्जन पुष्पाञ्जन है जो यशद और आँक्सीजन के योग यानि यशद की वान्तिर भस्म है। यह सफेदा के नाम से पंसारियों के पास बिकता है। डाक्टरी दवा की दुकान में जिंक आक्साइड कहने पर पुष्पाञ्जन प्राप्त होता है जो परिष्कृत यशद भस्म ही है। रसतरंगिणी में यशद भस्म और गन्धकाम्ल के योग से गन्धकाम्लीय यशद चूर्ण का निर्माण बताया है। यह भी चूर्ण शलाका से अभिष्यन्द रोग एवं सुजाक में, घाव में, सफेद प्रदर में दिया जाता है। मेरा अनुभव भी इन रोगों पर प्रयोग का है। मैं गन्धकाम्लीय यशद चूर्ण का एक रत्ती (दो ग्रेन लेकर) टंकणाम्ल द्रव पांच तोला में मिला कर यशदामृत द्रव बनाता हूं। टंकणाम्ल द्रव की जगह पर गुलाब जल ५ तोला देकर भी बनाने पर लाभ करता है। यह अभिष्यन्द, अर्म, पोथकी का अच्छा आश्च्योतन है। यशद भस्म निम्ब की डण्टल से रगड़ कर बनाने का विधान जो रस तरंगिणी में है उसे बनाकर उस भस्म को वस्त्रपूत ४ बार करके उस चूर्ण को पुष्पांजन के रूप में शलाका यानी रांगा की श्लक्ष्ण सलाई से अभिष्यन्द अर्म में आंजते हैं। उपनाह, सव्रणशुक्र, अजकाजात में यशद भस्म १ रत्ती तथा गुलाब जल ५ भर को ४ बार घोल कर छान कर ड्रौपर से सुबह शाम रात में आश्च्योतन करते हैं। नेत्र व्रण का प्रक्षालन पुष्पांजन से अच्छा होता है।

५. नीलांजन यह शीशा और गन्धक का यौगिक है। गेलेना नीला सुरमा इसे ही कहते हैं। पर मेरे अनुभव में यह सन्देहास्पद अञ्जन है। इन अञ्जनों को भृङ्गराज के रस की सात भावना देकर सुखा कर विविध नेत्र रोगों के यौगिकों में प्रयोग करते हैं। इसे रक्तपित्त, रक्तप्रदर, श्वेत प्रदर, हिक्का, व्रणमेह, अर्म, अभिष्यन्द रोगों में आभ्यन्तर प्रयोग खाने में एवं स्थान प्रक्षालन में करते हैं। पुष्पांजन (सफेदा) को विविध त्वचा के रोगों पर नारियल तेल 'कपूर' से प्रयोग करता हूं। खूब लाभ करता है।

तिमिर हराञ्जन निर्माण

एक बड़ा डब्बू यानी कलिछुल में शीसा को पिघला दें। शीशा शुद्ध होना जरूरी है। चूना के पानी से तीन भाग घड़ा को भरकर, उस घड़े के मुख पर बिना धोये हुए ढक्कन रख दे। ढक्कन के बीच में छेद कर दें। पिघले हुए शीशा को डब्बू से ही ढक्कन के मुख से घड़ा में डालें। सावधान रहें अन्यथा डालने में भूल हुई तो शीशा उड़ कर देह को जला देगा। जो भी उस जगह रहेंगे वे जल जायेंगे। कई बार छात्रों ने भूलें की हैं और मेरे सहित छात्रों के कपड़ों को छेदकर शीशा ने शरीर में चेचक चिह्नवत् जला दिया है। सात बार इस प्रकार शुद्ध करके पुनः शुद्ध सीसा को पिघलायें। चूर्णोदक में डालने पर सीसा जम जाता है। उसे निकाल कर कपड़ा से पोंछ कर दर्विका (डब्बू) में पिघलायें। सीसा के बराबर शुद्ध पारद डब्बू में डालें। आग पर से डब्बू को उतार तब उसमें पारा डालें और चटपट दोनों को खरल में डाल करके एक घण्टा तक रगड़ो। बाद दोनों को दुगुना सौवीराञ्जन (सुरमा काला) डाल कर सात दिन रगड़ें। उसमें तीन माशा (चार आना भर) कपूर जो भीमसेनी हो या ढेला हो डाल कर पीसें। बाद शीशी में रख लें। इसे तिमिर, कांच, रात्र्यंध, नेत्रकण्डू, दाह में शलाका पानी में भिगोकर अञ्जन में डुबो कर आँखों में सवेरे-शाम आंजें। यह सिद्ध अञ्जन है।

गृध्रवत् एवं कपोतवत् दृष्टि हो जाती है। लगता है ऐसे ही सिद्धाञ्जन के बारे में सन्त कवि श्री तुलसीदास ने रामचरित मानस में पहली दोहा में लिखा है—

यथा सुअंजन आंजी दृग साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखत शैल वन भूतल भूरि निधान॥

इसे मैंने मोतियाबिन्द में भी आंज कर देखा है बड़ा लाभकर रोशनी बढ़ा देता है। पर भीतर में खाने के लिये चतुर्मुख चिन्तामणि १-२ गोली सुबह शाम शंखपुष्पी द्रव से देता हूं।

तुहिनांजन

शालाक्यशास्त्र के महान आचार्य पटना आयुर्वेद कालेज के स्वर्गीय महान प्राध्यापक गुरुदेव श्री वामदेव शर्मा जी तुहिनाञ्जन का प्रयोग बराबर रोगियों पर एवं अपनी आँखों पर किया करते थे। मरते-मरते भी चश्मा का प्रयोग वे नहीं करते। आज भी तुहिनाञ्जन विहार के वैद्यों के द्वारा प्रयुक्त हो रहा है। आधा तोला शुद्ध सोरा, आधा तोला ढेला कपूर, ४ तोला सुरमा काला (सौवीराञ्जन) देकर खूब रगड़े। सुरमा शुद्ध रहे। इसे शीशी में रखें। सलाई स सवेरे शाम रात में आंजें तो तिमिर कांच द्वितीया अवस्था तक के मुक्ता बिंदु, दाह, परिस्राव में लाभ करता है। मेरे दानूलाल जैन दातव्य औषधालय में तुहिनांजन बराबर प्रयोग में है। वैद्यगण जरूर बनावें और नेत्रार्तों को आरोग्य करें। मेरे सहायक श्री गिरिजानन्दन मिश्र सदा बनाते हैं।

अंजन के विविध रूप रसरत्न समुच्चय २३ वें अध्याय में वर्णित हैं—

१. ताम्रद्रुति अंजन २. गन्धक द्रुति अंजन ३. गरुडाञ्जन ४. तिमिर हराञ्जन ५. पटल हराञ्जन ६. रक्ताञ्जन ७. शिलाञ्जन ८. पुष्पहरांजन ९. पौनर्भवाञ्जन १०. वक्ररोम हरांजन ११. नृकलाञ्जन १२. काचान्ध्यहराञ्जन १३. राज्यन्धहरांजन १४. व्योषाद्यञ्जन १५. मरिचाद्यञ्जन १६. तिमिरहरांजन १७. शम्बूकादि वर्ति १८. पंचांगगुटिकाञ्जन १९. नवनेत्र दात्रीवर्ति २०. नयनरोगहरावर्ति २१. नागादिवर्ति २२. इन्द्रादिवर्ति २३. शुल्यादिवर्ति २४. रसेन्द्रवर्ति २५. तीक्ष्णादिवर्ति २६. ताम्रादिवर्ति २७. पारदादिवर्ति २८. एक त्रिंशांगवर्ति २९. षडंगवर्ति ३०. द्वादशांगवर्ति ३१. स्वर्णादि वर्ति।

चरकोक्त वर्ति, अंजन-रसक्रियाञ्जन

(१) बृहत्यादिवर्ति (२) सुमनःकोरकादिवर्ति—सुमनः कोरक चमेली की कली को कहते हैं (३) सैन्धवाद्यवर्ति (४) अमृताह्वादि वर्ति (५) शंखादिवर्ति (६) सुखावतीवर्ति (७) दृष्टिप्रदावर्ति। नोट—ये सब वर्तियाँ घिसकर आंखों में आंजी जाती है अतः ये वर्त्यञ्जन हैं। चरकोक्त अञ्जन—(१) पूर्णाञ्जन, तिमिरहर कृष्ण सर्पाञ्जनः। चरकोक्त रसक्रियाञ्जनः—(१) पिप्पलादि रस क्रियाञ्जन (२) कृष्णसर्प वसादि रस क्रियाञ्जन (३) धामी रसांजन रसक्रिया (४) मामज्जकी रसक्रिया।

कृष्ण सर्पाञ्जन निर्माण

कालानाग को मारकर उसके मुख में एक मास तक काला सुरमा (सौवीराञ्जन) रखकर उसे कुश से लपेट दें। बाद अंजन को निकालकर उसके आधे भाग चमेली की कलियां और आधे ही भाग सैन्धा नमक मिलाकर तीन दिनों तक दिन में घोंट कर सुखा लें। यह मोतिया बिन्दु के पानी को सुखाकर तीव्रज्योतिकर देता है। मेरे गुरुदेव पं० वामदेव शर्मा जी इसे बनाते थे और बड़ा यश पाये थे। तिमिर कांच-लिङ्गनाश का यह उत्तम अञ्जन है। दस वर्षो तक पं० वामदेव शर्मा जी के चरणों में रहने का अवसर मिला है। वे शालाक्य विभाग के प्रधान आचार्य थे। मैंने गुरुदेव के घर पर इसका प्रयोग लाभ निर्माण देखा है, पर स्वयं कभी न बनाया और न प्रयोग किया हूं। कालेजों में यह नहीं बनता है।

व्रण मिथुनाञ्जन रसक्रिया

यशद भस्म १ तोला, ताम्र द्रुति १/४ तोला, शुद्ध तुत्थ १/८ तोला, मधु २॥ तोला, गाय के घी २॥ तोला, ढेला कपूर १/४ तोला, सबको लेकर कांसे की थाली में ४ बजे भोर में खुले आकाश में बैठकर ६ बजे तक तीन दिन घिसे। हाथ से घिसे या तामड़ा पत्थर के खरल में घिसे। इसे नीले रंग के चौड़े मुंह के शीशे के पात्र में या पत्थर के पुड़याम में रक्खें। सव्रण शुक्र, अजकाजात में सुबह शाम रात में १ मटर बराबर अंगुली से अंजन लगावें। सदा लाभ करता है। सूखा फूला (अव्रण शुक्र में) मधु घी बराबर लेकर दोनों के अष्टमांश कपूर लेकर घिसकर रक्खें और १ मटर बराबर तीन बार लगायें।

बुढ़िया के अंजन

यवाईन १ तोला, कपूर १ तो., लवंग चूर्ण १ तो. एक कटोरी में मिलाकर हवा रहित स्थान में सलाई से जला दें। उसके धूंए पर गाय का घी लपेटकर कजरौटा (काजल पारनी) ऊपर से ढांककर काजल बनावें और बन्द कर रक्खें। बच्चों के नेत्रों में सुवह-शाम आंजने से अभिष्यन्द, अनिद्रा, कुकूणक रोग, रात्र्यन्धता रोग नष्ट होते हैं। बिहार के गांव में वृद्धा मातायें बनाती हैं। उनके घर पर बच्चों को लेकर औरतों की भीड़ लगी रहती है। मैं भी बनवाकर रोज प्रयोग करता हूं। मैं श्री दातूलाल जैन दातव्य औषधालय में बैठकर चिकित्सा करता हूँ जहां दैनिक लगभग डेढ़ सौ रोगी आते हैं। इनमें २५-३० नेत्र कर्ण रोगी भी रहते हैं।

सव्रण शुक्रहरी वर्ति

लाल चन्दन १ तोला को गुलाब जल में घिसकर स्वर्ण गैरिक वस्त्रपूत चूर्ण १ तोला, लाही के वस्त्रपूत चूर्ण १ तोला, चमेली की कली १ तोला को गुलाब जल से पीसकर बकरी के पुरीषवत् या नीम के बीजवत् वर्ति बनाकर छायाशुष्क करके रखें। इसे ओस में, माता के दूध में या जल में घिसकर (पत्थर पर घिसें) नेत्रों में आंजें तो घाव वाला फूला (सव्रण शुक्र) १ मास में ठीक होता है। खाने को सु. शा. सप्तामृत लौह २ रत्ती गोघृत १ तोला से दें।

बुढ़िया के काजल

रस रूप अञ्जन को ही रसक्रियाञ्जन या काजल कहते हैं। ये काजल सुश्रुत में बहुत से हैं। विहार की बुढ़िया मातामही गांवों में काजल बनाकर बच्चों के अनेक नेत्र रोगों में प्रयोग करती हैं वे ही बुढ़िया के काजल हैं। उत्तम सुपारी को १ सप्ताह तक दुध में सीझाते रहें। खोवा होवे पर दूध बदल देना चाहिए। खोवा को हटा देना चाहिए। सरसों के तेल में सफेद नये कपड़े की वर्ति बना कर जला देना चाहिए। इस तरह ५० वत्ती की राख संग्रह करें। १०० कागजी निम्बू का रस निकाल कर रक्खें। कांसा की थाली में सरसों के तेल में जलाई गई वत्ती की राख के साथ सुपारी को घिसें और निम्बू का रस देते जांय। सम्पूर्ण सुपारी जब घिस जाय तो काजल को उठाकर शीशा के चौड़े मुख पात्र में रक्खें और सुबह-शाम १ मटर बराबर कुकूणक (बच्चों के रोहा) वर्त्मगत सभी रोगों में पुरुष और स्त्रियों को भी लगावें। पोथकी, वर्त्म शर्करा, पक्ष्मकोष, पक्ष्मव्रण को नष्ट करता है। अर्म को हटाता है। जाड़े के दिनों में सुपारी सात दिन में ही दूध में सीझाने से सीझ जाती है पर गर्मी के दिनों में ज्यादा दिन तक सीझानी पड़ती है। बड़ी सुपारी सुपुष्ट ताजी लेनी चाहिए। वत्ती १२ अंगुल की ५० बनाकर पूरा राख बना लेना चाहिए।

अजन शब्द से ज्वर में प्रलाप निवारक, भुग्ननेत्र सन्निपात निवारक, निद्राकारक अंजनों को भी लिया जाता है। श्वसनक ज्वर (न्यूमोनियां) में भी छाती पंजरा पीठ गले में लगाने वाले जो मलहर (मलहम) होते हैं उन्हें भी अंजन कहते हैं। अमृतांजन तो प्रसिद्ध ही है। पर ये सब सम्प्रति प्रतिपाद्य विषय नहीं हैं। देखा गया है कि मद्य घी १-१ भर लौंग फुलाया हुआ कांच को घिस करके वृश्चिक दंश में नेत्र में आंजने पर दंश की पीड़ा कम जाती है एवं विष धीरे-धीरे उतर जाता है। यह भी अंजन ही है।

सौश्रुतीय अंजन

मधुकं रजनीं पथ्यां देवदारु च पेषयेत्।
आजेन पयसा श्रेष्ठं अभिष्यन्दे तदञ्जनम्॥

मुलहठी १ भर, हल्दी, छोटी हर्रें, देवदारु १-१ भर कूटकर वस्त्रपूत बकरी के दूध से तीन दिन पीस कर निम्बोलीवत् वर्ति बनाकर छायाशुष्क करके रखें एवं अभिष्यन्द रोग में खासकर वातजाभिष्यन्द में जिसमें आँख में, ललाट, अपांग और नेत्रगोलक में दर्द हो, वकरी के दूध, ओस, मातृस्तन्य, पानी में से किसी से घिस कर ४ बार ६ घण्टे पर आंजें। लाभ देखा गया है।

स्नेहांजन

चक्रपाणि संस्कृत टीका चरक में एवं उत्तरतंत्र सुश्रुत नवम अध्याय के सोलहवें श्लोक की टीका में—

ताम्रपात्रस्थितं मासं सर्पिः सैन्धव संयुतम्।

लिखा है। इसका मेरे घर में प्रयोग होता है। हजारों वर्षों से मेरे घर में सब वैद्य होते आ रहे हैं। विरासत में भी आयुर्वेद मुझे मिला है। वैद्य सुदर्शन मिश्र, वैद्य वैजनाथ

मिश्र, वैद्य रामनाथ मिश्र, वैद्य भगवन्त मिश्र, मुरलीधर मिश्र, दुःखेश्वर मिश्र, वैद्य नह्नकुमिश्र, राजेश्वर मिश्र, युगेश्वर मिश्र ये सब मेरे पूर्वज इस सर्पि को अभिष्यन्द में में प्रयोग करते आ रहे हैं। मेरे तीनों छोटे भाई श्री प्रमोद शरण मिश्र साहित्य-सांख्ययोग, आयुर्वेदाचार्य, जी.ए.एम.एस. (फ्यानर्स) साहित्यालंकार एवं अवधकिशोर मिश्र, शम्भु-शरण मिश्र शास्त्री वैद्य भी इसे प्रयोग करते हैं। एक तांबा के पात्र लेकर उसमें गाय के घी १ सेर, सैंधा नोन १० तोला के वस्त्रपूत चूर्ण मिलाकर वर्षों बन्द कर रखें। यह कौम्भस्नेहाञ्जन कौम्भघृत से प्रसिद्ध है। अभिष्यन्द, वात, पित्त, कफ के हों या सन्निपातिक हों तो इसे मटर बराबर ६-६ घण्टे पर तीन बार आंजें। बड़ा लाभ करता है। शास्त्र में मासपर्यन्त ही लिखा है पर वर्ष भर का सैंधव सर्पि ताम्रपात्र स्थित घृत ज्यादा लाभ करता है। दम्मा, कास श्वसनक ज्वर (न्यूमोनियां) में बड़ा ही सुन्दर यह पीठ पंजरा, छाती में, कण्ठ में लगाने का लेप है। तुरन्त लाभ करता है, ३-३ घण्टे पर पीठ पंजरा छाती में मलें।

अंजन के आवस्यिक काल

क्षयक्तरूपेषु दोषेषु शुद्ध कायस्य केवले।
नेत्र एव स्थिते दोषे प्राप्तमञ्जनमाचरेत् ॥

अञ्जन प्रयोग करने के पूर्व आवश्यक विरेचन, शिरो-विरेचन, निरूह जरूरत अनुसार कराकर काया को शुद्ध करलें। श्वेत मण्डल, कृष्ण मण्डल, तारामण्डल में रोग के दोष स्थित हों तब अञ्जन लगावें।

क्रियारूप से अंजन के भेद

१—लेखन अंजन। २—रोपण अंजन। ३—प्रसादन अंजन के रूप में तीन प्रकार की अंजन क्रिया है।

लेखन अंजन—मधुर रस रहित पांच रसों के द्रव्यों में जो लेख्य हों उन्हें लेखन में अंजन लगावें। वात में अम्ल लवण, पित्त मे रक्त दोषों मे तिक्त कषाय रस युक्त अंजन, श्लेष्मा में कटु तिक्त रस द्रव्य, सन्निपातज सेल रोगों में रसद्वयं भयं वा प्रयुक्त करें। लेखनं अञ्जनं नयनस्य रिक्ती-करणं दोष स्राव णंवा।

रोपणांजन—कषाय तिक्त द्रव्य स्नेह युक्त रोपण है। यह दृष्टिबलवर्धक शैत्यात् वर्ण्य है।

प्रसादनांजन—मधुर द्रव्य घृत युक्त नेत्र स्वच्छकारक है। नेत्रको स्निग्धकारक है। अंजनानि प्रयोज्यानि ब्राह्म सामाह्न रात्रिपु। प्रातः सायं-रात में अंजन लगावें।

सोना, चांदी मेषश्रृङ्ग या शाहिल के कांटा, तामा, वैदूर्य, कांसा, लोहा की शलाका बनावें। रोपण में लोह शलाका, लेखन में ताम्रा, प्रसादन में सुवर्ण की शलाका लें। अभाव में अंगुली ही शलाका है। आजकल रांगा सीसा की शलाका बनाते हैं।

केषां अंजनं नेष्यते

श्रमोदावर्त रुदित मद्य क्रोध भय ज्वरैः।
वेगाघात शिरो दोषैश्चार्तानां नेष्यते अंजनं।
राग रुक् तिमिरा स्राव शूल संरम्भ संभवात ॥

जो थका हो, जिसका पेट फूला या उदावर्त रोग हो, जो रोया हो, मद्यपीया हो, क्रोध में, भय में, सामान्यज्वर या भय ज्वर में, शिरोदोषों से पीड़ित हो, वेगावरोधज रोगों से आक्रान्त में अंजन लगाने से आंखों में लालिमा, दर्द, अन्धकार, आंसुस्राव, पीड़ा शोथ आदि उपद्रव हो जाते हैं।

रोगानुसार, अवस्थानुसार अंजनोपसर्ग

निद्राक्षय में अंजन लगाने से निमेष उन्मेष कार्यों में हीन शक्ति हो जाती है। आंधी में या प्रबल वात में दृष्टि का बल क्षय होता है। धूलि-धूप से उपहत नेत्रों में अंजन से आंख में लालिमा, स्राव अधिमन्थ हो जाता है। नस्य के बाद अंजन लगाने से नेत्र में दर्द और शोथ हो जाता है। शिरःशूल में लगाने से शिरःशूल बढ़ जाता है। सूर्य न उगने पर, अति ठंडक में सिर से स्नान करने पर अंजन का प्रयोग दोष का उत्क्लेश करके अकिंचित कर होता है। अजीर्ण में भी किंचित् लाभकर होता है। दोषों के वेगों के उत्कर्ष में वेगानुसार रोग होते हैं। अतः अञ्जन का प्रयोग सोच समझकर सावधानी से करें। अञ्जन जन्य व्यापदों को सेक, आश्च्योतन लेप से आराम करें। संक्षेप में लिख रहा हूं। लेखन, रोपण, प्रसादन अंजनों के अति-योग, हीनयोग, मिथ्यायोग से जायमान उपद्रवों की भी चिकित्सा सेक, आश्च्योतन लेप से करें।

—श्री दारोगा मिश्र वैद्य जी. ए. एम एस.
चिकित्साध्यक्ष—श्री दानूलाल जैन, चिकि०
रमना (गया)
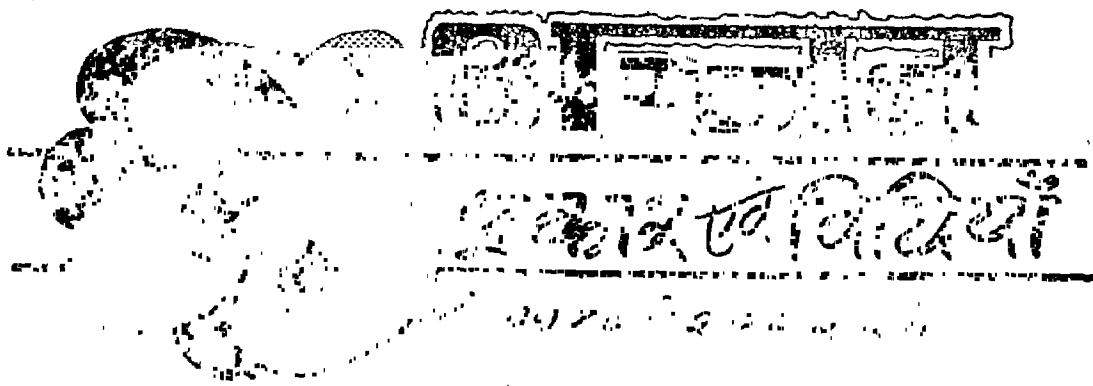
अंजन उन सभी औषधियों को कह सकते हैं जो आंखों में आंजी या लगायी जाती हैं। मर्मयोगों और कार्यों पर तीन नाम प्रसिद्ध हैं। लेखन (खुरचने) वाले अञ्जन या मरहम का व्यवहार आंखों से मैल (कीचड़) आदि खुरचकर निकालने के लिए होता है। उसी प्रकार घाव से मवाद और बदगोस्त खुरचकर निकालने के लिये लेखन मरहम का प्रयोग होता है जिसमें कपाय, खट्टी और नमकीन चीजों का प्रयोग मिश्रण के रूप में होता है। वह लेखन है तूतिया, फिटकड़ी, कसीस आदि अनेक चीजों में कषाय और अम्ल रस होता है। लेखन से जब विकार घट जाता है और आंखों का घाव स्वच्छ हो जाता है, तब रोपण (भरने) के लिए जिन अञ्जन या मरहम का प्रयोग होता हैं वह रोपण कहलाता है। तिक्त चीजों का मिश्रण रोपण अञ्जन या मरहम में होता है। घाव पर नीम की पत्ती पीसकर बांधी जाती है जिससे घाव तिक्त होकर कीड़े रहित अवस्था में भर जाये। रोपण अञ्जन में भी निम्ब का प्रयोग होता हैं। मधुर और शीतल चीजों से बने अंजन को प्रसादन कहते हैं। निरोग आंखों में निरोगता को स्थाई रखने के लिए ही प्रसादन का प्रयोग होता है। सदैव निरोग (स्वस्थ) आंखों में लगाने वाले अंजन को प्रत्यांजन कहते हैं।

लेखन अंजन को ताम्र की सलाई से लगाया जाता है। ताम्र लेखन है ताम्र से ही तूतिया बनाई जाती है। इसका मूल पाठ अं. अं. स. अ. ३५ में है। रोपण अंजन लोहे की सलाई से लगाया जाता है। लोहा में रोपण का गुण महान है। इसीलिए रोपणांजन को लोहा की सलाई से लगाया जाता है। प्रसादन अंजन सोना-चांदी की सलाई से लगाने का विधान है। इनमें भी कपाय रस की विद्यमानता को निघन्टु बतलाता है। लोहा भी कषाय रस है। अंजन की तीन किस्में हैं—(१) पिण्ड, गोली और वर्ती, (२) रसांजन है काजल और मधु युक्त, (३) चूर्ण (सुरमा)।

लोहा की उत्पत्ति पत्थर से होती है और वह टूटता भी पत्थर से ही है। नेत्र की उत्पत्ति तेजस (अग्नितत्व) से हुई है। दर्शन शक्ति अग्नि (आलोचक पित्त) है, इसका नाश होता है तेजस शक्ति की वृद्धि और विकृति से। तेजस की उष्णता की साम्य अवस्था को कायम रखता है जल तत्व। तीक्षणांजन लगाने से जल तत्व का स्राव हो जाता है। जिससे आंखें निर्मल हो जाती हैं। और बाहरी सूर्यादि के ताप का हमला होता है। जिससे आलोचक पित्त भड़क उठता है। और आंखें सदा के लिये चली जाती हैं। इसीलिए दिन में तीक्षण अंजन का व्यवहार शास्त्र विरुद्ध है। रात में तीक्षणांजन लगाने का विधान है, क्योंकि जो जल तत्व का क्षय होता है, उसकी पूर्ति रात की शीतलता से हो जाती है। यही नहीं बल्कि आंखों को नयी शक्ति मिलती है। यह भूलना नहीं चाहिये कि पांच तत्व से ही सृष्टि की रचना हुई है। पांच तत्व से ही सृष्टि का व्यापार चलता है। इनमें विकार आने से सृष्टि का नाश होता है। इन्हीं पंच तत्वों को समानावस्था में ला देने से रोगों का खात्मा होता वे। कोई भी बीमारी नहीं है जिसको कफज, पित्तज, वातज से सम्बोधित न किया गया हो। अगर नेत्र की बीमारी कफज है तो दिन में भी तीक्षणांजन लगाया जा सकता है। अत्यधिक शीतकाल में तीक्षण अंजन से कोई लाभ नहीं होगा बल्कि जमे हुये दोषों का स्राव न होने से उल्टे नेत्र में स्तब्धता, कण्डू, और जड़ता आ जाती है।

वर्तमान युग बिजली का है, बिजली के अभाव में आधुनिक संसार पंगु बन जायेगा। मगर बिजली के तीव्र प्रकाश में तीक्ष्णांजन लगाना मना है। भयभीत और मलमूत्रादि के वेग की अवस्था में अंजन नहीं लगाना चाहिये। तुरन्त खाने-पीने के बाद अथवा भूख प्यास की हालत में भी अंजन नहीं लगाना चाहिये। वमन-विरेचन के तत्काल, स्नान के तुरन्त बाद अंजन नहीं लगाना चाहिए। अंजन लगाकर तत्काल ही स्नान नहीं करना चाहिए। क्लांत, अधिक जागरण, बादल से ढके सूर्य की अवस्था में अंजन नहीं लगाना चाहिये। भूत-बाधा हारक, विषनाशक और ज्वरादि अवस्था में छाया में ही लगाना चाहिए। अत्यन्त शीतल और अत्यन्त तीक्ष्ण अंजन नहीं लगाना चाहिये जिसे आँखें बर्दास्त न कर सकें। इस विषय में धन्वन्तरि भगवान का आदेश सु. उ. अ. ८ में देखें। अंजन लगाकर हलक खोल देने से आंसू के साथ अंजन बह जायेगा। इसीलिए अंजन लगाकर आँखें बन्द रखना और भीतर-भीतर संचालित करना चाहिये। ताकि अंजन चारों तरफ फैल कर शोषित हो जाय। जब आंखों में किरकिराहट आदि न रहे तब आंखें खोल दें। इसके बाद आइग्लास के माध्यम से शीतल जल से आंखें धो दें। फिर सफेद साफ सूखे मुलायम वस्त्र से पानी सुखा लें। अन्यथा संताप वगैरह होने का डर रहता है। शीत जल से आंखें त्रिकाल सींचना चाहिए। भोजन के बाद हाथ मुँह धो लेने पर दोनों हथेलियों को आपस में रगडें, फिर दोनों आंखों पर लगा दें। रात में सोते समय त्रिफला चूर्ण को घृत से तर करके दूध से लेते रहने से नेत्र रोग होने का भय नहीं रहता। देखिए दिनचर्या अध्याय ३ और सु. उ. अ. १८/३१।/ प्रायः नेत्र चिकित्सा मे आश्चोतन तर्पण आदि की आवश्यकता पड़ती है।

यूनानी का प्रसिद्ध चिकित्सक अरस्तू की माता अंधों का इलाज करती थीं। लुकमान का बेबाक चेला लुकइया अंधों की कतार में बैठ गया। जब अंजन की सलाई सामने आई तो अपने मुख में सुरक लिया। यहां तक कि खराध-हार (वमन) से निकला केंचुआ और कद्दू दाने (उदर कृमि) तक का नाम बता दिया। आयुर्वेद में ऐसे अंजनों की कमी नहीं है। चन्द लिख देना कर्त्तव्य समझा—

गृद्धाञ्जन

जवान सुन्दर जिसके गालों पर लाल झब्बू लटक रहे हों उस गृद्ध को मार कर उसके गर्दन से अलग शिर काट लें। उसके मुख में निर्मलीफल और काला सुरमा पीसकर भर दें और सम्पुट कर गजपुट में फूंक दें। फिर रगड़ कर छानकर आंखों में गौघृत कमल मधु संग या यों ही सुरमा की तरह लगाया करें। तत्काल की फूटी आंखें भी फौरन मिल जाती हैं। मैंने इससे असाध्य तिमिर रोगियों को अच्छा किया है।

सर्पांजन

काले सांप की चर्बी, शंख भस्म, निर्मली का फल और रसांजन खूब मर्दन कर आँजने से तत्काल नष्ट हुई दृष्टि मिल जाती है। मैंने इससे चांदनी वाले रोगी को ठीक किया है।

काला सुरमा और घृत मर्दन कर मरे हुए काले सांप के मुख में भर दें। शराव सम्पुट कर गजपुट में फूंक दें। शीतल होने पर निकाल लें। भस्म के बराबर वजन में जटामांसी पीस छानकर काले सर्प की चर्बी संग अंजन लगाने से फूटी आँख भी स्वस्थ बन जाती है। मोतियाबिंद के आपरेशन के बाद जब चश्मा लगाने का नम्बर आता है तब इस अंजन से रोशनी पहले जैसी स्वस्थ हो जाती है। बिना चश्मा के ही पहले जैसा दीखने लगता है।

सर्पांजन नं० २

काला सांप की चर्बी शंख निर्मली तथा काला सुरमा समभाग पीस कर अंजन बना कर लगाने से दर्शन शक्ति जागृत हो उठती है।

मरा हुआ काला सर्प १, बिच्छू काली ४ दूध के घड़ा में डाल दें। २१ दिन बाद मंथन कर मक्खन निकाल लें। थोड़ा-थोड़ा मुर्गे को खिलावें। जो मुर्गा बीट करे उसको संचित करते रहें। पीसकर लगाने से अंधा भी देखने लगता है।

नोट—यह सारे अंजन तिमिर रोग में उपयोगी साबित हुए हैं।

—वैद्य श्री भवानी शङ्कर शास्त्री
रसड़ा (बलिया) उ० प्र०
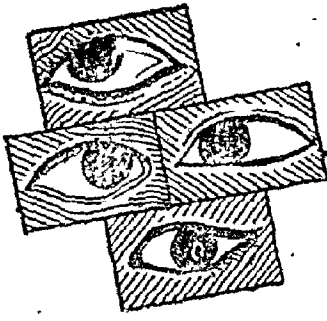
श्री डा० चांद प्रकाश मेहरा आयु० वारिधि

नेत्र संचालन व्यायाम—

(क) किसी निर्जन स्वच्छ स्थान में (जहाँ धुआं या धूल न हो) पद्मासन या सिद्धासन में बैठकर नेत्रों को दशों-दिशाओं में घुमाओ। फिर चापाकार ⌒ में (in the form of an arc) में अपनी दृष्टि को ऊपर आकाश की ओर घुमाओ। फिर अपनी दृष्टि को नीचे भूमि की ओर ⌣ में घुमाओ। तत्पश्चात् सामने की ओर ऊपर नीचे ↑ ↓ की ओर देखें। इसके बाद नेत्रों को संकुचित एवं संपुटित करके नेत्र से नासिका में गये हुए छिद्रों को नेति पात्र की टूटी से शीतल जल से धोवें। फिर नेत्रों को घुमा कर थोड़ी देर तक नेत्रों को बन्द करके नेत्रों को थोड़ी देर आराम दें। फिर नेत्रों से प्रायः सभी कार्य ले सकते हैं।

(ख) सुखासन में बैठ कर अपनी दृष्टि नासाग्र पर जमायें। ऐसा दो मिनट करें फिर आंखें मूंद लें। आँखों को बीच-बीच में आराम दें। बारम्बार पलक झपकाने से नेत्रों को आराम मिलता है।

पुनः अपनी दृष्टि भ्रूमध्य (भृकुटि) पर जमायें। ऐसा करने के लिये दायीं आँख की पुतली को भ्रूमध्य पर जमायें, बायीं आँख की पुतली तो स्वयं ही भ्रूमध्य पर केन्द्रित हो जायेगी। (ऐसा करने से मस्तिष्क कमजोर नहीं पड़ता) ऐसा दो मिनट करें। फिर आँखें मूंद लें। आंखों को बीच-बीच में आराम भी दें।

तत्पश्चात् आंखों को पहले दायीं ओर घुमा कर दायें स्कन्ध को देखें। ऐसा दो मिनट करें। फिर बायीं ओर दृष्टि घुमाकर बायें कंधे पर दृष्टि जमायें।

(ग) पहले आँखों को जितनी दूर सम्भव हो उतनी दूर बायीं ओर ले जाओ। ऐसा दस बार करो। फिर आँखों को धीरे-धीरे दस बार इतना नीचे और ऊपर ले जाओ जितना संभव हो।

तत्पश्चात् आँखों को बायीं ओर तिरछा करके फिर नीचे ले जाकर दाहिनी ओर के निम्न कोण में ले जाओ। ऐसा दस बार दुहराओ। फिर दस बार आँखों को गोले में घुमाकर फिर उनको उल्टी दिशा में दस बार घुमाना चाहिए। इसके बाद दस बार जोर से आंखें बन्द कर जोर से खोलना चाहिए।

कुछ दिन उपरोक्त व्यायामों का अभ्यास करने से नेत्रों के स्नायु सबल हो जाते हैं और साथ ही साथ नेत्रों की ज्योति भी बढ़ जाती है।

लगातार पलकों को चलाने से आँखों की शक्ति बढ़ती है। पलकों को चलाने की क्रिया से आँखें हल्की रहती हैं और उनकी रोशनी क्षीण नहीं होती। रोहे की चिकित्सा में भी यह अभ्यास लाभदायक है।

आंखों को आराम देना (हथेलियों से आंखों को ढंकना Palming)

आँखों की उत्तेजित अवस्था ही अल्प दृष्टि का प्रधान कारण है। वह उत्तेजना दूर हो जाये तो आँखों की ज्योति बढ़ जाती है। इसका सर्वश्रेष्ठ उपाय अपनी हथेलियों से आंखों को ढंक लेना (palming) है। एक हाथ की उंगली दूसरे हाथ की उंगली पर रख कर इस तरह आंखों को ढंक लें कि दायें हाथ की हथेली दांयी आंख पर, बांये हाथ की हथेली बांयी आँख पर रहे और आँख पर कोई दवाव नही पड़े। इसलिये उंगलियों को थोड़ा सा कटोरियों के समान कर लेना चाहिए।

दोनों हाथों की हथेलियों से दोनों आँखों को इस प्रकार ढकें कि बाहर की रोशनी आँखों के भीतर न

पहुँचे । अब आँखों को बार-बार खोलें और बन्द करें। एक-दो मिनट करने के बाद हाथों को झटके से हटा लें ताकि रोशनी आँखों को एक साथ मिले। इस क्रिया से नेत्रों की थकावट दूर होती है।

आँखों पर पानी का छींटा देना भी उनकी थकावट दूर करने का एक प्रधान उपाय है। दोनों आँखें मूंद कर आँख के ऊपर दोनों हाथों से पानी का छींटा देना चाहिये। जब भी आँख गर्म हो जाती है या उसमें थकावट आ जाती है तभी दोनों आँखें बन्द कर उनके ऊपर पानी का छींटा मारने से बहुत लाभ मिलता है। प्रत्येक बार कम से कम पन्दह बार शीतल जल के छींटे मार कर आंख को धो लेवें।

नेत्र मालिश—

रात को सोते समय और सुबह-सुबह बिस्तर से उठकर बहुत ही हल्के हाथों से उंगलियों को पलकों पर फेरें। कुछ क्षणों के अन्तर से तीन चार बार ऐसा करें। आंखें मूंदकर उंगलियों से पलकों को थपथपायें।

सुषुम्णा नाड़ी में स्तब्धता तथा हस्ति जिह्वा और गांधारी नाड़ियों की विकृति एवं स्तब्धता के कारण नेत्रों में दर्द होने लगता है। हाथ की तर्जनी और मध्यमा उंगलियों से गांधारी और हस्ति जिह्वा नाड़ियों को 'अंगुलिवेधन' क्रिया द्वारा दबाने या मलने से पांच मिनट में ही वह दूर हो जाता है।

नेत्र ज्योति बढ़ाने का सरल उपाय (धूप स्नान)—

प्रतिदिन सूर्योदय अथवा सूर्यास्त के समय आँखों को बन्द कर सूर्य की ओर मुंह करके खड़े होकर पांच-छः मिनट के लिये सूर्य का प्रकाश आंखों पर लेना चाहिये और मन ही मन यह भावना करनी चाहिये कि मेरे शरीर में सूर्य की प्राण शक्ति निरन्तर एकत्रित हो रही है तथा मेरे नेत्र पूर्णतया नीरोग हैं और उनकी ज्योति निरंतर बढ़ रही है।

साधारणतः प्रतिदिन एक या दो बार आंखों पर सूर्य का प्रकाश ग्रहण करने से ही केवल पांच छः दिन में ही नेत्र ज्योति बढ़ने लगती है।

धूप स्नान लेने के बाद बन्द आंखों पर पानी का छींटा देकर उन्हें शीतल कर लेना चाहिये।

आंख के साथ शारीरिक स्वास्थ्य भी ठीक रखना चाहिये। कब्ज को दूर रखें और सुपाच्य पौष्टिक पदार्थ भोजन में लें। विटामिन 'ए', हरी सब्जियां, दूध, दही, आदि नेत्र रोगों में लाभदायक हैं।

आंखों की जलन (गर्मी)—

चन्द्रमा पर त्राटक करने से नेत्रों की गर्मी दूर होती है। सुबह हरी घास पर पड़ी ओस पर नंगे पांव चलने से भी नेत्रों की गर्मी दूर होकर उन्हें तरावट मिलती है।

द्वैत दृष्टि और दृष्टिमांद्यता—

इन दोषों में सूर्योदय और सूर्यास्त के समय सूर्य पर त्राटक करने से लाभ मिलता है। किसी विशेषज्ञ की देख रेख में ही करना चाहिये अन्यथा हानि की संभावना है।

केले के पतले हरे पत्ते को आंख के आगे करके सूर्य का प्रकाश ग्रहण करना अथवा जल में (नदी, तालाब या जल से भरे टब में) सूर्य के पड़ते हुये अक्स पर त्राटक करने में किसी प्रकार की भी हानि की संभावना नहीं रहती।

तिरछापन (भैंगापन Squint)—

पैदा होते ही बच्चा जिस ओर देखता है कभी-कभी दृष्टि उसी ओर स्थिर हो जाती है और भैंगापन या तिरछापन का दोष उसकी दृष्टि में आ जाता है।

इसको दूर करने के लिये बच्चे को जिस ओर उसकी आंख की पुतली घूमी हो उसके विपरीत दिशा में देखने को प्रेरित करें। ऐसा करने के लिए आप बच्चे की आंख के ऊपर [भौंह या भृकुटि के ऊपर] जिस ओर उसकी पुतली घूमी हो उसकी विपरीत दिशा में काजल का टिमकना (एक मोटा बिन्दु) बना दो ताकि वह उस ओर प्रायः देखेगा और कालान्तर में उसकी दृष्टि सीधी हो जायेगी। साथ ही उसे नेत्र संचालन व्यायाम करायें।

फूला, सफेदी—

आंखों में श्लेष्मा पैदा होने से कुछ दिन में पतली झिल्ली का रूप लेकर पुतलियों को ढक देती है और कालान्तर में मोटी तह सी बन जाती है जिसे माड़ा, फूला कहते हैं। इससे बचने के लिये नेत्रों को जल से धोवें और नेत्र संचालन व्यायाम करने चाहिये।

जल नेति—

नेति पात्र (पीतल या तांबे का टोंटीदार लोटा या

करवा) में आधा किलो गुनगुना गर्म जल (या इतना गरम जितना बरदास्त कर सको) भर लें और एक चम्मच सेंधा नमक उसमें अच्छी तरह घोल लें।

फिर नाक में टूटी को लगाकर सिर को झुकाकर मुंह से सांस लें (नाक से सांस न लें), जल स्वयं ही दूसरी नाक से गिरने लगेगा। इसी तरह दूसरी नाक से भी करें।

नेति क्रिया के बाद भस्त्रिका करें (जोर जोर से सांस खींचे और तुरन्त छोड़ दें।) तथा दायें नथुनों को बन्द करके बायें नथुने को तीन-चार सिनकें, फिर बायें नथुने को बन्द करके दायें नथुने को तीन-चार बार सिनकें। ऐसा करने से यदि जल का कुछ अंश भ्रूमध्य पर रह गया होगा तो वह बाहर आ जायेगा अन्यथा सिर दर्द हो जायेगा। तत्पश्चात् एक बूंद शुद्ध गाय का घी नाक में सुड़क लें। इससे खुश्की न होगी।

इस क्रिया से आंख की रोशनी बढ़ती है। दिमाग की शक्ति बनी रहती है। जुकाम, कफ का नाश होता है और श्वासोच्छ्वास क्रिया ठीक रहती है।

सूत्र नेति—

यह सूत को बटकर बनाई जाती है और लगभग १८-१९ इन्च (४५ सेन्टीमीटर-४८ सेन्टीमीटर) लम्बी होती है। प्रायः स्थानीय योगाश्रमों से प्राप्त की जा सकती है। इसको नाक से ले जाकर मुंह से निकालते हैं। पहिले दाहिनी नाक से क्रिया करनी चाहिए। सूत्र नेति को धीरे-धीरे नाक में चढ़ाना चाहिये। फिर मुंह खोलकर अपनी तीन उंगलियों को गले के अन्दर देकर नाक के द्वारा गले तक पहुँचे हुये सूत्र को पकड़ कर धीरे-धीरे मुंह के बाहर निकाल लेना चाहिये। फिर उसके दोनों सिरों को दोनों हाथों से पकड़कर धीरे-धीरे नाक और मुंह के हिस्से को साफ करना चाहिये। इसी तरह बायीं नाक से करें। शुरू में यह लगती है अतः नाक में जरा सी एनीथेन मरहम (Anethain ointment—Glaxo) मल लें और फिर सूत्र को नाक में चढ़ावें, ऐसा करने से सूत्र नाक में लगता महसूस नहीं होता।

नये सीखने वाले पतले रबड़ के कैथीटर से अभ्यास कर सकते है। यह क्रिया भी कफ, जुकाम नाशक है और दिमाग तथा नेत्रों की शक्ति बढ़ती है।

नेत्र प्रक्षालन—

प्लास्टिक या काँच के आईग्लास में कपड़े से छना त्रिफला जल अथवा गुलाब जल को भरकर नेत्र पर लगा कर उसमें आंख को खोलें और बन्द करें। इस प्रकार दोनों नेत्रों को बारी बारी से धोने से नेत्र रोग दूर होते हैं।

आंखों में गीद का बार बार बार आना, कुछ समय पढ़ने के बाद आंखों में पानी आना, सिर दर्द होना, आंख लाल होना—ये दोष नेत्र प्रक्षालन और नेत्र मालिश से दूर होते हैं।

आंखों से धुंधला दिखाई देना, कम दीखना एवं मोतिया बिन्दु का आरम्भ होना आदि जल नेति, सूत्र नेति नेत्र मालिश, चक्षु दृष्टिपात अथवा नेत्र संचालन व्यायाम से आराम होते हैं।

हस्तिजिह्वा और गांधारी नाड़ियों में शिथिलता आने से नेत्र एवं मस्तिष्क में शिथिलता और ज्योति क्षीणता दोष आने लगते है। इनको दूर करने में महामुद्रा, पश्चिमोत्तानासन तथा नेत्र संचालन व्यायाम उपयोगी होते हैं।

ठाकुर रघुवीरसिंह, जावली भवन, अयवर को अधिमन्थ (Glaucoma, काला मोतिया, काला पानी) की अग्निदग्ध चिकित्सा—

अधिमंथ रोगी को इस चिकित्सा से तत्काल लाभ होता है। पीड़ा तत्क्षण शांत हो जाती है और नेत्र में जितनी ज्योति बची रहती है। वह सुरक्षित हो जाती है। इसकी क्रिया बहुत साधारण है।

विधि—एक तार के टुकड़े में दो यव भर के व्यास का छल्ला बना लो। फिर उसको अग्नि में लाल कर लो और जिस नेत्र में पीड़ा है उस कनपटी पर जांच करके जहां नस तड़क (फड़क) रही है उस पर रख कर निशान लगावो तथा उस पर गरम छल्ले से दाग दो।

जख्म में मवाद न पड़े इसलिए रोगी को चाहिये कि उस दागे हुए स्थान पर जब तक वह सूख न जाये पानी न लगने दे तथा सोते समय यदि असावधानी से जख्म में कुछ लगने का अंदेशा हो तो हरी नीम की पत्ती बांध दो। पांच-सात दिनों में ही जख्म सूख जायेगा और रोग सदैव के लिए शांत हो जायेगा।

नेत्र अभिष्यन्द, फूला पर वैद्य आदित्य भाई पटेल का योग—

शिरीष की ताजा पत्तियों को पीसकर उसके कल्क को स्वच्छ कपड़े के बीच रख पोटली सी बनाकर रात को सोते समय आंख पर बांधें। ऐसा तीन-चार दिन करने से अभिष्यन्द, नेत्र का फूला दूर हो जाते हैं। यह आंख में जलन करती है। चिंता न करें, कोई हानि नहीं होगी।

नेत्रों की रड़कन

चने की दाल की पोटली बना कर आँखों पर बांधने से राहत मिलती है।

कभी कभी गलती से अल्ट्रा वायोलैट रेज (naked beam of ultraviolet rays from mercury or carbon arc without wood's filter) की ओर देखने से नेत्रों में भयानक रड़कन हो जाती है। चने की दाल या मूंग की दाल की पोटली आँखों पर बाँधने से इस रोग में आशातीत लाभ मिलता है।

अंगूठे वाली खड़ाऊं के पहनने से हुई दृष्टि हीनता

यदि किसी सज्जन की नेत्र ज्योति अंगूठे वाली खड़ाऊं के निरन्तर प्रयोग से लुप्त हो गई हो तो उन्हें चाहिए कि खड़ाऊ पहिनना छोड़ दें और अपने पैर के अंगूठों के नाखूनों पर आक का ताजा दूध रोज सवेरे एक बार भर दिया करें। भगवद् कृपा से २०-२५ दिन में ही आँखों की रोशनी वापस आ जायेगी।

अंगूठे वाली खड़ाऊं पहिननी हों तो उसके तले पर रबड़ लगवा कर पहिनें अथवा जम्मू-काश्मीर की लकड़ी की ऊँची खड़ाऊं पहिनें, इसमें अंगूठा नहीं होता है बल्कि रबड़ के स्ट्रेप लगे होते हैं।

निम्नलिखित साधारण नियमों का पालन करने से नेत्र रोग पास नहीं फटकेंगे।

प्रतिदिन सवेरे बिस्तरे से उठते ही मुंह में जल भर कर मुंह बन्द करके आंखें खोल कर शीतल जल के छींटे मारकर नेत्रों को धोवें।

२. जब कभी भी पानी पीवें तभी आँखों को भी पानी के छींटे मारकर धो लिया करें।

३. महीने में एक दो बार तीव्र नस्य लेकर मस्तिष्क से कफादि दोषों का स्राव कर लेने से नेत्र कफादि दोषों से बच जाते हैं।

४. पैरों के तलुओं की मालिश करने से नेत्रों को बहुत लाभ मिलता है। क्योंकि पांवों की दो मोटी नसें मस्तिष्क में गई हैं और बहुत सी नसें आँखों तक पहुंची है अतः मालिस की वस्तुओ तथा लेप का असर नसों द्वारा नेत्रों तक पहुँचता है। अतः पाद तल में प्रतिदिन सरसों के तेल की मालिश करनी चाहिए। इससे नेत्र ज्योति क्षीण नहीं पड़ती है और निद्रा भी अधिक आती है।

५. प्रतिदिन स्नान करते समय दोनों पैरों के अंगूठों के नाखूनों को तेल से परिपूर्ण कर उनकी मालिश कर दिया करें। इससे नेत्र तेजवान होकर बहुत दिनों तक कार्य के योग्य बने रहते हैं और नेत्रों में किसी प्रकार का रोग उत्पन्न नहीं होता।

प्रतिदिन स्नान करते समय पैर के अंगूठे और उंगली के बीच को खाई मे तेल की मालिश करने से वहाँ स्थित नाड़ी की मालिश होने से वीर्य स्तम्भन शक्ति प्राप्त होती है और नेत्रों की दृष्टि भी ठीक रहती है।

६. भोजन करने के उपरान्त पानी से हाथ धोकर दोनों हथेलियों को आपस में रगड़ कर, आंखों पर हल्के हल्के रगड़ने से दृष्टिमांद्यता दूर होती है।

७. प्रतिदिन सुबह-सुबह हरी घास पर पड़ी ओस पर नंगे पांव चलने से नेत्रों को तरावट मिलती है और उनकी ज्योति बढ़ती है। ओस की बूंदों को आँखों पर लगाना भी लाभदायक है।

—श्री डा० चांद प्रकाश मेहरा आयु० वारिधि
५५७-मल्होला स्ट्रीट, नई दिल्ली—५५
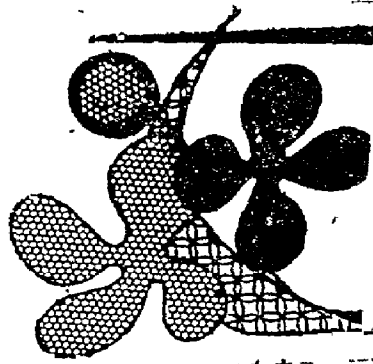
पुनर्नवा नेत्र नवा करोति

स्व० वैद्यरत्न कवि० श्री प्रतापसिंह रसायनाचार्य

श्रद्धेय कवि० प्रतापसिंह जी रसायनाचार्य को आयुर्वेद जगत अभी भूला नहीं है तथा आपने जो कार्य किये हैं उनके कारण कभी भुलाया भी नहीं जा सकता। आपको स्वर्गवासी हुये लगभग १० वर्ष हो गये। आपने अपने चिकित्सक जीवन ऋषिकेशस्थ बाबा काली कमली वालों के चिकित्सालय से प्रारम्भ किया। पश्चात् बनारस विश्वविद्यालय में आयुर्वेद विभाग के अध्यक्ष रहे। दहली में प्रसिद्ध आयुर्वेदिक चिकित्सालय मूलचन्द खैरातीराम आयुर्वेदिक चिकित्सालय के अध्यक्ष रहे। अपनी प्रतिभा के कारण आपने राजस्थान में आयुर्वेद के शीर्षस्थ पद के आयुर्वेद निदेशक को सुशोभित किया। आयुर्वेद के अनेक ग्रन्थ आपने लिखे। आयुर्वेद जगत से आपसे अभी बहुत ही आशायें थीं कि क्रूर काल ने आपको ग्रस लिया। 'धन्वन्तरि' पर आपकी सदैव ही कृपा दृष्टि रही। यह अमूल्य योग प्राणाचार्य के ऊर्ध्वजत्रुरोगांक से संग्रह किया गया है। प्रयोग अधिक व्यय साध्य नहीं है, हां! श्रम साध्य अवश्य है। लाभ प्राप्ति की इच्छा वालों को चाहिये कि इसे स्वयं ही निर्माण कर प्रयोग में लायें, अन्यथा लाभ अल्प ही होगा।

—दाऊदयाल गर्ग

प्राचीन चिकित्सकों का यह अनुभव सिद्ध वाक्य मेरे विचार में अनेक बार आया पर इसका प्रयोग कैसे किया जावे यह निश्चय नहीं हो सका। अनेक वृद्ध वैद्यों के साथ परामर्श करने पर इतना ही ज्ञात हो सका कि इसके मूल को घिस कर अञ्जन करने से नेत्र के अनेक रोगों में लाभ होता है। मैंने इसका अनुभव करने का निश्चय कर पुनर्नवा के अनेक मूल मंगाकर पोथिका, तिमिर, कांच, अव्रण शुक्र के रोगियों को देना प्रारम्भ किया। रोगियों के साथ सम्पर्क कायम रखा पर रोगी घिस कर मूल का अञ्जन करने में बड़े ही आलसी निकले, किसी ने दो दिन और किसी ने चार छः दिन मल कर के निराश होकर बैठ गये। इससे बार-बार प्रयत्न करने पर भी सफलता नहीं मिली पर मैं निराश नहीं हुआ और वैद्य हकीमों से पूछ ताछ करता ही रहा। एक दिन एक मित्र ने उर्दू के पत्र में यह नुस्खा दिखाया कि पुनर्नवा का रस, अभ्रक का रस समान भाग में लेकर बराबर का मधु मिलाकर अञ्जन करने से नेत्र रोगों में अद्भुत लाभ होता है। इस योग का निर्माण कर प्रयोग किया गया तो निःसंदेह बहुत लाभकारक सिद्ध हुआ और रोगियों को उपयोग करने में बड़ी सरलता हो गई। पर यह योग आंखों में लगता बहुत है। अत्यन्त तीक्ष्ण होने के कारण बहिरङ्ग (आउट डोर) रोगियों के लिये लगाना सम्भव नहीं हुआ। केवल अन्तरङ्ग (इन्डोर) रोगियों के काम का बन गया। इस प्रयोग की उपयोगिता देख कर भागलपुर (बिहार) निवासी रायबहादुर वंशीधर जी ढांढनिया महोदय ने इसके प्रचार का बड़ा यत्न किया और इस योग में अष्टमांश कपूर और षोडशांश पोदीने का सत

—शेषांश पृष्ठ १६४ पर देखें।

नेत्र रोगों की महौषधि
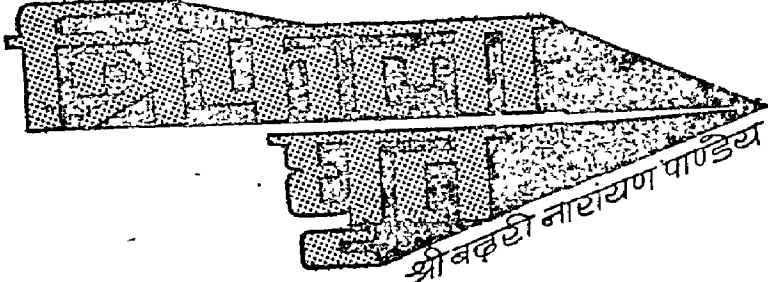
आयुर्वेद वाङ्मय में त्रिफला शब्द से हरड़ बहेड़ा और आँवला इन तीनों का समान भाग में सम्मिलित रूप को ग्रहण किया जाता है। त्रिफला त्रिदोष शामक होने के साथ-साथ नेत्र रोगों के लिए हितकर (चक्षुष्य) माना गया है। दूसरे शब्दों में त्रिफला नेत्र रोगों की एक परम महौषधि है। प्रत्येक प्रकार के नेत्र रोगों में त्रिफला विविध कल्पनाओं के रूप में प्रयोग होता है। ये विविध कल्पनायें त्रिफला के क्वाथ, त्रिफला निर्यूह, त्रिफला शीत कषाय, त्रिफला रस क्रिया, त्रिफला चूर्ण, त्रिफला घृत, महात्रिफलादि घृत आदि के भूरि-भूरि प्रयोग मिलते हैं।

केवल त्रिफला कल्क एवं क्वाथ के साथ घृत साधित कर उसका व्यापक प्रयोग नेत्र रोगों में प्राप्त होता है। यह सामान्य "त्रिफला घृत" के गुणों को और भी अधिक गुणकारी बनाने के उद्देश्य से आचार्यों ने उसमें अन्य तत्समान गुणकारी प्रभावशाली द्रव्यों का सम्मिश्रण कर उसे 'महात्रिफलादि घृत' के रूप में प्रयोग किया है। जो सामान्य त्रिफला घृत से अत्यधिक गुणकारी सिद्ध हुआ है। इसके वर्णनक्रम में निम्न वर्णन इसकी उत्कृष्टता को प्रमाणित करते हैं—

यावन्तोः नेत्र रोगाः तान् पानादेवापकर्षति।

मेरा उद्देश्य इसके घटक द्रव्यों का विस्तृत अध्ययन करना तथा उस संबन्ध में प्राप्त अनुभव को स्पष्ट करना है। शास्त्रों के अवलोकन के पश्चात् इसके विभिन्न स्थलों पर भिन्न-भिन्न पाठ प्राप्त होते हैं। सर्वप्रथम प्रयोग नेत्र विशेषज्ञ 'निमि' ने किया था। जिसका स्पष्ट उल्लेख गद निग्रह में प्राप्त होता है। यथा—

विदेहराज निर्दिष्टं दृष्टिनैर्मल्य कारकम्।

शार्ङ्गधर संहिता में स्नेह कल्पना प्रकरण (म. खण्ड) में 'त्रिफला घृत' के नाम से पाठ प्राप्त होता है। परन्तु यह सामान्य त्रिफला साधित घृत नहीं है, अपितु प्रायः उन सभी द्रव्यों का ग्रहण किया गया है जिसे अन्यत्र 'महात्रिफलादि घृत' के नाम में किया है। ठीक प्रायः यही योग 'गद निग्रह' के घृत प्रकरण में भी आया है बल्कि प्रक्षेप द्रव्य कुछ अधिक ही बताये गये हैं। भैषज्य रत्नावली में 'महात्रिफलादि घृत' (त्रिफलाद्यं घृतं महत्) नाम से वर्णित है।

यहां वर्णन सौकर्य तथा वैद्य समाज में प्रचलन की दृष्टि से भैषज्य रत्नावली के नेत्र रोग चिकित्सा प्रकरण में वर्णित 'महात्रिफलादि घृत' के पाठ को आधार मानकर ही यथाशक्ति वर्णन का प्रयास करूंगा। पाठ निम्न प्रकार है—

> त्रिफलाया रसप्रस्थं प्रस्थं भृङ्गरसस्य च।
> वृषस्य च रसप्रस्थं शतावर्याश्च तत्समम्॥
> अजाक्षीरं गुडूच्याश्च आमलक्या रसं तथा।
> प्रस्थं प्रस्थं समाहृत्य सर्वैरेभिर्घृतं पचेत्॥
> कल्कः कणा सिता द्राक्षा त्रिफला नीलमुत्पलम्।
> मधुकं क्षीर काकोली मधुपर्णी निदिग्धिका॥
> तत्साधुसिद्धं विज्ञाय शुभे भाण्डे निधापयेत्॥
>
> —भै०र० नेत्र रो० चि०

मूर्छित गोघृत, त्रिफला क्वाथ, भृङ्गराज स्वरस, वासापत्र स्वरस, शतावरी स्वरस क्वाथ, अजादुग्ध, गिलोय स्वरस, आंवले का स्वरस या क्वाथ १-१ कि० एवं कल्कार्थ पिप्पली, मिश्री, मुनक्का, हरड़, बहेड़ा, आंवला, नीलकमल, मुलेठी, क्षीर काकोली, मधुपर्णी (गिलोय), कण्टकारी सम्मिलित २५० ग्राम, इनका कल्क बनाकर घृत निर्माण विधि से घृत सिद्ध कर मात्रानुसार सुखोष्ण मधुर गोदुग्ध के साथ रोगी को देना चाहिए।

ज्ञानार्थ विभिन्न पाठों पर भी एक दृष्टिपात कर लेना अत्यावश्यक है। पाठ निम्न प्रकार हैं—

भैषज्य रत्नावली	शार्ङ्गधर संहिता	गदनिग्रह
१. (मूर्छित) गोघृत	+	+
२. त्रिफला क्वाथ	+	+
३. भृङ्गराज स्वरस	+	+
४. वासापत्र स्वरस	+	+
५. शतावरी स्वरस या क्वाथ	—	—
६. अजादुग्ध	+	+
७. गिलोय स्वरस	—	—
८. आंवले का स्वरस या क्वाथ	—	—
कल्क द्रव्य		
९. पिप्पली	+	+
१०. मिश्री	+	+
११. मुनक्का	+	+
१२. हरड़	+	+
१३. बहेड़ा	+	+
१४. आंवला	+	+
१५. नीलकमल	+	+
१६. मुलेठी	+	+
१६. क्षीर काकोली	+	+
१८. मधुपर्णी (गिलोय)	+	+
१९. कण्टकारी	+	+
२०. —	कमल	+
२१. —	काकोली	+
२२. —	मेदा	+
२३. —	श्वेत चन्दन	+
२४. —	सैन्धव लवण	+
२५. —	वला	+
२६. —	मरिच	+
२७. —	शुण्ठी	+
२८. —	पुनर्नवा	—
२९. —	हल्दी	+
३०. —	दारुहल्दी	+

निर्माण विधि

पूर्वोक्त सभी द्रव्यों को ग्रहण कर निम्न विधि से घृत पाक करें। सर्व प्रथम गोघृत लेकर उसके आमादि दोष विनाशार्थ इसका मूर्च्छन करना चाहिए। मूर्च्छन विधि निम्न प्रकार है—

गोघृत एक किलो या आवश्यकतानुसार लेकर उसे एक बड़े कलईदार पात्र में मन्द-मन्द अग्नि से गरम करके उसे नीचे उतार लें। पश्चात् हरड़, बहेड़ा, आंवला, मोथा, हल्दी, विजौरा नीबू स्वरस प्रत्येक ५०-५० ग्राम लेकर इनको चूर्ण बना, पीसकर कल्क बना लें। इस कल्क को घृत में डालकर उसमें घृत के समभाग (१ कि०) जल मिलाकर, उसे चूल्हे पर चढ़ाकर मन्द-मन्द अग्नि से पकावें। फेन शान्ति होने तक पकाना चाहिए। इस प्रकार उक्त द्रव्यों के साथ घृत को पाक करना ही 'घृत मूर्च्छन' कहा जाता है। इस विधि से मूर्च्छित घृत आम दोष रहित, वीर्यवान, तथा सुखदायी (सौख्यदायि) होता है। इससे स्नेह की शुद्धि हो जाती है। स्नेह में दुर्गन्ध आदि आम जनित दोष नहीं उत्पन्न होते या होते हैं तो विलम्ब से होते हैं।

घृत पाक—

सर्व प्रथम एक कलईदार बड़े पात्र (भगौना) में त्रिफला क्वाथ, भृंगराज स्वरस, वासापत्र स्वरस, शतावरी स्वरस या क्वाथ, अजादुग्ध, गिलोय तथा आंवले का स्वरस या क्वाथ डालकर उसके साथ उपरोक्त मूर्च्छित घृत डाल कर उसमें पिप्पली आदि कल्कार्थ द्रव्यों के कल्क बनाकर डालकर करछी से मिला दें। मन्द-मन्द अग्नि से पाक प्रारम्भ करना चाहिए। धीरे-धीरे सभी द्रव्य गरम होकर एक रूप हो जाते हैं। यहां यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि स्नेह पाक तीव्राग्नि से एक ही दिन में नहीं कर लेना चाहिए। कई दिनों में धीरे-धीरे पाक करने से स्नेह पूर्ण वीर्य एवं गुणकारी बनता है। इस सम्बन्ध में आचार्यों ने निम्न आज्ञा दी है—

> क्षीरे द्विरात्रं स्वरसे त्रिरात्रं तक्रारनालादिषुपञ्चरात्रम्।
> स्नेहं पचेद्वैद्यवरः प्रयत्नादित्याहुरेके भिषजः प्रवीणाः॥

अर्थात् स्नेह पाक केवल दूध में करना हो तो दो रात्रि में, किसी स्वरस के साथ करना हो तो तीन रात्रि में, तक्र काँजी आदि अम्ल पदार्थों से करना हो तो पांच रात्रियों में उसका पाक निष्पन्न करें। इस प्रकार कुछ प्रवीण वैद्यों के द्वारा हमें यह उपदेश प्राप्त होता है।

तात्पर्य यह निकला कि स्नेहपाक मन्द-मन्द अग्नि पर पूर्ण स्थिरता के साथ करना चाहिए। कम से कम दो-तीन रात्रि अर्थात् तीनों दिनों में इसका पाक पूर्ण करना चाहिए। इस विधि से निर्मित घृत पूर्ण वीर्य एवं गुणकारी तैयार होगा। उसमें पड़ने वाले द्रव्यों के रस वीर्यादि पूर्णतया हमें प्राप्त हो सकेंगे।

स्नेह सिद्ध के लक्षण—

उपर्युक्त रीति से मन्द-मन्द अग्नि पर पाक करते करते जलीयांश धीरे-धीरे समाप्त होने को आते हैं। कल्क एवं स्वरसादि के स्थूल रूप होते जाते हैं। स्नेह जो अब तक तरल द्रव्यों के साथ पूर्णतया मिश्रितावस्था में था, अब कल्क एवं स्नेह के रूप में दोनों अलग-अलग स्पष्ट दीखने लगते हैं। कल्क इस स्थिति में आ जाता है कि उसे अंगुलियों पर लेकर यदि उसकी वर्ति (वत्ती) जैसा बनाते हैं तो वह वर्ति जैसी बन जाती है। स्नेह की दो-चार बूंदें अग्नि पर डालने से उसमें चड़चड़ के शब्द नहीं होते (जलीयांश समाप्त हो जाने के कारण)। पाक करते समय उसमें जो एक प्रकार का शब्द हुआ करता है, वह भी बन्द हो जाता है। घृत पाक में फेन की शान्ति, तैल पाक में फेनोद्गम होता है। जिन द्रव्यों के साथ स्नेह साधित किया जाता है, उन द्रव्यों के गन्ध, वर्ण, रसादि का घृत (स्नेह) में आ जाना इत्यादि स्नेह सिद्ध हो जाने के लक्षण मानने चाहिए। ये प्रायः सभी लक्षण कर्म से बोधगम्य हैं। जो चिकित्सक सदा इन्हें अपने सम्मुख बनवाते या बनाते रहे हैं, उनके लिए उपर्युक्त सभी लक्षण हस्तामलकवत होते हैं। छात्रों को यह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है।

इस प्रकार से पाक सम्पन्न हो जाने पर अवस्था से स्नेह पाक के तीन भेद माने गये हैं—मृदु, मध्य, और खर पाक। इनके निम्न लक्षण होते हैं—

मृदुपाक—जब कल्क में किंचित् रस (जलीयांश) रहते पाक निष्पन्न कर लिया जाता है, तब पाक 'मृदु', जब कल्क में जलीयांश प्रायः पूर्णतया समाप्त हो जाता है, उसकी कल्क की वर्ति बनाने में अंगुलियों से नहीं चिकपती तथा स्नेह अग्नि पर डालने पर कुछ भी चड़चड़ आवाज नहीं करती है तो 'मध्यम पाक' तथा कल्क का जलीयांश जब पूर्णतया जल जाता है, कल्क कठिन या चूर्ण हो जाता वर्ति नहीं बनती है, इन लक्षणों से युक्त पाक को 'खरपाक' कहते हैं। दुर्भाग्य से इसके बाद भी अग्नि पड़ जाती है तो पाक दग्ध हो जाता है तो उसे 'दग्ध पाक' कहते हैं। यह निष्प्रयोज्य हो जाता है।

तीनों पाकों का उपयोग—

मृदुपाक स्नेह नस्य कर्म में, मध्यम पाक प्रायः सब कर्मों में तथा खरपाक का उपयोग अभ्यंगार्थ (बाह्योपयोगार्थ) किया जाता है। दग्धपाक बिलकुल ही बेकार हो जाता है। इस प्रकार 'मध्यपाक' को सर्वोत्तम माना गया है।

प्रस्तुत स्नेह(घृत)महा त्रिफलादि घृत है, जिसका प्रायः पानार्थ आभ्यन्तर प्रयोग ही विशेष रूप से होता है, अतः इसका पाक सदा 'मध्यपाक' ही करना उत्तम होता है। यथा—"वस्तौ पाने च मध्यमः।" उपर्युक्त लक्षणों के द्वारा स्नेहपाक पूर्ण हो गया है, ऐसा निर्णय करना चाहिए। पाक निष्पन्न हो जाने पर चूल्हे से उतारकर कुछ देर शीतल होने दें। पश्चात् इसे सुखोष्ण ही छानकर कल्क से अलग करके निर्मल स्नेह (घृत) को कांच या चीनी मिट्टी के जार में रख लेना चाहिए तथा उसका ढक्कन पूरी तरह बन्द रखना चाहिए।

साधित घृत के पूर्ण वीर्य रहने की अवधि—

इस प्रकार विभिन्न औषधियों से पके स्नेह-घृत चार मास बाद ही पूर्णवीर्य होते हैं तथा एक वर्ष बाद उनका वीर्य क्रमशः समाप्त होने लगता है अर्थात् हीनवीर्य होने लगते हैं। अतः सिद्ध घृतादि का प्रयोग एक वर्ष के भीतर भीतर कर लेना चाहिए। अन्यथा वे सब गुणहीन—बेकार हो जाते हैं।

निम्न तालिका के अनुसार इसमें प्रयुक्त सभी द्रव्यों के गुणकर्म का स्पष्ट विवेचन करने का प्रयास किया जायगा। जिससे पाठकों को उसके घटक द्रव्यों के गुण-कर्मों का स्पष्ट ज्ञान हो सके—

गुणकर्म विनिश्चय

द्रव्य नाम	रस	गुण	वीर्य	विपाक	प्रभाव	कर्म
गोघृत	मधुर	गुरु, स्निग्ध शीत	शीत	मधुर	त्रिदोषहर	चक्षुष्य, अग्नि वर्धक, स्मृति मेधा वर्धक, वल्य, स्वर्य, आयुष्य, हृद्य, वय:स्थापन, रसायन, विषघ्न, दाह प्रशमन, वात पित्त शामक।
त्रिफला क्वाथ	कषाय, अम्ल, कटु, तिक्त मधुर।		शीत	मधुर		कफ पित्त नाशक, सर, दीपन, रुचिकर, चक्षुष्य, एवं प्रमेह, कुष्ठ, और विषम ज्वर नाशक।
भृङ्गराज स्वरस	कटु तिक्त	लघु रूक्ष	उष्ण	कटु		चक्षुष्य, केशरञ्जन, रसायन, शोथ, विषघ्न कफ वात शामक।
वासापत्र स्वरस	तिक्त, कषाय	लघु रूक्ष	शीत	कटु		कफ पित्त नाशक, रक्तपित्त शामक, हृद्य, श्वास, कास, ज्वर, वमन, मेह, कुष्ठ, क्षय नाशक।
शतावरी स्वरस/क्वाथ	मधुर तिक्त	गुरु स्निग्ध	शीत	मधुर		रसायन, मेधा-अग्नि वर्धक, नेत्र्य, गुल्म, अतिसार नाशक, बल्य, शुक्र-स्तन्य वर्धक।
अजादुग्ध	मधुर कषाय	लघु स्निग्ध शीत	शीत	मधुर		ग्राही, रक्तपित्त, अतिसार, क्षय, कास, ज्वर नाशक।
गिलोय स्वरस	तिक्त कषाय	गुरु स्निग्ध	उष्ण	मधुर	त्रिदोष शामक।	रसायन, बल्य, अग्निदीपक, ग्राही तथा आम दोष, तृष्णा, दाह, प्रमेह, कुष्ठ, वातरक्त नाशक।
आँवला स्वरस	अम्ल कषाय मधुर तिक्त कटु अलवण	लघु रूक्ष शीत	शीत	मधुर	त्रिदोषहर	पित्त शामक, दाह शामक, चक्षुष्य, केश्या दीपनी, अनुलोमनी, बृंहण, रसायन।
पिप्पली	कटु मधुर	लघु स्निग्ध तीक्ष्ण	अनुष्ण शीत	मधुर	रसायन	कफ वात शामक, दीपन, बल्य, रसायन, कास-श्वास नाशक, अरुचि, अग्निमांद्य, अजीर्ण, यकृत्प्लीहा वृद्धि, जीर्ण ज्वर नाशक।
मिश्री	मधुर	गुरु स्निग्ध	शीत	मधुर		वातपित्त शामक।
मुनक्का	मधुर	स्निग्ध गुरु मृदु	शीत	मधुर		वातपित्त शामक, चक्षुष्य, सर, बल्य।
हरीतकी	कषाय प्रधान अम्ल कटु तिक्त मधुर अलवण	लघु रूक्ष सर	उष्ण	मधुर	त्रिदोषहर	त्रिदोष शामक, चक्षुष्या, दीपनी, वृष्या मेध्या, बृंहणी, अनुलोमनी, रसायनी, बुद्धिदा।

द्रव्य नाम	रस	गुण	वीर्य	विपाक	प्रभाव	कर्म
विभीतकी	कषाय	रूक्ष लघु	उष्ण	मधुर	त्रिदोषहर	चक्षुष्या, केश्या, भेदनी, अनुलोमनी, रसायनी ।
आमलकी	अम्ल प्रधान कषाय,मधुर तिक्त, कटु अलवण	लघु, रूक्ष शीत	शीत	मधुर	त्रिदोषहर	पित्त शामक, दाहप्रशमन, चक्षुष्या, केश्या, दीपनी, अनुलोमनी, बृंहणी, रसायनी ।
नीलकमल	मधुर,कषाय तिक्त	लघु स्निग्ध पिच्छिल	शीत	मधुर		वात पित्त शामक, वर्ण्य, तृष्णा, दाह, रक्तविकार, विस्फोट, विष, विसर्पघ्न ।
मधुयष्ठी	मधुर तिक्त	गुरु शीत, स्निग्ध,	शीत	मधुर		वात पित्तशामक, चक्षुष्या, बलवर्णकारक, शुक्रल, केश्य, स्वर्य, वृष्या, रसायनी ।
क्षीरकाकोली	मधुर	गुरु पिच्छिल	शीत	मधुर		बृंहण, वात शामक, दाह, रक्तपित्त, शोष तथा ज्वर नाशक ।
मधुपर्णी (गिलोय)	तिक्त कषाय	गुरु स्निग्ध	उष्ण	मधुर	त्रिदोष शामक	रसायन, बल्य, ग्राही, अग्निदीपक तथा आमदोष, तृष्णा, दाह, प्रमेह, कुष्ठ, वातरक्त नाशक ।
कण्टकारी	तिक्त कटु	लघु रूक्ष तीक्ष्ण	उष्ण	कटु		कफवात शामक, दीपन, पाचन तथा कास, श्वास, ज्वर, पीनस, पार्श्व शूल, कृमि, हृद्रोग नाशक ।

नोट—विस्तार भय से उदाहरण नहीं लिखे जा सके हैं। कृपया विशेष जानकारी के लिए भावप्रकाश आदि ग्रन्थों का अवलोकन करें।

उपर्युक्त रीति से घटक द्रव्यों के रसगुणादि के विवेचन से जो तथ्य प्राप्त होते हैं, वे रसगुणादि निम्न प्रकार से स्पष्ट किये जा सकते हैं—

मधुर रस—उपर्युक्त प्रायः २० द्रव्यों में ८ द्रव्य मधुर रस प्रधान तथा ४ द्रव्य अनुरस मधुर युक्त हैं।

अम्ल रस—दो द्रव्य अम्ल रस प्रधान तथा दो द्रव्य अम्ल अनुरस हैं।

कटु रस—मात्र एक द्रव्य कटु रस प्रधान है तथा पांच द्रव्यों में कटुरस अनुरस रूप में है।

तिक्तरस—चार द्रव्य तिक्त रस प्रधान तथा आठ द्रव्यों में तिक्त अनुरस रूप में हैं।

कषायरस—तीन द्रव्य कषाय प्रधान तथा ७ द्रव्यों में कषाय रस अनुरस रूप में है।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि मधुर रस प्रधान द्रव्यों की प्रधानता है। प्रायः सभी द्रव्य मधुर विपाक वाले हैं। इसमें मधुर द्रव्यों के अतिरिक्त कटु, तिक्त एवं कषाय रस प्रधान द्रव्य भी आते हैं। इस प्रकार मधुरादि रस प्रधान या गौण रूप में निम्न संख्या में प्रकट होते हैं—

मधुर रस १२, अम्ल रस ४, कटु रस ६, तिक्त रस १२, कषाय रस १०।

रसों का विशेष महत्व उनमें रहने वाले महाभूतों के अध्ययन के पश्चात् ही प्रकट हो सकता है। अतः रस-महाभूत सम्बन्ध विश्लेपण निम्न रीति से स्पष्ट किये जा सकते हैं—

रस—महाभूत सम्बन्ध विश्लेषण—

क्र.सं.	रस	संख्या	पृथ्वी	अप	तेज	वायु	आकाश
१.	मधुरस	१२	१२	१२	—	—	—
२.	अम्लरस	४	४	—	४	—	—
३.	लवण रस	—	—	—	—	—	—
४.	कटु रस	६	—	—	६	६	—
५.	तिक्त रस	१२	—	—	—	१२	१२
६.	कषाय रस	१०	१०	—	—	१०	—
			२६	१२	१०	२८	१२

इस प्रकार रस तथा महाभूतों के सम्बन्धों के विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि मधुर रस युक्त द्रव्यों की प्रधानता है। मधुर रस में पृथ्वी महाभूत की प्रधानता रहती है। मधुर के अतिरिक्त कषाय और अम्ल रसों में भी पृथ्वी महाभूत का समावेश रहता है। पृथ्वी महाभूत से अधिक वायु महाभूत है। प्रायः कटु, तिक्त कषाय रस के निर्माण में वायु-महाभूत भाग लेते हैं। परन्तु ऐसे द्रव्य संख्या में मधुर द्रव्यों से न्यून हैं तथा प्रायः ये रस अनुरस रूप में ही अधिक हैं। साथ ही इन रसों के द्रव्यों का विपाक भी प्रायः मधुर ही बतलाया है। इस प्रकार मधुर की मधुरता का प्राधान्य है।

गुण—महाभूत विवेचन—

रसों के साथ महाभूतों के सम्बन्ध विश्लेषण के बाद गुण—महाभूत के सम्बन्ध का विश्लेषण करना भी परमोपयोगी होगा। जो निम्न सारणी से स्पष्ट होगा।

क्र.सं.	गुण संख्या	पृथ्वी	अप	तेज	वायु	आकाश
१.	गुरु गुण ८	८	८	—	—	—
२.	शीतगुण ५	—	५	—	—	—
३.	लघु १०	—	—	१०	१०	१०
४.	स्निग्ध १०	—	१०	—	—	—
५.	रूक्ष ७	७	—	७	७	—
		१५	२३	१७	१७	१०

इस प्रकार उपर्युक्त रीति से रस महाभूत सम्बन्ध तथा गुण—महाभूत सम्बन्ध का यथोचित स्पष्टीकरण का प्रयास किया गया है। इस पद्धति से आयुर्वेद के मूल सिद्धान्त रस, गुण विपाकादि को समझने में सुविधा होगी। इन स्पष्टीकरणों के बाद इस वृहद्योग का आयुर्वेद वाङ्मय में जो गुण कर्म प्राप्त होते हैं, उन्हें अध्ययन करना परमावश्यक है।

दोषघ्न—इसमें प्रायः सभी द्रव्यों के अध्ययन से जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है, यह सर्वदोष विशेष शामक है।

रोगघ्न—इसका वर्णन नेत्र रोग चिकित्सा प्रकरण में भैषज्य रत्नावली से उद्धृत किया है। इसके अतिरिक्त जैसा कि पूर्व संकेत कर चुके हैं, इस योग का अन्य ग्रन्थों में पाठ प्राप्त होता है। ग्रन्थकार ने इसके गुणों के वर्णन करते हुए निम्न प्रकार लिखा है। इसके सेवन से सम्पूर्ण नेत्र रोग विशेषकर नक्तान्ध, तिमिर, काच, नीलिका, पटल, अर्बुद, अभिष्यन्द, अधिमन्थ, दारुण, पक्ष्मकोप एवं वातिक पैत्तिक श्लैष्मिक तथा सान्निपातिक नेत्ररोग, कफ और वायु के प्रकोप से दर्शन शक्ति का अभाव या अल्पता और मन्ददृष्टि, वात पित्तज नेत्रस्राव, नेत्र कण्डू, समीप दृष्टि, दूरदृष्टि आदि नेत्र रोग नष्ट हो जाते हैं।

इसका प्रयोग मुख द्वारा नियमित रूप से किया जाता है। इसके सेवन से नेत्र गोलक के कृष्णमण्डल व कांच की विकृति दूर हो जाती है। नेत्र का स्वरूप स्वाभाविक होकर दर्शन क्रिया समर्थ हो जाता है।

इस योग के घटक द्रव्यों के गुणकर्म जिसका विवेचन ऊपर किया जा चुका है से यह स्पष्ट होता है कि इसमें प्रयुक्त प्रायः सभी द्रव्य चक्षुष्य (नेत्र रोग नाशक या आंखों के लिये हितकर) हैं। इसका प्रधान घटक त्रिफला है। त्रिफला में कषाय रस प्रधान तथा मधुर अनुरस है। यह नेत्र कला का पोषक, संकोचक व व्रण रोपक है। सबसे अधिक गुणकारी द्रव्य जो इसमें है, वह है गोघृत। यह त्रिदोषहर, विशेषतः वात पित्तनाशक एवं चक्षुष्य गुण प्रधान है, साथ ही मेध्य, बल्य, स्वर्य, हृद्य आदि गुणों से युक्त है। घृत का प्रधान गुण यह भी है कि इसके साथ जिन द्रव्यों का पाक किया जाता है उनके गुणों को वह ग्रहण कर लेता है।

—श्री बदरी नारायण पाण्डेय
एम.ए., शास्त्री, जी.ए.एम.एस., एच.पी.ए.
प्रोफेसर—स्टेट आयु. कालेज, लखनऊ
पद्मा भवन, दीनदयालरोड, अशरफाबाद, लखनऊ—३
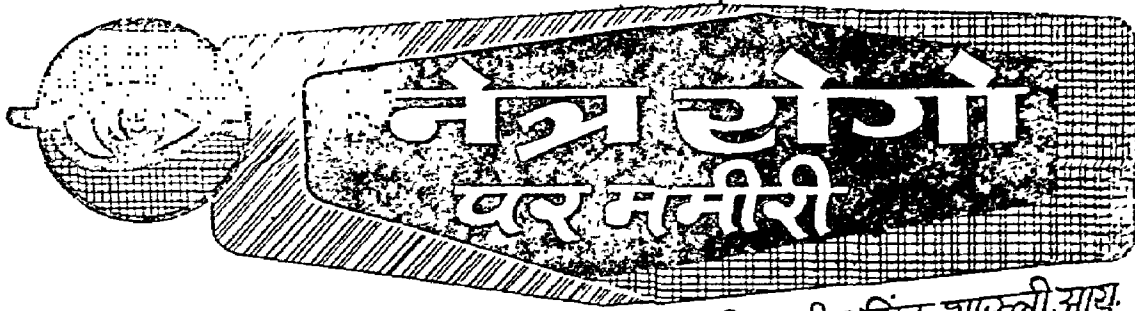
वैद्य श्री रणवीर सिंह शास्त्री आयु.

ममीरी एक प्रभावशालिनी वन्य औषधि है। यह उत्तराखण्ड, हिमाचल प्रदेश, गढ़वाल, नैनीताल आदि शीत प्रधान प्रदेशों की उन्नत पर्वत शृङ्खलाओं पर जहाँ शीतकाल में हिमपात हो जाया करता है उत्पन्न होती है और इसका क्षुप कई-कई वर्षों तक जीवित रहता है।

इस दिव्य औषधि की जानकारी के लिए संक्षेप से परिचय देना आवश्यक है। यूनानी आयुर्वेदिक चिकित्सकों में "ममीरा" नामक औषधि की विशेष प्रसिद्धि व विशिष्ट कथायें प्रचलित हैं, परन्तु "ममीरा" नामक औषधि सर्व साधारण चिकित्सक को अधिगत नहीं होती

ममीरी ममीरे से कुछ न्यून प्रभाव रखती है। पुनरपि ममीरे के अभाव में इसका प्रयोग निरपवाद रूप से किया जा सकता है।

ममीरी का क्षुप एक फुट से २॥ फुट तक ऊंचा एक सुदृढ़ स्तम्भयुक्त होता है, इसके पत्ते शोभाञ्जन (सैंजना) के पत्रों के समान आकृति में छोटे होते हैं, इसके क्षुप को खींचकर उखाड़ना सरल नहीं। इसकी दण्डी शाखा प्रशाखा युक्त नहीं होती, पतली होते हुए भी बहुत सुदृढ़ होती है, ममीरी की जड़ें औषधि कार्य में प्रयुक्त होती हैं। ममीरी मूल ग्रन्थियों में एक के बाद एक बढ़ती चली जाती हैं। लेखक ने आठ व नौ वर्ष पुराने ममीरी के क्षुपों को खोदकर देखा है। अन्य क्षुपों की भांति इसकी मूल ग्रन्थियां नवीन क्षुप के उत्पन्न होने पर सड़कर नष्ट नहीं होतीं, पुरानी ग्रन्थियों मे सरसता बनी रहती है। प्रतिवर्ष एक नेत्र (ग्रन्थि) बढ़ जाती है। इसकी ग्रन्थि निम्न भाग में न बढ़कर समतल भाग मे आगे बढ़ती है। सबसे पुराने नेत्र में विशिष्ट प्रभाव होता है। जहां इसका पौधा मिलता है उसके आस पास अनेक पौधे प्राप्त हो जाते हैं। जो पुराना व बड़ा क्षुप हो उसे ही सावधानी से खोदकर संग्रहीत करना चाहिए।

संग्राह्यकाल—वर्षा काल में ममीरी के क्षुप हरे भरे रहते हैं इनका परिपाक शरद एवं हेमन्त ऋतु में होता है, वसन्तकाल के आगमन पर ममीरी की मूल ग्रन्थियों व उससे लगी पीली २ जड़ों का संग्रह श्रेयस्कर है। ममीरी को धूप में नहीं सुखाना चाहिए, यह स्वयं सूख जाती है। ममीरी के स्तम्भ को छोड़ देना चाहिये, इसके नेत्रों (ग्रन्थियों) की परम्परा को पृथक नहीं करना चाहिये। इससे प्राचीन व नवीन नेत्रों की पहिचान नहीं हो सकती। पुराणतम नेत्र ही विशेष गुणकारी देखे गये हैं।

ममीरी नाम आर्ष ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता, इसको वनौषधि वेत्ताओं ने "पीत जटा" संज्ञा दी है जोकि ममीरी के स्वरूप को प्रकट करती है, इसके गुणों की जानकारी व उपयोगिता समझकर ही इसको नेत्र रोगों पर प्रयोग किया जाता है। प्रयोग निर्बाध सरल व हानि रहित है। ममीरी की नेत्र माला की सबसे पुरानी ग्रन्थि को लेकर साफ करलें। यह गहरी पीत वर्णन होगी। इसको शुद्ध मधु, गुलाब जल, गोदुग्ध या जल में घिसकर स्वच्छ अंगुली या सलाई से नेत्रों में लगावें, प्रातः सूर्योदय से पूर्व तथा रात्रि में लगाने से अधिक लाभ होता है। आतप में पूर्ण लाभ नहीं होता।

नेत्र रोगों पर ममीरी का प्रभाव—

इस लेख में लेखक ने स्वानुभूत प्रयोगों को प्रदर्शित किया है। शास्त्र में इन प्रयोगों का उल्लेख कहीं पर नहीं मिलेगा—

१. एक रोगी की आंख के कृष्ण भाग में व्रण हो गया था, नेत्र रोग विशेषज्ञ डाक्टरों के मतानुसार यह

क्षय विष प्रभाव जन्य था। बहुत से उपचार करने पर वह नेत्र व्रण दूर नहीं हुआ। अन्ततः डाक्टरों से निराश वह मेरे से सलाह लेने आया। मैंने उसे ममीरी की चार ग्रन्थियां दीं और पानी में घिसकर दो बार लगाने को कहा। १० दिन के प्रयोग से नेत्र व्रण ठीक हो गया। और पुनः उसका पुनरावर्तन नहीं हुआ।

२. नेत्रों की निर्बलता से कम दीखना, पानी गिरना, खुजली होना, शिर दर्द आदि विकार हो जाते हैं। इन नेत्र रोगों में पानी में घिसकर ममीरी की गांठें लगवाई गईं। थोड़े दिनों में ही ममीरी के प्रयोग से आशातीत लाभ हुआ, ममीरी का प्रयोग सूर्योदय से पूर्व व रात्रि में होता था।

३. सूखी ममीरी की जड़ों का कपड़छन चूर्ण करके काले सुरमे में घोटकर आंखों में लगाया। इस प्रकार उक्त रोगों में बहुत लाभ हुआ। सुर्मा की घुटाई अत्यधिक होनी चाहिये।

४. आँखें दुखने पर तथा लाल हो जाने व करकराने पर ममीरी का सूक्ष्म चूर्ण १ तोले, १७ तोले गुलाब जल (उत्तम) में डाल नीली शीशी में कार्क लगाकर धूप में तीन दिन रक्खें। चौथे दिन शुद्ध वस्त्र से छानकर नीली शीशी में भर लें। इसमें से ४-४ बूंद दवा प्रातः एवं रात्रि में दोनों आँखों में डालें। रोगग्रस्त आँख में कई बार डालना चाहिये।

५. सबसे सरल प्रयोग ममीरी का पानी में घिस कर लगाना है। दिन रात में दो या तीन बार लगाना चाहिए। अन्य प्रयोग कष्टसाध्य प्रक्रिया वाले हैं।

६. गढ़वाल में ममीरी का प्रयोग पौष्टिक आहार के रूप में भी किया जाता है। गाय, बैल, बकरी आदि के सूख जाने या शारीरिक निर्बलता होने पर पाव भर ममीरी पञ्चाङ्ग सूक्ष्म पीसकर रोगी पशु को सात दिन तक देते हैं। इससे पशु को शोथ रोग शीघ्र ही दूर होकर उन्हें परम पुष्टि होती है। सामर्थ्य भी बढ़ जाता है।

७. ममीरी की ग्रन्थियों एवं उनसे सम्बद्ध मूलों को धोकर सुखालें। छायाशुष्क होने पर पीस कपड़े से छान लें। इस सूक्ष्म चूर्ण को काजल, सुर्मा, वर्ती, अर्क आदि में डाल कर आँखों के रोगों में प्रयोग कर सकते हैं। इसका एकाकी प्रयोग भी पूर्ण प्रभावकारी है, अतएव वैद्य महानुभाव या रोगी बिना भय के नेत्रों में उक्त विधि से प्रयोग कर लाभ उठा सकते हैं।

८. नेत्राभिष्यन्द, मोतिया बिन्द, जाला, धुन्ध, रतौंदी, आँखों का लाल होना, नेत्र पाक, नेत्र कण्डू, नेत्र फुल्लिका, नेत्र शोथ, दृष्टिमांद्य, नेत्रव्रण आदि रोगों में ममीरा का प्रयोग हितावह है। विशेषतः उक्त रोगों की प्रारम्भिक अवस्था में इसका निरन्तर उपयोग रोग को नष्ट कर देता है। रोग को दूर करने में ममीरी का प्रयोग निःशंक करना चाहिए, ऐलोपैथिक औषधियों के समान यह दृष्टि पर किसी प्रकार का हानिप्रद प्रभाव नहीं डालती, अपितु इसके प्रयोग से आँखों की रोशनी बढ़ती है।

९. ममीरी के बाह्य प्रयोगों के साथ-साथ दृष्टिवर्धक तथा विकृत श्लेष्मा (नजला) को दूर करने वाले खाद्य प्रयोगों का सेवन अवश्य करना चाहिए, केवल देह के चक्षुर्यन्त्र को शुद्ध या बाधारहित बनाने से ही पूर्ण लाभ नहीं होगा किन्तु मस्तिष्क व नेत्रवह स्रोतों, मांसपेशियों, नेत्र नाड़ियों एवं नेत्र गोलकों को पुष्ट करने व बल देने वाली औषधियों अन्नपानों व विहारों का प्रयोग भी करना चाहिए, केवल बाह्य प्रयोगों पर नेत्रों के पूर्ण नीरोग व सबल होने की धारणा पाश्चात्य चिकित्सकों का अन्धानुकरण मात्र होगा।

१०. नेत्र रोग ग्रस्त रोगियों के लिए निम्न औषधों या अन्नपानों का प्रयोग पथ्य रूप में स्थायी लाभ करता है। त्रिफलाघृत, त्रिफला रसायन, बादाम पाक या बादाम शुद्धघृत, श्वेतमरीचिका व मिश्री मिला हुआ दूध (छौंक कर), मीठे बादाम का तेल, शुद्ध घृत दूध मे डालकर, कालीमिर्च या श्वेत मिर्च का प्रयोग, मालकांगनी का तेल शुद्ध २-२ बून्द, मक्खन, दधि विलोडन से उत्पन्न नवनीत, शुद्ध घृत का हलुआ, चाकसू का पाक, पेठा, ककड़ी, खरबूजा, तरबूजा, तरबूज और काहू की मिंगयों का पाक, ब्राह्मी रसायन, ब्राह्मी वटी, सारस्वत चूर्ण आदि नेत्रों के प्रकाश को बढ़ाने वाले पदार्थों का सेवन करना चाहिए। इनका उपयोग स्वयं समझकर या वैद्य की सम्मति से मात्रा निर्धारण पूर्वक करना चाहिए। चावल, गेहूं, जौ, मूंग, मसूर, शुद्ध दूध और घृत व मिश्री का प्रयोग सदा पथ्य है।

नेत्र चिकित्सा में अपथ्य—ममीरी या एतन्मिश्रित नेत्र रोग नाशक औषधों को प्रयोग करते समय लालमिर्च, हरीमिर्च, तेल, गर्म मसाले, वैंगन, करेला, अरहर की दाल, मोंठ, आलू, अरवी, पिण्डालू आदि शाक, मेथी, राई, काञ्जी, सभी अम्ल पदार्थ, मूंगफली, विदाही व विष्टम्भी पदार्थ, आतप (धूप) अग्निसेवन, धूम, वाष्प, उष्णजल, शिरःस्नान, उत्तप्त भूमि पर भ्रमण, चमकीली व तीव्र प्रकाश वाली वस्तुओं को देखना, तेल भर्जित पदार्थों का सेवन, सभी प्रकार के लवण, क्षार, गुड़ व इनसे बने पदार्थ नेत्र चिकित्सा में परिहार्य है।

विशेष—(क) अभी दिनांक १, २, ३, अक्टूबर को शिमला (हिमाचल प्रदेश की राजधानी) में हुए अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन के अवसर पर हुई जड़ी बूटियों की प्रदर्शनी में (ममीरा) का क्षुप भी दिखाया गया था। शीत प्रधान प्रदेशों व उन्नत पर्वतमालाओं पर ममीरी के क्षुप प्रायः प्राप्त हो जाते है। हिमाचल प्रदेश भी ममीरी का उत्पत्ति स्थान है।

(ख) मेरी जन्म भूमि ग्राम-ऊंचाकोट डा० गैंड (पौड़ी गढ़वाल) में इस दिव्य औषधि ममीरी की उत्पत्ति उन्नत पर्वत शिखरों व पर्वत मेखलाओं में बहुतायत से होती है। गढ़वाल के अन्य शीतल उन्नत प्रदेशों, भागीरथी गङ्गा के परिसरों, व वर्फीले स्थानों पर भी यह प्राप्त हो जाती है।

(ग) ममीरी के लघुवृक्ष का एक बार परिचय होने पर उत्तरा खण्ड की तीर्थ यात्रा के मार्ग में 'ममीरी' के दर्शन यत्र-तत्र हो जाते है। उन्नत भू भागों में प्राप्त ममीरी विशेष गुणकारी सिद्ध हुई है।

—वैद्यराज डा० रणवीरसिंह शास्त्री एम.ए., पी-एच.डी.
वेद आयुर्वेद-व्याकरण साहित्याचार्य,
इन्द्र औषधालय, आगरा-२

पुनर्नवा नेत्र नवा करोति : : पृष्ठ १८५ का शेषांश

मिला कर प्रयोग किया जिससे उपरोक्त रोगियों को आशातीत उपकार हुआ।

मैंने इस योग का स्वयं जब उपयोग किया तो अनुभव हुआ कि यह अत्यन्त दाहक है। नेत्र में जलन और रक्तता होती है। ३-४ घण्टे के वाद स्वस्थता होती है, ऐसी दशा में प्रतिदिन इसका उपयोग करना सम्भव नहीं है। अतः इसके गुणों को अक्षुण्य रख कर उपयोग में लाने के लिये अनेक प्रकार के योग तैयार किये, अन्त में नीचे लिखा अच्छा सिद्ध हुआ। यह आजकल प्रयोग किया जा रहा है। यह पाठकों के लाभार्थ प्रकाशित किया जा रहा है—

श्वेत रक्त भेद से पुनर्नवा दो प्रकार की मिलती है, जो प्राप्त हो वह स्वच्छ सुन्दर खेतों में से पंचांग लेकर साफ धुली हुई शिला पर पीस कर बिना जल से उपयोग किये स्वरस निकाल ले। पुनर्नवा में द्रव भाग अत्यल्प होता है अतः अत्यन्त सूक्ष्म कल्क बनाने से द्रव की प्राप्ति होती है। इस द्रव को स्वच्छ वस्त्र से छान कर पांच तोला दो औंस की शीशी में भरलें, वाद में एक तोला वरास या भीमसेनी कपूर व तीन माशा पिपरमेंट (पोदीने का सत) मिला कर वन्द करके स्टोपर्ड बोतल में रख लें। चालीस दिन पड़ा रहने दें। इस समय में कपूर और पिपरमेण्ट मिलकर इस द्रव के स्थूलांश को पृथक कर देंगे और अच्छा रक्ताभ द्रव घन भाग पर तैरने लगेगा, इस द्रव को धीरे से नितार कर अन्य शीशी में भर कर रखलें, नीचे का भाग फेंक दें। इस द्रव को तूलिका से रात्रि में आँखों में लगाकर अन्धकार में लेट जावें। थोड़ी सी चरमराहट लगकर शान्ति हो जावेगी। प्रातः आंखों पर शीतल जल के छींटे मारकर आंखें धोकर साफ करलें। इसका अंजन निरन्तर एक वर्ष करने से नेत्रों की ज्योति बढ़ती है। चश्मा लगाना प्रायः छूट जाता है और मोतियाविन्द पैदा नहीं होता। यदि कदाचित प्रारम्भ हो जावे तो पुनः विलीन हो जाता है।

नेत्र के विषय में निम्न श्लोक की विधि के अनुसार आचरण करने से भी नेत्र सदा स्वस्थ बने रहते हैं और किसी प्रकार का नेत्र विकार नहीं होता।

शीताम्बु पूरित मुखः प्रति वासरं यः।
वारे त्रयेऽपि नयन द्वितयं जलेन ॥
आसिञ्च सो न दाचिदक्षिः।
रोग व्यथा विधुरतां लभते मनुष्यः ॥

अर्थात्—दिन में तीन बार प्रतिदिन मुख मे शीतल जल का गण्डूष भर कर जो नेत्रों को शीतल जल से सिंचन करता है वह किसी नेत्र व्यथा से पीड़ित नहीं होता है।

बृहत्त्रयी के नेत्ररोगोपयोगी औषधि द्रव्य

श्री वैद्य ब्रह्मदत्त त्रिपाठी

१. सुश्रुत उत्तरतन्त्र अध्याय ६ से १६ अध्याय तक,

२. चरक सूत्र स्थान २७ वां अध्याय,

३. अष्टांग हृदय उत्तरतन्त्र अ० ६, ११, १३, १४, १६ को ही उपयोगी समझा गया है।

इन अध्यायों के अन्तर्गत नाना प्रकार के नेत्र तथा उनके अवयवों में होने वाले रोगों के शमनार्थ प्रयुज्यमान सभी औषधि द्रव्यों तथा कल्पों का ही विशेषरूपेण संकलन है। इसका वर्गीकरण औद्भिज, जंगम तथा पार्थिव मात्र तीन वर्गों में ही किया जाना श्रेष्ठतम है। इसी प्रकार इन द्रव्यों से बने औषधि कल्प भी संकलित हैं। साथ ही किसी ग्रन्थ में कौन-कौन से कर्मों में उपयुक्त माने गये हैं तथा किसी ग्रन्थ में नेत्र रोगों की चिकित्सा के लिए कितने और किन कर्मों को करने का आदेश है आदि विषयों का समुचित विवेचन भी प्रस्तुत है।

१. बृहत्त्रयी के औषधि द्रव्य

२. बृहत्त्रयी के औषधि कल्प

३. बृहत्त्रयी के चक्षु रोगोपयोगी कर्म

सुश्रुत के चक्षु रोगोपयोगी कर्म (सार्वदैहिक)

स्नेहन, स्वेदन, रक्त विस्रावण, शोधन, स्रंसन, वमन, स्नेह विरेचन, वस्ति और घृतपान का यथास्थान निर्देश है।

स्थानिक कर्म—अंजन, प्रत्यंजन, अभ्यंजन, आश्च्योतन, पुटपाक, पूरण, तर्पण, घर्षण, प्रतिसारण, अवचूर्णन, लेखन, संस्वेदन, परिषेक, सेक, धूम्रपान, नस्य, अवपीड़न, आलेप, उपनाह, शिरोवस्ति, दृष्टि प्रसादन, जलौकावचरण, कवलग्रह, और शस्त्रकर्म आदि स्थानिक कर्मों का यथास्थान वर्णन है।

चरक के नेत्र रोगोपयोगी कर्म—चरक में केवल संक्षिप्त ही स्थानिक कर्मों का निर्देश है। इसमें अंजन आश्च्योतन, पूरण और बिडालक का ही निर्देश है।

अष्टांग हृदय के नेत्र रोगोपयोगी कर्म—इसमें भी सुश्रुत के समान ही नेत्र रोगी की चिकित्सा हेतु स्थानिक एवं सार्वदैहिक कर्मों का सविस्तारादेश मिलता है।

स्थानिक कर्म—अंजन, आश्च्योतन, सेक, परिषेक, पुटपाक, तर्पण, पूरण, धूम्रपान, धूपन, लेखन, नस्य, प्रतिसारण, अवगुंठन, अवचूर्णन, संधावन, लेपन, बिडालक, तीक्ष्ण गण्डूष, मूर्ध्व वस्ति, जलौकावचरण एवं शस्त्र कर्मादि स्थानिक कर्मों का भिषक् के लिए यथासमय आदेश है।

सार्वदैहिक कर्म—स्नेहन, स्वेदन, रक्त मोक्षण, स्निग्ध विरेचन, अनुवासन, स्थापन, बस्तिकर्म, घृतपान, और उपवास आदि का सार्वदैहिक कर्मों में पूर्णादेश मिला है।

विवेचन और विमर्श—

बृहत्त्रयी की नेत्र रोग चिकित्सा के विषय में यह कहा जा सकता है कि शालाक्य तन्त्र के अन्दर नेत्र रोग की चिकित्सा जितनी विस्तार से सुश्रुत में देखने को मिलती है उतनी किसी भी ग्रन्थ में नहीं मिलती। चरक में तो प्रसङ्गवश संकेत रूपेण ही आदेश हैं और अष्टाँग हृदय जोकि सुश्रुत के बहुत बाद का ग्रन्थ है प्रायः सुश्रुत से कन्धा मिला कर ही चला है। किन्तु इस विषय में कुछ अपनी भी देन है जो सम्भवतः उस समय तक हुये विज्ञान के विकास पर अवलंबित है।

जहाँ तक औषधि द्रव्यों का विवेचन है सुश्रुत में ३१७ नेत्र रोगोपयोगी पाई गई हैं जोकि विविध नेत्र रोगों में प्रयुज्य हैं। इनमें २१७ औद्भिज हैं और ५८ जङ्गम तथा ३२ पार्थिव द्रव्य हैं। चरक में कुल ८२ द्रव्य प्रयोग उपलब्ध हैं, जिनमें ५२ औद्भिज द्रव्य, १६ जंगम और १४ पार्थिव द्रव्य वर्णित हैं।

अष्टांग हृदय में कुल ३४३ द्रव्यों का प्रयोग है। जिनमें २३१ औद्भिज, ७४ जंगम तथा ३८ पार्थिव द्रव्य हैं।

सुश्रुत के ३१७ औषधि द्रव्यों में १६३ द्रव्यों का अष्टांग हृदय में प्रयोग पाया जाता है तथा १५४ द्रव्य ऐसे हैं जिनका प्रयोग केवल सुश्रुत ने ही किया है। इनमें से ११६ औद्भिज द्रव्य, २८ जंगम एव ९ पार्थिव द्रव्य ही हैं। इसी प्रकार अष्टांग हृदय के ३४३ द्रव्यों में २०६ द्रव्य सुश्रुत के हैं। शेष १३६ द्रव्य इसके अवशिष्ट हैं। जिनका प्रयोग वाग्भट्ट की युक्तियों में हैं। इनमें ८६ औद्भिज, ३९ जंगम और १२ पार्थिव द्रव्य हैं। इस क्षेत्र में चरक ने अपनी कोई विशेषता व्यक्त नहीं की। चरक द्वारा प्रयुक्त सभी प्रकार के औषधि द्रव्य सुश्रुत या वाग्भट्ट द्वारा ही लिए गये हैं।

उपर्युक्त द्रव्यों का जिन कल्पों के रूप में प्रयोग किया गया है उनके विवेचन से ज्ञात हुआ है कि सुश्रुत में सबसे अधिक १६३, चरक में २८ कल्प, अष्टांग हृदय में १२० कल्पों का निर्देश मिला है। कल्पों का अध्ययन करने पर ज्ञात हुआ है कि सुश्रुत ने अंजन, आश्च्योतन, क्षीर, घृत, तैल, प्रतिसारण प्रलेप, पुटपाक, रसक्रिया, वर्ति, तथा अन्य कल्प इस प्रकार से ११ हैं। चरक में अंजन, आश्च्योतन, रस क्रिया, वर्ति और विडालक आदि ५ प्रकार के ही कल्प पाये गये हैं। अष्टांग हृदय में अंजन, आश्च्योतन, क्वाथ, क्षीर, घृत, तैल, मसी रसक्रिया, लेप, वर्ति, विडालक, सैंधव और अन्य कल्प १४ प्रकार के हैं।

प्रत्येक भेद में समाविष्ट द्रव्यों की सूची अकारादि क्रम से देना ही हमने यहां उचित समझा है जिसके देखने से स्पष्ट हो जावेगा कि इन सभी भेदों में अंजन द्रव्य अधिक हैं। और उसके बाद घृत तथा अन्य योग हैं। इनमें वर्ति भी अंजन का ही रूप है। इस प्रकार नेत्र चिकित्सा में अञ्जन एवं कल्प ही सर्वोपरि हैं। इसके बाद घृत योग हैं। और बाकी कल्पों के प्रयोग यथासमय आवश्यकतानुसार ही हैं।

सारांश—

नेत्र रोगों की चिकित्सा के सम्बन्ध में वृहत्त्रयी का विवेचनात्मक अध्ययन करने पर मालूम हुआ है कि विभिन्न प्रकार के नेत्र और नेत्र अवयव गत रोगों की चिकित्सा के लिए कुल ४५४ द्रव्यों के प्रयोग मिले हैं जिनमें औद्भिज, जंगम, पार्थिव–सभी प्रकार के द्रव्य हैं। और २० प्रकार के विभिन्न कल्पों के रूप में कुल ३११ योगों के प्रयोग पाये गये हैं। इनका स्नेहन, स्वेदन, रक्त मोक्षण, अञ्जन, आश्च्योतन और प्रतिसारण आदि ४० स्थानिक एवं सार्वदैहिक चिकित्सा कर्मों के सम्पादन के लिए ही हैं।

नेत्र रोगोपयोगी सुश्रुत के औद्भिज द्रव्य—

अक्षमज्जा, अतिवला अर्क, अर्जुन, अरुष्कर, असन, अश्मन्तक, अश्वगन्धा, अशोक, अग्निक, आमलकपत्र, आमलक रस, आमलकी फल, आम्र, आम्रपुष्प, आर्जक, आर्तगल आर्द्रक, आर्द्रा, आस्फोत, इक्षु, इक्षुरस, इंगुदी त्वक्, इन्द्रसुरा, उत्पल, उत्पलकिंजल्क, उदक, उदीच्य, उदुम्बर, उदुम्बरत्वक, उशीर, उष्णोदक, एरण्ड, एरण्डमूल, एरण्डतूल, एला, औदुम्बर, कटफल, कटकंटेरी, कटु, कंटकारी, कतक, कपित्थ, कपित्थवृन्त, ककटरस, कर्कोटक, करंज, करंजवीज, करीरज, कशेरू, क्रव्यमुक, काकोल्यादिगण, कारवेलस, कालानुमारिवा, कालीयक, काश्मरी, काश्मरी पुष्प, किणही, किंशुकपुष्प, किरात, कीट शत्रुसार, कुटन्नटा, कुंकुम, कुब्जक, कुमुदपत्र, कुश, कुष्ठ, कृमिघ्न, कृष्णा, कृष्णवीज, कोरक, कोलाम्ल, कोलास्थि, क्षणद, क्षौद्रा, खदिर, खरमंजरी फल, गन्धोदक, गांगेय, गुड़, गुन्द्रा, चन्दन, चिल्ली, जम्बूपुष्प, जाती, जातीपुष्प, जीवन्तीशाक, जीवनीयगण, तण्डुलीय, तर्कारी, तालीश, तुवरक, त्रिफला, त्रिफलोदक, त्रिवृत, त्र्यूषण, दधि, दध्युत्तर, दर्भ, दाड़िम, दार्वी, दारुहरिद्रा, द्राक्षा, दूर्वा, देवदारु, धवपुष्प, धातकी, धात्री, धात्रीबीज, नदीज, धात्रीरस, नलद, नलिन, नागपुष्प, नागर, नादेय, नारिकेल, निम्बच्छद, निम्बनिर्यास, निर्गुण्डी, निशाचरास्थि,

नीलपत्र, नीलोत्पल, पटोल, पूत्तर, पथ्या, पद्मक, पयस्या, पलाण्डु, पलाशपुष्प, पलाश रक्त, प्रकीर्याफेन, प्रपाण्डरीक, पाटली, पाठा, पालिन्दी, पिप्पली, प्रियंगु, पीलु, पुटाह्व, पुलक, प्रथक्पर्णी, फणिक, फाणिज्जत, बहिर्ष्ट, बला, बिभीतकास्थि, बिम्बी, बिल्व, बृहती, बृहतीद्वय, भंगा, भिल्लोट, भृष्टमुद्ग, मंजिष्ठा, मदिरा, मधुक, मधुरसा, मधुरौषधं, मधूक, मधूकजरस, मधूकसार, महत्पंचमूल, महौषध, मागधिका, मागधीपुष्प, मातुलुंगरस, मालती-फोरक, मुद्ग, मुस्ता, मूल कपोतिका, मद्वीका, मृदुभृष्टतिल, मेषपुष्प, मेषशृङ्गी, मैरेय, यव, यवौदन, यवनालपूर्ण, यवपिष्ट, यष्टीमधु, रजनी, रसांजन, रेणुका, रेवत, रोध्र, रोहितक, रासन, लशुन, लाक्षा, लोध्र, वक्र, वर्णक त्वक, बचा, वंशज, वंशमूल, वार्ताक्, विडंग, वीरतरु, वृक्षादनी, वेतस, वेत्राम्ल, वेणुगह्वर, सहा, सार्षपस्वेह, सारिवा, सिता, सिद्धार्थ, सुनिषण्णक, सुमनापुष्प, सुरकाष्ठ, सुरा, स्वयंगुप्ताफल, स्थिरा, स्थिरादिगण, स्फोट, शकुन, शतावरी, शर्करा, शल्लकी, शाल, शिग्रु पुष्प, शिरीष पुष्प, शुक्ल-मरिच, शुण्ठी, शैलमेद, शैवल, शोभांजन, श्रीपर्णी, हरेणु, हिंगु, ह्रीवेर।

नेत्र रोगोपयोगी चरक के औद्भिज द्रव्य—

अनन्ता, अमृता, उत्पल, एरण्ड, एला, कतक, काला-नुसारिवा, कालीयक, किंशुकरस, चन्दन, चक्षुष्या (वन-कुलथी), जटामांसी, जातीपुष्प (नव), तर्कारी, त्रिफला, दार्वी, धात्री रस, नागर, निम्ब, नीलोत्पल, पटोल, पद्मक, प्रपौण्डरीक, प्रियंगु, पिप्पली, पृथ्वीका, बला, बृहती, मधुक, मरिच, मंजिष्ठा, मुस्ता, यष्टीमधु, रसांजन, रोचना, लाक्षा, लोध्र, वारि, वासा, विडंग, विल्व, विस, व्योष, सर्ज, सैन्धव, शर्करा, शावरक, शिग्रु पुष्प, शिग्रु, शुष्क-जातीपुष्प, शैलेयक, श्वेतमिरच।

अष्टांगहृदय में नेत्र रोगोपयोगी औद्भिज द्रव्य—

अक्षतैल, अक्षबीज, अक्षमज्जा, अतिमुक्तक, अनन्ता, अपामार्ग बीज, अभया, अभिरुज, अमृता, अम्भोज केशर, अम्लकांजिक, अर्जुन, असन, अश्मन्तक, आढ़की, आमलक, आमलकोदक, आमलकी पत्र, आरण्य कुलत्थ, आर्द्रक, इक्षुरस, उत्पल, उदीच्य, उदुम्बरत्वक, उशीर, ऊषण, एरण्ड तैल, एरण्ड पत्र, एरण्ड मूल, एला, एलेयक, कंटक-टेरी, कटफल, कटुका, कटुत्रिक, कणा, कतक, करंजबीज, करंजिका, करीर रज भस्म, कर्पूर, कशेरू, काकोली, काकोलीद्वय, कांजिक, कार्पास, कालानुसारी, किंशुक, कुंकुमरज, कुचन्दन, कुटज, कुम्भ, कुम्भयोनि पत्र, कुरंटक, क्रिमिजित कृष्णा, कोद्रव, कोलास्थि, कौन्ती, खदिर, गुड़, गुडूची, गोधूम, घोषा, चन्दन, चपला, जम्बू-पत्र, जाती, जातीमुकुल, जीवक, जीवन्ती, जीवनीयगण, तगर, तमालपत्र, तालीसपत्र, तिलतैल, तिला, तिलाम्भस, तैल सर्पि, त्रायन्ती, त्रिजातक, त्रिफला, त्रिफलामासी, त्रिवृत, त्रुटि, त्र्यूषण, दशमूल, दाडिम, दारुहरिद्रा, दार्वी, द्राक्षा, द्विनिशा, द्विमधुक, दूर्वा, देवदारू, धन्वयास, धव, धात्री, धात्रीपत्र, धात्रीफलाम्बु, धान्याम्ल, नत, नलदपत्र, नागपुष्प, नागर, नारिकेलास्थि, निकुम्भ, निम्बपत्र, निर्गुण्डी, नीलोत्पल, न्यग्रोधादि गण, पंचमूलद्वय, पटोल, पटोल पत्र, पटोली, पत्र, पथ्या, पद्मक, पयस्या, प्रपौण्डरीक, प्रसून्ना, पिप्पली, प्रियगु, पुण्ड्र, पुराण्यव, पूग, फणिरजक, फलत्रय, पलिनी, बचा, बला, बलात्रितय, बालशाकपत्र, बिदारी, बिल्वमूल, बिल्वादिगण, बीजापूररस, बृहतीमूल, भल्लातक, भूनिम्ब, मंजिष्ठा, मदनफल, मद्य, मधुक मधुघृष्ट पिप्पली, मधुरस्कन्द, मधुकसार, मरिच, मस्तु, महौषधि, मातुलुंग रस, मार्कवरस, मांसी, मुद्ग, मुस्ता, मृणाली, मृद्वीका, मेदा, मेषशृङ्गी पुष्प, यव, यवक्षार, यवमस्तु, यष्टी, यष्टीरस, रजनी, रसांजन, रोहिणी, लशुन, वृषविलेपी लांगलिकक्षार, लोध्र, वक्र, वरा, वरी-मूल, वंश, वातघ्न द्रव्य, वासारस, बिष, वृषविलेपी, वृष, वैदेही, व्याघ्री, व्योष, सक्तु, सप्तलारस, सरल, सर्ज, सर्जरस, सर्षप, सारिवा, सितैरण्डजटा, सिंही, सिंहीफल, सुनिषण्णक, सुमनःफोरक, सुरसारस, सुरा, स्वर्णक्षीरी, शतावरी, शताह्वा, शमीपत्र, शमीयव, शर्करा, शबरदेशज, शारपत्र, सारंगेष्ठा, शालितण्डुल, शिग्रु, शिग्रुपल्लव रस, शिरीष, शिरीषपुष्प, शुण्ठी, शृङ्गी, शेफालिका, शैलेयक, श्वेतमिरच, श्वेतरोध्र, श्रेष्ठा, षष्टिक, हिम, ह्रीवेर;

सुश्रुत के नेत्र रोगोपयोगी जंगम द्रव्य—

अजाक्षीर, अजामूत्र, अजास्थि, अम्बर, अर्णवल, आनू-पजमांस, अनूपवसा, आविक घृत, एणमांस, करभास्थि, कुक्कुटाण्डकपाल, कुक्कुटाण्डदल, कूर्मपित्त, कृष्णोरग, क्षीर,

कृष्णोरगवसा, यैद्र, गृद्धवसा, ग्रहगोधिका, गोदन्तमसी, गोदुग्ध, गोधायकृत, गोमांस. गोमांस चूर्ण, गोयकृत, गोसकृद्रस, घृत, छागदुग्ध, छागयकृत, जलवसा, जलजोद्भव मांस, जांगलमांस, ताम्रचूड़ वसा, ताम्रपात्रस्थित सर्पि, दन्त, नीर क्षीर, पायस, पित्त, पुराणघृत, प्लीहा, मज्जा, मधु, मांस रस, मुक्ता, मेदस, यकृत, यकृद्रस, रोचना, रोहिपित्त, वसा, विद्रुम, सिन्धुफेन, दूध, शंख, शुक्ति, शृंग।

चरक के नेत्ररोगोपयोगी जंगम द्रव्य—

अजाक्षीर, कुक्कुटाण्डकपाल, कुक्कुटाण्डत्वक, घृत, घृतमण्ड, पुराना घी, छागलशकृत, प्रवाल, प्लवास्थि, मधु, वस्तमूत्र, सर्पवसा, शूकर दंश्ट्रा, शंख, शंखनाभि, समुद्रफेन।

अष्टांग हृदय के नेत्र रोगोपयोगी जंगम द्रव्य—

अजदन्त, अजामूत्र, अर्णवमल, अविवसा, अश्मदन्त, अहिवसा, अजपयस, आस्थ, अनूपवसा, अनूपवेशवार, उष्ट्रदन्त, एण्यमेदस, करभास्थि, कुक्कुट पुरीष, कुक्कुटवसा, कृष्ण सर्प, कृष्ण सर्पवसा, क्षीर, क्षीरसर्पि, क्षौद्र, खरदन्त, गर्दभास्थि, गृद्धवसा, गृद्धस्य, गोदधिसार, गोदन्त, गोमय रस, गोमांस, गोमूत्र, घृत, छगणरस, छगली दूध, छगली रस, छागदुग्ध, जलौका, जांगल मांस, तित्तिरवसा, दक्षवसा, दग्धकेशमसी, दधि, दधिमस्तु, दन्त, दन्तिदन्त, नवनीत, नारीस्तन्य, पय, पुराण घृत फेनक, बर्हिवसा, माक्षिक, मांस रस, महिषयकृत्पित्त, मेषशृंग, मोती, यकृत, वराहदन्त, वाराहीवसा, वसा, वस्तमूत, विच्छू, व्याघ्रीवसा, समुदफेन, सर्पिमण्ड, सिंह दन्त, स्तन्य, शंख, शंखनाभि, शल्यकवसा, शावर, शृंग, श्ववसा, श्वेत गोवाल, हवि।

सुश्रुत के नेत्र रोगोपयोगी पार्थिव द्रव्य—

अभ्रक, अयस, कज्जल, कनकाकरोद्भवांजन, कांस्यमल, कासीस, कुरुविन्द, कृष्णायस, ताम्र, ताम्रकपाल, ताम्ररस, तार्क्ष्यज, ताल, तुत्थ, त्रपु दीपशिखोद्भवाञ्जन, धातु, नेपालजाता, मनःशिला, माक्षिक, रजत, रत्न, रस (पारद), लोहचूर्ण, लोहनाड़ी, वैदूर्य, समुद्रलवण, सौवीरांजन, स्फटिक, स्वर्ण, गैरिक, स्रोतोंजन, शतकुंभ (हेम)।

चरक के पार्थिव द्रव्य—

अयोरज, कासीस, गैरिक, ताप्य, ताम्र, तुत्थ, नीलांजन, पुष्पांजन, मणि, मनःशिला, लौह, वैदूर्य, स्रोतोंजन, सौवीरांजन।

अष्टांग हृदय के पार्थिव द्रव्य—

उष्णांबु, कासीस, कास्य, कृष्ण लोहज, गन्धपाषाण, गैरिक, गोदन्ती, ताप्य, ताम्र, ताम्रपात्र, ताम्ररज, तार्क्ष्य, ताल, तुत्थ, दिव्याप, धातु, नाभसजल, पुष्पकासीस, पुष्पराग, मनःशिला, मृत्कपाल, रत्न, रसेन्द्र, रतिपुष्प, रूप्य, लवणोत्तम, लौह, लौहरज, वंग, वैदूर्य, सितकाच, सिन्धूत्थ सीसक, सौवीरांजन, फिटकिरी, सोनागेरू, स्रोतांजन, हेम।

इन द्रव्यों में विशेष प्रयोग में आधुनिक युग के अनुसार आने वाले द्रव्य इस प्रकार हैं, जिनका प्रयोग देशी, विदेशी सभी करते हैं–

सुश्रुत के बहु प्रयोगीय औद्भिज द्रव्य—

अतिवला, अर्क, अश्वगन्धा, अशोक, आग्निक, आम्र, आम्रपुष्प, आर्जक, आर्तगल, आर्द्रा, आस्फोत, इक्षु, इंगुदीत्वक, इन्द्रसुरा, उत्पलकिंजल्क, औदुम्बर, कण्टकारी, कपित्थ, कपित्थवृन्त, कर्कट रस, कर्कोटक, क्रव्यभुक, काकोल्यादिगण, कारवेल्ल, कालानुसारिवा, कालीयक, काश्मीर, काश्मरी पुष्प, किणिही, किराततिक्त, कीट शत्रुसार, कुटन्नटा, कुब्जक, कुमुदपत्र, कुश, कुष्ट, कोरक, कोलाम्ल, क्षणद, क्षौद्रा, खरमंजरी फल, गन्धोदक, गांगेय, गुन्द्रा, चिल्ली, तण्डुलीय, तर्कारी, तुवरक, त्रिफलोदक, दर्भ, दारुहरिद्रा, धातकी, नदीज, नलिन, नादेय, निम्बनिर्यास, निशाचरास्थि, नीलयव, पूत्तर, पलाण्डु, पाठा, पालिन्दी, पीलू, पुटाह्व, पुलक, पृश्निपर्णी, फाणित, बर्हिष्ट, बिभीतकास्थि, बिम्बी, भंगा, मिल्लौ, मधुरसा, बृहत्पंचमूल, मागधिका, मागधीपुष्प, मालती, कोरक, कपोतिकामूल, मेषपुष्प, मैरेय, यवौदन, यवनाल चूर्ण, रेणुका, रेवत, रोहितक, वर्णत्वक, वर्ताकू, विडङ्ग, वीरतरु, वृक्षादनी, वेतस, वेत्राम्ल, वेणुगह्वर, सहा, सार्षपस्नेह, सुरकाष्ठ, स्वयं गुप्ता फल, स्थिरा, स्थिरादिगण, स्फोट, शकुन, शल्लकी, शाल, शिग्रुपुष्प, शैलभेद, शैवल, शोभांजन, श्रीपर्णी, हरेणु, हिंगु।

जंगम द्रव्यों में—

अजाक्षीर, अजास्थि, अम्बर, अनूपजमांस, आविक घृत, एणमांस, कुक्कुटांण्डकपाल, कुक्कुटांण्डदल, कूर्मपित्त, ग्रहगोधिका, गोदन्तमसी, गोदुग्ध, गोधायकृत, गोयकृत, छागयकृत, जलजवसा, जलजोद्भवमांस, ताम्रचूड़वसा,

ताम्रास्थिसर्पि, ताम्रपात्रस्थितसर्पि, पायस, पित्र, प्लीहा; मज्जा, मेदस, यकृद्द्रसु, रोचना, रोहितपित्त, विद्रुम, शुक्ति।

पार्थिव द्रव्यों में—

अभ्रक; कज्जल, कनकाकरोद्भवांजन, कांस्यमल, कुरुविन्द, ताम्रकपाल, दीपशिखोद्भवांजन, वेपाथजाथ, समुद्र लवण।

अष्टांग हृदय के औद्भिज द्रव्य—

अक्षतैल, अक्षबीज, अतिमुक्तक, अनन्ता अपामार्ग बीज, अभया, अभिरुज, अमृता, अम्भोजकेशर, अम्लकांजिक, आढ़की, आरण्डकुलत्थ, ऐलेयक, करंजिका, कर्पूर, कार्पास, कुचन्दन, कुटज, कुंभ कुम्भयोनिपत्र, कुरंठक, कोद्रव, कौन्ती, गोधूम, घोशा, चपल, जीवक, तमालपत्र, तिला, तिलाम्भस, त्रायन्ती, त्रिजात, त्रिफलामसी, त्रुटि, त्रिपंचमूल, दशमूथ, धन्वयास, धान्याम्ल, नत, निकुंभ, न्यग्रोधादिगण, पटोली, प्रसन्ना, पुण्ड्र, पुराणयव, पूतग, फलिनी, फलशाक पत्र, बिदारी, बिल्वादिगण, बीजपुर, भूनिम्ब, मदनफल, मद्य, मस्तु मार्कव रस; मासी; मृणाली, मेदा, यवक्षार, रोहिणी, लांगलिकक्षार, बरीमूल, वातघ्न द्रव्य, वासा, विष, वृष, वैदेही, सप्तला, सरल, सर्ज, सिह्नी, हिंघीफल, सुरसारस, स्वर्णक्षीरी, शताह्वा, शमी, शव; रैदेशज, शार्षोष्ठा, शालितण्डुल, शृङ्गी, शेफालिका, शैलेयक, श्रेष्ठा, षाष्ठिक, हिम।

अष्ठांग हृदल के जंगम द्रव्य—

अजदन्त, अविबसा, अश्वदन्त, अह्निवसा, आनूप, वेज्ञवार, उष्ट्रदन्त, ऐणेयमेदस्, कुक्कुटपुरीष, कुक्कुटवसा, क्षीर सर्पि, खरदन्त, गर्दभास्थि, गृद्धास्थि, गोमूत्र, छाबण रस, छागलीदुग्ध, छागली रस; जलोका, तित्तिरवसा, वृश्चिक, दग्धवसा, दग्धकेशमसी, दन्तिदन्त, नवनीत, बर्हिवसा, महिषयकृतप्लीहा, मेखविषाण, वाराहदन्त, वस्तमूत्र, वाराहीवसा, व्याघ्रीवसा, सर्पिवसा, सर्पिर्मण्ड, सिह्नदन्त, शंखनाभि, शाल्यकवसा, शावर, दूववसा, श्वेतगोवाल।

पार्थिवद्रव्य—

गन्धपाषाण, गैरिक; गोदन्ती, ताप्य, दिव्याप, नाभस जल, पुष्पकासीस, पुष्पराग, मृत्कपाल, रीतिपुष्प, सितकाच, सीसक।

बृहत्त्रयी के औषधि कल्प

बृहत्त्रयी में औषधि कल्पों का वर्णन प्रकार भेद से निम्न है। १. सुश्रुत में ११. २. चरक में ५ ३. अष्टांग हृदय में १४ कल्पों का वर्णन है। जो आगे वर्णित है—

१. **अञ्जन कल्प**—अक्षबीज गुटिकाञ्जन, अप्रतिसाराञ्जन, उशीराद्यञ्जन, चूर्णांजन, (१), चूर्णाञ्जन, तगरांजन तालाद्यंजन, तालीशादिगुटिकांजन, दवप्रसादनांजन, देवदार्व्यंजन, नागरांजन, पत्राद्यंजन, प्रत्यंजन, पशुतांजन, पिण्डांजन, पुष्पकासीसांजन, भास्करांजन, मरिचांजन, मरिचाद्यंजन, मांस्याद्यंजन, रत्नादि चूर्णांजन, रसक्रियांजन रसांजनाद्यंजन, लेखनांजन, वसांजन, विमलांजन, सिताद्यंजन सौवीराद्यंजन, स्रोतोजादिपिण्डांजन।

२. **आश्च्योतन कल्प**—दार्व्यादिाद्याश्च्योतन, नागराद्याश्च्योतन, विल्वाद्याश्च्योतन, रोध्राद्याश्च्योतन, स्तन्याश्च्योतन शिग्रुपल्लवरसाश्च्योतन, ह्रीवेराद्याश्च्योतन।

३. **क्वाथ कल्प**—अभयादि क्वाथ, कंटकटेरी क्वाथ, करंजबीज क्वाथ, त्रिफला पंचमूल क्वाथ, द्राक्षादि क्वाथ धात्रादिपत्र क्वाथ, न्यग्रोधादि क्वाथ, पटोलामलक क्वाथ, पूगादि क्वाथ, मंजिष्ठादि क्वाथ, षष्टीक्वाथ, यष्ट्यादिक्वाथ वराक्वाथ, वातघ्न द्रव्य क्वाथ।

४. **क्षीरकल्प**—एरण्डक्षीर, करंज बीज क्षीर, चन्दनक्षीर, सैंधवक्षीर।

५. **घृतकल्प**—अमृतादि घृत, क्षीरसर्पि, खदिरादि घृत, जीवनीय घृत, जीवन्ती घृत, जीवन्त्यादि घृत, तिक्तघृत, त्रिफला घृत, त्रिवृत घृत, दशमूलघृत, द्राक्षादि घृत, दाक्षासिद्ध घृत, पुराण घृत, फलत्रयघृत, पटोलादि घृत, मधुकादि घृत, मधुरकन्द सिद्ध घृत, महात्रैफल घृत, मेदाघृत, यष्ट्यादि घृत, वराघृत, व्योषादि घृत, शताश्वादि घृत।

६. **तैलकल्प**—अणुतैल, नतादि तैल, मधूकादि तैल, सितैरण्डादि तैल, ह्रीवेरादि तैल, बसा तैल।

७. **मसीकल्प**—कार्पासमसी, केशमसी, त्रिफलंकतमदव्यमसी।

८. **मूतीकल्प**—घोषादिमूती, पुण्ड्रादिमूती, श्वेतरोध्रादिमूती, सितमरिचादिमूती।

९. **रसक्रियाकल्प**—करंजबीजादि रस क्रिया, तार्क्ष्यरस किया।

१०. लेप कल्क कल्प—दूर्वादिकल्प, पयस्यादिलेप, मधूकादिलेप, व्याघ्र्यादिकल्क, सर्षपादिलेप।

११. वर्तिकल्प—आढक्यादिवर्ति, करंजादिवर्ति, कालानुसारीवर्ति, कोकिलावर्ति, कौंत्यादिवर्ति, जातीपुष्पादि वर्ति, दन्तवर्ति, द्राक्षादिवर्ति, पाशुपतवर्ति, रूप्यवर्ति, बिमलावर्ति, सारिवादिवर्ति, सुमनकोरकावर्ति, सैन्धवादि वर्ति, शशादिजावर्ति।

१२. विडालक कल्प—पत्रादिविडालक, मनोह्वादि विडालक, मांस्यादिविडालक, रोध्रादिविडालक, सैन्धवादि विडालक।

१३. संधानकल्प—उदुम्बरघृष्ट स्तन्य, ताम्रघृष्ट गोमूत्र, ताम्रघृष्टदधिसर मृत्कपालघृष्ट तिलाम्मस, शंखघृष्टस्तन्य, शिग्रुपत्र निर्यास।

१४. अन्यकल्प—एलादिविरेचन, कुलत्थचूर्णविचूर्णन, तर्पणयोग, बराचूर्णयोग, तुत्थकादि सेकयोग।

चरक के पांच कल्प इस प्रकार हैं

१. अंजनकल्प—एलाद्यञ्जन, चूर्णांजन, मरिचाद्यञ्जन, सौवीराद्यञ्जन।

२ आश्च्योतन कल्प—एरंडादिक्वाथ, बिल्वादिक्वाथ, प्रथ्वीकादिक्वाथ, विल्वादि क्वाथ, नागरादिरस।

३. रसक्रियाकल्प—कृष्णसर्पयोग रस क्रिया, धात्रीरसांजन रस क्रिया, धात्री सैंधवरस क्रिया, पिप्पल्यादि रसक्रिया।

४. वर्तिकल्पा—कतकादिवर्ति, त्रिफलादिवर्ति, दृक्प्रसादनीवर्ति, वृहत्यादिवर्ति, सुमन कोरकादिवर्ति, सैंधवादिवर्ति, सौवीरकादिवर्ति, शंखादिवर्ति।

५. विडालककल्प—गैरिकादिविडालक, चन्दनादिविडालक, नागरादि विडालक, पद्मकादिविडालक, मनःशिलादिविडालक, शवरकादि विडालक. सैंधवादिविडालक, हरीतकी लेप, ह्रीवेरादिलेप।

सुश्रुत के नेत्र रोगोपयोगी ११ कल्प इस प्रकार हैं।

१. अंजनकल्प—इक्ष्वाद्यंजन, रक्ताद्यंजन, कपित्थवृंताद्यंजन, कासीसाद्यंजन, कासीसुरसांजनाद्यंजन, कासीससैन्धवाद्यंजन, काश्मर्यांजन, कुंजकाद्यंजन कृष्णायसांजन, क्षारांजन, क्षुद्रांजन, क्षौद्रांजन, गुटिकांजन, गुडिकांजन, गृद्ध्रादिवसांजन, गैरिकाद्यंजन, गोमांसाद्यंजन, चन्दनाद्यंजन, चूर्णांजन, जाती पुष्पाद्यंजन ताम्राद्यंजन, तार्क्ष्यजांजन, तालासाद्यंजन, तुत्थकादिप्रत्यंजन, तुत्थांजन, धत्तक्याद्यंजन नदीजायंजन, नादेयाद्यंजन, नीलोत्पलाद्यंजन, नेपालजाद्यंजन, पलाशांजन, प्रत्यंजन, पाटलाद्यंजन, पाटल्याद्यंजन, फणितांजन, फणिज्झकाद्यंजन, विभीतकास्थि मज्जांजन, मद्रोदयांजन, मधुकाद्यंजन, मधुरसाद्यंजन, मनःशिलादि- कुटिकांजन, महौषधाद्यंजन सालत्यादिप्रत्यंजन, मुद्राद्यांजन मुस्ताद्यंजन, यकृदंजन, यकृतप्लीहांजन, यवक्षाराद्यंजन, योगांजन, रजन्याद्यंजन, रसांजनाद्यंजन, लख्यांजन, वक्रांजन, वसांजन, वैदूर्यांजन, समांजन, समुद्रफेनांजन, समुद्रफेनादिचूर्णांजन, सैंधवाद्यंजन, स्फटिकांजन, स्वयं गुप्तफलांजन, शल्लक्याद्यंजन, शंखकोलांजन, शंखाद्यंजन, शंखादिचूर्णांजन, घातकुंभाद्यंजन, श्रंगवेराद्यंजन, हरेणुकांजन, हरेणुकाद्यंजन।

२. आश्च्योतन कल्प—अम्लाश्च्योतन, करंजवीजाद्याश्च्योतन, कशेरकाद्याश्च्योतन, नागराद्याश्च्योतन, मुस्ताद्याश्च्योतन, यष्टिकाद्याश्च्योतन।

३. क्षीरकल्प—एरण्डसिद्धक्षीर, कण्टकारीसिद्धक्षीर, खरमंजरीफलपय, गुंद्रादिक्षीर, द्राक्षादिक्षीर, प्रमथ्यादि क्षीर, पिप्पल्यादि सिद्धपय, मधुकोत्पलादिक्षीर, रोध्रसैंधवादि पय, वातहरसिद्धक्षीर, सैंधवादिक्षीर, स्थिरादिक्षीर, ह्रीवेरादि क्षीर।

४ घृतकल्प—क्षीरसर्पि, गुडूचीघृत, गुन्द्रादिघृत, तिक्तघृत, तैल्वकघृत, त्रिफलाघृत, त्रिवृतघृत, द्राक्षादिघृत, धत्तूरादि घृत, पुराणघृत, मधुरादिघृत, मेषश्रृङ्गीघृत, यष्टिकादि घृत, वनस्पति क्वाथसिद्धघृत, वातघ्नसिद्धघृत, वीरतरु घृत, वृक्षादन्यादिघृत, वैरेचनिकघृत, शतावर्यादिघृत।

५. तैलकल्प—अणुतैल, गोशकृतसिद्धतैल, तृवृत्तैल, पयसिद्ध पंचांगुल तैल, मधुरादितैल, वातघ्नसिद्ध तैल।

६. प्रतिसारणकल्प—क्षौद्रादि प्रतिसारण, तुवरक प्रतिसारण, त्रिफलादि प्रतिसारण, पथ्याफल प्रतिसारण, मनोह्वादि प्रतिसारण, यवनालादि प्रतिसारण, रसांजन प्रतिसारण, रोचनादि प्रतिसारण, सैंधवकासीसादि प्रतिसारण, सैंधवक्षौद्र प्रतिसारण, शिलादि प्रतिसारण।

७. प्रलेपकल्प—कुटन्नटादि प्रलेप, गैरिकाद्यालेप, रुद्रपद्मकादिलेप, द्राक्षामधुकादिलेप, दूर्वादिप्रलेप, नीलोत्पलादि प्रलेप, पयस्यादिलेप, भृष्टतिलादिलेप, मधुकादिप्रलेप।

—शेषांश पृष्ठ २०७ पर देखें।

श्री डा० बनारसी दास दीक्षित होमियो रत्न

मान्यवर दीक्षित जी की 'धन्वन्तरि' पर सदैव ही कृपादृष्टि रहती है। जब कभी होमियोपैथी सम्बन्धी किसी लेख की आवश्यकता हमें पड़ती है तो हम आपसे ही आग्रह करते हैं तथा आप हमारे आग्रह को सहज ही स्वीकार कर लेते हैं। इस बार आप नैपाल में लाइन्स क्लब वीरगंज के चिकित्सालय का कार्य भार संभालने के कारण अत्यन्त व्यस्त थे फिर भी समय निकाल कर इस विशाल विशेषांक में प्रकाशनार्थ लेख प्रेषित किये हैं। नेत्र रोगों के लक्षण निदान आदि छोड़ दिये गये हैं। क्योंकि वह पूर्व के लेखों में आ चुके हैं। मात्र चिकित्सा ही दी है। आशा है कि पाठक लाभ उठायेंगे।

—दाऊदयाल गर्ग

नेत्रों के अनेकों रोग होते हैं पर होमियोपैथिक का सिद्धान्त है कि रोगी का इलाज करो न कि रोग का, जिस दवा से रोगी के लक्षणों का सादृश्य होगा वह उस रोगी के लिए लाभप्रद दवा होगी। रोग जो भी होवे अतः होमियोपैथों को दवा के और रोगी के लक्षणों का सादृश्य देखना है। रोग के नाम से कोई पेटेण्ट दवा नहीं है। नीचे हम नेत्र रोगों के रोगियों के लक्षणों से सादृश्य रखने वाली दवाइयों पर लिखेंगे। आवश्यक होने पर स्थान २ पर संक्षेप में रोगियों के उदाहरण एवं महापुरुषों (होमियो डाक्टरों) के अनुभव भी लिखेंगे। इस लेख में मैं उन्हीं दवाइयों के बारे में लिखूंगा। जिनका प्रयोग मैंने अपने चिकित्सा काल में करके लाभ उठाया है। इससे पाठकों को कुछ भी लाभ होगा तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूंगा।

एकोनाईट नेपलस ३०, २००—

यह आयुर्वेदज्ञों की चिर परिचित दवा वच्छनाग से तैयार होती है। तेज ठण्ड लगकर आँखों में प्रदाह की प्राथमिक अवस्था में लाभप्रद है। यह प्रदाह अचानक होता है। आँखें लाल, फूली हुई, आँखों में गर्मी मालुम देती हो, ऐसा अनुभव होवे जैसे बालू गिर गई होवे, आँख खोलने पर पानी गिरता होवे, एवं रोशनी सहन न होवे। यह नेत्र प्रदाह की प्रथमावस्था की दवा है। इसके यथा समय प्रयोग से रोग आरोग्य हो जाता है। यदि इसका समय पर प्रयोग नहीं होता है तो बैलाडोना के लक्षण आ सकते हैं। यह आवश्यक ही नहीं है कि एकोनाईट के बाद बैलाडोना के ही लक्षण आवें पर प्रायः इसी के लक्षण देखे जाते हैं।

बेलाडोना ६,३०,२००

इसका प्रयोग प्रायः रोग की तरुण (नई) अवस्था में विशेष होता है। पुराना रोग होने पर इनके लक्षण नहीं रहते हैं। बेलाडोना को याद रखने के लिये तीन बातों का ध्यान रखें। १. लाल २. गरम ३. अनुभाविक्य। आँखें बहुत ही लाल होती हैं। रक्त संचय अधिक होने के कारण कनपटी की नसों में स्पंदन होता है साथ ही भयंकर वेदना होती है। आंखें, सिर गरम रहता है। मामूली आवाज, रोशनी सहन नहीं होती है। रोगी आँखों को बन्द करके रखना चाहता है। यह प्रदाह की भयङ्कर अवस्था को शांत करती है।

बेलाडोना में स्राव और पस का अभाव रहता है।

—डा० कैन्ट

पलकों के किनारे की सूजन—

आंख की पलकें सूज जावे और आंख वन्द हो जाये उन्हें जबर्दस्ती खोलने पर रक्त गिरे तो बेलाडोना उपयोगी

है। वेलाडोना के उपरोक्त लक्षण होने पर यह आँखों की श्लेष्मिक झिल्ली की सूजन में भी लाभप्रद है।

आर्जेन्टम नाईट्रीकम ३०,२००,१०००

वेलाडोना, एकोनाईट प्रदाह की प्रथमावस्था की दवा है। इन दोनों दवाईयों में आँख से पस (पीव) नहीं निकलता है वल्कि सूखापन ही रहता है। यदि आँख लाल होवे और उसमें गाढ़ा पीले रङ्ग का पस निकलता होवे तव आर्जेन्टम नाईट्रीकम का प्रयोग करना चाहिये। यह दवा लक्षण साद्दश्य होने पर साधारण आँख आने से कठिन से कठिन आँख के रोगों में लाभप्रद है। लक्षण हैं–रोगी एवं उसकी रोगाक्रांत आंखों में सभी समय ठण्ड से अच्छा अनुभव होता है। जैसे ठण्डी हवा, ठण्डे जल से धोना, ठण्डे स्थान में रहना सभी प्रकार के ठण्ड से उपशम (आराम) अनुभव होता है, गरम घर में उत्ताप से गरमी से भयानक कष्ट होता है।

दोनों पलकें फूल जाती हैं खोलने पर गाढ़ा पीला प्रचुर पस् निकलता है। वेलाडोना की तरह जलन, वेदना की भयंकरता इसमें नहीं होती।

सौरी घर में तुरन्त के जन्मे वच्चे की आँखें लाल होवें और उसमें पीला गाढा पस् निकलता हो तव आर्जेन्टम नाई २०० शक्ति की १-२ खुराक से वच्चा ठीक हो जाता है। इस प्रकार का पस स्राव पल्सेटिला नामक दवा में भी है जव आर्जेन्टम के प्रयोग से कुछ लाभ होवे लाली कम हो जावे पर पस जाता रहे तो पल्सेटिला का प्रयोग करने से लाभ होता है। यह एन्टीसाईकोटिक दवा है।

एपिस मेल ३०,२००,१०००

जलन, फूलन (सूजन), डंक मारने की तरह की वेदना, एवं इनके साथ ही ठण्ड से ठण्डे प्रयोग से उपशम, गरम से वृद्धि यही इस दवा के प्रधान लक्षण हैं। उपरोक्त लक्षण होने पर अतिशय दुरारोग्य एवं भयंकर स्थिति होने पर भी एपिस लाभप्रद है। स्राव पतला होता है एवं आंखों की पलकें वहुत ही फूली हुई होती हैं। विशेष कर के नीचे की पलक जलपूर्ण थैली की तरह हो जाती है। रोग दाहिनी आँख से आरम्भ होकर वांये तरफ जाता है।

आरम मेटालिकम ३०,२००,१०००

इस दवा के लक्षण प्रायः सिफलिस दोष युक्त अथवा पारद से विपाक्त रोगियों में मिलते हैं। आरम मेटालिकम् एन्टीसिफलिटिक दवा है। जिन व्यक्तियों में वंशगत या स्वोपार्जित सिफलिटिक दोष होता है उनकी कर्निया में क्षत, नेत्रों से पतला क्षत कारक जल स्राव, रोशनी का सहन न होना, स्पर्श कातरता आदि लक्षणों के साथ ही एक विचित्र लक्षण यह होता है कि प्रत्येक वस्तु का ऊपर का अंश दिखाई नहीं देता है सिर्फ नीचे का भाग ही दिखाई देता है। यदि रोगी में इसका मानसिक लक्षण आत्म हत्या करने की अदम्य ईच्छा भी हो तो यह रोग और रोगी को पूर्ण आरोग्य कर देती है।

कास्टीकम ३०,२००,१०००

सूखा ठंडा लगकर आँखों के किसी भी पेशी की पक्षाघातिक अवस्था में यह विशेष लाभप्रद है जैसे आँख की ऊपर पलक का पक्षाघात के कारण पलक खोलने में असमर्थता या कस्टानुभव पलक भारी वोध होती है। दृष्टि धुंधली, सर्दी लगकर आँखों का दुखना अनुभव होता है जैसे आँख में वालू पड़ी हुई है। गुहोरी निकलना। मोतिया विन्द की प्रथम अवस्था में जव आंख से धुंधला दिखाई देता है। जैसे आँखों के सामने कुहाशा या वादल आ गया है। उस समय इसके लक्षणों का साद्दश्य होने पर यह लाभप्रद है।

डा० हेरिंग का मत है कि जहां कास्टीकम की आवश्यकता होती है वहां रोगी आँखों को हाथ से रगड़ा करता है क्योंकि इससे आँख का भारीपन कम होता है।

कोनायम् मेकुलेटम ३०,२००

रोगी की आंखों में न तो किसी प्रकार का प्रदाह है और न ही आंखों में लाली है फिर भी रोशनी सहन नहीं होती है आँखों को वन्द करने या अंधेरे में आराम मिलता है। चोट लगकर यदि मोतिया विन्द का सूत्रपात होतो यह विशेष लाभप्रद है। आँख खोलते ही आँखों से पानी गिरता है। उसके साथ पूय भी होता है। एक विचित्र वात वह कि किसी भी रंग की वस्तु होवे रोगी को वह सफेद नजर आती है, चलती हुई वस्तु मोटर, रेल या अन्य गति शील वस्तु को देखने में रोगी को असुविधा होती है एवं उसके सर में चक्कर आने लगता है। अन्धेरे में एवं दवाने पर उपशम। कण्ठमाला धातु दूषित मनुष्यों में इसी प्रकार का अभिष्यन्द दिखाई देता है रोशनी का सहन न होना इसका प्रधान लक्षण है। —डा०ई०वी०नैश

सिया ३,६,१०,२००

नेत्र रोगों का नाम सुनते ही नव सिखुवे प्रायः इयूफे-
की व्यवस्था कर देते हैं, यह होमियोपैथिक सिद्धान्त
रुद्ध है, प्रत्येक दवा तब ही लाभ करेगी जब वह सम-
युक्त होगी। इयूफेसिया का प्रधान लक्षण आँखों से
क्षत कारक पानी गिरना, रोगी अनुभव करता है कि
आँखें श्लेश्मा से पूर्ण हैं। अतः बार-बार आँखों को
ता बन्द करता है।

अनुभव—तीन चार साल पूर्व भारत में आँखों का
फैला था लोगों ने उसे नाम दिया था जय बंगला।
आँखें लाल होती थी उनमें दर्द जलन एवं पानी
ता था इस रोग में हमने खाने के लिये बेलाडोना या
फेसिया ३० शक्ति और आँख में डालने को इयूफेसिया
न देते थे। १ औंस डिस्टील वाटर में २० बूंद इयू-
सिया (अक्सटर्नल) डालकर बनाते थे और दिन में ३-४
डालने को कहते थे। इससे २-३ दिन में रोगी
रोग्य हो जाता था।

सीयम ३,६,३०,२००

ऊपर की पलक का पक्षाघात अतः पलकें गिरी रहती
। रोगी पलकों को खोलने में असमर्थ रहता है।

रिकस ३०,२००

आँखों की पलक फड़कती है। रोगी को मेरू मज्जा/
उत्तेजना रहती है।

उदाहरण—गत वर्ष एक स्त्री लायन्स क्लब होमियो-
थिक चिकित्सालय वीरगंज में चिकित्सा के लिये आई।
सको १ माह से आंख की पलक फड़कने की बीमारी थी
ससे वह परेशान थी। एगरीकस एम. शक्ति की २ खुराक
ठीक हो गई।

ल्यूमिना ३०,२००

आँखों की बीमारी में जहाँ आँखों में सूखापन होवे
ाव बिलकुल ही न हो तो साथ ही एल्यूमिना का प्रधान
क्षण कब्ज होने पर इसका प्रयोग होता है।

ार्निका ३०,२००

चोट लगने के कारण कोई भी रोग होवे, आँख के
न्दर दर्द, लाल होना, सूजन आदि में यह लाभप्रद है।
अनेकों डाक्टरों का मत है कि आँख में चोट लगने पर
आर्टिमिसिया मलगेरिस लाभप्रद है।

हीपर सल्फ २००, १०००

प्रदाह की तीसरी अवस्था जब पीले रंग का गाढ़ा
पीव आता होवे, नेत्र में बहुत दर्द स्पर्श तक सहन न होवे,
रोशनी सहन नहीं होती है, दर्द, गरम प्रयोग से उपशम
ठंडा प्रयोग से वृद्धि।

सावधान—ऐसी अवस्था में इसकी निम्न शक्ति का
प्रयोग नहीं करना चाहिए, निम्न शक्ति के प्रयोग से पीव
अधिक पैदा हो जायगा।

मार्कसोल ३० ,३००, १०००

आँखों के रोगों में इसका प्रयोग बहुत होता है अतः
बिना लक्षण सादृश्य नये छात्र इसका अप-व्यवहार भी
बहुत करते हैं। आँखों क्षत या आख दुखने पर जब रोग
कुछ पुराना हो जाता है तो इसके लक्षण पाये जाते हैं।
ऊपर की पलक मोटी और लाल वर्ण की, आंखों में कर-
कर दर्द रात में आँखें बन्द हो जाती हैं। मर्करी जाति
की सभी दवाइयों की यह विशेषता है कि आग के ताप
से या आग की तरफ देखने पर रोग लक्षण बढ़ जाते हैं।
रात में और बिछावने की गरमी से रोग वृद्धि आँखों का
स्राव क्षत कारक होता है।

मार्क कोर ३०; २००

प्रत्येक मर्करी जाति की दवा नेत्र के रोगों में विशेष
लाभप्रद है उनमें भी मार्ककोर में तो एनोनाइट के रोगों
की तरह भयंकरता अधिक देखी जाती है। जैसे भयंकर
जलन, भयंकर प्रदाह, लाल वर्ण आँखें, उनके चारों तरफ
दर्द, रोशनी अग्नि ताप, गरमी एवं अग्नि देखने पर
वृद्धि। क्षत कारक स्राव, रात में रोग वृद्धि, यह रोग की
नई अवस्था में एवं आँख के किसी अंश में क्षत होने पर
लाभप्रद है।

लाईकोपोडियम् ३०, २००; १०००

आँखों पर गुहेरी होती है, पलकें मोटी, फूली हुई,
क्षत युक्त, रोग का आक्रमण पहले दाहिनी आँख पर
होकर फिर बाईं आँख में होता है। आँख सूखी मालूम
होती है। रतौंधी-रोगी को सूर्यास्त के बाद कुछ भी
दिखाई नहीं देता है।

नेट्रम म्यूर ३०, २००, १०००

नेट्रमम्यूर के व्यक्तिगत लक्षण होने पर आंखों की कोई भी बीमारी होवे वह नई हो या पुरानी होवे नेट्रमम्यूर लाभप्रद है। लक्षण बहुत ही कब्ज, सूखा हुआ चेहरा, ठंडा पसन्द, आग और सूर्य की गर्मी से रोग वृद्धि या असह्य, नमक खाने की इच्छा इस प्रकार के रोगों को आंखों में जलन, पानी गिरना, स्थिर दृष्टि से कोई चीज नहीं देख सकता है। आंख के कोने में घाव, आंखों में जैसे बालू गिर गई है ऐसी अनुभूति, सर में दर्द जो कि सूर्योदय से सूर्यास्त तक रहता है। मोतियाबिन्दु आदि में यह लाभदायक है। यह एक दीर्घ क्रियाशील दवा है अतः रोगी के व्यक्तिगत लक्षणों पर विशेष ध्यान दें।

स्थानाभाव के कारण लेख को छोटा करने के अभिप्राय से कुछ रोगों की संक्षिप्त चिकित्सा दे रहा हूं। यहां दवा के नाम मात्र ही दूंगा। दवाईयों के लक्षण एवं विशेष विवरण के लिये मेटेरिया मेडिका का अध्ययन करें।

पलकों के किनारे की सूजन—एकोनाईट, सलफर, वेलाडोना, हीयरसल्फ, ग्रेफाईटिस, एल्यूमिना, आर्जेन्टमनाईट्रीकम, मार्कसोल, इयूफ्रेसिया, सीपिया।

मोतिया बिन्दु—साईलिसिया, सलफर, कैनाबिस सेटाईवा, इयूफ्रेसिया, कल्केरिया कार्ब, कल्केरिया फ्लोर, फासफोरस, कलचीकम, जिंकमसल्फ, ऐगेरिकस, सिनेरिया मेरीटिमा सक्कस (बाहरी प्रयोग)।

महापुरुषों के अनुभव—

डा० बर्नेट ने अपनी पुस्तक (Curability of cataract) में लिखा है कि मोतिया बिन्दु व्यक्ति के शारीरिक स्वास्थ्य में गिरावट होने से होता है। स्वास्थ्य ठीक रहे तो इसके होने की सम्भावना कम रहती है। मोतियाबिन्दु के कारणों में से गठिया, वात, सिफलिस आदि भी कारण हैं इनमें सुधार होने पर मोतिया बिन्दु में भी सुधार हो सकता है। इनके अतिरिक्त डा० बर्नेट की सम्मति में इस रोग के तीन मुख्य कारण हैं।

१. अधिक नमक का खाना।
२. अधिक मीठे का खाना।
३. कठोर जल (Hard Water) का पीना।

(क) अधिक नमक खाने से कैटेरैक्ट—डा० बर्नेट ने डा० कुन्डे के परीक्षणों का उल्लेख किया है कि जब मेंढक बिल्ली आदि को नमक के इन्जेक्शन लगाये गये तब कुछ दिनों बाद उनके कैटेरैक्ट हो गया था।

यह अनुभव की बात है कि नमक अधिक खाने से अंगों में सूखापन आता है अतः आंखों के लैंस पर भी इसका प्रभाव होता है और लैंस सूख सा जाता है। कठोरता आ जाती है, लैंस का पानी सूखकर कठोरता आ जाती है। अतः मोतिया बिन्द हो जाता है।

अधिक मीठा खाने से कैटेरैक्ट—डा० बर्नेट लिखते हैं कि डायबेटिज के रोगी को प्रायः कैटरेक्ट हो जाता है क्योंकि उनके रक्त में सुगर की मात्रा बढ़ जाती है। सन् १८६० में अमेरिकन जरनल आॅफ दी मैडीकल साइन्सेज नामक पत्रिका में डा० रिचर्डसन ने अपने परीक्षण लिखे थे जिनसे सिद्ध होता है कि जिन प्राणियों को मात्रा से अधिक सुगर दिया गया उनकी आंखों का लैंस अपार दर्शक हो गया।

कठोर जल पीने से कैटेरैक्ट—कठोर जल में चूना मिला होता है जो लोग पहाड़ों में रहते हैं और झरनों का पानी पीते हैं उस पानी में चूने की मात्रा होती है अतः वहां मोतिया बिन्द के रोगी अधिक होते हैं।

साईलिसिया ६ प्रति चार घण्टे पर-डा० बर्नेट ने लिखा है कि यह दवा कैटेरैक्ट को दूर करने में बहुत सफल रही है। होमियोपैथिक में कोई भी दवा जब ही काम करेगी जबकि उसके लक्षणों का सादृश्य होगा। साईलिसिया भी जब ही काम करेगी। आपके रोगी को पहले पैरों में बहुत ही पसीना आता था और उसे रोक दिया गया हो जिसका प्रभाव आंख पर पड़कर कैटेरेक्ट हो गया हो तब साईलीसिया लाभकारी होगा।

अगर चर्मरोग को बाहरी प्रयोग से दबाने के कारण मोतिया बिन्द होने पर सलफर लाभदायक है। २०० शक्ति १५ दिन पर देनी चाहिये।

डा० मैड्डन को मोतिया बिन्द का बहुत ही अनुभव था। उन्होंने बताया कि मार्कसोल, कल्केरिया, तथा फासफोरस-ये तीन दवाईयाँ मोतिया के लिए सब से ज्यादा कामयाब है, किन्तु इनकी उच्चशक्ति १ एम. १० एम. का प्रयोग करना चाहिये।

शिकोगा के डा० ई० टी० ऐलेनने का कथन हैं कि ऐगेरिकस १२ से मोतिया के कई रोगी ठीक हुये हैं।

होमियोपैथिक रिकोर्डर सन् १९२४ में लिखा है कि जिकम सल्फ C M शक्ति १ मात्रा से कोर्निया का अपारदर्शकपन तथा कैटेरेक्ट ठीक होता है। डा० वोरिक ने भी अपनी मेटेरिया मेडीका में यही लिखा है।

मेरा अनुभव—जिन रोगियों को मोतिया बिन्द आरम्भ हो गया है उनको खाने के लिए कल्केरिया फ्लोर और आंख में डालने के लिए सीनेरिया मेरिरिमा सक्कस दवा देकर बहुतों को लाभ हुआ है। किन्तु यह दवा लम्बे समय तक प्रयोग करनी होती हैं।

मोतिया बिन्द वृद्धावस्था का रोग है अतः इस पर हमने जरा विस्तार पूर्वक लिखा है आगे साधारण रोगों की चिकित्सा स्थानाभाव के कारण बहुत ही संक्षेप ने लिखेगें।

आंखों के रोगों की संक्षिप्त चिकित्सा—

अञ्जनहारी (STYES)—पल्सेटिला २०० की २ खुराक दें। लाभ न होने पर स्टेफिसेग्रिया ३० शक्ति ३ बार रोज। बार-बार गुहेरी निकलना रोकने के लिए मैं स्टेफिसैग्रिया १००० शक्ति का प्रयोग करता हूं। कहीं कहीं पर हीपर सल्फ का प्रयोग भी करना पड़ा है।

पलकों की सूजन—नीचे की पलक पानी की थैली की तरह सूज जाने में एपिसमेल और ऊपर की पलक की सूजन में कैलीकार्ब प्रधान रूप से दी जाती है।

पलकों का झपकना—आंख को बराबर झपकते रहने में इयूफ्रेसिया ३ या ६ दो स्नायविक दुर्बलता के कारण होने पर चेहरे की मांस पेशियों में झटके के साथ आँख झपकती होतो लाईको पोडियम ३०। पढ़ने के कारण थकावट आकर हो तो कल्केरिया कार्ब ३० देवें।

पलकों में रोहे—लक्षणानुसार आर्जेन्टम नाईट्रीकम, आर्सेनिक, या सलफर देवें।

आंख का नासूर—गाढ़ा मवाद होने पर हीपर सल्फ २०० या पल्सेटिला देवें। स्राव पतला होवे पर साईलीसिया २०० या फ्लोरिक एसिड, मार्कसोल, सल्फर आदि लक्षणों के अनुसार देवें।

आँसू बहना—ऐलीयम् सेपा, इयूफ्रेसिया, नेट्रमक्यूर।

कम दिखाई देना—रस रक्तादि क्षय होने के कारण चायना या फासफोरस देवें। शराब आदि नशे के कुपरिणाम स्वरूप हो तो नक्स वोमिका दें।

रक्त संचय के कारण बेलाडोना देवें। सर दर्द के कारण सेगूनेरिया देवें। किसी दवा का प्रयोग करते समय लक्षण साद्दश्य होना अनिवार्य है।

दूर दृष्टि कम होने पर (Myopia)—दूर की चीज ठीक दिखाई नहीं देने पर फाईसोस्टीग्मा नामक दवा देवें। पाईलोकारपस भी लाभप्रद है।

अर्ध दृष्टि—किसी वस्तु का आधा भाग दिखाई देता है आधा नहीं दीखता उसे अर्ध दृष्टि कहते हैं। दाहिना भाग नजर नहीं आता कल्केरिया कार्ब, काक्युलस, लाईकोपोडियम् देवें। बाँया भाग नजर नहीं आने में साईक्यूटा, नेट्रम कार्ब देवें। नीचे का भाग नजर न आवे पर आरममेट देवें। ऊपर का भाग नजर न आने पर आर्सेनिक, आरम, डिजिटेलिस देवें।

द्वि-दृष्टि—एक चीज के दो दिखाई देने पर कास्टीकम, जेल्स, सेनेगा देवें।

रतौंधी (रात को नहीं दिखता है)—कैड्मियम्, चायना, लाईको, फाइसस्टिग्मा देवें।

दिनौंधी (दिन में नहीं दिखता है) कैस्टोरि, बौथरीप्स, साईलीसिया, फासफोरस दें।

धुंधला दिखाई देना—जेल्सी मृ, स्पाईजेलिया, प्रूनसस्पाईनोजा, कोलोसिन्थ साईक्लामेन देवें।

होम्योपैथिक दवा का प्रयोग करते समय लक्षणों का साद्दश्य अवश्य देखना चाहिए। स्थानाभाव के कारण बहुत से आँख के रोग एवं दवाईयों के लक्षण नहीं लिखे जासके हैं। पाठकगण क्षमा करेंगे।

—श्री डा० बनारसीदास दीक्षित होमियो रत्न
एच० एम० डी० एस०
दीक्षित फार्मेसी, रक्सौल (चम्पारन)
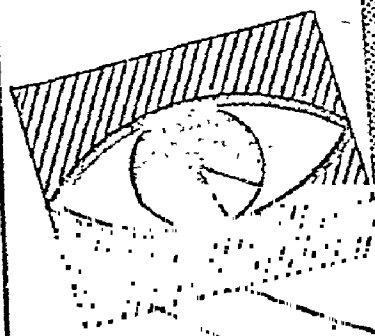
इससे पूर्व रोगानुसार नेत्र रोगों के कारण, लक्षण, साध्यासाध्यता एवं चिकित्सा अनेक लेखों में प्रतिपादित किया गया है। अनेक वैद्य अपनी दैनिक चिकित्सा में कतिपय योग प्रयोग करते रहते हैं तथा चिकित्सा में सफलता प्राप्त करते रहते हैं। यह अनुभूत योग हैं, तथा इनका आधार अनुभव ही है। किसी ग्रन्थ में इनका उल्लेख हो यह आवश्यक नहीं है।

यह योग प्रेषक वैद्य बन्धुओं के अनुभव पर ही आधारित हैं। हमने भरसक प्रयास किया है कि उनकी मात्रा आदि को सही-सही दिया जाय लेकिन फिर भी यदि कोई शंका प्रतीत हो तो लेखक से सम्पर्क स्थापित कर उसका निवारण करें। शंका के रहते हुए योग का निर्माण कर नेत्र पर प्रयोग करना कदापि उचित नहीं है। इसका पाठक बन्धु ध्यान रखें। आशा है कि इस योग प्रकरण से वैद्य समुदाय लाभान्वित होगा।

—दाऊदयाल गर्ग

कतिपय नेत्र रोगों में सफल प्रयोग

आजकल के खान-पान तथा दूषित वातावरण एवं रहन-सहन के विकार के कारण अल्पायु में ही कुछ रोग पकड़ लेते हैं। दृष्टिमान्द्य इन्हीं में से एक है। इससे पीड़ित होने पर अल्पायु में ही चश्मे का सहारा लेना पड़ता है। रोगी न बिना चश्मे के पढ़ सकता है और नाहीं देख ही पाता है। चश्मे का पावर भी बढ़ता जाता है। इससे छुटकारा पाने की अव्यर्थ औषधि है सप्तामृत लौह, इसे त्रिफलाघृत के साथ मिलाकर सेवन करने से दृष्टिमान्द्य (myopia) धीरे-धीरे ठीक हो जाता है और रोगी को चश्मा लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

औषधि की मात्रा देश, काल, बल, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्व, प्रकृति, वय, दोष, दूष्य के आधार पर निर्णीत की जानी चाहिये।

(२) अर्जुन—इस रोग में नेत्र के श्वेत मण्डल में रक्त जम जाता है इसका कारण नेत्रगत रक्तस्राव है जो चोट लगने या धूप में अधिक चलने फिरने से होता है। यदि इसका सम्यक् उपचार न किया जाय तो मनुष्य की दृष्टि ही नष्ट हो सकती है। यदि कोई बाह्य या आभ्यन्तर उपसर्ग न होने पावे तो वह स्रुत रक्त सामान्यतया अपने आप ही शोषित हो जाता है।
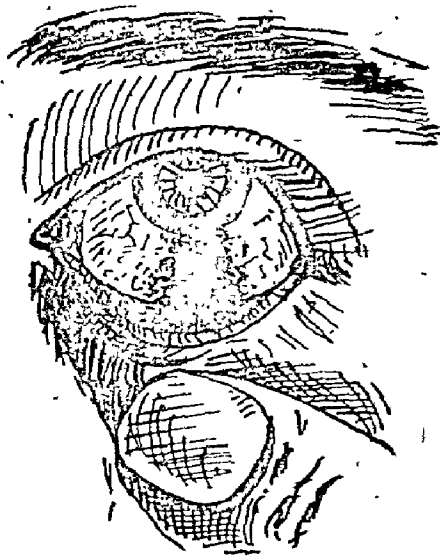
यदि चिकित्सा कराने के उपरांत ५-७ दिनों में रक्त का शोषण न हो जाए तो गोघृत लेकर उसे इतना ही गरम करें जितने में पिघल जाय। इस तरल घृत को 'आईग्लास' में भरकर इसे नेत्र पर उलट दें और उत्तान सो जायें। ५ से १५ मिनटों तक इस घृत द्वारा नेत्र का स्वेदन होने दें। २-३ दिनों में यदि रक्तिमा कम न हो जाये तो इस प्रक्रिया को दुबारा दुहारा देना चाहिये सामान्यतया एक बार के ही प्रयोग से रोग ठीक हो जाता है।

—श्री प० वागीश्वर शुक्ल
प्राध्यापक—संहिता विभाग, आयुर्वेद महाविद्यालय,
संपूर्णानन्द सं. वि. वि. बाराणसी।

× × ×

नेत्र रोगों पर पांच सफल प्रयोग

आंख दुखती हुई पर—अफीम १ माशे, रसोत १ माशे, पोस्त ३ माशे, लोध्र ३ माशे, सफेद फिटकरी ३ माशे, मुरदासंग ३ माशे, नीलाथोथा ३ माशे, जीरा ३ माशे, मिर्चकाली ३ माशे, हल्दी ३ माशे, लौंग ३ माशे, मुवारफट्ट ३ माशे, इन सबको ३ सेर जल में उबालें। आधा सेर रहने पर छानकर शीशी में भर लें। इस दवा की एक बूंद आँखों में डालने से दुखती हुई आँख बहुत शीघ्र अच्छी होती है।

दुखती आँखों पर सलाई—रसोत २ तोला, मिश्री १ तोला, अफीम ६ माशे, वायविडंग १ तोला, फिटकरी भुनी ६ माशे, नौसादर ६ माशे, हरड़ का गूदा ६ माशे, गवार पाठा ६ माशे, आमले १ तोला, पोस्ट ६ माशे, इन सबको मिलाकर रात को अठगुने पानी में भिगोवें। प्रातःकाल ऊपर का निथरा पानी लें और इसको अग्नि पर जलावें। जब गाढ़ा हो जाय तब उतार लें। इसकी एक सीक आंख में आंजे तो कैसी ही आँखें क्यों न दुखती हों अच्छी हो जाती हैं।

फूला काटने की दवा—काले सिरस के बीज ६ माशे, सौंठ ४ रत्ती, इनको जल में पीसकर गोली या बत्ती बनावें। इसके आंजने से फूला दूर होता है।

ढलका, धुंध, जाला के लिए अक्सीर अंजन—शीसा ६ माशे, गन्धक आमलासार १ तोला, पीपल छोटी १ तोला, मिर्चकाली ५ नंग, प्रथम शीशे को तवे पर डाल कर पिघलाले फिर थोड़ी गन्धक डाल कर फुंक ले। जब शीशा फुककर बिलकुल कज्जल हो जावे कपड़े में छान कर पीपल, मिर्च मिलाकर अजन बनावें।

सुजाक के बाद आँखे आना—रसोत १ तोला, सफेद फिटकरी १ तोला, त्रिफला ३ तोला, इलायची छोटी ६ माशे, पीपल छोटी ६ माशे, मिश्री १॥ तोला इन सबको बारीक पीसकर आठ गुने गुलाब जल में डाल दें। ३ दिन बाद छानकर रखें। हर प्रकार की आँखें दुखती हुई इस प्रयोग से ठीक हो जाती हैं।

—राजवैद्य श्री लक्ष्मणदत्त कौशिक
जहांगीराबाद (बुलन्दशहर)

पृष्ठ २०० का शेषांश

८. पुटपाककल्प—कृष्णलोहादि पुटपाक, जांगलमांसादि पुटपाक, मधुरोषधादि पुटपाक, मागधादि पुटपाक, लेखनादि पुटपाक, समुद्रफेनादि पुटपाक।

९. रसक्रियाकल्प—आमलक रसक्रिया, खरमंजरी रसक्रिया, पलाशपुष्पादि रसक्रिया, मनःशिलादि रसक्रिया वंशमूल रसक्रिया।

१०. वर्तिकल्प—कांस्यादिवर्ति, कुष्ठादिवर्ति त्रपुकांस्यमलवर्ति, पथ्यादिवर्ति, प्रकीर्यादिवर्ति, वहिष्ठादि वर्ति, मन.शिलादि वर्ति, मेपश्रृंग्यादिवर्ति, सिंघूत्कादिवर्ति।

११. अन्य कल्प—आमलक पयस, त्रिफला प्रयोग, विडङ्गादि धूम, सैंधवाद्यव चूर्णन, शतावरीपायस, शंखादितर्पणयोग, शिरीषबीजादि घर्षण योग।

—श्री वैद्य ब्रह्मदत्त त्रिपाठी
श्री गोपाल आयुर्वेद भवन, अतर्रा (बांदा)

नेत्र रोगों के सफल सिद्ध प्रयोग

१. द्रव्य—नीबू का रस १ ग्राम, पानी १० ग्राम लें।

निर्माण—रस को लोहे के पात्र में छोड़कर लोहे के पात्र से घोटकर गाढ़ा करलें।

मात्रा—उष्ण कर थोड़ा-थोड़ा दोनों पलकों में लेप करें।

प्रयोग—इस लेप से २-३ दिन में नेत्रों का शूल दूर हो जाता है।

२. द्रव्य—बीज रहित हर्र, सैंधा नमक, रसौंत १-१ ग्राम लें। सब को कूट छान लें।

मात्रा—इस चूर्ण को जल में घोलकर पलकों पर दिन में २-३ बार लेप करें।

प्रयोग—इसके लेप करने से २-३ दिन में आँखों का दर्द दूर होता है।

३. द्रव्य—अफीम १ माशा, फिटकरी का लावा १ माशा, पठानी लोध १ माशा लें।

निर्माण—प्रथम सबको कूट-छान लें; फिर नीबू के रस में घोटकर थोड़ा उष्ण कर लें।

मात्रा—दिन में दो बार पलकों पर लेप करें।

प्रयोग—इस लेप से नेत्रों की पीड़ा शीघ्र दूर होती है।

४. द्रव्य—शंख की नाभि, बहेड़े की मिगीं, हरड़ का बक्कल, मैनसिल, पीपल, काली मिर्च, कुठ, खुरासानी अजवाइन, बच ये सब ६-६ ग्राम लें।

निर्माण—सबको कूट छान लें, फिर बकरी के दूध में घोटकर लेप बनालें या बटी।
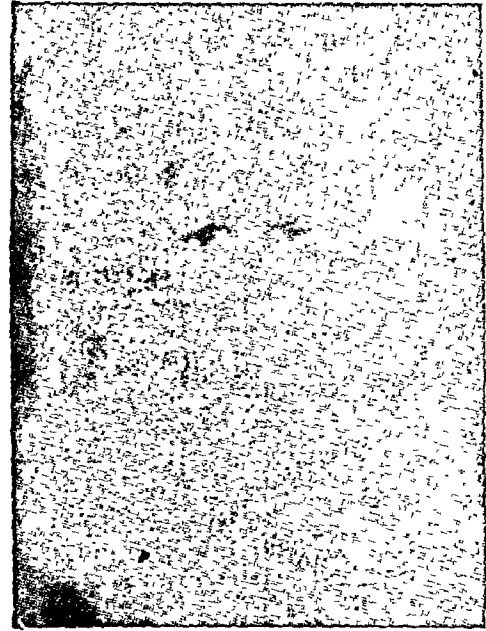
मात्रा—दिन में २-३ बार मोटा-मोटा लेप करें।

प्रयोग—इस लेप से आँखों की पीड़ा दूर होती हैं।

५. द्रव्य—लोह भस्म १ ग्राम, बड़ी हर्र का बक्कल २ ग्राम, आमला बीज रहित ४ ग्राम, मिश्री ८ ग्राम, मुलहठी ८ ग्राम, वंशलोचन ८ ग्राम लें।

निर्माण—सबको कूट कपड़छान करलें।

मात्रा—६-६ माशा दोनों समय जल के साथ।

प्रयोग—इस चूर्ण के सेवन से नेत्र के सम्पूर्ण रोग दूर होते हैं।

—वैद्यराज श्री युधिष्ठिर सिंह
वैद्य हाउस, भैंसवार (सतना) म०प्र०

नेत्र रोगों पर मेरे अनुभूत योग

१. रतौंधी, प्रारम्भिक मोतियबिन्दु तथा दृष्टिमांद्य पर नस्य—जब दूषित आमाशय से उठे वाष्प के परमाणुओं और प्रतिश्याय जनित अवरुद्ध हुई खूबत दृष्टि मंडल को रोक देते हैं तब उनको शुद्ध करने एवं निकालने के लिए नीचे लिखी नस्य का प्रयोग करावें—

कृष्ण मरिच, नक छिकनी, जुन्दबेदस्तर, एलुआ तथा कायफल पांचों समान भाग का वस्त्रपूत चूर्ण कर तैयार करलें। इसके सूंघने से मस्तिष्क में रुके हुए विष नासिका द्वारा निकल जाते हैं।

२. नेत्र बिन्दु दुखती आखों पर चमत्कारी द्रव—तुत्थ (नीला थोथा) २ रत्ती, पीपरमेंट १/२ रत्ती, भीमसेनी कपूर १/२ रत्ती, एक्रीफ्लेविन २ रत्ती, बोरिक एसिड २ रत्ती, ग्लिसरीन १ तोला, अर्क गुलाब या विश्वस्त अर्क सौंफ १० तोला में क्रम से १ के बाद दूसरी औषधि पक्के खरल में अच्छे प्रकार घोंट दो परत के मलमल के वस्त्र में छानकर एअर टाइट शीशी में भर लें। दुखती आंखों, रोहों, तथा अन्य नेत्र पीड़ाओं में विश्वस्त लाभ-

कारी प्रयोग है। चिकित्सालयों में नित्य के व्यवहार के लिए अति उपयोगी प्रयोग है।

३. नेत्र बिन्दु (द्वितीय विधि)—दुखती आंखों पर चमत्कारी बिन्दु-अर्क गुलाब अभाव में अर्क सौंफ विश्वस्त ५० ग्राम, एक्रीफ्लोविन १ ग्राम, एसिड (शुद्ध सौभाग्य सत्व) १/३ ग्राम, जिंक सल्फेट १/४ ग्राम (२॥ रत्ती) सबको पक्के खरल में घोंटकर वस्त्र में छान एअर टाइट शीशी में भर लें।

दिन में १ बार से ३ बार तक २ बूंद ड्रापर से नेत्रों में डालने से दुखने वाली आंखों की समस्त पीड़ायें (कष्ट) अति शीघ्र दूर हो जाते हैं। नित्य के व्यवहार के लिए अति उपयोगी औषधि है।

नेत्र जाला एवं फुल्ली आदि के लिए टिकियाँ—रक्त चन्दन (लाल चन्दन असली) और फिटकरी दोनों समान भाग का वस्त्र पूत चूर्ण ही ग्वार के रस में घोंट चपटी या गोल टिकिया बनाकर तैयार कर लें। उक्त टिकियों को सुखाकर शीशी में भर रख लें। टिकिया को अर्क सौंफ अथवा जल में घिसकर नेत्रों में लगाते रहने से फुल्ली आदि नेत्र के समस्त कष्ट दूर हो जाते हैं। नेत्र में किसी भी कारण से क्षत हो जाने पर उक्त टिकियों को गोघृत में अथवा मक्खन से बनाये घृत में घिसकर लगाना चाहिये। नेत्र का क्षत बिल्कुल ठीक हो जाता है।

४. **दृष्टि प्रद अंजन (सुर्मा)**—जस्त भस्म बाजार में बिकने वाला वस्त्र में छान १ तोला शुण्ठी (सोंठ) वस्त्र में छान ६ माशे सबको पक्के खरल में एक पाव पुनर्नवा के स्वरस में घोट सुखा, रेशमी वस्त्र में छान शीशी में भर लें। इस अंजन का सुरमे की भांति सलाई से नित्य प्रयोग करने से दृष्टि तीव्र हो जाती है। अर्थात् वृद्धावस्था में युवावस्था की सी दृष्टि हो जाती है। रोहे, धुन्ध जाला, फुल्ली दूर हो जाते हैं। दुखती आखों मे भी अति लाभ दायक है।

विशेष—शीतला, चेचक, और चोट से उत्पन्न हुई फुल्ली आदि किसी प्रकार की भी नेत्र पीड़ा में उपर्युक्त अंजन प्रयोग न करें।

५. **दृष्टि प्रदाता योग**—पुनर्नवा (विषखपरा) बूंटी के ताजे पत्ते १ तोला, अदरक ६ माशा दोनों को चकले पर पीसकर वस्त्र छान स्वरस निकाल शीशी में भर ले।

चोट और शीतला की फुल्ली को छोड़कर, जाला, फुल्ली, धुन्ध आदि २-३ सप्ताह तक २-२ बूंद नेत्रो म डालते रहने से सब कट जाते हैं तथा नेत्रों की ज्योति अच्छे प्रकार से बढ़ जाती है। रोगी को लिटाकर २ २ बूंद नेत्रों में डालनी चाहिए। यह औषधि नेत्रों में लगती अधिक है।

शास्त्रीय खाने के योग त्रिफला घृत सप्तामृत लौह आदि प्रसिद्ध योग हैं। तथा लगाने के लिए गोघृत, पलास का अर्क आदि प्रसिद्ध योग हैं।

—आचार्य श्री वैद्य शिवकुमार शास्त्री आयु० वृह०
रावतपाड़ा, आगरा

नेत्र रोगों में सफल सिद्ध प्रयोग

प्राणाचार्य श्री पं० हर्षुल मिश्रा बी. ए., आयु. प्रवीण

१. तंदूकांजन—तेंदू वृक्ष (तम्बाकू की बीड़ियां इसके कोमल तरुण पत्तों से बनती है) का गोंद १ तो. खूब महीन पीसकर चूर्ण कर लें। १ रत्ती नित्य गाय के दूध के मक्खन में मिलाकर आंख में आंजें। इसके आंजते रहने से नेत्र ज्योति निरन्तर बढ़ती रहेगी, और अन्धापन जीवन भर नहीं आवेगा।

२. हरित की मधु—२॥ तो. से ५ तो. वजन की हरड़ को असली शहद में घिसकर आंजने से लिंग नाश का प्रभाव बढ़ना रुक जाता है। आंख की ज्योति का ह्रास इसके लगाने से कदापि नहीं होता। मोतिया बिन्दु (लिंग-नाश) निवारणार्थ शल्य हरण क्रिया (आपरेशन) आवश्यक प्रतीत नहीं होती।

३. नेत्रोदय वर्ति—सफेद मुर्गे की बीट ८ तो., रसांजन ४ तो., तेंदु वृक्ष का गोंद २ तो., स्फटिका भस्म १ तो., प्रवालपिष्टी १/२ तो., देशी कर्पूर ३ माशा, तुत्थ भस्म १॥ माशा, सत्वपीपरमेंट ६ रत्ती समस्त द्रव्यों को महीन पीसकर एक चीनी मिट्टी के पात्र में रख लें, फिर सूर्योदय के पूर्व स्वर्णक्षीरी (सत्यानाशी) के पौधों के पास जाकर, उनके डंठल तोड़कर, उनका झरता हुआ, पीला दूध उस औषधि युक्त पात्र में इतना टपकावें कि समस्त द्रव्य चूर्ण आर्द्र हो जाय। इसके बाद समस्त द्रव्य को पत्थर के खरल में डालकर खूब मर्दन करें। जब समस्त द्रव्य मिलकर एक रूप हो जांय, तब उसमें सफेद पुनर्नवा के ताजे मूल का स्वरस डालकर पुनः मर्दन करें, और कैपसूल की आकृति की तीन-तीन माशे की वर्तिका बना छाया में सुखा स्वच्छ कांच की शीशी में भरकर डाट लगा दें। एक वर्ति एक रत्ती की मात्रा में असली शहद के साथ पत्थर की सिल्ली पर घिसकर, नित्य प्रातः सायं लगावें।

गुण—इसको नित्य आंख में आंजने से ज्योति उत्तरोत्तर बढ़ती है। लिंग नाश का रोगी इस वर्ति को आंखों में आंजते हुए कदापि अन्धा नहीं होता यह हमारा अनुभव है इसके अतिरिक्त अभिष्यन्द, अधिमन्थ तथा नेत्र ज्योति ह्रास करने वाले नेत्र रोगों में यह लाभकारी है। लगाते ही एक क्षण यह औषधि थोड़ा आंखों में लगती, परन्तु दूसरे क्षण आंखें सुखी प्रतीत होने लगती हैं। इससे तिमिर का भी नाश होता। नकुलांधता तथा नक्तांधता भी दूर होती है। इस वर्ति को फेरने से रोहे निःसंदेह आराम होते हैं।

नेत्र रोगों के सफल सिद्ध प्रयोग

श्री गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' भिषगाचार्य

कुछ उपयोगी बाह्य प्रयोग

१. १५० मि. लीटर साफ पानी में गुलाबी शुभ्रा १५ ग्राम का सूक्ष्म चूर्ण डाल देवें। फिर एक जीरे की पोटली बनाकर इस पानी में डुबो कर आंखों पर फेरने से अभिष्यन्द मिटता है (३ ग्राम जीरा साफ कपड़े में रखकर पोटली बनालें)।

२. सायंकाल पानी में २ निर्मली बीज डाल दें। प्रातः छान कर आंखों को धोवें।

३. चांगेरी (चूक) का स्वरस निकालकर एक मिट्टी के पात्र में डालकर आग पर रखें। जब पानी फट जाय तो उतार कर पानी निकाल लें। १ छटांक पानी में ३ रत्ती नौसादर घोलकर एक शीशी में भरकर रख दें। एक बूंद आंखों में डालने से आंखों का दुखना, लाली, सूजन, आदि अनेक नेत्रविकार दूर होते हैं।

—वैद्य बाबा का बस्ता से

४. नेत्रामृत—कुटी दारु हरिद्रा ५ तोला, स्वादु जल २ सेर। यथाविधि क्वाथ करें। जब आधा शेष रहे तब उतार कर वस्त्र से छान लें। इस वस्त्रपूत क्वाथ में ५ तोला शुद्ध मधु मिलाकर फिल्टर करलें। इस उत्तम पीत वर्ण वाले तरल को स्वच्छ बोतल में डाल लें और ऊपर से २ रत्ती उत्तम तुत्थ पीस कर मिला दें। यथाकाल २-२ बूंद डालें। नेत्र स्राव, कण्डू, रक्तिमा और वर्त्मरोग मिटते हैं। —कवि०श्री हरदयाल जी वैद्य वाचस्पति

५. काला सुरमा ५० ग्राम, प्याज का रस ४०० ग्राम, कर्पूर २ ग्राम—खरल करें। जब सूख जाय तो बारीक कपड़े से छानकर शीशी में भर लें। इससे धुन्ध, जाला दूर होते हैं और ज्योति बढ़ती है। —डा० समरसेन

६. भयंकर नेत्राभिष्यन्द में पैरों के अगूंठों के नखों पर अर्क दुग्ध में तर रुई के फोहे बांध ऊपर हरा पत्ता रख पट्टी बांध दें। ४ दिनों में नेत्र सुरक्षित रूप से स्वस्थ होंगे। हाथ धोलें क्योंकि अर्कदुग्ध उपविष है।

—डा० ताराचन्द जी बोहरा

७. शुद्ध पारद, शुद्ध नाग समभाग, इनसे दुगना काला सुरमा, चतुर्थांश कर्पूर मिलाकर बनाया अंजन आंखों के लिए अमृत तुल्य है। —रसेन्द्र चिन्तामणि नेत्र १

८. सैन्धव नमक १० ग्राम, मरिच २० ग्राम, मन: शिला ३० ग्राम, शंख भस्म ४० ग्राम मिलाकर अञ्जन रूपेण प्रयोग करने पर नेत्ररोग दूर होते हैं।

—रसतरङ्गिणी ११/१२१

९. प्याज का रस, असली शहद १०-१० ग्राम, भीमसेनी कर्पूर २ ग्राम—अच्छी तरह मिलाकर शीशी में भर लें। सलाई द्वारा आँखों में लगाने से लाभ होता है।

—डा० समरसेन

१०. रक्त चंदनाद्यावर्ति—लालचन्दन, पिप्पली, हरिद्रा, निर्मली बीजों को समभाग में लेकर वर्षा जल में पीस वर्ति बनालें। यह आँख के रोगों में लाभदायक है।

—राजमार्तण्ड

११. कुलत्थाद्यञ्जनम्—भूसी निकाली कुलथी को कपड़े में बांध बकरी के दूध में दोलायन्त्र से पकालें। फिर महीन पीस उसमें सेंधानमक, रसौत और हल्दी की बुकनी मिला कर रात में आंख में लगाने से तीन दिन में ही समस्त रक्त कृत अभिष्यन्द रोग नष्ट होते हैं।

—वैद्य जीवन ३/२१

१२. चन्दनादि चूर्ण-एक भाग उत्तम चन्दन का बुरादा, २ भाग सैंधा नमक, ३ भाग हरड़ और चार भाग ढाक का गौंद मिला महीन चूर्ण कर आँखों में लगाने से शुक्र एवं अर्मादि नेत्र रोग दुर होते हैं। —बङ्गसेन

१३. यशद भस्म १ तोला, मिश्री ६ माशा, मुलहठी ६ माशा, रसौत ६ माशा, अफीम १ माशा, भीमसेनी कपूर, ३ माशा इन चीजों को खूब बारीरक घोटकर शीशी में रख लें। इस अञ्जन को प्रतिदिन सलाई से लगाने से दाह, अश्रुस्राव आदि रोग नष्ट हो ज्योति बढ़ती है। —रसायन शास्त्री पं० श्याम सुन्दराचार्य

१४. पीपल के कोमल पत्तों को आठ गुने पानी में ओटावें। आधा शेष रहने पर छानकर पत्ते फेंक दें और पुन: मन्दाग्नि पर पकावें लेहवत गाढ़ा हो जाने पर उसमें समभाग उत्ताम शहद मिलाकर उतार लें। मगर किसी कलईदार बर्तन में ओटावें प्रात: सायं सलाई से लगाने से आँखों के रोग दूर होकर ज्योति बढ़ने लगती है।

—श्री सत्यप्रकाश रस्तोगी

१५. लोध लाख त्रिफला बहरि पीपर सैंधव नौन।
मँगरा जड़ रस आँजि दृग फूली रखिये कौन।
—रसराज महोदधि भाग ३
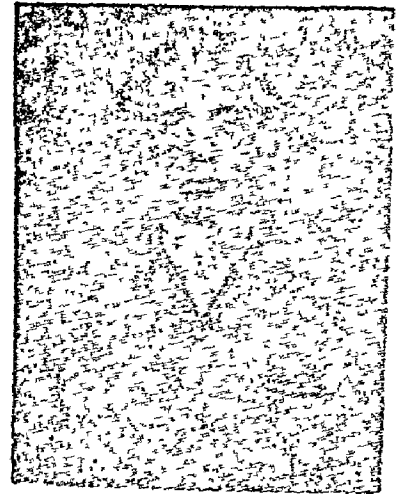
१६. गौ के गोबर का स्वरस, गोदुग्ध और गोघृत को पकाकर अञ्जन करने से नेत्र रोग दूर होते हैं।

—अ० हृदय उ० १३

१७. तुवरक बीजों की मींगी को खरल कर, इसी के तैल की कुछ बूंदें मिला पुन: अच्छी तरह घोटकर, मटकी में बन्द कर शराव सम्पुट कर कण्डों की आँच में रख दें। फिर अन्दर की राख निकाल उसमें समभाग काला सुरमा, थोड़ा सैंधा नमक मिला खरल कर रख लें। इसे लगाते रहने से वर्त्मरोग, तिमिर, रतौंधी में लाभ होता है। —धन्वन्तरि वनौषधि वि० भाग ३

१८. नीम के अधपके फलों को रात्रि में पीसकर उसके स्वरस में आधी संजीवनी वटी घोटकर नेत्र में आँजने से पित्तदोषदुष्टि, नेत्रपाक, शोफ तथा अनूर्जता सम्बन्धी विकार शान्त होते हैं। —संजीवनी साम्राज्यम्

१९. लवंग १ से ३ नग को अंगारे पर फुलाकर तथा १ बताशा मिलाकर पीस लें। एक स्वच्छ गीले रूमाल में उक्त चूर्ण लेवें तथा जब वह चूर्ण गीलेपन के कारण द्रवीभूत हो जाय तो २-३ बूंद पीड़ित नेत्रों में निचोड़ें। अभिष्यन्द दूर होगा। —सिद्ध भैषज मणिमाला

२०. अमरूद की ताजी पत्ती २॥ तोला, फिटकरी २ रत्ती मिला पीसकर पुल्टिस बनालें। फिर स्वच्छ पतले कपड़े की पट्टी के भीतर दो स्थानों पर रखकर दोनों नेत्रों पर बाँधने से रक्तिमा दूर होती है।

—पं० विश्वनाथ जी द्विवेदी

२१. सूर्य छाप केशर १ तोला, भीमसेनी कपूर ६ माशा, कूंजा की मिश्री १ तोला, सच्चे मोती २ माशा। गुलाब जल में प्रथम मोती भिगोयें। तीन दिन पश्चात् खरल में गुलाब जल से मर्दन करें। उसी में केशर डालकर गुलाब जल से ही सात दिन मर्दन करें। पुनः कपूर मिश्री डालकर मर्दन कर २० तोला गुलाब जल में घोल कर रख लें। इसे हिलाकर नेत्र में बिंदु टपकाने से नेत्र पीड़ा, लाली दूर होकर ज्योति बढ़ती है।

—आचार्य चन्द्रशेखर जी गौड़

२२. वङ्ग भस्म दो आना भर, वंश लोचन १ तोला इन्हें खूब घोटकर सलाई से लगावें। जाला, मोतियाविन्द, फूली पानी आना आदि नेत्र रोग दूर होते हैं।

—रा. वै. वेनीप्रसाद जी शर्मा

२३. नवसार ३ भाग, असली सिंदूर एक भाग मिला कर शीशी में रखें। ३ माशे १ तोला मधु में मिलाकर दोनों समय नेत्र में लगायें तो फूली, रतौंधी, खाज, आंसू गिरना, मोतिया बिन्द आराम होता है।

—वैद्य श्री जगतनारायण सिंह

२४. २ तोला फिटकरी, १ तोला सैंधा नमक, १ तोला कलमी सोरा–तीनों को मिलाकर खरल कर लें। एक कटोरे में डालकर मदार के दूध की भावना देवें। सूख जाने पर पुनः भावना देवें। इस प्रकार चार बार करें। सूख जाने पर शराव सम्पुट कर चार सेर उपलों में फूंक दें। स्वांग शीतल होने पर निकालकर पुनः खरल करें। उसमें १ माशा पिपरमेंट, १ माशा नीबू सत, १ माशा मेंहदीसत मिलाकर एक स्वच्छ शीशी में रख लें। जस्ते की सलाई से आंखों में कुछ दिन डालने से जाला, फूला, धुन्ध आदि दूर होते हैं। —वैद्य रघुनाथ प्रसाद पारीक

२५. सांभर नमक ६ रत्ती गुलाब जल में घोल लें। एक हो जाने पर छान कर लें। प्रातः सायं १-१ बूंद नेत्रों में डालने से नेत्रों की लाली, धुन्ध, जाला आदि नेत्र रोग नष्ट होते हैं। —वैद्य श्री रामेश्वर शर्मा

(आयुर्वेद विकास अक्तू० ६३)

२६. नीला थोथा फूला हुआ मेंह के पानी में धोया हुआ, शुक्ति भस्म दोनों ३-३ तोला ताजा कद्दू के रस में ६ दिन तक घोटकर, बारीक कर, सुखाकर शीशी में डाल रख लें। अभिष्यन्द, दाह और लालिमा आदि दूर करने तथा ज्योति बढ़ाने में अद्वितीय प्रयोग है।

—श्री पण्डित दत्तराम चतुर्वेदी

२७. तुलसी और तुलसी के पत्तों का रस बराबर ले दोनों को कांसे के पात्र में डालकर दोनों की बराबर स्त्री का दूध डालें। फिर इन तीनों को गजवेलि के घोटे से २ प्रहर घोटें। फिर कांसे के ही पात्र में तांबे के घोटे से २ प्रहर घोटकर रख लें। इसका नित्य अञ्जन करते रहने से नेत्र का शूल और नेत्र का पाक तत्काल मिट जाय।

—अमृतसागर

इनके अतिरिक्त उपयोगी बाह्य प्रयोग

वटी, वर्ति—

१. सुखावती वर्ति (चरक) २. दृष्टि प्रदावर्ति (चरक) ३. तुत्थकोदया वटी (र. त.) ४. तुत्थकोदया वर्ति (र.तं.) ५. करञ्ज वर्ति (शार्ङ्ग.) ६. दन्त वर्ति (शार्ङ्ग) ७. चन्द्रोदया वर्ति (भै. र.) ८. हरितक्यादि वर्ति (भै. र.) ९. कुमारिका वर्ति (भै. र.) १. चन्द्रनाद्या वर्ति (भै. र.) ११. त्र्यूषणाद्य वर्ति (भै. र.) १२. नयनसुखा वर्ति (भै. र.) १३. पञ्चशतिका वर्ति (भै. र.) १४. शशिकला वर्ति (यो. र.) १५. गैरकादि वटी (चक्रदत्त) १६. निम्बपत्रादि गुटिका (च. द.) १७. समुद्रफेनादि वर्ति (च. द.) १८. त्रिफलादि वर्ति (च. द.) १९. पिप्पलादि वर्ति (च. द.) २०. सैन्धवादि वर्ति (च. द.) २१. रसकेश्वर गुटिका (सि. प्र. सं.) २२. अश्वकंचुकी रस (भै.र.) २३. संजीवनी वटी (शा.) २४. मनःशिलादि गुटिका (सुश्रुत) २५. तालक्षाराद्यञ्जन (च. द.)।

अञ्जन (नेत्र की आमावस्था में निषिद्ध)—

१. कर्पूराञ्जन (शार्ङ्ग.) २. विल्वाञ्जन (भै. र.) ३. नागार्जुनाञ्जन (भै. र.) ४. जनरञ्जनकाञ्जन (भै.र.) ५. मुक्तादिमहाञ्जन (भा. प्र.) ६. दार्व्याद्यञ्जन (भै.र.) ७. शिरीषबीजाद्यञ्जन (च. द.) ८. तालक्षाराद्यञ्जन (च. द.) ९. सौगताञ्जन (च. द.) १०. गण्डूपदाञ्जन (च. द.) ११. पथ्यादि अञ्जन (यो. र.) १२. शंखादि अञ्जन (सि. प्र. सं.) १३. लहसुनादि अञ्जन (सुश्रुत)

१४. नादेयादि अञ्जन (सुश्रुत) १५. वेपालजादि अञ्जन (सुश्रुत) ।

नस्य —

१. गोशकृत तैल (भै. र.) २. महानील तैल (चरक) ३. चन्दन बलालाक्षादि तैल (भै. र.) ४. कृष्णाद्य तैल (भै. र.) ५. जीवनीय घृत (सुश्रुत) ६. अभिजित तैल (च. द.) ७. नृपवल्लभ तैल (च. द.) ।

विडालक (वहिर्लेपः) —

१. सैन्धवादि लेप (च. द.) २. लोध्रादि लेप (च. द.) ३. गैरिकादि लेप (च. द.) ४. भूम्यामलकी लेप (च. द.) ५. रसौत, अफीम, हरड़ लेप ६. घुन्ना, लोध्र, चन्दन लेप ७. मेंहदी, मंजिष्ठा, सैन्धव लेप ८. गैरिक चमेली लेप ९. मधुयष्टि अजादुग्ध लेप ।

अन्तः प्रयोगार्थ योग--

१. नेत्राशनिरस—अभ्रक भस्म, ताम्र भस्म, लौह भस्म, सुवर्णमाक्षिक भस्म, गन्धक, प्रत्येक ४-४ तोला लेवें। सबको एकत्र कर चूर्ण करे। फिर त्रिफला एवं भांगरे के रस की भावना देकर पीपलामूल, मुलहठी, छोटी इलायची, पुनर्नवामूल, दारुहल्दी, पाठा, भांगरा, कपूर, बंच, नीलकमल और घृत एवं मधु में मिश्रित कर उष्ण जल से सेवन करने से अश्रुस्राव, तिमिर, काचरोग, अभिष्यन्द आदि दूर होते हैं। —रसराजसुन्दर

२. क्षतशुक्लहरो गुग्गुल—लोह भस्म, मुलहठी, त्रिफला, पिप्पली, प्रत्येक बराबर ले चूर्ण बना शुद्ध गुग्गुल सबके समान मिलाकर ४ रत्ती की गोलियां बनाले। घी तथा शहद के साथ सेवन करने से नेत्र के शुक्र एवं काच-रोग आदि मिटते हैं। —रसेन्द्रसार संग्रह

३. सप्तामृत लौह–मुलहठी, हरड़, बहेड़ा, आंवला और लौह भस्म, इनको सममाग मिला खरल करलें। १-१ माशा औषध को ३ माशा घृत व ६ माशा मधु में मिलाकर गोदुग्धानुपान से सेवन करने से तिमिर, शूल आदि दूर होकर नेत्र ज्योति बढ़ती है।

—रसेन्द्रचिन्तामणि

४. रजत भस्म १ रत्ती, अभ्रक भस्म १ रत्ती, ताम्र भस्म १ रत्ती, त्रिफला चूर्ण १ माशा, त्रिकुट चूर्ण १ माशा घी एवं मधु में मिलाकर सेवन करने से नेत्ररोग की निवृत्ति होती है। —भैषज्यसार संग्रह

५. यशद भस्म १ तोला, आमलकी चूर्ण ५ तोला, मिश्री ५ तोला तीनों को मिलाकर रख लें। १-१ तोला प्रतिदिन धारोष्ण गोदुग्ध, गङ्गाजल अथवा कुयें के ताजा जल से सेवन करें। इससे नेत्रों की ज्योति नहीं घटती है।

—रसायन शास्त्री पं० श्यामसुन्दराचार्य

६. नेत्रशूलान्तक मोदक—पुराना नारियल जिसमें तेल निकलता हो, उसकी गिरी २० तोला, गुड़ १० तो., और आनन्द भैरव रस ४ रत्ती मिलाकर ५ अथवा ७ गोली बनावें। एक-एक गोली अजादुग्ध से सेवन करने से नेत्रशूल मिटता है। —वैद्य श्री परमानन्द जी

७. धान्यकावलेह–धनिया का मगज २४ तोला, चाँदी के वर्क १ तोला, छोटी इलायची के दाने २ तोला गुलकन्द ४० तोला लें। धनिये को कूटकर छिल्के निकाल देवें। धनिया व इलायची के दानों को कूटकर कपड़छान चूर्ण करें फिर उसमें चांदी के वर्क मिलाकर खरल करें। पश्चात् गुलकन्द मिलाकर अमृतवान में भर लेवें। २-३ रात्रि को सोने के आध घण्टे पहले खिलाने से नेत्र रक्तिमा स्राव, कुकूणक आदि दूर होकर ज्योति सबल बनती है।

—सिद्ध प्रयोग संग्रह (कालेड़ा)

८. द्राक्षापाक–दाख ६४ तोले, दूध ६४ तोले, चीनी, इलायची, तमालपत्र, नागकेशर, त्रिकुटा, केशर, कचूर, जावित्री, जायफल, चन्दन, कस्तूरी, लोह भस्म, अभ्रक भस्म, चांदी भस्म ये सब दवा २-२ तोला लेवें। इन्हें कपड़छन करके पूर्वोक्त में मिलाकर प्रातःकाल गोदुग्ध से १ तोला सेवन करने से नेत्र पीड़ा दूर होकर ज्योति बढ़ती है। —रसराज महोदधि

९. उत्तम हरड़ों को छाने हुए गोमूत्र में रात्रि को भिगो दें। प्रातः निकालकर सुखा दें। इस प्रकार २१ दिन गोमूत्र में भिगोते रहें एवं सुखाते रहें। नित्य एक एक-एक हरड़ गुठली निकालकर वल्कल को पीसकर धारोष्ण दूध से सेवन करें। नेत्रों के लिए अत्यन्त लाभ-दायक सिद्ध होगा। —वृ० नि० रत्नाकर

१०. शतावरी चूर्ण—शतावर १२ तोला, इलायची २१ तोला, विडंग ८ तोला, आँवला ६ तोला, मिर्च ४

तोला, पिप्पली ३॥ तोला, रसाञ्जन आधा तोला सबका चूर्ण करके ३ माशा मधु से सेवन करें । नेत्र रोगों का नाश होगा । —शिवनाथ सागर

११. बिना छिलके के अरण्डी के बीज (शोधित) ५ तोला गाय के आधा सेर दूध में उबाल लें । इलायची के दाने २॥ तोला, बादाम बीज २॥ तोला, मिश्री १० तोला, वंशलोचन १ तोला सबको बारीक चूर्ण कर घृत मिलाकर कांसे की थाली में रखें । प्रतिपदा से शरद पूर्णिमा तक रोज रातभर चन्द्र प्रकाश में रखना और एक मलमल का कपड़ा ढक देना । औषधि मिलाने समय घृत मिलाने के बाद हाथ नहीं लगने पावें । २॥ तोला खाकर मिश्री मिला गुन-गुना गोदुग्ध पीवें । नेत्र ज्योति बढ़ती है । —वैद्य श्री गणपति लक्ष्मण पंडित

१२. त्रिफला चूर्ण ६। सेर को भांगरे के रस में ७ दिन तक घोटकर रख लीजिए । इसमें से प्रतिदिन १ से २॥ तोले चूर्ण को १। तोला घृत २॥ तोला शहद के साथ मिलाकर खावें । इसके पचने पर दूध भात का आहार करें । इस त्रिफला कल्प से दृष्टिशक्ति तीव्र और स्वच्छ हो जाती है । —गदनिग्रह

१३. माक्षिकादि वटी—स्वर्ण माक्षिक भस्म १ तोला, शुद्ध गन्धक, शुद्ध पारद, अभ्रक भस्म आधा तोला, मुक्ता भस्म, स्वर्ण भस्म प्रत्येक १/४ तोला । पहले पारद गन्धक की कज्जली कर फिर अन्य भस्मों को डालकर तीन दिन तक काकमाची (मकोय) पत्र रस से भावित करें । फिर दो रत्ती की गोलियाँ बनालें । फिर कमल पत्र से वेष्टित कर कुछ समय धान्यराशि में रखें । त्रिफला क्वाथ आदि अनुपान से सेवन करने से प्रायः सभी नेत्र रोगों में लाभ होता है । —भैषज्य रत्नावली

१४. मृद्वीकासव—१०० पल (४८० ग्राम) स्वच्छ द्राक्षा (मुनक्का) ४ द्रोण (४६ किलो १५२ ग्राम) पानी में पकावें । चतुर्थांश अवशिष्ट रहने पर उतार कर छान लें । ठण्डा करके उसे एक स्वच्छ धूपित और घृत प्रलिप्त मटके में भर लें । मटके में भरे क्वाथ में एक तुला (४ किलो ८०० ग्राम) खांड, १ तुला (४ किलो ८०० ग्राम) मधु और ३३६ ग्राम धाय के फूलों का चूर्ण मिलावें । तत्पश्चात् शीतल चीनी, लौंग, जायफल, मरिच, पिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रक, चव्य, रेणुका (पित्तपापड़ा), दाल चीनी, इलायची, तेजपात, नागकेशर प्रत्येक ३०-३० ग्राम चूर्ण लेकर एकत्र मिश्रितकर उपर्युक्त मटके में डालें और मटके का मुख कपड़मिट्टी द्वारा भलिभाँति बन्द कर उसे गड्ढे में गाद दें । ३ सप्ताह पश्चात् जब पेय द्रव्य तैयार हो जाय तब निकालकर छानकर साफ शीशियों में भरलें । भोजनोपरान्त २०-२५ मि.ली. सेवन करें ।

—शार्ङ्गधर संहिता

१५. चन्दनपानक—उत्तम सफेद चन्दन का बुरादा ८ छटांक, गुलाब जल २ सेर, शर्करा २ सेर । चन्दन का बुरादा या बारीक चूर्ण लेकर २४ घण्टे जल में भिगो दीजिए । सबको मृदु आग पर चढ़ाकर १० मिनट तक पकाकर छान लीजिए । अब शर्करा डालकर १५ मिनट तक और पकाइये शर्बत बन जायगा । तेज आंच पर रखने पर सुगन्ध कम हो जाती है । १ तोला से २॥ तोला तक जल या दुग्ध में सेवन करें ।

—धन्वन्तरि भैषज्य कल्पनाङ्क

१. त्रिफला चूर्ण—पथ्य का सेवन करता हुआ जो मनुष्य सायंकाल में त्रिफला चूर्ण को मधु या घृत के साथ सेवन करता है उसे नेत्ररोग इस प्रकार छोड़ देते हैं जैसे धनहीन को नौकर । —चक्रदत्त

१७. बादाम घृत—बादाम की गिरी (छिलका रहित) नारियल की गिरी ५-५ तोला, खस-खस और चारों मगज ७-७ तोला, खरबूजे की गिरी ६ माशा, पिस्ता ६ तोला इन सबको कूट पीसकर रखलें । फिर घृत १/२ सेर को आग पर लाल हो जावे तक गर्म करें तथा उक्त मिश्रण को उसमें डाल दें । जब घृत कुछ कालिमा युक्त हो जावे तब नीचे उतार कर छानकर रखलें । इसे १ तोला गर्म दूध से सेवन करें एवं शिर और तलुओं पर मालिश करें । उक्त घृत को छानने के बाद जो छूँछ निकले उसमें भुना हुआ आटा व खाण्ड मिलाकर पंजीरी बना लें । इसका प्रातः नाश्ता करें ।

—धन्वन्तरि वनौषधि विशेषाङ्क भाग ५

१८. महात्रिफलादि घृत—त्रिफला का क्वाथ १ प्रस्थ (७६८ ग्रा.), भांगरे का स्वरस १ प्रस्थ (७६८ ग्राम), वासा का स्वरस १ प्रस्थ (७६८ ग्राम), शतावर का स्वरस १ प्रस्थ (७६८ ग्राम), बकरी का दूध १ प्रस्थ (७६८ ग्राम) गूडूची का स्वरस १ प्रस्थ (७६८ ग्राम), आँवले का स्वरस १ प्रस्थ

(७६८ ग्राम) और घृत (गाय का) १ प्रस्थ (७६८ ग्राम) पिप्पली, मिश्री, मुनक्का, त्रिफला, नीलोफर, मुलेठी, क्षीर काकोली, खम्मारी तथा छोटी कटेरी इनका कल्क कर घृत पाक करना चाहिए। पक जाने पर छान कर स्वच्छपात्र में रखना चाहिए। प्रातः सायं ६ ग्राम कवोष्ण दूध मिश्री मिलाकर देना चाहिये। यह नेत्र रोगों को दूर करने में अद्वितीय प्रयोग हैं। इसके सेवन से उपनेत्र से छुटकारा मिल जाता है। —चक्रदत्त

१६. एलादिमन्थ—इलायची, अजवायन, त्रिफला, सौराष्ट्री (सौराष्ट्र की मिट्टी के अभाव में भुनी हुई फिटकरी), त्रिकटु, चित्रक, कत्था, नीम का गोंद, बिजैसार का गोंद, शालका गोंद (राल), भिलावा, विडंग आदि कुल ८ सेर लेकर क्वाथ करें। क्वाथ ६४ सेर जल में करें। १६ सेर रहने पर उतार कर ४ सेर घृत लेकर विधिवत् घृत सिद्ध करें। फिर १ प्रस्थ (७६८ ग्राम) घी लेकर उसमें ६ पल (२८८ ग्राम) बंशलोचन, ३० पल मिश्री (१ किलो ४४० ग्राम), घी दुगना मधु मिला कर तथा ३ पल (१४४ ग्राम) इलायची, तज, तेजपात मिलाकर भली भांति मन्थन (फेंटना) करें। ४८ ग्राम की मात्रा से प्रातःकाल दुग्धानुपान से सेवन करें। —अष्टांगहृदय

२०. वासकादि क्वाथ—वासा, हरीतकी, निम्ब, आंवला, नागरमोथा, बहेड़ा, परवल इनका क्वाथ आंखों के लिए हितकर हैं। —क्वाथ मणिमाला ४६३

२१. षडङ्गगुग्गुल क्वाथ—हरड़, बहेड़ा, आँवला, परवल पत्र, नीम व अडूसा की छाल का क्वाथ बना कर २ रत्ती शुद्ध गुग्गुलु मिलाकर पीने से शोथ, पाक, शूल आदि नेत्रव्याधियां नष्ट होती हैं। —चक्रदत्त

२२. *अमृता त्रिफला का पिप्पली चूर्ण व मधु के* साथ लेने से सब प्रकार की नेत्रपीड़ा दूर होती है। —शार्ङ्गधर

२३. बृहद्वासकादि क्वाथ—वासा, नागरमोथा, त्रिफला, निम्बछ्वान, परवल पत्र, कुटज, कुटकी, गुडूची, चन्दन, इन्द्रयव, चिरायता, त्रिवृत् (निशोथ), दारुहरिद्रा, चित्रक, जौ इनका क्वाथ आंखों के लिए अत्यन्त हितकारी है। सभी अक्षिरोगों को नष्ट करता है। —भैषज्य रत्नाली

—वैद्य श्री गोपीनाथ पारीक "गोपेश"
पचार (सीकर) राज०

नेत्र रोगों के सफल प्रयोग

—कवि० श्री वेदप्रकाश जी गुप्त बी.आई.एम.एस. आयुर्वेदाचार्य

अंजननामिका एवं उत्संगिनी

नेत्र प्रक्षालनार्थ या सेंक करने को इसमें द्रव भरकर नेत्र में डालें

गांठ को गरम टण्कण जल (Boric lotion) से सेंकना चाहिए। उसके पश्चात् साफ करके कास्टिक टच करके छोड़ दें अथवा सिन्दूर उस पर लगा दें। वह कट जायेगी। मवाद निकाल कर Zinc Boriointment) लगायें।

उसे कुमारी आसव १ तोला भोजन के पश्चात् जल मिला कर सेवन करायें।

प्रातः एवं सायं दूध के साथ चन्द्रप्रभा वटी २-२ गोली दें।
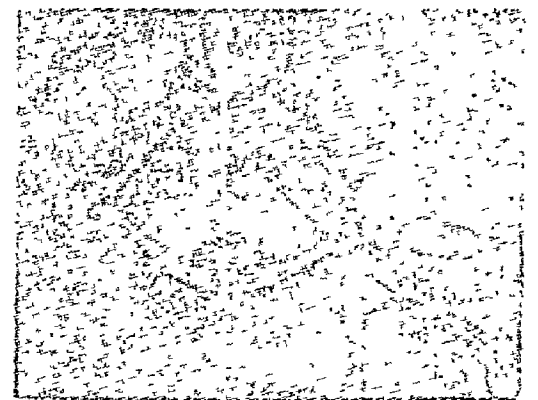
अन्तर्मुखी उत्संगिनी में चीरा लगाते हुए

वातहत वर्त्म (Ptosis)—

नेत्रों के पलक अक्षि पर गिरे रहते हैं, रोगी को
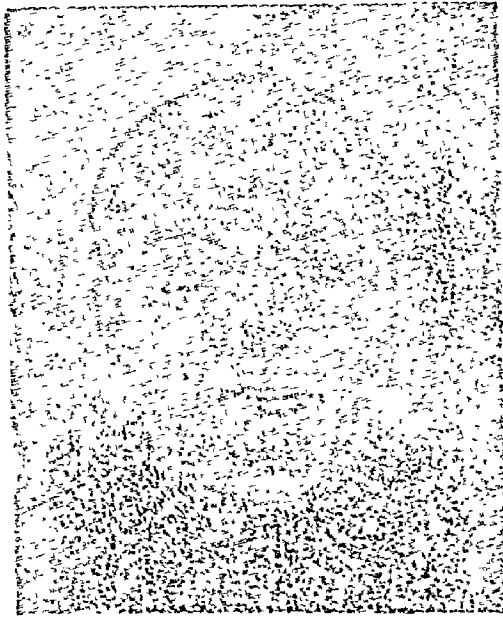
वातहत वर्त्म रुग्ण
देखने के लिये माथे पर
सलवट लाकर पलक को उठाना पड़ता है

ऊपर उठाने की शक्ति नहीं होती। यह जन्म से या किसी अन्य रोग की अवस्था में होता है। इसका कारण लेवेस नामक नाड़ी में शक्ति के नाश होने से पक्षाघात के रूप में होता है।

१. कुकरे या पलकों के भारी होने पर।

२. वृद्धावस्था में पलकों के शिथिल हो जाने पर।

३. त्वचा तथा लेवेटर नाड़ी के सम्बन्ध नहीं रहने पर।

चिकित्सा—

१. पलकों पर महा नारायण तैल की मालिश करें।

२. वृहद् वातचिन्तामणि १/४ रत्ती मधु से दो बार दिन में प्रातः व सायं। भोजन, सुपाच्य थोड़ा-थोड़ा।

पलकों पर जन्तुओं का काटना

१. छोटी मक्खी का शहद पलक पर लगाने से पलक की विकृति एवं रोगों में लाभ होता है।

२. लिक्विड पैराफीन (Liquid Paraffine).

जब नेत्र में चुभन अनुभव हो तो दो-चार बूंद इसकी डालें। फिर रुई से कुछ देर बाद पोंछ दें। चुभन हट जायेगी।

आँख दुखना

अर्क गुलाब असली ५ तोला में फिटकरी को अग्नि में भून कर उस फूली हुई फिटकरी को ३ माशा अर्क गुलाब में मिला दें। जब तक फिटकरी का लावा मिल न जाये तब तक उस शीशी को हिलाते रहना चाहिये। पश्चात् इस लोशन को बारीक कपड़े में छान लें। इस नेत्र बिन्दु की रोगी को २-२ बूंद आँख में डालने से आँखों की जलन, शूल और लाली कम हो जाती है।

३. जिंक सल्फेट Zinc sulphate 1 grain, बोरिक ऐसिड Boric Acid 4 grain, जल विशुद्ध Distillid water १ औंस इसकी २-२ बूंद प्रातः सायं डालें।

४. शीत ऋतु, वर्षाकाल अथवा ग्रीष्म ऋतु, वर्षा अथवा ऋतु परिवर्तन के समय आंख दुखने पर १. गुलाब जल १ छटाँक, २. केशर कश्मीरी १॥ माशा, ३. भीमसैनी कर्पूर १॥ माशा दो और तीन को गुलाब जल में छोड़ दें। कुछ दिनों में पीत वर्ण लिये नेत्र बिन्दु को दिन में दो बार प्रातः सायं डालें तुरन्त लाभ होगा।

५. रसांजन (रसौत) को गुलाबजल में घोट कर कपड़े से छान लें। रात्रि को डालने पर लाभ होता है।

६. ऊपर से मलाई की पट्टी लगायें। प्रातः तक मलाई आँखों की शूल और लाली को कम करने में बहुत ही उत्तम प्रयोग है जो घरों में किया जाता है।

७. गोरखमुण्डी यदि ताजी मिले तो दो दाना प्रातः काल के समय खाली पेट लेने से ऋतु परिवर्तन या वर्षा ऋतु में आँखें कभी नहीं दुखती। ताजी के अभाव में ५ दानों का काढ़ा बनाकर खाली पेट प्रातः सायं देने से भी लाभ होता है।

बाल अभिष्यन्द (Opthalmia_Neonatarum)—

नेत्रों को बोरिक लोशन (गुनगुने) से साफ करके हलके प्रतिशत का आरजिरोल की एक-एक बूंद डालें। यदि कनीनिका पर शोथ हो तो एक प्रतिशत वाला एट्रोपीन लोशन डाल दें। बच्चे के शारीरिक पोषण तथा स्वच्छता का विशेष ध्यान रखें।

१. रोहे (कुकरे)—त्रिफला क्वाथ से आँख धोने वाले ग्लास में क्वाथ डालकर नित्य आँखें धोने से भी कुकरे ठीक हो जाते हैं परन्तु इसमें समय अधिक लगता है।

२. रसाञ्जन को गरम पानी में पीसकर लेप बनायें, उसकी आँखें बन्द कराकर पलकों पर लगवा दें।

३. दूध की मलाई को जरा थोड़ा गरम करके पट्टी पर लगाकर बांध दें।

४. नीम की पत्ती को पीसकर सौंठ और नमक थोड़ा सा मिलाकर साधारण गरम करके बाधें।

५. जसद का फूल रात्रि को आँख में डालकर सो जायें। प्रातःकाल उसे बहुत लाभ प्रतीत होगा।

कृष्णमण्डल क्षत—

१. बोरिक लोशन से नेत्र दिन में दो बार धोवें या एक्रीफलेविन के हलके घोल से धोवें।

२. दिन में चार घण्टे पश्चात् गरम जल से स्वेदन।

३. नेत्रों को पूर्ण विश्राम दें। उसके लिए पट्टी बाँध दें।

४. दिन में एक बार १% का एट्रोपीन डालें ताकि पुतली सिकुड़ने न पाये।

५. बड़ा व्रण होने पर एट्रोपीन से कष्ट बढ़ जाता है। ऐसी अवस्था में औषध विपरीत गुण इसरिन पिलोकार्पाईन

Eserine sulphate 0.25 to 1
Sodium metabisulphate 0 to 0.4
Soln P. M S. 100 to 0

शक्ति एव मात्रा का निर्धारण चिकित्सक द्वारा किया जाना चाहिए।

अधिमन्थ चिकित्सा—

साधारण चिकित्सक रोगी को शिरःशूल की सामान्य चिकित्सा करते हैं परन्तु सुश्रुत उत्तर तन्त्र, माधव निदान, योगरत्नाकर प्रभृति ग्रन्थों के नियमित अध्ययन करने वाले तुरन्त अधिमन्थ की चिकित्सा करने लगते हैं।

नेत्र तनाव (Tention) कम करने का यत्न ही विशेष है। ४० वर्ष वालों को यह तनाव २५ मि. मि. होना चाहिये। यदि अधिक हो तो अधिमन्थ रोग का लक्षण है। तब इसकी चिकित्सा आयुर्वेद में शंख प्रदेश पर जलौका अर्थात् रक्तमोक्षण है। इससे तनाव कम होकर दर्द भी कम होता है। यह तात्कालिक चिकित्सा है।

रोग की तीव्रता अर्थात् वेदना की तीव्रता देखते हुये

Pilocarpine	0.05–0.5 Percent
Eserine	0.25–1-0 Percent

रोगावस्था को देखते हुये १/२ घण्टा–तीव्र न हो तो दिन में दो बार डालें। दोपहर या सायं में डालें जब तनाव बढ़ता है। यदि तनाव कम न हो तो शल्य क्रिया द्वारा जमा जल निकाल दें।

दिवांध, नक्तान्ध तिमिर (Progressive Cataract) या मोतियाबिन्दु (Catract) के रोकने, नाश करने वाली वैद्यों द्वारा औषधियाँ।

१. त्रिफला क्वाथ—सायंकाल सेवनार्थ–लोह के पात्र में त्रिफला क्वाथ बनवाकर गाय का शुद्ध देशी घी मिला कर एक से दो चम्मच पाचक अग्नि के अनुसार सेवन करावें। एक मास के प्रयोग से तिमिर रोग वाला देखने लगता है। (अन्धोऽपि पश्यति)।

२. सप्तामृत लोह—त्रिफला, लोह भस्म और मधुयष्ठी (घृत और मधु से) रात्रि को सेवन करें। शरीर व्याधियों सेउत्पन्न सभी नेत्र रोग दूर हो जाते हैं।

३. शतावर्यादि चूर्ण (योगरत्नाकर)–शतावरी, इला-यची, विडंग, आमलकी बीज, मरिच, पिप्पली रोगी के बल के अनुसार १ चम्मच से तीन चम्मच चाय वाले घृत और मधु मिलाकर देने से धुन्धलापन, रक्तन्यूनताजन्य नेत्र रोग दूर होते हैं।

४. त्रिफला घृत–महा त्रिफला घृत (योगरत्नाकर)इसके प्रयोग से नक्तांध, तिमिर, मोतियाबिन्दु पैदा नहीं होता।

५. मुक्तादि अञ्जन (भावप्रकाश)—नेत्र रोगों में कनीनिका, श्वेत पटल और आयरिस के रोगों में लाभ प्रद है।

६. भीमसेनी अंजन (गुरुकुल कांगड़ी)—नेत्र रोगों के सामान्य रोगों में लाभदायक है। नेत्र ज्योति बढ़ाता है।

७. चन्द्रोदय वर्ति—शंख नाभि, बहेड़े के बीज की गिरी, हर्रे, मनःशिल, पिप्पली, मरिच, कूठ, वच चूर्ण बकरी के दूध में वर्ति बनाकर सीप में डालकर गुलाब जल में घोलकर प्रातः सायं नेत्र में डालें। इसके प्रयोग से पोथकी और फूले का रोग दूर हो जाता है।

७. दार्व्याद्यञ्जन—रसौत, त्रिफला, मधुयष्ठी सब समभाग नारियल के जल में पकाकर आठवां भाग रहने पर कर्पूर, सैन्धव, मधु मिलाकर काजल बन जायेगा। इसको नेत्र में लगाने से ग्रीष्म ऋतु में उत्पन्न होने वाले रोगों में लाभ पहुँचता है।

सोतियाबिन्दु लिंगनाश (Cataract)

१. प्रारम्भ में शुद्ध मधु (छोटी मक्खी) के प्रयोग से लाभ होता है।

२. आपिसीटोक्स ओक्युलोज दो-दो बूंद प्रतिदिन डालने से लाभ होता है।

२. होम्योपैथी औषधि सेनेरिया मेरेटीमा भी लाभ करती है। इसके पश्चात् की अवस्था में शल्यक्रिया ही एकमात्र उपाय है।

अक्षि में शल्य (Foreign body in the Eye)—

नेत्रों में कभी-कभी बाहरी वस्तु धूल-रेत-तिनका कोयला चूना लोह कण इत्यादि अकस्मात् गिर जाते हैं। गिरते ही रोगी की आँखों में पीड़ा, अश्रु प्रवाह, व्रण हो जाता है। उसे असह्य कष्ट होता है। यदि वह नेत्रों को मलना आरम्भ करेगा तो बाह्य वस्तु की रगड़ से समस्त नेत्र में व्रण होता जायेगा।

रोगी को तीव्र प्रकाश की ओर मुख करके लिटा दें। आँखों को खोलकर उसके पलकों को सावधानीपूर्वक देखें कि कौन सी वस्तु गिरी है। फिर उसे निकालने के लिये थोड़ा-थोड़ा गरम पानी डालकर धोना आरम्भ करें। धोकर उसमें संज्ञा शून्य करने के लिये नोवोकेन अथवा प्रोकेन १ बूंद डालें। कुछ देर के पश्चात् बीवर ब्रुश से उसको
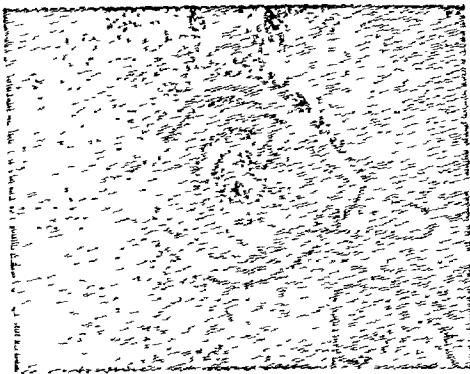
निकाल दें (बीवर ब्रुश इसी कार्य के लिये होता है। ऊपर चित्र देखें) इसके अभाव में रुई की बत्ती से स्वेव बनाकर उससे निकालें। इस विधि द्वारा रेत लकड़ी का बुरादा, तिनका इत्यादि सरलता से निकल जाता है। निकल जाने के पश्चात् पुनः आंखों का प्रक्षालन करके रोगी की आँख में रात्रि को लिक्विड पैराफीन डालें।

२. युद्ध अथवा दीवाली, शिवरात्रि या शबरात पर पटाखे चलाये जाते हैं तब पटाखा का अंगारा आँख में जलता हुआ चला जाता है। ऐसी अवस्था में दो चार बूंद एरण्ड तैल डालें। आंख बन्दकर रुई रख कर पट्टी बांध दें। कुछ घण्टों के पश्चात् कण निकल जायेगा। पीड़ा भी शान्त होगी।

३. यदि कण दिखाई देता हो तो उसे रुई से निकाल दें। उसके पश्चात् शुद्ध एरण्ड तैल डालकर कुछ देर आंख बन्द रखें।

४. घरों में तैल घी का छोंका लगाते समय असावधानी से तैल अथवा गरम घी की बूंद चक्षु में गिर जाती हैं। उस रोगी की आंख में शुद्ध नारियल का तैल और चूना का पानी दोनों को समभाग मिलाकर रुई के पिचु (स्वेव) को उसमें डुबोकर उस के द्वारा बार-बार आँख में टपकायें जब तक कि पीड़ा दाह बन्द न हो जाये।

५. गृह शुद्धि के पश्चात् चूना दीवार पर लगाते समय छींटे आंख में पड़ जाती हैं। उसी समय ताजा जल से नेत्रों को धो डालें। चूना निकल जायेगा। उसके पश्चात् नेत्रों में ग्लिसरीन की दो बूंद डाल दें।

६. फैक्टरियों में कार्य करने वालों की आंखों में क्षार पड़ जाता हैं। बोरिक एसिड के घोल के बूंद रुई से टपकाते रहें।

७. आँखों में तेजाब की बूंद पड़ जावे पर खाने वाला सौडा का ३% घोल रुई से बार-बार चक्षु में डालें। दाह शान्त हो जाने पर ग्लिसरीन की दो बूंद डालकर रोगी को आराम करना चाहिये।

८. जन्तु या दिखाई देने वाली वस्तु यदि प्रक्षालन से निकलने न पावे तो एरण्ड तैल की कुछ बूंद (२से४) डाल कर आंख बन्द कर रुई रखकर पट्टी बांध दें और सो जावे दें। जागने पर वह आंख की मैल के साथ बाहर निकल जाती है। पत्थर का कण, तिनका नेत्र के श्वेत पटल में धस गया हो तो आँख को बोरिक एसिड से धोकर (कोकेन) नोवोकेन-प्रोकेन लोशन २% की एक दो बूंद डालकर संज्ञाहीन कर लें। उसके पश्चात् विसंक्रमित सिरिंज वाली सुई द्वारा उसी वस्तु को बाहर की ओर धकेलें। वह सरलता से निकल जाती है। उसके पश्चात पीली मरहम लगा कर पट्टी बांधकर सोने दें।

६. कनीनिका पर लोह कण धंस जाने पर प्रक्षालन पर दिखाई नहीं देता। संज्ञाहीन औषध द्वारा पीड़ा हरण (Cocain द्वारा) करके १०-१५ मिनट तक आँख बन्द रखें। उसके पश्चात् फ्लोरोसीन २% की २ बूंद डालें।

रोगी को मेज पर लिटायें। आँख को खोल कर Boric lotion से धोवें। धोने पर उस स्थान पर हरे पीले से रंग का चिह्न दिखाई देगा। यदि लोह कण हो तो चुम्बक (Magnet) को उसके पास ले जायें। वह एकदम बाहर मैगनेट पर आ लगेगा। यदि न आये तो आंख पर Acriflavin lotion गरम जल में डाल कर सेक देने से आंख के व्रण वाला स्थान नीला होने पर उभर जायेगा। बाह्य वस्तु निकल जाने पर शूल कम हो जाता है परन्तु खुजली एवं क्षोभ रह जाती है। उसके लिये पीली मरहम, पैनसेलीन मरहम इत्यादि पलकों पर लगा कर ३-४ दिन आंख पर पट्टी बांधे।

विषाक्त गैस—अश्रु गैस तुरन्त आंखों को धो डालें। जब तक दाह समाप्त न हो। उसके पश्चात् गुलाब जल शुद्ध दो-दो बूंद डाल दें।

१. आँख की खुजली एवं क्षोभ कम करने के लिये लैक्टो प्रोटीन (दूध की मलाई मक्खन निकला हुआ) का इन्जैक्शन दें।

२. यदि यकृत खराब होने के कारण लाली नहीं जाती तो लिवर एक्सट्रैक्ट का इन्जेक्शन दें। यदि रक्त विकार हो तो Colloid Steno Mag. का सूचीवेध देवें।

३. कैलशियम की कमी से आंखें भारी रहती हैं और कमजोर दुर्बल शरीर रहता है। उसे Calcium Gluconate का इन्जेक्शन दें।

नेत्र रोगों में आयुर्वेद में सारिवाद्यासव खुजली में, लोहासव-कुमार्यासव यकृत रोगों में तथा मुक्तशुक्ति-प्रवाल दुर्बलता में दिया जाता है। त्रिफला का प्रयोग आंखों के रोगियों के लिए उत्तम है।

४. रंगों की पहिचान में असमंथता—

विटामिन ए या वह वस्तु जिसमें यह अधिक हो देना चाहिए। मस्तिष्क शान्त रखें, आँखों में शुद्ध मधु डालें।

—वैद्य श्री वेद प्रकाश गुप्त B.I.M.S., D.Sc. A.
वैद्य वाचस्पति, आयुर्वेदाचार्य

नेत्र रोगों पर मेरे अनुभूत प्रयोग

वैद्य श्री सत्यकाम वेदवागीश

१. **रोहों पर अञ्जन**—पूर्वी हल्दी, कचूर, कलमी शोरा, मुर्दासङ्ग, सफेद मिर्च, मनःशिल, सफेद सुरमा, जस्ता का फूला, तुख्म सिरस सफेद, तुख्म सिरस स्याह, जीरा सफेद, भुनी फिटकरी, राख, पीली कौड़ी प्रत्येक चीज तीन तोले, पक्की साफ अफीम १ तोला। सबका चूर्ण अलग-अलग करके तोलें और सबको मिलाकर खरल कर रखें।

प्रयोग विधि—आँखों के पर्दे को उल्टाकर थोड़ा सा सुरमा रोहों पर मल दो दिन में दो बार इस तरह लगाओ और एक सप्ताह रोज करो।

सूचना—दवाई प्रयोग करने से पूर्व एक अच्छा विरेचन रोगी को ले लेना चाहिये।

२. रात को थोड़े से पानी में त्रिफला भिगोकर रख दें। प्रातःकाल छानकर उस जल के आंखों पर छिटें मारें। तथा रात को सोते समय पठानी लोध्र, गेहूं का आटा, हल्दी, भुना सुहागा सबको पीस घी में लपेटकर पुल्टिस सी बनाकर रुई पर लगाकर गर्म-गर्म आँखों पर बाँधकर सो जावें। इस प्रकार करने से असाध्य रोहे भी ७ दिन में दूर हो जाते हैं।

३. **अक्सीर मोतिया का प्रयोग**—तुत्थ (नीला थोथा) असली एक छटांक पीस के सुरमा करो। अब एक घण्टे तक मदार के दूध में घोट लो। इसी तरह १०१ बार यानी १०१ दिन तक आक का दूध डालकर घोटते रहो। जब १०१ पुट खत्म हो जायें तब इसका रंग-सफेद सा हो

जावेगा, कलमदार रेशे होंगे। अब आप इसको आधा सेर गाय के घी में मिलाकर मरहम बना लो। घोटकर जब मलहम के समान हो जाय तब इसको रुई लपेटकर काजल पार लो। ऊपर वाला बर्तन कच्चा होना चाहिए। सब बत्ती जल जाय तब उसी बत्ती को भी मिला दें। तैयार है।

प्रयोग विधि—आवश्यकता पर १ रत्ती काजल सलाई में भरकर मोतियाबिन्दु के ऊपर रख दो। और ऊपर से आडी के पत्ते बांध दो। २ घण्टे बाद पट्टी खोलकर आंख को गरम पानी से धो लो। फिर दवा लगाकर पत्ते बांध दो। ३ घण्टे बाद खोलकर गर्म पानी से धोकर ताजे पत्ते बांध दो। इसी तरह चार बार यह काम करो। जब चारों बार खत्म हो जावे तब देखो बिना आपरेशन के मोतिया का पानी ईश्वर की कृपा से उतर जायगा। एक दिन में ही दिखाई देने लगता है। आपरेशन में बहुत तकलीफ उठानी पड़ती है। इस दशा में कोई तकलीफ नहीं होती।

सूचना—रोगी को निर्वात स्थान में रखो तथा ज्यादा गर्मी, सूर्य की रोशनी से रहित मन्द प्रकाश वाले कमरे में रखें। कब्ज हो तो दस्त की दवा देकर पहले पेट साफ कर लो। वमन की जरूरत हो तो वमन करा दो।

कमरे में रोगी को हलवादि ताकत की गिजा खिला के लेटा दो। फिर आंख में दवा लगायें। रोगी को लेटे ही रहने दें। दवा लगाते वक्त आंख में जरा भी हवा न लगे। हवा लगने पर नुकसान होने का डर है।

दवा लगा कर फौरन आंख पर पट्टी बांध दो। पट्टी खोलो तो होशियारी से खोलो।

मोतिया के १ वर्ष से लेकर चार वर्ष तक अन्धे इस्तेमाल कर सकते हैं। रोगी के साथ दया का बर्ताव करें।

जब दवा तैयार करें तो तब धूप में न रखें। कूड़ा-करकट न पड़े।

यह दवा मैंने तैयार कराकर प्रयोग किया है। गलती से धूप में सुखाता रहा फिर भी इस दवाई के प्रयोग करने से मोतिया का पानी तीन-चार दिन में बहुत कम हो गया और इसके बाद लिखा हुआ सुरमा लगाते रहने से आंख साफ होती रही।

४. नयनामृत अंजन

शोधित सुरमा १० तोला, उत्तम भीमसैनी कपूर (बजारू नहीं) ३ तोला, यशद पुष्प (जयपुर का श्वेत काजल) ५ तोला, लौंग ५ माशे, पुष्प नीला थोथा १ तो०, कलमी शोरा असली ५ माशे। सबको खरल में बारीक पीस चैत्र में निम्ब पुष्प के स्वरस में ११ दिन निरन्तर खरल करें। १२ वें दिन गुलाब का जल उत्तम जो सैन्ट का न हो। उसमें खरल करें। पश्चात् छाया में सुखा लें। फिर ३ घण्टे कांसे के पात्र में घोट कर रखें। शीशे की सलाई से प्रातः सायं अंजन करें।

गुण—नेत्र सम्बन्धी सब रोगों में लाभदायक है। मोतियाबिन्द में बिना आपरेशन के ही लाभ हो जाता है, किन्तु बराबर कुछ दिन लगाना चाहिए। मन्द दृष्टि को बहुत शीघ्र तेज करता है। उतरते हुए मोतियाबिन्द को १५ बीस दिन में ही रोक देता है। इसमें काला सुरमा निम्न रीति से शुद्ध करके मिलाना चाहिए—

उत्तम काला सुरमा १० तोला, त्रिफला १० तोला का क्वाथ २० तोला शेष छानकर पृथक रखे। पहले काले सुरमे को पक्की मिट्टी के मूसा में भरकर सिगड़ी में गर्म करें। लाल हो जाने पर उपर्युक्त त्रिफला का क्वाथ चम्मच से डाल कर पाचन करें। २१ बार में सारा क्वाथ सुरमे में पाचन कर दें। फिर अच्छी तरह सूख जाने पर उतार कर ठण्डा होने पर पीसकर रखें।

भीमसैनी कपूर बनाना

कपूर ८ तोला, निर्मली के बीज, छोटी इलायची के बीज, नागरमोथा, सफेद चन्दन, रसौत, समुद्रफेन प्रत्येक २-२ तोला। केशर ६ माशा, कस्तूरी १ माशा, लौंग का तेल २५ बूंद। इनको कूट पीसकर एक जानकर फिर घी में मिला दें। घी इतना मिलावें कि हलुवे से कुछ नरम लुगदी बन जावे। फिर उसे भगोने में रख कर उस पर केले का पत्ता बांध दें और ऊपर थाली रखकर उसमें पानी भर दें। नीचे दो लकड़ियों की अग्नि लगातार जलावें। अग्नि बराबर रखें, कम ज्यादा न हो। फिर ४-५ घण्टे बाद उतार कर देखें। भीमसैनी कपूर बन गया होगा जोकि पत्ते पर चिपका मिलेगा। यदि एक दिन में सम्पूर्ण न तैयार हो तो २-३ दिन में बना सकते हैं।

विशेष—१. केले का पत्ता घी लगा कर बांधें।

२. अग्नि कोयले की भी दे सकते हैं। कोयले ४-५ अंगुल के अन्दर ८-१० कोयले ही देते रहें। स्वल्प में दें।

३. ८ तो. कपूर से कुछ ही कम ८ तो. कपूर मिलेगा।

५. अन्धता नाशक

ताम्र भस्म १ तोला, सेंधा नमक ५ तोला, शुद्ध गन्धक ५ तोला को पीस दो नीबू के स्वरस के साथ काचकूपी में डाट बन्द कर १ माह तक धूप में रखें। फिर निकाल पीस रख लेवें। आँखों पर पांच दिन भेड़ के दूध की मलाई बाँधने के उपरान्त इस अञ्जन को लगावें। घृत का दैनिक सेवन करें। तैलाम्ल, तीक्ष्ण, वस्तु का सेवन न करें।

गुण—थोड़े दिनों के प्रयोग से अन्धता नष्ट होती है।

६. फूला जालादि पर सलाई—

कपास की गुली की गिरि ४ सेर लेकर उसको घानी कराकर तेल निकलवालें। उसे कांच की वर्नी में भरलें। फिर एक तांबे की चरी में तेल भरकर तांबे का ढक्कन लगाकर कतीर से झाल देवें। ७ कपड़मिट्टी मुँह पर कर दें। फिर जमीन में खड्ढा खोदकर एक गज गहरा उसमें उस चरी को रख दें। फिर एक पतला सा पत्थर उस चरी पर रखकर तमाम मिट्टी वापिस ऊपर डालें दें। साल दो साल चरी को गढ़ी रहने देवें। फिर इसको निकालें। मकान के अन्दर दवा सकते हैं। यह तेल सफेद रंग की शीशियों में भर लें।

इसकी एक-एक सलाई फूले, जाले व धुन्ध वालों की आंखों में लगायें। एक सलाई से ही नई रोशनी पैदा हो जाती है। सुबह लगाई शाम को जाला फूला साफ होगा। एक सलाई लगाना सोने से भी ज्यादा कीमती है। इसके सामने हीरा जवाहरात सब बेकार है। यह प्रयोग खानदानी साहबुदिन हकीम का लिखाया हुआ है उनकी वंश परम्परा से यह प्रयोग होता रहा है। मैंने स्वयं नहीं बना पाया। वैद्यजन इसको बनाकर प्रयोग करें और लाभ से सूचित करें।

७. अजित (अभिजित) तैल—

योग—तिल तैल १६ तोला, मुलहठी ४ तोला, आँवले का स्वरस ६४ तोला, दूध ६४ तोला।

विधि—आमले को कूटकर स्वरस निकालकर कपड़े से छानकर रखें। फिर मुलहठी को थोड़े से दूध अथवा जल के साथ सूक्ष्म पीसकर कल्क बनाकर रखें। तदनन्तर तिल तैल को कड़ाही में लेकर मन्दाग्नि से अच्छी तरह गरम कर उसमें मुलहठी का कल्क, आमले का स्वरस और दूध मिलाकर मन्दाग्नि से पकावें। जब कल्क की बत्ती सी बनने लगे तब कपड़े से छान शीशियों में भरकर रखें।

मात्रा—२ बूंद से आठ बूंद ड्रापर अथवा रूई के के फाहा से नासिका के छिद्रों में छोड़ना चाहिए। दिन भर में ३-४ बार तक प्रयोग कर सकते हैं।

गुण—सब प्रकार के तिमिर नष्ट होते हैं। यह दृष्टि प्रसादक है।

८. नेत्राशनि रस—

योग (क)—पातना यंत्र से-शोधित गन्धक, शुद्ध रसौत, अभ्रक भस्म, ताम्र भस्म, लौह भस्म, स्वर्ण माक्षिक भस्म प्रत्येक १ पल। (ख) पिपरामूल, मुलहठी, छोटी इलायची, पुनर्नवा, देवदारू, पाढ़, कचूर, बच, नीला कमल, लाल चन्दन प्रत्येक १ माशा।

भावनार्थ—(क) त्रिफला का क्वाथ, भाँगरे का रस या (ख) घृत, मधु,

वक्तव्य—यहाँ पर पल ४ तोले का और माशा ६ रत्ती का लेना चाहिए।

विधि—योग के (क) खण्ड में दिये गये द्रव्यों को खरल में डालकर (क) खण्ड के त्रिफला के क्वाथ तथा भाँगरे के रस की पृथक-२ सात-सात भावना देकर सबको सुखावें। अब इसमें (ख) खण्ड में दिये गये द्रव्यों के कपड़ छन चूर्ण मिलाकर सबको अच्छी तरह से घोटें। फिर इन समस्त द्रव्यों को लोहे की खरल में डालकर लोहे के मूसल से (ख) खण्ड के घी और शहद (विषम भाग में होने चाहिए) के साथ अच्छी तरह से मर्दन करके १-१ रत्ती की गोलियां बना कर सुखाकर रखें।

मात्रा—१ गोली। अनुपान—उष्णोदक। समय—प्रातः सायं।

गुण—इसके सेवन से वात, पित्त और कफ से उत्पन्न सब प्रकार के नेत्र रोग दूर होते हैं। विशेषतः नेत्रों की लालिमा, रक्तपित्त, लाल नेत्रस्राव, नक्तान्ध्य, तिमिर, कांच, नीलिका, पटल, अर्बुद, अभिष्यन्द, अधिमन्थ, चिरकालीन पिष्टरोग आदि रोगों में इसका प्रयोग किया जाता है।

—श्री वैद्य सत्यकाम वेद वागीश
अध्यक्ष—रसायनशाला आर्य गुरुकुल
चित्तौड़गढ़ (राजस्थान)

क्या नेत्र-दृष्टि बढ़ सकती है ?

निश्चय ही बढ़ सकती है। इस विषयक जो प्रयत्न अनुभव मैंने किया है वह पाठकों की सेवा में प्रेषित है। नीचे एक ऐसे ही प्रयोग के अनुभव का सार अङ्कित कर रहा हूं। धन्वन्तरि के गुप्त सिद्ध प्रयोगांक चतुर्थ भाग के पृष्ठ ४३२ पर वैद्य श्री गणपति लक्ष्मण पंडित आयु० शास्त्री खरगान का एक प्रयोग—

ज्योति स्मृति—

निर्मोक एरण्ड बीज १० तोला गाय के एक किलो दूध में उबालकर छोटी इलायची के दाने ५ तोला, बादाम मींगी ५ तोला, मिश्री २० तोला, वंशलोचन २ तोला का बारीक चूर्ण कर मिलाकर तथा गाय का घृत गर्म कर २० तोला मिलाकर कांसे की थाली में रखें। प्रतिपदा से शरद पूर्णिमा तक रोज रातभर चन्द्र प्रकाश में रखना। ऊपर एक मलमल का कपड़ा ढक देना चाहिए। औषधि में घृत निकालने के बाद हाथ न लगने दें। केवल १५ दिन चन्द्र प्रकाश में रखने से सिद्ध हो जाती है। २॥-२॥ तोला खाकर उपर से पाव या आधापाव मिश्री मिला गुनगुना गो दूध पीवें। यदि ३ माह तक पथ्यपूर्वक सेवन की जावे तो स्मरण शक्ति व दृष्टि शक्ति बढ़ती है, चश्मे की आदत छूट जाती है पर मैंने ६-६ माह तक सेवन कराई है।

कई वर्षो से आयुर्वेद-एलोपैथी व होमियोपैथी के कई प्रयोग काम में लेते रहे कि यह प्रयोग भी नजर में आया व करीब ५५ वर्षीय एक ऐसे व्यक्ति पर प्रयोग किया जिसकी आंखों में बड़े बड़े आधुनिक नेत्र विशेषज्ञों की जाच के अनुसार दृष्टि शक्ति कतई होना न पाया गया। परन्तु इस प्रयोग के पूर्णतया सेवन के बाद नजर बढ़ी व साफ पढ़ने लगा। दूसरे वर्ष के सेवन से ज्योति फिर बढ़ी! इसके बाद कई अन्य दृष्टिहीन रोगियों को सेवन कराया तो दृष्टि काफी तेज हुई। जहां अन्य पैथी की औषधियां नाकामयाब रहीं वहाँ भी यह या १-२ अन्य वस्तुओं का इसमें मिश्रण पूर्ण कामयाब रहा।

सितोपलादि एक महान टानिक

प्रयोग—शास्त्रीय है और पर्याप्त प्रसिद्ध एवं प्रचलित है। मूल—मिश्री २० तोला, वंशलोचन असली १० तोला, छोटी पीपल ५ तोला, बड़ी या छोटी इलायची के दाने २॥ तोला, तज या दालचीनी १। तोला है। इन सबको कूटकर वस्त्रपूत कर लें व श्वेत चन्दन के शर्बत में चांदी के या श्वेत कांच के वर्तन में रख ३-३ मा० रोज तीन बार (प्रातः दोपहर और शाम या सोते वक्त) चटावें। जो गुण प्रसिद्ध हैं सो तो है ही परन्तु लम्बी अवधि तक चटाने से अद्भुत चमत्कार होते हैं।

एक उदाहरण देकर स्पष्ट करता हूं—एक बहुत ही कमजोर ४५ वर्षीय व्यक्ति को बहुत ही भयानक बीमारी से स्वस्थ होने पर करीब ४-५ माह तक चटाया—६ पौंड वजन बढ़ा एवं मृत्यु पर्यन्य सिवा मामूली कब्ज के कोई बीमारी (सर भी न दुखा) करीब ३० वर्ष तक न हुई व शरीर सौष्टव बहुत अच्छा हो गया। ऐसे ही एक ८० वर्ष वाली को करीब दो सेर सितोपलादि चन्दन के वर्तन में करीब ४ माह तक चटाया तो मृत्यु पर्यन्त ६ वर्ष तक सर भी न दुखा व जीर्णता व जरापन समाप्त होकर तेजस्वी हो गई। इसी प्रकार पिछले ३५ वर्षों में सैकड़ों ही बीमारी से उठे बीमारों को ६-६ व १२-१२ माह तक शर्बत चन्दन में चटा-चटा कर अनेकों चमत्कार देखे हैं। मैं मूल-प्रयोग में ४-६ द्रव्य अवस्थानुसार व समयानुसार और मिलवाता हूं। वे हैं, प्रवाल पिष्टी, शुक्ति पिष्टी, मण्डूर भस्म, अकीक पिष्टी, कहरवा पिष्टी, सत्व गिलोय, मुलहठी का वस्त्र पूत चूर्ण ६-६ माशे उपरोक्त तौल में।

एक वयोवृद्ध सज्जन को २ तोला ८ माह तक चटाया तो चेहरा तेजस्वी होकर दृष्टि शक्ति, श्रवण शक्ति बढ़कर शेष बचे। दांत व सब शरीर के अङ्ग प्रत्यङ्ग मजबूत हो गये। निश्चित तो नहीं कह सकता पर ऐसा भी अनुभव हुआ कि लम्बी अवधि का सेवन आयुवृद्धि भी करता है। बुढ़ापा विलम्बित होता बाल काले ही रहते व अग्नि बलवान बनी रहती है, गई शक्ति लौट आती है हृदय बलवान होकर आत्मबल कायम रहता है।

आजकल वंशलोचन नकली पर असली से भी परीक्षा में उत्तम किं-त नीलाभा बाला आता है अतः सावधानी बरतनी चाहिये वर्ना लाभ नाम का ही होगा। मात्रा १-१ तोला दिन में तीन बार दें और ऊपर से मिश्रीमिश्रित कम गर्म गोदुग्ध दोनों वक्त पिलवायें। धारोष्ण से भी यही प्रभाव होता है।

—श्री डा० ताराचन्द लोढ़ा,
किशनगढ़ (राज०)

नेत्र रोगों पर सौ परीक्षित नुस्खे

नेत्र दुखना, जाला, फूली आदि पर—

१. बबूल के फूलों की कली निकाल लें। साफ करके खरल में डाल स्त्री के दूध में रगड़ कर अंजन बनालें। अत्यन्त दुःसाध्य नेत्र व्याधियों में अपूर्व लाभ दिखलाता है।

२. सफेद फूली पर—तूतिया ६ माशा, अफीम २ माशा, रसौत ४ माशा, फिटकरी ६ माशा। नीबू के रस में खरल करके सरसों जैसी गोली बनायें। गुलाब जल में घेस कर लगावें। शीघ्र लाभकारी है।

३. पिपल्यादि वर्ति—पीपल, मुलहठी, तगर, हल्दी, नीलकमल। इनको जल में घोटकर बत्ती बना लें। इसका अंजन करने से गरुड़ के समान दृष्टि होती है।

४. नयन सुख वर्ती—पीपल १ तो०, हरड़ २ तो०, इनको पीस कर बत्ती बना लें। यह वर्ति तिमिर, अर्म, पटल, कौंच और अश्रुपात नष्ट करती है।

५. आयी हुई आंख—दो दिन या तीन दिन तक कोई औषधि न होनी चाहिये। नीम के गुनगुने पानी अथवा १ तोला त्रिफला चूर्ण रात को गर्म पानी में भिगो कर अथवा जल में बोरिक एसिड घोल कर भली-भांति दोनों समय नेत्रों को धोना व स्वच्छ करना चाहिए। नीम की नर्म पत्तियाँ इस तरह बांधें कि सम्मुख हरा ही हरा दिखाई पड़े तथा वे सूखने न पायें।

६. बबूल की हरी नर्म पत्तियों को पीस कर टिकिया बनाकर रात को सोते समय आँखों पर बाँध कर सो जाने से बहुत ठण्डक रहेगी तथा जलन शान्त रहेगी।

७. इमली के हरे पत्तों को अंडी के पत्तों में बाँध कर ऊपर से कपरौटी करके आग पर पकावें। फिर उनका स्वरस निकाल कर उसमें फूली हुई फिटकरी तथा चने भर मात्रा में शुद्ध अफीम डाल कर तांबे के बर्तन में खरल करें, तब उसमें स्वच्छ कपड़ा भिगो कर आँखों में टपकावें।

सिर में सरसों का शुद्ध तेल मलें। पांव के तलुओं में मलें तथा कानों में डालें। नमक, तेल, खटाई, बादी वस्तुओं से इस काल मे परहेज रखें।

८. नीम की पत्ती, लोध्र, जल में पीसकर रस निकाल लें। गुनगुना करके नेत्रों में डालने से रक्तज तथा पित्तज अभिष्यन्द रोग मिटते हैं।

९. २० दाने काली मिर्च, घी २ तो०, मिश्री २ तो० दोनों समय मिला कर खाने से आँखें शीघ्र अच्छी होती हैं, आँखों का दुखना दूर हो जाता है। निरन्तर खाने से दृष्टि की निर्बलता दूर हो जाती है।

१०. अफीम १॥ माशे पानी में घोट कर आंजने से आँखें दुखना बन्द हो जाता है।

११. रसौत शुद्ध ८ माशा, फिटकरी ४ माशा, अफीम शुद्ध १ माशा, नीम की पत्ती ५ नग, असली केशर ५ रत्ती। इन सबको लोहे के बर्तन में डाल कर लोहे की मूसली से गुलाब जल में घोटें। छोटी-छोटी टिकियाँ बना लें। उन्हें गुलाब जल में लेप करें। यदि सर्दी की आँख है तो लेप गर्म करके अन्यथा ठण्डा ही लगावें।

१२. गुलाबी फिटकरी १ रत्ती, गुलाब अर्क २ तोले, मिश्री १ माशा। सबको एक स्वच्छ शीशी में भर दें। एक दिन हो जाने पर नेत्रों में दो-दो बूंद डालें।

१३. बुधवार को प्रातः सूर्योदय से पहले अनार की बिना फूली कच्ची कलियां लावें तथा खावें। एक वर्ष में जितनी खावें उतने वर्षों तक आँखें न दुखें।

१४. सरसों का तेल दोनों कानों में डालें। इससे दुखती आँखों को शीघ्र आराम मिलता है।

१५. चावल पुराने ५ नग, इमली की कोंपल १ र० भर, फिटकरी फूली हुई २ चने भर, अफीम १ मूंग भर, इमली की कोपलें बारीक पीस लें तथा इसका रस लोहे के बर्तन में निचोड़ लें। फिटकरी फूली हुई तथा चावल पीस कर उसी में मिला लें। पुनः अफीम मिला कर आग पर गर्म करें। साफ रुई का फाया लेकर डुबोयें व इस दवा की तीन बूंदें नेत्रों में डालें। आँख का दर्द दूर हो जायगा आँख आने पर दवा तीसरे दिन शुरू करनी चाहिए।

१६. घिया के पत्तों का रस २ तोला, चूल्हे की जली काली छनी मिट्टी ३ माशे, मुरब्बर २ चने भर. हर्र ३ माशे, अफीम ज्वार बराबर।

विधि—रस में मिला कर गर्म करें। दिन में तीन-चार बार आँखों की पलकों पर गुनगुना लेप करें, सूजन तथा ढरका दूर होते हैं।

१७. फिटकरी का फूला ३ माशे, नीलाथोथा पिसा-छना १ माशे, अफीम २ माशे, घृत कुमारी के रस में अच्छी तरह मिलायें। एक-एक बूंद आँखों में डालें।

१८. आक की जड़ पानी में घिस कर आँख में लगायें। इससे आँख आना, जलन आदि नष्ट होते हैं।

१९. अंडी की जड़, पत्ती व छाल का काढा बकरी के दूध व पानी में मिलाकर नेत्र धोने से आँख आना, आराम होता है।

२०. पोस्त के छिलके (बोंडे) जल में उबाल लें, उसमें कपड़ा भिगो कर आँखों की सेंक करें। इससे सूजन लाली कम होती है, दर्द दूर होता है।

२१. गर्मी से आँख आना, भुनी व छनी गुलाबी फिटकरी २ रत्ती, गुलाब जल १ छटांक, घोल कर छान लें। ५-५ बूंद दिन में ५ या ६ बार डालें। उठी आँख अच्छी होती है। लाली व पीड़ा दूर होती है।

२२. स्त्री का दूध दिन मे पाँच-सात बार टपकायें।

२३. हरी गदहपूर्णा की पत्ती का रस भी डालने से लाभ होता है।

२४. ग्वारपाठे का ३ अंगुल का टुकड़ा काट लें। उस पर आमा हल्दी पीसकर लपेटें तथा नेत्रों पर बाँधें। इससे गर्मी व वादी से आई आँख अच्छी होती है।

२५. नीम की कोंपलों का रस वस्त्र से छान कर तीन-तीन बूंद आँखों में टपकावें। जल्द आराम होता है।

२६. लोध्र, मुलैठी, लाल चन्दन, गेरू १-१ तोला। चूर्ण कर छान लें तथा नीम के रस में घोट कर गोली बनायें तथा छाया में सुखा लें। जल में घिस कर पलकों पर लेप करने से गर्मी के रोग दूर होते हैं।

२७. सर्दी से आँख आने पर—पान के बीड़े का रस, अफीम, रसौत, पानों के बीड़े के रस में अफीम तथा रसौत घोल कर गर्म करले। ठण्डा होने पर आँख के चारों ओर लेप करें।

२८. दारू हल्दी ३ माशे, फिटकरी १ माशे पठानी लोध्र १ माशे, इमली की पत्ती २ तोले, जल में पीस कर आग पर पकावें। जब पुल्टिस बन जाये तो कपड़े पर रख कर आंखें सेकें या उन पर बांध दें। शीत दोष से उत्पन्न नेत्राभिष्यन्द सद्यः दूर होता है। आंखें सदा मन्द उष्ण ही सेकें।

२९. शुद्ध रसौत, शुद्ध अफीम, केशर, फूली फिटकरी, आमा हल्दी, छोटी हरड़, हीरा कसीस १-१ तोले।

विधि—सबको पीस व घोट कर गोलियां बना लें। इन्हें छाया में सुखायें। १ गोली पानी में घिस कर सुसुम कर पलकों पर लेप करें। पलकों का फूलना, अधिक कीचड़ आना, लाली, दर्द आदि सब दूर होते हैं।

३०. दुखती आंखों की जलन पर—केशर को शहद में घिस कर नेत्रों में लगावें।

३१. पित्तपापड़ा के काढ़े में शहद मिला कर पिलावें।

३२. स्त्री के दूध में रुई भिगो कर आंखों पर रखें।

३३. घीकुमार का गूदा १ तोला, भुनी फिटकरी २ माशे, अफीम ३ रत्ती, साफ स्वच्छ कपड़े में पोटली बना कर आंखों पर फेरे बार-बार रखें या फेरें।

३४. हल्दी ५ तोले, जल आधा सेर दोनों को पकायें। आधा रह जाने पर साफ कपड़ा भिगोकर आँख के ऊपर बार-बार रखने से आँख की जलन, कंकर सा दर्द दूर हो जाता है।

३५. दुखती आँखों से पानी बहने पर—बबूल की पत्तियाँ आठ गुने जल में उबालें। आठवाँ भाग रह जाने पर साफ कपड़े से छान लें। अब पुनः आग पर चढ़ाकर शहद जैसा गाढ़ा करें। इसमें आधा भाग साफ शहद मिलाकर शीशी में रख लें। इस दवा को नित्य सलाई से आँखों में लगायें। इससे ढरका, जल बहना दूर होगा।

३६. रसौत, गुलाब जल—रसौत को गुलाबजल में घिसकर लगाने से पानी आना, सुर्खी, कड़कना दूर होते हैं।

रोहे

३७. नीम के डण्डे में तांबे का पैसा जड़कर [illegible] के कटोरे में तनिक सा तिल का तेल डालकर उस डण्डे से घोटें। तेल गाड़ा हो जाये तो उसे साफ डिबिया में या चीनी के बर्तन में निकाल कर रख लें। इससे रोहों को शीघ्र आराम होता है तथा पुनः रोहे नहीं होते। अधिक पढ़ने लिखने में आंखें दुखें तो इसे लगाने से शीघ्र ठंडक होती है।

३८. नीम की हरी पत्तियाँ १ किलो हाँडी में बन्द कर कपरौटी करके फूंकें। भीतर राख हो जाने पर बारीक पीसकर छान लें। जितनी राख हो उससे आधा तिल का

तेल मिलाकर काँसे की थाली में काँसे की कटोरी से २१ दिन घोटें। पुनः उसमें पानी डालकर खूब मलें तथा फिर पानी निकाल दें। इसी प्रकार डाल डालकर इक्कीस वार धोयें। दवा तैयार है। इसे सलाई से आँखों में लगावें। रोहे व नेत्र के घावों को अच्छा करने में अद्वितीय है।

३९. रोहों की प्रथमावस्था में—केशर असली, रसौत, अफीम १॥-१॥ मासे महीन पीसकर दिन में तीन वार पलकों पर सुसुम लेप करें। लेप से नेत्रों का वहता पानी सूख जाता है तथा पलकें फूलने नहीं पातीं। यकायक नेत्र विल्कुल वन्द नहीं होने पाते तथा पानी नेत्रों के अन्दर नहीं जम पाता और रोहे नहीं पड़ते।

४०. फिटकरी की खील ४ रत्ती, भवका से परिश्रुत जल १ औंस लोशन बनाकर नेत्रों में डालने से रोहों को शीघ्र आराम होता है।

४१ जस्ते का कपड़छन फूल ५ तोले, छोटी इलायची के बीज ५ माशे, शुद्ध अफीम ६ माशे तीनों को कपड़छन करके शीशी में रख लें। जिनके रोहे हों, धूप सहन न हो, आंखें बन्द रहती हों, उजाला देखने में कष्ट हो तो यह दवा कोयों में डालें। लाभ होगा। जाला व ढरका में भी लाभ होता है।

४२. काशगरी सफेदा छना हुआ १ छटाँक, बोरिक एसिड १ छटाँक, झण्डा मार्का अम्बरी रङ्ग १ छटांक, गोघृत २ छटांक इन सबको भलीभाँति खरल करें। एक सलाई लगाते ही दुखने आयी आंख अच्छी हो जाती है।

नोट—यह दवा लगती बहुत है अतः वच्चों के न डालनी चाहिए।

४३. नं० १ गुलाव जल ८ छटांक, शुद्ध गुलावी फिटकरी १ छटाँक, बोरिक ऐसिड १ छटाँक, शुद्ध रसौत १/२ छटाँक।

विधि—सबको मिला लें तथा दिन में तीन वार नेत्रों में डालें। फूली में आँख दुखने में लाभदायक है। यह दवा भी लगती है अतः तीव्र अवस्था में ही प्रयोग करें।

अञ्जन

४४. निम्न अञ्जन वच्चों की आंख में लगाते रहने से आँख के रोग नहीं होते। फूली व आयी आँख में भी लाभ करता है—

रसौत ६ माशा, मेंहदी की पत्ती का रस ६ माशा, गाय का घी।

विधि—नीम के डण्डे में तांवे का मोटा पैसा जड़कर पीतल की थाली में घोटें। अञ्जन बन जाने पर स्वच्छ डिबिया में भर लें। इसे सभी नेत्र रोगों पर परीक्षा करें।

रतौंधी

४५. गाय के गोवर का रस, छोटी पीपल। गोवर के रस में छोटी पीपल घिसकर अञ्जन करने से रतौंधी अवश्य दूर होती है।

४६. करेला के पत्तों का रस, काली मिर्च। करेला के पत्तों क रस में काली मिर्च घिसकर आँजने से रतौंधी अवश्य दूर हो जाती है। कम से कम ३-४ दिन वरावर लगायें।

४७. पीपर, लौंग दोनों घोड़े के मुख की राल में घिसकर आँजे तो रतौंधी दूर होती है। नित्य प्रातः ३ तोले गाय का शुद्ध घी भी खाना चाहिए।

४८. सम्हालू का रस नेत्रों में टपकाने से रतौंधी दूर होती है।

४९. प्याज के रस की अथवा पान के रस की दो तीन बूंदें टपकाने से तथा शीतल जल से धो डालने से रतौंधी जाती रहती है।

रीठे की गुठली स्त्री के दूध अथवा पानी में घिसकर अञ्जन करने से भी वड़ा लाभ होता है।

५०. मिर्च, कमीला, पीपर, समभाग वारीक पीस छानकर आँखों में लगायें।

५१. सिरस के पत्तों का रस लगाने से रतौंधी दूर होती है।

५२. लाहौरी नमक की सलाई वनाकर आंख में फेरने से रतौंधी दूर होती है।

५३. आदमी के कान का मैल, हर्र पीसकर गोलियाँ वनावें। पानी में घिसकर आँख में लगावें। इससे रतौंधी दूर हो जाती है।

५४. कड़वी लौकी की राख, शहद दोनों को मिलाकर सलाई से नेत्रों में लगावें।

५५. वरगद का दूध, कपूर दोनों को मिलाकर अंजन करें। इससे आंख का फूला व जाला कट जाता है।

५६. मधु में चिरचिटे की जड़ घिसकर लगाने से फूला कट जाता है।

५७. एक जस्ते की सलाई में सटकटैय्या से दो फल लेकर दोनों नोकों में फंसाकर रात भर ओस में रखा रहने दें। प्रातः सलाई से दोनों फल निकाल कर फेंक दें। तुरन्त ही सलाई को दोनों नेत्रो में फेरें। इस प्रकार ११ दिन करें। इससे फूला, जाला कट जावेगा। पुराने रोग में अधिक दिनों तक करें।

५८. पुनर्नवा की जड़ छाछ के पानी में घिसकर आँजें तो इससे फूली कट जाती है तथा मोतियाविन्द भी चला जाता है।

५९. हरड़ की बकली, सफेद पुनर्नवा की जड़ दोनों को पीसकर स्त्री के दूध में ४ पहर तक खरल करें तथा बत्तियां बनाकर छाया में सुखा लें।

सूर्योदय से पूर्व ही पानी में घिस कर अंजन करें। इसके लगाने से आंख दुःखने आ जाती हैं। बारह दिन के अन्दर माड़ा कट जाता है।

६०. तूतिया, समुद्रफेन, सफेदा, हरा कांच, कूजे की मिश्री, कालासुरमा ४-४ माशा, सफेद सुरमा ६ माशा, नौसादर ५ माशा, एलुवा ४ माशा, सीप भस्म ४ माशा, अफीम ४ माशा, चांदी का मैल ४ माशा, शीतलचीनी ३ तोला, रसौत २ तोला, सफेद इलायची दाना ५ माशा, सुहागा ५ माशा, चीनी का टुकड़ा २ माशा।

विधि—रात को रसौत को ४ तोला पानी में भिगो दें तथा प्रातः साफ कपड़े से छान लें तथा मिश्री व अफीम डालकर मंद-मंद आंच में पकायें। जब गाढ़ा हो जाये तो शेष वस्तुयें मिलाकर खरल करें तथा नीबू का अर्क डालते जावें। यहां तक कि काजल की भांति वारीक हो जावे। तब चने या झरबेरी प्रमाण की गोलियाँ बनाकर रख लें। नित्य गुलाब जल में घिस कर आँखों पर लगाने से दस पन्द्रह दिन में शस्त्र साध्य फूले भी कट जाते हैं।

६१. सत्यानाशी का दूध सलाई में लगाकर फूली वाली आँख में ४० दिन लगावें। अवश्य लाभ होगा।

६२. अपामार्ग (चिड़चिड़ा) बीज तथा जीरा समभाग चूर्ण कर कपड़े से छानकर रखलें। जितने वर्ष का फूला हो उतने ही दिन इसे नेत्रों में लगायें। इससे फूला कट जाता है।

६३. तीतर का रक्त या तीतर का पित्ता नेत्रों के फूले या धुन्ध को दूर करता है। तीतर की विष्ठा में भी अनेक अंशों में यही गुण पाया जाता है।

६४. फिटकरी का लावा ६ मा., काले रंग की छोटी हड़ ६ तोला, उत्तम अर्क गुलाब १६ तोला।

पहले हर्र को महीन पीस कर बारह घण्टे गुलाब जल में भिगो रक्खें। फिर मलकर छान लेवें। पश्चात् फिटकरी का चूर्ण मिलाकर भली भाँति घोंट कर मोटे वस्त्र में छान कर शीशी में रख लें। प्रतिदिन नेत्रों में २-२ बूंद दिन में ३ बार डालें। इससे बालकों की फूली थोड़े ही दिनों में कट जाती है।

६५. समुद्रफेन को स्त्री के दूध में १-१ रत्ती की गोली बना कर सुबह शाम लगावें। इससे फूली दूर हो जाती है। जाला व रोहों में भी लाभ करता है।

६६. पुनर्नवा की जड़, अदरक का रस—पुनर्नवा की जड़ को अदरक के रस में घिसकर नेत्र में लगाने से फूली कट जाती है।

६७. छुहारे के बीज घिस कर लगायें।

६८. गिलोय का रस २॥ टंक, शहद १ माशा, सेंधा नमक १ माशा—पीसकर एक साथ मिलाकर सलाई से आँखों में लगाया जाये।

६९. निर्मली को पीस शहद में मिलाकर लगायें। मोतियाबिन्दु को आराम होता है।

७०. पुराने विषखपरा की जड़ भांगरा के रस में घिसकर लगाने मोतियाविंद जाता रहता है।

७१. कच्ची सौंफ को पीस कर उसका रस निकाल लें। इसे नेत्रों में डालें। इससे नये मोतियाबिन्द को आराम होता है।

७२. नौसादर का लोशन-नेत्रों में नित्य डालते रहें।

७३. हर्र. हल्दी, पीपर, सेंधा नमक—समभाग।

जल में पीसकर बत्ती बना कर रक्खें। नेत्रों में अंजन करने से तिमिर दूर होता है।

७५. सफेद चदन, हर्र, बहेड़ा, आमला, सुपारी, पलाश, लाल चन्दन—समभाग। जल में बारीक पीसकर वर्ती बना लें। इसे आँखों में लगाने से सब प्रकार का तिमिर दूर हो।

७५. चीता, मुलैठी, सेंधा नमक—सममाग। पीस छानकर आँखों में अंजन करें तो १ वर्ष का तिमिर दूर हो।

७६. तमाल पत्र, गेरू, कपूर, मुलैठी, लाल कमल, नाग केशर सममाग। सब पीस छान लें। नेत्रों में लगायें तो तिमिर दूर होता है। पहले हरड़ घिसें। पुनः उसी पर पुराने विषखपरा की जड़ घिसें तथा नेत्र में आंजें तो तिमिर का नाश होता है।

७७. नौसादर को बारीक पीसकर आँखों में अञ्जन करें। इससे नजला तथा १ वर्ष का मोतियाबिन्दु दूर होता है।

७८. सफेद घुंघुची का अर्क, नीबू का अर्क दोनों को मिलाकर सबेरे आंख में डालें।

७९. इमली की पत्तियों का रस काँसे के कटोरे में डालकर नीम के सोंटे से जिसमें तांबे का पैसा जड़ा हो घोंटे। फिर उसमें लड़के की माँ का दूध उतना ही डालकर चार पहर घोंटे। जब गाढ़ा हो जावे तब स्त्री के दूध में घिस कर नेत्रों में अंजन करें।

८०. कलमी शोरा, मिश्री सममाग—दोनों पीसकर रख लें। नित्य प्रातः सायं आंजते रहें। इससे एक सप्ताह में ही माड़ा कट जाता है।

८१. पुनर्नवा की जड़ शहद में घिसकर आँजने से माड़ा व धुन्ध दूर होता है।

८२. पुराने विषखपरा की जड़, नीबू का रस। जड़ को नीबू के रस में घिसकर लगाने से माड़ा (जाला) कट जाता है।

८३. सिरस के पत्ते एक कोरी हाँडी में डाल चौगुना जल भर दें। तीन दिन धूप में रखें। चौथे दिन मलकर छान लें। चुल्लू में यह जल भर सुबह शाम आँख में छींटे लगायें। एक सप्ताह में एक वर्ष तक का जाला (माड़ा) मनुष्य या पशु किसी का भी हो, दूर होगा।

यह अर्क केवल तीन दिन काम देता है इसलिये जिस दिन दवा तैयार हो जाये उसी दिन उपरोक्त रीति से आगे के लिये दूसरी हाँडी में पुनः सिरस के पत्ते व जल डालकर रख दें। इसी भाँति सेवन करते रहें। अधिक पुराना रोग अधिक दिन में तथा कम दिनों का रोग कम दिनों में ठीक हो जायेगा।

८४. आंख की फूली तथा जाला पर—हरे कांच की चूड़ी बारीक पीसकर नीबू के रस में घोंटकर अंजन करने से आंख की फूली व जाला कटते हैं।

८५. फूली, जाला, लाली पर—४ पके नीबू चीरकर मिश्री भरें तथा तांबे के तसले या पात्र में रात भर रखा रहने दें। सुबह तसले में टपके रस को छानकर शीशी में भर लें। इसे १-२ बूंद डालने से लाभ होता है।

८६. नेत्रों से पानी आने व जाला माड़ा पर—छै नीबुओं का रस, अफीम चने भर, फिटकरी २ चने भर, जलाया हुआ मिलावा ६ दाना—इन सबको घोंटकर गोलियां बना लें तथा छाया में सुखा लें।

इन गोलियों को नीबू के रस में घिसकर नेत्रों में आंजें। इससे फूली, जाला, पानी आना रोग नाश होते हैं।

८७. पत्थर पर मिश्री नीबू के रस के साथ घिसकर आंजें तो जाला माड़ा दूर होता है।

८८. लोहे के तवे पर अफीम और दन्ती (जमाल गोटे की जड़) को नीबू के रस में खरल करें तथा आँख पर लेप करें। इससे आँख दुखने को आराम होता है।

८९. सब नेत्र रोगों पर—नीबू काटकर उस पर लोह कीट और दन्ती की जड़ पीसकर भुरभुराये। हल्दी से रंगे कपड़े में बाँधकर बार-बार आँख में लगायें।

९०. नीबू आधा काट लें। उसमें सैंधा नमक, मिश्री व हल्दी मिलाकर आँच पर गर्म करें। अब कपड़े में लपेट कर आँख पर फेरें। इससे शीघ्र आराम होता है।

९१. नेत्र पीड़ा पर—नीबू का अर्क कढ़ाई में डाल लोहे की मूसली से खूब रगड़ें। जब काला हो जाये तब गुनगुना करके पलकों पर लेप करें तो दर्द शान्त होता है।

९२. मोतिया बिन्द पर—दो नीबूओं का अर्क, गाय का मक्खन ४ तोले। मक्खन में नीबू रस मलकर थोड़ा स्वच्छ जल डालकर तीन दिन रखा रहने दें। फिर मक्खन को जल से धोयें। इस प्रकार २५ बार करें। अब उसे चीनी मिट्टी या शीशी में रखें। आँख में लगाते रहने से मोतियाबिन्द दूर होता है।

९३. नेत्र पीड़ा, लाली, रोहे, फूला पर—नीबू का रस २० तोले, फिटकरी ४ तोले, नीला थोथा ३ तोले, रसौत शुद्ध ५ तोले सबको नीबू के रस में दो तीन दिन

भीगा रहने दें। पुनः कपड़े से छान लोहे के पात्र में पकावें। गाढ़ा होने पर उतार लें। ठण्डा हो जाने पर वर्तियाँ बना लें। जल में घिसकर सलाई से लगावें।

९४. नेत्र परवाल पर—एक बड़ी मूली चीरकर अन्दर लाल फिटकरी पीसकर भर दें। मूली का ही काग लगाकर सम्पुट कर दें तथा उपलों में भस्म कर लें। इस राख को पीसकर छान लें। उन टेढ़ी बरौनियों के बालों को जो अन्दर जाकर दुःख देते हैं उन्हें कतरकर मोटी सलाई से उक्त राख को लगावें। विशेषकर बालों की जड़ों में दिन में दो बार लगावें। इससे परवालों का दुख दूर हो जायगा।

९५. बाल गन्द—जिसमें पलकें व कोरें कट जाती हैं। बढ़नी की नयीं ७ सींकें, पुरानी रुई, मीठा तेल, सांभर नमक ज्वार भर। नये दिया रुई की बत्ती बनाकर दिया जलायें। उसमें सातों सींकें जला-जलाकर उस कोयले को पीतल की थाली में रखते जांये। दिये की लौ में दो अंगुल की पहले की बत्ती बनाकर जलायें तथा सींकों की राख के साथ रखें। बत्ती का गुल या फूल उसी में मिलावें। पीतल के लोटे से दिये का तेल डालकर घोंटें। थोड़ा थोड़ा तेल डालते जायें तथा घोंटकर अञ्जन बनाते जायें। अन्त मे नमक भी घोंट कर स्वच्छ डिबिया में भर लें। प्रातः सायं लगावें। इससे कोरो का कटना, जलन आदि सब शांत होते हैं।

९६. नेत्र सुधा गोलियां—(१) सफेद जस्ता ३ तोला, (२) सफेद फिटकरी १ तोला, (३) मिश्री १ तोला, (४) तूतिया १ माशा, चारों दवायें संगमूषा के खरल में आवश्यकतानुसार गुलाब जल डालकर ६-६ घण्टे तक घोंटें। इसके बाद चने या बड़ी मटर बराबर गोलियां बनाकर सुखाकर स्वच्छ शीशी में रख लें।

एक-एक या आधी आधी गोली प्रातः सायं व रात को सोते समय हथेली पर या स्वच्छ पत्थर पर ५-६ बूंद जल डाल घिसें तथा उंगली या सलाई से काजल की तरह नेत्रों में लगायें। इनके लगाने से खराब पानी बहाकर नेत्रों को स्वच्छ व सबल बनाता है। सुर्खी, वर्म, सूजन, जलन- कड़क जो आंख दुखने से होती है, साफ हो जाती है तथा नेत्र ज्योति बढ़ जाती है।

९७. नेत्राञ्जन श्वेत सुरमा—श्वेत सुरमा ५ तोले, कलमी शोरा ५ तोले, गुलाब जल ३० तोले। ऊपर की वस्तुयें गुलाब जल में घोंट लें। इसमें कपूर शुद्ध ३ माशे, पिपरमिंट ३ रत्ती, डालकर रख लें। यह धुन्ध, जाला, तिमिर आदि नष्ट करता है।

९८. सम्पूर्ण नेत्र रोगों पर—आमले का स्वरस ३ पाव, शहद १॥ पाव, पठानी लोध्र २ तोले, कपूर शोधा हुआ २ तोले, जीरा २ तोले। पठानी लोध्र.जीरा को पीस छान आंवला स्वरस में मधु कपूर मिलाकर स्वच्छ बोतल में रख लें तथा मजबूत कार्क लगा दें। यह सब नेत्र रोगों पर लाभकारी है।

९९. गाय के कच्चे दूध में कपड़ा या रुई भिगोकर उसकी तहकर ऊपर से पिसी फिटकरी डालकर आंखों पर रखें या बांधें तो दुखती आंखें ठीक होंगी।

१००. हर्र, बहेड़ा, आमला, दालचीनी, मुलहठी, महुआ के फूल ५-५ तोले, घी १० तोले, शहद १५ तोले, सभी को पीस छान मिला कर रखें। १-१ तोला प्रातः रात्रि को दूध के साथ सेवन करने से सभी नेत्र रोग नष्ट होते है। शिरो रोग, पलित, नासारोग, कर्ण पीड़ा, दन्त पीड़ा, जिह्वा रोग, मुखरोग भी नष्ट होते हैं। अमृत समान प्रयोग है।

—श्री पी० सी० खरे
छावनी, बांदा उ० प्र०

नेत्र रोगों के एलोपैथिक सफल सिद्ध प्रयोग

डा० श्री सनमत कुमार जैन आयुर्वेदाचार्य

चिकित्सा सिद्धान्त—

१. तीव्र नेत्र कनीनिका शोथ, (आंख आना) (Acute Conjuctivitis)—

१. नेत्र को बोरिक एसिड से सेकें।

२. सल्फा सीटामाइड १०-२० या ३०% घोल के ड्राप्स। २-२ बूंद दिन में ३-४ बार।

३. आक्सीमाइड केडिला—इस नेत्र मलहम का प्रयोग नेत्र संक्रमण और शोथ में निश्चित रूप से लाभकारी है।

२. तीव्र शोथ+द्वितीयक संक्रमण—

१. उपरोक्त के अलावा मुँह द्वारा शोथहर और पीड़ानाशक प्रयोग अवश्य करना चाहिये। टेबलेट ओक्सालजिन एक-एक गोली तीन-चार बार।

२. आक्सीमाइड नेत्र मलहम।

३. डेक्सोना नेत्र विन्दु।

४. टेराकार्टिल नेत्र मलहम।

५. मुंह से सुवामाइसिन या रेस्टीक्लिन कैपसूल दें। मात्रा—अवस्थानुसार। उपरोक्त नेत्र बिन्दु और मलहम आदि से सक्रमण के साथ ही नेत्र की लाली और शोथ भी ठीक होता है। मुंह से कैपसूल देने पर लाभ शीघ्र होता है क्योंकि संक्रमण नष्ट होता है।

३. रोहे (Trachoma)—

यह बहुतायत से पाई जाने वाली नेत्र व्याधि है। यह विभिन्न रूपों में मिलती है। जितनी सरलता से यह हो जाती है उतनी सरलता और शीघ्रता से यह जाती नहीं है। इस व्याधि के चिरकालीन उपद्रव गम्भीर परिणाम सामने लाते हैं। अन्तिम चिरकालीन उपद्रव पूर्ण अन्धता है। इस व्याधि में उपचार दोनों प्रकार का (खाना और लगाना) करना चाहिये।

उपचार—मेड्रीबॉन (रोश)—

पहले और दूसरे दिन १ सवेरे १ शाम। तीसरे दिन से प्रतिदिन एक गोली×१० दिन तक। कुल १२ दिन तक। इसके दौरान पानी अधिक पीना चाहिए।

२. लोकुला या सीमाइड नेत्र विन्दु—३० प्रतिशत बड़ों को, २० प्रतिशत बच्चों को। नेत्रों में दो-दो बूंद दिन में तीन बार डालें।

३. गेम्ट्रीसिन नेत्रबिन्दु (रोश)—दो-दो बूंद दिन में तीन बार डालें। इस व्याधि की सर्वोत्तम औषधि सल्फाड्रग ही है। परन्तु किन्हीं अवस्थाओं में जब पूय और श्लेष्मा भी उत्पन्न हो जाये तब एण्टीबायोटिक्स का उपयोग करना होता है।

पुराने समय में इस व्याधि के लिये सिलवर नाइट्रेट की बत्ती से 'टच' किया जाता था, तथा आई इरिगेटर से नेत्र में टचिंग के बाद नमक का पानी इरिगेट करते थे। पर इस क्रिया के करने में चिकित्सक निष्णात (नपुण) होना चाहिये।

४. नेत्र में आघात (Injury in the Eye)—

नेत्र में आघात प्राय: बाह्य वस्तु के नेत्र में जाने से या सीधे नेत्र गोलक पर आघात लगने से होती है।

नेत्र में जो वस्तुयें बाह्य पड़ती हैं वे नेत्र के कंजन्कटाइवा को हानि पहुँचाती हैं और सीधी चोट नेत्र गोलक को हानि पहुंचाती है। आघात धूल, लोहे के कण या अन्य धातुई छिलन, कोयला, या राख के कण आदि के जाने से लगता है। नुकीली वस्तु के नेत्र में जाने से कंजन्कटाइवा में 'कट' (Cut) लग सकता है। उबलते पानी, धातु, चूना, अम्ल या तेज क्षारों से भी रासायनिक आघात लगते हैं। आघात का उपचार शीघ्र होना चाहिये। उपचार निम्न पदों में होना चाहिये—

१. तुरन्त पीड़ा की शान्ति के लिए एनीथेन विलयन (.५ से १%) नेत्र में डालना चाहिए और इसे प्रति आधे से दो मिनिट पर तीन बार दोहराना चाहिए। ऐसा करने से पीड़ा तो शांत होगी ही साथ ही साथ नेत्र के परीक्षण में भी रोगी पीड़ा रहित होकर सहयोग करेगा। नेत्र परीक्षण के पश्चात् नमक के घोल २ प्रतिशत से नेत्र को धोकर, सल्फा सीटामाइड (लोकुला, सीमाइड आदि) १०-२०-३० प्रतिशत का घोल या टेट्रासाइक्लीन या

क्लोरोम्फेनीकाल आई आयन्टमेंट या ड्राप डाल देना चाहिए। पश्चात् बेन्डेज करना चाहिए।

चूना से जलने पर दस प्रतिशत अमोनियम टार्टरेट से कई बार धोना चाहिये तथा केस्टर आइल या आलिव आयल की एक-एक बूंद नेत्रों में डाल देनी चाहिये।

२. नेत्रों में शोथ और लालामी रोकने के लिए अथवा शोथ और लालामी हो जाने पर कार्टीसोन ड्राप्स व मलहम या बीटामीथासोन (वेट्नेसॉल) डेक्सामीथासोन (डेक्सोना) आई ड्राप्स डालना चाहिए। साथ में संक्रमण होने पर एण्टीवायोटिक+हाइड्रोकार्टीसोन (ग्रुप) (जैसे टेराकार्टिल, केनालाग-एस) मलहम या ड्राप्स लगा देना चाहिये। अधिक शोथ होने पर कभी-कभी कनजक्टाइवा में हाइड्रोकार्टीसोन एसीटेट का आधी मिली० का इन्जेक्शन भी लगाना पड़ सकता है पर इसके लिए विशेष अभ्यास की जरूरत होती है।

५. टैरेजियम—

चित्रानुसार नेत्र गोलक के दोनों ओर मांस सूत्र सदृश्य आकृतियां उत्पन्न हो जाती हैं, जो कृष्ण मण्डल के दोनों ओर उत्पन्न हो जाती हैं। इनके उपचार में शल्य क्रिया की जाती है। परन्तु आधुनिक एवं नवीन उपचारके रूप में इन्जेक्शन हाइलेज दो मिली० की मात्रा में इन मांस सूत्र सदृश्य आकृतियों में लगा दिया जाता है। यह प्रक्रिया प्रति ५-६ दिन पर दोहराई जाती है और ऐसा दो बार ही करना पर्याप्त है।
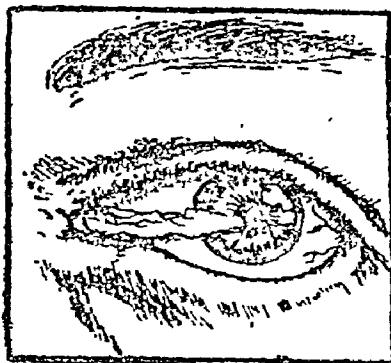
६. कार्नियल अल्सर—

यह एक सामान्य रूप से मिलने वाली नेत्र व्याधि है। इसमें शुक्ल पटल के समीप कृष्ण पटल पर छोटे-छोटे सरसों के दानों के सदृश चपटे छाले से होते हैं जो रोशनी डालने पर चमकते हैं। इनके होने से नेत्रो में पीड़ा, लालामी, शोथ और तनाव होता है।

उपचार— १. पीड़ा हटाने के लिए गर्म सेंक।

२. पेनीसिलेन घोल या लाकुला/सीमाइड ३० प्रतिशत का घोल नेत्र में डालें।

३. सल्फोना माइड या मैड्रीवोन (रोश) का पूरा कोर्स मुख द्वारा।

४. आयराइटिस होने पर एट्रोपीन का मलहम दिन में तीन बार डालें।

६. गुहेरी (अञ्जनहारी)—
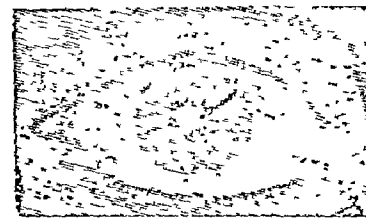
नेत्रों के पलकों के लोगों में जब कोई संक्रमण हो जाता है, तब नेत्र के पलकों के दोनों किनारों पर यह फुंसी के रूप में प्रगट होती हैं। अपवाद स्वरूप बीच में भी होती हैं।

उपचार— १. गर्म सेंक, बोरिक लोशन से।

२. मुंह द्वारा सल्फोनामाइड या टेट्रासाइक्लिन का सेवन (पकने के पूर्व)। ३. नेत्र में टेट्रासाइक्लिन (टेरामाइसिन, केडीसाइक्लिन) मलहम डालें।

प्रतिदिन की प्रेक्टिस में उपयोग में आने वाले एलोपैथिक नेत्र-बिन्दु और नेत्र-मलहमों पर एक दृष्टि—

खण्ड एक	
साधारण औषधियाँ— १. विसंक्रमणता करती हैं। २. लालामी, शोथ और छोटी-मोटी साधारण शिकायतों का निवारण करती हैं।	१. बोरिक एसिड घोल ३–५% २. जिंक सल्फेट घोल ०.५% ३. माइल्ड सिल्वर प्रोटीन घोल ५% ४. एक्रीफ्लेवीन घोल (१ : १०००) ५. मरक्यूरोक्रोम घोल ६% (१—२%)

खण्ड दो	
१. विसंक्रामक। २. जीवाणु विरोधी एवं जीवाणु नाशक। ३. लालामी, सूजन, रोहे नाशक एवं रोपक।	१. सल्फासीटामाइड घोल १०,२०,३०% २. गेन्ट्रीसिन (रोश) आई ड्राप्स ३. जिन्कोसल्फा आई ड्राप्स।

खण्ड तीन

१. जीवाणु नाशक।
२. रोहे, लालामी, शोथ, जलन।
३. किसी प्रकार का आघात।
४. विभिन्न जीवाणुजन्य व्याधियों में तथा रोपक के रूप में प्रयुक्त होती हैं।

१. एण्टीबायोटिक्स—
(अ) टेट्रासाइक्लिन ड्राप्स या मलहम।
(ब) क्लोरोम्फेनीकाल ड्राप्स या मलहम।
(स) पेनीसिलीन ड्राप्स

विशेष—यह ड्राप्स ताजा ही बनाकर प्रयोग करना चाहिए। एक मिली० नार्मल सेलाइन में ५०,००० यूनिट पेनीसिलीन जी. सोडियम घोलना चाहिए। यदि यह रोगी को फिट न वैठे तो इसमें पांच बूंद डेकाड्रॉन इं. मिला लेना चाहिए।

(द) नियोमाइसिन (Neomycin)
(य) नियोस्पोरिन (Polymixin B)

खण्ड चार

(क) हाइड्रोकार्टीसोन एसीटेट (ख) प्रेडनीसोलोन
(ग) बीटामीथासोन (वेटनेसाल)
(घ) डेक्सामीथासोन (डेक्सोना केडिला आई ड्राप्स)
(ङ) ट्राइ अमीनोसोलोन (केनालाग—एस)

यह विशिष्ट औषधियाँ हैं। इनका प्रयोग स्वतंत्र रूप से या सल्फोनामाइड या एण्टीवायोटिक्स के साथ करते हैं। इनका प्रयोग मुख्यतः शोथ प्रतिक्रिया में और एण्टीबायोटिक्स के साथ द्वितीयक संक्रमण में करते हैं।

खण्ड पाँच— मिश्रित औषधियाँ

(अ) एण्टीबायोटिक्स+हाइड्रोकार्टिसोन (ग्रुप)
थथा—१. टैराकार्टिल (फेजर)। केनालाग—एस (साराभाई)
२. क्लोरोम्फैनीकाल+हाइड्रोकार्टिसोन क्लोरोकोर्ट (पी. डी.) पायरीमोन (F. D. C.)
३. नीबाकोर्टिल(फेजर)-नीयोमाइसिन+हाइड्रोकार्टिसोन
४. नियोस्पोरिन (बरोजवेलकम), नियोमाइसिन+वेसीट्रेसिन+पालिमिक्सिन
(ब) सल्फोनामाइड+कार्टिसोन (कार्टुला—एच)
(स) पेनीसिलेन+डेक्सामीथासोन (स्वयं बनावें)

उपरोक्त औषधियों का प्रयोग नेत्र में संक्रमणजन्य विभिन्न व्याधियों में सफलतापूर्वक होता है। विभिन्न प्रकार के शोथ, ग्राम निगेटिव पाजिटिव संक्रमण में, शोथ प्रतिक्रिया (Inflamatory reactions) में होता है।

नेत्र चिकित्सा करते समय ध्यान देने योग्य बातें—

१. रोगी को सही स्थिति में वैठायें और स्वयं सही स्थिति में वैठें।

२. चिकित्सक स्वयं अपने हाथों को, रुई को और औजारों को सम्यकतया विसंक्रमित करें।

३. नेत्र का सम्यक् परीक्षण निरीक्षण करके रोग निश्चय करें।

४. उचित, उत्तम और असरकारक औषधि की व्यवस्था करें।

५. औषधि उचित मात्रा और शक्ति (%) की देवें।

६. उपचार के पश्चात, लेने वाला इलाज तथा पथ्यापथ्य जरूर निर्देश करें।

—डा० सनमत कुमार जैन आयुर्वेदाचार्य
बी. ए. एम. एस., डी. एच. बी., बीना (म० प्र०)

आयुर्वेदिक ताकत की दवाओं में सर्वोपरि

स्त्री और पुरुष दोनों के लिए

(शक्ति का अटूट खजाना)

यह सिद्ध चन्द्रोदय वटी रसायन है। शरीर में जो खून की कमी होती है, उसे दूर कर अग्नि को प्रदीप्त कर शरीर को कान्ति सम्पन्न बनाती है। रोजाना सेवन करने से शक्ति का वह संचय होता है जो कि अकथनीय है। जो लोग प्रतिवर्ष नियमित रूप से विशेष रूप से सर्दियों के दो माह इसे सेवन कर लेते हैं उन्हें कभी कमजोरी नहीं सताती और बुढ़ापा आ जाने पर भी बलवान बने रहते हैं।
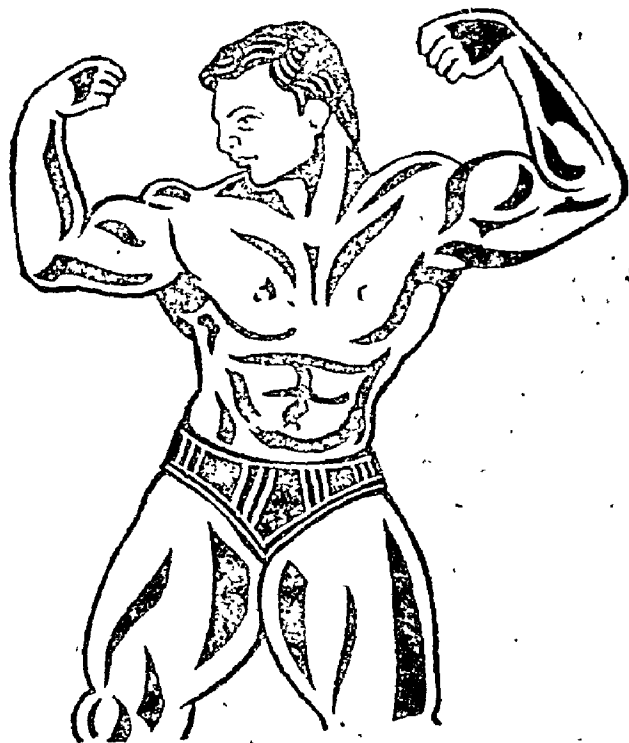
यह दवा स्त्री और पुरुष दोनों को एकसा फायदा करती है

लिखने का सारांश यह है कि रोगी मनुष्य तो इससे लाभ उठाते ही हैं पर यदि निरोग युवावस्था वाले सेवन करें तो निर्बलता उनके पास भी नहीं फटकती। जीवन हमेशा सुखमय व्यतीत होता है, क्योंकि इसके सेवन से भूख बढ़ती है। घी, दूध आदि सर्व पौष्टिक पदार्थ भली भांति पचते हैं।

कीमत ४१ गोली की शीशी ५.०० १२ शीशी ५८), डाक खर्च व सेलटैक्स अलग।

दवा मिलने का पता—

श्री ज्वाला आयुर्वेद भवन, अलीगढ़।

ऊर्ध्वजत्रु रोग
कर्ण-प्रकरण
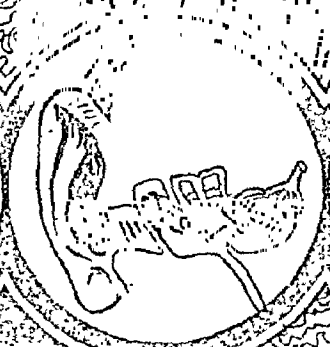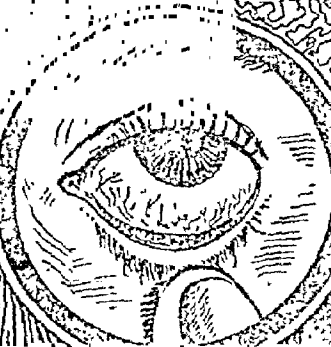
डा० श्री अयोध्याप्रसाद अचल एम० ए०

श्री अयोध्या प्रसाद जी 'अचल' 'धन्वन्तरि' पर कृपा दृष्टि रखने वाले लेखकों में से एक हैं। आप गया में डिग्री कालेज के प्रधानाचार्य तथा मनोविज्ञान के पण्डित भी हैं। यह सब आपकी विद्वता एवं कर्मठता का प्रतीक है। प्रस्तुत लेख में आपने कर्ण रचना का नातिसंक्षिप्तविस्तरेण वर्णन किया है। अन्त में कर्ण की कार्यविधि भी समझाई है। आशा है पाठक लाभान्वित होंगे। — दाऊदयाल गर्ग

रचना की दृष्टि से कान के तीन मुख्य भाग किये जाते हैं—

१. बाह्य कर्ण (External ear)

२. मध्य कर्ण (Middle ear)

३. अन्तस्थ कर्ण (Internal ear)

नीचे संक्षेप में तीनों का ही विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

बाह्य कर्ण

बाह्य कर्ण के भी दो प्रमुख भाग किये जा सकते हैं— कर्ण-शष्कुली तथा कर्णनली।

१. **कर्ण-शष्कुली** (Auricle or pinna)—इसका आकार देखने में सीप की तरह लगता है। इसके निचले भाग को छोड़कर, जो देखने में कुछ मोटा लगता है और जिसे लौर कहते हैं, शेष भाग कार्टिलेज (शष्कुली) का बना रहता है। ऊपर से दोनों और त्वचा का आवरण रहता है। यही कर्ण शष्कुली का वह भाग है जो बाहर से दिखाई पड़ता है और जिसे हम बोल चाल की भाषा में कान कहते हैं। इन कानों का आकार भिन्न भिन्न जीवधारियों में भिन्न प्रकार का होता है। मनुष्यों की अपेक्षा पशुओं में न केवल इनका आकार बड़ा होता है बल्कि अधिकांश पशु अपनी आवश्यकतानुसार अपनी कर्ण-शष्कुलियों को विभिन्न दिशाओं में मोड़ भी सकते हैं।

२. **कर्ण नली** (Auditory Meatus)—सामान्य प्रौढ़ व्यक्ति में कर्ण नली की लम्बाई लगभग २५ मि. मी.
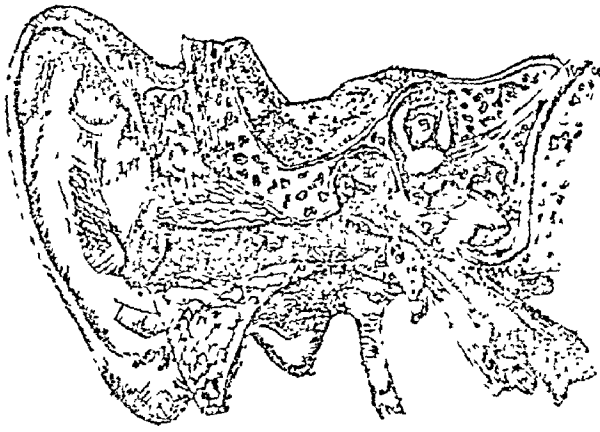
कान की रचना

१. कर्ण शष्कुली (Pinna)
२. कर्ण नली (Ear canal)
३. कर्ण ढोल (Ear Drum)
४. मुग्दर (Hammer)
५. निहाई (Anvil)
६. रकाब (Stirrup)
७. गोल खिड़की (Round Window)
८. अण्डाकार खिड़की (Oval Window)
९. अर्ध चक्राकार नलिकायें (Semi circular Canals)
१०. काकलिया (Cochlea)
११. श्रवण नाड़ी (Auditory Nerve)
१२. कण्ठ कर्ण नल (Eustachion Tube)

तथा व्यास ७ मि० मी० होता है। इसका एक तिहाई बाहरी भाग मजबूत कार्टिलेज से बना होता है और उसकी सतह पर हल्के-हल्के रोयें नजर आते हैं। इसकी सतह छोटी छोटी ग्रन्थियों से युक्त होती है जिनसे पसीना, सीबम (Sebaceous gland secretions) तथा एक प्रकार का मोमी पदार्थ (Ceruminous gland deposits) जिसे बोल-चाल की भाषा में कान का मैल भी कहते हैं, निकला करता है। कानों में स्थित रोयें तथा उक्त द्रव पदार्थ बाह्य पदार्थों को कानों में जाने से रोकते हैं।

कर्ण नली का शेष दो तिहाई अन्दरूनी भाग बाहर की अपेक्षा अधिक चिकना एवं संवेदनशील होता है। यह चारों ओर मजबूत हड्डी से घिरा रहता है।

कर्ण नली अपनी लम्बाई में एक समान गोल नहीं बल्कि देखने में टेढ़ी-मेढी लगती है। इसका एक भाग अधिक चौड़ा पर कम ऊंचा और शेष दूसरा भाग अधिक ऊंचा पर कम चौड़ा होता है। उक्त दोनों भागों के बीच का कुछ भाग थोड़ा संकरा होता है। कान में फंसी-पड़ी किसी चीज को निकालते समय चिकित्सक को उक्त तथ्य का पूरा ध्यान रखना चाहिए।

मध्य कर्ण

बाह्य कर्ण एवं मध्य कर्ण एक बहुत ही पतली झिल्ली के द्वारा एक दूसरे से अलग होते हैं। इस झिल्ली को कर्ण पटल या कान का पर्दा (Tympanic membrane or ear drum) कहते हैं। यह आकार में एक उंगली के नाखून के बराबर तथा मोटाई में १ मि० मी० होता है।

मध्य कर्ण के भी दो मुख्य भाग माने जाते हैं। कान की हड्डियां तथा कर्णकण्ठ नली।

१. कान की हड्डियां (Ossicles)— मध्य कर्ण में तो छोटी-छोटी हड्डियां हैं। ये हड्डियां एक विशेष प्रकार के बन्धनों के द्वारा एक दूसरे से बधी रहती हैं। इनके बीच चल-संधियां होती हैं। इनमें से सबसे बाहर अर्थात् कान के पर्दे के पास जो हड्डी है उसे मुग्दर (Mellous or Hammer) बीच की हड्डी निहाई (Incus or Anvil) तथा अन्तस्थ कर्ण से लगी तीसरी हड्डी रकाब (Stapes or stirrup) कहलाती है। मुग्दर से मिला हुआ मांस-पेशियों का एक समूह है जिसे मध्य कर्ण प्रसारपेशी (Temor tympani) कहते हैं। ये मांसपेशियां मुग्दर के कम्पन को नियन्त्रित करती हैं। अत्यधिक तीव्र ध्वनि-तरंगें कभी-कभी कान की झिल्ली को इतना प्रकम्पित कर देती हैं कि उसके क्षतिग्रस्त होने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। ऐसी स्थिति में ये मांसपेशियां मुग्दर को इस प्रकार कस देती हैं कि झिल्ली में अधिक कम्पन नहीं हो पाता।

२. कर्णकण्ठ नली (Eustachion tube) मध्य कर्ण कर्णकण्ठ नली के द्वारा ही

नासा-कण्ठप्रणाली (Naso pharynx) से जुड़ा रहता है। कर्णकण्ठ नली मध्य कर्ण से शुरू होकर कण्ठकोष्ठ (Cavity of the throat) तक जाती है। यह सदा हवा से भरी रहती है और यहां हवा का दबाव बाहर के वायु मण्डल के अनुरूप रहता है। यह हवा न केवल कान की झिल्ली को अन्दर से सहारा देती है बल्कि तीव्र ध्वनि-तरंगें झिल्ली को अन्दर की ओर अधिक दबा भी नहीं पातीं।

अन्तस्थ कर्ण

मध्य कर्ण की दूसरी सीमा पर दो प्रकार की खिड़कियां होती हैं जिन्हें अण्डाकार खिड़की (Oval window or Fenestra Vestibuli) तथा गोल खिड़की (Round window) कहते हैं। इन खिड़कियों से ही अन्तस्थ कर्ण आरम्भ होता है। अन्तस्थ कर्ण कनपटी की हड्डी के अन्दर अवस्थित है। इसकी बनावट बहुत ही पेचीदा और जटिल है। इसके भी तीन प्रमुख भाग हैं—१. तीन मुड़ी हुई अर्ध चक्राकार नलियां, कर्णकुटी और काकलिया। इन तीनों के भीतर झिल्ली निर्मित अन्तस्थ कर्ण रहता है। अर्थात् अस्थिकृत नलियों के भीतर झिल्लीकृत नलियां, अस्थिकृत कुटी में झिल्लीकृत कुटी और अस्थिकृत काकलिया के बीच झिल्लीकृत काकलिया।

अन्तःकर्ण को सामान्यतः पेचीला (Labyrinth) कहा जाता है। यह भाग अनेक ऐसी नलिकाओं से जो हड्डी से लिपटी रहती हैं, निर्मित है। हड्डियों के घुमाव अपने अन्दर स्थित अपेक्षाकृत छोटे झिल्लियों के घुमावों की रक्षा करते हैं। अनेक लोमकोष तथा एक प्रकार का द्रव पदार्थ (Fibrous bands of tissues and perilymph) हड्डीकृत घुमावों को झिल्लीकृत घुमावों से अलग करते हैं।

महत्व की दृष्टि से अर्ध चक्राकार नलियों तथा काकलिया के संक्षिप्त विवरण नीचे प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

१. अर्ध चक्राकर नलियां (Semicircular canals)—ये नलियां यद्यपि मध्य कर्ण में स्थित हैं तथापि श्रवण-संवेदना से इनका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। इनका प्रमुख कार्य शरीर के सन्तुलन को बनाए रखना है। सुनने की क्रिया में शरीर के विभिन्न अङ्गों का संतुलन भी आवश्यक है। मात्र इसी दृष्टि से हम इस यन्त्र को सुनने की क्रिया में सहायक मान सकते हैं।

२. काकलिया (Cochlea)—श्रवण संवेदना की दृष्टि से काकलिया का स्थान अधिक महत्वपूर्ण है। काकलिया कुछ-कुछ शंख या घोंघे के आकार का होता है। यह एक ओर पतला और नोकीला तथा दूसरी ओर चौड़ा और मोटा होता है। काकलिया दो चीजों का बना है। एक शंखाकार स्तम्भ (Mediolus) और दूसरी उस पर लिपटी नली। यह नली स्तम्भ पर इस प्रकार लिपटी रहती है कि इसकी लपेटें एक दूसरे से मिली रहती हैं। इनमें कुल पौने तीन लपेटें होती हैं। उक्त नली को यदि खींच कर सीधा कर दिया जाये और काटकर देखा जाये तो उसमें तीन रास्ते दिखलाई देंगे। इनको वासकर्ण नलिका (Vesti
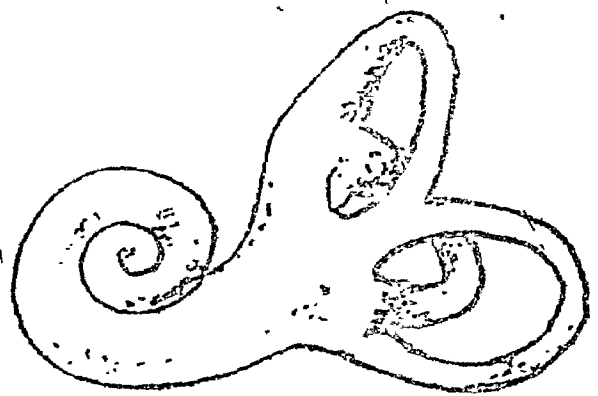
bulor canal or Scala vestibuli) कर्ण-नलिका (Tympanic canal or scala tympani) तथा शंख-नलिका (Cochlear canal or scala Medio) कहते हैं। इनमें से वासकर्ण नलिका अण्डाकार खिड़की पर समाप्त होती है। एक झिल्ली (Basilar membrane) वासकर्ण नलिका को कर्ण नलिका से पृथक करती है जिसका अन्त गोलाकार खिड़की में होता है। इन दोनों ही नलिकाओं में एक प्रकार का द्रव पदार्थ भरा रहता है जिसे पेरिलिम्फ (Perilymph) कहते हैं। शंख नलिका में ही श्रवण-संवेदना के ग्राहक कोष रहते हैं। इसमें वर्तमान द्रव पदार्थ को एण्डोलिम्फ (Endolymph) कहते हैं।

शंख नलिका की तह से लगी झिल्ली पर ही, जो नलिका की एक दीवार से लगी रहती है, कोर्टेन्द्रिय (Organ of corti) है। यहां सहस्त्रों लोमकोष (Hair cells) अन्य कोषीय संरचनायें (cellular structures) तथा लगभग २५००० श्रवण तन्तु (Auditory strings)

रहते हैं। श्रवण तन्तु भिन्न-भिन्न लम्बाई और आकार-प्रकार के होते हैं। कहा जाता है कि इनकी सहायता से मनुष्य लगभग १०००० स्वरमानों (pitches) को पहचानने में समर्थ होता है।

काकलिया से ही संलग्न श्रवण-नाड़ी (Auditory Nerve) होती है जो काकलिया में उत्पन्न स्नायु-प्रवाह को मस्तिष्क के श्रवण केन्द्र (Hearing centre) तक पहुंचाती है।

कान की कार्य प्रणाली

कान न केवल श्रवण संवेदना में सहायक होते हैं बल्कि शारीरिक गतियों की पहचान तथा संतुलन बनाये रखने में भी मदद करते हैं। नीचे कान की इन दोनों ही क्रियाओं पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है।

श्रवण संवेदना

श्रवण संवेदना के लिए उपयुक्त उत्तेजना ध्वनि-तरगें (Sound waves) हैं। ये ध्वनि तरगें अज्ञात और रहस्यमय द्रव्य ईथर में उत्पन्न एक प्रकार के कम्पन हैं। इन ध्वनि-तरगों की तुलना हम पानी में फेंके गए कङ्कड़ से उत्पन्न जल लहरियों से कर सकते हैं। जिस प्रकार कंकड़ गिरने के स्थान से उत्पन्न होकर ये लहरियां निरन्तर आगे की ओर बढ़ती जाती हैं उसी प्रकार ध्वनि-तरगें भी शब्द के स्रोत से उत्पन्न होकर वायु के माध्यम से निरन्तर आगे की ओर बढ़ती जाती हैं।

ये ध्वनि तरगें निम्न बातों में एक दूसरे से भिन्न हो सकती हैं—बारम्बारता (Frequency) ऊंचाई (Amplitude) तथा रूप या मिश्रण (Form or Composition) ध्वनि तरगों की इन तीन प्रकार की भिन्नताओं पर ही श्रवण संवेदना की निम्न तीनों मुख्य भिन्नतायें क्रमशः तीव्रता (pitch) सघनता (Loudness) तथा नादगुण (Timler) निर्भर करती हैं।

श्रवण संवेदना कैसे होती है।

परिवेश में जब कहीं किसी तरह की आवाज होती है तो सबसे पहले ध्वनि-तरगें उत्पन्न होती हैं। फिर ध्वनि तरंगों का प्रसार प्राणी के कानों तक होता है। कानों के सम्पर्क में आते ही बाह्य कर्ण का वह भाग जिसे कर्ण शष्कुली कहा गया है वायु के इन प्रकम्पों को ग्रहण कर कर्ण नली में पहुंचता है जिससे कान के परदे में भी ध्वनि तरंगों के प्रकम्प के अनुरूप ही प्रकम्प उत्पन्न होता है। कर्ण पटल का प्रकम्प मुग्दर को, मुग्दर निहाई को और फिर रकाव को गतिशील बनाती है। रकाब अण्डाकार खिड़की के द्वारा इस गति को अन्तःकर्ण में पहुंचाता है। इससे काकलिया में स्थित तन्तु गतिमान होते हैं। इन तन्तुओं के ऊपरी सिरे झुकते हैं और वहां अपने तल में वर्तमान द्रव पदार्थ का स्पर्श करते हैं। फलस्वरूप गति स्नायु-प्रवाह (Nerve Impulse) का रूप धारण करती है। अब यह स्नायु-प्रवाह श्रवण-नाड़ी (Auditory Nerve) के द्वारा मस्तिष्क के श्रवण-केन्द्र पहुंचता है। तब सुनने की क्रिया सम्पादित होती है। कान के तीनों भागों की क्रियाओं को मद्दे-नजर रखते हुए हम संक्षेप में कह सकते हैं कि बाह्य कर्ण संग्रहकर्ता का, मध्य कर्ण सम्प्रेषक का तथा अन्तस्थ कर्ण विश्लेषण का काम करता हैं।

संतुलन की संवेदना

साधारणतः कम ही लोग इस तथ्य से परिचित हैं कि ध्वनियों और शारीरिक गतियों की पहिचान एक ही अङ्ग के द्वारा की जाती है। कान न केवल श्रवण-संवेदना के सम्पादन में प्रत्युत हमें अपना सतुलन बनाये रखने, गुरुत्वाकर्षण गतियों एवं दबावों (यथा हवा का दबाव) के प्रति समायोजन में भी सहायक होते हैं। हमारे दिन प्रति दिन अनेक काम—यथा चलना, दौड़ना, उछलना, कूदना, चढ़ना, उतरना, फांदना, झूलना आदि संतुलन की संवेदना का ही उपयोग करते हैं और इस संवेदना का प्रमुख आधार कर्ण-कुटी में स्थापित वह यन्त्र है जिसे "वैस्टीव्युलर एँप्रैटस" कहते हैं। अर्धचक्राकार नलियों एवं उटरीकुलस तथा सैक्कुलस की थैलियों का भी समावेश इसी में हो जाता है।

अर्धचक्राकार नलियों से सर की गतियों का भान होता है। ये तीन हैं। इनका आकार अंग्रेजी के 'U' अक्षर से मिलता-जुलता है और ये एक दूसरे से लगभग समकोण बनाती हुई मिलती हैं। ये एक प्रकार के द्रव पदार्थ जिसे "एण्डोलिम्फ" कहते हैं से भरी रहती हैं। प्रत्येक नली के तल में एक संरचना होती है जिसे

—शेषांश पृष्ठ २४० पर देखें।

कर्ण शरीर एवं क्रिया

वै० श० स० साठ्ये, प्राध्यापक

कर्ण शष्कुली और बाह्य कर्ण गुहा ये बहिः कर्ण के दो अवयव हैं। बाह्य कर्ण गुहा की लम्बाई १। इं. होती है। कर्ण गुहा की अन्दर और सामने की दीवार एक अति सूक्ष्म झिल्ली से बनी होती है। इस झिल्ली को "श्रुतिपटह" या कान का पर्दा कहते हैं। इसके पीछे मध्य कर्ण होता है। शब्द की लहरियाँ बाह्यकर्ण गुहा में होकर इस पटह पर टकराती हैं।
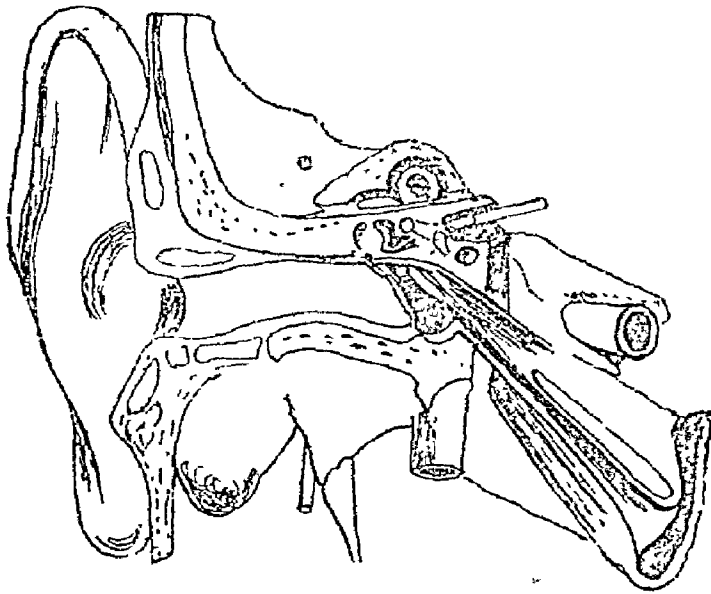
"कर्ण-गुहा" के कुछ टेढ़ी होने से पटह दिखाई नहीं देता। कर्ण-रोग में इसकी परीक्षा के लिए कर्ण-शष्कुली को जरा ऊपर से पकड़ कर ऊपर, पीछे तथा बाहर की ओर खींचने से तथा कर्ण-वीक्षण तथा दर्पण की सहायता से वह देखी जाती है। स्वस्थ दशा में श्रुतिपटह मुक्ताशुक्ति के समान भास्वर होता है।

मध्यकर्ण एक छोटी-सी प्रायः अस्थिमय गुहा है, जो शंखास्थि के एक देश में रहती है। इसकी बाहर की दीवार पूर्वोक्त श्रुतिपटह से बनी होती है। इस गुहा में तीन-तीन छोटी-छोटी अस्थियाँ होती हैं। पहली अस्थि "मुद्गर" है। यह सम्पूर्ण लम्बाई में श्रुतिपटह से संलग्न होती है। शेष अस्थियाँ "अंकुशक" तथा "धरणक" हैं। ये क्रम से एक दूसरे से संयुक्त रहती हैं। मध्यकर्ण के भीतरी दीवार में एक छिद्र होता है। इसमें "धरणक" अस्थि टिकी होती है। शब्द की लहरियाँ श्रुति पटह से टकराकर क्रम से इन अस्थियों को आन्दोलित करती हुई धरणक द्वारा अन्तःकर्ण में प्रविष्ट होती हैं। असाध्य-बधिरता में प्रायः मध्यकर्ण के जीर्ण शोथ के कारण तीनों अस्थियां एक हो जाती हैं और शब्द की लहरियों का वहन करने में असमर्थ हो जाती हैं।

नासिक्य-गल से पटहपुरणिका नाम की एक सूक्ष्म प्रणाली मध्यकर्ण में आती है। इसकी लम्बाई १३/४ इन्च के लगभग होती है। इस प्रणाली द्वारा बाह्य-वायु मध्यकर्ण में प्रविष्ट होती है और सदा विाधनान रहता है। इस अन्तः प्रविष्ट वायु और बाह्यकर्ण-गुहा के दबाव से श्रुतिपटह स्वस्थ दशा में अशिथिल रहा करता है। कभी कभी गले में शोथ, प्रतिश्याय, गिलयु-वृद्धि आदि के कारण पटह पुरणिका में भी शोथ हो जाता है, जिससे कुछ काल के लिये बाधिर्य उपस्थित हो जाता है।

अन्तःकर्ण या कान्तारक में अष्टमशीर्षण्य नाड़ी-श्रुति-नाड़ी के प्रतान व्याप्त होते हैं। शब्द की लहरियां पूर्वोक्त क्रम से इन प्रतानों में होकर मस्तिष्क के वतक में स्थित अपने स्थान में पहुँचती और शब्द का ग्रहण कराती हैं। अतःकर्ण के दो भाग हैं—एक अस्थिमय तथा दूसरा उसी के आकार का उसके अन्तर्गत कलामय। कलामय अन्तः कर्ण के अन्दर और बाहर एक प्रकार का द्रव रहा करता

है। अन्तः कर्ण के दोनों अवयवों के तीन उपाङ्ग हैं। प्रथम का नाम "शम्बुक" है। यह घोंघे के समान आवर्तमय होता है। शब्द के ग्रहण में यह अनिवार्य तथा प्रधान है। श्रुतिनाड़ी के अतिसवेदी प्रतान इसमें व्याप्त होता है। वायु के कार्यों के वर्णन में "श्रोत्रस्पार्शन योर्मूल" की व्याख्या में चक्रपाणि ने "श्रवणमूलत्वं वायोः कर्णशष्कुली रचना विशेष व्याप्रियमानत्वात, मूलं प्रधान कारणम्" इस वाक्य से सम्भवतः इसी का संकेत किया है। शम्बुक के बाहर-स्थित पूर्वोक्त द्रव उक्त शब्द को क्रम से आई लहरियों से आन्दोलित होकर अन्तस्थ द्रव को आन्दोलित करता है। यह आन्दोलन श्रुति नाड़ी के प्रतानों द्वारा ग्रहण कर मस्तिष्क में पहुंचाया जाता है। परिणाम में शब्द का अनुभव होता है।

अन्तःकर्ण का दूसरा उपाङ्ग "तुम्बिका" है। इसके मध्य एक छिद्र होता है जिसमें वरणकास्थि टिकी रहती है। अन्तःकर्ण का तीसरा उपांग शुण्डिकाएँ हैं। ये तीन अर्धवर्तुल प्रणालियाँ हैं। इनका छिद्रों द्वारा तुम्बिका से सम्बन्ध होता है।

इन शुण्डिकाओं का कार्य शरीर की स्थिति का सन्तुलन है। विविध शारीरिक चेष्टाओं में शिर यत्किञ्चित् इधर उधर होता ही है, जिससे इन शुण्डिकाओं के भीतर स्थित पूर्वोक्त द्रव इधर-उधर होता है। द्रव का यह इतस्ततः होना वेग के रूप में सूक्ष्म नाड़ियों द्वारा धम्मिल्लक में पहुँचाया जाता है। यह अंग तदनुसार शरीर के अवयवों को विविध प्रेरणाएँ करता है, अर्थात् शरीर का कोई उपाङ्ग किसी विशेष दिशा में झुक जाय और शरीर उस दिशा में गिरने को हो, तो पूर्वोक्त प्रकार से उसका ज्ञान शुण्डिकाओं में स्थित द्रव द्वारा धम्मिल्लक को होता है, जिससे शरीर सन्तुलित हो जाय।

कर्ण यह प्राणवायु का स्थान भी बताया गया है। (त्रिदोषतत्व विमर्श वैद्य रामरक्ष पाठक) तर्पक कफ सिर में रहकर मस्तिष्क स्थित श्रोत्रेंद्रिय को पुष्ट करता है।

अष्टमयुग्म या श्रुति नाड़ी इनके दो विभाग हैं। एक विभाग शब्द का श्रवण कराता है दूसरा शरीर की विविध हलचलों से अन्तःकर्ण में होने वाले परिवर्तनों का ज्ञान धम्मिल्लक तक पहुँचाता है।

कर्णनाद यह लक्षण कर्णगत प्रकुपित वायु से होता है। वात के नानात्मज विकारों में कर्णशूल का उल्लेख किया गया है। वैसा अशब्दश्रवणम्, अशब्दता, उच्चैः श्रवणम् तथा बाधिर्यम् का भी उल्लेख है। कर्णमल की हरितवर्णता का वर्णन रक्तपित्त के पूर्वरूप में आया है।

—श्री वैद्य श० म० साठ्ये
प्राध्यापक—दो० धा० म० वि० शासकीय आयु० महा विद्यालय
नागपुर (महाराष्ट्र)

कर्ण शारीर एवं क्रिया विज्ञान : : पृष्ठ २३८ का शेषांश

"एम्पुला" कहते है। इसी एम्पुला में संतुलन की संवेदना के ग्राहक कोश होते हैं।

सर जैसे-जैसे घूमता है नलियों में भी उसी के अनुरूप गति होती है। उनके अन्दर स्थित द्रव-पदार्थ तत्काल न चालित होकर संवेदना के ग्राहकों पर दबाव डालता है। संवेदना के ग्राहक इन संकेतों को लघु-मस्तिष्क में पहुंचाते हैं। लघु-मस्तिष्क इन संकेतों का विश्लेषण करता है। गति जितनी ही तेज होती है ग्राहक कोश उतनी ही तेजी के साथ आवेगों को मस्तिष्क में भेजने का काम करते हैं। अर्धचक्राकार नलियों की अति संवेदनशीलता की स्थिति में प्राणी को घुमारी जैसी आने लगती है।

उट्रिकिल तथा सैक्क्यूल की थैलियों (Chanbers of utriculous and Sacculus) में छोटे छोटे (Otoliths) होते हैं जो सरेस के समान तन्तुओं से लटके रहते हैं। जब शरीर की गति ऊपर या नीचे की ओर होती है तो इन थैलियों पर दबाव या खिंचाव पड़ता है। ये इन संकेतों को मस्तिष्क तक पहुंचाती हैं जिससे प्राणी को गुरुत्वाकर्षण तथा गति में वृद्धि का भान होता है।

—श्री डा० अयोध्या प्रसाद 'अचल' एम.ए.
दर्शन एवं मनोविज्ञान, पीएच डी., आयुर्वेद वृहस्पति
प्रिंसिपल—जे० जे० डिग्री कालेज, गया।

श्री वैद्य मुन्नालाल जी गुप्त शुद्ध आयुर्वेद के पक्षधर तथा विद्वान लेखक हैं। आपकी 'धन्वन्तरि' पर कृपा सदैव से रही है। पहले आप 'नाड़ी विज्ञानांक' तथा 'ग्रहणी रोगांक' नामक दो लघु विशेषांकों तथा गत वर्ष के विशाल विशेषांक "शास्त्रीय सिद्ध प्रयोगांक" के प्रथम भाग का सफल सम्पादन कर चुके हैं। आगामी वर्ष इसी विशेषांक का द्वितीय भाग का भी आप ही सम्पादन करेंगे। इस वृद्धावस्था में भी आप 'धन्वन्तरि' के लिये इतना कुछ करते हैं यह आपकी कृपादृष्टि का द्योतक है। मैं श्री गुप्त जी से मिल भी चुका हूं। आप अत्यन्त सौम्य स्वभावी, निश्छल भाव, सादा जीवन उच्च विचार वाले अत्यन्त सादगी पसन्द विद्वान आयुर्वेदज्ञ हैं। भगवान 'धन्वन्तरि' से प्रार्थना है कि आपको शतायु बनायें।

—दाऊदयाल गर्ग

ऊर्ध्वजत्रु रोगान्तर्गत या शालाक्य चिकित्सा अन्तर्गत श्रवण (कर्ण) वदन, घ्राणादि के रोगों की चिकित्सा व उपचार आयुर्वेद में कथन की गई है। किन्तु इस पर आज तक कोई आयुर्वेदीय स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं।

सुश्रुत संहिता के उत्तर तन्त्र में, अध्याय १ से १९वें तक नेत्र रोगों का, २० एवं २१वें अध्याय में कर्ण रोगों का, २२-२३ एवं २४ में नासा रोगों का, २५वें और २६वें अध्याय में शिरो रोगों का, चिकित्सा स्थान अध्याय के २२ में, निदान स्थान अध्याय १६ में तथा चरक चिकित्सा स्थान अध्याय २६ में कुछ मिलता है। चरक की अपेक्षा सुश्रुत में वर्णन विस्तार से हैं। पुनर्वसु भगवान ने तो जान बूझकर वर्णन नहीं किया और स्पष्ट लिख दिया कि—

पराधिकारे तु न विस्तरोक्तिः।
शस्तेति तेनाऽत्र न नः प्रयासः॥

अर्थात् दूसरे के अधिकार में विस्तार से बोलना अच्छा नहीं, अतः शालाक्य तन्त्रोक्त रोगों का विस्तृत वर्णन में, हमने प्रयास-परिश्रम नहीं किया है।

आज के युग में ऊर्ध्वजत्रु रोगों के विशेषज्ञ डाक्टरों की कमी नहीं, इस सम्बन्ध में वैद्यगण कितने और कहां विशेषज्ञ होंगे, हमारे देखने सुनने में बहुत ही कम है

इसका कारण स्पष्ट है कि देश में आयुर्वेद शिक्षा की महान कमी है जिसकी पूर्ति कांग्रेस सरकार नहीं कर सकी। अब जनता सरकार का हाथ देखना है वह आयुर्वेद के प्रति क्या लाभप्रद, शिक्षा का रवइया अपनाती है।

हमें यहां कर्ण रोगों के सम्बन्ध में ही आयुर्वेद मतानुसार कुछ प्रकाश डालना है।

कर्णशूल (Earache-otalgia)

कर्णशूल का कारण, अपने कारणों से कुपित हुए दोषों से आवृत कर्णगत वायु, उल्टी चलकर, कानों में तीव्र शूल उत्पन्न करती है।

कर्णशूल को नष्ट करने के लिये निम्न प्रयोग उत्तम सफल सिद्ध हुये हैं—

१. हिंग्वादि तैल—हींग १ माशे, सौंठ और अजवाइन एक-एक तोला, सरसों तेल ५० ग्राम, गो या बकरी मूत्र २०० ग्राम। तैल विधि से तैल परिपक्व कर, छान कर शीशी में रखे और आवश्यक समय कान में टपकावें तो इससे कर्णशूल नष्ट हो जाता है।

२. देवदार्वादि तेल—देवदारू, बच (घुड़) सौंठ और अजवाइन, सैंधानमक, कूठ इनका कल्क करें। ये प्रत्येक १-१ तोला हों तो तेल सरसों का २४ तोला, बकरी का मूत्र ९६ तोला लेकर तेल विधि से तैल परिपक्व कर छानकर शीशी में रखें। जिस समय कान में दर्द हो उस समय जरा सा तैल चम्मच में गर्म कर कान में डालें तो कर्णशूल नष्ट हो। इसी प्रकार नारायण तैल तथा अन्य वातनाशक तेल का उपयोग सर्वश्रेष्ठ उपाय है।

३. सुदर्शन के पत्तों का अर्क, रस भी गर्मकर डाला जाता है।

४. कौड़ी की भस्म को जल में घोलकर, सौंठ और रसौत का कल्क तैयार कर किसी सुगन्धित तेल में या मोतिया के तेल में मिलाकर पकाकर कान में डालें तो दर्द नष्ट होता है।

५. धतुरादि तैल—धतूरे के पत्तों का रस १० तोला, तिल तैल १० तोला को किसी कलईदार पात्र में मन्द-मन्द अग्नि पर पकावें। जब आधा रस जल जाय तब उसमें पके हुए आक (अर्क) के पत्ते नग ७ लेकर उस पर तैल चुपड़ कर थोड़ा नमक लगाकर तैल में डाल दें। जब तेल में वे पत्ते जल जांय तब तेल को नीचे उतारकर छान लें, शीशी में सुरक्षित रखें। आवश्यकता के समय इस तेल को कर्णशूल में कुछ गर्म कर बूंद बूंद डालें। प्रतिदिन कान में डालते रहने से कान के समस्त विकार दूर होकर कर्ण शूल ही नहीं कर्ण बाधिर्य (कम सुनाई देने वाला रोग) भी नष्ट होगा। यदि कान के पीछे सूजन हो तो धतूरे के पत्तों पर तेल लगाकर सेककर कान के पीछे बांध दें या इसके पत्तों को पीसकर गाढ़ा-गाढ़ा लेप कर दें।

कर्णनाद (Tinitus Aurium)

इस रोग में शब्द हुए बिना ही शब्द सुनाई देता है। जब कान के छिद्र में कुपित वायु स्थित होती है तब रोगी अनेक प्रकार के शब्द-भेरी, मृदंग, शंख आदि के स्वर सुना करता है।

यह भी वायु विकार जनित रोग है। उक्त उपायों से यह भी नष्ट हो जाता है।

बाधिर्य—बहरापन (Deafness)

जब शब्द का वहन करने वाली वायु शुद्ध रूप में अथवा कफ के साथ मिलकर स्रोत को आच्छादित करके स्थिर हो जाती है उससे बाधिर्य-बहरापन उत्पन्न हो जाता है। देखा यह भी जाता है जब कान के भीतरी परदे फट जाते हैं उस समय भी बहरापन आ जाता है। बहरेपन के और भी कई कारण हो सकते हैं। यह रोग बड़ा ही दुःसाध्य होता है। किसी तेल से ठीक हो जाय तो ठीक है अन्यथा आप्रेशन कराकर या यन्त्र का उपयोग करके ही सुनने का यत्न किया जा सकता है। औषधियां प्रायः सफल नहीं होतीं। फिर भी हमारी सलाह है कि इन्दु वटी का कुछ महीनों तक सेवन करके अवश्य देखना चाहिए इससे सफलता मिलते देखी है। साथ ही निम्न तेलों का भी उपयोग करें।

इन्दु वटी

शुद्ध शिलाजीत, अभ्रक भस्म, लौह भस्म १-१ तोला स्वर्ण भस्म चार आने भर लेकर उत्तम खरल में घोटें और निम्न वस्तुओं के रस की भावना देवें। मकोय, शतावर, आंवला और कमल—इनके स्वरस या क्वाथ की। बाद में १-१ रत्ती की वटी बनालें। मात्रा—१ गोली, आमला रस में घोटकर नित्य प्रातः सायं सेवन करें और निम्न दशमूल तेल का कान में उपयोग करें—

दशमूल तेल

तिल तैल २० तोला, दशमूल क्वाथ १ सेर, दशमूल का कल्क ५ तोला, यथा विधि तैल परिपक्व कर छानकर शीशी में रखें। नित्य दोनों समय कान में डालें।

बिल्व तेल का योग

तिल तेल २० तोला, गौमूत्र के साथ पिसा बिल्व फल का गूदा ५ तोला, बकरी का दूध १ सेर, सम्यक् प्रकार से तैल परिपक्व करने हेतु १ सेर जल भी इस में डालते हैं। यथा विधि तैयार किये गये तेल का कान में उपयोग करने से भी बहरेपन में लाभ उठाया गया है।

कर्णक्ष्वेड

यह रोग भी कर्णनाद का ही दूसरा प्रकार है। इस रोग में पतली एवं सुरीली ध्वनि कान में सुनाई देती है, जबकि कर्णनाद रोग में भारी शब्द सुनाई देते हैं। जब वायु—पित्तादि से युक्त होकर कानों में वंशी की ध्वनि जैसा शब्द हर समय सुनाई पड़ता है उस रोग को आयुर्वेद में कर्णक्ष्वेड कहा गया है। ऐसा अनेक रोगों के दौरान होता है।

कर्णनाद एवं कर्णक्ष्वेड रोगोपचार

कर्णनादे कर्णक्ष्वेडे कटुतैलेन पूरणम्।
नादबाधिर्य योः कुर्यात् बालशूलोक्तमौषधम्॥

अर्थात्—कर्णनाद और कर्णक्ष्वेड रोग में कान में कटु (सरसों का) तेल प्रतिदिन डालने से ही लाभ हो जाता है। कर्णनाद और कर्णबाधिर्य रोग में कर्ण शूल रोगवत् औषधियों का उपयोग हितकर होता है।

अपामार्गक्षार तैल(च. द.)

तिल तैल २० तोला, अपामार्गक्षार जल १ सेर, अपामार्गक्षार का कल्क ५ तोला, यथा विधि तैल परिपक्वकर, छानकर शीशी में रखें और आवश्यकतानुसार इसका उपयोग करने से कर्णनाद, कर्णक्ष्वेड और कर्णबाधिर्य रोगों को नष्ट करता है।

कर्ण संस्राव

सिर पर आघात लगने से, कान में जल व दूध चले जाने से, कर्ण में व्रण व विद्रधि होने से कान, वायु के द्वारा पीड़ित होकर, पूय स्राव करता है इसे कर्ण संस्राव रोग (Otoirhoea, Suppuratin of the ear) कहते हैं।

आरम्भ में कच्ची फिटकरी को महीन पीसकर कान में डालते रहने से कर्ण स्राव दूर हो जाता है ऐसा अनेक बार का अनुभूत है। जब रोग बहुत दिनों का हो जाता है तो इस रोग के लिए निम्न तैल का उपयोग करना हितकर है जो व्रण को भरकर स्राव को बन्द कर देता है—

धतूरे के पत्तों का रस ४०० ग्राम, सरसों तैल ४०० ग्राम, हल्दी का चूर्ण ४० ग्राम, गंधक ४० ग्राम। इन्हें मन्द-मन्द अग्नि पर पकाकर तैल सिद्ध करे लें, छानकर शीशी में रखें, कानों को साफ कर ४-५ बूंद डालते रहें तो कर्णस्राव, कर्ण पीड़ा और कर्ण बाधिर्य रोग में इससे लाभ होता है। खाण्ड, गुड़ और सेम की फली आदि का सेवन न करें और शीतल जल से स्नान न करें। यह योग सुश्रुत मासिकपत्र से लिया गया है।

यह रोग जब पुराना हो जाता है तब उसे कर्ण नाड़ी (कान का नासूर) कहते हैं।

शम्बुकादि तैल

सरसों का तेल २० तोला, छोटे शंख के भीतर का कीड़ का मांस ५ तोला, सम्यक् तैल पाक हेतु जल १ सेर लेकर यथा विधि तैल को पकाकर, छानकर शीशी में रखें। इस तैल से कान का नासूर भी दूर हो जाता है।

निशा तैल

सरसों का तेल ३२ तोला, हरिद्रा (हल्दी) और गंधक का कल्क ४-४ तोला, धतूरे के पत्तों का रस १२८ तोला लेकर यथा विधि तैल तैयार कर कान में डालें तो कण नाड़ी व्रण रोग नष्ट होवें।

श्री शिवदास जी का मत है कि सरसों का तेल ३२ तोला में हल्दी और गंधक दोनों का सम्मलित कल्क ४ तोला और तेल के बराबर ही धतूरे के पत्तों का रस ग्रहण करना चाहिये।

कर्ण नाड़ी व्रण भी जब पुराना हो जाता है तब उससे दुर्गन्धित पूय का स्राव होने लगता है, तब उस रोग को पूति कर्ण कहते हैं। इसके लिए कुष्ठाद्य तैल उपयोगी है।

कुष्ठाद्य तैल

तिल तैल २० तोला, बकरी का मूत्र १ सेर, कल्कार्थ कूठ, हिंग, वच, देवदारू, सौंफ, सौंठ और सैंधानमक इन

सबका कल्क २० तोला लेकर यथाविधि तैल तैयार कर उपयोग में लावें तो पूति कर्ण रोग नष्ट होवें।

कर्ण कण्डू

वायु और कफ के संयोग से कान में खुजली उत्पन्न होती है। कभी-कभी कान में अधिक मैल के कारण भी कान में खुजली होती है। कर्ण के मैल को कर्ण गूथक भी कहते हैं। कान का मैल (wax in the ear) पित्त की गर्मी से सूखा हुआ कफ होता है।

कर्ण कण्डु तथा कर्ण गूथक रोग में प्रतिदिन कान में तैल डालकर, कुछ स्वेदित कर, जमे हुए मैल को ढीला कर लें। दूसरे दिन शलाका से धीरे-धीरे निकाल दें।

कर्ण प्रतिनाह (Ot tis media)

कान का मैल जब द्रवित होकर तथा विलीन होकर नाक एवं मुख में पहुँच जाता है तब वह कर्ण प्रतिनाह रोग कहलाता है। यह आधे सिर में पीड़ा उत्पन्न कर देता है।

इस रोग की चिकित्सा के सम्बन्ध में कहा गया है कि—

अथ कर्ण प्रतीनाहे स्नेह स्वेदौ समाचरेद्।
ततो विरिक्त शिरसः क्रियां प्राप्तां समाचरेत्॥
—भै० र०

अर्थात् कर्ण प्रतिनाह रोग में स्नेहन, स्वेदन तथा नस्य के द्वारा शिरो विरेचन करके, पश्चाद् यथा दोषानुसार चिकित्सा करें।

कृमि कर्णक रोग (Myiarls of the ear)

जब कान के भीतर कीड़े पड़ जाते हैं अथवा मक्खी जाकर अपने अण्डे बच्चे वहां उत्पन्न कर देती है। उससे कीड़े उत्पन्न होकर, कृमियों का सा लक्षण करते हैं। उस रोग को कर्ण कृमि रोग कहा है।

हुंरहुर, सम्भालु के पत्तों का स्वरस या कलिहारी की जड़ के स्वरस में सौंठ, मरिच और पीपल का चूर्ण मिला कर कान में डालें। अथवा—

कलिहारी की जड़ तथा सूर्यावर्त (हुरहुर) के स्वरस में त्रिकुटा का सूक्ष्म चूर्ण मिला कर कान में भर देने से कान के कीड़े नष्ट हो जाते हैं।

पूतिकर्ण रोग के लिये रसौत शुद्ध लेकर स्त्री या गौ के दूध के साथ घिस कर, उसमें थोड़ा शहद मिला कर कानों में डालने से चिरकालीन स्रावादि से युक्त पूतिकर्ण रोग शीघ्र अच्छा हो जाता है।

कर्णपाली के रोग

परिपोटक, उत्पात, उन्मथक, दुःख वर्धन और परिलेही नामक रोग कर्णपाली में उत्पन्न होते हैं। अधिकतर कर्णपाली के असम्यक् विधवानि से उत्पन्न विकारों के कारण ही ये रोग उत्पन्न होते हैं।

परिपोटक—सुकुमारता के कारण, बहुत काल से उपेक्षित कानों के छिद्रों को एकाएक अत्यधिक बढ़ाने पर कर्णपाली में पीड़ा और विदाहयुक्त, काला एवं अरुण वर्ण, स्तब्ध, वातज शोथ हो जाता है उसे परिपोटक कहते हैं।

उत्पात—भारी आभूषणों के संयोग से, मार से रगड़ से पाली में दाह, पाक और पीड़ा, पीड़ा से युक्त श्यामवर्ण का शोथ होता है अथवा रक्तपित्त के प्रकोप से लाल वर्ण का शोथ होता है उसे उत्पात कहते हैं।

उन्मथक—कान के छिद्र को बल पूर्वक बढ़ाने से पाली में वायु कुपित होता है और कफ को एकत्र करके स्तब्ध, वेदनारहित शोथ उत्पन्न करता है। यह रोग खुजलाहट युक्त एवं वात कफज होता है।

दुःखवर्धन—गलत छिदे हुए कानों को बढ़ाते समय खुजलाहट, पाक और पीड़ा युक्त शोथ और पाक होता है।

परिलेही—कफ, रक्त और कृमि कुपित होकर कर्ण पाली में सरसों के आकार की, फैलने वाली खुजलाहट, दाह और पीड़ा से युक्त पिडिकायें उत्पन्न करते हैं। यह रोग चारों ओर फैलता हुआ शष्कुली सहित पाली को चाट लेता है, नष्ट कर देता है। इस रोग से पूरा का पूरा कान नष्ट हुआ देखा जाता है। इन रोगों की चिकित्सा करने का कभी मौका नहीं मिला अतः इन पर कुछ लिखना अनधिकार चेष्टा होगी।

कर्ण रोगों पर—एक अनुभूत तैल लिखता हूं।

मधुकादि तैल—तिल तैल १ सेर, क्वाथार्थ मुलैठी १ सेर, जल ४ सेर, शेष १ सेर। इसी रीति से सिद्ध किया दशमूल और दारु हरिद्रा का क्वाथ एवं कदलीकन्द स्वरस १-१ सेर।

कल्कार्थ—सौंफ, बच, कूठ, सहजने की छाल, रसौत, देवदारु, विडलवण, सज्जीखार, सैंधानमक। सब मिलित कल्क एक पाव (२० तोला) लेकर यथाविधि तैल सिद्ध कर लें। यह मधुकादि तैल, कर्णस्राव, कर्ण कण्डु, कर्ण क्ष्वेड पूतिकर्ण, कर्णपाक, कर्ण कृमि दारुण, कर्ण शूल, कर्णनाद, कर्ण शोथ, कर्ण प्रतिनाह और कर्ण बाधिर्य प्रभृति रोगों को नष्ट करने वाला उत्तम तैल है।

—श्री वैद्य मुन्नालाल गुप्त
५८/६८ नीलवाली गली, कानपुर
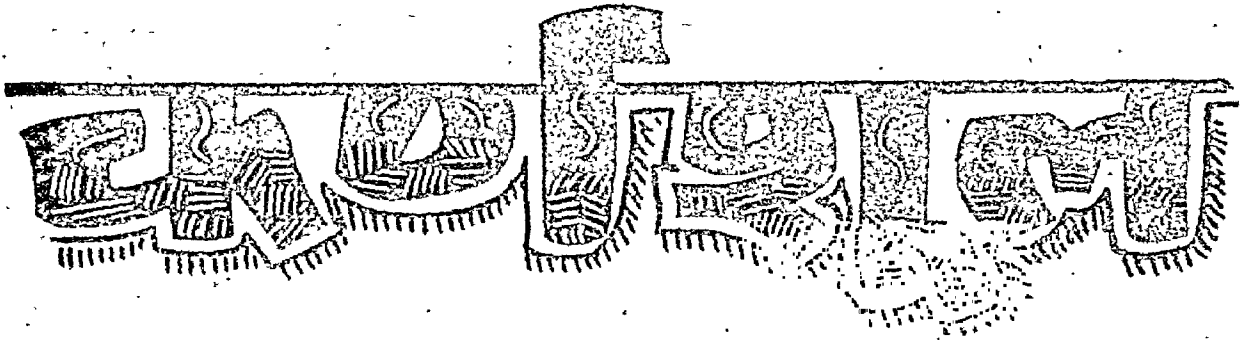
प्राणाचार्य श्री सीताराम अग्रवाल बी. एस.-सी., बी. ए. एम. एस.
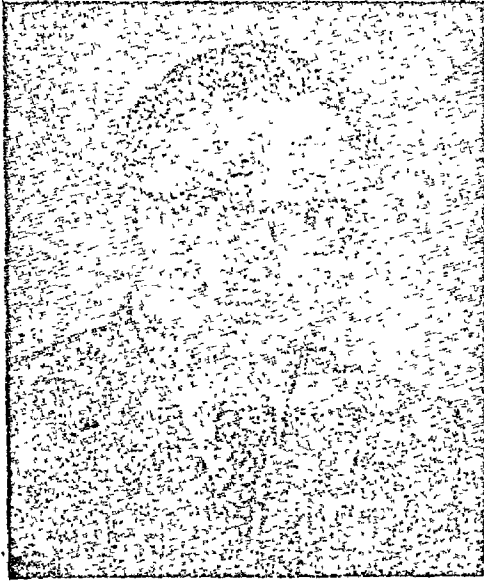
प्राणाचार्य श्री अग्रवाल आयुर्वेद जगत के नवोदित लेखक हैं। आपके लेख सुरुचिपूर्ण विद्वतापूर्ण होते हैं। नेत्र रोग प्रकरण में भी आपका लेख प्रकाशित है जो कि छोटा होते हुए भी उपयोगी है। प्रस्तुत लेख में आपने कर्णशूल नाशक शास्त्रीय प्रयोगों का एक विस्तृत संग्रह प्रस्तुत किया है जो कि आपकी विद्वता एवं बृहद्त्रयी तथा लघुत्रयी के गहन अध्ययन का द्योतक है। आयुर्वेद जगत को तथा 'धन्वन्तरि' को आपसे बहुत कुछ आशायें हैं।

—दाऊदयाल गर्ग

कर्णशूल नाशक आयुर्वेदिक व यूनानी योगों का संग्रह जो हमने किया है प्रकाशन के लिये लिख रहे हैं। इनमें से कई योग हमारे आजमायें है। कान के रोगों की सामान्य चिकित्सा, जो लगभग सभी रोगों में ग्राह्य है निम्नलिखित है —

स्निग्धं वातहरैः स्वेदैर्नरं स्नेहविरेचितम्।
नाड़ीस्वेदै स्वेदयेत्पिण्डस्वेदैस्तथैव च ॥ —सु.उ. २१/५

अर्थात् रोगी को स्निग्ध करके वातनाशक द्रव्यों से स्वेदन देने के बाद स्नेह विरेचन देवें। पश्चात् नाड़ी स्वेद तथा पिण्ड स्वेद से पुनः स्वेदन करना चाहिए।

स्नेह विरेचन के लिए एरण्ड तैल, बादाम रोगन आदि का सेवन करना चाहिए।

विल्व, एरण्ड, आक, पुनर्नवा, कैथ, काला धतूरा, अजगंधा, असगंध तर्कारी यववेणु आदि इन्हें कांजी में पका कर दिया गया नाड़ी स्वेद कर्णशूल नष्ट करता है।

पश्चात् अलसी, गूगल, अगर व घृत को निर्धूम अंगारों पर रखकर कर्ण का स्वेदन करना चाहिए। रुग्ण को भोजन कराके घृतपान कराना चाहिये। इसके पश्चात् शिरोवस्ति करना चाहिए। कहा भी है—

क्षौमगुग्गुलगुरुभिः सघृतैर्धूपयेच्च तम्।
भक्तोपरि हितं सर्पिर्वस्ति कर्म च पूजितम् ॥

—सु० उ० २१

कर्णशूलनाशक विधि प्रयोग—

१. मीनं कुक्कुट लावानां माँसजैः पय साऽपिवा।
पिण्डैः स्वेदेश्चकुर्वीत कर्णशूल निवारणम् ॥

—सु. उ. अ. २१-८

मत्स्य मुर्गी व बटेर इनके मांस से या मांस से बनाये क्वाथ से या खोये से पिण्ड स्वेद करने से कर्णशूल नष्ट होता है।

२. अश्वत्थपत्रखल्वं विधाय बहुपत्रकम् ।
तदन्तरे सुसम्पूर्णम् निदध्याच्छ्रे वर्णोपरि ॥
यत्तैलं च्यवते तस्मात् खल्लादगारतापितात् ।
तत्प्राप्ते श्रवणस्रोतः सद्यो गृह्णाति वेदनाम् ॥
—सु. उ. अ. २१-९-१०

पीपल के अनेक पत्र लेकर उनका खल्वाकृति दोना बनाकर उसमें निर्धूम्र तथा दीप्त अंगारे भरकर चिमटे से पकड़कर कान के ऊपर पकड़े । फिर अंगारे से तप्त पीपल पत्र दोने से तैल टपक-टपक कर कर्ण के अन्दर गिरता है । तत्काल ही वेदना नष्ट हो जाती है ।

३. लशुनार्द्रकशिग्रूणां सुरंगजामूलकस्य च ।
कदल्याः स्वरसः श्रेष्ठः कदुष्णः कर्णपूरणे ।
—सु. उ. अ. २१-१७

लहसुन, अदरक, सहजन के बीज, लाल सुहाजन, मूली व केला इनका पृथक-पृथक या सम्मिलित स्वरस निकाल कर सुखोष्ण करके कान में डालें ।

४. शृंगवेररसः क्षौद्रं सैन्धवं तैलमेव च ।
कदुष्णं कर्णयोर्देयमे तद्वा वेदनापहम ॥
—सु. उ. अ. २१-१८

अदरक स्वरस, सैंधव लवण, व तिल तैल इन्हें पृथक-पृथक या सम्मिलित पीस कर तैल में तेल का चौगुना पानी डाल करके पका कर मन्दोष्ण रूप से कान में डालने से कर्ण शूल नष्ट होता है ।

५. वंशावलेखनयुक्ते मूत्रे चाजाविके भिषक् ।
सर्पिः पचेतेन कर्णं पूरयेत् कर्णशूलिनः ॥
—सु. उ. अ. २१-१९

बकरी व भेड़ के मूत्र में बांस के छिलके डाल कर घृत मिला पका कान में डालने से कर्णशूल नष्ट होता है ।

६. कर्ण शूल में दीपिका तैल का बड़ा महत्व बतलाया गया है । दीपिका तैल बनाने की सुश्रुत ने यह विधि दर्शायी है । (देखिये सुश्रुत उ. अ. २१-२०-२१)

७. महतः पंचमूलस्य काण्डमष्टादशांगुलम् ।
क्षौमेणावेष्टम संसिच्य तैलेनादीपयेत्ततः ॥
यत्तैलं च्यवते तेभ्यो घृतेभ्यो भोजनोपरि ।
ज्ञेयं तद्दीपिकातैलं सद्यो गृह्णाति वेदनाम् ॥

बृहत् पंचमूल का अठारह अंगुल लम्बा टुकड़ा लेकर अलसी के वस्त्र से आवेष्ठित कर तिल तैल से संसिक्त कर के अग्नि प्रज्वलित कर चिमटे से पकड़ कर किसी कटोरे के ऊपर पकड़े रहें । इस तरह बूंद-बूंद तैल टपक कर पात्र में इकट्ठा हो जाता है । इसको कानों में डालने से तत्काल कर्ण शूल वेदना नष्ट हो जाती है ।

नोट—देवदारु कुष्ठ व सरलकाष्ठ की लकड़ियों से भी दीपिका तैल बनाकर कर्णशूल में प्रयोग किये जाते हैं ।

८. कर्ण कोष्णेन चुक्रेण पूरयेत कर्णशूलिनः ।
समुद्रफेन चूर्णेन युक्त्या चाप्यवचूर्णयेत् ॥
—सु० उ० अ० २१-२६

अर्थात्-कर्णशूल से पीड़ित मनुष्य के कान में चूका को गरम करके भर देवें अथवा युक्ति से चूर्ण कान में डालना चाहिए । (परीक्षित)

९. कपित्थमातुलुंगाम्लशृंगवेररसैः शुभैः ।
सुखोष्णैः पूरयेत् कर्णं तच्छूलविनिवृत्तये ॥
—सु०उ० अ०-२१-२५

कैथ, बिजौरा नीबू और अदरक व इनका रस निकाल कर गरम करके कर्णशूल नष्ट करने के लिए सुखोष्ण कर के कान में डालें ।

१०. कान के दर्द के लिए सुश्रुत ने अष्ट मूत्रों को उपयोगी माना है ।

अष्टानामिह मूत्राणां मूत्रेणान्यतमेन तु ।
कोष्णेन पूरयेत् कर्णं कर्णशूलोपशान्तये ॥
--सु० उ० अ० २१-२७

अर्थात् अष्ट मूत्रों में से किसी एक मूत्र को लेकर गरम करके कोष्ण रूप में कर्णशूल विनाशार्थ कर्ण को पूरित करें ।

११. अर्काङ्कुरानम्ल पिष्टांस्तैलाक्तान् लवणान्वितान् ।
सन्निदध्यात् स्नुहीकाण्डे कोरिते तच्छदावृते ॥
पुटपाकक्रमस्विन्नान पीडयेद्रसमागमात् ।
सुखोष्णं तद्रसं कर्णे दापयेच्छूलशान्तये ॥
—सु० उ० अ० २१-२३-२४

आक के कोमल पत्राकुरों को कांजी में पीसकर उनमें कुछ तिल का तैल तथा लवण मिलाके थूहर के डण्डे में छेद कर उसमें थूहर के पत्तों से ही उस छिद्र को बन्दकर अग्नि में गाड़कर पुटपाक विधि से पकाकर पुनः बाहर

निकालकर तथा दबाकर रस निचोड़कर सुखोष्ण कान में डालने से कर्णशूल नष्ट होता है।

१२. अर्कस्य पत्रं परिणाम पीतभाज्येन।
लिप्तं सिखियोग तृप्तम् ॥
पीड्य तस्यवु सुखोष्णंमेव ।
कर्णे निषिक्तम् हरते हि शलस्य ॥
—भावप्रकाश कर्णरोगा० ४-३५

अर्थात् आक के पीले पत्र पर घृत चुपड़कर अग्नि पर तपाओ व कोमल होने पर निचोड़कर सुखोष्ण रस कान में डालें। दर्द बन्द हो जाता है।

१३. तीव्र, शूलातुरे कर्णे सशब्दे क्लेदवाहिनि।
छाग मूत्रं प्रशंसन्ति कोष्ण सैंधव संयुक्तम् ॥
—भावप्रकाश कर्णरोगाधिकार-३६

अर्थात् बकरा का मूत्र सैंधानमक मिलाकर व गुनगुना कर कान में डालने से भी भीषण शूल, कर्णनाद व कर्णशूल का नाश होता है।

१४. शोभांजननिर्यासास्तिलतैलेन, संयुतः ।
व्यक्तोष्णः पूरणः कर्णे शूलोपशान्तये ॥
(चक्रदत्त अ० ५७-५)

सहिजन मूलत्वक के रस में तिल तेल डालकर गरम कर कान में छोड़ने से कर्णशूल नष्ट होता है।

१५. देवदारुवचाशुण्ठी शताह्वाकुष्ठ सैंधवैः ।
तैलं सिद्धवस्तमूत्रे कर्णशूलनिवारणम् ॥
(चरक चिकित्सा २६-२२३।२२४)

देवदारु, वच, सौंठ, कूठ, सैंधा नमक इनके समान भाग कल्क से बकरे के मूत्र में सिद्ध किया सरसों का तेल कान में डालने से कर्णशूल नष्ट होता है।

१६. हिंगुतुम्बशुण्ठीभिस्तैलं तु सार्षपं पचेत् ॥
एतद्धि पूरणं श्रेष्ठं कर्णशूल निवारणम् ॥
(चरक चिकित्सा—२६-२२२।२२३)

(हिंग्वादि तैल) अर्थात् हींग तुम्बरु, धनियां, व सौंठ इनके कल्क से सरसों के तैल का पाक करें। तेल और कल्क को पकाने के लिए तैल से चौगना जल मिलाकर तैल पकावें। यह सिद्ध तैल कर्णशूल नष्ट करने के लिए उत्तम हैं।

१७. वराटकान् समाहृत्य वहेन्मृद्भाजने नवे ॥
तद्भस्मक्षयोतयेत्तेन गंधतैलं विपाचयेत् ।
रसांजनस्य शुण्ठ्याश्च कल्काभ्यां कर्णशूलनुत ॥
—चरक चिकित्सा २६-२२४।२२५

कौड़ियों को नयी मिट्टी के शराव में संपुट कर फूंक दें। भस्म से क्षार जल का निर्माण करें। इस क्षार जल में सुगन्ध द्रव्यों के कल्क से युक्त तैल या गन्ध द्रव्यों से अधिवासित तिलों से निकले तैल का पाक करें। कल्कार्थ रसांजन व शुण्ठी का प्रयोग करें। यह तैल कर्णशूल को नष्ट करता है।

१८, अनास फल के तैल की कुछ बूंदें कान में डालने से दर्द बन्द होता है।

१९. अरण्ड मूलत्वक जल के साथ पीसकर उसमें तिल का तैल तथा तैल से दुगुना जल मिलाकर सिद्ध करें। इस तैल को कान में डालते रहने से त्रिदोषज कर्णशूल नष्ट होता है।

२०. आडू के बीजों का तैल नियमित रूप से डालने से कर्णशूल नष्ट होता है।

२१. काले अडूसा के पत्रों का स्वरस कुछ गरम करें तथा कान में डालें।

२२. पीली कौड़ी की भस्म कान में डालकर कान की सफाई करने के लिए नीबू का स्वरस २-३ बूंद कान में डालें। व रुई फुरैरी से कान साफ करदें। कर्णशूल तत्काल नष्ट होगा।

२४. बड़ा बांदा के पत्तों को केले के पत्र में लपेटकर भूमल में सेंककर हाथों में मसलकर रस निचोड़कर थोड़ा शहद मिलाकर कान में डालने से कर्ण शूल नष्ट होता है। (गांवों में औषधि रत्न)।

२५. चमेली पत्र स्वरस से सिद्ध तेल डालें।

२६. चीड़ की लकड़ी पर कपड़ा लपेटकर घृत में डुबोकर जलाने से जो तेल टपकता है, उसे कान में डालने से कर्णशूल नष्ट होता है।

२७. पान पत्र रस गर्म करके डालने से शीत या शीतल जल के आघात से उत्पन्न कर्णशूल नष्ट होता है। यह मेरा परीक्षित योग है।

२८. तुलसी का स्वरस गरम करके कान में टपकायें।

२९. सफेद हुलहुल के पत्तों का रस कान में डालने से कर्णशूल नष्ट होता है।

टेंटू (स्योनाक) की जड़ को पीस कल्क करें। कल्क से चौगुना तिल तैल लेकर तथा तैल से चौगुना जल डालकर

मन्द-मन्द अग्नि पर पाक करें। जब तैल मात्र शेष रहे तथा छानकर रखें। कान में डालने पर त्रिदोषजन्य कर्ण शूल नष्ट हो जाता है।

पैत्तिक कर्णशूल—

क्षीरी वृक्षों के पत्रों के कल्क व क्वाथ में सिद्ध किया घृत या मुलहटी तथा चन्दन के क्वाथ में सिद्ध घृत या शर्करा, मुलेठी व त्रिवृत आदि विरेचक द्रव्यों के कल्क से चतुर्गुण घृत एवं घृत से चतुर्गुण जल मिलाकर सिद्ध किया घृत कर्ण में पूरित करने से पैत्तिक कर्णशूल नष्ट होता है।

कफज कर्णशूल—

कफजन्य कर्ण शूल में हिंगोट व सरसों का तैल गरम करके कर्ण में पूरण करना हितकारी होता है। तिक्त औषधियों का धूप तथा कफ नाशक रूक्ष, स्वेद दें।

शोणित शूल—

शोणितजन्य कर्णशूल में पित्तज कर्णशूल नाशक विधि का प्रयोग करना चाहिये।

काकोल्यादिगण की औषधियों के कल्क में कल्क से दस गुना दुग्ध मिलाकर या तिक्त वर्ग की औषधियों के कल्क व क्वाथ में घृत मिलाकर पाक करके कोष्ण रूप में कान में लगाने से पित्तज तथा शोणितजन्य कर्णशूल नष्ट होता है।

यूनानी प्रयोग—

१. सुदर्शन की पत्ती का सुखोष्ण रस ५-६ बूंद कान में डालें। (परीक्षित)

२. सफेद प्याज का रस गरम करने पर कान में डालें। (परीक्षित)

३. कडुवे बादामों का तैल सुहाता-सुहाता डालें।

४. अफीम १ माशा, केशर १ माशा, गेरू व ऐलुआ ६-६ माशा लेकर सुखोष्ण लेप कान के चारों ओर करें।

५. शीत के कारण दर्द होने पर—(अ) उस्तुखद्दूस ५ माशा, सौंफ ५ माशा, गुलबनफशा ७ माशा, अफ्तीमून ५ माशा, पानी में पकाकर छानकर २ तोला शहद मिलाकर कुछ दिन सिताब व नाखूना, पोस्त की डण्डी, नीम की पत्ती, खतमी के बीज, बाबूना के फूल, पोदीना के पत्ते ६ ६ माशा पानी में मिलाकर वफारा करें।

(ब) रोगन बाबूना या रोगन सुदाब गरम करके डालें।

(स) गाय के घी में लहसुन पाक करके डालें। (परीक्षित)

६. गर्मी के कारण कान दर्द होने पर—(अ) ४ रत्ती अफीम व केशर ४ रत्ती कन्या की माता के दूध में घिसकर कान में टपकावें।

(ब) गुलरोगन एवं सिरका मिलाकर सुहाता-सुहाता गरम करके कान में टपकावें।

७. सफेद चन्दन ३ माशा, लाल चन्दन ३ माशा, तुख्म काहू ३ माशा सबको अर्क गुलाब व हरे धनियां के रस में पीसकर कान के चारों ओर लेप करें तथा १ रत्ती केशर, १ रत्ती खाकस्तर की अफीम, जुन्दबेदस्त ४ चावल बकरी के दूध में घोल सुहाता-सुहाता गरम कर कान में डालें।

८. कर्णगत शोथ होने पर सफेद व लाल चन्दन, रसवत्, गिल अरमनी, सूखी मकोय, जदवार, खताई प्रत्येक बराबर ले हरे धनिये के रस में पीस कान पर लेप करें।

९. हरे नीम की पत्ती ६ माशा का रस, ३ माशे मधु के साथ सुहाता-सुहाता कान में टपकायें।

१०. नीम के पत्र व मशक गोस्फंद (बकरी की मैंगनिया) प्रत्येक ३-३ तोला पानी में पीसकर वफारा देने से लाभ होता है।

आधुनिक चिकित्सा

प्रथम कोई भी शूलनाशक गोली दी जाती है जिससे शूल शान्त होकर रोगी की बैचेनी समाप्त हो।

क्लोरोफार्म १० बूंद व ओलिव आयल (Olive oil) १० बूंद मिलाकर इसमें साफ कपड़ा भिगोकर कान में रखने से शूल शान्त होता है। नाड़ी विकार के कारण दर्द होने पर क्वीनीन सल्फ १ ग्रेन व पोटास आयोडाइड २ ग्रेन मिलाकर दिन में ३ बार ऐसी मात्रा दें।

कान में पीब या फुन्सी होने पर मेड्रीबोन, (Medri-Bone) एल्कोसिन (Elkosin) पेटेण्ड सल्फा (Pentid sulfa) या कोई अन्य जीवणुनाशक गोलियां खिलायें।

पेन्सिलीन ४ लाख या आक्सीट्रेटासायक्लिन हाइड्रोक्लोराइड के सूची वेध क्लोरोमायसेटीन इयर ड्राप्स, ओटीना (Otina) इयर ड्राप्स, ओटास्पारीन इयर ड्राप्स, दरकान, या औरीनोल इयर ड्राप्स डालें। विटनेसोल इयर ड्रोप्स, टेरामायसीन इयर सोल्यूशन या सिन्योमाइसेटीन इयर ड्राप्स भी लाभदायक हैं।

—डा० श्री सीताराम अग्रवाल बी.एस-सी., बी.ए.एम.एस.
अमर हरी क्लीनिक, धौली प्याऊ, मथुरा

श्री डा० शिव पूजन सिंह कुशवाह एम० ए०

कुपित हुई वायु जब दोषों से घिर कर कानों में विपरीत चाल से घूमती है तब कानों में अत्यन्त शूल चलता है उसे 'कर्णशूल' कहते हैं। यह बड़ी कठिनाई से दूर होता है। कान की हवा चारों ओर कान में घूमने से बहुत जोर से दर्द होता है और उसके साथ जो दोष होता है उसी दोष के लक्षण प्रकाशित होते हैं। कान की इस पीड़ा को 'कर्णशूल' कहते हैं।

कर्णशूल की आयुर्वेदिक चिकित्सा—

सुश्रुत संहिता उत्तर तन्त्रम् अ० २१ में कर्णशूल की अनेक औषधियों का वर्णन है। यहाँ उन मूल श्लोकों को न देकर केवल भावार्थ दिया जाता है।

१. बिल्व (बेल, श्रीफल), एरण्ड (अण्डी), आक (मदार), पुनर्नवा, कैथ, धतूरा, सुहांजना, वस्तगन्धा, अश्वगंधा, अरणी, बांस के जौ। इनको कांजी में पका कर दिया गया नाड़ी स्वेद कफ-वात से उत्पन्न कर्णशूल को नष्ट करता है।

२. दूध के खोया से पिण्ड स्वेद करें। यह कर्णशूल को नष्ट करता है।

३. पीपल के बहुत से कोमल पत्ते लेकर उनसे एक दोहना बना कर उसमें तेल भर दें। इसको ऊपर से भी पीपल के पत्तों से ढांप दें या कोई वस्तु रख दें। उसके ऊपर अंगारे रख कर कान के ऊपर रख देवें। इन अंगारों की गर्मी से जो तेल चूता है वह जब कान के स्रोतों में जाता है तो वेदना को शीघ्र बन्द कर देता है।

४. अलसी, गुग्गुल, अगरु और घृत इनमें से इसको धूप करें। भोजनोपरान्त घृतपान (रात में) और वस्ति-कर्म करें।

५. चौलाई की जड़, अंकोलज (अंकोठ) का फल, झिंटी, इन्द्रक मूल, चीड़, देवदारू, लहसुन, सौंठ, बांस के छिलके, इनके कल्क से, दही, तक्र, सुरा-कांजी इनमें घृत तैल, वसा, मज्जा ये चारों स्नेह सिद्ध करें। यह स्नेह वेदना की शान्ति के लिए कान में भरें।

६. लहसुन, अदरक, सहजना, मीठा सहजन, मूली, केला इनका स्वरस, गुनगुनाता गरम (जितना सह्य हो) कान में डालने में उत्तम है अथवा अदरक का रस, मधु (शहद), सैंधव तैल इनको थोड़ा गर्म करके कान में डालने से वेदना नष्ट होती है।

७. बकरी और भेड़ के मूत्र में बांस का छिलका कल्क रूप में बरत कर घृत को पकायें। यह घृत कर्णशूल वाले रोगी के कान में डालें।

८. तारपीन तेल कर्णशूल में लाभ करता है। देवदारू तथा चीड़ की लकड़ी को एक ओर से प्रज्वलित करने पर उसमें से तैल गिरता है। उसी को तारपीन तैल कहते हैं। बधिरता में भी लाभ करता है।

९. फुत्कार द्वारा समुद्रफेन का चूर्ण कान में डालें। ऊपर से निम्बू रस ५-७ बूंद डाल दें तो उफान आता है। यह देशी 'हाइड्रोजन पेरोक्साइड' है।

१०. कफयुक्त कर्णशूल में सरसों का तैल डालें।

अन्यान्य औषधियां—

११. कर्णशूल के लिये सुदर्शन के पत्ते का रस डालना चाहिए।

१२. कर्णशूल भयंकर हो तो चुकन्दर के पत्तों का रस मन्दोष्ण (गुनगुना) करके दो दो बूंदें दोनों कानों में डालें। तीन-तीन घण्टे के पश्चात् डालने से कर्णशूल दूर हो जायेगा।

१३. बच्चों के कर्णशूल में माता अपने दूध की कुछ बूंदें बच्चे के कानों में डालें।

१४. प्याज (पलाण्डु) का रस थोड़ा सा गर्म करके एक या दो बूंद कान में डालें। इससे कर्णशूल, बहिरापन, कर्णस्राव आदि रोग दूर होते हैं।

१५. गर्म दूध में घृत मिला कर तीन दिन तक पीने से कर्णशूल दूर होता है।

१६. सहजने की छाल या करेला का रस निकालकर और गुनगुना करके कान में डालने से कर्णशूल दूर होता है।

१७. अदरक के रस या लहसुन के रस में सैंधानमक मिला कर कान में डालने से कर्णशूल शीघ्र दूर होता है।

१८. केले का रस गुनगुना करके कान में लें।

१६. गोमूत्र गुनगुना करके कान में भरें।

२०. तुलसी रस ५-७ बूंद कान में टपकायें।

पथ्य—घृत पान, रसायन सेवन, व्यायाम न करना, शिर समेत स्नान न करना, ब्रह्मचर्य और कम बोलना।

होमियोपैथिक चिकित्सा—

१. पल्सेटिला ३ शक्ति का देना चाहिये। स्त्री, बच्चों के लिये लाभदायक है।

२. यदि शीतऋतु में ठण्डी हवा लगने के कारण से रोग हो तो 'ऐकोनाइट' ६ x दें।

३. चोट लगने के कारण कर्णशूल हो तो 'आर्निका-मॉट' ६ दें।

४. दांत में दर्द के साथ कर्णशूल हो तो 'कैमोमिला १२' दें।

५. वर्षा में भीग जाने से कान में दर्द हो तो 'रस-टक्स' ६ दें।

६. जब सर्दी ज्वर के साथ कर्ण में दर्द हो तो एलियम सिपा ६ दें।

७. कान में दर्द होने के साथ यदि सिर, नेत्र और गले में दर्द हो जाय तो 'बेलाडोना' ६ दें। वाह्य प्रयोग के लिए 'मुल्लिन ऑयल' कान में डालिए।

बायोकैमिक चिकित्सा—

१. 'कैल्केरिया फास्फोरिकम' ६x, 'कैल्केरिया सल्फ्यूरिकम ६x, फेरम-फास ६x, कैलिम्यूर ६x, कैलि-फास ६x कैलि-सल्फ ६x, मैग-फास ६x, नैट-म्यूर ६x, नैट-फास ६x, नैट-सल्फ ६x, साइलिसिया ६x ये सभी औषधियाँ कर्ण-शूल में लाभ करती है।

एलोपैथिक चिकित्सा

कर्णशूल (Ear-ache) में कुछ पेटेन्ट गोलियां—

सल्फामेजाथीन (Sulphamezathine), सल्फाडायजीन (Sulphadiazin), सल्फाट्रायड (Sulphatried), एल्कोसिन (Elkosin), सल्फामेराजीन (Sulphamerazine) इन पाँच में से किसी भी एक औषधि की १ टिकिया प्रति चार घण्टे के पश्चात् जल के साथ देने से कान का दर्द दूर होता है।

कोडोपायरिन (ग्लैक्सो), १-१ गोली दिन में ३ बार से ६ बार तक दें। अत्यधिक सेवन करने से हृदय पर बुरा प्रभाव पड़ कर 'दिल का दौरा' हो सकता है।

नोवाल्जिन (हैक्स्ट)—१-२ गोली दिन में ३ या ४ बार सेवन करावें।

इरगापायरिन (गाइगी)—१ से ३ गोलियाँ दिन में ३-४ बार तक दें।

सोवाल्जिन (सीबा)—१-२ गोली दिन में २-३ बार दें।

सैरीडोन (रोश)—१-२ गोली दिन में २ या ३ बार दें।

अन्यान्य औषधियां कान में डालने के लिए—

१. एफकोर्लिन नियोमाइसिन ईयर ड्राप्स (ग्लैक्सो) २-३ बूंदें दिन में ३-४ बार टपकावें।

२. एक्रोमाइसिन ईयर सोल्यूशन (लीडर्ले) २-२ बूंदें दिन में ३-४ बार डालें।

३. ओरीनोलड्राप्स (मार्टिन हैरिस) ४ बूंदें दिन में ३-४ बार दें।

४. ईयर ड्राप्स कैम्प कं०, बंगाल कैमीकल, बी.डी.एच. कैस्टोफीन कं०, मोर्डर्न ड्रग, ओपिल कं० के भी आते हैं।

५. केमीसेटीन ओटोलोजिक सोल्यूशन (कार्लोइर्बा कं.) २-३ बार कान में डालें।

६. क्लोरोमाइसेटीन ईयर ड्राप्स (पी. डी.) १-१ बूंद ४-४ घण्टे बाद डालें।

७. टायटोसीन (मर्क शार्प डोम) ५-६ बूंदें २-३ बार डालें।

८. टैरामाइसीन ओटिक सोल्यूशन (फीजर) दिन में २ से ४ बार कान में डालें।

९. सिलोप्रीन ईयर ड्राप्स (सीलाग)—२-३ बूंदें २ बार कान में डालें।

१०. हाइड्रोजन पेरोक्साइड (बूट्स)—इसकी ३-४ बूंदें कान में टपकाने से उफान आता है। घाव, फोड़ा, फुंसी दर्द को दूर करता है।

—डा० शिवपूजन सिंह कुशवाह एम.ए. साहित्यालङ्कार,
१३/४००, सिविल लाइन्स, हजारी बंगला
कानपुर-१

एक नवीन आविष्कार---

कर्णशूल की सफल चिकित्सा

आचार्य डॉ० महेश्वर प्रसाद उमाशंकर, महेश्वर विज्ञान भवन, मंगलगढ़ (समस्तीपुर)

१. सर्व प्रथम नीम के पत्ते के काढ़े को महीन वस्त्र में छानकर पिचकारी से पीड़ित कान को साफ करें। इसके बाद स्वच्छ कपड़े की बत्ती से कान के अन्दर के तरल पदार्थ को भली-भांति पोंछकर सुखालें।

२. सुख दर्शन के पत्तों का कल्क २० ग्राम' विल्व पत्र कल्क ५ ग्राम, लहसुन कल्क १ ग्राम तथा रतनजोत ५ ग्राम; इनको एकत्र मिलाकर इसमें २५० ग्राम सरसोंका तेल डालकर विधिवत् तैल सिद्ध करें। पश्चात् इसमें थोड़ा सा ढेला कर्पूर (०.२५ ग्राम) मिला देवें और पतले दृढ़ वस्त्र से भली-भांति छानकर डाटयुक्त कांच की शीशी भरकर रख लें। प्रयोग विधि—उपर्युक्त विधि से कान को साफ कर या कान में 'हाड्रोजन पेराक्साइड' तरल डालकर कान को साफ कर लें। इसके बाद सुखदर्शन वाली 'कान की दवा' को पीड़ा वाले कान में दिन में २-३ बार डाललें। दर्द तुरन्त दूर हो जायगा। कान का दर्द चाहे कान में चोट लगने, सर्द लगने, फोड़ा-फुन्सी होने, कान की दीवाल के छिल जाने से हो अथवा कान में जख्म होकर पानी (स्राव) बहने या पूय स्रवित होने से हो इस औषधि को ड्रापर से ४-५ बूंदें दिन में २-३ बार डालते रहने से पर्याप्त लाभ पहुँचता है और दर्द तत्क्षण दूर हो जाता है। यह दिव्य औषधि 'कान की दवा' नाम से हमारे यहाँ अत्यधिक मात्रा में बिकती है। जो चिकित्सक महानुभाव इस औषधि को नहीं बना सकें, वे हमारे यहाँ से 'कान की दवा' नाम से मंगवा लें।

विशेष गुण—यह औषधि कान के दर्द के अतिरिक्त कान के स्राव व्रण और पूय में भी गुणकारी है।

कर्णशूल नाशक सफल सिद्ध प्रयोग

वैद्यराज श्री युधिष्ठिर सिंह सोमवंशी, बैव हाउर, जिला भैसवार (सतना) म० प्र०

कर्ण शूलनाशक आयुर्वेदिक सफल सिद्ध प्रयोग—

१. सौंठ, पीपल, सैंधानमक, कूठ, हींग, बच, लहसुन ये सब १-१ तोला। तिल तैल १० ग्राम, मदार के पत्तों का रस (अर्क पत्र) १० तोला। प्रथम कूटने वाली औषधियों को कूट लें। फिर तेल और रस सब मिलाकर कड़ाही में मन्दी आँच से पकाकर शीशी में रख लो। दिन में दो बार कान में छोड़ें।

२. गाढ़ी और मोटी सीपियों का चूर्ण मदुम माख हींग, तूवर, सैंधा नमक, कूटकपास की मिंगी ये सब १-१ तोला, सरसों का तेल १० तोला, हुलहुल के पत्तों का रस १० तोला। प्रथम सब औषधियों को कुचलकर अठगुने जल में काढ़ा करें। चौथाई रहने पर छान लें। फिर सबको मिलाकर एक कढ़ाही में छोड़कर मन्दी आँच से पकाकर छान लें। दिन में दो बार कानों में डालें।

३. कूट, हींग, वच, देवदार, सौंफ, सैंधानमक ये सब १-१ तो. तिल का तैल १० तो. बकरी का मूत्र १० तो.। प्रथम कूटने वाली औषधियों को कूट लें, फिर सबको एक कड़ाही में छोड़कर मन्द आंच से पकाकर छान लो। दिन में दो बार कानों में छोड़ें।

४. अर्क (मदार) के हरे पत्तों का रस १ किलो अफीम ६ ग्राम, चोखी हींग १ तो. तिली का तेल १०० ग्राम लो। सबको एक कड़ाही में छोड़कर मन्दी आंच से औंटकर छान लें। दिन में तीन बार कानों में छोड़ें।

५. अदरख का रस १ तो., शहद एक तो., सैंधा नमक ६ माशा, तिल का तैल १० तो. लो। निर्माण—सबको मिलाकर एक कड़ाही में मन्दी आंच से पकाकर छान लें। दिन में दो बार कान में छोड़ें।
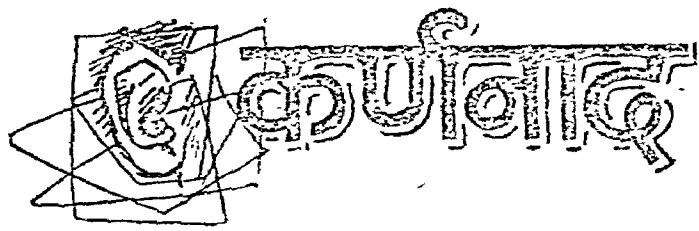
कर्णनाद

वैद्य श्री श्रीकान्त लक्ष्मण देशपांडे

आज बहुत से ऐसे व्याधि प्राप्त होते हैं कि जिनका ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्ध आने से पीड़ा अधिक मात्रा में महसूस होती है, उन विकारों में 'कर्णनाद' का बहुत ऊंचा स्थान है। शायद ऐसा व्यक्ति मिलना कठिन है कि जो इस व्याधि से कभी ग्रस्त न हुआ हो। इसका सौम्य तथा रौद्र दोनों प्रकार का स्वरूप प्राप्त होता है तथा सामान्य प्रेक्टिस में भी इस रोग से त्रस्त रुग्ण चिकित्सकों के पास

कर्णक्ष्वेड में कफ और रक्त का सम्बन्ध आता है, वैसे देखें तो ये एक ही कुल के हैं परन्तु थोड़ी विशेषता होने से कर्णक्ष्वेड से इसे अलग किया है।

कारणों का विचार किया जाय तो ऐसा देखा गया है कि विशेषतः वातवर्धक आहार विहार का सेवन, आघात, कुईनाईन आदि द्रव्यों का अधिक सेवन, कर्णार्बुदादी रोग, नासा, शिरोरोग आदि हेतु प्रधान रूप से इस रोग को कारणभूत होते हैं। इस रोग की सम्प्राप्ति के बारे में आचार्य लिखते हैं कि—

> यदा तु नाडीषु विमार्गमागतः
> स एव शब्दाभिवहासु तिष्ठति ।
> शृणोति शब्दान् विविधांस्तदा नरः
> प्रणादमेनं प्रवदन्ति चामयम् ॥

अर्थात् वायु जब विमार्गग अर्थात् शब्दवाही स्त्रोतों
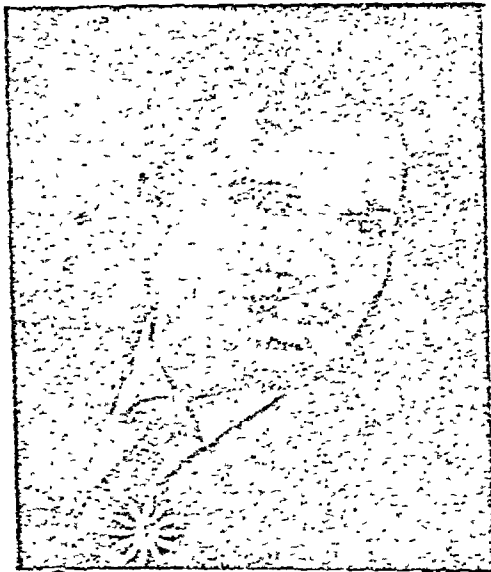
श्री देशपाण्डे जी सुयोग्य आयुर्वेद-निष्णात एवं उत्साही अध्ययनशील नवयुवक हैं। स्नातकोत्तर शिक्षण के पश्चात् कई आयुर्वेद कालेजों में अध्यापन किया। जुलाई १९६८ में आप आल इण्डिया इन्स्टीट्यूट आफ मैडीकल साइन्सेज दिल्ली में असिस्टेन्ट आफीसर नियुक्त हुए। यहां से आप केन्द्रीय अनुसन्धान विभाग पटियाला में रिसर्च आफीसर नियुक्त होकर गये और मई १९७३ से आप अहमदाबाद के श्रीमती मणिबेन आयुर्वेद हास्पीटल में रिसर्च आफीसर के पद पर सेवारत हैं। आपके अनेकों लेख धन्वन्तरि में प्रकाशित हो चुके हैं। आपके लेख सारपूर्ण, संक्षिप्त एवं अनुसन्धानात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने वाले होते हैं। प्रस्तुत कर्णनाद लेख संक्षिप्त होते हुए भी उपयोगी है। आशा है कि पाठक लाभान्वित होंगे। —दाऊदयाल गर्ग सम्पादक 'धन्वन्तरि'

भटकते रहते हैं क्योंकि, वायु यह इस रोग का प्रधान कारण है और वायु को बिगड़ने के लिए समय की थोड़ी ही पाबन्दी है? इस रोग का वर्णन शास्त्रज्ञों ने किया है। कर्ण अर्थात् कान और नाद इसका अर्थ ध्वनि। जिस रोग में कान में एक विशिष्ट ध्वनि उत्पन्न होती है उस रोग को कर्णनाद कह सकते हैं। कोई आचार्य इसे कर्णप्रणाद भी कहते हैं। कर्णनाद यह कर्णक्ष्वेड का भाई है लेकिन चचेरा! क्योंकि कर्णनाद शुद्ध वातजन्य है, और

में स्थित होता है तब विविध आवाज आती हैं उसे कर्णप्रणाद-कर्णनाद कहते हैं। इसके स्वरूप के बाबत में बताया जाता है कि इसमें होने वाला आवाज सतत वा सान्तर होता है। कान में आवाज होने से मन एकाग्र रखना कठिन होता है, मन बेचैन होता है। छोटे आवाज से उच्च नाद युक्त ध्वनि सदृश आवाज इस रोग में होता है। यह इसका सामान्य स्वरूप है।

—शेषांश पृष्ठ २५७ पर देखें।

कर्णनाद को अंग्रेजी में 'टिनिटस ओरियम्' कहा जाता है। कर्णनाद एक उपलक्षण मात्र है जो विभिन्न प्रकार के रोगों से तथा विषों के प्रयोग से उत्पन्न होता है। इस अवस्था में रोगी को बराबर भनभनाहट, गर्जन, हथौड़ा पीटने की सी आवाज होती है। इस प्रकार की आवाजें कान में हर समय सुनाई पड़ती हैं। जिन रोगों से कर्ण में विकृति आती है वे हैं—वृक्क की खराबी, हृदय के रोग, रक्तभाराधिक्य (High Blood pressure) रक्ताल्पता एवं पांडु तथा क्वनीन (Quinine) जैसी तीव्र दवाओं के निरन्तर सेवन से कर्णनाद की उपस्थिति होती है। इस रोग की चिकित्सा कर्णशूलवत् ही की जाती है।

१. कर्ण स्रोत में वायु के स्थित होने से विविध प्रकार के स्वर सुनाई पड़ते हैं जैसे भेरी, मृदंग और शंख की ध्वनि के समान। उस व्याधि को कर्णनाद कहते हैं।

२. जब शब्द को वहन करने वाली शिरा में वायु जाकर स्थित हो जाती है तब उस वायु के आघात से कान में अकस्मात् बारम्बार अनेक प्रकार के शब्द सुने जाते हैं। उसे कर्णनाद कहते हैं।

> कर्ण स्रोत स्थिते वाते शृणोति विविधान् सुरान्
> भेरी मृदंग शंखानां कर्ण नाद. स उच्यते।
> शब्द वाहि सिरा संस्थे शृणोति पवने मुहुः।
> नादान कस्माद्विविधान् कर्णनादं वदन्ति तम् ॥

कर्णक्ष्वेद—(Tinitus)—जिस प्रकार कर्णनाद में कानों में विभिन्न प्रकार की आवाजें सुनाई पड़ती हैं उसी प्रकार कर्णनाद का एक भेद जानना चाहिए। अन्तर इतना पाया जाता है कि कर्णनाद में कानों में विविध प्रकार की आवाजें आती हैं जबकि कर्णक्ष्वेद में सिर्फ वंशी बजने के समान आवाज सुनाई पड़ती है।

वायु पित्तादि के साथ संयुक्त होकर वेणु घोष (वंशी की आवाज) के समान कान में शब्द पैदा करता है। उसे कर्णक्ष्वेद कहते हैं।

> वायुपित्तादिभिर्युक्तो वेणुघोषोपमं स्वनम्।
> करोति कर्णयोः क्ष्वेडं कर्ण क्ष्वेडः स उच्यते ॥ (सु०)

कर्णनाद एवं कर्णक्ष्वेड में अन्तर

कर्णनाद	कर्णक्ष्वेड
१. इसमें कर्णस्रोत स्थित वायु शब्द पैदा करता है।	१. इसमें वायु पित्त या कफ या रक्त के द्वारा संसृष्ट होकर शब्द पैदा करता है।
२. इसमें आवाज अवस्थानुसार भेरी मृदंग या शंख जैसी मोटी और भद्दी होती है।	२. इसमें शब्द वेणु घोष के समान होता है।
३. यह अवस्था अधिकतर सार्वदैहिक विकारों के परिणामस्वरूप अथवा बाह्य कर्ण, मध्य कर्ण के विकारों में मिलती है।	३. यह अवस्था अधिकतर अन्तः कर्ण के विकार (कान्तारक शोथ) में मिलती है।
४. चिकित्सा में वातशामक उपचार ही करना पड़ता है।	४. पित्त आदि के भी शामक उपचारों की आवश्यकता पड़ती है।

कर्णनाद की चिकित्सा—इसमें वायु दोष की विकृति रहती है अतः वायु शामक उपचार करना चाहिये।

१. सहिजन की छाल का रस गर्म करके कान में डालें।

२. बकरी के मूत्र में लहसुन, अदरख, अर्क पत्र का स्वरस मिला कर कान में डालना चाहिए।

३. अतीस, हींग, सौंफ, दालचीनी, सज्जीखार, काली मिर्च प्रत्येक १२-१२ ग्राम, सिरका ३६० ग्राम, तिल तैल ३६० ग्राम सिद्ध कर कर्ण पूरण करें।

४. सरसों का तेल कान में डालना चाहिये।

५. मधुशुक्त को कान में डालें। मधु शुक्त बनाने की विधि-जम्बीरी नीबू का रस ७७० ग्राम, मधु १९५ ग्राम, छोटी पीपल ४८ ग्राम सबको इकट्ठा कर घृत लिप्त भाण्ड में मुख बन्द कर एक मास तक धान्य- राशि में संधान विधि से रखें तत्पश्चात् छानलें। यही मधुशुक्त होता है।

सेनियर्स सिन्ड्रोम पर रोग निदान समीक्षा

श्री बलदेव राज शर्मा बी०आई०एम०एस०

श्री बलदेवराज शर्मा सहारनपुर के प्रसिद्ध चिकित्सक हैं। गत १० वर्षों से आप कर्ण रोगों पर शोध कर रहे हैं। इसी शोध का परिणाम यह लेख है। इसका प्राचीन दृष्टि से साम्यता वाला अन्य रोग दृष्टिगत नहीं होता, सम्भवतः इसी कारण आयुर्वेद की दृष्टि से श्री शर्मा जी अपना मन्तव्य स्पष्ट नहीं कर पाये। लेकिन दोषों के आधार पर आपने चिकित्सा आयुर्वेद द्वारा ही की है तथा सफलता प्राप्त की है। आशा है कि पाठक इससे लाभान्वित होंगे।

—दाऊदयाल गर्ग

कर्ण गुहा के अन्त:कर्ण भाग में शरीर का एक बहुत ही महत्वपूर्ण भाग है जिसे लेबिरिन्थ या गहन कहते हैं। जिसका महत्वपूर्ण कार्य शरीर के भार को सम रखना है। यदि इसमें जरा सी भी विकृति आ जाए तो न केवल नाना-प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं अपितु शरीर का भार रोगी सम्भाल नहीं पाता तथा चक्कर आकर गिर पड़ता है या गिरने की स्थिति में हो जाता है।

कारण—यद्यपि इस रोग का कारण अभी पूर्णरूप से ज्ञात नहीं, फिर भी एन्डो लिम्फेटिक हाइड्रोप्स के साथ काकलियर डक्ट का डाइलेशन इसका कारण है। इसके अतिरिक्त औषध विष (ड्रग पूआजनिंग) रक्त परिभ्रमण विकृति, मस्तिष्क सम्बन्धी विकृति विज्ञान रोग, फिरंग रोग, श्रवण नाड़ी की प्रधानशाखा वैस्टीबुलर ब्रांच का नाड़ी शोथ, अनुमस्तिष्क सेतु (सेरिबैला पाजिटिव ऐंगल) पर अर्बुदादि।

यह रोग मुख्य रूप से पुरुषों में अधिक होता है अपेक्षाकृत स्त्रियों के, तथा ४० से ६० वर्ष की आयु में अधिक देखने को मिलता है। इसमें प्राय: रोगी को एकाएक चक्कर आता है, वमन होता है, कर्णनाद होता है विशेष-रूप से रुग्ण कान की ओर अधिक होता है। चक्कर के साथ रोगी को अपने सामने की सभी वस्तुएं घूमती हुई नजर आती हैं। आँख की पुतली एक ओर यानि निस्टेगमस की स्थिति में हो जाती हैं। इसके साथ नाड़ीजन्य बहरापन हो जाता है। यदि ऐसे समय में आडियोमीटर द्वारा जांच की जाए तो नाड़ी जन्य बहरापन का संकेत मिलेगा परन्तु यह स्थाई नहीं होगा। रोगी के स्वास्थ्य लाभ करते ही यह स्वत: शीघ्र ठीक हो जायेगा। यह स्थिति कुछ मिनट से लेकर कुछ घण्टों तक रहती है। फिर स्वत: शान्त हो जाती है। परन्तु इस-थोड़े से समय में ही यह उपरोक्त लक्षण उग्ररूप धारण कर लेते हैं एवं रोगी की स्थिति गम्भीर कर देते हैं एवं रोग आक्रमण के पश्चात् जब रोगी उपरोक्त लक्षणों से मुक्ति पाता है तो कुछ दिनों तक काफी दुर्बलता का अनुभव करता है।

प्राय: देखने में आया है कि इस रोग का आक्रमण अक्सर रात्रि को होता है। जो कि आरम्भ में देर-देर में होकर फिर जल्दी-जल्दी होने लगता है। कभी-कभी अन्त:

कर्ण में एलर्जी के कारण भी उपरोक्त रोग से लक्षण मिलते जुलते हैं। यथा—चक्कर, बहरापन, कर्णनाद आदि हो जाते हैं। परन्तु यह भी देखा गया है कि यदि उपरोक्त एलर्जी के कारण लक्षण देर तक रहे तो एन्टी हिस्टेमिक के देने से लाभ नहीं होता यद्यपि एण्टी बायोटिक के प्रयोग से अन्त: कर्ण रोग के उपरोक्त लक्षण नहीं होते परन्तु स्ट्रप्टोमाइसिन के देने से त्वचागत शोथ के साथ-२ चक्कर, कर्णनाद आदि प्रगट हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त मस्तिष्क जन्य रोग साइकिट्रिक रोगियों में, एवं योषापस्मार (Hysteria) के रोगियों में उपरोक्त लक्षणों से मिलते जुलते लक्षण मिल सकते हैं। इस कारण निदान में सभी बातों को ध्यान में रखकर रोग निदान करना चाहिये।

यहां पर उपरोक्त रोग के निदान हेतु कुछ रोगियों का रोग इतिहास संक्षेप में वर्णन करना उचित समझता हूं।
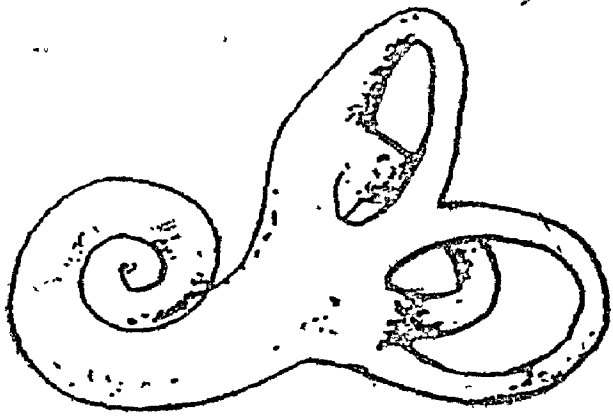
१. कुछ दिन पूर्व मुझे एक रोगी को घर पर देखने का अवसर मिला। रोगी को दिखाने के लिये जो दूत मुझे बुलाने आए उन्होंने मुझे बताया कि रोगी को एकाएक तीव्र वमन हुआ एवं चक्कर आकर रोगी चारपाई पर गिर पड़ा तथा अर्धचेतनावस्था में आ गया। कुछ थोड़ा बहुत उपचार किया परन्तु लाभ नहीं हुआ। रोगी को जाकर देखने पर रोगी बिस्तर पर लेटा हुआ था कुछ बेचैनी अनुभव कर रहा था एवं बार-बार आंख खोलकर पुन: बन्द कर लेता था। पूछने पर उसने बताया कि मुझे चक्कर आ रहा है। सारा वातावरण घूम रहा है। रोगी की आयु लगभग ५४ वर्ष की, दुबला पतला तथा दफ्तर में नौकरी करता है। पूर्व इतिहास पूछने पर पता चला कि उसकी चिकित्सा नगर के अच्छे हृदय रोग विशेषज्ञ एवं मानसिक रोग विशेषज्ञों की देखरेख में चल रही है। जिसमें बहुत अच्छे-२ योग रोगी को दिये जा रहे हैं। रोगी की बैचेनी, घबराहट एवं बार-बार चिल्लाने पर कि मुझे बचा लो मुझे चक्कर आ रहे हैं सारा वातावरण घूम रहा है आदि के कारण रोग परीक्षा आरम्भ की। उस समय रात्रि के लगभग ९ बजे थे।

रोगी परीक्षण कुछ इस प्रकार था—नाम रोगी—क ख ग आयु लगभग ५४ वर्ष, नाड़ी गति सामान्य, श्वासगति ठीक थी रक्तचाप सामान्य से कम था। हृदय, फेफड़ा, यकृत आदि अवयवों में कोई विकृति नजर नहीं आई। नेत्र परीक्षा में रोगी की नेत्र की पुतलियां एक ओर निस्टैग्मस की स्थिति में देखी गई। उपरोक्त लक्षणों के आधार पर कि रोग का आक्रमण रात्रि को हुआ है अकस्मात् तीव्र वमन के साथ चक्कर, सारा वातावरण घूमता नजर आना तथा नेत्र की पुतलियों का एक ओर निस्टैग्मस की स्थिति में होना तथा रोगी से कर्णनाद एवं बाधिर्य के विषय में पूछने पर रोगी ने बताया कि दाये कान में सीटी बज रही है एवं कम सुनाई दे रहा है। रोग का निदान मैनियर्स सिण्ड्रोम किया। तथा रोगी के सम्बन्धियों को बताया कि इन्हें वह रोग नहीं जिसकी चिकित्सा चल रही है। यह तो कर्ण के अन्तर्गत उपरोक्त रोग है न कि हृदय रोग या मानसिक रोग। तत्काल लक्षणों के अनुसार चिकित्सा की जिससे रोगी को लाभ हुआ तथा अगले दिन चिकित्सालय में पुन: रोग परीक्षण करने पर रोगी के दांये कान का पर्दा फटा हुआ देखा। पर्दे के केन्द्र में बहुत बड़ा छिद्र तथा उसमें पूय बह रहा था। पूछने पर पता चला कि गत कई वर्षों से पूय स्राव होता रहता है। इस प्रकार निदान में कोई कठिनाई नहीं हुई तथा कुछ दिन उपचार करने पर रोगी को पूर्ण लाभ हुआ तथा उसके बाद अब रोगी को कभी चक्कर या पूय स्राव कर्णनादादि की शिकायत नहीं हुई।

अब मैं एक अन्य रोगी के रोग इतिहास का वर्णन कर रहा हूं जिनके लक्षण कुछ उपरोक्त रोग से मिलते जुलते थे। अनेक चिकित्सकों से परामर्श एवं चिकित्सा कराने पर लाभ न होने पर रोगी ने एक बड़े अच्छे मैडिकल कालेज के आतुरालय में शरण ली एवं रोग

परीक्षण कराया। जहाँ से उन्हें मैनियर्स सिन्ड्रोम रोग निदान कर चिकित्सा पत्र लिख दिया परन्तु कुछ दिन औषधि का प्रयोग करने पर एवं लाभ न होने पर मेरी चिकित्सा में आए।

रोगी का इतिहास इस प्रकार है—

२. नाम रोगी क ख ग, आयु ५८ वर्ष, व्यवसाय अध्यापक शिकायत—चक्कर आना।

पूर्व इतिहास—रोग का प्रादुर्भाव १३ वर्ष पूर्व का है। चक्कर आते हैं लाठी के सहारे चलना पड़ता है। अकेला नही चल सकता, डर रहता है कि कहीं गिर न जाए। इस कारण सदा भय बना रहता है कि कहीं गिरकर मृत्यु न हो जाए। खट्टी डकार एवं छाती में जलन रहती है। विभिन्न प्रकार की चिकित्सा कराई गई परन्तु लाभ नहीं हुआ। पाश्चात्य औषधियों मे ड्रामेमिन की गोली, एस्केजाईन, वी काम्पलेक्स, काम्पोज आदि का काफी प्रयोग किया गया। पुरानी जाँच में रक्त चाप १२०/८० mm. एवं रक्त मे शर्करा की मात्रा ठीक थी।

निरीक्षण मे—रोगी देखने में दुवला पतला, मुख आकृति से बहुत चिंतित दिखाई देता था।

नाड़ी—पित्ताधिक्य, स्पर्शमन्द परन्तु चाल मे तेज यानि बैठी अवस्था में प्रति मिनट ९०, खड़ी अवस्था में ८८ एवं लेटने पर ६८ थी। रक्त चाप बैठी अवस्था में ११०/७० खड़ी अवस्था १२०/८० एवं लेटने पर टाँग का १५०/११० था। आमाशय में अम्लपित्त की शिकायत के अतिरिक्त हृदय, फेफडा, यकृतादि में कोई विकृति नहीं मिली।

कर्ण परीक्षण मे कोई वाह्य विकृति नहीं मिली। यद्यपि ट्यूनिंग फार्क टैस्ट मे सभी कुछ सामान्य था परन्तु रोगी ने पूछने पर बताया कि उसे कुछ कम सुनाई देता है।

इस प्रकार विभिन्न रोग परीक्षण करने पर रोग का निदान अम्लपित्त किया जिसका कारण अधिक सोच चिंता जन्य डिपरेशन पाया।

चिकित्सा क्रम मे अम्लपित्त नाशक रोग चिकित्सा पत्र पर लिख दिया। जिसमे मुख्य रूप से धातृ लोह, वृ॰ सूत शेखर, लीला विलास, अविपतिकर चूर्णादि का सम्मिश्रण था एवं अनुपान रूप मे अनारस्वारस+मधु दिया। वृ॰ सूत शेखर के विषय में मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि जहां यह अम्लपित्त के लिए एक उत्तम योग है वहाँ अल्प रक्त चाप में इसको देने से काफी लाभ हुआ है। इसके साथ मानसिक पीड़ाओं को शान्त करके एवं नाड़ी की गति को सामान्य लाने के लिए चन्द्रप्रभावटी+आरोग्य वर्धिनी वटी का प्रयोग किया जिससे काफी लाभ नजर आने लगा परन्तु रोगी ने इस बीच में समीप के एक अच्छे मैडिकल कालेज के आतरालय में निदान हेतु रोग परीक्षण कराया। जहां उन्होंने विभिन्न प्रकार के परीक्षणों के बाद रोग का निदान Menia's Syndorm किया।

उनकी परीक्षा के अनुसार—

रोगी के मलमूत्र में कोई विकृति नहीं थी।

रक्त शर्करा (Fasting) - ९० पीपी. ११० थी। ई. एस.आर.—४

टी.एल.सी. ९००० , डी.एल.सी.—प-७४ ल-२२ ई-४

एक्सरे—स्कल सही था। एन.ए.डी. इसके अतिरिक्त नाड़ी जन्य बहरापन। रोगी ने उनके द्वारा बताई गई औषधि का प्रयोग कुछ दिन तक किया परन्तु लाभ नहीं हुआ। पुनः मेरे पास परामर्श हेतु आए तथा मुझे बताया कि यद्यपि मेरा निदान तो अब ठीक हो गया है परन्तु मुझे उनकी दवाई से लाभ नहीं हुआ। अतः आप मेरे इस निदान के अनुसार मेरी चिकित्सा करें।

उनके रोग परीक्षण पत्र एवं चिकित्सा पत्रों को देखा पुन. रोग परीक्षण कर उन्हें बताया कि मैं इस निदान से सहमत नही क्योंकि उपरोक्त रोग में जो जो लक्षण होने चाहिये उनमें अधिकांश तो मिलते ही नहीं।

यथा— १. रोग का आक्रमण रात्रि को होना चाहिए।

२. आक्रमण का प्रभाव कुछ मिनट से लेकर कुछ घण्टे तक रहना चाहिए।

जबकि रोगी को गत १३ वर्ष से लगातार रोग का आक्रमण चल रहा है।

३. आरम्भ में देर में आक्रमण के बाद फिर जल्दी-जल्दी आक्रमण होने लगता है।

४. तीव्र वमन के साथ चक्कर आने चाहिए।

रोगी के पूर्व इतिहास में ऐसा कोई संकेत नहीं मिला।

५. नेत्र की पुतलियां आक्रमण काल में एक ओर निस्टैग्मिस की स्थिति में आ जाती हैं, रोगी में ऐसा लक्षण नहीं मिला, इत्यादि।

इस प्रकार मैंने रोगी को बताया कि आपको यह रोग नहीं।

पुनः मैंने एक महत्वपूर्ण रोग परीक्षण के विषय में पूछा कि क्या आपके वैस्टिबुलर फंकशन टैस्ट यानि केलोरिक टैस्ट (ठंडे गर्म पानी से कान में वस्ति का प्रयोग) किया गया। इसके अतिरिक्त क्या रोटेशन टैस्ट (यानी घूमने वाली कुर्सी द्वारा चक्करादि दिए गए) परन्तु रोगी ने इन टैस्टों के लिए इंकार किया कि यह सब कुछ नहीं किया गया। तब मुझे पक्का विश्वास हो गया कि रोग का निदान एक अच्छे आतुरालय में जाने पर भी ठीक नहीं हुआ। इस कारण इनकी औषधियों से लाभ नहीं हुआ। इस कारण पुनः रोग परीक्षण कर अपने पूर्व निदान पर ही अटल रहा तथा उसी के अनुसार ही मैंने निम्न औषधि दी—

१. टैब० टोफ्रेनिल २५ मिग्रा० एक एक गोली दिन में तीन बार।

२. टैब. काम्पोज १/२-१/२ गोली दिन में तीन बार।

३. विटाहैक्स सिरप वन टेबल स्पोन्फुल ट्वाइस ए डे

४. अविपत्तिकर चूर्ण ३ ग्रा. रात्रि के गर्म दुग्ध के साथ।

तीसरे दिन रोगी मेरे पास आए और बताया कि आज मैं बिना लाठी के सहारे आपके पास आया हूं। मुझे चक्कर या भय प्रतीत नहीं होता। जलन या खट्टी डकार विबंधादि कुछ नहीं।

मैंने उपरोक्त औषध ही सेवन करने को कहा। १५ दिन बाद वह पुनः मेरे पास आए। वह अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में थे। उन्होंने बताया कि गत १३ वर्ष से चले आ रहे रोग से मुक्ति मिलती नजर आ रही है। मैंने उपरोक्त औषधि को एक मास तक नियमित लेने को कहा एक मास पश्चात् आशातीत लाभ देखकर मात्रा कम कर दी।

परन्तु तीन मास पश्चात् जब वह पुनः मेरे पास आये तो उनका रक्तचाप ११०/७० स्थान पर १३०/९० था तथा नाड़ी की गति जो पहले भी सामान्य से कुछ अधिक थी यानि ९० प्रति मिनट वह ११२ प्रति मिनट थी। जब कि अन्य सब रोग बिलकुल शांत था। पुनः एक घण्टा का विश्राम देकर देखा नाड़ी की गति ११२ ही थी जबकि उन्हें कोई कष्ट नहीं था। सभी औषधियां बन्द कर आरोग्य वर्धिनी वटी + चन्द्रप्रभा वटी—अनार स्वरस + शहद के साथ दी। १५ दिन पश्चात् नाड़ी की गति पुनः ८० थी एवं रोगी पूर्णरूप से स्वस्थता का अनुभव कर रहे थे।

—श्री बलदेव राज शर्मा बी. आई. एम. एस.
रानी बाजार, सहारनपुर

कर्णनाद : : शेषांश पृष्ठ २५२ का

प्रायः यह रोग साध्य है, ग्रन्थि अर्बुदादीकर्ण मे कर्णनाद हो तो असाध्य मान सकते हैं।

सभी कर्ण रोगों की सामान्य चिकित्सा की तरह इस रोग में बर्ताव करना चाहिए। विशेषतः स्नेहपान, घृत तैलपान, स्वेद-नाड़ीस्वेद-पिंडस्वेद, विरेचन, धूम, शिरोबस्ति, नस्य परिषेक, ये इसके चिकित्सा सूत्र हैं। अन्य चिकित्सा कल्पों में शतपाकी बलातैल, दीपिकातैल, बिल्वादितैल, शेफाली तैल, कुम्भीतैल, अणुतैल, त्रिफला गुग्गुल, स्वर्णमालती बसन्त, त्रिभुवनकीर्ति, कफकेतु आदि औषधियाँ इस रोग पर अति उत्कृष्ट कार्य करती हैं। इन्दुवटी का प्रयोग भी इस रोग पर अच्छा बताया है। आचार्य लिखते हैं कि, 'कर्णनादायः सर्वे गदा वातोद्भवाश्च ये।' अर्थात् कर्णनाद पर यह श्रेष्ठ औषधि है। कर्णनाद में उपरोक्त द्रव्यों का चिकित्सक प्रयोग करके देखें उन्हें निश्चित यश मिलेगा।

उपरोक्त चिकित्सा के साथ-साथ ब्रह्मचर्य पालन, अशिर स्नान, व्यायामवर्ज्य, अकत्थनम् यह इसका पथ्य है। साथ साथ सुपाच्य आहार लेकर वातल आहार विहार वर्ज्य करे तो यह रोग शीघ्र दूर होता है।

—वैद्य श्री श्रीकांत लक्ष्मण देशपांडे
अनुसंधानाधिकारी—श्रीमती मणिबेन आयुर्वेदिक,
हास्पीटल, अहमदाबाद—१६

कर्ण गूथ

डा० श्री के० पी० वर्धन, एम०ए०

कर्ण गूथ का लक्षण इस प्रकार है—

पित्तोष्म शोषित श्लेष्मा जायते गूथकः ।

पित्त की उष्मता से कान की श्लेष्म सूख जाने से कान में (विष्ठा की तरह) मैल उत्पन्न हो जाती है। इसलिये इस रोग को 'कर्ण गूथ" कहते हैं।

कर्ण गूथ पाश्चात् शालाक्य शास्त्र में wax or cerumen कहते हैं। बहिः कर्ण कुहर (External Auditory meatus) के मुख्यतः तरुणास्थि निर्मित भाग की दीवारों में बहुत सूक्ष्म ग्रन्थियां होती हैं जिन्हें Ceruminous Glands कहते हैं। इनमें एक प्रकार का चिपचिपा पदार्थ निकलता है जो बहिः कर्ण को भी किंचित चिपचिपा बना देता है। बाहर से उड़ने वाली धूल रोयें आदि चिपचिपी से चिपकते जाते हैं और कालांतर में पर्याप्त मात्रा में हो जाते हैं। इसी को कर्ण गूथ कहते हैं। इसके अतिरिक्त आस पास की श्लेष्मिक कला के कुछ छिलके भी गूथ में शामिल रहते हैं। कभी-कभी उपर्युक्त ग्रन्थियों का स्राव सामान्य से कुछ कम हो जाता है। इसी दशा में कान कुछ सूखा सा रहता है। कभी कभी उसमें से श्लैष्मिक कला के कुछ छिलके निकलते हैं। तथा कान में हल्की खुजली भी मालूम होती है। कभी इन ग्रन्थियों में सामान्य से अत्यधिक स्राव होने लगता है। यह विकृति प्रायः ग्रसनिका के नासा-पश्चिम भाग (Nasopharynx) गत विकृति के कारण और बच्चों में विशेषतः Adenoids के कारण होती है। यहां से उपसर्ग श्रुति सुरङ्गा की ग्रन्थियों में होता हुआ इन Ceruminuous Glands में भी पहुंच जाता है। इस विकृति के परिणामस्वरूप अधिकाधिक गूथ बहिः कर्ण में एकत्रित होती जाती है। और धीरे-धीरे कर्ण कुहर को बन्द कर देती है। कालान्तर में यह गूथ सूखकर कड़ी और काली हो जाती है। कर्ण कुहर के गूथ द्वारा अवरुद्ध हो जाने से बधिरता (अपना शब्द अधिक सुनाई देना किन्तु दूसरे का या बाहरी शब्द बहुत ही कम सुनाई देना अर्थात् Autophonia), कर्ण नाद आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं और साथ ही कभी-कभी शिर के बगल में नाड़ीशूल पीड़ा भी होती है।

कर्ण गुहा

१. बाह्य कर्ण	२. नाला
३. कर्ण भेरी	४. हतोडी
५. धुर्मिका	६. रिकाब
७. कंठ कर्ण नाली	
८. अन्तः कर्णः	
९. श्रवण नाड़ी	
१०. अर्धचक्राकार नाली	

कर्ण गूथ की चिकित्सा के लिये दो उपाय हैं।

१. गूथ को निकालना। २. गूथ का बनना बन्द करना।

गूथ को निकालने के लिये किंचित् उष्ण जल से कान में एक या अनेक बार पिचकारी देनी चाहिये। पिचकारी

देते समय पानी की धार कर्ण कुहर की पिछली दीवार के सबसे ऊपरी भाग में जोर के साथ लगनी चाहिये। कभी-कभी गूथ बहुत कड़ा रहता है। इस दशा में रोगी के कान में लिक्विड पैराफिन डालकर या कडवा तैल डालकर गूथ को मुलायम कर लेना चाहिये और बाद में पिचकारी या कर्ण संदंश (Ear forceps) द्वारा निकालना चाहिये। गूथ की उत्पत्ति रोकने के लिये, गूथोत्पादक ग्रन्थियों को स्वस्थ रखने का उपाय करना चाहिये। इसके लिये गूथ को निकाल लेने के बाद कान में चमेली का तेल, अथवा शुद्ध तिल-तैल अथवा अत्यल्प मात्रा में कुछ दिनों तक कुष्ठादि तथा बिल्वादि तैल का उपयोग करना चाहिये।

कर्ण क्ष्वेड

आन्ध्र के प्रसिद्ध ग्रन्थराज बसव राजीयम्' मे कर्ण क्ष्वेड का लक्षण इस प्रकार है—

वायुः पित्तादिभिर्युक्तो वेणुघोष समं स्वनम्।
करोति कर्णयोः क्ष्वेडं कर्णक्ष्वेड सः उच्यते॥

वात पित्तादि दोषों से मिलकर कान में बांसुरी जैसा नाद उत्पन्न करता है इसको कर्णक्ष्वेड कहते हैं। शार्ङ्गधर संहिता में कर्ण रोगों की संख्या अठारह बताई गई है। कानों में बिना कोई कारण के गूंज सुनाई देने का जो लक्षण है उसको वातज कर्ण रोगों में गिना गया है।

चरक संहिता में वातज, पित्तज, कफज और सन्निपातज इन चार प्रकार के कर्ण रोगों का वर्णन है। उनमें वातजन्य कर्ण रोग में कान में विविध प्रकार का शब्द होता है, पीड़ा होती है, शोथ होता है और पतला स्राव निकलता है तथा सुनाई नहीं देता है।

कर्णनाद, कर्ण प्रतिनाह और कर्णक्ष्वेड का अन्तर इस प्रकार समझना चाहिए। वात कान में से शब्द वाहिनी शिराओं के निकट जाने से भेरी, मृदंग, शङ्खादि का शब्द पैदा करता है। वही कर्णनाद है।

कर्ण प्रतिनाह में कर्ण गूथ द्रव बनकर नाक, मुंह में प्रवेश होने पर कान में प्रति-ध्वनि, शिर के आधे हिस्से में फोड़ने के जैसा शूल होता है।

कर्णक्ष्वेड में वात पित्तादि दोषों के कारण कान में बांसुरी जैसा नाद सुनाई देता है।

पाश्चात्य शालाक्य शास्त्र विज्ञान की सहायता से इस कर्ण रोग का निदान इस प्रकार किया जा सकता है—

१. वातज कर्ण रोग में Furunculosis मध्यकर्ण शोथ की प्रारम्भिक अवस्था तथा कर्णगूथ जन्य अवरोध के लक्षणों (Symptoms produced by impacted Cerumen) का समावेश किया जाता है।

२. पित्तज कर्ण रोग के लक्षण में वाग्भट्ट ने 'ज्वर भी पढ़ा है और वे रक्तज कर्ण रोग भी मानते हैं।

("रक्तं पित्त समानर्ति किंचिद्वाऽधिक लक्षणम्।" पित्तज और रक्तज कर्ण रोगों को तीव्र मध्य कर्ण शोथ (Acut otitis media) कह सकते हैं।

मध्य कर्ण में मुख्यतः तीन प्रकार का शोथ होता है। (१) मध्य कर्ण का तीव्र शोथ (२) मध्य कर्ण का प्रसेक युक्त शोथ (३) मध्यकर्ण का चिरकालीन सपाक शोथ।

१. मध्य कर्ण का तीव्र शोथ (Acute otitis media)—मध्यकर्ण में शोथोत्पादक जीवाणुओं का उपसर्ग रक्त द्वारा, लसिका वाहिनियों द्वारा अथवा नासावस्निका के शोथ युक्त विकारों से श्रुति सुरंगा द्वारा पहुँचता है। इनमें से अन्तिम मार्ग सर्व प्रधान है। बहुत से तीव्र रोगों में उपद्रव के रूप में भी मध्य कर्ण शोथ होता है। इन रोगों में से स्कार्लेट ज्वर, रोमान्तिका, रोहिणी (Diptheria), कूकर खांसी (Whooping Cough), इंफ्लुएञ्जा, बच्चों की पुरानी खांसी, आन्त्रिक ज्वर प्रधान हैं। जिन रोगियों में नासाप्रतीनाह या polypus आदि के कारण नासावरोध हुआ रहता है या जिनकी उपजिह्विका (Tonsil) बढ़ी रहती है उनमें इस रोग के होने की अधिक सम्भावना रहती है।

श्रुति सुरंगा और श्रुतिकुहर (Eustachian tube and Tympenic Cavity) की श्लेष्म कला में शोथ उत्पन्न होता है। श्रुति पटल स्वयं भी शोथ युक्त हो जाता है। कभी-२ शोथ बहिः कर्ण में पहुँच जाता है और उसमें स्फोट उत्पन्न होकर मार्ग को अवरुद्ध कर देता है।

चिकित्सा सूत्र—यदि शोथ की प्रारंभिक स्थिति हो तो पीड़ा को शान्त करने और पाक को रोकने और

इस प्रकार श्रुतिपटल में भेदन होने से बचाने का प्रयत्न करना चाहिये। और यदि भेदन हो गया हो तो इस बात का प्रयत्न करना चाहिये कि शोथ और पाक कर्णमूलिक भाग (mastoid ard mastoid antrum) में न पहुँचने पावें और फटे हुए श्रुति पटल का रोपण तथा स्राव बन्द हो जाय।

२. मध्यकर्ण का प्रसेक युक्त शोथ (Chronic catarrhal non-Suppurative otitis media)—यह मध्य कर्ण की श्लेष्मिक कला का चिरकालीन शोथ है जो बहुत धीरे से बढ़ता है। और इसमें प्रायः पूय नहीं पड़ती। अधिकतर नासाग्रसंनिका की श्लेष्मिक कला का शोथ (Catarrh of the mucosa of the nasopharynx) श्रुति सुरङ्गा में होता हुआ मध्य कर्ण में पहुँचकर वहां भी शोथ उत्पन्न करता है। नासाग्रसनिका की लसिका ग्रन्थियाँ (Adenoids) भी कभी-२ इस शोथ के उत्पन्न होने में कारण हुआ करती है। इस रोग में आनुवंशिक परम्परा भी देखी जाती है।

लक्षण—शोथ का प्रारम्भ धीरे-२ होता है और प्रायः दोनों कानों में साथ ही प्रारम्भ नहीं होता। एक कान के बाद दूसरे में शोथ का प्रारम्भ प्रायः बहुत पीछे होता है। कुछ सार्व दैहिक रोगों या दशाओं का यथा रक्ताल्पता, वातरक्त, मलेरिया, मलावरोध, मन्दाग्नि, नासा या नासाग्रसनिका के अवरोध आदि का इस रोग से ग्रस्त रोगियों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। श्रुति पटल कुछ अधिक नतोदर हो जाता है। रोगी को अधिकतर सर्दी लगकर जुकाम होने पर बधिरता हो जाया करती है। फिर कुछ दिनों में सुनाई देने लगता है किन्तु हर एक बार की सर्दी में उत्तरोत्तर बधिरता दूर होने में अधिक समय लगता है और प्रत्येक बार उत्तरोत्तर जुकाम अच्छा होने पर भी सुनाई देने की शक्ति भी पूर्व से कुछ घटती ही जाती है। इस कारण सामान्य बात-चीत के समय रोगी को सुनने में कुछ कठिनाई होती है और उसे बात-चीत करने वाले की तरफ अपना एक कान लगाना पड़ता है। जब कभी बधिरता ठीक होती है तो एक प्रकार के शब्द के साथ होती है। यह शब्द अवरुद्ध श्रुति सुरङ्गा में सहसा वायु के प्रविष्ट होने से उत्पन्न होती है। इस रोग का रोगी प्रायः दो कारणों से उत्पन्न कष्टों का अनुभव करके चिकित्सक के पास आता है—

१—श्रुति सुरङ्ग का अवरोध २—उस अवरोध का मध्य कर्ण पर विकारी प्रभाव।

कर्णनाद, कर्ण प्रतिनाद और कर्ण क्ष्वेड यह तीनों भी बधिरता के मुख्य प्रारम्भिक लक्षण हैं। यह तीनों लक्षण उत्तरोत्तर तीव्र होते जाते हैं। कर्ण नाद सुसकारी देने या गाने की भांति या गान वाद्य बांसुरी की भांति कर्ण क्ष्वेड (Musical Sourd) होता है। धीरे-धीरे कर्णनाद उत्तरोत्तर तीव्र होता जाता है और आगे चलकर लगातार होता है और रात्रि तथा प्रातःकाल ये अधिक सुनाई देता है। इससे रोगी को बड़ा कष्ट प्रतीत होता है। कुनैन, कोडिन मिश्रित दवाइयां, मद्यपान, काफी तथा चाय, दही, छाछ आदि से नाद में और वृद्धि हो जाती है। मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य में शिथिलता आती है। आटोफोनिया (अपना शब्द अधिक तीव्र सुनाई देना), Paracusis Willisii (शोर गुल में भी अच्छी तरह सुनना) और Paracusis loci (शब्द जिस स्थान से आ रहा है उस स्थान के अन्दाज करने की शक्ति का ह्रास) से सब लक्षण होते हैं। चक्कर (vertigo) आता है, जो प्रायः रोग की पिछली अवस्था में उत्पन्न होता है और कभी कभी बड़ा तीव्र रूप भी धारण कर लेता है। श्रुति पटल मोटा, सामान्य से अधिक श्वेत, धारीदार या रेखायुक्त हो जाता है।

चिकित्सा प्रणाली—

१. आन्तरिक औषधियों द्वारा बधिरता को दूर करना—इसके लिए कुचला, हाइड्रोब्रोमिक एसिड, ब्रोमाइड्स (प्रायः रात्रि में), वेलेरियन अथवा ब्राह्मी शङ्खपुष्णी, वच देना चाहिए। पांडु या रक्ताल्पता के रोगियों में संखिया और लोह का प्रयोग करें।

२. श्रुति सुरंगा का अवरोध दूर करना—इसके लिए कर्ण नाड़ी यन्त्र (Eustachian Catheter) और Politzer's bag से प्रधमन करें।

३. नासा तथा नासाग्रसनिका के दोषों को दूर करना।

चिरकालीन सपाक मध्य कर्ण शोथ में कान से स्राव को बन्द करने के लिए विसंक्रामक (Antiseptic) द्रव्यों का या

संकोचक द्रव्यों (Astringents) का प्रयोग किया जाता है या शस्त्र कर्म करना पड़ता है। विनायोडाइड या परक्लोराइड आफ मेर्क्युरी, बोरिकएसिड, क्रियोलिन और लाइसोल बहुधा प्रयोग किया जाता है। पहिले हायड्रोजन पेराक्साइड डालकर कान को शुद्ध करते हैं। शुष्क करके बोरिक एसिड और आयडोफार्म मिलाकर कान में दिन में एक या २ बार प्रधमन (Insufflate) करना चाहिए। किन्तु प्रत्येक चौथे दिन विष शामक द्रव्यों की पिचकारी से कान को धोकर सुखा लेना चाहिए। Achromycin or Terramycin ear drops कर्ण विन्दु को कान में टपकाते हैं। Dicrystion अथवा Bistrapen अथवा Ombamycin आदि Antiseptic सूचियों का प्रयोग किया जाता है।

आयुर्वेद चिकित्सा—भावमिश्र के अनुसार कर्ण शूल, कर्ण नाद, वाधिर्य और कर्ण क्ष्वेड इन चारों में एक-सी चिकित्सा करनी चाहिए।

पंच कर्मोपचार—स्नेह, स्वेद और नस्य कर्म विधिवत करना चाहिये। निर्गुण्डी, अर्क, अरणि, अंजीर इनके पत्तों से कान चारों ओर सेंक देना और पत्तों को पानी में पकाकर स्वेद देना कर्ण रोगों में हितकर है।

अहिफेन, कर्पूर, वच इन तीनों को बकरी के मूत्र में बारीक पीसकर कान के चारों ओर लेप करना चाहिये। संभालू, दातुन, अरणी, अंजीर—इनमें से किसी एक के पत्तों को तवेपर थोड़ा गरम करके शिर के चारों ओर रखकर टोपी पहन कर रुमाल लपेट आराम करें। इससे वात, कफादि दोष जो शिर और कर्ण स्रोतों मार्गों में जमकर घनीभूत हो गये हो खुल जाते है। इन तीनों को बिल्व फल का गूदा, शुंठी, सेंधव लवण, बकरी का मूत्र और दूध में बारीक पीसकर शिर पर लेप से कर्णक्ष्वेड और कर्ण नाद तथा वाधिर्य में लाभ करता है।

वाह्योपचार योग—

१. अदरक का रस, मधु, तेल, सेंधव लवण इन तीनों को मिलाकर थोडा गरम करके कान में डालने से कर्ण नाद, वाधिर्य, कर्ण क्ष्वेड चारों शमन होते हैं।

२. लहसुन का रस, अदरक का रस, सहिंजन के पत्तों का रस, इन्द्रायन का रस, केलेके कन्द का रस।

३. कान में कडवा तेल थोडा गरम करके डालने से शूल, नाद, क्ष्वेड, बहरापन दूर होता है।

४. अपमार्ग क्षार ५० ग्राम, जल १००० ग्राम, तेल २५ ग्राम।

विधि प्रकार तेल शेष रहने तक पकावें। ठण्डा होने पर कान में डालना चाहिए।

५. हुल-हुल के दो तीन पत्तों को कुचल कर रुई में लपेट कर कानों में रखना चाहिए। अधिक पीड़ा होने पर निकाल कर शुद्ध तिल तेल का फाया रखें।

६. हींग, लहसुन, सेंधानमक, समुद्रफेन चूर्ण, कौड़ी भस्म, नीबू का रस तेल में गरम करके डालें।

अनुभूत योग—बिल्वादि तैल, क्षार तैलम्,
आभ्यन्तर सेवन करने के योग—

१. महायोगराज गुग्गुल, २-४ गुंजा एक चम्मच घृत २ चम्मच मधु के साथ।

२. सारिवादि वटी (र० यो० सा०)।

७. श्रृंग भस्म २ गुं., त्रिवङ्ग भस्म १ गुं. मधु के साथ

व्याधि मूल कारण विशिष्ट चिकित्सा

१. प्रसूतावस्था में ज्वर आदि कारणों से आये हुए वाधिर्य, कर्ण नाद, कर्ण क्ष्वेड में—

वातविध्वंसी रस, वातगजांकुश, सूतिका भरण रस, सौभाग्य शुंठी, दशमूलारिष्ट, रसोनपिण्ड।

२. शारीरिक शिथिलता के कारण उत्पन्न—मकरध्वज, बसन्त कुसुमाकर रस, वृहद् वात चिन्तामणि रस, अश्वगंधारिष्ट, सारिवाद्यासव, च्यवनप्राशावलेह, ब्राह्मीघृत।

३. कुनैन, कोडिन, एस्प्रिन आदि दवाइयों के सेवन से उत्पन्न कर्ण विकार—विषतिंदुकादि वटी, वातगजांकुश, वृहद् वात चिन्तामणि रस, ब्राह्मी रसायन, गंधक कल्प।

४. टाइफाइड (सन्निपात) ज्वर के पश्चात् आये हुए कर्ण विकार—शीतांशुरस, मृत्युञ्जय रस, प्रवाल पंचामृत, आरोग्य वर्द्धनी रस।

पथ्य—तृणधान्य (चावल)-यवान, मुद्ग, कुलत्थ, जांगल जंतुमांस। मेथी, करेला, चिचुटा, घी, मधु, तिल का तेल।

अपथ्य—गुरु कठिन अन्न, मत्स्य, आनूप जंतु मांस, माषा, आम्ल द्रव्य, दही, तक्र, क्षीर, गुड़, सिरः स्नान, दिवास्वप्न।

—डा० श्री के० पी० वर्धन, एम० ए०
श्रीराम कृष्ण आयुर्वेदाश्रम गद्वाल (आ०प्र०)

कर्ण कण्डू

श्री वेदप्रकाश गुप्ता

आयुर्वेद में कर्णकण्डु और कर्णगूथ के निदान में कर्णगूथ कि पूर्व कर्णकण्डु लिखा है—

मारुतः कफसंयुक्तः कर्णकण्डू करोति च।
पित्त श्लेष्मशोणितः श्लेष्मा करते कर्ण गूथम॥

आधुनिक विज्ञान कर्णगूथ (Wax, Cerumen) कर्ण के बाह्य भाग में स्राव सूख जाने को कहते हैं जिसका निकालना बहुत ही आवश्यक है।

रोग का स्थान—

कर्ण का बाह्य भाग कर्ण शष्कुली और उसके बाद छिद्र सा भाग श्रुतिपथ इन दोनों भागों में वातावरण में धूल-धुआं, जल या किसी भी वस्तु के भीतर जाने से कर्ण शष्कुली और श्रुति पथ में सर्व प्रथम कण्डू हो जाती है। परन्तु कर्ण कण्डू कर्ण के बाह्य भाग में होने वाले कण्डू से नहीं है क्योंकि सर्व साधारण उसे त्वक रोग समझता हुआ बाह्य फोड़ा किसी को कारण चिकित्सा से रोग हो जाता है। अतः रोग का स्थान श्रुतिपथ (External meatus) है।

लक्षण परीक्षा—

रोगी के कर्ण श्रुतिपथ के भाग में कण्डू तीव्र अथवा मन्द-मन्द होती है। यह कण्डू रक्त विकार का (शरीर की त्वचा) पूर्व रूप है।

कर्ण दर्शक यंत्र द्वारा श्रुतिपथ देखने से पूरी दीवाल की त्वचा में लाली (शोफ के कारण) शुष्क या खुरन्ड वाली या गीली होती है जो क्षोभ करती है। प्राणि के खुजलाने पर उसमें से पतला-पतला स्राव होने लगता है।

चिकित्सा—

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में ग्लैसरीन, बोरिक एसिड, इकथ्योल, कार्बोलिक या स्प्रिट का प्रयोग किया जाता है। कर्णगूथ में हाइड्रोजन पराक्साइड द्वारा गूथ को निकालते हैं। क्लोरोमाइसिन इयर ड्राप्स डालते हैं।

अन्तः प्रयोग में पैन्सिलीन, सल्फाडाइजीन, टेट्रासाइक्लीन कैपसुल इत्यादि औषधियों के प्रयोग से तत्कालिक लाभ प्राप्त होता है।

स्थाई लाभ चिकित्सा—

वात और कफहर तैल सिद्ध और औषधि सभी कर्ण रोगों में स्थायी लाभ देती है।

निजी अनुभव वाला योग—

१. निर्गुण्डी तैल २० मिली०, अल्कोहल ५ मिली०, सौभाग्य भस्म ८ ग्राम, नूसार १/४ ग्राम, एक शीशी में भरलें। कान में डालते समय हिला कर डालें। कर्ण के बाह्य भाग में सेक करके ड्रापर को तैल में डाल दें। कण्डु बन्द हो जायेगी। मूत्र भी होगा तो बाहर निकल आयेगा। छोटी-मोटी फुंसी भी बैठ जायेगी।

२. क्षार तैल को थोड़ा सा गरम करके चार-पांच बूंद डाल कर सेंक करें।

३. गुल रोगन १० मिली०, बोरिक एसिड १ ग्राम, स्प्रिट ५ बूंद तीनों को मिला कर शीशी में रखें। कान में एक दो बूंद डाल दें। कण्डू नहीं रहेगी।

४. सरसों के तैल में रसौत की तुरियां जला दें। वह तैल कर्ण कण्डू में थोड़ा ही गरम डालें।

५. बोरिक एसिड को स्प्रिट में घोल लें। उस स्प्रिट की फुरेरी कान में फेर दें।

६. कान साफ करके एक नलिका द्वारा बराटिका भस्म को डाल दें। उसके ऊपर सरसों का तैल थोड़ा गरम करके डालें, तुरन्त कर्ण कण्डू बन्द हो जायेगी। गूथ भी बाहर आ जाती है।

अन्तः प्रयोगार्थ श्रृंग भस्म, प्रवाल, शुक्ति, बराटिका १-१ रत्ती प्रातः सायं मधु से दें।

भोजन के पश्चात् सारिवाद्यासव १-१ तोला जल मिला कर प्रातः सायं दें।

—श्री वैद्य वेदप्रकाश गुप्ता
आयुर्वेद विद्यापीठ महाविद्यालय,
६–ई कृष्णनगर दिल्ली–११००५१
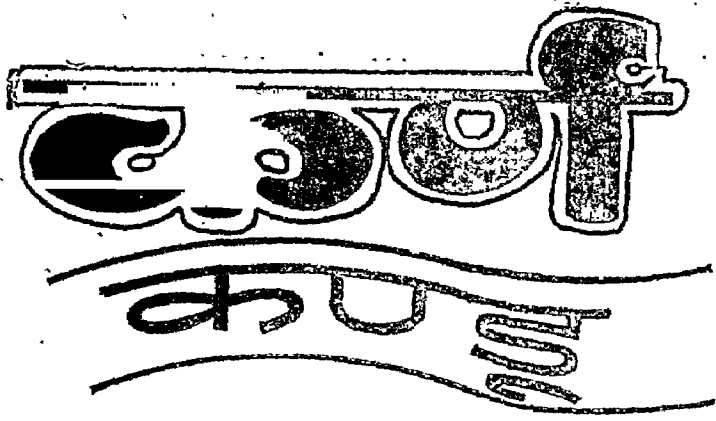
कर्ण कण्डू

श्री वैद्य शिवकुमार शास्त्री आयु० वृह०

— ० —

कर्ण कण्डू को उत्पन्न करने वाले प्रायः कफ और वायु-दोष ही होते हैं। कान में पानी चले जाने के पश्चात् गीलापन रहे आने के कारण सीलन बढ़कर प्रथम साधारण सनसनाहट का अनुभव होता है, वही सनसनाहट बढ़कर कण्डू का रूप धारण कर लेती है। खुजलाते रहने अथवा कान को सहलाते रहने पर जल का स्राव, रक्त मिश्रित जल का स्राव, तथा रक्त पूय मिश्रित जल का स्राव चौबीसों घण्टे चलता रहता है। साथ में टीस, शूल, चपका और दाह होता रहता है। जल एवं मवाद को रोकने के उपायों के करने से टीसन शूल एवं शोथ बढ़कर कर्ण पीड़ा अधिक बढ़ जाती है यहाँ तक कि आहार लेना दुष्कर अर्थात् कठिन हो जाता है। कण्ठ के नीचे ग्रन्थियां बढ़ जाती हैं, यदि उचित चिकित्सा नहीं होती है तब कान के परदे में विकृति होकर अनेकानेक कष्ट हो जाते हैं, यहाँ तक कि एलोपैथ चिकित्सक कान का आपरेशन द्वारा ही चिकित्सा होने का एकमात्र परामर्श देते हैं। किन्तु आयुर्वेदीय चिकित्सा बड़ी सरलता से उपद्रव सहित सारे कष्टों को सुगमता के साथ ठीक कर देती है।

विशेष—यदि ऐलोपैथ चिकित्सकों के परामर्शानुसार आपरेशन द्वारा चिकित्सा प्रारम्भ करा दी जाती है। तब अनेकानेक कान की विकृतियां होकर कर्ण की प्राकृत अवस्था सदैव के लिये जाती रहती है बल्कि कभी-कभी तो बड़ा विकृत रूप होकर जीवन को भी खतरा उत्पन्न हो जाता है। अतः पथ्यसह आयुर्वेदीय चिकित्सा ही उक्त कष्ट निवारणार्थ सर्वोत्तम एवं निश्चित गुणकारी सिद्ध होती है।

आयुर्वेदीय चिकित्सा विधि —

चिकित्सा प्रारम्भ करने के साथ सर्वप्रथम गीले (ताजे) निम्ब पत्रों के द्वारा बनाया आर्द्र वाष्प स्वेद देवें अर्थात् नीम की ताजी पत्ती लगभग १० तो० कुचलकर १ सेर जल में कुछ चौड़े मुंह के ढक्कनदार पात्र में अग्नि पर रख उबालें। जब खूब अच्छे प्रकार से उबल जाय (नीम की पत्ती पीली पड़ जावें) तब अग्नि पर से नीचे उतार पात्र का ढक्कन खोल एक फुट की दूरी से १५ मिनट से ३० मिनट तक कान में समुचित प्रकार से वाष्प स्वेद (धूनी) देवें। यदि पानी शीघ्र ठण्डा हो जावे तब उसी पात्र के ढक्कन से मुखबन्द करके दोबारा अग्नि पर गरम कर पूर्ववत प्रकार से पुनः धूनी देवें। इस प्रकार करने से कर्ण कण्डू की उत्पन्न हो जाने वाली बारीक बारीक पिड़िकायें मुरझाकर उनका स्वेद के साथ दूषित मल बाहर निकल जावेगा। कान को सूखे शुद्ध कपड़े से

शनैः अच्छे प्रकार से पौंछकर इसमें चन्दन का इत्र (मैसोर गवर्न्मेंट द्वारा सीलबन्द) सबसे छोटी शीशी खोलकर १ तोला इसमें कपूर चूरा १ माशे इन्हें एअरटाइट शीशी में धूप में रखकर मिश्रित कर लें। आर्द्र वाष्प देने के १०-१५ मिनट पश्चात् ५-६ बूंद ड्रापर से कान में डाल रोगी मुंह चलावे ताकि डाली हुई औषध की बूंदें पूरे कान में अच्छे प्रकार से फैल जावे। इस प्रकार १ सप्ताह तक अधिक से अधिक करें। साथ में खाने की औषधें और पथ्य भी जो रक्त शोधक, वातश्लेष्म दोनों दोषों के विकारों को दूर करने वाले तथा शोथ वर्द्धक एवं वातश्लेष्म वर्द्धक न हों, और गुरु पाकी न हों ऐसे होने चाहिये।

खाने की औषधों में—आरोग्य वर्द्धिनी वटी ६ से ८ तक दिन में ३ से ४ बार तक, वृहत मंजिष्ठादि अर्क २॥ तोला के साथ तथा गन्धक रसायन ६४ भावना दो मात्रायें ४ रत्ती से १ माशे तक, रसमाणिक्य १ से २ रत्ती तक कपर्दिका भस्म २ से ४ रत्ती तक ऐसी २ मात्रायें प्रातःकाल शहद में अथवा शहद मक्खन में दें सायंकाल केवल मात्र शहद में आरोग्यवर्द्धिनी वटी एवं अर्क देने के पश्चात् प्रातः सायं ऊपर से चटावें।

आहार—गेहूं की रोटी, परवल, लौकी, तोरई, मूंग की दाल, मसूर की दाल पालक दें। दूध तथा घृत पाचन शक्ति के अनुसार आवश्यक मात्रा में दें त्याज्य आहार-विहार, खटाईयों का, दही, चावल, कढ़ी, अरहर की दाल तेल, गुड़, खटाई बासी गुरुपाकी एवं वात श्लेष्मकारी आहर तथा बरसाती ठण्ठी हवा, ठण्डे पानी से स्नान (गुनगुने जल से स्नान करते समय भी कान के छिद्र में शुद्ध रुई भर लेनी चाहिये ताकि कान के छिद्र द्वारा स्नान करते समय जल की एक बूंद भी कान मे न चली जावे) तथा कान के बाहर भी ठण्डे पानी का स्पर्श न होने पावे। आहार लेते समय मुंह बहुत ही शनैः-२ चलावे। यदि फिर फिर भी मुंह चलाने में कष्ट हो तब मूंग की पतली दाल और केवल मात्र ताजा औटाया हुआ दूध ही देवें। रात्रि को सोते समय त्रिफला ६ माशे जल से दें। अधिक मलावरोध हो तब त्रिफला को फांक ऊपर से नवीन बना जिसमें खटाई पैदा न हुई हो ऐसा कुमारी आसव १ औंस समान भाग जल मिलाकर पिलावें। यदि अधिक जीर्ण और उपद्रव युक्त कर्ण कण्डू एवं शोथ पीड़ा हो तब पथ्यादि क्वाथ-हरड़, बहेड़ा, आंवले तीनों की गुठली निकाल वक्कल मात्र ६ माशे, नीम की अन्तर छाल, गिलोय, दारू, हल्दी, पटोल-पत्र, अडूसे की पत्ती, चिरायता, कुटकी, प्रत्येक ३ माशे को कुचलकर १ पाव जल में औटा २॥ तोला शेष रहने पर उतार छान शहद मिला प्रातःकाल अथवा दोनों समय २-१ योगराज गुग्गल वटी खिला ऊपर से पिलावें।

विशेष—यदि कर्ण कण्डू के साथ कर्णक्षत भी साथ हो जावे तब २-४ दिन निम्ब पत्रों का वाष्प स्वेद देने के पश्चात् गूगल अशुद्ध को निर्धूम कोयले की अग्नि पर डाल इसके ऊपर चिलम अथवा कीप रख कान में इसकी धूनी देवें। तथा फिटकरी भस्म को कान के अन्दर ४ रत्ती कागज की फुकनी आदि द्वारा फूंक देवें। अन्य चिकित्सा एव आहार विहार सब उपर्युक्त ही रखें। इस प्रकार कर्ण के समस्त कष्ट एव व्याधियां कर्ण कण्डू सहित निश्चय-पूर्वक सदैव के लिए निर्मूल हो जाती है।

श्री वैद्य शिवकुमार शास्त्री आयु० वृह०
रावत पाड़ा, आगरा

श्री मदनलाल शर्मा आयुर्वेद रत्न

किसी प्रकार की चोट लगने से एक प्रकार की विद्रधि उत्पन्न होती है। कर्ण विद्रधि के नाम से स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस हालत में वाह्य कर्ण स्रोत में एक व्रण सा हो जा‌ है। यह एक व एक से अधिक भी हो सकते हैं। इसमें ब‌ अधिक पीड़ा होती है। कान के अगल, बगल नीचे ऊ‌ शोथ रहता है। कान के आगे या नीचे हाथ लगाना भी ‌ठिन होता है अर्थात् दर्द होता है। यदि विद्रधि बड़ी हो और स्रोत में रुकावट हो जावे तो उससे बहरापन भी हो सकता है।

दोष जन्य विद्रधि दूसरे प्रकार की है। इसमें लाल, पीला अरुण वर्ण का स्राव होता है। चुभने की वेदना धूमोद्गार दाह और जलन होती है।*

चिकित्सा

कर्ण विद्रधि की चिकित्सा करते समय रोगावस्था के अनुसार उपचार करना पड़ता है। यद्यपि विद्रधि पकी न हो तो उसको बैठाने के लिए संशामक उपचार करना चाहिए। यदि विद्रधि पकने के काबल होवे तो दारक चीजों से पकाना चाहिए अथवा शस्त्र कर्म से विदीर्ण करें। फिर शोधन और रोपण की व्यवस्था करनी चाहिये।

पथ्य—गुग्गल आधी ग्राम, एरण्ड मूल के दो-दो ग्राम क्वाथ के साथ दिन में तीन बार देने से अन्तर्विद्रधि २-३ दिनों में ही ऊपर आ जाती है।

भोजन—हिंग, चना, शक्कर और रोगी के स्वभाव के प्रतिकूल वस्तुयें बन्द कर देनी चाहिए। गूलर और सिरस के पानों का गर्म किया हुआ कल्क बार-२ बांधने से लाभ होता है।
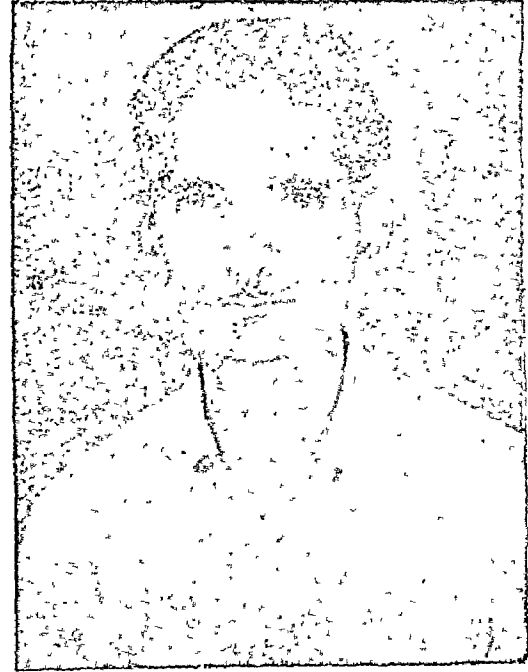
विद्रधि में असह्य वेदना होने पर कालीद्राक्ष (बीज रहित) को पीस हल्दी या कुंकुम भुरभुराकर पट्टी बांधने पर सरलता से फूटकर पूय बाहर निकलने लगती है। फिर लेप को लगाने से घाव शुद्ध होकर रोपण होने लगता है। यदि घाव शुद्ध होने पर भी न भरता हो तो अन्य रोपण मरहम का प्रयोग करें। सहिजने के क्वाथ की सात भावना दी हुई कज्जली २-२ रत्ती दिन में दो बार शहद के साथ देकर फिर सहिजने की छाल के क्वाथ में गेहूं के आटे की पुल्टिस बनाकर विद्रधि स्थान पर बांधने से बाहर से भी विष का शोषण होता है। हो सके तो

—शेषांश पृष्ठ २७० पर देखें।

---

* क्षताभिघातप्रभवस्तु विद्रधि भवेन तथा दोषकृतोऽपरः पुनः। सरक्तपीतारुणमस्रासमास्रवेत्। प्रतोदधूमायनदाह चोषवान्॥
अन्यत्र विद्रधि प्रकरण में विद्रधिः षड्विधः स्यातो वातपित्तकफैस्त्रयः। रक्तात्क्षतात् त्रिदोषैश्च ......।

कर्णार्श और कर्णार्बुद

डा० श्री दौलत राम शास्त्री
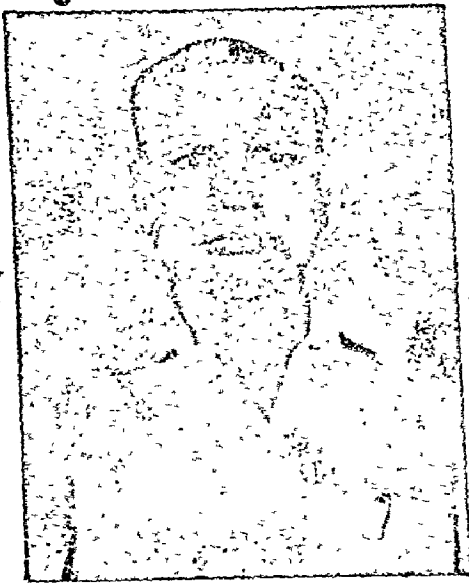
मान्यवर श्री शास्त्री जी 'धन्वन्तरि' के योग्य लेखक हैं तथा धन्वन्तरि पर आपकी सुकृपा सदैव से रही है। लगभग २० वर्ष पूर्व आप 'धन्वन्तरि' के "माधव निदानांक" का सम्पादन कर चुके हैं जोकि आपकी विद्वता का प्रतीक तथा आयुर्वेद जगत में एक अमूल्य ग्रन्थ है। 'धन्वन्तरि' में आपके लेख प्रायः प्रकाशित होते रहते हैं जो कि सारपूर्ण तथा अन्वेषण भावना से परिपूरित होते हैं। धन्वन्तरि को भविष्य में आपसे बहुत कुछ आशायें हैं।

—दाऊदयाल गर्ग

अन्य स्थानों के समान ही कान में भी अर्श एवं अर्बुद होते हैं जिन्हें क्रमशः कर्णार्श और कर्णार्बुद कहते हैं। आचार्य सुश्रुत ने कर्णरोगों की गणना करते हुए लिखा है—

> कर्णशूलं प्रणादश्च बाधिर्य्यं क्ष्वेड एव च।
> कर्णस्रावः कर्णकंडूः कर्णगूथस्तथैव च ॥
> कृमिकर्णप्रतीनाहौ विद्रधिर्द्विविधस्तथा ।
> कर्णपाकः पूतिकर्णस्तथैवार्शश्चतुर्विधम् ॥
> तथार्बुदं सप्तविधं शोफश्चापि चतुर्विधः ।
> एते कर्णगतारोगा अष्टाविंशतिरीरिताः ॥
>
> ——सु० उत्तर तंत्र अध्याय २०

अर्थात्, कर्णशूल, प्रणाद (कर्णनाद), बाधिर्य, क्ष्वेड, कर्णस्राव, कर्ण कण्डू, कर्णगूथ, प्रतीनाह, दो प्रकार के विद्रधि, कर्णपाक, पूतिकर्ण, चार प्रकार के अर्श सात प्रकार के अर्बुद और चार प्रकार के शोथ—में २८ कर्णरोग कहे गये हैं।

भाव प्रकाश आदि बाद के अनेक ग्रन्थों में ये श्लोक ज्यों के त्यों अथवा थोड़े परिवर्तन के साथ उद्धृत किये गये हैं।

केंचुए के मुख के समान पतले, लम्बे और नरम मांसांकुरों को अर्श और गोल, स्थिर एवं न पकने वाले पिण्ड को अर्बुद कहते हैं। ऐसा हो सकता है कि ये जन्म के समय से ही हों। इस प्रकार के अर्श एवं अर्बुद को सहज या जन्मजात कहते हैं। जो बाद में किसी भी आयु में हों उन्हें आप्त (Aquired) कहते हैं। मिथ्या आहार विहार से हुए दोष-प्रकोप से ही इनकी उत्पत्ति होती है। सहज अर्श एवं अर्बुद की उत्पत्ति माता-पिता के मिथ्या आहार-विहार जन्य दोष-प्रकोप से होती है।

कर्णार्श मुख्यत: ४ प्रकार के होते हैं—

१. वातज कर्णार्श—रूखे-सूखे, मुरझाये हुए से, खुरदरे, नुकीले, स्रावरहित एवं लाल-काले रंग के होते हैं। इनमें चुनचुनाहट होती है।

२. पित्तज कर्णार्श—पतले, नरम, ढीले एवं लाल पीले या श्याम वर्ण के होते हैं। इनमें दाह होती है, दुर्गन्धयुक्त स्राव होता है और ये पक भी सकते हैं।

३. कफज कर्णार्श—चिकने, सफेद, चिपचिपे, ठोस वजनदार, उभरे हुए, मोटी जड़ वाले, स्थिर और करीर या कटहल की गुठली या गाय के थन के समान गुलाई युक्त आकार वाले होते हैं। इनमें मन्द पीड़ा और खुजलाहट होती है।

४. रक्तज कर्णार्श—इनके लक्षण लगभग पित्तज कर्णार्श के ही समान होते हैं किन्तु इनमें रक्तस्राव करने की प्रवृत्ति रहती है; जरा-सा छेड़ने मात्र से रक्त निकलने लगता है।

दोषों के लक्षणों से युक्त द्वन्दज और सभी दोषों के लक्षणों से युक्त सन्निपातज अर्श भी हो सकते हैं।

कर्णार्बुद ७ प्रकार के होते हैं—

१. वातज कर्णार्बुद—काला, कोमल तथा वस्ति के समान फूला हुआ रहता है। इसमें खींचने, काटने, चुभने, मारने, काटने, मथने एवं चुभाने जैसी पीड़ा होती है। इसका भेदन करने पर स्वच्छ रक्त निकलता है।

२. पित्तज कर्णार्बुद—लाल-पीले रंग का रहता है। इसमें जलन तथा पकी हुई विद्रधि के समान पीड़ा होती है। इसका भेदन करने पर गर्म रक्त निकलता है।

३. कफज कर्णार्बुद—यह त्वचा के समान वर्ण वाला और पत्थर के समान कड़ा रहता है तथा बहुत धीरे धीरे दीर्घकाल में बढ़ता है। इसमें दर्द कम होता है, खुजलाहट बहुत होती है। इसे चीरने पर गाढ़ा, सफेद पूय निकलता है।

४. मेदज कर्णार्बुद—यह चिकना और बड़ा रहता है इसमें पीड़ा नहीं होती खुजलाहट होती है। शरीर के पुष्ट होने के साथ-साथ यह भी पुष्ट होता है और यदि किसी कारणवश शरीर क्षीण होने लगे तो यह भी उसी अनुपात में क्षीण होता है। इसे चीरने पर खली या घी के समान मेद निकलता है।

५. सिराज कर्णार्बुद—सिरा के फूल जाने से अर्बुद बनता है। कुछ मामलों में इसमें पीड़ा होती है, कुछ में नहीं होती।

६. रक्तज कर्णार्बुद—यह उभरा हुआ मांसपिण्ड रहता है और इस पर बहुत से छोटे-छोटे मांसांकुर रहते हैं। यह तेजी से बढ़ता है और इसमें से लगातार दूषित रक्त का स्राव होता है।

७. मांसज कर्णार्बुद—इसकी उत्पत्ति चोट लगने से होती है। यह त्वचा के समान वर्ण वाला, अत्यन्त कड़ा, अचाल्य एवं पीड़ारहित होता है।

उपर्युक्त सभी प्रकार के कर्णार्श एवं कर्णार्बुद यदि कान के बाहरी भाग अर्थात् कर्णशष्कुली एवं कर्णपाली में हों तो कुरूपता या बेडौलपन उत्पन्न करते हैं किन्तु यदि ये कान के छिद्र अर्थात् कर्णविवर में हों तो कान में पीड़ा, बदबू तथा आंशिक अथवा पूर्ण बाधिर्य होता है। कहा है—

> तत्र कर्णजेषु बाधिर्यं शूलं पूतिकर्णता च।
>
> —सु. नि. अ. २

चिकित्सा—

अन्तिम तीन अर्थात् सिराज, रक्तज और मांसज कर्णार्बुद असाध्य है। शेष कर्णार्शों एवं कर्णार्बुदों को उनकी स्थिति, आकार आदि के अनुसार क्षार, अग्नि या शस्त्र जो भी सुविधाजनक एवं निरापद हो उसके द्वारा कुशल एवं अनुभवी चिकित्सक बड़ी ही सावधानी के साथ नष्ट करें।

खायी जाने वाली अर्शनाशक औषधियों से गुदा के अर्श तो नष्ट हो जाते हैं किन्तु क्या उनके सेवन से कान आदि के अर्श भी नष्ट होंगे। इसका कोई उत्तर हमारे पास नहीं है। वैसे आशा है कि भल्लातक का कोई योग अथवा सूरण का कोई योग अथवा आरोग्यवर्धिनी का सेवन पथ्यपूर्वक २-४ माह करने से ये अर्श भी नष्ट हो सकते हैं। जिन बाधुओं को अवसर मिले, प्रयोग करके देखें और परिणाम धन्वन्तरि में प्रकाशित करावें।

पाश्चात्य मत

अर्श और अर्बुद की आयुर्वेदिक और पाश्चात्य परिभाषाओं में भारी अन्तर है। पाश्चात्य विद्वान गुदा की सिराओं की विकृति और विस्फार से बने हुए मस्सों को

ही अर्श (Piles, Haemorrhoids) मानते हैं। गुदा में ही स्थित अन्य प्रकार के मस्सों को तथा नाक, कान या शरीर के किसी भी भाग में स्थित या उत्पन्न मस्सों को वे न्यू ग्रोथ (New Growth), नियोप्लाज्म (Neoplasm) या ट्यूमर (Tumours) कहते हैं। प्राचीन आयुर्वेद के अर्बुद में पाश्चात्य शास्त्र के ट्यूमर, सिस्ट (Cyst) आदि सभी वृद्धियों का समावेश हो जाता है किन्तु आजकल के उभय पद्धतियों के विद्वान वैद्यों ने ट्यूमर को अर्बुद और सिस्ट को कोष्ठार्बुद नाम दिये हैं। आगे के वर्णन में इन शब्दों का यही अर्थ मानना चाहिये।

अर्बुद (Tumour)—शरीर के किसी भी भाग में किसी भी धातु की अस्वाभाविक वृद्धि से जो उभार, गांठ या मसा बनता है, उसे अर्बुद कहते हैं। ये लगभग ठोस होते हैं और इनका आकार कुछ भी हो सकता है। जिस धातु से इनकी रचना होती है उसी के आधार पर इनके नाम रखे गये हैं। इस प्रकार अर्बुद के बहुत से प्रकार हैं जिन्हें दो वर्गों में बांटा गया है—१. अघातक या सौम्य अर्बुद (Simple, Benign or Nonmalignant Tumour) और २. घातक अर्बुद (Malignant tumour)

कोष्ठार्बुद (Cyst)—शरीर के किसी भी भाग में कोई धातु या अन्य पदार्थ एकत्र हो जाता है और उसके बाहर एक आवरण या कोष्ठ बन जाता है, उसे कोष्ठार्बुद कहते हैं। स्पष्टतः ये पोले रहते हैं और भरे हुए पदार्थ के अनुसार इनका नामकरण होता है। इनके भी बहुत से भेद हैं।

१. रक्तमय कोष्ठार्बुद (Haematoma)—इसकी उत्पत्ति चोट लगने से भीतर ही भीतर रक्त निकलकर भर जाने से होती है। यह अधिकतर कान के बाहिरी भाग अर्थात् कर्णशष्कुली या कर्णपाली में सामने की तरफ होता है। इसका रंग नीला होता है और टटोलने पर नरम प्रतीत होता है। प्रारम्भ में पीड़ा होती है किन्तु बाद में नाममात्र की पीड़ा रहती है या बिलकुल नहीं रहती।

यदि चिकित्सा न करके इसे यों ही छोड़ दिया जावे तो यह या तो स्वयं मिट जाता है या पककर विद्रधि बन जाता है। दोनों ही दशाओं मे यह कान के आकार को विकृत कर देता है। पकने पर अधिक विकृत करता है।

इसकी पूरी लम्बाई में खड़ा चीरा बिलकुल नीचे के भाग तक लगाकर रक्त या रक्त के थक्के को पूरी तरह से निकालकर अच्छी तरह सफाई करनी चाहिये। फिर फूले हुए भाग को जोर से दबाकर व्रण पर उपयुक्त औषधि रखकर कान को सिर पर दबाये रखकर जोर से कसकर पट्टी बांधनी चाहिये। उसमें फिर से रक्त भरने न पावे इसका ध्यान रखें।

२. त्वचामय कोष्ठार्बुद (Dermoid Cyst)—इसकी रचना त्वचा के पदार्थों से होती है और अक्सर यह जन्म से ही (सहज) रहता है। इसमें लम्बे बाल और कभी-कभी दाँत तक पाये जाते हैं। यह कर्णपाली या कर्णशष्कुली में होती है और कुरूपता के अतिरिक्त कोई हानि नहीं पहुंचाता। जहां तक हो सके, इसे छेड़ना नहीं चाहिए। यदि आवश्यक ही हो तो इसे पूरी तौर से काटकर निकालना चाहिये और व्रण की उचित चिकित्सा करनी चाहिये। यदि इसका लेशमात्र भी शेष रहा तो नाड़ी-व्रण बन जाता हैं, इसका ध्यान रखें।

३. मेदोमय कोष्ठार्बुद (Sebaceous Cyst)—यह प्राचीन आयुर्वेद ग्रन्थों में वर्णित मेदोज ग्रन्थि ही है। त्वचा में छोटी छोटी मेदग्रन्थियां रहती हैं जिनमें से एक विशेष प्रकार का मेद या तैल (Sebum) निकलकर त्वचा को स्निग्ध रखता है। इस प्रकार की ग्रन्थि का मुख अवरुद्ध हो जाने से उक्त मेद इकट्ठा होता जाता है और ग्रन्थि फूल कर बड़ी होती जाती है। ये सामान्यतः कर्णशष्कुली या कर्णपाली पर होते हैं।

पूरी ग्रन्थि को ही काटकर निकाल देना चाहिये। और व्रण की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। चीरकर मेद निकाल देने मात्र से समस्या हल नहीं होती क्योंकि उसमें पुनः मेद इकट्ठा होता है।

४. लसिकामय कोष्ठार्बुद (Serous Cyst)—इसमें लसिका अर्थात् रक्त का जलीय भाग भरा रहता है। इसका वर्ण त्वचा के समान रहता है, पीड़ा नहीं होती और टटोलने से मशक जैसी प्रतीति होती है। यह भी कर्णपाली पर होता है। चिकित्सा रक्तमय कोष्ठार्बुद के समान है।

५. वाहिनी अर्बुद (Angioma)—इसकी रचना रक्त या लस का वहन करने वाली नलिकाओं की धातु से

होती है। यह सौम्य अर्बुद है। यह अधिकतर कर्णशष्कुली के ऊपरी भाग में होता हैं किन्तु कभी-कभी कर्णविवर तक फैल सकता है जिससे बाधिर्य हो सकता है।

जब तक इससे कोई खास परेशानी न हो तब तक चिकित्सा की कोई आवश्यकता नहीं होती। चिकित्सा तभी आवश्यक होती है जब इसमें से रक्तस्राव हो अथवा यह बाधिर्य उत्पन्न करे अथवा अत्यन्त बड़ा होकर कुरूपता उत्पन्न करे।

यदि यह छोटा हो तो दग्ध करना(Cautery)उत्तम है यदि बड़ा हो तो सम्बन्धित वाहिनी का बन्धन (Ligature) करके इस काटकर अलग कर देना चाहिए और व्रण की चिकित्सा करनी चाहिये।

दग्ध कर्म (Cautery)— पुराने पाश्चात्य चिकित्सक धातु की छड़ को आग से गरम करके यह क्रिया करते थे। आजकल इसके लिये एक विशेष यंत्र आता है जिसमें बिजली से गर्म करने की व्यवस्था रहती है। इसके अग्रभाग में प्लैटिनम नामक धातु का एक पतला तार रहता है। यन्त्र के प्लग-पिन को बिजली के प्लग-पोइण्ट में फँसाने पर शीघ्र ही वह तार गरम होकर लाल और फिर सफेद हो जाता है। सफेद होने पर दग्ध-कर्म किया जाता है। दग्ध-कर्म के पहले स्थान को शुद्ध करना और कोकेन के सूचीवेध से संज्ञाहीन करना आवश्यक होता है। इस क्रिया में रक्त बिलकुल नहीं निकलता और कष्ट भी कोई खास नहीं होता।

६. सौत्रार्बुद (Fibroma)—ये कान के बाहिरी भाग में या कर्णविवर में कहीं भी हो सकते हैं। यह भी सौम्य अर्बुद है। चिकित्सा वाहिनी अर्बुद के समान।

७. अंकुरार्बुद (Papilloma)—अक्सर ये बहुत से होते है और कान में कहीं भी हो सकते हैं। यह भी सौम्य अर्बुद है। चिकित्सा वाहिनी अर्बुद के समान करें। इनमें बार-बार उत्पन्न होने की प्रवृत्ति रहती है।

८. घातक मांसार्बुद (Sarcoma)—यह घातक अर्बुद है और कान में कम ही होता है। यदि होता है तो कर्णशष्कुली, कर्णपाली या कर्णविवर मे कहीं भी हो सकता है। इससे दर्द नहीं होता किन्तु रक्तस्राव अक्सर होता है। यदि यह कर्णविवर में होता है तो अत्यन्त दुर्गन्धित स्राव और बाधिर्य होता है। सामान्य निदान अर्बुद को देखने से ही हो जाता है, विशेष निदान उसका जरा सा टुकड़ा लेकर अणुवीक्षण यंत्र से देखने से होता है।

चिकित्सा—पूर्णतया जड़ सहित काट कर निकालना या रेडियम या ऐक्स-रे।

९. कर्कटार्बुद (carcinoma, cancer)—यह भी घातक अर्बुद है। यह कर्णशष्कुली, कर्णपाली या कर्णविवर में कहीं भी उत्पन्न होता है और तेजी से बढ़ता है। शीघ्र ही व्रणीभवन होकर रक्तस्राव करने लगता है। यदि यह कर्णविवर में होता है तो अत्यन्त बदबूदार रक्तमिश्रित स्राव होता है। अर्बुद का भराव दूर तक की धातुओं में होता है। कान में और कभी-कभी उस तरफ के आधे सिर में भयंकर पीड़ा होती है। यदि अर्बुद मध्यकर्ण तक फैल जाता है तो बाधिर्य होता है, अधिक फैल जाने पर चेहरे के उस तरफ के भाग का पक्षाघात (अर्दित) हो जाता है।

चिकित्सा और निदान घातक मांसार्बुद के समान।

शरीर के किसी भी भाग में घातक मांसार्बुद या कर्कटार्बुद दीर्घकाल तक रहा आने पर उसके प्रभाव से शरीर के अन्य भागों में भी द्वितीयक मांसार्बुद या कर्कटार्बुद उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार के द्वितीयक अर्बुद (Metastases) कान में भी उत्पन्न होकर उपर्युक्त लक्षण उत्पन्न कर सकते हैं। इस अवस्था में चिकित्सा व्यर्थ होती है, केवल पीड़ा कम करने के यथासम्भव उपाय किये जाते हैं।

उपर्युक्त सभी कोष्ठार्बुद और अर्बुद केवल कान में ही नहीं, शरीर के अन्य भागों में भी होते हैं। कान में होने पर जो विशेष लक्षण होते हैं, उनका वर्णन ही इस लेख में संक्षेप में किया गया है। विरल मामलों में अन्य प्रकार के कोष्ठार्बुद एवं अर्बुद भी कान में हो सकते हैं।

प्रसंगवश यहाँ कर्णगत अस्थिवृद्धि का भी वर्णन कर देना उचित है क्योंकि इससे भी अर्बुद के समान लक्षण उत्पन्न होते हैं। यह २ प्रकार की होती है—

१. विस्तृत अस्थिवृद्धि (Hyperostosis)—इस प्रकार में ऊपर से नीचे तक अस्थि समान रूप से बढ़ कर कर्णविवर को सकरा कर देती है अथवा कर्णविवर में एक बड़ा टीला सा उभर कर विवर को अवरुद्ध कर देता है।

इससे कान का मैल निकालने में कठिनाई और सुनने में कठिनाई होती है, अन्ततः बाधिर्य हो जाता है। पीड़ा भी हो सकती है।

२. अर्बुदाकार अस्थिवृद्धि (Exostosis)—यह वृद्धि देखने में अर्बुद के समान प्रतीत होती है किन्तु एकदम स्थिर रहती है। अर्बुद के समान इसे हटाना या हिलाना सम्भव नहीं रहता क्योंकि इसके भीतर अस्थि रहती है। स्वाभाविक अस्थि में अंकुर-सा निकला हुआ रहता है और उस पर मांस एवं चर्म चढ़ा रहता है। एक कान में अक्सर इस प्रकार की कई अस्थिवृद्धियाँ पायी जाती हैं। यदि ये आमने-सामने हों तो एक दूसरे पर दवाब पड़ने से पीड़ा और व्रणों की उत्पत्ति होकर पूयस्राव होता है। इनसे भी मैल निकालने में कठिनाई और सुनने में कठिनाई होकर अन्त में बाधिर्य होता है।

अधिकांश मामलों में अस्थिवृद्धि सहज होती है किन्तु कुछ मामलों में आप्त भी होती है। आप्त प्रकार का निश्चित कारण नहीं ज्ञात हो सका है तथापि अधिकांश मामलों में कर्ण-विचर्चिका, मध्यकर्ण प्रदाह एवं पाक, वातरक्त (Gout) और फिरंग (Sypbilis) में से एक न एक पाया जाता है और इन्हीं को कारण समझा जाता है। बढ़ी हुई अस्थि को शस्त्र द्वारा काट कर या तोड़ कर अलग करना ही एकमात्र चिकित्सा है।

—श्री डा० दौलतराम शास्त्री,
गुप्तरोग व विद्युत चिकित्सालय, १४५८ नेपियर टाउन,
मदन महल स्टेशन के पास, जबलपुर (म०प्र०)

कर्ण विद्रधि : : पृष्ठ २६५ का शेषांश

सहिजने की छाल का उबला हुआ पानी पीने को देना चाहिए एवं रोगी को केवल दूध पर ही रखना चाहिए। दूध को भी सहिजने के क्वाथ द्वारा क्षीरपाक विधि से पाक कर पिलाते रहना विशेष फलदायक है। आवश्यकता पर अधिक ज्वर और घबराहट रहने पर ब्राह्मी वटी या कस्तूरी भैरव रस भी देते रहना चाहिए।

दशांगलेप (पुल्टिस)

दशांग लेप का चूर्ण १ ग्राम, घी १ ग्राम, शहद १ ग्राम, सूखा चूना (बुझाया हुआ) १ ग्राम, कुटी हुई अलसी ५ ग्राम हो। पहले दशांगलेप में घी और शहद मिला लें। फिर कूटी अलसी मिला जल डालकर रवड़ी जैसा कर मन्दाग्नि पर पकावें। उसको पकाते समय चम्मच से चलाते जावे। नीचे उतारने पर उष्णता कम होवे पर चूना मिला लेवें। तत्पश्चात् एक तख्ते पर साफ कपड़ा बिछा उस पर चम्मच से इसको फैला दें। व्रण शोथ पर घी वाला हाथ लगाकर सहन हो सके उतना गर्म होने पर बांध देवें।

प्रयोग—यह पुल्टिस पकने वाले फोड़े को जल्दी पका कर फोड़ देती है। यदि शोथ में पाक की क्रिया आरम्भ न हुई हो तो उसे यह बैठा देती है। जिस व्रण शोथ में सूई चुभने के समान पीड़ा होती हो वह भी इससे पक जाता है। पुल्टिस २-२ घण्टे बाद बदलनी चाहिए। जिस फोड़े में दर्द न हो उस पर ३-३ घण्टों पर पुल्टिस बांधने से काम चल जाता है। व्रण फूटने पर भी जब पूय निकलता रहे तब इसको बांधने से व्रण जल्दी शुद्ध हो जाता है।

आधुनिक चिकित्सा

इकथोल इन ग्लीसरीन १०% का घोल बनाकर इसमें ३ इन्च लम्बाई मे कपड़ा भिगोकर उस स्थान पर रखना चाहिये। इससे यदि बैठना होगा—तो बैठ जावेगा और पक जाने पर शोधन करना चाहिए।

आजकल सल्फा की दवाईयां और पैन्सलीन का प्रयोग किया जाता है और उससे लाभ भी होता है।

I Baladona plaster, Terramycin Injections Capsules, Strepto paincilin 1 cm Injections, S. D. M Teblet, Fentid teblets आदि का प्रयोग किया जाता है।

क्षोभक कारणों को सदैव दूर करना चाहिये। गुड़, तैल, खटाई आदि का प्रयोग भी बन्द कर देना चाहिये।

—आयुर्वेद वारिधि श्री मदनलाल शर्मा आयु० रत्न
इन्चार्ज—राजकीय आयुर्वेदिक औषधालय
खुरवाईन (ऊना) हि० प्र०

प्राणाचार्य श्री हर्षुल मिश्र

जन्तु कर्ण का नाम कृमि कर्ण भी है। कर्ण में व्रणपाक हो जाने पर उसके पूय की यथोचित सफाई न होने पर मक्षिकायें कान की बहती हुई मवाद को पीने बार-बार कान के अग्रभाग में बैठती हैं। असावधानी से अथवा मक्खियों के बीच में सोये पड़े रहने से ये मक्षिकायें कान के विवर में दूषित पूय में अपने अण्डे डाल देती हैं, जो इल्लियों के रूप में परिणित होकर कान कि मवाद के साथ कान के विवर से बाहर निकलने लगते हैं। आगन्तुक कारणों से कान में जन्तु पैदा होने से ही जन्तु कर्ण रोग की उत्पत्ति होती है अन्यथा नहीं। कभी-कभी अच्छे भले चंगे कान में पतंगा शतपदी (कनखजूरा) आदि प्रविष्ट हो जाने से पीड़ा बेचैनी व्याकुलता उत्पन्न हो जाती है। यह आगन्तुक कृमिजन्य व्याधि भी जन्तुकर्ण ही कहलाती है। जन्तु कर्ण की सफल चिकित्सा और उपचार नीचे दिये जा रहे हैं—

१. जब कान में इल्लियां पड़ जायें तब कान को रुई के फोहे से साफ करके अथवा कार्बोलिक एसिड के जलीय घोल की पिचकारी से कान को धोकर निम्ब का तैल कान में डालने से निःसंदेह कान के समस्त पूयजन्य जन्तु तीन-चार दिन में ही नष्ट हो जाते हैं।

२. सीताफल के पत्र का रस, अर्क पत्र का रस, निम्ब पत्र रस कान में डालने से भी कर्ण जन्तु नष्ट होते हैं।

३. कान की मवाद को प्रथम सूखे फोहे से साफ करके कान के विवर को निम्ब तैल के फोहे से खूब धोलें। फिर उसमें टंकण और आइडोफार्म का समभाग मिश्रण बुरक कर रुई का फोआ लगा दें। यह औषधोपचार नित्य प्रातः सायं यथा नियम करने से पूयज व्रणज जन्तु कर्ण तीन दिन में समूल नष्ट हो जाते हैं।

४. कान में पतङ्गा वा शतपदी घुस जाने पर रोगी को करवट से लिटाकर सुखोष्ण निम्ब तैल पीड़ित कान के विवर में भर देना चाहिए। इससे कर्ण में प्रविष्ट कृमि मर जाते हैं अथवा घबड़ा कर कर्ण के विवर के बाहर निकल आते हैं। प्रविष्ट कृमियों के मर जाने पर कर्ण शल्याकर्षक यन्त्र (Ear extracting forcep) से पकड़ कर और खींचकर बाहर निकाल लेना चाहिए। कर्ण शलाका से भी उन्हें निकाला जा सकता है।

५. तारपीन तैल और कर्पूर का मिश्रण कान को रुई से साफ करके, टपकाने से भी समस्त कर्ण जन्तु नष्ट हो जाते हैं।

६. कान को साफ कर आधुनिक जन्तु नाशक डी. डी. टी. पाउडर बुरकने से कर्ण के जन्तु नष्ट हो जाते हैं। प्रविष्ट जन्तु भी डी.डी.टी. पाउडर को कान में छोड़ने से मर जाते हैं या घबड़ा कर कर्ण विवर से बाहर निकल आते हैं।

७. आधुनिक कृमिनाशक औषधियां लारसोल, फिनाइल डेटाल आदि के जलीय घोल की कर्णविवर में पिचकारी लगाने से तथा चन्दन तैल तथा चालमोगरा आयल कान में डालने से भी कर्ण जन्तु शीघ्र नष्ट होते हैं।

उपर्युक्त समस्त प्रयोग मेरे द्वारा यथा प्रसंग, सरकारी औषधालयों में सफलतापूर्वक प्रयुक्त हो चुके हैं। अतः इनका सुखप्रद प्रभाव सुनिश्चित है।

— प्राणाचार्य श्री हर्षुल मिश्र आयु. प्रवीण
पैंशन बाड़ा, रायपुर (म०प्र०)

कर्णपाक एवं कर्णशोथ

श्री मदनलाल शर्मा आयुर्वेद रत्न

कर्णपाक

कान में सड़न क्लेद युक्त पाक होता है। यह पित्त के प्रकोप से होना माना गया है। कर्णपाक ऐसी अवस्था है जो अन्य रोगों में भी हो सकती है। इतना तो निश्चय ही है कि यह प्रायः शोथ के बाद उत्पन्न होने वाली अवस्था है। कर्णपाक की चिकित्सा पित्तजन्य विसर्प की चिकित्सा के समान होनी चाहिये।

१. लेप—कसेरू, सिंगाड़ा, कमल, कीचड़ को घृत में मिलाकर अतिशय शीतल करके वस्त्र में लगाकर लेप करें।

२. परिषेचन—बरगद आदि क्षीरी वृक्षों के स्वरस से। शीतल दूध से, शहद के जल से, ईख के रस से परिषेचन करें।

३. गोर्यादिघृत (सुश्रुतोक्त)—इस घृत से परिसेक करें।

आधुनिक चिकित्सा

हाइड्रोजन परौक्साइड की कुछ बूंदें कर्ण में डालकर रुई और तूली के द्वारा कर्ण को साफ करें। तत्पश्चात् लोकुला ३०% कर्ण में डालें। क्लोरोमाइसिटिन ईअर ड्राप्स भी व्यवहार में लाया जा सकता है। मुख द्वारा खाने के लिए सल्फाग्रुप की गोलियां दी जा सकती हैं। टैट्रासाइक्लिन कैपसूल तथा सूचीवेध भी दे सकते हैं। कर्णपाक रोग में स्ट्रैप्टो पैन्सलीन सूचीवेध भी व्यवहार किये जाते है। इससे शीघ्र लाभ होता है।

कर्णशोथ

कर्ण रोगों के वर्णन में चार प्रकार के कर्ण रोगों का वर्णन किया गया है—(१) वातज, (२) पित्तज, (३) कफज, (४) सन्निपातज। यहां कहा गया है कि शोथ कर्ण का आश्रय लेकर उत्पन्न होते हैं। परन्तु इसके लक्षण शोथ के समान होता है।

आधुनिक चिकित्सा ग्रन्थों में विस्तृत वर्णन कर्णशोथ के विषय में मिलते हैं। कानों के तीनों भागों में पाये जाने वाले शोथ की पृथक-२ उपलब्धि होती है—

(१) बाह्यकर्ण शोथ।
(२) मध्यकर्ण शोथ।
(३) अन्तःकर्ण शोथ।

इनमें से मध्यकर्ण शोथ बहुत प्रसिद्ध विकार है। आगे उसके विषय में लिखा जाता है।

मध्यकर्ण शोथ—कर्ण के अन्दर की श्लेष्मकला के शोथ युक्त हो जाने को मध्यकर्ण शोथ कहा जाता है। यह प्रायः उपसर्ग के द्वारा उत्पन्न होता है। उपसर्ग कान में पहुंचने के कई मार्ग हैं। उनमें कुछ नीचे लिखे जाते हैं जो कर्ण शोथ की उत्पत्ति करते हैं—

१. नासाग्रसनिका—यह स्थान मध्यकर्ण से सीधा जुड़ा हुआ है और मध्यकर्ण से सम्बन्ध रखता है। सम्बन्ध कराने वाले अङ्ग को हम श्रुति सुरङ्गा कहते हैं। नासाग्रसनिका शोथ युक्त हो जाये, कण्ठशालूक हो जावे, अर्बुद हो, उन सब हालतों में मध्यकर्ण शोथ हो जाता है। पानी में डुबकी लगाने से भी प्रायः श्रुति सुरङ्गा द्वारा जल मध्यकर्ण में प्रवेश कर जाता है और शोथ उत्पन्न करता है।

२. कण्ठशालूक—बच्चों में इस ग्रन्थि के विकार के कारण मध्यकर्ण शोथ होता है।

३. बाह्यकर्ण शोथ या अन्तःकर्ण शोथ भी मध्यकर्ण शोथ बन सकता है।

४. रक्तवाहिनियों के द्वारा भी मध्यकर्ण में उपसर्ग पहुँच कर मध्यकर्ण शोथ तीव्र रूप में प्रगट होता है।

५. प्रतिश्याय आदि के विकारों में भी कर्ण शोथ पाया जा सकता है।

तीव्र मध्य कर्ण शोथ में नीचे लिखे चिह्न और लक्षण होते हैं।

१. पीड़ा—पीड़ा तीव्र होती है और वह कान तक ही सीमित होती है। जितना अधिक तरल पदार्थ निकलेगा उससे अधिक मध्यकर्ण में तनाव होगा।

२. शब्द—कर्णशूल के साथ-साथ कर्ण में कई प्रकार की आवाजें भी आती हैं। रोगी कभी-कभी अनुभव करता है कि उसके कान में प्रतिध्वनि हो रही है।

३. बधिरता—जब अधिक स्राव हो उस हालत में बहरापन भी होता है परन्तु कम स्राव से बहरापन नहीं होता। बहरापन होना इस रोग के तीव्र होने का लक्षण है। स्राव के बढ़ जाने से पटल में छिद्र हो जाने से स्राव बाहर आता है।

४. कभी-कभी चक्कर आना—कभी-कभी चक्कर भी आने लगते है, जबकि मध्यकर्ण शोथ का प्रभाव अन्तःकर्ण पर भी होने लगे।

५. सार्वदैहिक लक्षणों में मध्यकर्ण शोथ में ज्वर, नाड़ी की गति तीव्र, प्रतिश्याय, अग्निमांद्य, आलस्य आदि लक्षण होते है।

इन लक्षणों और चिह्नों को देखकर निदान करने में सरलता होती है। फिर भी परीक्षा करना आवश्यक है। पहले कर्ण पटल का निरीक्षण करना चाहिये। इस हालत मे कर्ण पटल की चमक नष्ट हो जाती है। प्रायः शोथ में इसका रंग भूरे के स्थान पर गहरा लाल हो जाता है। यदि स्राव अन्दर अधिक इकट्ठा हो जावे तो कर्ण पटल ऊपर को उभरा हुआ दिखाई देता है। पाक की अवस्था मे हम पाते है कि वह लाल रंग के स्थान पर पीला हो गया है।

मध्यकर्ण शोथ की परीक्षा इसके विशेषज्ञ (Turoning Fork Test) के नियम से करते हैं। कान के पीछे की हड्डी को दबाकर देखा जाता है। वह स्थान छूने से स्पर्श असाह्य हो जावे तो रोग का निश्चय समझना चाहिये। शोथ के बढ़ जाने पर यदि कर्णपटल मे छिद्र हो जावे और कान से स्राव होने लगे तो रोग का निश्चय हो जाता है। ऐसी अवस्था में उस स्राव को रुई से साफ करके परीक्षा की जाये तो ध्यान से देखने से छिद्र दिखाई दे जाता है। मध्यकर्ण शोथ में लक्षणों के मुताबिक चिकित्सा कार्य करना चाहिये। कर्णपटल में छिद्र न हुआ हो तो शूल को नाश करने वाली औषधियां देनी चाहिये। रुई से कान को साफ करके बिल्वादि तैल, क्षार तैल आदि का प्रयोग करें और मुख द्वारा शूलहर गुटिका दें।

आधुनिक चिकित्सक कार्बोलिक ग्लिसरीन की बूंदें कान में डालते हैं और एस्प्रिन, कोडीन का मुख द्वारा प्रयोग कराते हैं। उस हालत में गले द्वारा वाष्प ग्रहण करना अथवा नासिका द्वारा एफेड्रिन ड्राप का प्रयोग किया जाता है। इससे श्रुति सुरंगा का संकोच दूर हो जाता है और वहां का प्रवाह ठीक प्रकार चालू हो जाता है। स्वेदन से भी इस अवस्था में लाभ होता है। रोगी को पूर्ण
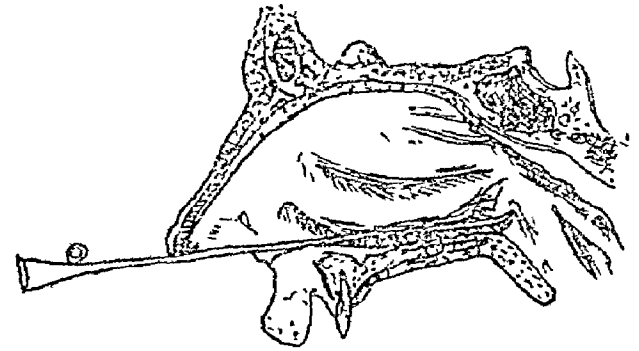
नासिका द्वारा कर्ण रोगोपयोगी द्रव औषधि के प्रयोग की विधि

विश्राम देना चाहिये। आजकल सल्फा ग्रुप की औषधियां एवं पेन्सिलिन् होने से इनके द्वारा शीघ्र सफलता प्राप्त की जाती है। जब मध्यकर्ण शोथ में अत्यधिक शूल हो, मध्य कर्ण से पूय सचय से ज्वर आदि लक्षण बढ़ जावें और स्राव के बढ़ जाने से श्रवण कार्य में कठिनाई होवे तब शस्त्रकर्म करना आवश्यक हो जाता है। इससे तीव्र उपद्रवों की शान्ति हो जाती है। शस्त्रकर्म में कर्णपटल का भेदन किया जाता है जो संज्ञाहरण सूचीवेध देकर विशेषज्ञ द्वारा ही किया जाना चाहिये।

मध्यकर्ण शोथ की दूसरी अवस्था मे जबकि कर्णपटल मे स्वयं छिद्र हो जावे इसकी चिकित्सा निम्नलिखित प्रकार से की जाती है—

—शेषांश पृष्ठ २७६ पर देखें

पूतिकर्ण

श्री वैद्य वेदप्रकाश गुप्ता

पूयं स्रवति पूति वा स ज्ञेयः पूतिकर्णकः ।

—माधव निदान

कान में दुर्गन्धियुक्त पूय का स्राव वेदना युक्त या वेदना रहित होना ही पूति कर्ण के लक्षण हैं ।

स्रोतः स्थिते श्लेष्मणि पित्तर्तेजसा विलीयमाने भृशसप्रतापिते अवेदनो वाऽथ सवेदनो वा घनं स्रवेतपूति च पूतिकर्णः । —सुश्रुत उत्तर तन्त्र संख्या २०

पूतिमान कर्णः पूतिकर्णः

वेदना या बिना वेदना घना दुर्गन्ध युक्त स्राव कान से निकलने को पूतिकर्ण कहते हैं । यह स्राव कान के स्रोत में श्लेष्मा के पित्त के तेज से विलीन होने से पैदा होता है ।

स्थान—बाह्य कर्ण में फोड़ा, फुन्सी हो जाने से औषधोपचार से ठीक हो जाती है । उसके श्रुतिपथ में कर्ण में पूय और अंतस्थ कर्ण के मध्य भाग में रोग का स्थान है ।

मध्य कर्ण छोटी सी कोठरी शंखास्थि के भीतर है । अन्तस्थ कर्ण का भाग यहीं से आरम्भ होता है जिस में दो छिद्र एक अण्डाकर और दूसरा गोल होता है । अन्य दोनों दीवारें छत और तल शंखास्थि की बनी हुई होती हैं । तीन छोटी २ अस्थियां मुदगरक, अंकुशक, धरणक (Hammer, Anvilstirrnp) हैं जो क्रम से एक दूसरे से संयुक्त रहती है ।

रोग का कारण—अभिघात शंख प्रदेश पर, बाह्य वस्तु का कान में जाकर व्रण करना यथा कृमि ।

पूर्वरूप—कर्ण या नासा द्वारा अभिघात होने पर रक्तस्राव ।

रूप—पूतिकर्ण (Purulent) ।

मध्य कर्ण की श्लेष्मकला में व्रण हो जाने के पश्चात वहां पूय पड़ जाती है । श्लेष्मकला का क्षत होने से गाढ़ा दुर्गन्धयुक्त श्लैष्मिक स्राव होता है । कोई भी पास खड़ा व्यक्तिहो उसे भी दुर्गन्धि अनुभव होती है ।

चिकित्सा —

मुझे आई हस्पिटल एवं काय चिकित्सालयों में पूति कर्ण के रोगियों की गाथा सुनने और चिकित्सा करने में बड़ा आनन्द प्राप्त होता था । एक रुग्णा की सफल चिकित्सा में पूति कर्ण के रोगियों को आशा की किरण प्राप्त हुई उस का विवरण चिकित्सा सहित लिख रहा हूं ।

रुग्णा का नाम शशि उम्र २२ वर्ष जाति अग्रवाल । देह कृश जन्म स्थान लाहौर, पंजाब । शिशु काल से परिचित । अब नई दिल्ली में सरकारी कार्यालय में सेवारत है ।

लगभग ३ मास की उम्र में शिशु जम्मू कश्मीर के कुछ स्वास्थ्यवर्द्धक स्थान पर माता पिता के साथ थी । एक दिन अकस्मात दिन के समय रोना आरम्भ कर दिया । बहुत प्रयत्न करने पर भी चुप नहीं हो रही थी । उसके पिता श्री गुज्जरमल जी अग्रवाल उसे कैम्प से बाहर बहलाने के लिये ले गये । शिशु किसी भी प्रकार चुप नहीं हो रहा था उन्हें क्रोध आ गया । क्रोध में ही शिशुः के गालपर थप्पड़ मार दिया । बच्चा और अधिक रोने लगा । तब निर्दयी पिता ने उसे कैम्प में लाकर भूमि पर पटक दिया । बालक दायें भाग से गिरने पर शंख प्रदेश पर आघात पहुंचा । कान से रक्त बहने लगा जो कान में

रुई डालने से रुक गया। कर्ण पीड़ा के कारण शिशु: रोता था बारम्बार कान पर हाथ ले जाता था, दायें बाजू गोद में सुलाने पर कुछ चुप रहता था। एक सप्ताह के पश्चात कान से पतला पतला स्राव शुरू हुआ। रुई से साफ करते रहे।

ग्रीष्म ऋतु समाप्त होने पर लाहौर वापस आये। आधुनिक चिकित्सकों ने हाईड्रोजन पैरवसाईड डाला तो अन्दर से जमा हुआ रक्त तथा स्राव निकला। कान साफ करके मर्क्यूरेक्रोम ड्राप डालते रहे। भिन्न-भिन्न चिकित्सालयों में २२ वर्ष तक निरन्तर चिकित्सा होती रही। स्थिति-कर्ण में से रुई हटाने पर दुर्गन्ध आने लगती। कृमिनाशक घोल के कारण कृमि तो पैदा नहीं हुए परन्तु कर्ण स्राव गाढ़ा, कभी पतला निरन्तर होता रहा। शरीर भी कृश रहा। बुद्धि भी साधारण रही। बी० ए० विश्वविद्यालय से कर लिया। बैंक में अस्थाई कार्य करने लगी। पास बैठी अन्य लड़कियों ने दुर्गन्ध आने की बात कह कर इरविन अस्पताल में ई०एन०टी० विभाग में दिखाने का परामर्श दिया।

इरविन अस्पताल में श्रुति पथ (Eustachian) नासाग्रसनिका (Nasopharynx) का परीक्षण, एक्स-रे तथा ट्यूनिंग फोर्क से किये। यह निश्चय किया कि मध्यकर्ण की तीनों अस्थियों को साफ करना होगा। साफ करने के लिए शङ्ख प्रदेश में शल्य क्रिया की गई। अस्थियाँ साफ की गईं। कुछ काल तक स्राव बन्द रहा, दुर्गन्ध बन्द हो गई। एक मास के भीतर ही पुनः स्राव एवं दुर्गन्ध आना आरम्भ हो गई। तब पैंसलीन के इन्जेक्शन लगाये गये। कोई लाभ नहीं हुआ। पुनः शल्य क्रिया की गई। इस बार अस्थियों को खुरचकर साफ किया। जब तक रोगी की पट्टी नहीं खुली तब तक तो वेदना नहीं थी। पट्टी खुलने के पश्चात् थोड़ी-२ वेदना रहने लगी। सन्तुलन भी शरीर का शिथिल हो गया जिसके कारण छत पर से गिर पड़ी, ओठ फट गये। इरविन अस्पताल में ओष्ठों की स्टिचिंग हुई। उसके बाद उसे कर्ण शल्य विभाग में निरीक्षण किया गया तो एक अस्थि गल रही थी। उसे निकाल कर दूसरी अस्थि डाली गई। वेदना बन्द हो गई, स्राव होता रहा।

एक दिन जीवन से निराश होकर आयुर्वेद की चिकित्सा कराने पर राजी हुई। रोगी का पूरा वृत्तान्त तो मैं जानता ही था।

चिकित्सा—

सुश्रुत उत्तर तन्त्र में निर्गुण्डी स्वरस और सर्षप तैल का वर्णन आया है। हिमाचल प्रदेश कांगड़ा के पुराने वैद्यों एवं पारिवारिक योग निर्गुण्डी त्वक के स्वरस में स्फटिका घोलकर उसे कर्ण में डालते जाते हैं कान भर देते हैं। जब कान में स्वरस कुछ कम होता है तो और डालते हैं। पूर्ण हो जाने पर दश मिनट के पश्चात् उसे उलटा करवा कर निकाल देते हैं। इससे तमाम जमा हुआ पूय एवं अन्य विकार दूर हो जाते हैं।

क्योंकि – निघण्टु (भावप्रकाश) में-

स्फटिका कषाय–उष्ण त्रिदोषज (वात, पित्त, कफ) व्रण को दूर करने वाला और संकोचक गुण है। विशेष गुण–लेखनी, रुधिर स्राव रोधन, व्रणहरिणी हैं। आधुनिक विज्ञान में संकोचक एवं रक्तस्राव रोधक गुण हैं।

निर्गुण्डी स्वरस—व्रण रोपण, शोथ, कृमि, कुष्ठ, जन्तुहर हैं।

सर्षप तैल–लेखन, कर्णरोग, कण्डु, कुष्ठ, कृमि नाशक।

परीक्षित योग—

निर्गुण्डी पत्र स्वरस लेकर उसमें स्फटिका जितना हल हो सके करते हैं। फिर उस स्वरस में दुगना सर्षप तैल मिला दें। अग्नि पर जल सुखा दें। तैल शेष रह जाने पर प्रयोग करें।

यह तैल लेखन, शोधन, कृमिघ्न, शोथहर-व्रण रोपक है।

प्रयोग विधि—थोड़ा सा तैल थोड़ा गरम कोसाकर कान में डालें जिससे कर्ण पूर्ण रूप से भर जाये। रोगी लेटा रहे। जब तैल कम होता दिखाई दे तो और डाल दें, लेटा रहने दें। कुछ काल के पश्चात् लगभग ५ से १० मिनट के पश्चात् उसे उलट दें। कान में से सारा स्राव जो जम गया होता है निकल जायेगा। आरम्भ में दो बार करें जब तक पूय (मवाद) स्राव होता है। उसके पश्चात् एक बार रात्रि को ही करें। श्रुति पथ–मध्यकर्ण के रोग फोड़ा फुंसी शोथ में भी उपयोगी है।

कर्ण रोगों में उदर में आम अधिक रहती है। भोजन पाक भली प्रकार से नहीं होता। ऐसी अवस्था में अवस्था एवं आवश्यकतानुसार औषध व्यवस्था अवश्य करनी चाहिये। इसी नियम के अनुसार रुग्णा को अस्थि रोपणार्थ रक्त न्यूनता, रक्त शोधनार्थ प्रवाल पंचामृत २ रत्ती, मण्डूर भस्म २ रत्ती, मृगश्रृङ्ग भस्म १ रत्ती एकत्रकर मधु से प्रातः ८ बजे, सायं ६ बजे।

गन्धक रसायन—एक गोली (या ४ रत्ती) दोपहर भोजन के दो घण्टा पश्चात् २-३ बजे दूध से।

खदिरारिष्ट—एक तोला बराबर जल मिलाकर दोनों समय भोजन के पश्चात्।

विशेष—प्राणिज एवं खनिज द्रव्यांक में प्रवाल प्राणिज सुधा है। इनमें कैल्शियम कार्बोनेट, कैल्शियम आक्साइड, मैग्नीशियम आक्साइड, कैल्शियम फास्फेट, एल्यूमीनियम आक्साइड पाये जाते हैं।

कर्ण रोगी को गन्धक रसायन और मृगश्रृङ्ग दो औषधियां देना लाभप्रद है।

विशेष—सीमा प्रान्त पेशावर और लण्डी कोटल मध्य भाग में ऊँट का मूत्र कान में डालते हैं।

—श्री वैद्य वेदप्रकाश गुप्ता
आयुर्वेद विद्यापीठ महाविद्यालय
६—ई, कृष्णनगर, दिल्ली—११००५१
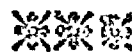
कर्ण पाक एवं कर्ण शोथ : : पृष्ठ २७३ का शेषांश

१. स्राव अथवा पूय की सफाई।
२. स्राव को सुखाना।
३. शूलनाश।

स्राव की सफाई के लिए हाइड्रोजन पेरावसाइड की बूंदें कान में डाल कर शुष्क रुई द्वारा कान साफ किया जाता है। कान को शुष्क करने के लिए 'वोरिक एसिड स्प्रिट' का प्रयोग किया जाता है। सल्फा की औषधियां पेन्सिलीन अथवा अन्य एन्टीबायोटिक्स का प्रयोग किया जाता है। कान में डालने के लिये क्लोरोमाइसिन ईयर ड्राप्स या टैरामाइसिन ईअर ड्राप्स, सिन्थोमायसेटिन। इन दवाईयों का मुख ही द्वारा (जो कैपसूलों में बन्द आती है) प्रयोग किया जाता है।

जीर्ण मध्य कर्ण शोथ

यह बढ़ी हुई अवस्था है जिसमें तीव्र शूल आदि न होकर स्राव हुआ करता है। स्राव ही इस रोग का प्रधान लक्षण है। ऐसी हालत में पतला गाढ़ा कैसा भी स्राव हो सकता है। इसे हम 'कर्ण स्राव' कह सकते हैं। इसी हालत में जब बदबूदार स्राव होता है तो उसे 'पूतिकर्ण' कहते हैं। ऐसी हालत में बहरापन भी पाया जाता है। किसी-किसी को ज्वर आदि भी हो सकता है।

रोग की परीक्षा में यदि अवस्था का ज्ञान हो जावे, इस बात का ज्ञान हो जावे कि व्याधि बहुत गहरी अवस्थित नहीं है तो नीचे लिखे अनुसार चिकित्सा करें—

१. कर्ण की पूर्णतः शुद्धता।
२. स्राव को शुष्क करना।

इसके लिए हाइड्रोजन परौक्साइड की कुछ बूंदें कान में डाल देवें। फिर कुछ उष्ण वोरिक लोशन लेकर पिचकारी से कान को धो देवें। कान को रुई से सुखा कर वोरो-स्प्रिट की बूंदें डालें। शुष्क औषधियाँ एन्टीबायोटिक्स के ड्राप भी प्रयोग किये गये हैं परन्तु यह जीर्णावस्था में फलप्रद नहीं पाये गये।

आयुर्वेदिक चिकित्सक हाइड्रोजन के स्थान पर समुद्र झाग का पाउडर कान में डाल कर निम्बू का रस कान में डालते हैं। इससे कान में उफान सा आ जाता है। तत्पश्चात् रुई की फुरेरी द्वारा कान साफ कर दिया जाता है और बाद में कर्ण में वराट (कौड़ी) भस्म डाली जाती है। इस प्रकार भी शीघ्र सफलता प्राप्त की जाती है।

—आयु. वारिधि श्री मदनलाल शर्मा आयु. रत्न
राजकीय आयुर्वेदिक औषधालय
खुरवाईन (उन्ना) हि.प्र.
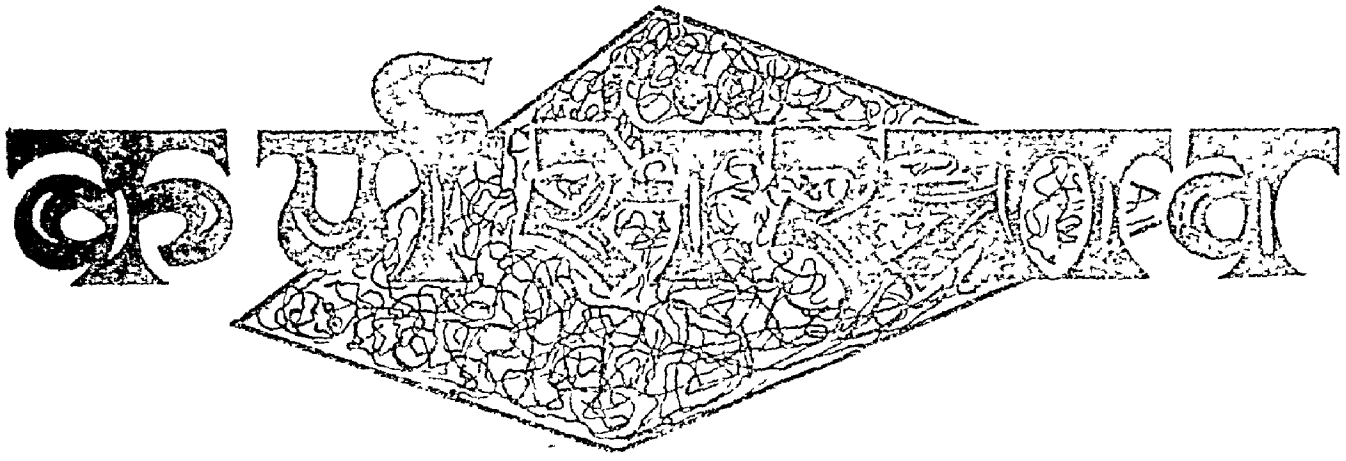
श्रीमती सावित्री शास्त्री आयुर्वेद रत्न, आयु० वाचस्पति

कर्ण रोगों में कर्णस्राव को कष्टदायक रोग माना है। इसी रोग की प्राचीन तथा नवीन आयुर्वेद चिकित्सकों ने विस्तृत व्याख्या की है। माधव निदान में इस रोग को "कर्ण संस्राव"[1] कहा है, सम्+स्राव नाम स्राव (कान बहने) के आधिक्य को प्रकट करता है।

नामकरण—शास्त्रीय संज्ञाओं में कर्ण स्राव या कर्ण संस्राव दो नाम प्राप्त होते हैं। लोक में कान बहना, सर बहना, कान से पानी या पीव बहना आदि रोग के स्वरूप को प्रकट करने वाले नामों से इस रोग को कहा जाता है।

निदान परिचय—शिर में चोट लगने से, कान में नदी या तालाब का पानी भरने से, कान में उत्पन्न विद्रधि फोड़ा-फुन्सी के फूटने से रक्त मिश्रित पीव, गाढ़ा या पतला लेसदार व पानी के रूप में बहने लगता है। इस प्रकार के स्राव को 'कर्ण संस्राव" कहते है। कान के खुजाने, तिनका, लकड़ी या धातु की सलाई से कुरेदने, अंगुली के नाखून लगने अथवा तीव्र औषधि के प्रयोग से कर्णगह्वर में घाव हो जाने से कान बहने लगता है। किसी रोगी को तर्पक श्लेष्म विकृति (नजला) से भी कर्णस्राव होने लगता है। यह स्राव पीला, श्वेत, जलाभ, चिकना, बदबूदार या निर्गंध, विभिन्न वर्णों में दोष विशेष की व्याप्ति से बहता है।

अन्य आयुर्वेद शास्त्रों में उल्लेख—योग रत्नाकर कार ने 'माधव निदान" के समान ही इस रोग का वर्णन करते हुये 'स कर्णजः स्राव इति प्रकीर्तितः" ऐसा शाब्दिक परिवर्तन कर दिया है, अर्थ की भिन्नता नहीं है।

आचार्य वाग्भट ने कर्णरोग विज्ञानीय अध्याय में इस रोग को विस्तार से वात, पित्त, कफ आदि दोषों के प्रकोप से बताया है। जुकाम[2] के बिगड़ने, कर्ण के खुजाने, जल क्रीड़ा, स्नान आदि करने से कर्णस्राव होने लगता है। यह स्वतन्त्र रोग न होकर उपद्रव या लक्षणों के रूप में प्रकट होता है। वात प्रकोप से अनेक उपद्रव होकर लसीकावत्[3] गाढ़ा व स्वल्प स्राव होता है। पित्त[4] विकार में कान से पीले रंग का पीव या पानी बहता है। इसमें पैत्तिक उपद्रव दाह, ज्वर, पाक, शोथ आदि उत्पन्न होते हैं। यह पूय जहां कहीं भी देह में लग जाता है वह स्थान पक जाता है।

---

[1] शिरोऽभिघातादथवा निमज्जतो जले प्रपाकादथवापि विद्रधेः।
सवेद्धि पूयं श्रवणोऽनिलार्दितः सकर्ण संस्राव इति प्रकीर्तितः॥ ——माधव निदान कर्ण रोग श्लोक ५

[2] प्रतिश्याय जलक्रीड़ा कर्ण कण्डूय नैर्मरुत्।
मिथ्यायोगेन शब्दस्य कुपितोऽन्यैश्च कोपनैः······॥ ——अष्टांग हृदय——उत्तर तंत्र, अध्याय १७

[3] चिराच्च पाकं पक्वं तु लसीकामल्पशः स्रवेत्॥ ——वाग्भट

[4] आशु पाकं प्रपक्वं च सपीत लसिका स्रुति।
सा लसीकास्पृशेद् यद् यद् तत्तत्पाकमुपैति च॥ — अष्टांग हृदय, उत्तर. अध्याय १७

कफ विकार से उत्पन्न कर्णस्राव कण्डूयुक्त[1] श्वेत गाढ़ा व मन्द शूलयुक्त होता है। ये सारे उपद्रव कर्णशूल और कर्णनाद रोगों में भी होते हैं।

महर्षि सुश्रुत ने कर्णस्राव रोग को "कर्ण संस्राव"[2] ही लिखा है। माधवकार ने अपनी पुस्तक में सुश्रुत के श्लोकों का ही संग्रह किया है। अतएव निदान में शब्दों का परिवर्तन मात्र किया गया है। चरक महर्षि ने कर्ण-स्राव के विषय में विस्तार से वर्णन नहीं किया है। चरक संहिता में क्षार तैल प्रकरण में कर्ण रोगों का उल्लेख करते हुए कान का स्राव[3] बाधिर्य आदि रोगों का संक्षेप से नामोल्लेख किया है। इसी प्रकार प्राचीन आयुर्वेद शास्त्रों में कर्णस्राव का वर्णन मिलता है।

कर्ण संस्राव से हानि––

(क) कान बहने की उपेक्षा करने से शिरःशूल, सूर्यावर्त, अर्धावभेदक, बाधिर्य, मन्यास्तम्भ आदि अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। पूयाधिक्य से कान में कृमि भी उत्पन्न हो जाते हैं।

(ख) जब कर्णस्राव का रोगी कम सुनने लगता है अथवा नितान्त नहीं सुनता है तो इससे रोगी को बेचैनी होना स्वाभाविक है। चक्कर भी आने लगते हैं। उद्विग्नता हो जाती है। कभी-कभी शूलाधिक्य होने से ज्वरांश भी हो जाता है।

(ग) उपेक्षा से कर्णस्राव की प्रभव स्थली में स्थायी गम्भीर व्रण बन जाता है जो नाड़ी व्रण (नासूर) के रूप में अनवरत पूयस्राव करता रहता है। इससे वस्त्रों में, बिस्तर में एवं परिधानीय वस्त्रों में भी दुर्गन्ध आने लगती है। रोगी स्वयं अपने को हीन देखने लगता है।

(घ) नाड़ी व्रण अन्यत्र भी अपना मुख उत्पन्न कर लेता है और वहाँ से भी सर बहने लगती है।

(ङ) नाजानकार लोगों के द्वारा कर्णस्राव की गलत चिकित्सा होने पर बहुत से उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं और रोगी संकटमय स्थिति से संघर्ष करता रहता है, त्रुटिपूर्ण दवाओं के प्रयोग से व्रण ठीक न होकर पीव को रोक दिया जाता है जिससे पीव रक्त में मिश्रित होकर मस्तिष्क में पहुँच अनेक भयङ्कर उपद्रवों को पैदा कर देता है। विषैले पीव से मृत्यु की संभावना बनी रहती है।

कर्ण संस्राव की चिकित्सा

इस रोग की चिकित्सा विचारपूर्वक करनी चाहिए। दोष दूष्य की साधना से चिकित्सा रोगोन्मूलन में समर्थ होती है। यहाँ कुछ शास्त्रीय अनुभूत योगों के साथ अपने स्वतन्त्र अनुभूत योगों को भी लिखा जा रहा है—

१. क्षार तैल[4] को रोग ग्रस्त कान में प्रातः सायं रात्रि में १०-१२ बूंद डालना चाहिये। कर्णपूरण से पूर्व रुई से पूय को साफ करलें।

२. अतीस[5] कडुई, हिंगु, सौंफ, दालचीनी, सज्जीखार, कालीमिर्च इनको ३-३ माशे ले कुचल कर ७ तोले सर्षप तेल में शहद की कांजी डालकर पकावें। तेल शेष रहने पर रोग ग्रस्त कान में प्रयोग करें। इससे कर्णस्राव, कर्ण शूल, कर्णनाद आदि रोग नष्ट होते हैं।

३. (अ) कर्णस्राव[6] में शालवृक्ष की छाल व वन कपास का रस शहद मिलाकर कान में डालने से स्राव का अवरोध होता है।

---

[1] कण्डूः श्वयथुः रुग्णेच्छा पाकाद् श्वेतघना स्रुतिः।
करोति श्रवणे शूलम्···· ···· ··· ॥ —अष्टांग हृदय-उत्तर-अ० १७ श्लोक ६

[2] स्रवेत् पूयं श्रवणो अनिलाकृतः स कर्ण संस्राव इति प्रकीर्तितः॥ — सुश्रुत संहिता-उत्तर-तन्त्र अ० २० श्लोक १०

[3] बाधिर्यं कर्णनादश्च पूयस्रावश्च दारुणः।
कृमयः कर्णशूलं च पूरणादस्य नश्यति॥ — चरक संहिता चिकि० अ० २६ श्लोक २२७-२२८

[4] चरक संहिता—चिकि० अ. २६ श्लोक २२४ से २२७ तक।

[5] अष्टाङ्ग हृदय—उत्तर अ० १८ श्लोक २५

[6] सुश्रुत संहिता—उत्तर तंत्र—अ० २१ श्लोक ४२ से ५० तक।

(ब) लाक्षा, रसौत, राल, दूर्वा, सेहुण्ड, आम्र-जामुन के पत्तों का रस, काकड़ासींगी, शहद व मण्डूक पूर्णी इनको १-१ तोले तेल कडुआ १०० तोले में पकाकर शीतल होने पर कान में डालने से कर्णस्राव की विवृत्ति होती है।

(स) आम, कैथ, महुआ, धव, शाल इनकी छाल का रस कान में भरे। अथवा इस स्वरस में समभाग तेल पका कर कान में प्रातः व रात्रि में डालें।

(इ) स्त्री का दूध, रसौत, मधु मिलाकर कान में डालने से पुराना कान बहना तथा कर्णदुर्गन्धि, पूय, शूल नष्ट हो जाते हैं।

४. समुद्रफेन* का सूक्ष्म चूर्ण आस्रावयुक्त कान में डालने से कान बहना व्रण आदि को नष्ट करता है।

आयुर्वेद ग्रन्थों में महर्षियों एवं आचार्यों द्वारा शतशोऽनुभूत प्रयोगों का संग्रह है। उनको चिकित्सकों के दिग्दर्शन के उपयोगी जानकर यहां प्रस्तुत कर दिया है, इन शास्त्रीय योगों को दैनिक चिकित्सा कार्य में प्रयुक्त कर रोग निवारण करना श्रेयष्कर है।

स्वानुभूत प्रयोग—

(अ) नीम की पत्तियां और बकरी की सूखी मेंगनियों को पानी में पकाकर आस्रावी कान में वाष्प दें, पर्याप्त सेक प्रतिदिन करें। पुनः रुई से पोंछकर निर्गुण्डी तैल; क्षार तैल, सप्तगुण तैल या सैंधवादि तैल से कर्णपूर्ति करें। इससे अवश्य ही रोग निवृत्ति होती है। वाष्प देने का विशेष महत्व है।

(आ) समुद्रफेन १ तोले, लहसुन १ तोले, बकायन और नीम के पत्तों का स्वरस ५ तोले, सर्षप तेल ५ तोले मिला पकावें। तेल का मध्य पाक कर कर्ण पूरण करें। कुछ दिनों में अवश्य लाभ होता है।

(इ) राल, लाख, सूखा विरोजा और समुद्रफेन १-१ तोले, शुद्ध मधु २ तोले, कटु तैल २॥ छटांक, कांजी २॥ छटांक इनका खरपाक करके सिद्ध तेल को छान कर शीशी में सुरक्षित रक्खें। इसके प्रयोग से आस्राव नष्ट हो जाते हैं।

(ई) बाबूने का तेल या चोये का तेल किसी विश्वस्त दुकान से लेकर किसी एक की १०-१० बूंद कान में डालें। प्रतिदिन तीन बार डालते रहने से सैकड़ों रोगियों का आस्राव ठीक हो गया है।

(उ) कौड़ी की तीक्ष्ण भस्म १ तो., सुदर्शन के पत्तों का रस ५ तोले, आक के पीले पत्तों का रस ५ तोले, तिल का तेल ६॥ तोले इनको पकाकर जला लेवें। शेष तेल को १०-१० बूंद कान में दो बार डालने से आस्राव बन्द हो जाता है।

विशेष—कर्ण आस्राव की निवृत्ति के लिए जितने भी कान में डालने के प्रयोग हैं, वे सभी किसी सीमा तक लाभ अवश्य करते हैं परन्तु कर्ण संस्राव में नजला (श्लेष्म विकृति) प्रायः कारण बन जाता है अतएव उसकी शान्ति के लिए निम्न औषधों में से किसी एक या दो रसायनों का सेवन अवश्य करना चाहिए—

च्यवनप्राश रसायन, ब्राह्म रसायन, चित्रक हरीतकी, अगस्त्य हरीतकी, हरीतकी रसायन, त्रिफला रसायन, बादाम पाक या बादाम शहद का अवलेह १-१ तोला प्रातः एवं रात्रि में सेवन करना चाहिए। औषध की मात्रा अवस्थानुसार घटाई बढ़ाई जा सकती है।

पथ्यापथ्य—गेहूं, जौ साठी चावल, चना, मूंग, मसूर, अरहर, मोंठ आदि का सेवन करना हितावह है। लौकी, तोरई, परवल, करेला, सैंजना, मैंथी, बथुआ, टिण्डे शुद्ध घृत आदि पथ्य शाकों का प्रयोग करना चाहिए।

चावल, शीत व द्रव पदार्थो, लाल मिर्च आदि विदाही दूध, दही, तेल सभी खटाइयां। उड़द व रमास की दाल, ठण्डी वायु, स्नान, कान में चोट खुजाना आदि। अरबी, बैंगन, कटहल, आलू, रतालू आदि का साग। इन अपथ्यों का परित्याग करना चाहिए।

—श्रीमती सावित्री शास्त्री ज्ञानश्री, आयु. रत्न
इन्द्रभवन, सावित्री संस्थान
१/१३, पंचकुइयां मार्ग, आगरा—२

* योग रत्नाकर—कर्णरोग चिकित्सा—कर्णस्रावादि चिकित्सा—
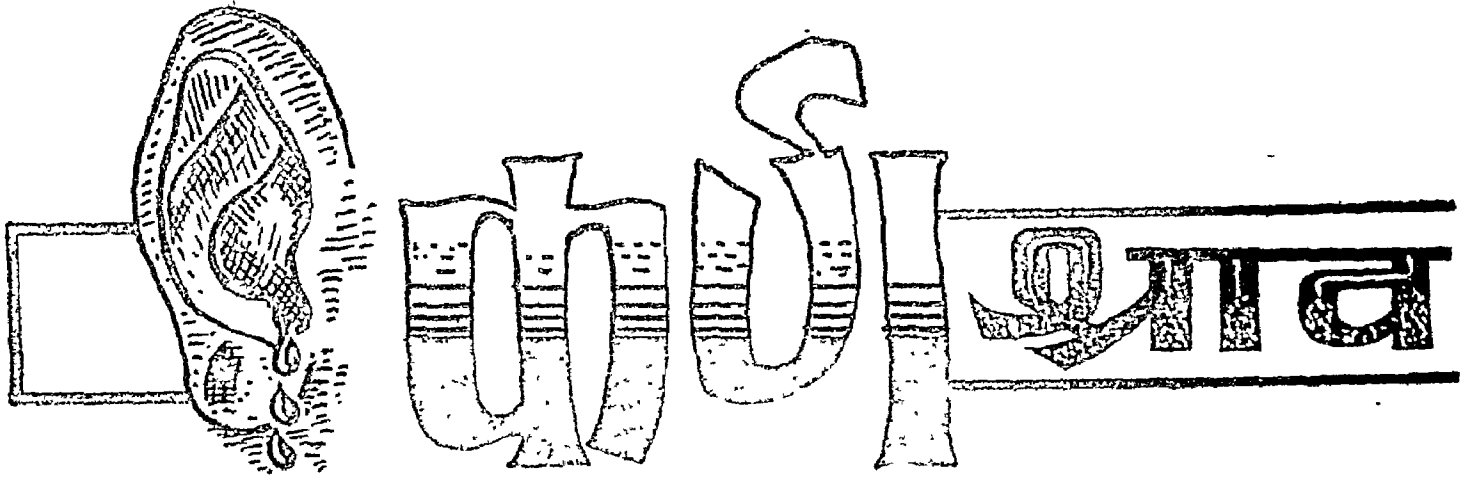
श्री ब्रजमोहन वशिष्ठ ए., एम. बी. एस., डी. एस सी. ए.
(आयु० वारिधि), रा. आ. चि., मन्नीवाली (श्रीगङ्गानगर)

शिरोभिघातादथवा निमज्जतो जले प्रपाकादथवाऽपि विद्रधेः।
स्रवेद्धि पूयं श्रवणोऽनिलार्दितः स कर्णसंस्राव इति प्रकीर्तितः।।
—सु० उ० २०

शिरोभिघात, जल निमज्जन अथवा विद्रधि पाक से वातजन्य शूलों सहित कान से पूयस्राव होने को कर्ण सस्राव नाम से पुकारते हैं।

यहाँ रक्त और जल का स्राव मानना उचित जान पड़ता है। पूय स्राव का कहना एक उपलक्षण ही मानना चाहिए। क्योंकि केवल सिर में अभिघात होने और जल में डूबने से ही पूय का स्राव होना नहीं मान लेना चाहिये। शिरोभिघात एवं जल निमज्जन दोनों ही स्थितियों में क्रमशः रक्त एवं जल का स्राव ही होता है, पूय का स्राव नहीं। पूय का स्राव तभी सम्भव है जबकि उक्त दोनों अवस्थाओं (शिरोभिघात एवं जल निमज्जन) में कान में किसी प्रकार उपसर्ग होकर पूयकारक जीवाणु की उपस्थिति हो जाए। यह (पूयोत्पत्ति) प्रक्रिया बाद में कुछ कालान्तर पर ही हो सकती है साथ की साथ नहीं।

कफ एवं पित्त विकृति की अधिकता ही पूयस्राव एवं पाक मे पायी जाती है। किन्तु अधिक पूयस्राव होने से वात प्रकोप भी पाया जाता है। अतः वायु शूल का होना भी सम्भाव्य है। वास्तव में यह रोग जीर्ण रूप में ही पाया जाता है। हाँ इतना अवश्य है कि समय-समय पर लक्षणों एवं दोषों की स्थिति परिवर्तित होते रहने से स्राव का अधिक, कम अथवा बिलकुल न होना पाया जाता है। आजकल की वैद्यक में इस रोग को आटोरिया (Otorrhoea) नाम की संज्ञा दी जाती है।

चिकित्सा

आयुर्वेद में पूय स्राव हेतु कान को साफ करके जात्यादि तैल, पंचगुण तैल, लशुनादि तैल का पिचु धारण करने का विधान है। वैसे कर्ण पूरण कर ऊपर से शुद्धीकृत रुई का फाया रखना ही अधिक प्रचलित है। महामरिचादि तैल, बिल्व तैल, निम्ब तैल से कर्ण पूरण करना भी हितावह है।

विद्रधि जन्य पूय स्राव में शल्य कर्म करना ही उपयुक्त रहता है।

आधुनिकरीत्या कर्ण प्रक्षालन अथवा हाइड्रोजन पर आक्साइड से कान साफ कर एक्रिफ्लेविन, मरक्यूरोक्रोम, जोन्शियन वायोलेट अथवा क्लोरोमाइसिटीन लोशनों में से किसी का भी स्थिति के अनुसार कर्ण बिन्दु के रूप में प्रयोग करना चाहिए। किसी भी उपयुक्त लोशन से युक्त लम्बी गाज का प्रवेशीकरण भी किया जाता है।

खाने के लिये किसी भी एन्टीबायोटिक्स का प्रयोग किया जा सकता है। विद्रधिजन्य एवं जीर्ण कर्णस्राव में शल्यकर्म ही अभिप्रेत है।

—:o:—

डा० श्री धर्मपाल मित्तल ए०, एम० बी० एस०

मध्य कर्ण की श्लेष्मिक कला के प्रदाह को मध्य कर्ण शोथ कहते हैं।

मध्य कर्ण में प्रदाह के साधन— कर्ण नासिका नलिका (Eustachian tube) मध्य कर्ण में संक्रमण को पहुँचाने का सबसे मुख्य साधन है तथा इनका मुख्य कारण नाक एवं गले की बीमारियां होना है यथा गला पड़ जाना, टांसिलाइटिस, साइनुसाइटिस या एडीनाइड्स का बढ़ जाना। इस प्रकार नासा ग्रसनिका से संक्रमण कर्ण नासिका नलिका से होता हुआ मध्य कर्ण तक पहुँच जाता है। बहुधा रोगी ग्रीष्म काल या वर्षा काल में मिलते हैं। क्योंकि तैरते समय या डुबकी लगाते समय पानी नासिका तथा गले से संक्रमण को कान में पहुँचा देता देता है। इसी प्रकार पनडुब्बियों में कार्य करने वालों में दबाव के कारण भी यहीं से संक्रमण मध्य कर्ण तक पहुँच जाता है। यदि पानी में क्लोरीन की मात्रा अधिक हो तो उसके कारण भी यह बीमारी हो सकती है। नासिका के रोगों में पिचकारी करते समय या नासिका में (नकसीर फूटने पर) वत्ती चढ़ाने से अथवा नासार्बुद के कारण भी वहां से संक्रमण मध्य कर्ण में पहुँच सकता है। मस्तिष्कावरण शोथ (Meningitis) से भी यह संक्रमण मध्य कर्ण में पहुँच सकता है। यदि कान का पर्दा फटा हुआ हो तो बाह्य कर्ण से भी पूय मध्य कर्ण में पहुँच सकता है।

लक्षण—

१. शूल—यह तीव्र प्रकार का होता है जैसे कोई कान में बरछा मार रहा हो।

२. बाधिर्य—उस रोग की प्रारम्भिक अवस्था में बाधिर्य नहीं होता परन्तु ज्यों-ज्यों पूय अथवा द्रव मध्य कर्ण में एकत्रित होता जाता है बाधिर्य बढ़ता जाता है।

३. कर्णनाद— इस रोग में कई बार बिना शूल के भी कानों में आवाजें आती रहती हैं।

४. गुंबद पड़ना—रोगी ऐसे अनुभव करता है जैसे वह किसी बड़े ढोल में अथवा मकबरे में बोल रहा हो। तथा उसकी आवाज गूंज रही हो।

५. चक्कर

६. ज्वर

७. नाड़ी गति तीव्र हो जाती है।

८. जिह्वा शुष्क तथा मलावृत हो जाती है।

निदान (Diagnosis)—

१. कर्ण के परदे को देखकर इस रोग की पहचान हो सकती है। यदि कर्ण में गूथ हो तो उसे भली प्रकार पहले धोकर साफकर लेना चाहिये जिससे परदा भली प्रकार दीख सके। परदा अधिक लाल दीखता है तथा उसकी चमक समाप्त हो जाती है तथा वह गहरे लाल रंग का दीखता है तथा वह द्रव के एकत्रित होने से उभर आता है। पर्दे के मध्य में एक बाल सा दीखने लगता है।

२. ट्यूनिंग फार्क टैस्ट (रिन का टैस्ट)— इस रोग की प्रथमावस्था में धनात्मक तथा उग्रावस्था में ऋणात्मक पाया जाता है। यदि रोग दोनों कानों में हो तो तो वेबर के परीक्षण (Weber's Test) की सहायता ली जाती है।

३. अस्थि में शूल—कर्ण के पीछे अस्थि में तीव्र शूल अनुभव होने लगता है (Mastoidism) जोकि बाद में

अस्थि में पूय पड़ जाने से (Mastoiditis) के लक्षण मिलते हैं।

बच्चों में मध्य कर्ण शोथ—बच्चे का निरन्तर रोना, विशेषकर रात्रि के समय चिल्लाना, हाथ का बार-बार सिर पर मलना, कान का मलना, तकिये पर सर को पटकना, मलना, इस रोग का द्योतक है। कर्ण का परदा फटने से
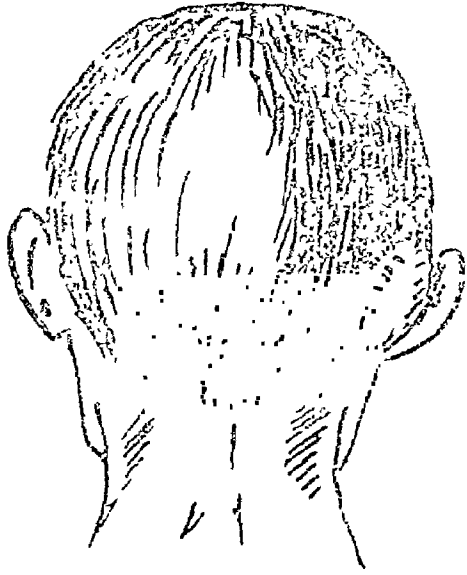
कान के पीछे की अस्थि में शोथ (Mastoiditis)

कर्ण से पूय निकलने पर यह शूल कम हो जाता है। पूय पीले रङ्ग की रक्त युक्त होती है तथा वह नाड़ी की गति के साथ-साथ बाहर आती है।

चिकित्सा—

सर्व प्रथम शूलहर कर्ण बिन्दु डालने चाहिये। सुदर्शन पत्र स्वरस (Aurinol Drops-Martin & Herris), Xylocaine Topical 4%, Otovin Drops (Everest Chemicals) इत्यादि कर्ण में डालने से तथा पीड़ाहर औषधियां (यथा नोवल्जिन टेबलेट) अथवा एपिडिन या सिबल्जिन कम्पोजिटम (सिबा) इत्यादि खाने को दें। रोगी को हवादार कमरे में गरम बिस्तर पर लिटा दें। पैन्सलीन अथवा सल्फा औषधियों का प्रयोग प्रथमावस्था में हितकारी होता है। परन्तु यदि पूय बन जाए तो कर्ण के परदे का छेदन आवश्यक होता है जिससे पूय बाहर निकल जावे। इस शल्यकर्म को Myringotomy या Paracentesis Tympani कहते हैं। यह शल्य कर्म निम्न अवस्थाओं में अनिवार्य होता है।

१. कान में तीव्र शूल का होना।

२. मध्यकर्ण में पूय एकत्रित होने से सुनाई कम पड़ने लगना।

३. मध्य कर्ण में पूय के कारण विषरक्तता (Pyaemia या Septicaemia) के लक्षण होना।

शल्य कर्म—इसके लिए सर्व प्रथम ऐसे प्रकाश का होना यथा Focussing Head light या operating otoscope का होना आवश्यक है। पैन्टोथल सोडियम का सिरागत सूचीवेध देकर अथवा सार्वदैहिक संज्ञाहरण दिया जा सकता है। यदि परदा फटने पर हो तो Blegvades Drops का प्रयोग कर स्थानिक संज्ञाहरण से भी कार्य चल सकता है। शल्य कर्म से पूर्व कान को मैल इत्यादि से भली प्रकार साफ कर लेना चाहिए। J के आकार का छेदन करना चाहिये तथा परदे के पीछे के भाग में यह ऊपरी एवं मध्य भाग के तिहाई भाग पर यह छेदन करना चाहिए। तब इस चीरे को सीधा नीचे लाकर मैल्स अस्थि के दस्ते के नीचे तक ले आना चाहिए। तब पूय को साफ कर उस छेद में बत्ती भर देनी चाहिये जोकि पूय एवं रक्त इत्यादि को खींच लेगी तथा कुछ घण्टों बाद उसे निकाल देना चाहिए। तत्पश्चात् हाइड्रोजन पर आक्साइड से कर्ण साफ करके प्रातः सायं कान में बोरोस्प्रिट डालें। १ ग्राम बोरिक एसिड १ औंस स्प्रिट में घोल कर यह बनाया जाता है।

जीर्ण मध्य कर्ण शोथ

तीव्र मध्य कर्ण शोथ ही ठीक न होने से जीर्ण रूप धारण कर लेता है।

लक्षण—१. कान का चिरकालीन बहना—यह स्राव पतला, पूय युक्त, गाढ़ा, दुर्गन्धयुक्त अथवा पनीर समान या मोम समान हो सकता है।

२. बाधिर्य।

३. भ्रम, चक्कर आना।

४. शिरःशूल

मध्य कर्ण शोथ के प्रकार—१. कर्ण नासा नलिका संक्रमण (Eustachian Infection)—इसमें प्रतिश्याय के साथ-साथ कर्ण से पतला स्राव जाता है।

२. प्रतिश्यायजन्य मध्य कर्ण शोथ—कर्ण के परदे में बड़ा छेद होता है तथा स्राव द्रवयुक्त होता है।

३. मैस्टोइड संक्रमण—इसमें पूय कर्ण के पिछले भाग से बहुत अधिक मात्रा में जाता है।

४. मध्यकर्ण पूयमयता (Attic suppuration)—इसमें पूय के साथ-साथ अंकुर (Granulations) भी बाहर निकलने लगते हैं जिससे कर्णार्श (Polypus) या Cholestoma बन जाता है।

चिकित्सा—

यदि कोई उपद्रव न हो तथा मध्य कर्ण में शोथ हो तो कर्ण में कुछ बूंद हाईड्रोजन की डालकर बोरिक एसिड उष्ण जल में घोलकर कर्ण को आहिस्ता से धोना चाहिए। तब इसे शुष्क करके बोरोस्प्रिट कान में डालनी चाहिये।

जैन्टीसन (Genticyn) ईअर ड्राप्स का प्रयोग कान में डालने के लिए करना चाहिये। खाने के लिये पैन्सलीन सल्फा औषधियां या ब्राड स्पैक्ट्रम एण्टीबायोटिक्स जिनमें डौक्सीसाइक्लिन सबसे अच्छी है इसका प्रयोग दिन में एक कैपसूल देना चाहिये। ग्रन्थों में इसके शर्बत का एक चम्मच दिन में एक बार देना चाहिये।

०.७५ प्रतिशत आयोडीन को बोरिक एसिड में मिश्रित करके कर्ण के अन्दर फूंकना चाहिए।

Zinc Ionization—कान को २% जिंक सल्फेट के घोल से भरा जाता है। यदि आवश्यकता पड़े तो इन्ट्राटिम्पेनिक सिरिंज द्वारा मध्यकर्ण गुहा के अन्दर यह भरते हैं। यह घोल धन पोल का काम करता रहता है। ऋण पोल को शरीर के किसी अन्य भाग पर लगा ५ मिली एम्पीयर की विद्युत ५ से १५ मिनट तक प्रवाहित करें।
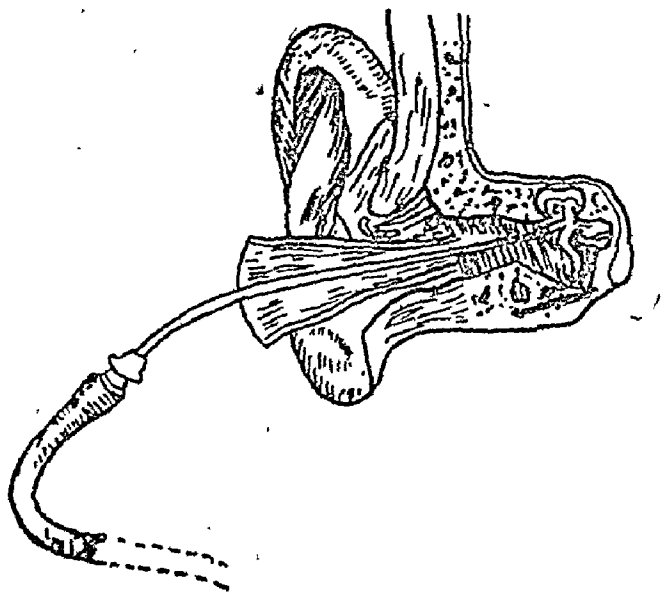
आटिक कैनूला द्वारा कर्ण प्रक्षालन

यदि अंकुर अथवा अर्श (Polyous) बन गया हो तो उनका काटना अत्यावश्यक होता है।

उपद्रव—

१. Mastoiditis–कर्ण के पीछे वाली अस्थि शोथ में
२ Peri Sinus Abscess.
३. Lateral Sinus Thrombosis.
४. Cavernous Sinus Thrombosis.
५. Labyrinthitis. ६. Extra Dural Abscess.
७. Middle Fosa Abscess.
८. Menirgitis (मस्तिष्कावरण शोथ)।
९. Otitic Septicaemia. १०. Perotitis.

आयुर्वेदिक चिकित्सा—

चिकित्सा सूत्र—चिकित्सा कर्ण शोथानां तथा कर्णार्शसामपि कर्णार्बुदानाम् कुर्वीत शोथार्शोर्बुदवत् भिषक्।
—यो० र०

कर्ण स्रावे पूतिकर्णे तथैव कृमिकर्णके।
समानं कर्म कुर्वीत योगान् वैशेषिकानपि॥
शिरो विरेचनं चैव धूपनं पूरणं तथा।
प्रमार्जनं धावनं च वीक्ष्य वीक्ष्यावचारयेत्॥
राजवृक्षादि तोयेन सुरसादि गणेन वा।
कर्ण प्रक्षालनं कुर्याच्चूर्णै रेतैस्तु पूरणम्॥
—सुश्रुत उत्तर तन्त्र

१. राल की छाल का चूर्ण तथा कपास के फल का रस मिलाकर कान में डालें। पूयस्राव शीघ्र ठीक होता है।

२. सरसों निम्ब, तथा प्याज से सिद्ध तैल कर्ण डालें।

३. आम, जामुन, महुआ, वट एवं चमेली पत्र स्वरस से सिद्ध तैल कर्ण पूय में अधिक लाभ करता है।

४. स्त्रीदुग्ध में रसांजन घिस शिशु के कर्णस्राव में डालें।

५. शम्बूक तथा कुष्ठादि तैल जीर्ण कर्णस्राव में डालें।

६. रास्नादि गुग्गुल २-२ गोली प्रातः सायं उष्ण जल से।

७. सारिवादि वटी २-२ गोली प्रातः सायं दें।

—डा० श्री धर्मपाल मित्तल ए., एम. बी. एस.
भू० पू० सदस्य-पंजाब आयुर्वेद यूनानी फैकल्टी
आयुर्वेद यूनानी बोर्ड पंजाब,
जगराओं (पंजाब)

यह एक ऐसी व्याधि है जिसमें मध्य कर्ण की अन्तर कला (Lining membrane) प्रदाहयुक्त हो जाती है। उसमें प्रस्राव होता है। कर्ण में वेदना होती है, बाधिर्य के भी लक्षण उपलक्षित होते हैं। कान में भौं भौं की आवाज आने लगती है। शोथ और पीड़ा की वजह से शिरशूल, शंख प्रदेश में पीड़ा, चक्कर आना आदि लक्षण भी रुग्ण शरीर में देखने को मिलते हैं। अन्ततः अन्तः तनाव व पूयोत्पत्ति होकर कर्णपटह कोषापजनन और अन्तस्तनाव के परिणामस्वरूप कर्णपटल में छिद्र होकर एकत्र दूषित द्रव बाहर निकल जाता है, तनाव भी नष्ट होकर ज्वर, शूल आदि तीव्र लक्षणों की शान्ति हो जाती हैं।

रोग स्थल—

रोग को जानने से पूर्व रोग की भूमि को जानना अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि क्रिया इस भूमि पर ही होती है। कान जिसे कि आंग्ल भाषा में 'ईयर' (Ear) और संस्कृत में 'कर्ण' या 'श्रोत' कहते हैं, जोकि श्रवणेन्द्रियं का अधिष्ठान होता है, विभाजन की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१. बाह्यकर्ण या एक्सटरनल ईयर (External Ear)

२. मध्यकर्ण या मिडिल ईयर (Middle Ear)

३. अन्तःकर्ण या इण्टरनल ईयर (Internal Ear)

इनमें बाह्यकर्ण बाहर से दिखाई पड़ने वाला, लोक में कान संज्ञा से पुकारा जाने वाला कान का बाहरी हिस्सा है। इसमें पार्श्व से मध्य को एक नलिका जाती दिखाई देती है, जिसका अन्तःद्वार एक पर्दे से बन्द दिखाई पड़ता है। इस पर्दे को कर्णपटह या ड्रम कहते हैं तथा इस नलिका को कर्ण कुहर या मिटस कहते हैं।

इस कर्णपटह से अन्दर की तरफ एक और कोष्ठ होता है जो श्लेष्मावरणावगुण्ठित अस्थिधातु से बना होता है। यही प्रदेश मध्यकर्ण कहलालाता है। इसमें अन्दर की ओर दो द्वार होते हैं जिसमें एक अन्तःकर्ण और मध्यकर्ण
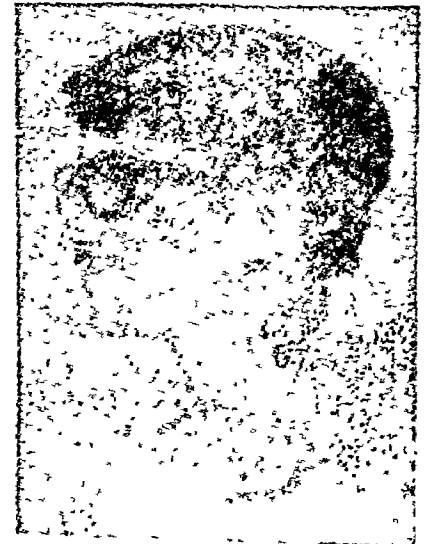
के बीच होता है तथा दूसरा द्वार एक नलिका के रूप में नासापश्चिम द्वार के पास गले में खुलता है। इस गल कर्णमेलक नलिका को पटह-पूरणिका या यूस्टेचियन ट्यूब कहते हैं। मध्यकर्ण में कर्णपटह से अन्तःकर्ण द्वार तक तीन

अस्थियां संचलनशील योजना (Liver-mechanism) से बंधी फैली रहती हैं। कर्णपटह के पास वाली अस्थि को मुद्गर या हेमर (Hammer), अन्तःकर्ण द्वार के पास वाली अस्थि को रकाब या स्टाइरप (Stirup) तथा इन दोनों के मध्यगत अस्थि को निहाई या एन्वाइल (Anvial) कहते हैं। ये अस्थियाँ ही कर्ण-पटहोत्पन्न शब्द तरंगों को अन्तःकर्ण तक पहुँचाती हैं।

मध्यकर्ण से अन्दर श्रवणेन्द्रिय का मुख्य अधिष्ठान बना जटिल आकार का अस्थिमय अन्तःकर्ण होता है जिसे रचना की जटिलता से घुमघुमैया या लेब्रान्थ (Labrynth) कहते हैं। मध्यकर्ण ही इस व्याधि की विकारस्थलि होने से अन्तःकर्ण का नाम निर्देश ही किया जाना उचित है।

मध्यकर्ण शोथ के प्रकार

मध्यकर्ण शोथ मुख्य रूप से दो प्रकार का होता है—

१. तीव्र या एक्यूट (Acute Otitis-media)

२. जीर्ण या क्रानिक (Chronic otitis-media)

तीव्र मध्यकर्ण प्रदाह

हेतुकी—मध्यकर्ण शोथ के कई कारण हैं जिनमें निम्न मुख्य हैं—

१. उपसर्ग—मध्यकर्ण प्रदाह का यह सबसे प्रमुख कारण है। समीपवर्ती अवयवों में रोगोत्पादक रोगाणु मध्यकर्ण तक पहुँच कर वहाँ प्रदाह उत्पन्न करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका पेश करते हैं। इन संक्रमणों में नासाग्रग्रसनिका की व्याधियाँ यथा नासाग्रसनिका प्रदाह तुण्डकेरी (Tonsilitis) प्रतिश्याय (Rhinitis vasmotor Acute chronic) श्लेष्मिक ज्वर (Inliuenza) मस्तिष्कावरण प्रदाह (meningitis) व अन्तःकर्ण प्रदाह आदि मुख्य हैं।

२. रासायनिक प्रक्षोभ (Chemical Irritation)—क्लोरीन इत्यादि भूयिष्ठ द्रवों का कर्णकुहर में पहुंचने से तज्जन्य प्रक्षोभ से मध्यकर्ण प्रदाह पैदा हो सकता है। ऐसा प्रायः सार्वजनिक स्नानागारों में स्नान करने से पाया जाता है।

३. नासारक्तपित्तीय निरोधन—नकसीर को रोकने के लिए नासा ग्रसनिका को चिकित्सकगण पूरित कर देते हैं। ऐसी स्थिति में योग्य वात सम्बन्ध (proper aeration) बन्द होकर मध्यकर्ण शोथ पैदा हो जाता है।

४. आघात (Trauma)—करोटि आधार के भग्न हो जाने, कर्ण पटह के फट जाने या एतादृश अन्य आघातों से मध्यकर्ण के लिए प्रत्यक्ष मार्ग बन जाता है जिससे दुष्ट वायु व रोगाणु मध्यकर्ण तक पहुंचकर प्रदाह पैदा कर देते हैं।

संक्रमण मार्ग—

मध्यकर्ण तक संक्रमण के मुख्य रूप से चार मार्ग हैं—

क. पटहपूरणिका या यूस्टेचियन ट्यूब

ख. रक्तवाहिनियां या ब्लड-स्ट्रीम

ग. अनुलोम मार्ग अर्थात् बाहर से सीधा अन्दर को

घ. प्रतिलोम मार्ग अर्थात् अन्दर से उल्टा मध्य कर्ण तक।

क. पटहपूरणिका—मध्यकर्ण शोथ के लिए यह मार्ग अपना विशेष सहयोग प्रदान करता है। बच्चों में तो प्रायः यह मार्ग ही मध्यकर्ण तक संक्रमण पहुँचाता है। क्योंकि शैशव में यह छोटा अनावृत मुख होता है। प्रायः इस मार्ग से समीपवर्ती अङ्गों का संक्रमण स्वतः पहुँचता है फिर भी इस संक्रमण को मध्यकर्ण तक पहुंचाने में कई परिस्थितियों की बाध्यता होती है। यथा—

१. जलनिमज्जन—पानी में अधिक देर तक तैरने से नासाग्रसनिका विकृति का विकृत द्रव प्रवृद्ध-मुख कुहरीय वायुदाब (Exposed air pressure) से मध्यकर्ण तक पहुँच जाता है।

२. पनडुब्बीय यात्रा—पनडुब्बी में यात्रा करने वालों को विष्णुपदामृताकार (oxygen-apparatus) साथ में लेकर चलना पड़ता है जिससे हर वक्त मुख कुहरीय वायुभार सामान्य से उच्च होता है। यह प्रवृद्ध वायुभार नासागल विकृतोत्पादक रोगाणुओं को पटहपूरणिका से मध्यकर्ण तक पहुँचा देता है।

३. नाड़ीयन्त्रायुक्ति योग (Unwise use of Syring)-नासा या नासाग्रसनिका प्रक्षालन के लिये पिचकारी का मिथ्या प्रयोग उपसर्गाणुओं को जबरन पटहपूरणिका से मध्य कर्ण तक पहुंचा देता है।

(ख) रक्तवाहिनी—रक्तवाहिनी मार्ग से भी फुफ्फुस प्रदाह (Pneumonia), आन्त्रिक ज्वर (Typhoid), हृदय

शोथ (Card'tis) या इसी प्रकार के इतर माला व गुच्छ गोलाणु (Strepto & stephylo-cocci) मध्यकर्ण तक पहुँचकर इस व्याधि को उत्पन्न करते पाये गये हैं। इस प्रकार के उपसर्ग को रक्तनिर्गारोपसर्ग (Blood-stream-Injection) कहते हैं।

(ग) अनुलोम मार्ग—अर्थात् वाह्य कर्ण की विद्रधि, करोटिमूल भग्न, कर्णपटह छिद्रण से उपसर्ग अनुलोम मार्ग से बाहर से अन्दर को पहुंचता है।

(घ) प्रतिलोम मार्ग—कई बार मस्तिष्कावरण प्रदाह (Meningitis), अन्त:कर्ण शोथ (Labrynthitis) आदि से उपसर्ग उल्टे मार्ग से मध्य कर्ण तक पहुँचता है।

विकृति शारीर (Pathology)—

रोगाणुओं के मध्य कर्ण तक पहुंचने व प्रपालन तथा रासायनिक क्षोभ इत्यादि की प्रतिक्रियास्वरूप मध्य-कर्णान्त: कला प्रदाहित हो जाती है। वहां रक्ताधिक्य होकर कला से लसिकास्राव होने लगता है, जिसमें प्रथम तन्त्वी (Fibrine) की मात्रा अधिक होने से वह स्राव अल्प व शुष्क प्रकृति का होता है। लेकिन धीरे-धीरे तन्त्वी की मात्रा घटती जाती है और लसिका पूर्ण पतला व अशुष्कप्रकृति का स्राव होने लगता है जिससे मध्यकर्ण कोष्ठ भरने लगता है। स्राव का संचय होने से मध्य कर्ण का आन्तरिक तनाव बढ़ने लगता है। फलत: रोगी को अत्यन्त पीड़ा होने लगती है। आंशिक और प्रायिक बाधिर्य के लक्षण भी उपलक्षित होने लगते हैं। रोगी को चक्कर आने लगते हैं। कान में भौं भौं की आवाज आती है रोगी चिकित्सा का परमेच्छुक हो जाता है। यदि इस समय पूयोत्पत्ति हो जावे तो ज्वर हो जाता है, स्थानीय कोशाप-जनन होने लगता है और अन्त:कर्णपटह पर पीताभ चुचुक बनकर कर्णपटह फट जाता है, संचित दूषित द्रव छिद्र से बाहर निकल आता है। रोगी के शूल ज्वर आदि तीव्र लक्षण शान्त हो जाते है, लेकिन तभी से कर्णस्राव हो जाता है। यदि फिर भी चिकित्सा न की जाये तो भविष्य में उपद्रवों की उत्पत्ति होकर रोगी सदा सदा के लिये श्रवण शक्ति से हाथ धो बैठता है।

लक्षण—

इस व्याधि में मुख्य रूप से दो प्रकार के लक्षण दिखाई देते हैं—

(अ) स्थानीय (Local)

(ब) सार्वदैहिक (General)

स्थानीय लक्षणों में प्राय: निम्न लक्षण देखे जाते हैं—

१. कर्णशूल—कान में प्रारम्भ में प्राय: मन्द पीड़ा होती है परन्तु ज्यों-ज्यों स्राव संचय बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे अन्त: तनाव बढ़कर पीड़ा भी तेज होने लगती है। ज्यों ही तनाव कम कर दिया जाता है पीड़ा कम हो जाती है।

२. बाधिर्य—स्रावातिसंचय से तनाव उत्तरोत्तर बढ़ता है, फलत: कर्णपटह व अस्थियों की क्रिया में कमी आकर बाधिर्य भी उत्तरोत्तर बढ़ने लगता है जो कि तनाव सामान्य कर ठीक किया जा सकता है।

३. कर्णनाद (Tinitis or noises in the ear)—तनाव वृद्धि से कान में भौं-सौं की आवाज आने लगती है।

४. प्रतिध्वनि (Vocal-resonance)—रोगी को ऐसा लगने लगता है मानो कोई उससे पीपे में बातें कर रहा हो।

५. भ्रम (Vertigo)—अन्त: कर्ण प्रदाह होकर रोगी को चक्कर भी आने लगते हैं।

सार्वदैहिक लक्षणों के रूप में ज्वर, तीव्र नाड़ी, जिह्वा विदार, शुष्क जिह्वा, अग्निमांद्य, अरोचक व प्रतिश्याय आदि देखे जाते हैं।

स्थानीय चिह्न—

कर्णवीक्षण यन्त्र से देखने पर कर्णपटह प्राकृत चमक से रहित गुलाबी भूरे (Greyish-pink) या भास्वर रक्त (Bright red) दिखाई देता है। यदि मध्य कर्ण कोष्ठ में स्रावातिसंचय हो तो पटह कला अपनी पश्चिम दीवाल की ओर उभरी दिखाई देती है जो बाद में दुहरी मध्यावनत ((Doubled-rollor Dimple) और लाल दिखाई देती है। यदि पूयोत्पत्ति हो गई हो तो लालिमा में पीलापन झलकने लगता है। पटह के उभार में पीताभ चूचुक दिखाई पड़ता है। जब कर्ण पटह फट जाता है तो कर्ण कुहर स्राव से भरा रहता है और अनवरत कर्णपटह छिद्र से स्राव निकलता रहता है।

उपशम—

इस व्याधि का उपशम तीन प्रकार से होता है—

१. स्वभावतः ही कर्ण पटह में बिना छिद्र हुए व्याधि ठीक हो जाती है। अथवा—

२. स्वतः छिद्र होकर व्याधि स्वयं ठीक हो जाती है। अथवा

३. पटह शल्य क्रिया (Myringotogmy) से कर्ण पटह में छिद्र बना कर औषधि प्रयोग से व्याधि का शमन हो जाता है।

उपद्रव—

इस व्याधि में उपद्रव रूपेण निम्न व्याधियां प्रादुर्भूत होती हैं—

१. तीव्र गोस्तन प्रदाह (एक्यूट मेस्टोइडाइटिस)।
२. अर्दित।
३. परिकोटर विद्रधि (पेरिसाइनस एब्सस)।
४. मस्तिष्कावरण प्रदाह (मेनिनजायटिस)।
५. मस्तिष्क विद्रधि (ब्रेन एब्सस)।
६. पार्श्वशिराकुल्याशोथ (लेटेरल साइनस थ्राम्बोसिस)
७. अश्मास्थि प्रदाह (पेट्रोसायटिस)।
८. कान्तारक शोथ (लेबिरिन्थाइटिस)।
९. बहिर्मस्तिष्क विद्रधि (एक्स्ट्रा ड्यूरल एब्सस)।

आयुर्वेदीय चिकित्सा

चिकित्सा कर्णशोथानां तथा कर्णार्शसामपि।
कर्णार्बुदानां कुर्वीत् शोथाशोर्बुदवद् भिषक्॥

कर्ण प्रदाह की चिकित्सा भी सामान्य व्रण शोथवत् ही होती है। आचार्य सुश्रुत ने कर्णस्राव, पूतिकर्ण और कृमिकर्ण तीनों की चिकित्सा का एक ही बड़ा सुन्दर क्रम प्रस्तुत किया है। चूंकि ये तीनों व्याधियाँ मध्य कर्ण प्रदाह में भी लक्षण रूपेण होती हैं। यदि यह क्रम यहाँ भी प्रयुक्त किया जावे पाश्चात्य चिकित्सावत् एक बहुत ही सुन्दर वैज्ञानिक आर्ष चिकित्सा का स्वरूप पैदा हो जाता है। उस क्रम के अनुसार निम्न उपक्रम किए जाते हैं जिनका नाम निर्देश मात्र किया जा रहा है—

१. शिरोविरेचन
२. धूपन
३. पूरण
४. प्रमार्जन
५. धावन
६. अवचूर्णन।
७. आभ्यन्तरीय औषध प्रयोग।

अधुनातन समय में वैद्यवृन्द मध्यकर्ण प्रदाह की दो प्रकार की चिकित्सा करते हैं—

१. सार्वदैहिक।
२. स्थानीय।

सार्वदैहिक चिकित्सा में औषध का आभ्यन्तर प्रयोग किया जाता है। शोथ पूय आदि व्रणशोथीय लक्षणों की शान्ति के लिये गुग्गुलु के योग यथा कांचनार गुग्गुलु, कैशोर गुग्गुलु; त्रिफला गुग्गुलु और रास्नाद्य गुग्गुलु आदि की दो-दो गुटिकायें दिन में तीन बार शिग्रु कषाय या जल के साथ दी जाती हैं।

यदि ज्वर भी हुआ तो प्रतापलंकेश्वर रस का द्राक्षारिष्ट, द्राक्षासव या दशमूल के साथ दिन में दो तीन बार प्रयोग किया जाता है। यह एक पेनिसीलिन के समान भूतघ्न योग, ए०टी०एस० के समान अच्छा एण्टीटिटेनस टोक्सिन और पीड़ा और ज्वर शामक योग है। अवश्य प्रयोग करें। निश्चित लाभ होता है। वेदना शमनार्थ शूलवज्रिणी वटी, महा वातविध्वंसन, अग्नि तुण्डी, अमर सुन्दरी वटी आदि वातघ्न योगों का दशमूल, रास्नासप्तक, रास्नादि वातहर क्वाथों के साथ प्रयोग करें।

स्थानीय चिकित्सा के रूप मे निम्न उपक्रम प्रयुक्त होते हैं—

१. प्रक्षालन (सिरिंजिंग)—कान की सफाई के लिये किंचिदुष्ण गोमूत्र उत्तम है। राजवृक्षादि व सुरसादि गण के क्वाथ या त्रिफला क्वाथ से प्रक्षालन भी उत्तम है।

२. पूरण—कान में पूरण प्रायः यथा लक्षण ही किया जाता है जब कान से स्राव हो रहा हो, पीड़ा और दाहादिक हो तो स्वर्जिकाक्षार डालकर ऊपर से नीबू का रस डाल दें। या स्त्री के दूध में रसौत पीसकर मधु मिलाकर कान में पूरित करें या चमेली के पत्तों के स्वरस में मधु मिला कर करें। यदि कान से पूय का स्राव हो रहा हो तो राल का चूर्ण कान में डालकर ऊपर से कपास स्वरस से कान का पूरण कर देवें। निश्चित रूपेण कुछ समय प्रयोग करने से कान से पूयस्राव बन्द हो जाता है। इसी प्रकार कान की सामान्य बाधाओं के लिये कुष्ठादि तेल, निशा तेल, शम्बुक तेल, कुम्भी तेल, बिल्वादि, जात्यादि तेलों से कान का पूरण करें।

३. अवचूर्णन—कान में स्फटिका चूर्ण, समुद्रफेन चूर्ण, लाक्षा रसांजन, व सर्जरस के चूर्ण का कान में अवचूर्णन कर्णस्राव में लाभप्रद है।

पाश्चात्य चिकित्सा—

सतत अनुसंधान में संलग्न आधुनिक चिकित्सा क्षेत्र ने इस क्षेत्र की कई औषधियाँ व शस्त्रकर्म का आविष्कार कर इस रोग की प्रचण्डता व उपद्रवशीलता पर विजय पाकर इसे शीघ्र साध्य बना दिया हैं—

अन्तः प्रयोग के लिये पाश्चात्य चिकित्सक यथोद्देश्य औषधियों का प्रयोग करते हैं। तीव्र वेदना के लिये शमन कि वेदनाहर औषधियों का प्रयोग किया करते हैं। कुछ वेदनाहर प्रसिद्ध औषधियाँ निम्न हैं।

१. गायगी कं० की इरगापायरीन सूचीवेध व गुटिका।
२. ग्लेक्सो कं० की कोडोपायरीन गुटिका।
३. रोश क० की सेरीडोन गुटिका।
४. जानवीथ की एनवाजेसिक गुटिका।
५. ह्वाइटहाल की एनासीन गुटिका।
६. मार्टिन हैरिस कं० की ए०पी०सी० गुटिका।

जीवाणुसूदन व शोथ शमन तथा पूय भवन को रोकने के लिये शुल्वा और मूतघ्न योग प्रयुक्त होते हैं। कुछ प्रमुख शुल्वा योग निम्न हैं—

१. एम एण्ड बी कं० का सल्फाट्रायड गोली व सस्पेन्शन।
२. मार्टिन हैरिस की सल्फामेराजीन गोली।
३. सीबा कं० का सीवाजोल।
४. सीवा कं० का ओरीसूल गोली।
५. वेयर कं० का सुपरोनाल गोली।
६. पार्क डेविस की मिडिकेल ड्राप्स व गोली।
७. लिडरले का लिडरकीन शर्वत व गोली।
८. डेज मेडिकल कं० की ट्रिपिल सल्फा गोली।

इसी प्रकार मूतघ्न योगों में पेनिसलीन के प्रयोगों व विस्तृत्त क्षेत्रीय मूतघ्न योग प्रयुक्त होते हैं। कुछ प्रमुख मूतघ्न योगों की नामावलि निम्न है—

१. एव्वोट कं० का एरीथिरोसीन कैपशूल व दावे।
२. डेज मैडिकल का एण्टेरोमायसीटिन कैपसूल, सूचीवेध व शर्वत।
३. लीडर्ले का एक्रोमायसीन ट्रोचेज, गोली, कैंपसूल, पाउडर व ड्रोप्स।
४. लीडरले का ही औरियोमायसीन कैपसूल, सूचीवेध, स्वांयड्स चूर्ण।
५. पार्क डेविस का क्लोरोमायसीटिन कैपशूल, सूचीवेध व ड्रोप्स।
६. कार्लोइर्वा का केमिसायक्लिन कैपसूल।
७. फाइजर कं० का टेरामायसीन सूचीवेध, कैंपसुल व ड्राप्स।
८. स्क्विव कं० का मायस्टेक्लिन वी कैपसूल।
९. डेज कं० का सुबामायसीन कैपसूल, शर्वत व ड्राप्स।

स्थानीय चिकित्सा के रूप में पाश्चात्य चिकित्सक वेदना की अवस्था में कर्ण कूहर में कार्वोग्लीसरीन ड्राप्स, सम्मोहक जायलोकिन, नोवोकेन आदि प्रोकीन हाइड्रोक्लोर के द्रवों तथा एन०वी०कं० के ओरीनोल इयर ड्रोप्स की दो तीन बूंद दिन में तीन चार बार डालने का निर्देश करते हैं। शोथ स्राव आदि व्रण शोथ लक्षणों की शान्ति के लिये मूतघ्न कर्ण बिन्दू प्रयोग करते हैं। आजकल कोर्टीसोन मूयिष्ठ योग भी प्रयुक्त होने लगे हैं। कुछ मूतघ्न व कोर्टीसोन युक्त मूतघ्न योग प्रस्तुत हैं—

१. फीजर कं० का टेराकोर्टिल इयर आयण्टमेण्ट
२. फीजर का ही टेरामायसीन आटिक सोल्यूशन
३. हैक्टस्ट की फ्रिम्बीसोन इयर आयण्टमेण्ट
४. लीडरले का एक्रोमायसीन इयर सोल्यूशन
५. कार्लो इर्वा का केमीसेटीन आटोजोलिक सोल्यूशन
६. पार्क डेविस का क्लोरोमायसीटीन इयर ड्रोप्स
७. ग्लेक्सो का एफकोलिन नियोमायसीन इयर ड्रोप्स

इन मूतघ्न स्थानीय योग्य प्रयोग के साथ कान पर सूखा स्वेदन भी दिया जाता है। जब इन उपायों से रोग की शान्ति न होकर लक्षण तीव्र हो जाते हैं तब एकमात्र चिकित्सा कर्ण पटलभेदन अर्थात् मीरीन्जोटोमी (Myringotomy) नामक शस्त्रकर्म ही एकमात्र चिकित्सा रह जाती है।

पटल भेदन शस्त्रकर्म अर्थात् मीरीन्जोटोमी (Myringotomy)

कान का प्रक्षालन कर उसमें ब्लेगवाद (Blegvad) की बिन्दुयें डाल पटल का स्थानीय सम्मोहन करलें। फिर

स्प्रिट से कान की पुनः सफाई कर कर्णवीक्षण यंत्र अर्थात इयर स्पेक्यूलम से देखते हुए कुशलतापूर्वक पटल के पश्चात भाग में ऊर्ध्व व मध्यांश को काटने वाली रेखा पर तीक्ष्ण वृद्धिपत्र से कुछ दूर तक अनुलम्ब (Verticle) भेदन करते हुए मुद्गरास्थि वृन्ताग्र के नीचे की ओर जे (J) का आकार बनाते हुये भेदन करें। भेदन के साथ ही निकलने वाले पूय रक्त लसिकादिक को कपास से साफ कर हाईड्रोजन पेरोक्साइड की कुछ बूंदें कर्णकुहर में डाल आधा मिनट बाद उससे उत्पन्न झाग से भरे कर्ण कुहर को पिचु से साफ कर लेवें। स्राव को सुखाने के लिए स्प्रिट में टंकणाम्ल मिला उसके कुछ दिन-दिन में तीन चार बार कान में डालते रहें। पूर्वोक्त अन्य भूतघ्न कर्णबिन्दु भी डाले जा सकते हैं। भूतघ्न योगों का आभ्यन्तर प्रयोग साथ में करते रहें।

एक गरीब योग—ज्योतिर्विद आचार्य श्री बल्लभ जी शास्त्री से एक दिन मैंने अनुरोध किया कि मैं कर्णस्राव व प्रदाह का सफल इलाज तो कर लेता हूँ लेकिन चिकित्सा महंगी बहुत पड़ती है। कोई सस्ता सा योग बतलाइये ताकि गरीबों की सेवा कर सकूं। वे हँसते हुए कह उठे—

कान की सब व्याधियों में सोचिये कुछ भी नहीं।
गुलहजारा रस तो ताजा डालदो बिल्कुल सही॥

बस शाम को ही एक पुराने कर्णस्राव के रोगी को निशंक होकर हजारा के फल का रस डालने का निर्देश दे दिया। ताज्जुब है कि केवल १५ दिन में उसका कान बहना बिल्कुल ठीक हो गया। अब भी मैं गरीब रोगियों को यह प्रयोग बतलाता हूं। सौ फीसदी फायदा होता है। आप भी आजमाकर देखिये। जब कान जोर से पूय के साथ बहता है तब हाईड्रोजन पर-आक्साइड या शंखद्राव से कान का शोधन कर थोड़ी कपर्द भस्म कान में अवधूलित कर उसके बाद इस रस का प्रयोग करना चाहिये।

जीर्ण मध्यकर्णशोथ अर्थात् क्रोनिक ओटाइटिस मिडिया

तीव्र मध्यकर्ण शोथ का जब पूर्ण उपशम नहीं होता तब वह जीर्ण रूप ले लेता है जिसमें कर्णस्राव मात्र लक्षण होता है या यों कहिये कि प्रायः कर्णस्राव का ही दूसरा नाम जीर्ण मध्यकर्ण शोथ है।

इसकी चिकित्सा में कर्ण शोधन व भूतघ्न योगों के स्थानीय बिन्दु पातन व आभ्यन्तर सेवन रूप में प्रयोग करना चाहिए। इसके अलावा एक विशिष्ट प्रकार की चिकित्सा का भी प्रयोग किया जाता है जिसे अण्डायन या आयोनाइजेशन कहते हैं। इसमें मध्यकर्ण में दो प्रतिशत जिंक सल्फेट का घोल भर देते हैं। फिर उसमें जिंक की ही शलाका रखकर विद्युत धारा प्रवाहित की जाती है। इससे यशदाणु मुक्त होकर जीवाणु के साथ सम्पर्क कर उनका नाश करते हैं। इसके लिए विशेष प्रकार का संयंत्र प्रयुक्त होता है। सामान्य चिकित्सक भी इसका प्रयोग कर सकता है। एतदर्थ जिंक की एक शलाका लें जिसका एक शिरा गण्डूपदमुखी शलाकावत् बनवा लें। उस शलाका को मध्यकर्ण में सूचीवेध से दो प्रतिशत जिंक सल्फेट विलयन भर उसमें छोड़ देवें। दो बैटरी के सैल लेवें, उन दोनों को एक जगह व्यवस्थित कर देवें। फिर एक तार बेटरी के ध्रुव अर्थात् पोजिटीव पोल पर लगा दूसरे सिरे से यशद शलाका के साथ सम्बन्ध कर देवें। इसी प्रकार दूसरा तार बैटरी के ध्रुव अर्थात् नेगेटीव पोल पर लगा उसका सम्बन्ध कर्णमूल की त्वचा से कर दें। इसका प्रयोग रोज ५ से १० मिनट तक करें। उत्तम है।

मेरी सफल चिकित्सा व्यवस्था—

१. कर्णरोगे सदा सर्पि....। इस सूत्र के अनुसार रोगी को खूब घी मिलाकर खिचड़ी खाने को देवें।

२. हाईड्रोजन पेरोक्साइड से कान साफ कर कपर्द भस्म थोड़ा सा कान में अवधूलित कर ऊपर से लिडले का एक्रोमायसीन इयर ड्रोप्स दिन में तीन बार ३-३ बूंद लम्बे समय तक डलवाते रहें।

३. पेनिसलीन के सूचीवेध व डेज मेडिकल कं० के एण्टेरोसाइक्लिन कैपसूल प्रति ६-६ घण्टों पर देते रहें।

४. दर्द को दूर करने के लिए जानवीथ की एक्वा-जेसिक गोली को दिन में तीन बार देते रहें।

—श्री डा० रमेश कुमार शास्त्री साहित्यायुर्वेदाचार्य
बी० ए० एम० एस०
श्री सदन, बेछवा (सीकर) राजस्थान

सतयुग का मानव सदा सत्य आचरण से सुखमय वायु मण्डल बनाकर आनन्द का अनुभव करने वाला मानव आज कलयुगी मानव कल पुर्जो द्वारा सभी प्रकार के साधन जुटाने में सफल हो रहा है एवं सुख शांति के लिए आज आचरण का कोई महत्व नहीं रहा।

वैज्ञानिकों ने इस यंत्रीकरण कार्यों का सूक्ष्म अध्ययन किया एवं वे शोर से उत्पन्न मूक बधिरता एवं मानसिक तनाव पर अध्ययन करते हुए आज इन्हें दूर करने को कृत संकल्प हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय मूकबधिर दिवस पर हमें विकासशील राष्ट्रों में एक प्रतिशत तक अंकित किये गए रोगावस्था किस प्रकार नष्ट करना है यह इस लेख में प्रस्तुत कर रहे हैं।

वेदपथ का प्रतीक मानव प्रतिदिन इन्द्रिय स्पर्श करता है। एवं "ओ३म श्रोत्रं श्रोत्रं" कह कर पवित्र जल द्वारा दोनों कानों का स्पर्श करके उन्हें चेष्टित करने का प्रयत्न करता है, अंग स्पर्श मंत्र का पाठ करते समय ईश्वर से कामना करता है कि परमेश्वर मैं सदा 'ॐ कर्णयोर्मेश्रोत्रमस्तु' इन दोनों कानों से सत्य व मंगलकारी वचनों को सुनता रहूं। ठीक इसी प्रकार सभी इन्द्रियों के साथ "ॐ वाक् वाक्' कहकर मुख का स्पर्श करता है, 'ॐ वाङ्म आस्येऽस्तु' मेरे मुख में बोलने की क्षमता सदा बनी रहे। सदा सत्य एवं मधुर वचन बोलता रहूं एवं व्रत धारण करता है कि—

"शतं ॐ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः" ॥यजुर्वेद॥

हे भगवान हम सदा सत्य एवं अहिंसा व्रत का पालन करते हुए सत्य आचरण करने के लिये सौ वर्ष पर्यन्त शास्त्रों को वा मंगल वचनों को सुनते रहें। हम सौ वर्ष पर्यन्त बोलते रहें। जीवन में कोई भी इस प्रकार का कार्य न करें जिससे इन इन्द्रियों में विकार का रोग उत्पन्न होवें एवं इनके कारणों का व्यापक अध्ययन किया गया। ताकि उनसे बचते हुए सदा स्वस्थ व निरोग बनकर रह सकें। इस प्रकार का प्रश्न सर्वप्रथम अग्निवेशादि शिष्यों ने आयुर्वेद शास्त्र का अध्ययन करते समय अपने गुरु पुनर्वसु आत्रेय से पूछा कि आर्य "कस्मात् प्रजां स्त्री विकृतां प्रसूते हीनाधिकाङ्गीं" किन कारणों से विकृत रूपवाली सन्तान हीन वा अधिक अंग वाली सन्तान, उत्पन्न होती है एवं महर्षि ने उत्तर दिया कि हे शिष्यो।

बीजात्म कर्माशय काल दोषैर्मातु स्तथाऽऽहार विहार दोषैः।
कुर्वन्ति दोषा विविधानी दुष्टा संस्थान वर्णेन्द्रिय वैकृतानि॥

१. बीज अर्थात् शुक्र दोष के कारण पिता के शरीर स्थित रोगों से दूषित शुक्र के कारण एवं शोणित माता के शरीरस्थ रोग एवं उनसे दूषित दोषों से उत्पन्न आर्तव के कारण इन दोनों में से अथवा दोनों विकारों से निर्मित गर्भ विकृत होता है व रोगग्रस्त जन्म से ही उत्पन्न होता है।

२. आत्मा के अपने कर्म—पूर्वजन्म के कृत कर्मों के कारण भी मूक बधिरतादि रोग जन्म से ही उत्पन्न होते हैं।

३. गर्भाशय स्थित रोग एवं दूषित करने वाले कारण—गर्भाशय स्थित रोगों एवं गर्भाशय के अन्दर प्रयोग की जाने वाली औषधियों के प्रभाव से भी विकृत सन्तान गूंगी-बहरी वा अन्य रोगग्रस्त उत्पन्न होती हैं।

४. काल का हीन योग—अतियोग, मिथ्या योग, प्रकृति का प्रभाव, विस्फोटक स्थिति, काल विपरीत अवस्था अर्थात् जब ग्रीष्म आदि ऋतुओं में ऋतु का अत्यधिक प्रभाव, या प्रभाव ही न होना, कभी अत्यधिक प्रभाव कभी न्यूनतम प्रभाव जैसे ग्रीष्म ऋतु में अत्यधिक तापमान बढ़ जावे, अत्यधिक घट जाये; कभी घट जाये कभी बढ़ जाये, गर्भवती स्त्री कभी अत्यधिक शीत उष्णादि प्रभाव को प्राप्त करती है तब गर्भस्थ शिशु पर नाना प्रकार के प्रभाव जन्य रोग होते हैं अर्थात् गूंगापन एवं बहिरापन लिये सन्तान भी उत्पन्न होती है।

५. माता का आहार विहार—माता के आहार बिहार का प्रत्यक्ष प्रभाव गर्भस्थित शिशु पर पड़ता है जैसा कि महर्षि ने स्पष्ट किया है कि "मधुर नित्या प्रेमहिनं मूकमति स्थूलं वा"—यद्याश्च यस्य-यस्य व्याधि-निदान मुक्तं तत्त दासेव मानाऽन्तर्वती हद्विकार बहुलम यत्वं जनपति ॥ माता जब मधुर रस को (दूध को छोड़कर शेष मधुर रस को) लगातार अधिक मात्रा में सेवन करती है तो वह स्त्री प्रमेही; गूंगी व अतिस्थूल संतान को उत्पन्न करती है एवं आचार्य ने यह भी स्पष्ट किया है कि गर्भ स्थिति पर स्त्री जिन-जिन रोगोत्पादक कारणों का सेवन करती है वे ही रोग उसकी सन्तान को जन्म से ही प्राप्त होते हैं। कई स्त्रियां इस प्रकार के कारण स्वयं प्रतिदिन निर्मित करती रहती हैं यथा गरम स्थान से एकदम ठंडे स्थान पर पहुंच जाना, स्नान कर लेना, ठंडे पदार्थों का प्रयोग करना, निवास करना आदि। भगवान धन्वन्तरि ने स्पष्ट करते हुये कहा है कि गर्भावस्था में गर्भ के अन्दर वायु का प्रकोप होने से अथवा गर्भणी स्त्री को गर्भ के प्रति श्रद्धा न होने पर, उपेक्षा भावना उत्पन्न होने पर कुबड़ी, विकृत हाथ वाली, लंगड़ी, गूंगी, बधिर, व अस्पष्ट बोलने वाली (मिमिन) सन्तान उत्पन्न होती है एवं कहा कि—

६. गर्भ विकृति कारण—माता पिता के नास्तिक होने पर, पूर्वकृत अशुभ कर्मों से, वातादि दोषों के प्रकोप के कारण गर्भ विकृत हो जाता है। जैसे स्त्री का ऋतु-काल के नियमों का पालन न करना; ऋतुकाल में गर्भ स्थिति के प्रयत्न, अपथ्य सेवन, व बहुत बोलने पर भी बधिर संतान उत्पन्न होती है।

७. मूक बधिर रोगों के सामान्य कारण—(१) वातादि दोष—जिस प्रकार शरीर स्थित वातादि दोष नाना प्रकार के शरीर रोगों को उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार वे कर्ण प्रणालियों को प्रभावित करके स्थान संश्रित होकर नाना प्रकार के कर्ण रोगों को उत्पन्न करते हैं। उस समय यथोचित चिकित्सा न करने पर प्रतिकारात्मक शक्ति के अभाव पर बढ़े हुए रोग बाधिर्य रोग को उत्पन्न कर देते हैं यथा—वायु कफ के साथ मिलकर अथवा अकेला ही शब्द वहन करने वाली नाड़ियों में फैलकर स्थिर हो जाता है। उस समय चिकित्सा न करने पर प्रतिकारात्मक शक्ति के अभाव पर बाधिर्य रोग उत्पन्न हो जाता है जैसा कि सुश्रुत में कहा है—

> स एव शब्दानुवहा यदा सिराः। कफानुयातो व्यनुसृत्य तिष्ठति। तदानरस्य प्रतिकार सेविनो भवेत् बाधिर्यम संशय खलु ॥

(२) उपेक्षित कर्णरोग बाधिर्यता के कारण—उपेक्षा किया हुआ कर्णनाद एवं कर्णक्ष्वेड धीरे-धीरे ऊंचा सुनना प्रारम्भ करके बाधिर्यता को उत्पन्न कर देते हैं। माधव निदानकार ने वात, कफ के साथ रक्त एवं पित्त को भी बाधिर्यता का कारण माना है अर्थात् कर्णशूल, शोथ, स्राव, पाक, कृमिरोगावस्था पर भी संक्रमणशील दूष्यांश प्रभाव-कर अन्तःस्रावी दोष आभ्यन्तर अन्तःकर्ण शोथ को उत्पन्न करके बाधिर्यता को उत्पन्न कर देते हैं।

(३) आमदोष का प्रभाव—शरीर में उत्पन्न आमदोष अपरिपक्वावस्था पर जब कर्ण प्रणाली को प्रभावित कर देते है तब रक्त द्वारा प्रणाली पोषण का अभाव उत्पन्न हो जाता है। एवं अवरोध के कारण बाधिर्यता उत्पन्न हो जाती है।

(४) पित्त की तीव्रावस्था—शरीर में बढ़ी हुई पित्त की तीव्रावस्था तीव्र ज्वरों पर प्रकोपावस्था का प्रभाव दूष्यांश एव उष्मा का प्रभाव कर्ण प्रणालियों पर पड़ने पर भी बाधिर्यता उत्पन्न हो जाती है।

८. आगन्तुक कारण—

(१) जल प्रवेश—बार-बार डुबकी लगाने पर या अधिक देर तक पानी में बने रहने पर, ऊंचाई से कूदने पर, व्याघातजन्य अवस्था पर कर्ण प्रणाली क्षत, संक्रमण वा पूर्व उत्पन्न हुए स्थानीय रोग अन्तर्मुखी होकर बाधिर्यता को उत्पन्न कर देता है।

(२) वायु का दवाव अधिक दवाव पर तीव्रगति से प्रविष्ठ जल-वायु से कान में प्रेषित करता है। एवं कान के पर्दे पर आघात कर अन्त: प्रविष्ट होकर बधिरता का कारण बन जाता है।

(३) प्रत्यक्ष आघात—बौक्सींग, लड़ाई झगड़े आदि में कान के प्रवेश द्वार पर पड़ने वाला सीधा प्रहार वायु की गति को अन्त: प्रेषित कर प्रणालीगत क्षति का कारण बनकर स्थायी बाधिर्यता उत्पन्न कर देता है साथ ही आघात से भी क्षति होती है।

९. कान में पदार्थों का प्रवेश—कान का मैल निकालते समय सलाई का प्रवेश अथवा अकारण तिनका, माचिस की तीली, पिन, शलाकादि का प्रविष्ट करना, अंगुली प्रविष्ट करना। इसमें क्षत कर्णपटल आघात जन्य तत्काल बधिरता एवं सामान्य क्षत, शोथ, पाक, पूयस्राव कृमि उत्पत्ति का कारण बनकर बाधिर्यता उत्पन्न कर देते हैं। ठीक इसी प्रकार शस्त्र का प्रवेश, शस्त्र कर्म पर शस्त्र का मिथ्या योग, कर्ण प्रक्षालन पर तीव्र गति से पानी का प्रवेश भी बाधिर्यता का कारण बन जाता है।

१०. अप्रत्यक्ष आघात—तीव्र विस्फोटक पदार्थों की आवाज तत्काल बाधिरता का कारण बनती है क्योंकि विस्फोट की आवाज तीव्रगति वायु रूप में कान में प्रविष्ट होती है एवं इससे कान का पर्दा फट जाता है एवं बाधिरता उत्पन्न हो जाती है।

११. शब्द का मिथ्यायोग—वाग्भट के मतानुसार भी ठीक इसी प्रकार लगातार व्यवसाय जन्य वायुमण्डल का प्रभाव, शोर का प्रभाव धीरे-धीरे बाधिर्यता का कारण बनता है तथा लगातार रेडियो सुनना, कल कारखानों की आवाज, बोलते रहना आदि कान के समीपस्थ अथवा मस्तिष्क प्रणाली पर प्रहार कान की अन्त: कर्ण एवं मस्तिष्क स्थित केन्द्र को क्षति प्रदान कर बधिरता उत्पन्न कर देता है।

१२. तीव्र ज्वलनशील पदार्थों का प्रवेश—क्षार व अम्ल पदार्थ तथा टिंचरादि पदार्थ, कास्टिक पदार्थ भूल से कान में गिर जाते हैं एवं स्थायी बधिरता उत्पन्न हो जाती है।

१३. तान्त्रिक कारण—मन्त्र प्रयोग से भी किसी विशेष प्रकार की आवाज व्यक्ति विशेष के कान में उत्पन्न कर उसे बधिरता उत्पन्न करने के प्रयोग तांत्रिक ग्रन्थों में पाये जाते हैं।

संक्षेप में असात्मेन्द्रिय संयोग, प्रज्ञापराध एवम् काल के हीनयोग, अतियोग एवम् मिथ्यायोग से प्रभावित कर्ण प्रणाली तत्काल या दीर्घकाल के बाद बाधिर्यता का कारण बन जाती है।

आधुनिक मत

आधुनिक आचार्यों ने भी उपरोक्त कारणों का समर्थन किया है तथा बीज दोष के अन्तर्गत शुक्राणु एवम् डिम्ब में पाये जाने वाले क्रोमोजोमों के अन्तर्गत यदि कर्णेन्द्रिय एवं वागेन्द्रिय के बनाने वाले क्रोमोजोम क्षत होते हैं तो उनके अभाव से एक बधिर संतान उत्पन्न होती है। परन्तु उन्हीं माता पिता को जब स्वस्थ क्रोमोजोम का संसर्ग होता है तो सामान्य रोगरहित संतान उत्पन्न होती है।

१. औषध जन्य बाधिर्य (Deafness due to drugs) औषधियों के कारण बाधिर्य गर्भ स्थिति एवं शिशु के उत्पन्न होने के बाद रोगावस्था पर औषधियों के प्रयोग पर दोनों अवस्थाओं में अंकित किया गया है यथा—

कुनेन एवं सेलिसिलेट (Quinine and Salyceiates)—इन औषधियों के सेवन करने पर कर्ण नाद एवं कभी कभी चक्कर भी आने लगते है। जिन रोगियों को कर्ण प्रणाली गत विकार होता है उन्हें इन औषधियों की अल्पमात्रा भी इन उपद्रवों का कारण बन जाती है। अधिक मात्रा में इन औषधियों का प्रयोग लक्षणों के बढ़ने पर बधिरता का रूप ले लेता है।

पारद एवं एस्नीन के योग—इन औषधियों के प्रभाव से ८ वीं नाडी श्रवण नाड़ी (Auditory nerve) में शोथ उत्पन्न होकर बधिरता उत्पन्न हो जाती है।

तम्बाकू व मादक द्रव्यों का प्रभाव—तम्बाकू एवं मादक द्रव्यों के प्रभाव से कभी-कभी बधिरता के लक्षण उत्पन्न

हो जाते हैं एवं समय पर उचित उपचार के अभाव में नाड़ीजन्य बधिरता उत्पन्न हो जाती है।

शंखक विष प्रभाव (Organic arsenical drugs)— फिरंग रोग पर चिकित्सार्थ व अन्य रोगावस्था में प्रयोग किये गये संखिया के योगों के प्रभाव से नाड़ी बाधिर्यता का होना भी पाया जाता है।

शीशक विष—शीशक द्रव्यों का औषधियों में प्रयोग बर्तनों पर कलई के स्थान पर प्रयोग कारखानों के रज-कणों का प्रभाव, नाड़ी बाधिर्य एवं भ्रम (Vertigo) भ्रमावस्था का कारण बनते हैं एवं कर्ण प्रणाद व कालान्तर में बधिरता उत्पन्न कर देते हैं। आजकल बाजारों में कुछ विशेष प्रकार के केश रंजक में शीशक लवण होते हैं या अन्य विषैले द्रव्य होते हैं। उनके उपद्रव स्वरूप भी शिर:शूल, भ्रम व कर्णप्रणादादि लक्षणों के बाद बधिरता उत्पन्न हो जाती है।

कर्ण प्रणाली पर विषैला प्रभाव डालने वाली एन्टी-बायटिक औषधियां—पोलोमिक्सिन बी, फेरोमायसिन, स्ट्रेप्टोमायसिन, न्यूमायासिन, केनामायसिन, वेनकोमाया-सिन, विओमायसिन, रिस्टोचिन आदि।

वृक्क प्रणाली पर प्रभावशील औषधियां—पोलीब्रीन, रेनसोम, वेलनटाइन, सैलडोन एवं अन्य औषधियाँ।

वासोडायलेटर औषधियाँ— निकोटेनिक एसिड।

नोट—उपरोक्त औषधियों का प्रभाव कर्ण प्रणाली पर घातक, शोथजन्य होता है। अत: चिकित्सकों की सलाह लेते समय यदि कान की बीमारी हो तो जानकारी प्रदान करना अपना कर्त्तव्य समझें ताकि वे उपरोक्त एवं उपरोक्त औषधियों के समान व कान में हानिप्रद औष-धियों का प्रयोग इन्जेक्शन या गोलियों के रूप में न करें। यदि उपरोक्त उपद्रव देखे जायें तो औषधियों का सेवन तत्काल बन्द कर दें अन्यथा दीर्घकालीन अथवा स्थायी बधिरता उत्पन्न हो जाती है।

व्यवसायजन्य बधिरता (Occupation deafness)— लगातार शब्द वाले वायुमण्डल (शोर) में काम करने वाले व्यक्तियों में तथा बढ़ई व लुहार, ठठेरा, कारखानों में कार्य करने वाले व्यक्तियों को यथा बोयलर मेकरस, फेशन वर्कर्स, एरोप्लेन पायलेट, वायरलेस ओपरेटर्स, अभ्यास बन्दूक आदि का अभ्यास करते समय एवं युद्ध का अभ्यास करते समय युद्ध काल में आवाज का प्रभाव अन्त: कर्ण पर पड़ता है, वह क्षत हो जाता है एवं धीरे-धीरे बधिरता उत्पन्न हो जाती है।

३. रोगजन्य बधिरता—विभिन्न रोगों में दूष्यांश के संक्रमण पर रोगाणुओं की प्रतिक्रियास्वरूप शोथ व उभार का दबाव कर्ण प्रणाली की किसी भी रचना पर दबाव पड़ने पर अवरोध के कारण, शोथ व पूयपाक द्वारा प्रणाली के नष्ट हो जाने पर भी बधिरता उत्पन्न हो जाती है। यथा—

(१) कर्णमूल शोथ—इस रोगावस्था में ४ थे, ५ वे दिन अन्त: कर्ण बधिरता (labrinthin deafness) हो जाती है। यह बधिरता स्थायी होती है एवं एक या दोनों कानों में एक साथ उत्पन्न होती है।

(२) वातश्लेष्म ज्वर—इस रोगावस्था में कर्णप्रणाद, कान में आवाज आना प्रारम्भ होता है एवं बधिरता हो जाती है। यह अवस्था रोगाणुओं का संक्रमण श्रवण नाड़ी को प्रभावित करके शोथ उत्पन्न करने के कारण उत्पन्न होती है। रोग एक या दोनों कानों में साथ-साथ उत्पन्न होता है। रोग के लक्षण कुछ सप्ताह से महीनों तक पाये जाते हैं जैसे कर्ण प्रणाद, भ्रम, वमन, बधिरता।

(३) आंत्र विकारजन्य ज्वर एवं अन्य ज्वरावस्थायें यथा आंत्रिक ज्वर, उपान्त्रिक ज्वर—आंत्र ज्वर तथा पीत ज्वर, विषम ज्वर, सुषुम्ना ज्वर का स्थानीय प्रभाव आदि विभिन्न ज्वरों में रोगी की उग्रावस्था के प्रभाव से बाधिर्य का उत्पन्न होना कर्ण प्रणालियों का प्रभावित होना ही है।

(४) माता, खसरा, रोमान्तिका, पाषाण गर्दभ, सूक्ष्म-रोगाणुओं का संक्रमण, मस्तिष्क श्लेष्मक ज्वर आदि अवस्थाओं में भी बाधिर्यता का होना पाया जाता है। कभी-कभी यह प्रभाव एक वर्ष के अन्तर्गत पाया जाता है अर्थात् दूष्यांश कभी भी विकारावस्था को बढ़ाता रहता है एवं बधिरता उत्पन्न हो जाती है।

(५) फिरङ्ग रोग संक्रमणशीलता—इस रोगावस्था के संक्रमण पर चाहे गर्भ स्थिति में माता को रोग हो या प्राणी को जीवन में यह रोग ग्रस्त हो इसका प्रभाव कर्ण प्रणाली पर संक्रमण होने पर पड़ता है एवं बाधिर्यता

उत्पन्न हो जाती है। उपदंश (गनोरिया) के अन्तर्गत माता पिता के विकारग्रस्त होने पर संक्रमणशीलावस्था में भी सहज बाधिर्यता देखी गई है।

उपरोक्त रोगों के अतिरिक्त कर्ण प्रणाली के समीपस्थ शोथ एवं उभारजन्य रोगावस्थाओं के प्रभाव से भी बाधिर्यता अंकित की गई है तथा नेत्रस्थित उभयतारामण्डल शोथ (Disseminated scleroris), अर्बुद (Tumour), अष्टम नाड्यर्बुद (Fibroma of the eighth nerve) एवं अन्तः कर्ण शोथ (Labryinthitis)

७. आघातजन्य अवस्थायें—अन्तःकर्ण रक्तस्राव, यह अवस्था आघात के अतिरिक्त ल्यूकेमिया (रक्त कैंसर) जीर्णपाण्डुरोग, हिमोफिलिया, परपुरा आदि रोगावस्थाओं में भी पाई जाती हैं एवं आघातजन्य अवस्था विशेषकर कर्ण प्रदेश के ऊपरी भाग का आघात—यह आघातज अवस्था तत्काल बधिरता उत्पन्न कर देती है।

८. पोषण का अभाव—गर्भ स्थिति एवं उत्पन्न होने पर दोनों अवस्थाओं में यथोचित आहार एवं पोषक द्रव्यों के अभाव पर जीवनीय तत्व अभावज बाधिर्य रोग उत्पन्न हो जाता है। यथा विटामिन 'ए' 'डी' एवं बी कम्पलेक्स द्वारा होने वाली बधिरता, मानसिक बधिरता (psychogenic deafness) मानसिक आघात पर रचना जन्य कोई भी विकार न होने भी पर बधिरता का होना देखा गया है।

९. बार्धक्य नाड़ी बाधिर्य (Senile deafness)—स्वभाविक ही जैसे जैसे आयु बढ़ती है शरीर के तत्व क्षीण होते है। श्रवण शक्ति भी क्षीण होती है। अल्प बधिरता से रोग प्रारम्भ हो पूर्ण बधिरता का रूप ले लेता है।

१०. मूक बाधिर्य (Deaf mutism) या बालोत्थ बाधिर्य या मूक बधिरता—बालकों में सुनना और याद करना एवं बोलना यह ज्ञान माता, पिता एवं परिचित व्यक्तियों के माध्यम से होता है। इस अवस्था में यदि शिशु बधिर है तो सुन नहीं पाता एवं अभ्यास न होने पर स्वयं नहीं बोल पायेगा। दूसरी अवस्था यह भी है कि वह सुनता है, बधिरता रहित है परन्तु जन्म से ही गूंगे बहरों अथवा पशुओं में रह रहा तो वह भी श्रवण ज्ञान के अभाव में बोल नहीं पाता। इन दोनों अवस्थाओं को मूक बाधिर्य कहते हैं अर्थात् सीखे बिना बोलने का अभाव। वैज्ञानिकों ने यह भी पता लगाया है कि गूंगापन, बहरेपन के कारण होता है। अतः संक्षेप में मूक बधिरता वह अवस्था है जिसमें बाधिर्यता को विशेष स्थान हो। यह दो प्रकार की होती है—सहज एवं जन्मोत्तर

सहज मूक बधिरता (Congenital deaf mutism) इस रोगावस्था में जन्म से ही अन्तःकर्ण विकार अन्तःकर्ण की किसी रचना का अभाव, पूर्ण अभाव समीपस्थ ग्रन्थि जन्यरोग का दबाव अन्तः मस्तिष्क कर्ण केन्द्र पर रोगावस्था का प्रभाव इन कारणों को अङ्कित किया गया हैं। इस प्रकार के रोगी ७५% पाये जाते हैं।

जन्मोत्तर (Aquired) मूक बधिरता (Deaf mutirm)—इस अवस्था में बालक जन्म के बाद कुछ समय या किसी समय बोलता है परन्तु बहिरापन जैसे-जैसे बढ़ता जाता है वह बोलना भूलता जाता है। प्रायः ७ वर्ष से पूर्व इस प्रकार का प्रभाव मूक बधिरता उत्पन्न कर देता है। इसके मुख्य कारण निम्न हैं—

१. अन्तःकर्ण शोथ (Labryinthitis) विशेषकर मस्तिष्कावरण शोथ—मस्तिष्कावरण द्राव जन्य मस्तिष्कावरण शोथावस्था पर अन्तःकर्ण में उत्पन्न हुआ शोथ।

२. मध्यकर्ण शोथ का प्रभाव—मध्यकर्ण शोथावस्था के बढ़ने पर पाकावस्था पर उत्पन्न हुआ पूय जब अन्तःकर्ण में पहुँचकर वहां पर शोथ उत्पन्न कर देता है तब बधिरता एवं सुनने के अभाव पर मूकावस्था भी।

३. अन्तःकर्ण आघातजन्य अवस्थायें—मस्तिष्क पर पड़ने वाला किसी प्रकार का आघात जिसमें दोनों अन्तकर्ण प्रभावित हो जाते हैं बधिरता उत्पन्न हो जाती है एवं श्रवण ज्ञान के अभाव में मूकावस्था भी पाई जाती है।

मूक बधिर रोगियों को निर्देश

सामान्य नियम

१. प्रतिदिन उठते ही एवं सोते समय ॐ ध्वनि करें।

२. लगातार किसी भी प्रकार के शोर (आवाज) से दूर रहें एवं कम से कम प्रतिदिन २ घण्टे का मौन रक्खें।

३. लड़ाई झगड़े से सदा दूर रहें। किसी के भी कान व शिर पर प्रहार न करें, और खुद भी बचाव करें।

४. कान में तिनका, सलाई वा अंगुलि डालना, नाक में अंगुलि डालना, नाखून चबाना नहीं चाहिये।

५. मादक द्रव्यों का सेवन एवं धूम्रपानन करें।

६. स्नान—शिर के भाग को छोड़कर स्नान करें एवं शिर के ऊपरी भाग को गीले वस्त्र से पोंछ लें, रगड़कर शुद्ध करें। जब शिर धोना हो तो बन्द कमरे में कान में रुई डालकर धोवें, डुबकी लगाना, पानी में कूदना, छीटें मारना व तैरना नहीं चाहिये।

७. भोजन—ठंडा व बासी न करें, रात्रि में न करें।

८. दुग्धपान—प्रतिदिन दूध में एक चम्मच घृत डालकर सोते समय सेवन करें।

९. शयन—सदा करवट लेकर सोवें।

१०. रोगावस्था पर—कभी भी प्रतिश्याय, शिरःशूल, गले का भारीपन, कान से पूयस्राव अथवा किसी भी शिकायत पर तत्काल योग्य चिकित्सक से सलाह लें।

चिकित्सक का कर्तव्य

रोगी का स्थानीय स्नेहन, स्वेदन एवं तत्पश्चात शोधन एवं आभ्यन्तर औषधि का प्रयोग करें।

कर्ण स्नेहन—रोगी को प्रतिदिन रुई लिपटी हुई सलाई तेल से तर कर (बिल्वादि तेल, दशमूल तेल, क्षार तेल या सरसों के तेल) बाह्य कर्ण एवं कर्ण मार्ग दीवारों को तर करें व धीरे धीरे कर्ण मार्ग का स्नेहन करें।

नासा स्नेहन (नस्य)—प्रतिदिन नासामार्ग का स्नेहन हो एवं यथोचित नस्य भी हो जाये। षडविन्दु तैल की ६-६ बूंदें दोनों नासा पुटों में दीवारों के साथ स्पर्श कर डालें।

स्नेह सेक—प्रतिदिन सोते समय कर्ण प्रदेश, कपाल, नासा के दोनों ओर नेत्रों को उष्मा से बचाकर कर्णमूल, प्रदेश व गले के पीछे कशेरुका प्रदेश पर घृत मधुयष्टि सेक करें।

विधि—मधुयष्टि चूर्ण की पोटली बनाकर तवे पर घृत में तर करते हुए सेक करें। सामान्य नमक की पोटली, गरम पानी की बोतल व कपड़े की पोटली से भी कभी-कभी सप्ताह में सेक किया जा सकता है।

वाष्पस्वेद—सप्ताह में एक या दो बार गरम उबलते हुए पानी में चापड़ ५० ग्राम, दालचीनी १० ग्राम, इलायची बड़ी २० ग्राम, कालीमिर्च १० ग्राम, पीपल छोटी १० ग्राम, सौंठ १० ग्राम, अजवायन ५० ग्राम, तेजपत्र २० ग्राम, जटामांसी १० ग्राम का बारीक मिश्रण एक चम्मच, तुलसी के २० पत्ते डालकर गरम-गरम वाष्प से नेत्र पर गीले वस्त्र को रखकर मुख व नासा मार्ग से वाष्प का प्रयोग करें एवं सारे चेहरे, गले व ललाट पर पसीना प्रतीत हो तो रोगी को गरम कम्बल ओढ़ा कर लेटादें।

मृदुविरेचन—हर १५ दिन अथवा कम से कम एक माह में एक बार कोष्ठ शोधनार्थ पंचसकार चूर्ण मधुयष्टि चूर्ण, मृदुविरेचन चूर्ण या कोई भी कोष्ठशोधक चूर्ण का प्रयोग करना चाहिए।

औषधि प्रयोग—प्रतिदिन ली जाने वाली औषधि सोते समय गाय के दूध में एक चम्मच घृत डालकर प्रयोग करें।

यौगिक चिकित्सा

१. ओउम् ध्वनि रेचक—रोगी व्यक्ति को सामान्य आसन पर बिठाकर दोनों हाथों से जांघ पर घुटने के पास अंगूठे को अन्दर मोड़कर सीधे बैठने को कहें एवं ओ-ओ लगातार बोलकर म बोलने को कहें। यह क्रिया कम से कम ५ बार करनी चाहिए।

२. ओउम् ध्वनि पूरक एवं रेचक—रोगी व्यक्ति को गहरा श्वास अन्दर लेने को कहें यहां तक कि पेट चिपक जावे। फिर धीरे-धीरे ओ-ओ लगातार थोड़ा-थोड़ा श्वास बाहर निकालते हुए दीर्घ ओउम ध्वनि का प्रयोग करें एवं यह क्रिया लगातार ५ बार करें।

३. नाद ध्वनि (ओउम्)—दोनों कानों को अंगुली से बन्द कर लगातार उपरोक्त विधि से ओउम् ध्वनि करें।

४. ध्यान मुद्रा—नासाग्र ध्यान करते हुए पूर्ण मौन अवस्था में कम से कम ५ से १५ मिनट तक बैठें।

५. जिह्वा रेचन—जिह्वा बाहर निकालकर जितनी भी अधिक से अधिक निकल सके निकाल कर मोड़ लें एवं धीरे-धीरे रेचन क्रिया करें अर्थात् वायु को बाहर निकालें।

६. जिह्वा निष्कासन व्यायाम—जिह्वा को अधिक से अधिक निकाल नासाग्र की ओर मोड़ने का अभ्यास करें।

—श्री वैद्य वेदप्रकाश शर्मा आयुर्वेदालंकार, एस.एम.एस.
अध्यक्ष—आयुर्वेद मण्डल इन्दौर
प्रकाश औषधालय, ४९, नृसिंह बाजार इन्दौर (म.प्र.)

लेखक एवं उनके पिता कर्णवेधन का प्रयोग दमा के मरीजों पर विगत २५-३० वर्षों से कर रहे हैं जिससे हजारों रोगियों का दमा जिन्दगी भर के लिये क़ेवल ४८ दिनों में समाप्त हो गया है। जन्मजात रोगी भी आज बीसों साल से बिल्कुल ठीक है जिनसे बराबर सम्पर्क रखा गया है। प्रस्तुत लेख में सामान्य कर्णवेधन पर विचार प्रस्तुत किया गया है। वैसे लेखक ३-४ वर्षों से स्वयं हर्निया पर इसका प्रयोग कर रहे हैं जिसके परिणाम उत्साहवर्द्धक हैं। जो भविष्य में आंकड़ों के साथ प्रस्तुत किये जायेंगे। अब तक दमा के चार हजार एवं हर्निया के ३ हजार रोगियों पर प्रयोग हो चुका है।

—दाऊदयाल गर्ग
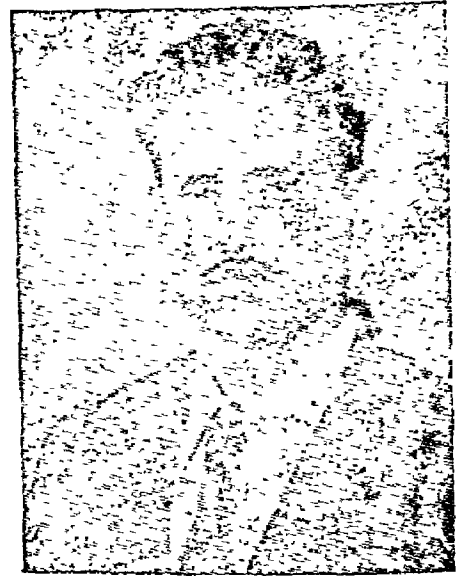
इन षोड्स संस्कारों के विषय में भी भिन्न-भिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं और सभी ने अपने मत की पुष्टि के लिए कोशिश की है। उनमें विशेष न पड़कर हम एक सामान्य नियमों पर दृष्टिपात करेंगे। वैदिक संस्कार १६ हैं जो निम्न हैं—

१. गर्भाधान	२. पुंसवन
३. सीमन्तोन्नयन	४. जात कर्म
५. नामकरण	६. निष्क्रमण
७. अन्न प्राशन	८. चूड़ाकर्म
९. कर्ण वेध	१०. उपनयन (यज्ञोपवीत)
११. वेदारम्भ	१२. समावर्तन
१३. विवाह	१४. वानप्रस्थ
१५. सन्यास	१६. अन्त्येष्टि

इन्हीं संस्कारों में कर्ण वेधन संस्कार आता है जिससे अनेक लाभ एवं रोगों की शान्ति होती है।

हमारे प्राचीन ग्रन्थों को देखा जाय तो उनमें कर्ण वेधन के लिए उसके महत्व पर प्रकाश डाला गया है और उसे अनेक रोगों की चिकित्सा में प्रयोग करते थे। जैस कि हमारे शल्य प्रधान शास्त्र सुश्रुत संहिता में बतलाया गया है। धर्म शास्त्रों में भी इस विषय में पाठ मिलते हैं एवं अनेक विद्वानों के अनेक कर्म एवं विद्वतापूर्ण सारगर्भित पाठ मिलते हैं आदि।

अन्य विशेष रोगों या कारणों को देखने के पूर्व हम यह देखें कि सामान्य नियम बना है तो इसका प्रयोजन या मन्तव्य क्या है?

रक्षाभूषण निमित्तं बालस्य कर्णौ विध्येतो।

—सु० सु०

रक्षा एवं आभूषण धारण के लिए बच्चों के कानों का वेधन करना चाहिये ।

"कर्णवेधं प्रशंसन्ति पुष्ट्यायुः श्री विवृद्धये"

—ज्योतिर्निबन्ध

शारीरिक पुष्टि, आयु एवं तेज की वृद्धि के लिए कर्णवेधन किया जाता है ।

कर्ण व्यधे कृते बालो न ग्रहैऽभिभूयते ।
भूष्यते तु मुख यस्मात कार्यस्तत् कर्णयो व्यधः ॥

—चक्र

कर्ण वेध न हो जाने पर बालक भूतादि ग्रहों द्वारा अभिभूत (आविष्ट) नहीं होता एवं इससे बालक के मुख का सौन्दर्य बढ़ जाता है । अतः कर्ण वेधन आवश्यक है ।

"न ग्रहैऽभिभूतये"

यह आज के इम्यूनिटी के सिद्धांत की ओर संकेत करता है । कारण आज का विज्ञान मानता है कि चोट लगने पर ए. टी. एस. ले लेने पर उसे टिटैनस आदि रोग जिनका संकेत ग्रह एवं भूत से किया गया है की सम्भावना कम रहती है । कर्ण वेधन से बालक चोट आदि के लिए सहनशील हो जाता है अतः उसका बाद के दिनों में कोई असर नहीं होगा और उसको सेप्टिक आदि का भय कम रहेगा ।

यद्यपि कर्ण व्यधेनं व्रणीनि बाले रक्षोभयं भवति तथापि तदल्प कालं प्रति कर्त्तव्यञ्च तेन चिरकाल रक्षार्थं तदल्पं व्यजत एव ।

—चरक

यद्यपि कर्ण वेधन करने पर व्रण वाले बालक को रक्षोमय होता है—फिर भी कर्ण व्यध सम्बन्धी वह भय थोड़े समय तक ही प्रतिकार योग्य है । अतः अधिक समय पर्यन्त रक्षा हेतु वह अल्प कालिक प्रतिकार सहज सम्मान्य है ।

कर्ण वेध से कई रोगों की रोकथाम होती है एवं कुण्डल आदि आभूषण पहने जाते हैं ।

—"दयानन्द सरस्वती"

आयु—१. तौ षष्ठे मासि सप्तमे वा....॥ धन्वन्तरि ॥

कर्ण वेधन बालक के जन्म के छठे, या सातवें माह में करना चाहिये ।

२. षट् सप्ताष्टम् मासेषु निरुजस्य शुभेऽहनि''''॥

—अं० संग्रह

कर्ण वेधन निरोग बालक के छठवें, सातवें, या आठवें माह के किसी शुभ दिन में करना चाहिये ।

३. मासि षष्ठे सप्तमेवाऽष्टमे मासि संवत्सरे ।
कर्ण वेधं प्रशंसन्ति पुष्ट्यायुः श्री विवृद्धये ॥

—धर्म शा.

बालक का कर्णवेधन संस्कार ६ वें, ७ वें, आठवें या बारहवें मास में उसकी शारीरिक पुष्टि, आयु तथा तेज की वृद्धि के लिए करना चाहिये ।

४. मासे षष्ठे सप्तमेवाऽष्टमे वा वेध्यौ कर्णौ द्वादशे षोडशेऽह्नि ।

—शिष्ट श्रीधर

जन्म से छठे, ७ वें, ८ वें, १२ वें, अथवा १६ वें मास में बालक का कर्णवेधन संस्कार करना चाहिये ।

५. मासे षष्ठे सप्तमे वाष्टमे मासि वत्सरे ।

—गर्ग

बालक का कर्णवेधन छठे, ७ वें, ८ वें, या १२ वें माह में करना चाहिये ।

६. प्रथमे सप्तमे मासि चाष्टमे दशमेऽथवा ।
द्वादशे च तथा कुर्यात कर्णवेधं शुभावहम् ॥

—मदन रत्न

बालक का कर्णवेधन प्रथम, सातवें, आठवें, दशवें अथवा बारहवें मास में किया जाना शुभकारक है ।

७. तीसरे या पांचवें वर्ष में कर्णवेधन करना चाहिये ।

—कात्यायन गृह सूत्र

मुहूर्त—कुछ विद्वानों ने विशेष माह को, कुछ ने विशेष तिथियों को महत्वपूर्ण बतलाया है, कुछ ने विशेष कर करण, नक्षत्र, दिन, पर्व, मूहुर्त आदि को श्रेष्ठ बतलाया है ।

नायं जन्म काला दूर्ध्वं किन्तु संवत्सरा देमाद्र पदाद्यः षष्ठो मासो माघः सप्तमः फाल्गुनस्तयोर्मध्ये एकस्मिन्निति ।

—डल्हण

कार्तिके पौष मासे वा चैत्रे वा फाल्गुनेऽथवा ।
कर्णवेधं प्रशंसन्ति शुक्ल पक्षे शुभे दिने ॥—व्यास

कर्ण वेधन संस्कार कार्तिक, पौष, चैत्र एवं फाल्गुन मास के शुक्ल पक्षों में शुभ दिन में करना चाहिये ।

पौष के अतिरिक्त उपर्युक्त मासों में न तो अधिक गर्मी पड़ती है और न अधिक जाड़ा । अतः ऐसे समय

कर्ण वेधन करने से पकने का अवसर नहीं रहता है। पौष मास में ठंड अधिक पड़ती है जिससे पकने की विल्कुल सम्भावना नहीं परन्तु रजाई आदि ओढ़ने से उसमें फसने एवं रगड़ने की सम्भावना रहती है।

हरि हर-हर चित्रा सौम्य पौष्णोत्तरार्या,
दिति वसुयुघटाली सिंह वर्ज्येषु लग्ने।
राशि गुरु बुध काव्यानां दिने पर्व रिक्ता।
रहित तिथिषु शुद्धे नैधने कर्ण वेधः॥ —श्रीधर

निम्न नक्षत्रों में कर्णवेधन करना चाहिए—

श्रवण, अश्विनी, हस्त, चित्रा, मृगशिरा, रेवती, तीनों उत्तरा, पुनर्वसुः धनिष्ठा।

निम्न लग्नों को छोड़कर अन्य लग्नों में कर्ण वेधन करना चाहिए—

कुम्भ, वृश्चिक, सिंह

निम्न दिनों को छोड़कर अन्य दिनों में कर्ण वेधन करे- सोम, बुध, गुरु एवं शुक्र यानी रवि, मंगल एवं शनिवार को कर्णवेधन करें। हमारे पिताजी केवल रवि एवं मंगल तथा शुभ तिथियों नवरात्रि आदि में सभी दिन कर्ण वेधन करते है। निम्न तिथियों को छोड़कर अन्य तिथियो में कर्ण वेधन करें—

नौमी, चतुर्दशी, अमावस्या, पूर्णिमा, चतुर्थी।

अष्टम स्थान की शुद्धि रहने पर अन्य तिथियों में कर्ण वेधन प्रशस्त है।

शुक्ल पक्षे प्रशस्तेषु तिथि करण मुहूर्त नक्षत्रेषु।

—धन्वन्तरि

शुक्ल पक्ष के उत्तम तिथि, करण, लग्न एवं नक्षत्रों में कर्णवेधन उचित है।

द्वितीया दशमी षष्ठी सप्तमी च त्रयोदशी।
द्वादसी पञ्चमी शस्ता तृतीया कर्णवेधनो॥

—बृहस्पति

कर्ण वेधन के लिए द्वितीया, तृतीया, दशमी, षष्ठी, सप्तमी, त्रयोदशी, पञ्चमी तथा द्वादशी तिथियाँ उत्तम मानी गई है।

कुछ समय तिथियाँ, नक्षत्र, माह आदि कर्ण वेधन के लिए वर्जित है—

मध्ये माह्रा पूर्व भागे न रात्रौ नक्षत्रे द्वे तिथि वर्जयित्वा। —मदन रत्न

केवल दिन के मध्य भाग में (सूर्य निकला हो) कर्ण वेधन करें। दिन के पूर्व भाग में, रात्रि में, एक दिन में दो तिथियां पड़ने पर तथा नक्षत्रों के सांयोगिक काल में कर्ण वेधन नहीं करना चाहिए।

ऋतु—

कर्णौ हिमागमे विध्येत्॥ —वाग्भट

कर्ण वेधन हेमन्त ऋतु में करना चाहिए। शिशिर या हिम का समय प्रशस्त माना गया है। —आयुर्वेद

शीतकाल में प्राणियों का बल उत्तम होता है एवं व्रण में पाक होने का भय बहुत कम रहता है तथा व्रण-रोपण भी शीघ्र होता है। अतः शीतकाल में कर्ण वेधन प्रशस्त माना गया है।

लिङ्ग—

पूर्वं दक्षिण कुमारस्य वामं कुमार्याः॥

लड़कों का दाहिना कर्ण तथा लड़कियों का बांया कर्ण पहले वेधन करना चाहिए।

स्थान—

मध्यतः कर्ण पीठस्य किञ्चिद् गण्डाशयम्प्रति।
जरायु मात्र प्रच्छन्ने रवि रश्म्य व भासिते॥

— अ० सं०

कर्णपाली के मध्य भाग में या कुछ गण्डाशय के नीचे की ओर झीने वस्त्रादि से ढके हुए परन्तु सूर्य किरणों द्वारा प्रकाशित स्थान में कर्णवेधन करें।

विध्ये दैवकृते छिद्रे ....।

कर्णपाली का मध्य भाग जो सूर्य किरणों की तरफ करके देखने से अत्यन्त पतला और शिरा आदि से वर्जित हो वह श्रेष्ठ है।

दैवकृत छिद्र में वेधन करें। —धन्वन्तरि

कर्ण में ऐसा स्थान जहां पर छेद करने से न रक्त का स्राव हो, न अधिक दर्द हो एवं न कोई उपद्रव हो ऐसे स्थानों को दैवकृत छिद्र कहते हैं।

शिरा (खराब खून की नली), धमनी (अच्छे खून नली) एवं वात सूत्र (संज्ञा वाहक नाड़ी) को बचाकर तब कर्णवेधन करना चाहिये।

विधि—

६ वें या ७ वें मास में शुक्ल पक्ष की उत्तम तिथि, करण, मुहूर्त और नक्षत्र में मंगलाचरण तथा स्वस्तिवाचन

करके बच्चे की देख रेख करने वाले मनुष्य की गोद में बच्चे को बिठाकर मिठाई, खिलौना आदि का लालच देकर तुतली बोली से उसके मन को बहलाते हुए एवं सांत्वना देते हुए बांये हाथ से उसके कान को पकड़कर दाहिने हाथ से वेध करने वाले यन्त्र से दैवकृत छिद्र को सूर्य किरणों द्वारा देखकर कर्णवेधन करना चाहिए।

तौ षष्ठे-मासि सप्तमे वा शुक्ल पक्षे प्रशस्तेषु तिथि करण मुहूर्त नक्षत्रेषु कृतमङ्गल स्वस्ति वाचनम् धात्र्यङ्के कुमारधरांके वा कुमारं उपवेश्य बाल क्रीड़नकैः प्रलोभ्य अभिसान्त्वयन भिषक वाम हस्तेन आकर्ष्य कर्ण दैवकृते च्छिद्रे आदित्य कराववभाषिते शनैः-शनैः दक्षिण हस्तेन ऋजु विध्येत्।

उत्तम कर्णवेधन के लक्षण— कर्णवेधन के बाद यदि अधिक दर्द न हो तथा रक्त न निकले या अन्य कोई उपद्रव न हो तब उसे दैवकृत में हुआ उत्तम कर्ण वेधन जानें।

शोणित बहुत्वेन वेदना च अन्य देशविद्धम् इतिजानीयात् निरुपद्रव तया तद देशविद्ध इति।

यन्त्र—पतला कान हो तो सुई द्वारा एवं मोटा कान हो तो आरा द्वारा कर्णवेधन करना चाहिए। कोई कोई पीतल के तार द्वारा कर्णवेधन करते हैं। मेरे पिताजी लोहे की सुई के द्वारा कर्णवेधन करते हैं।

सूची मध्यमाष्टाङ्गुलात्मिका। —मदनरत्न

यन्त्र की लम्बाई मध्यमा अंगुली से आठ अंगुली की हो। यन्त्र अच्छी तरह साफ-विशोधित कर लेना चाहिए। सूचिका का नोंक तेज होनी चाहिए। वह मुड़ा हुआ या कुण्ठित नहीं होना चाहिए।

छिद्र प्रमाण—

कर्ण रन्ध्रे रवेच्छाया न विशेदग्र जन्मनः।
तं दृष्ट्वा विलयं यान्ति पुण्यौघाश्च पुरातनः॥
—हेमाद्रौ देवलः

कान के छिद्र में (ब्राह्मण के) सूर्य की किरणें प्रवेश न कर सके क्योंकि रन्ध्र दर्शन से पुरातन पुण्य समूह नष्ट हो जाते हैं। तात्पर्य रन्ध्र छिद्र छोटा होना चाहिये।

पिचुवर्ति—छिद्र में रुई की वर्ति या डोरा डालना चाहिए। कहीं-कहीं तुरन्त ही धातु का तार, बंग या मिश्र धातु के तार ही से कर्णवेधन कर उसी को धारण करा देते हैं।

शास्त्र ने वर्णों के अनुसार निम्न धातु को धारण करने का निर्देश है—

सौवर्णी राजपुत्रस्य राजनी विप्र वैश्ययोः।
शूद्रस्य चायसी···· ···· ···· ···· ॥—मदनरत्न

राजपुत्र या क्षत्रिय के लिए स्वर्ण शलाका धारण का निर्देश है। ब्राह्म एवं वैश्य के लिए चाँदी शलाका धारण का निर्देश है। सूद्र के लिए लोहे की शलाका धारण का निर्देश है।

पहनने वाली वस्तु अधिक मोटी न हो अन्यथा सूजन एवं पीड़ा हो सकती है।

पहनी हुई वस्तु को नित्य ३-४ बार गुनगुना (हल्का गरम) कडुआ तैल (सरसों का तेल) लगाकर एक बार में ३-४ फेरा देकर घुमाना चाहिए। इससे छिद्र चिकना हो जाता है और कोई चीज पहनाने में आसानी होती है—अन्यथा घाव होने तथा पकने का भय बना रहता है।

परिषेचन—छिद्र में शल्य (पहनी हुई वस्तु) डालने या पहनाने के बाद नारियल का तैल दिन में दो-तीन बार लगाना चाहिए। तिल्ली के तैल से परिषेचन करना चाहिए तथा तीन-तीन दिन के अन्तर पर रुई की वर्ति मोटी करते रहना चाहिए और आम्र तैल से परिषेचन करते रहना चाहिए।

पिताजी सरसों का तैल गरम कर लगाने का निर्देश देते हैं।

छिद्र वर्द्धन—डोरा निकालने के बाद ८ वें दिन नीम की सींक या धातु के तार को कान में पहनना चाहिए। इन्हीं सीकों को वर्द्धनक कहते हैं।

जो वस्तु कर्णवेधन क्रिया करते समय पहनाया जाता है उसी वस्तु को भी उत्तरोत्तर मोटा करके पहनाया जा सकता है और वही वर्द्धनक का कार्य कर सकता है।

किसी धातु का तार या लवंग के आकार की भी कोई वस्तु वर्द्धनक का कार्य कर सकती है।

अपामार्ग निम्ब कार्पासदीनां काष्ठानामन्य तमस्य अथवा सीसकादि घटितां धत्तूर पुष्पाकृतिं कुर्यात।

—डल्हण

सावधानियाँ—

१. सफाई का पूरा ध्यान चाहिए अन्यथा पाक एवं अन्य रोगों का डर बना रहता है।

२. दैवकृत छिद्र के अतिरिक्त अन्य स्थान पर जहाँ किसी विशेष व्याधि में विशिष्ठ स्थान निर्दिष्ट है छिद्र नहीं करना चाहिए।

३. छिद्र स्थान पर कम से कम एक सप्ताह तक जल का स्पर्श नहीं करना चाहिए। अन्यथा पकने एवं सड़ने का डर रहता है।

४. किसी वस्तु के घर्षण से विशेषकर छोटे बच्चों से सावधान रहना चाहिए ताकि खिलवाड़ में वे उसे खींच न लें अन्यथा कर्णपाली पाक रोग हो सकता है।

५. कम से कम एक सप्ताह तक पहनी हुई वस्तु में प्रत्येक दिन सरसों का गुनगुना तेल लगाकर दिन भर में ४-५ बार घुमाते रहना चाहिए अन्यथा छिद्र भी ठीक से नहीं बन सकेगा और वस्तु पहनते समय तकलीफ भी होगी। साथ ही उसमें पाक होने का डर रहेगा।

अन्य स्थान पर छिद्र से हानियाँ—

गलती इन्सान से ही होती है और उसे ठीक करने की क्षमता भी उसी में होती है।

यदि दैवयोग से दैवकृत छिद्र या निर्दिष्ट छिद्र के अतिरिक्त कहीं अन्य स्थान लोहितिका (Artery), कालिका (Vein) या वातसूत्र (Nerves) पर ही छिद्र हो जाय तब उससे अनेक प्रकार की हानियाँ हो सकती हैं—

शिरोग्रह एवं कर्णशूल कालिका वेधन, से ज्वर, दाह, शोथ एवं वेदना वातसूत्र वेधन से वेदना, ज्वर, ग्रन्थियां लोहितिकावेधन से मन्यास्तम्भ अपतानक

> कालिकायां ज्वरो दाहः श्वयथुर्वेदना च भवति
> मर्मरिकायां वेदना ज्वरो ग्रन्थयश्च।
> लोहितिकायां मन्यास्तम्भापतानक शिरोग्रहं कर्ण
> शूलानि भवन्ति। —सु०

अन्य हानियाँ—उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त यदि कान में कोई मोटी चीज पहन लेने से शोथ एवं शूल आदि उत्पन्न होता है। कभी कभी बढ़े हुए कर्णदोषों के प्रकोपों से या चोट लगने से किसी प्रकार का खिंचाव आदि पड़ने से कान दो भागों में विभक्त हो जाता है जिसे कर्ण पाली रोग की संज्ञा दी जाती है।

सामान्य उपचार—

दोषों के प्रकोप से व्रण, शोथ, शूल आदि हो तब उसमें खैर, चन्दन, गुनगुना सरसों का तेल, नीम की पत्ती पीसकर तिल्ली का तेल या नारियल के तेल में मिलाकर लगावें।

यदि इन सब उपचार से ठीक न हो तब जो वस्तु कान में पहनाई गई हो उसे निकालकर निम्न वस्तुयें लगावें—

मुलहठी, एरण्ड की जड़, मजीठ, यव, तिल—इन सबका कल्क बनाकर मधु एवं घृत की अधिक मात्रा मिलाकर घाव के पूरे होने तक लेप करते रहें।

ठीक हो जाने पर रीत्यानुसार पुनः कर्णवेधन करावें।

लोहितिका, कालिका एवं वातसूत्र द्वारा उत्पन्न रोगों का पृथक-पृथक रोगों के अनुसार उपचार करना चाहिए।

वैसे कर्णपाली के लिए अलग से पूरे लेख की आवश्यकता है। इसके लिए हमारे यहां Plastic Surgery बहुत पूर्व में ही बतलाई गई है जो आज एक नवीन आविष्कार मानी जा रही है।

कर्णवेधन के सामान्य प्रयोजन एवं निर्देश

प्रयोजन—१. रक्षा, २. आभूषण धारण, ३. शारीरिक पुष्टि, ४. आयु एवं तेज वृद्धि, ५. भूतादि ग्रहों (Pathogens) से अभिभूत न होना, ६. मुख सौंदर्य वृद्धि, ७. अनेक रोगों की रोक, ८. शुभकारक।

आयु—(१) ६ वाँ ७ वाँ माह, (२) ६, ७, ८, माह के शुभ दिनों में, (३) ६, ७, ८ तथा १२ वाँ माह, (४) ६, ७, ८, १२ तथा १६ वाँ माह, (५) ६, ७, ८ तथा १२ वाँ माह, (६) १, ७, ८, १०, १२ वाँ माह, (७) ३ वें या ५ वें वर्ष में

विशेष माह—कार्तिक, पौष, चैत्र, फाल्गुन के शुक्ल पक्ष एवं शुभ दिन।

विशेष तिथि—उत्तम तिथियाँ—द्वितीया, तृतीया, दशमी, षष्ठी, सप्तमी, त्रयोदशी, पंचमी, द्वादशी। वर्जित तिथियाँ—नौमी, चतुर्दशी, अमावस्या, पूर्णिमा, चतुर्थी, अष्टम स्थान की शुद्धि रहने पर अन्य तिथियों में भी कर्ण वेधन कर सकते है।

—शेषांश पृष्ठ ३०४ पर देखें

श्री सत्यार्थ प्रकाश ए., एम बी. एस.

प्रसंगवश यहां कर्ण वेधन द्वारा श्वास के चिकित्सित रोगियों का संक्षिप्त वर्णन निम्न है—

अब तक पूज्य पिता जी श्री केदारनाथ जी वैद्य एवं मेरे द्वारा दमा के लिए किए गए कर्ण वेधन के रोगियों की संख्या चार हजार से ऊपर है जिनमें से सन् १९४८ तक के २६१५ रोगियों में से १२२ रोगियों के पत्रादि उपलब्ध हुए थे उनमें से ५० रोगियों के पास पत्राचार किया गया। परन्तु उत्तर केवल सात रोगियों के प्राप्त हुए। साथ ही और रोगी जो स्वयं आकर अपना समाचार दे गए या उनके द्वारा भेजे गए रोगियों से प्राप्त हुए उस आधार पर ४३ रोगियों का विवेचन किया गया जिसके परिणाम अत्यन्त ही उत्साहवर्द्धक रहे। (९७% बिलकुल ठीक)

वैसे पूज्य पिता जी दमा के लिए सब रोगियों का कर्ण वेधन कर देते हैं परन्तु मैं कर्ण वेधन के पूर्व रोगियों के रक्त की परीक्षा (Total, Differencial, E. S. R.) करवा लेता हूं और उसे कर्णवेधन के पूर्व, ८वें दिन तथा ४८ वें दिन रक्त परीक्षा की सलाह देता हूं पश्चात् कर्ण वेधन करता हूं।

४८ दिनों के बीच किसी भी प्रकार की दवा का प्रयोग अत्यन्त कठोरता के साथ वर्जित है। यदि दमा का असर अधिक हो तब मिश्री की चाशनी में कृष्ण मरिच मिलाकर ३-४ बार चाटें।

४८ दिनों में निम्न १३ वस्तुओं का प्रयोग करें।

रोटी—१. गेहूं, २. जौ।

दाल—३. अरहर, ४. मूंग।

साग—५. लौकी, ६. नेनुआं, ७. परवल।

मसाला—८. गोल मिर्च, ९. नमक।

जलपान—१०. किसमिस, ११. मुनक्का, १२. मिश्री

पानी—१३. जल।

अपवाद रूप में अफीम प्रयोग करने वालों को अफीम छोड़ने पर ज्यादा जोर नहीं दिया जाता है। ४८ दिनों के बाद परमर्श करके धीरे-धीरे सभी चीजें खा सकते हैं।

छिद्र बन्द न हो इसका ध्यान आवश्यक है अन्यथा दमा पुनः प्रारम्भ हो सकता है।

संक्षेप में यहाँ कुछ सारिणियों के द्वारा परिणाम प्रदर्शित किए जा रहे हैं—

सारिणी नं० १

दमा शुरू होने पर रोगी आयु	रोगी संख्या	प्रतिशत
१ से १० वर्ष	१२	२८.०
११ से २० वर्ष	५	११.६
२१ से ३० वर्ष	८	१८.६
३१ से ४० वर्ष	५	११.६
४१ से ५० वर्ष	६	१४.०
५१ से ६० वर्ष	३	६.९
जन्म से	४	९.३
सम्पूर्ण रोगी संख्या	४३	१००%

सारिणी नं० २

दमा की अवधि	रोगी संख्या	प्रतिशत
१ वर्ष से कम	३	७.०
१ वर्ष से ५ वर्ष	१३	३०.२
६ वर्ष से १० वर्ष	१२	२८.०
११ वर्ष से १५ वर्ष	७	१६.२
१६ वर्ष से २० वर्ष	४	९.३
२० वर्ष से ऊपर	४	९.३
सम्पूर्ण रोगी संख्या	४३	१००%

सारिणी नं० ३

कर्ण वेधन के समय रोगी की आयु	रोगी संख्या	प्रतिशत
१ से १० वर्ष	६	१४.०
११ से २० वर्ष	१०	२३.०
२१ से ३० वर्ष	३	७.०
३१ से ४० वर्ष	८	१९.०
४१ से ५० वर्ष	७	१६.०
५१ से ६० वर्ष	७	१६.०
६० से ऊपर	२	५.०
कुल योग	४३	१००%

सारिणी नं० ४

लिङ्ग के अनुसार वर्गीकरण	रोगी संख्या	प्रतिशत
पुरुष	३५	८१.४
स्त्री	८	१८.६
कुल योग	४३	१००%

सारिणी नं० ५

वंश परम्परा विवरण	रोगी संख्या	प्रतिशत
वंश परम्परा	७	१६.०
स्वयं पीड़ित	३६	८४.०
योग	४३	१००%

सारिणी नं० ६

चिकित्सा परिणाम	रोगी संख्या	प्रतिशत
रोग मुक्त	४०	९३.०
लाभ नहीं	३	७.०
सम्पूर्ण रोगी	४३	१००%

सारिणी नं० ७

अवधि-जितने दिन रोगी ठीक रहा	रोगी संख्या	प्रतिशत
४८ दिन से ३ माह	१३	३२.५
४ से ६ माह	२	५.०
७ से १२ माह	५	१२.५
१ से ५ वर्ष	८	२०.०
६ से १० वर्ष	७	१७.५
११ से २० वर्ष	४	१०.०
२० से ऊपर	१	२.५
सम्पूर्ण योग	४०	१००%

उपर्युक्त विवरण अत्यन्त उत्साहवर्द्धक है जैसाकि सारिणी नं० ६ द्वारा प्रदर्शित किया गया है। ९३ प्रतिशत रोगियों को रोग से मुक्ति मिली है जो सारिणी नं० ७ द्वारा प्रदर्शित है जिसमें २० वर्षो से ऊपर तक रोगी ठीक पाए गए हैं।

उक्त अध्ययन द्वारा स्पष्ट है कि तमक श्वास रोग की चिकित्सा में कर्ण वेधन एक प्रभावशाली मुक्तिदायिनी चिकित्सा विधि है और जिसे लोग आज कार्टिजोन आदि चमत्कारिक औषधियों के युग में भी असाध्य माने बैठे हैं, केवल ४८ दिनों में रोग लाभ ही नहीं रोग मुक्ति प्रदान करता है।

हाँ इसकी अभी वैज्ञानिक व्याख्या पूर्ण स्पष्ट नहीं की जा सकी है समय इसे भी पूरा करेगा। शिरावेध से यह विधि भिन्न है क्योंकि इसमे शिराओं का वेध न करके Pinna का वेध किया जाता है जिसमें रक्त भी नहीं आता।

आधुनिक युग में चीन की "एकू पञ्चर" विधि का पर्याप्त प्रचार है। चीनी विधि में यद्यपि विशिष्ट प्रकार की सूचियों का प्रयोग होता है [वे शरीर में विभिन्न रोगों में अलग-अलग स्थानों पर अनेक बार प्रयोग की जाती हैं जबकि मेरी पद्धति में केवल एक बार कर्ण वेधन करना पड़ता है।

—श्री सत्यार्थ प्रकाश ए०,एम० बी०एस०
श्री लालबहादुर शास्त्री स्मारक आयु० महाविद्यालय,
जवाहर नगर, हंडिया (प्रयाग)

-डा. श्री रामचन्द्र शाकल्य

भारतीय संस्कृति विश्व की संस्कृति से प्राचीन है एवं अब दिनों दिन इस बात की भी पुष्टि होती जा रही है कि वह कोरी रूढ़िवादी, अन्धविश्वासी, अवैज्ञानिक नहीं है वरन् वह वैज्ञानिक एवं सत्य पर आधारित महान् है।

भारतीय संस्कृति का एक अङ्ग भारतीय चिकित्सा शास्त्र आयुर्वेद है। आयुर्वेद का ज्योतिष से घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि दोनों ही भारतीय संस्कृति के अभिन्न अङ्ग हैं तथा दोनों ही आयु से सम्बन्ध रखते हैं। ज्योतिष द्वारा भी रोगों की सूचना एवं आयुकरण किया जाता है। अतः दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध होना स्वाभाविक है।

आज भी भारत के कई दक्षिणी क्षेत्रों में कुशल परम्परागत वैद्यगण नसों को छेदकर सफल इलाज करते पाये जाते हैं। इससे कई बड़ी-बड़ी बीमारियां भी ठीक हो गई जो कि बड़े-बड़े अस्पतालों से निराश हो गये थे। इस विधि द्वारा अपनी जगह से खिसके हुये, संकुचित टेढ़े-मेढ़े अङ्ग वापस अपने कुदरती आकार में असली जगह आगए हैं। शुम हुये अङ्गों में चेतन आया है। कमजोर यकृत, गुर्दे, आंत्र, आमाशय इत्यादि वापस अपनी कार्य करने की क्षमता प्राप्त कर चुके हैं।

कर्णच्छेदन भारत में परम्परागत प्रचलित है। प्राचीन काल में बालक, वृद्ध हर नर-नारी सभी कर्णच्छेद को आवश्यक समझते थे और ज्योतिषियों से मुहूर्त निकलवाकर कर्णच्छेदन कराते थे। आज भी गाँवों में वृद्ध लोगों के कानों में सोने की बालियाँ दिखाई देती हैं। ये चाहे आज के आधुनिक फैशन के युग में गंवारी हों परन्तु इसका आयुर्वेद में वैज्ञानिक महत्व है।

आज के युग में ये अब नारियों में ही प्रचलित हैं। और इसे सौन्दर्य की दृष्टि से कानों में बाली, एरन, झुमकी, फूल, लटकन आदि पहनने के लिए ही आवश्यक समझा जाता है परन्तु सत्य तो यह है कि यह स्वास्थ्य के लिए भी वरदान है।

नाड़ी परीक्षा आयुर्वेद का निदान के लिए एक प्रमुख साधन है। क्योंकि उसके मत से उसमें संख्या और गति से कहीं ज्यादा ज्ञान भरा हुआ है। मनुष्य शरीर अणुओं का समूह है और प्रत्येक अणु सतत कार्यरत एवं गतिशील रहते हैं अतः वह भी गतिशील रहता है। इस प्रकार चिकित्सक को अन्दर के संचेक कार्य के परिणामस्वरूप जो प्रभाव और असर होता है नाड़ी द्वारा विदित हो जाता है। नाड़ी परीक्षा में रोगी की शक्ति प्रकृति के अलावा नाड़ी की गति, शक्ति, विकृति इत्यादि का भी बोध होता है। शरीर के अंदर यदि कोई विकृति हो जो नाड़ी के स्पंदन, गति इत्यादि में शीघ्र हो बदला पड़ता है। यही कारण है कि अभी भी कई पुराने, सिद्धहस्त वैद्य नाड़ी द्वारा ज्ञान प्राप्त कर उचित नस को छेदते हैं और रोगी स्वस्थ हो जाता है।

हमारे भारत में आज भी औरतें कान में, नाक में, हाथ पैर आदि अङ्गों स्थानोपयुक्त आभूषणें पहनती हैं जैसे ऐरिंग, नथ, अंगूठी, कंगन, पायल आदि। इससे भले ही औरतों में जेवरातों के प्रति प्रेम या मोह दिखे परन्तु अपने पूर्वजों की दीर्घ दृष्टि भी नजर आती है। जो न कि सौन्दर्य को ही बढ़ाते हैं वरन् स्वास्थ्य के लिए भी हितकर होते हैं।

क्या कारण है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों के कान के दर्द कम होते हैं। क्यों? इसका करण स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है क्योंकि कर्णछेदन करने से इसके हेतु रही नस का छेदन हो जाता है और एरिंग आदि पहनने से उसमें हल्का सा खिचाव बना रहता है। जिसका सम्बन्ध अवश्य ही शरीर के अन्य आवश्यक अङ्गों से होता होगा तभी तो यह रोग प्रायः बहुत कम स्त्रियों में देखने में आया है। अतः नसों की कार्यक्षमता को बनाये रखने में कर्णछेदन जहाँ आवश्यक है वहाँ अलंकार भी उपयोगी है। इसीलिए बचपन से ही छोटे छोटे बच्चों में चाहे वे लड़के हो या लड़की कर्णछेदन मुहूर्त निकलवाकर हमारे भारत में परम्परागत करवाया जाता है। इसमें कितना तथ्य, विज्ञान है? आप लोग समझ ही गये होगें।

कर्णछेदन करने वाले प्रायः मिल ही जाते हैं और कई यह कार्य सुनार भी करते हैं और कर्णछेदन करके सोने की बाली पहना देते हैं। तथा उस स्थान पर हल्दी चूना लगा दी जाती है जिससे वह पके नहीं। ये भी जानते हैं। परन्तु कान में सोने के ही आभूषण क्यों पहनाते हैं? आधुनिक विज्ञान के मतानुसार स्वर्ण में ओझोन के साथ मिल के प्राणवायु बनाने का विशेष गुण है। हमारे यहाँ घूंघट निकालने की प्रथा पुराने जमाने में काफी प्रचलित थी और घर की चार दिवारों में स्त्रियों को रहना पड़ता था अत. प्राणवायु कम प्राप्त होती थी। अतः सम्भवतः इसी कमी को पूरी करने के लिये कान में एरिंग, नाक में स्वर्ण नथुनी पहनने का निर्देश किया गया हो।

अतः कर्णछेदन इस आधुनिक युग में भी आवश्यक प्रतीत होता है। जहां एक ओर सौन्दर्य की दृष्टि से वहीं दूसरी और स्वास्थ्य की दृष्टि से भी आवश्यक है। क्योंकि इसका सम्बन्ध मस्तिष्क, हृदय आदि विशेष अवयवों से विशिष्ट होता है। यदि कान का दर्द किसी भी औषधियों द्वारा नहीं मिटता हो, और वह कर्णछेदन करवावें तो उसका कर्णशूल निश्चित ही ठीक हो सकता है। इसमें दो विचार नहीं हो सकते। ऐसी मेरी मान्यता है। अतः कर्णछेदन का अपना विशेष महत्व है जिसे आधुनिक वैज्ञानिक भी स्वीकार करने लगे हैं।

औषधोपचार से थके हुए लोगों को यह फायदेमन्द है और बीमारियाँ दूर करके तन्दुरुस्ती की राह पर ले आती है।

—श्री डा० रामचन्द्र शाकल्य
शासकीय आयु० औषधा०
घमरिया झाँसीघाट,
गोटेगांव (नरसिंहपुर) म. प्र.

कर्णवेधन : : पृष्ठ ३०० का शेषांश

पक्ष—शुक्ल पक्ष के उत्तम तिथि, करण, लग्न, नक्षत्र में।

नक्षत्र—श्रवण, अश्विनी, हस्त, चित्रा, मृगशिरा, रेवती, उत्तरा, पुनर्वसु, धनिष्ठा।

दिन—वर्जित दिन—सोम, बुध, गुरु, शुक्र।

लग्न—वर्जित लग्न—कुम्भ, वृश्चिक, सिंह।

कर्ण वेधन समय—दिन के मध्य भाग में (सूर्य किरणों में)।

निषेध—१. दिन का पूर्व भाग, २. रात्रि, ३. एक दिन में दो तिथियाँ होने पर, ४. नक्षत्रों के सांयोगिक काल में।

ऋतु—शिशिर, हिम, हेमन्त।

लिङ्ग—लड़कों का पहले दाहिना तथा लड़कियों का पहले बांया।

स्थान—१. कर्णपाली के मध्य भाग में या गण्डाशय के प्रति नीचे की ओर। २. दैवकृत छिद्र (पतला शिरा रहित स्थान)।

यन्त्र—१. पतले कान में सुई से मोटे कान में आरा (मोटा सुई)। २. पीतल तार। ३. मध्यमा अंगुली से ८ अंगुल लम्बी सुई।

छिद्र—१. बहुत पतला, बड़े छिद्र से पुण्यनाश।

पहचानना—१. रुई की वत्ती या डोरा। २. मिश्रधातु तार। ३. स्वर्ण-क्षत्रिय, चाँदी-ब्राह्मण वैश्य लोहा—शूद्र।

वर्धनक—नीम की सींक, धातु तार, अपामार्ग काष्ठ, निम्ब सींक कार्पास लकड़ी, चिचड़ा लकड़ी।

—श्री सत्यार्थप्रकाश ए., एम. बी. एस.
श्री लाल बहादुर शास्त्री स्मारक आयु० महाविद्यालय,
जवाहर नगर, हडिया (प्रयाग) उ० प्र०

कर्ण में वस्तु-जीव का पड़ना एवं निष्कासन का उपाय—

तीन प्रकार के मुख्य रूप से प्रायः होते हैं—

१. अनाज—गेहूं, चना छोटा दाना, मूंग इत्यादि

२. जन्तु-मच्छर, मक्खी, कीड़ा इत्यादि

३. खनिज—रेत, शीशा इत्यादि

इन तीनों में से किसी के कान में चले जाने पर रोगी उसे निकालने के प्रयत्न में श्रुतिपथ से मध्यकर्ण द्वार तक पहुँचा देता है तब उनका रगड़ से शोथ पैदाकर लेना स्वाभाविक है।

तत्काल में तो कोई चिन्ता नहीं उसे कर्ण संदंशनी से निकाला जा सकता है। उसके पश्चात् कान में कार्बोलिक ग्लिसरीन डालकर उसे रुई से पोंछ देते हैं या रुई ऊपर रखते हैं। कई बार छोटे बच्चों में कठिनाई आती है। वह उसे बाहर से रगड़कर शोथ पैदा कर लेते हैं। ऐसे रोगियों को कर्ण में संज्ञाहर औषध उपचार करके संज्ञाशून्य हो जाने पर पुनः क्रिया करें। अन्यथा कठिनाई हो जाती है।

चिकित्सा—

कर्णदर्शक यन्त्र द्वारा कर्ण का निरीक्षण करने पर बाह्य वस्तु दिखाई दे जाती है।

अनाज को निकालने की विधि—

घरेलू प्रयोग—कान में तैल थोड़ा सा गरम करके कान की दीवार में टपकायें। अनाज के पास जब तैल पहुँच जाये तो और डाल दें। कुछ काल के पश्चात् उल्टा दें। अनाज का दाना निकल आयेगा।

औषधालय में प्रयोग—बाह्य वस्तु निकालने वाली संदशनी होती है एक तार के समान पीछे पिस्तौल जैसा ट्रेगर होता है। (नीचे चित्र देखें) वह डालकर कान के दीवार के साथ अनाज के पीछे ले जाते हैं। फिर ट्रेगर को खींचते हैं तो उसमें एक कांटा सा टेढा मुख बन जाता है। उसमें अनाज का दाना आ जाता है तब उसे खींच लेवें।
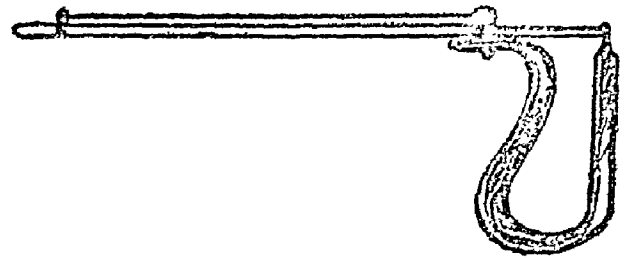
कीड़ा जन्तु—

कर्ण में जाते ही जीवित रहते बाहर निकलने का प्रयत्न करता है इसलिए कान को बिना रगड़े जिस कान में पड़ा हो उसे उल्टा करें, निकल जायेगा। यदि नहीं निकले तो कृमिनाशक घोल ग्लिसरीन वाले को डालकर चिमटी (Ear Forceps) से निकाल लें।

रेत इत्यादि—

एक ही चिकित्सा है। उष्ण जल में बोरिक ऐसिड लोशन की पिचकारी (Ear Syringe) से धोना सूखी वस्तु जो विलीन नहीं होती कान से जो जल बाहर आयेगा उसमें निकल आयेगी।

—श्री वैद्य वेद प्रकाश गुप्ता बी. आई. एम. एस.
६ ई—कृष्णानगर, दिल्ली

आयुर्वेद वारिधि श्री डा० एस० जनार्दन जी० सी० ए० एम०

१, सारिवादि वटी—

सारिवा (अनन्तमूल), मुलेठी, कूठ, दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपात, नागकेशर, फूलप्रियंगू, नीलोत्पल, गिलोय, लौंग, हरड, बहेड़ा, आँवला—इनका चूर्ण १-१ तोला और अभ्रक भस्म, लौह भस्म १४-१४ तोला लेकर सबको एकत्र मिला भांगरे के रस, अर्जुन के क्वाथ, जवा के क्वाथ, मकोय के रस और गुन्जा की जड़ के क्वाथ की १-१ भावना देकर ३-३ रत्ती की गोलियां बनालें।

मात्रा और अनुपान—१-१ गोली प्रातःकाल धारोष्ण दूध के साथ दें।

गुण और उपयोग—इस वटी का उपयोग कर्ण रोगों में विशेष किया जाता है। कान में सांय-सांय आवाज होना, ऊँचा सुनना, बहरापन, कान में दर्द आदि रोग इस वटी के सेवन से दूर हो जाते हैं। कान के लिये यह उत्तम औषधि है।

२. बिल्व तेल—

मूर्च्छित कड़वा तेल १२८ तोला, बकरी का दूध ६ सेर ३२ तोला, बेलगिरी ३२ तोला लें। बेलगिरी को गोमूत्र में पीसकर कल्क बना, आवश्यतानुसार जल मिला कर तैल पाक विधि से तेल सिद्ध करें। तेल सिद्ध हो जाने पर उतार कर छान लें। —भै० र०

गुण और उपयोग—इस तैल को कान में डालने से समस्त प्रकार के कर्ण रोग, कान का दर्द, कान में सांय-सांय शब्द होना एवं बहरापन आदि शीघ्र नष्ट होते हैं।

३. क्षार तेल—

मूलीक्षार, यवक्षार, सज्जीक्षार, सेंधानमक, सोंचर नमक, विडनमक, समुद्र नमक, हींग, सहिजना की छाल, सोंठ, देवदारु, वच, कूठ, सौंफ, रसौत, पीपलामूल, नागरमोथा ये प्रत्येक द्रव्य १-१ तोला लेकर कल्क बनावें। इसमें सरसों का मूर्च्छित तेल ६४ तोला, केले की जड़ का स्वरस, बिजौरा नींबू का रस, मधु शुक्त—ये प्रत्येक द्रव्य ३ सेर १५ तोला पृथक-पृथक लेकर सबको कड़ाही में एकत्र मिला तेल पाक विधि से पाक करें। सिद्ध हो जाने पर उतारकर छानलें और सुरक्षित रखें। —शा.सं.

गुण और उपयोग—इस तैल को कानों में डालने से समस्त प्रकार के कर्ण रोग जैसे कर्णपूय, कर्णनाद, कर्णशूल, बधिरता, कर्ण-कृमि तथा कान सम्बन्धी अन्यान्य रोगों को शीघ्र नष्ट करता है।

कर्णनाद—पूतिकर्ण—बाधिर्य

(१) कर्णनाद रोग के लक्षण—

वायु शब्दवाहिनी शिराओं में स्थित होने पर मनुष्य बिना कारण के बार-बार विविध शब्दों को सुनता है; इसको कर्णनाद कहते हैं। माधव निदान में लिखा है वायु कान के छेद में स्थित होकर तरह-तरह की भेरी, मृदंग और शंख वगैरह की सी आवाजें सुनाता है। इस रोग को कर्णनाद कहते हैं।

कर्णनाद चिकित्सा—

१. कर्णनाद रोग होने पर कानों में प्रतिदिन सरसों का तैल भरना चाहिए। इसी प्रकार कर्णनाद, कर्णबाधिर्य रोगों में वातशूलोक्त औषधियों का प्रयोग करना चाहिये।

२. अपामार्गक्षार तैल (च० द०)—

तिल तैल १ सेर, अपामार्ग जल ४ सेर, अपामार्ग का कल्क १ पाव भर लेकर यथाविधि तैल सिद्धकर कान

—शेषांश पृष्ठ ३०९ पर देखें
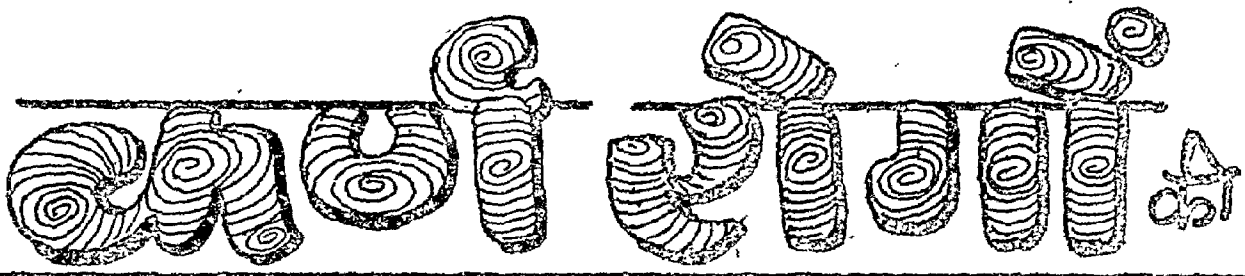
होमियोरत्न श्री डा० बनारसी दास दीक्षित

एपिस ६, ३०, २०० —

कान में डंक मारने की तरह का दर्द होता है। कान के ऊपर ठंडे प्रयोग से उपशम, रोगी भी ठंडी जगह पसन्द करता है। ठंडी हवा कान पर लगने पर रोगी को आराम मिलता है। दाहिने कान का दर्द।

आर्निका ३०, २००—

चोट लगने का इतिहास मिलने पर कर्णशूल, सूजन, बधिरता या कान में कई प्रकार के शब्द होने पर इसका प्रयोग करना चाहिये। यह नये और पुराने दोनों प्रकार के रोगों में व्यवहार होता है। रोगी की पुरानी अवस्था में उच्च शक्ति का प्रयोग करें।

आर्सेनिक एल्बम् ३०, २००, १०००—

टाईफाइड या किसी लम्बी बीमारी के बाद बधिरता। यदि रोगी के लक्षण आर्सेनिक के होंगे तो यह रोग के बाद की दुर्बलता और बधिरता को आरोग्य करती है। मानसिक अस्थिरता, व्याकुलता, सभी समय शीतभाव गरम से उपशम, रोग की पुरानी अवस्था में आर्सेनिक के रोगी को प्यास नहीं रहती।

आरममेट या म्यूर ३०, २००—

यह स्वर्ण से तैयार होता है। इसका प्रभाव पारद या सिफलिस दोषयुक्त रोगियों पर विशेष होता है। इस प्रकार के रोगियों की कर्ण की हड्डी में क्षत हो जाता है और कान में कई प्रकार के शब्द होते हैं। अन्त में रोगी बधिर हो जाता है। इस दवा के मानसिक लक्षण प्रधान हैं। रोगी में आत्महत्या करने की प्रबल इच्छा होती है। गरमी से उपशम और ठंड से वृद्धि भी याद रखें।

मैंने एक कर्णस्राव का १० साल पुराना रोगी इससे ठीक किया था जिसके कान की हड्डी भी क्षय होने लग गई थी।

बैराईटा कार्ब २००,१०००—

जिन रोगियों को प्रायः ठंड लगने पर ही टान्सिल बढ़ जाते हों और उसके कारण या टान्सिल का आपरेशन कराने के बाद बधिरता होने पर यह लाभप्रद है।

बेलाडोना ३०,२००—

अचानक सर्दी लगने के कारण प्रदाहिक कर्णशूल, साथ में तेज ज्वर, पहले प्रदाहिक अवस्था होकर कान में पूय हो जाता है। इसका प्रयोग प्रदाहिक अवस्था में ही होता है।

कास्टीकम ३०,२००,१०००—

सूखी ठंड लगने के बाद कर्ण के स्नायु की पक्षाघातिक अवस्था में कान में अनेक प्रकार के शब्द होते हैं या बधिरता अथवा प्रतिध्वनि, रोगी अपनी ही आवाज की प्रतिध्वनि सुनता है। ठंड से रोग वृद्धि, गरम से उपशम भी याद रखना चाहिये।

जेल्सीयम् ३०,२००—

इस दवा मे भी पक्षाघातिक लक्षण देखे जाते हैं किन्तु

इसमें रोग का कारण स्नायविक दुर्बलता होती है । रोगी को प्रचुर मात्रा में मूत्र त्याग होता है ।

ग्रैफाईटिस ३ ,२००,१०००—

कान के पीछे और अन्तर से होने वाले चर्मरोग (एक्जिमा) में विशेष लाभप्रद है जबकि उससे निकलने वाला रस (स्राव) मधु की तरह चिपचिपा हो तो रोगी को इस प्रकार अनुभव होता है कि कान खुलता और बन्द होता है । रोगी में वधिरता का भी लक्षण रहता है । पर रोगी गाड़ी में चलते समय सुनता है ।

हीपर सल्फ २००,१M.,१०M—

शीत कातर रोगी को प्रायः सर्दी सहन नहीं होती है । सर्दी लगकर कान में दर्द, वेलाडोना निष्फल होने पर यह काम करता है । स्पर्श असहिष्णुता भी हीपर का प्रधान लक्षण है । जब प्रदाहित अवस्था आगे बढ़कर पीव आरम्भ हो जाता है उसमें भी हीपर लाभप्रद है । किन्तु हीपर सल्फ का पीव गाढ़ा पीला वदबूदार होता है । ऐसे स्थान पर २०० या उच्च शक्ति का प्रयोग करना चाहिये ।

अनुभव—कर्ण स्राव में दर्द के साथ गाढ़ा पीव होने पर और रोगी शीत कातर होने पर हमने वहुत से रोगियों का कान वहना ठीक किया है । प्रथम खुराक १००० शक्ति की देते हैं । नीचे हम कर्ण स्राव की और भी दवायें लिख रहे हैं ।

मार्कसोल २००,१०००—

गाढ़ा पीला पूयस्राव होता है पर इसमें वहुत ही वदवू रहती है । साथ ही रोगी में मार्क सोल के अन्य लक्षण जैसे जीभ मोटी भीगी, रात में पसीना, रात में रोग वृद्धि साथ ही सिफलीटिक विष का इतिहास होने पर लाभदायक है । कर्णमूल ग्रन्थि फूली हुई और श्वास में वदवू रहती है । इसका स्राव क्षतकारक होता है ।

परामर्श—कर्ण मूल प्रदाह का नाम सुनते ही नये छात्र मार्कसोल का प्रयोग कर वैठते है. यह वात उचित नहीं जहाँ मार्कसोल के अन्य लक्षण होवें उस जगह यह वहुत ही लाभप्रद दवा है । एक सिफलीटिक दोषयुक्त पिता की संतान ५ वर्ष के वच्चे का १ साल से वहने वाले कर्ण स्राव को मार्कसोल १ एम की २ खुराक से आरोग्य किया है । अभी ६ मास हो गये पुनः स्राव नहीं आया ।

पल्सेटिला ३०,२००,१०००—

यह भी कर्णस्राव की उत्तम दवा है । इसका स्राव गाढ़ा पीला होता है । रोगी ठंडा पसन्द करता है । नम्र प्रकृति के रोगी । गाढ़ी पीव मार्कसोल में भी है पर वह क्षतकारक होता है, पल्स का क्षतकारक नहीं होता है ।

हीपर सल्फ का स्राव भी गाढ़ा होता है पर उसमें वदवू होती है रोगी शीत कातर होता है । पल्सेटिला का रोगी गरम कातर होता है । अतः प्रभेद निर्णय करके ही दवा का प्रयोग करना चाहिए ।

साईलीसिया ३०, २००, १०००—

साईलीसिया का स्राव पतला होता है । यह रोग की पुरानी अवस्था में लाभप्रद है जबकि रोगी कर्ण स्राव से वधिर हो जाता है, कभी कुछ नहीं सुनता है कभी जोर की आवाज होती है । रोगी शीत कातर होता है ।

अनुभव—साईलीसिया के द्वारा पतले स्राव वाले शीत कातर पुराने रोगियों को आरोग्य करने में हमें बहुत सफलता मिली है ।

टेलूरियम् ६, १२—

अनेकों प्रकार के शब्द होते हैं । दुर्गन्धयुक्त पूय का स्राव उसके कारण वधिरता । इसका निम्न क्रम में अच्छा लाभ होता है ।

सलफर ३०, २००, १०००—

सलफर एक बहुमुखी दवा है । इसके प्रकृतिगत लक्षण होने पर इसका प्रयोग कान की सभी बीमारियों में कर सकते हैं ।

मेजेरियम् ३०, २००, १०००—

मेजेरियम् के लक्षणों वाला चर्मरोग बाहरी प्रयोग (मरहम आदि) लगाकर दवाने के वाद वधिरता आने पर इससे लाभ होता है । डा० डनहम सहाव ने एक बधिर रोगी को मेजेरियम् देकर आरोग्य किया था । दवा देने के वाद वधिरता आरोग्य हो गई पर चर्म रोग पुनः बाहर आ गया—

कुछ दवायें संक्षेप में

एलियम् सेपा ३०, २००—

ठंड लगकर कान में दर्द, उसका गले तक फैलना, शिशुओं के कान का दर्द (कैमो)

एविसन्थियम् ६, ३०—

सर का रोग दबकर कान से पीव का स्राव।

सिड्रान ३०, २००—

कुनेन का अधिक मात्रा में सेवन करने के कारण कान में भों-भों आवाज होने पर लाभप्रद है।

प्लान्टेगो Q—

कर्णरोग के साथ दन्तशूल का दर्द। इसके सेवन एवं बाहरी प्रयोग से आरोग्य होता है।

वूलेन आयल Q—

इस दवा का कान के सभी रोगों में बाहरी प्रयोग होता है।

उपरोक्त दवाइयों के अलावा लक्षणों के अनुसार और भी बहुत सी दवा प्रयोग होती हैं।

—होमियोरत्न श्री डा० वनारसीदास दीक्षित
एच० एम० डी० एस०
दीक्षित फार्मेसी, रक्सौल (चम्पारन) बिहार

कर्ण रोगों पर सफल प्रयोग : : पृष्ठ ३०६ का शेषांश

में डालने से कर्णनाद तथा कर्णबाधिर्य रोग नष्ट हो जाता है।

३. स्वर्जिकाक्षार तैल—(च० द०)

कान में डालने से कर्णनाद, कर्णशूल, कर्णबाधिर्य तथा कर्णस्राव रोग नष्ट हो जाते हैं।

४. कर्णनाद तथा कर्णबाधिर्य रोग में गुड़ तथा सौंठ, के क्वाथ का नस्य देवें।

(२) पूतिकर्ण रोग के लक्षण—

पित्त से विदग्ध हुआ कफ दर्द के साथ या दर्द के बिना दुर्गन्ध युक्त बहुत क्लेद को करता है। इसको पूतिकर्ण कहते हैं। चाहे जिस कारण से कान से दुर्गन्ध और पीप आदि निकलने को पूतिकर्ण कहते हैं।

पूतिकर्ण चिकित्सा—

१. स्त्री के दुग्ध में रसौत को घिसकर शहद मिलाकर कान में डालने से पूति कर्ण रोग दूर हो जाता है।

२. निर्गुण्डी पत्तों का स्वरस, तिल तैल, सैंधालवण, रसोईघर के धुंआ का चूर्ण तथा गुड़ इनसे तैल पकाकर शहद मिलाकर कान में डालने से पूतिकर्ण दूर हो जाता है।

३. 'चरकाचार्य' ने समस्त कर्ण रोगों को नष्ट करने के लिए क्षार तैल का प्रयोग लिखा है।

४. कुष्ठाद्य तैल (भै० र०)—तिल तैल १ सेर, छागमूत्र ४ सेर, तथा कल्कार्थ कुष्ठ, हिङ्गु, वचा, देवदारु, सौंफ, सौंठ, सैंधालवण इनका कल्क २० तोला लेकर यथाविधि तैल सिद्ध करलें। इस तैल को दोनों समय कानों में डालने से पूतिकर्ण रोग नष्ट हो जाता है।

५. तिल तैल ५ तोला तथा चमेली के पत्तों का स्वरस २ तोला लेकर तैलावशेष पाककर कानों में डालने से पूतिकर्ण रोग दूर हो जाता है। (भै० र०)

(३) कर्ण बाधिर्य के लक्षण एवं उसकी संप्राप्ति—

कफ से मिश्रित वायु अथवा उपेक्षा किया कर्णनाद रोग कठिनाई से ऊंचा सुनना उत्पन्न करता है और धीरे-धीरे यह बहरापन में बदल जाता है। यह रोग होने से मनुष्य की सुनने की शक्ति मारी जाती है, वह बहरा हो जाता है।

कर्ण बाधिर्य चिकित्सा—

१. दशमूल तैलम्(च० द०)—कर्ण बाधिर्य रोग में यह अत्यन्त हितकर है।

२. बिल्व तैल (च० द०)—यह तैल कर्ण बाधिर्य रोग में डालने के लिए श्रेष्ठ है।

३. बिल्व तैल द्वितीयम् (भै० र०)—तिल तैल १ सेर, गोमूत्र ४ सेर, बकरी का दूध १ सेर, बिल्व मज्जा १ पाव भर लेकर यथाविधि तैल सिद्धकर कानों में भरने से कफ तथा वातजन्य बधिरता शीघ्र नष्ट होती है।

४. लशुनाद्य तैलम् (भै० र०)—यह तैल कानों में डालने से कर्णबाधिर्य रोग नष्ट होता है।

५. बाधिर्यादि कर्ण रोगों में वाताधिकारोक्त माषतैल, नारायण तैल प्रभृति तैलों को कान में डालें तथा मैथुन, क्रोध और रूक्ष पदार्थ वर्जित करें।

—डा० एस० जनार्दन जी०सी०ए०एम० आयुर्वेद वारिध
चिकित्साधिकारी—राजकीय आयुर्वेद औषधालय
रामावरम् (खम्मम्) आन्ध्र प्रदेश
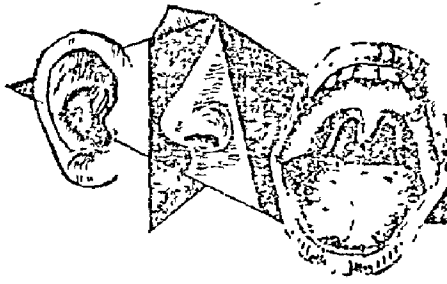
डा० दाऊ दयाल गर्ग ए.एम. बी. एस. आयु. वृह

कर्ण, नासिका गुहा तथा गले एवं मुख की परीक्षार्थ पूरा एक सैट बाजार में आता है जिसे डाइग्नौस्टिक सैट कहते हैं। इस सैट में एक बैटरी हैंडिल होता है जिस पर कि परीक्षार्थ उस उपकरण को लगा दिया जाता है जिस अवयव की परीक्षा करनी है। इससे इन अवयवों को पूरे प्रकाश से देखा जा सकता है।

यह सैट भी दो प्रकार के आते हैं। एक तो पुराने प्रकार का सैट आता है जिसके सभी भाग धातु के बने होते हैं तथा यही अधिक उपयुक्त रहता है। दूसरे प्रकार का एक सैट और अभी-अभी बाजार में देखने में आया है। यह एक पैन टार्च होती है जिसके ऊपर कि कांच के ठोस उपकरण कस जाते हैं। इन कांच के उपकरणों में, जोकि लम्बे बेलनाकार तथा मुड़े हुए होते हैं, प्रकाश अधिकतर उनके अन्दर ही चलता है। यह सैट फ्लेक्स रे डाइग्नौस्टिक सैट (Flex Ray Diegnostic set) के नाम से प्रसिद्ध है। ये सैट अपेक्षाकृत सस्ते होते हैं लेकिन एक तो यह शीघ्र टूट जाते है दूसरे इनसे उतना स्पष्ट परीक्षण भी नहीं होता।

प्रत्येक सैट में कान, गले तथा नासिका की परीक्षा करने के उपकरण आते हैं। नासिका की पश्चात् परीक्षा (Posterior Rhinoscopy) करने का एक शीशा और होता है जोकि प्रायः इस सैट में नहीं आता। इसको पृथक से अवश्य खरीद लें तभी यह सैट पूरा होता है।

जब इस सैट का उपयोग न किया जाय उस समय दोनों सैलों को टार्च में से निकाल कर बाहर रखना चाहिये अन्यथा कभी-कभी भूल से टार्च जली ही रह जाती है तथा सैलों का व्यर्थ ही अपव्यय होता है। कभी-कभी सैलों में से पानी जैसा एक पदार्थ सा निकल कर टार्च को भी खराव कर देता है।

प्रत्येक अङ्ग की पृथक-पृथक परीक्षण विधि हम बतलायें उससे पूर्व कुछ आवश्यक निम्न बातें जान लें—

प्रकाश की व्यवस्था—

जब रोगी की परीक्षा उन यंत्रों से करनी हो जिसमें कि बैटरी न हो तो प्रकाश की उपयुक्त व्यवस्था रखनी चाहिये। इसके लिये प्रकाश रोगी के सिर से लगभग १ फीट ऊपर तथा पीछे की ओर से आना चाहिये तथा परीक्षक को सिर पर पहनने वाले शीशे (Head Mirror) का प्रयोग करना चाहिये। यह एक नोंकदार (Concave) गोल शीशा होता है जिसका व्यास लगभग ४ इंच (१० सैन्टीमीटर) होता है तथा केन्द्र में एक छेद होता है। जब परीक्षक इसको चित्र में दिखाये अनुसार पहन लेता है

सिर पर पहनने वाला शीशा

तो शीशे का यह केन्द्र का छिद्र एक आंख के सामने की ओर आ जाता है। प्रकाश रोगी के पीछे से आकर शीशे पर से परावर्तित होकर रोगी के उस स्थल पर पड़ता है जिसका कि परीक्षण किया जाना है। इस विधि में परावर्तित होने के पश्चात् प्रकाश जिस दिशा में चलता है, शीशे के पीछे छिद्र में से देखने वाली आंख भी उसी दिशा में देखती है जिससे परीक्षण स्थल स्पष्ट दिखाई देता है।

सिर पर पहनने वाले शीशे को परीक्षक को इस प्रकार पहनना चाहिए कि उसका छिद्र दाहिने नेत्र के सामने आ जाय। शीशे द्वारा परावर्तित प्रकाश रोगी के होंठ तथा दांतों पर पड़ना चाहिये। अब परीक्षक अपनी बांयीं आंख बन्द कर दाहिनी आँख से देखें, उसे वह स्थल जहाँ परावर्तित प्रकाश पड़ रहा है स्पष्ट दिखाई देना चाहिये। अब दाहिनी आँख बन्द कर बांयीं आंख से देखें तो उसे शीशे के बाहर के सभी स्थल स्पष्ट दीखने चाहिये।

इसके अतिरिक्त एक सिर पर पहनने वाली टार्च (Head Torch) का प्रयोग भी किया जाता है। यह टार्च परीक्षक के सिर पर नीचे के चित्र में दिखाये अनुसार लग जाती है तथा परीक्षक के नेत्रों के कुछ ऊपर से प्रकाश चलता है। यह साधारण टार्च जैसी ही होती है लेकिन इसमें टार्च परीक्षक को अपने हाथ में न पकड़ कर सिर पर पहननी पड़ती है तथा टार्च का हैंडिल, जिसमें कि सैल रहते हैं परीक्षक की जेब में रखा रहता है एवं इन दोनों का सम्बन्ध तार से रहता है। परीक्षक के दोनों हाथ खाली रहे आते हैं।

सिर पहनने वाली टार्च

इन दोनों यन्त्रों का प्रयोग अधिकतर नेत्र परीक्षा करते समय करते हैं। कान, मुख तथा गले की परीक्षा में भी प्राय: इन यन्त्रों का उपयोग करते हैं।

रोगी के बैठने की जगह—

रोगी को बैठने के लिये परीक्षक के बराबर या उससे कुछ ऊंचा स्टूल होना चाहिए। प्रकाश उसके पीछे कान के समतल से आ रहा हो। परीक्षक को रोगी से कुछ बायीं ओर बैठना चाहिए। यदि परीक्षक अपने दाहिने हाथ की अपेक्षा बांये हाथ से अधिक काम लेता हो उसे कुछ दाहिनी ओर बैठना चाहिए। यदि रोगी तथा चिकित्सक दोनों को बैठने के लिये घूमने वाली कुर्सी या स्टूल हो तो वह अधिक उपयुक्त रहता है।
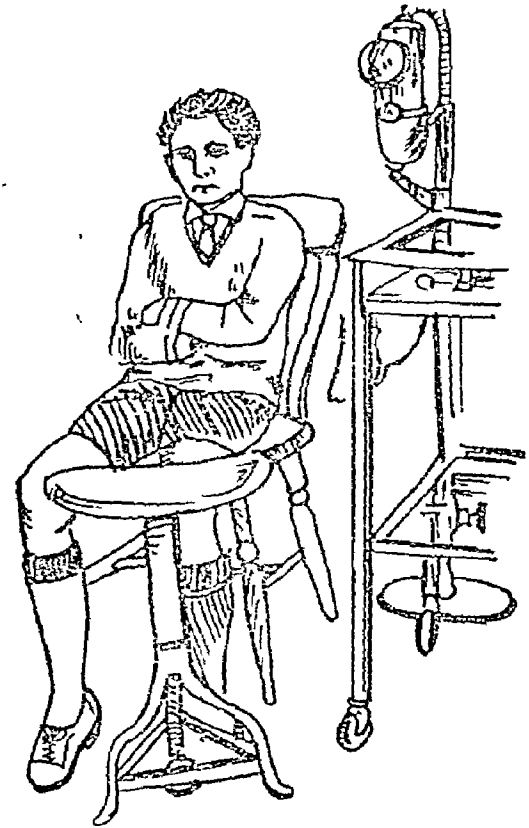
इसके साथ-साथ मेज पर परीक्षक के पास ही एक ट्रे में विसंक्रमित यंत्रशस्त्र रखे रहने चाहिये जिससे उनकी आवश्यकता होने पर परीक्षक को अपने स्थान से बार-बार न उठना पड़े। गन्दगी फैंकने के लिये परीक्षक के कमरे में ढकी हुई बाल्टी इत्यादि कोई पात्र होना आवश्यक है।

अब हम नासिका, कर्ण तथा मुख एवं गले की परीक्षा विधि पृथक-पृथक लिखेंगे।

कर्ण परीक्षा

कर्ण परीक्षा करने के लिए भी दो प्रकार के यन्त्र आते हैं। एक में कृत्रिम प्रकाश की कोई व्यवस्था नहीं होती। इस यन्त्र में एक ओर एक फनल की तरह होता है जिसका कि मुंह प्रकाश की तरफ रखते है तथा इससे

प्रकाश मिलता है। इसमें आगे की ओर कर्ण परीक्षार्थ लगने वाले हिस्से तीन की संख्या में आते हैं। इनके आगे का छिद्र पतला, मोटा होता है तथा छिद्र के अन्तर से इसका उपयोग बच्चों, प्रौढ़ एवं वृद्धों में किया जाता है।
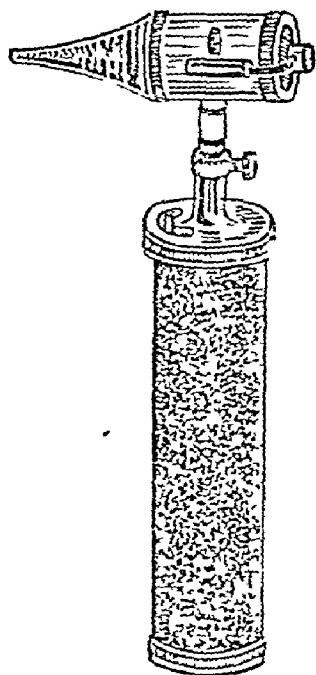
कर्ण परीक्षा यन्त्र
(वैटरी वाला)

एक दूसरे प्रकार का यन्त्र डाइग्नोस्टिक सैट के साथ आता है। यह वैटरी के ऊपर फिट हो जाता है तथा इसमें कृत्रिम प्रकाश की व्यवस्था होती है। इसे कर्ण परीक्षा यन्त्र (Auroscope-Otoscope) कहते हैं। कर्ण परीक्षा के लिये यही यन्त्र अधिक उपयुक्त रहता है। इस यंत्र के साथ कर्ण परीक्षा के लिये उपरोक्त बिना वैटरी वाले कर्ण परीक्षा यन्त्र के समान तीन Ear pieces आते हैं जिनके आगे के छिद्रों के व्यास में अन्तर होता है। छोटी अवस्था में छोटे छिद्र वाले का तथा बड़ी अवस्था वाले रोगी में बीच वाले या बड़े छिद्र वाले Ear piece से कर्ण परीक्षा करें।

कर्ण परीक्षा करने से पूर्व कर्ण परीक्षा यन्त्र के कान में प्रविष्ट होने वाले भाग (Ear piece) को पूरी तरह स्वच्छ कर लेना चाहिए तथा कर्ण परीक्षा करने के पश्चात् भी इसे स्वच्छ करके ही रखना चाहिए।

परीक्षा विधि

कर्ण परीक्षा यन्त्र में उपयुक्त व्यास वाले ईयरपीस को फिट कर कान में प्रविष्ट करें। कान में प्रविष्ट करते समय वहिकर्ण (Pinna-auricle) को युवकों तथा वृद्धों में पीछे तथा ऊपर की ओर खींचे जिससे वहिर्कर्ण नलिका (External auditory meatus) सीधी हो जाय और कान का परदा-कर्ण पटल (Tympanic membrane) स्पष्ट दिखाई देने लगे। यदि कर्ण-परीक्षा साधारण कर्ण परीक्षा यन्त्र या केवल ईयर पीस से कर रहे हैं तो वहिकर्ण को निम्न चित्र में दिखाये अनुसार दो अंगुलियों के बीच में दबा कर खींचते हैं जिससे दूसरे हाथ से हम अन्य कार्य कर सकें।
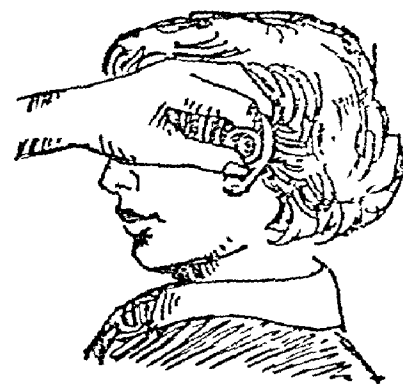
केवल ईयरपीस से कर्ण परीक्षा विधि

यन्त्र को कर्ण नलिका में बहुत सावधानी से बिना कुछ बल लगाये प्रविष्ट करें। यन्त्र को लगभग आधा इन्च से अधिक प्रविष्ट नहीं करें। इस परीक्षा का मुख्य ध्येय वहिर्कर्ण नलिका में फुंसियाँ कोई विजातीय द्रव्य तथा कोई अनाज का दाना या चींटी आदि कोई कृमि आदि, कान का मैल तथा कान का परदा कर्ण पटल देखना होता है। कर्ण नलिका में पूय या अन्य कोई स्राव भी पाया जा सकता है। यदि इनमें से किसी की कर्ण नलिका में उपस्थिति के कारण कर्ण पटल स्पष्ट दिखाई न दे तो कान धोने की पिचकारी द्वारा कान को धो लेने तथा रुई से कर्ण नलिका को पूर्णतः सुखा लेने के पश्चात् ही कर्ण परीक्षा करें।

कभी-कभी रोगी के कान में यन्त्र को प्रविष्ट करते ही उसे गुदगुदी मालूम होती है। कर्ण नलिका का अस्थि वाला भाग उपास्थि वाले भाग की अपेक्षा बहुत अधिक संज्ञाशील होता है। इस कारण यन्त्र को आधे इन्च से अधिक प्रविष्ट न करें तथा जिन रोगियों को प्रारम्भ में ही गुदगुदी या दर्द लगे उनके कर्ण में कोकिन साल्यूशन १० प्रतिशत या एनीथेन साल्यूशन १ प्रतिशत की ३-४ बूंद डालने के ५ मिनट बाद कर्ण परीक्षा करें।

कभी-कभी ऐसा होता है कि कर्ण नलिका के भीतरी ऊपर के भाग को ही कर्ण पटल समझ लिया जाता है तथा उसी को देखकर रोगी के रोग का निर्णय कर लिया जाता है। ऐसी भूल से बचने के लिये कान के परदे की दो
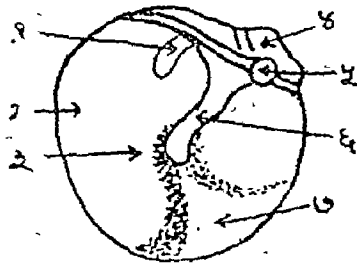
दाहिने कान का पर्दा

१—शुमिकास्थि का लम्ब प्रवर्द्धन (Long process of Incus bone)।

२—कर्ण पटल।

३—मध्यकर्ण की मुद्‌गरवत् अस्थि (Malleus Bone) के हैंडिल का अन्तिम सिरा (Umbo)।

४—फ्लेसिड मैम्ब्रेन (Membrane Flaccida)।

५—मध्यकर्ण की मुद्‌गरवत् अस्थि का एक प्रवर्द्धन।

६—मध्य कर्ण की मुद्‌गरवत् अस्थि का हैंडिल (Handle of the Malleus bone)।

७—दो प्रकाश रेखाओं के बीच का भाग।

पहचानें हमेशा देख लें—

(१) कान का परदा मोती के समान सफेद रङ्ग का दिखाई देता है।

(२) मैलस नामक अस्थि का हैंडिल (Handle of malleus) दाहिने कर्ण से एक बजकर ५ मिनट की स्थिति से (ऊपर का चित्र देखें) तथा बांये कर्ण में ग्यारह बजने में पांच मिनट की स्थिति में दिखाई देता है। यद्यपि इस हैंडिल का नीचे का सिरा कान के परदे के केन्द्र से कुछ नीचे तक जाता है तथापि हैंडिल के नीचे के सिरे से एक प्रकाशयुक्त रेखा आगे की ओर तथा एक प्रकाश युक्त रेखा नीचे की ओर परिधि तक जाती है।

यदि परीक्षक को किसी कारण से कान का परदा-कर्णपटल न दिखाई दे सके तो उसे परीक्षा द्वारा उसका कारण ज्ञात करना चाहिए। ऐसा भी हो सकता है कि प्रकाश कम हो या यन्त्र से प्रकाश ठीक दिशा में न जा रहा हो। यदि ऐसा हो तो प्रथम अपने उपकरणों को ठीक करना चाहिए। यह हो सकता है कि कान के परदे के सामने कोई चीज आ जाय जिससे वह दिखाई न दे। यदि ऐसा हो तो इस वस्तु का व्रण तथा अपने यंत्र से उसकी लगभग दूरी देखें, कर्ण नलिका की कला की सुजन या किसी फुंसी आदि से कर्ण नलिका व्यास बहुत कम रह जा सकता है तथा उसके कारण भी कान का परदा दिखाई नहीं देता है।

कभी-कभी परीक्षक यह निर्णय नहीं कर पाता कि उसके यंत्र से प्रकाश ठीक दिशा में चल रहा है या नहीं। इसे जानने के लिये हमें अपने यन्त्र से जो वस्तु दिखाई दे रही है यदि वह यन्त्र को आगे बढ़ाने से स्पर्श कर जाती है तो वह निश्चय ही कर्ण पटल नहीं है।

यदि अवरोधक पदार्थ कान का मैल है तो यह अपने गहरे बादामी रंग से या कभी-कभी काले रंग से पहचाना जा सकता है। कान का मैल क्योंकि संज्ञाहीन होता है इस कारण उसे स्पर्श करने पर भी (किसी प्रोब से या यन्त्र द्वारा) रोगी को कोई ज्ञान नहीं होता। कर्ण अर्बुद भी प्रायः संज्ञाहीन होते हैं तथा इन्हें भी प्रोब द्वारा हिलाया जा सकता है। कान में फुंसी होने पर भी कान का परदा दिखाई नहीं देता लेकिन कान में दर्द होगा तथा रोगी की कर्ण परीक्षा करने पर फुंसी की सुजन स्पष्ट दिखाई देगी और रोगी के बहिर्कर्ण को खींचने पर दर्द बढ़ जायेगा।

किन्हीं-किन्हीं रोगियों में कर्णपट की अनुपस्थिति पाई जाती है। ऐसे रोगी की परीक्षा के समय नया चिकित्सक इसे नहीं समझ पाता। ऐसे रोगियों में जीर्ण कर्ण शोथ का इतिहास मिलेगा तथा परिधि पर कर्णपट के कुछ अवशेष अवश्य प्राप्त होंगे। कान सूखा हुआ मिलेगा।

नासिका-परीक्षा

क्योंकि नासिका के अन्दर की श्लैष्मिक कला वायु पूर्ण अस्थि गह्वरों की श्लैष्मिक कला (mucous membrane of sinuses) से सम्बन्धित है अतः नासिका की परीक्षा करते समय विसंक्रमण की ओर पूर्ण ध्यान रखें। कहीं ऐसा न हो कि परीक्षा करने में यन्त्र प्रयोग करते समय आप एक स्थान के संक्रमण को दूसरे स्वस्थ अवयव पर भी पहुँचा दें अथवा एक रोगी के संक्रमण को दूसरे रोगी की नासिका में पहुँचा दें। ऐसा तभी होता है जब यन्त्र को एक रोगी पर प्रयोग करने के पश्चात् उसे बिना स्वच्छ किये ही दूसरे रोगी पर प्रयोग किया जाय।

नासिका गह्वर के अग्रभाग की परीक्षा (Anterior Rhinoscopy) ।

यह परीक्षा जिस यन्त्र से की जाती है उसे नासिका प्रेक्षण यन्त्र (Nasal Speculum) कहते हैं। इसमें दो फलक (Blades) होते हैं जिनके बीच की दूरी कम अधिक की जा सकती है। डाइग्नौस्टिक सैट में टार्च के हैंडिल के ऊपर जो नासिका प्रेक्षण यन्त्र फिट होता है उसमें दोनों फलकों के बीच की दूरी एक स्क्रू द्वारा कम अधिक की जाती है। साधारण प्रकार के प्रेक्षण यन्त्रों के फलक दो हैंडिलों से सम्बन्धित रहते हैं जिनको कि हाथ में पकड़ा जाता है। जब इन हैंडिलों को दबाते हैं तो फलकों के बीच की दूरी बढ़ जाती है तथा जब हैंडिलों को ढीला छोड़ देते हैं तो दोनों फलक आपस में पास आकर मिल जाते हैं।

यह लम्बे हैंडिल वाले यन्त्र भी दो प्रकार के आते हैं—

(१) किलियन का नासिका प्रेक्षण यन्त्र (Killians Nasal Speculum)—यह कैंची की तरह का होता है। दोनों ब्लेड तथा हैंडिल बीच में एक कीली से जुड़े होते हैं। दोनों ब्लेडों को आपस में पास रखने के लिये दोनों हैंडिलों का आपस में दूर रहना आवश्यक है और इस कार्य के लिए दोनों हैंडिलो के बीच में एक धातु की पट्टी रहती है।
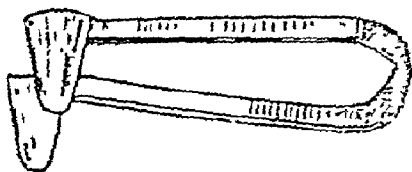
थडीचम का नासिका प्रेक्षण यन्त्र

(२) थडीचम का नासिका प्रेक्षण यन्त्र (Thudichum's nasal Speculum)—यह अंग्रेजी अक्षर 'U' की शक्ल का होता है तथा इसके दोनों सिरों पर फलक होते हैं।

प्रयोग विधि—

यन्त्र को आगे के चित्र में दिखाये अनुसार पकड़ें। यंत्र प्रयोग करते समय परीक्षक का हाथ नासिका छिद्र के आगे नहीं आना चाहिए। यन्त्र की बन्द अवस्था में अर्थात् जब दोनों फलक पास हों प्रविष्ट करना चाहिये। जब नासिका में पूरा यन्त्र प्रविष्ट हो जाय तो हैंडिलों को दबा कर या स्क्रू द्वारा फलकों को खोल कर नासिका छिद्र को चौड़ाना चाहिए। अब नासिका के अन्दर की श्लैष्मिक कला का
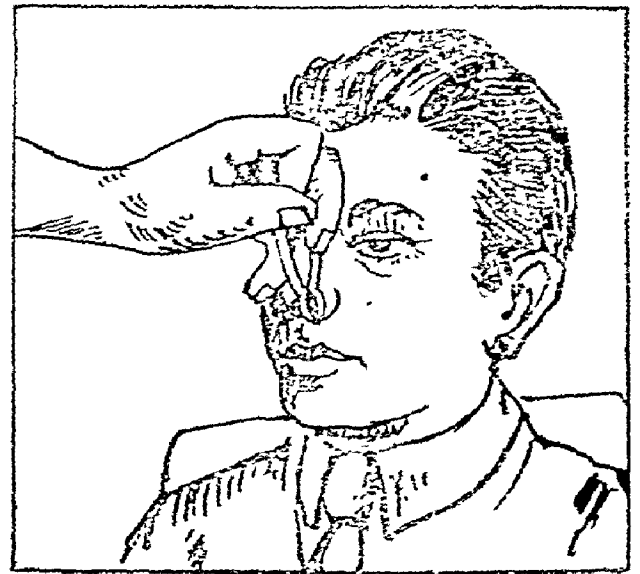
थडीचम का प्रेक्षण यन्त्र का प्रयोग इस प्रकार से करें।

वर्ण, स्राव, खुरण्ड, अर्बुद (Nasal Polypus), किसी विजातीय पदार्थ की नासिका गह्वर से उपस्थिति, रक्तस्राव का स्थल आदि की ओर विशेषतः ध्यान देना चाहिए। (विशेषतः विवरण इस विषय की पुस्तकों में देखें।)

अब इस यन्त्र को परीक्षा करने के पश्चात् नासिका से निकालें तो खुला ही निकालें, बन्द न करें। बन्द करने से नाक के बाल भी दोनों फलकों के बीच में दब जाते हैं तथा यन्त्र को नासिका से निकालते समय वह साथ ही उखड़ जाते हैं और इस प्रकार चिकित्सक की भूल से नासिका में व्रण बन सकते हैं। इसीलिये यन्त्र को खुला हुआ ही बाहर खींच लेना चाहिए।

नासिका की बायोनेट फारसैप्स

कभी-कभी नासिका के अन्दर श्लैष्मिक कला में इतनी सूजन होती है कि नासिका की परीक्षा नहीं हो सकती। ऐसी अवस्था में कोकेन के १० प्रतिशत घोल की २५ बूंद तथा एड्रिनलीन के ०.०१ प्रतिशत घोल (१:१०००) की

१५ बूंद में एक गौज भिगोकर नासिका गह्वर में एक चीमटी से (इस चीमटी को बायोनैट फारसैप्स कहते हैं। नासिका में इस चीमटी का ही प्रयोग किया जाता है) प्रविष्ट करें और थोड़ी देर नासिका में रखने के पश्चात् निकाल लें। इससे श्लैष्मिक कला की सूजन कम हो जायगी। कोकेन का संज्ञाहर प्रभाव भी होता है जिससे नासिका परीक्षा में रोगी को भी कम परेशानी होती है। नासिकागत रक्त-पित्त में भी नाक में इन्हीं घोल का इतनी ही शक्ति लेकिन मात्रा में अधिक गौज भिगो कर प्रयोग किया जाता है। इससे तुरन्त रक्तस्राव बन्द हो जाता है। एड्रिनलीन का रक्तरोधक प्रभाव विशेषतः होता है।

जब नाक के अन्दर कोई छोटा शल्य कर्म करना होता है तो इसी प्रकार कोकेन के साल्यूशन से नासिका गह्वर को पैक करते हैं। नासिकागत रक्तपित्त में गौज को हाइ-ड्रोजन परौक्साइड में भिगो कर हैजेलीन या एड्रिनलीन सोल्यूशन भिगो कर प्रविष्ट करते हैं। इसे एन्टीरियर प्लगिङ्ग (Anterior plugging) कहते हैं।
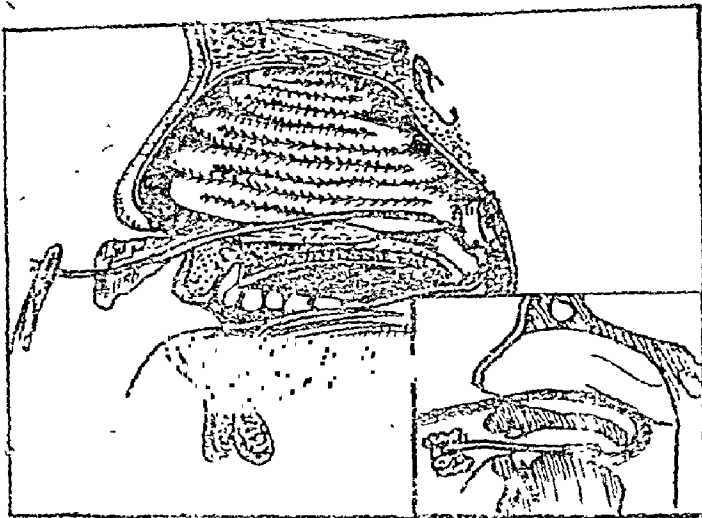
नासिका गह्वर में गौज प्रविष्ट किया हुआ है। [नीचे कोने के चित्र में आरम्भ किस प्रकार किया जाता है यह दिखाया गया है। नासिका गह्वर में रबड़ का कैथीटर है

नासिका के पश्चात् भाग की परीक्षा (Posterior Rhinoscopy)—

यह परीक्षा एक शीशे के द्वारा की जाती है जिसे पोस्टीरियर रोनीस्कोपी मिरर (Posterior Rhinoscopy Mirror) कहते हैं। यह एक छोटा गोल शीशा होता है जिसमें कि ४५° के कोण पर एक लम्बा हैंडिल लगा होता है।

प्रथम गले तथा जबान की जीवी (Tongue depressure) से जिह्वा को दबा लें जिससे मुंह के फैलाने पर वह भी उठ कर परीक्षण में बाधा न डाले। अब शीशे को
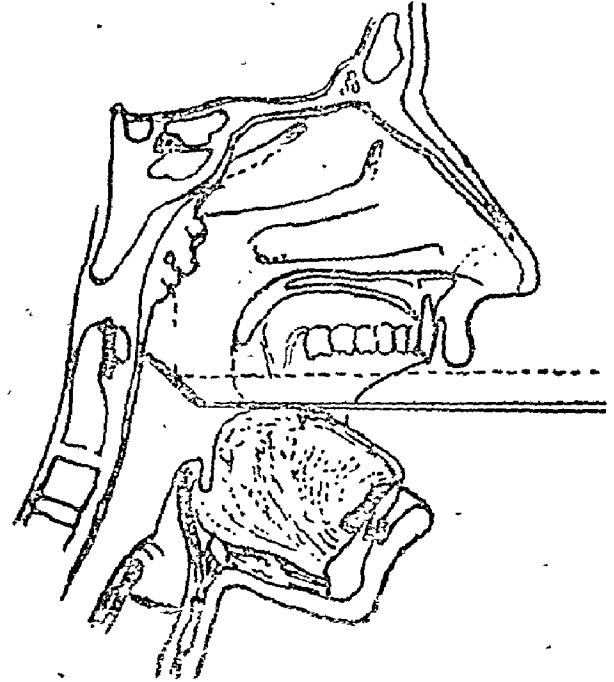
नासिका के पश्चात् भाग की परीक्षा (चित्र में बिन्दुदार रेखा प्रकाश की दिशा की सूचक है।)

इस स्थिति में रखते हैं कि नासा ग्रसनिका (Nasopharynx) स्पष्ट दिखाई पड़े।

इस परीक्षा के करने से पूर्व शीशे के पश्चात् तल को स्प्रिट लैम्प पर किंचित गर्म कर लेते हैं जिससे मुख के अन्दर की वाष्प शीशे पर न जम जाय। साथ ही गर्म करने के पश्चात् शीशे को हथेली के पीछे स्पर्श करके देख लें कि वह इतना अधिक गर्म न हो जाय कि गले की श्लैष्मिक कला को जला दे।

किसी-किसी रोगी की ग्रसनिका (Pharynx) बहुत संज्ञाशील होती है। ऐसे रोगी में जब शीशा ग्रसनिका में ले जाया जाता है तो संज्ञाशीलता के कारण उसका मृदु तालु (Soft palate) नीचे आ जीभ से लग जाता है और परीक्षण में बहुत कठिनाई होती है। ऐसे रोगी में जिह्वा को जीवी (टग डिप्रेसर) द्वारा बीच में न दबाकर एक किनारे से दबायें। इससे एक ओर तो जीभ उठी रह जायेगी लेकिन दूसरी ओर कुछ अधिक दब जायगी और

आपको परीक्षण करना सुगम हो जायेगा । ऐसे रोगियों में सर्वदा यह ध्यान रखें कि शीशा ग्रसनिका में ले जाते समय मृदु तालु या गल शुण्डिका से स्पर्श न हो। साथ ही रोगी से कहें कि वह परीक्षण काल में लम्बे श्वास ले तथा लम्बे श्वास छोड़े। यदि थोड़ी देर को श्वास रोक ले तो भी मृदु तालु ऊपर उठा रहता है।

किन्हीं-किन्हीं रोगियों में संज्ञाशीलता इतनी अधिक होती है कि उनमें यह परीक्षण करना असम्भव लगता है। ऐसे रोगियों में कोकेन सोल्युशन का अन्दर गले तथा मृदु तालु पर आटोमाइजर (Automizer) द्वारा स्प्रे करें।

बच्चे यह परीक्षा नहीं करने देते। ऐसी अवस्था में नासा ग्रसनिका (Naso pharynx) की परीक्षा अंगुली से ही नीचे चित्र में दिखाई गई विधि से करनी चाहिए।

यह परीक्षा बहुत सावधानी से तथा बहुत शीघ्रतापूर्वक करनी चाहिये। परीक्षक को रोगी के दाहिनी ओर खड़े होकर उसका सिर अपनी बायीं बाहु से मजबूती से पकड़ लेना चाहिये तथा बायें हाथ से ही जीभी को मुंह में

बच्चों में नासिका के पश्चात् भाग की अंगुली द्वारा परीक्षा विधि

डालकर जिह्वा को दबाना चाहिये। अब चिकित्सक अपने दाहिने हाथ की तर्जनी अंगुली मुख में डालकर तालु के सहारे अन्दर ले जाय तथा मृदु तालु आरम्भ होने पर अंगुली को ऊपर की ओर हुक जैसा मोड़कर नासा ग्रसनिका की स्पर्श द्वारा परीक्षा करें।

यदि कोई जानकार परीक्षक इस परीक्षा को सावधानी से तथा शीघ्रतापूर्वक करें तो कभी-कभी बालक को उसकी परीक्षा का पता भी नहीं चलता।

स्वर यन्त्र की परीक्षा

यह परीक्षा भी पश्चात् नासिका गह्वर परीक्षा की भांति एक शीशे के द्वारा की जाती है जिसे स्वर यन्त्र दर्शक दर्पण (Laryngeal mirror) कहते हैं। यह शीशे भी दो प्रकार के होते हैं—

१. जो डाइग्नौस्टिक सैट के साथ आते हैं। इसमें प्रकाश की व्यवस्था रहती है।

२. साधारण दर्पण—इनसे परीक्षा करते समय सिर पर पहनने वाली टार्च या शीशे की आवश्यकता पड़ती है। स्वर यन्त्र परीक्षा में एक स्प्रिट लैम्प की तथा एक गौज या किसी साफ मोटे खुरदरे कपड़े की आवश्यकता और पड़ती है।

शीशे द्वारा स्वर यन्त्र परीक्षा में प्रायः किसी प्रकार के संज्ञाहरण की आवश्यकता नहीं पड़ती लेकिन यदि रोगी वातिक प्रकृति (Nervous temperament) का या संज्ञाशील है तो गले में कोकेन साल्यूसन स्प्रे किया जा सकता है। या परीक्षा करने से पूर्व रोगी एनीथेन (Anaethaln) नामक चूसने वाली टेबलेट चूस लें तो उससे भी काम चल सकता है।

परीक्षा विधि—

यदि रोगी के कृत्रिम दांत हों तो उन्हें परीक्षणकाल में निकाल देने चाहिये। कमरे में काले पर्दा लगाकर अन्धेरा रखना चाहिये। रोगी को एक कुर्सी या स्टूल पर कुछ सामने की ओर झुका कर बैठायें। साथ ही एक सहायक रोगी के सिर को अपने दोनों हाथों से आगे के पृष्ठ पर पहले चित्र में दिखाये अनुसार पकड़ लें।

अब शीशे के पश्चात तल को स्प्रिट लैम्प की लौ पर गर्म करें। शीशा अधिक गर्म तो नहीं है इसकी परीक्षा अपने हाथ के पीछे के हिस्से से स्पर्श कर कर लेनी चाहिये। शीशे को गरम पानी में डुबाकर भी गरम किया जा सकता है।

अब रोगी को अपनी जीभ बाहर निकालने को कहें तथा उसके जीभ बाहर निकालने पर एक गौज या किसी मोटे स्वच्छ कपड़े से जीभ को बांये हाथ से चित्र में दिखाये अनुसार पकड़कर बाहर खींचें। जिह्वा पकड़ने के

स्वर यंत्र परीक्षा विधि–(साथ ही टार्च पर फिट हुआ स्वर यंत्र दर्शक दर्पण भी दिखाया गया है।)

लिए कपड़े का प्रयोग आवश्यक है क्योंकि कपड़े का प्रयोग न करने से एक तो चिकित्सक को ग्लानि होती है। दूसरे जीभ ठीक तरह से पकड़ में नहीं आती, हाथ से फिसल जाती है।
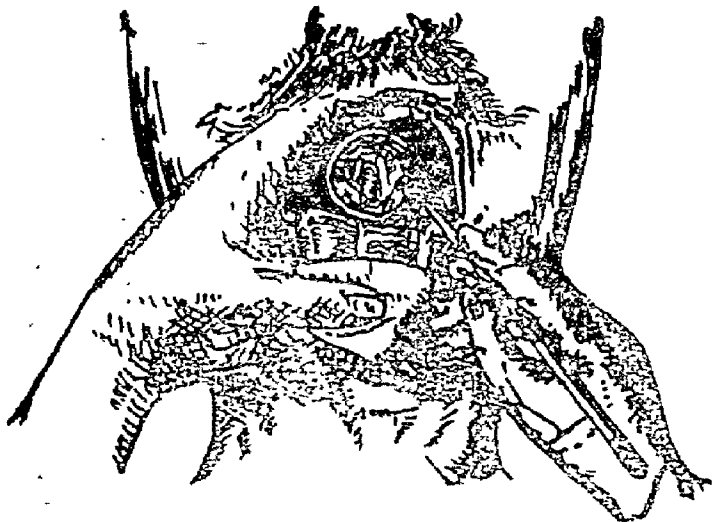
बिना बैटरी वाले स्वर यन्त्र दर्शक दर्पण से परीक्षा विधि–(दर्पण में दिखाई देने वाले भाग आगे के चित्र में पृथक से दिखाये हैं।)

अब दाहिने हाथ से शीशे को गले में ले जायें। जब शीशा गल शुण्डिका (Uvula) के सामने पहुंच जाय तो हैंडिल को इस प्रकार से घुमाते हैं कि शीशा गल शुण्डिका तथा मृदु तालु को पीछे ढकेलता हुआ एकदम इनके पीछे पहुंच जाता है लेकिन ग्रसनिका पश्चात् भित्ति (Posterior wall of the pharynx) का स्पर्श नहीं करता। अब स्वर यन्त्र स्पष्ट दिखाई देने लगता है।

इस परीक्षा द्वारा हमें जिह्वा का मूल भाग; क्षुद्रखात, उपजिह्विका; स्वर यन्त्र की कुछ उपास्थियां, स्वर यन्त्र का पश्चात् भाग तथा टेंटुआ का कुछ भाग (Base of the tongue, valleculae of the epiglottis, the Arytenoids, the posterior part of the larynx and glottis) दिखाई देते हैं। अधिक स्पष्ट परीक्षण के लिये रोगी से कहें कि वह 'ई-ई-ई' करता रहे तथा गहरी सांस लेता रहे।
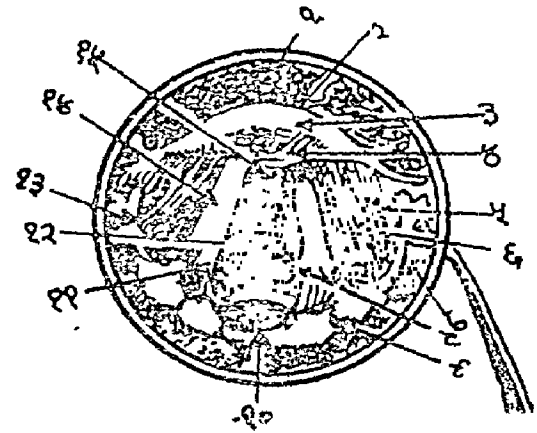
स्वरयंत्र दर्पण में दीखने वाले भाग

1–Base of the tongue 2–Median glosso epiglottidean fold 3–Epiglottis 4–Cushion of epiglottis 5–Ventricular Band 6–Ventricle 7–Sinus pyriformis 8–Rings of trachea 9–Cartilage of Wrisberg 10–Inter-artenoid Space 11–Processus Vocalis 12–Rima glotfidis 13–Aryteno epiglottidean fold 14–Truevocal cord 15–Thyroid Cartilage.

अपने परीक्षण काल में यह ध्यान रखें कि जीभ को एकदम इतना बाहर न खींचा जाय कि उससे रोगी को परेशानी हो। यदि परीक्षण काल में रोगी संज्ञाशील रहे तो गले में कोकेन साल्यूशन को पुन: स्प्रे करें।

इस परीक्षा को इनडाइरैक्ट लेरिंगोस्कोपी (Indirect laryngoscopy) कहते है। इस परीक्षा द्वारा पूरे स्वर-

यंत्र की परीक्षा करना सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त स्वरयंत्र की परीक्षा एक यंत्र लेरिंगोस्कोप (Laryngoscope) द्वारा भी की जाती है। इसे डाइरेक्ट लेरिंगोस्कोपी कहते हैं। यह परीक्षा इस विषय के विशेषज्ञों द्वारा की जाती है।

गले तथा मुख की परीक्षा

यह परीक्षा जीवी—जिह्वावनामक (Tongue Deppressure) नामक यन्त्र से की जाती है।

मुख व गले की परीक्षा करते समय प्रकाश की पर्याप्त व्यवस्था होनी चाहिए। इसके लिये सिर पर पहनने वाली टार्च या सिर पर पहनने वाले शीशे का व्यवहार करें। इनके अभाव में साधारण टार्च या पैन टार्च का व्यवहार किया जा सकता है। डाइग्नोस्टिक सैट का जिह्वावनामक सर्वोत्तम रहता है।

रोगी को एक स्टूल पर बिठायें तथा उसे मुख खोलने को कहें। मुख खोलने पर जिह्वा के सबसे ऊंचे भाग को जिह्वावनामक द्वारा नीचे तथा आगे की ओर दबायें तथा रोगी से कहें कि वह धीरे-धीरे सांस लेता रहे। अब निम्न क्रम से परीक्षा करें—

मुख गह्वर—

श्लैष्मिक कला को देखें कि कहीं पर लालिमा या व्रण इत्यादि तो नहीं है। गालों की श्लैष्मिक कला पर उपदंशीय व्रण मिल सकते हैं। जिह्वा के ऊपर के तथा नीचे के तल को देखें कि व्रण इत्यादि तो नहीं हैं। उस पर मैल जमा है या नहीं, किसी प्रकार के धब्बे तो नहीं हैं, कहीं पर शोथ या किसी प्रकार की वृद्धि तो नहीं है। जिह्वा की गति भी देखनी चाहिये। जिह्वा की गति एवं इन अन्य बातों को जिह्वावनामक को हटाकर देखें या उसको लगाने से पूर्व ही देख लें। इसके पश्चात् दांतों तथा मसूढ़ों की परीक्षा करें। यदि रोगी के कृत्रिम दांत हैं तो मुख परीक्षा से पूर्व उन्हें निकलवा दें। तालु की परीक्षा करें। उपदंश रोगी के तालु में छिद्र मिल सकता है। मृदु तालु की विकृति में रोगी नाक के सुर बोलने लगता है। रोहिणी (Diphtheria) रोग के पश्चात् कभी कभी मृदु तालु संज्ञाहीन (Paralised) हो जाता है। तब ठीक से कार्य नहीं करता है। संज्ञाहीनता देखने के लिये मृदु तालु को एषणी शलाका (Probe) से स्थान स्थान पर स्पर्श करके देखें कि वह कार्य करता है या नहीं। मृदु तालु को बांयी तथा दांयी ओर भी तुलना करके देखें।

गले की परीक्षा—

मुख गह्वर की परीक्षा करने के पश्चात् गले की परीक्षा करें। सर्व प्रथम ग्रससिका प्रत्यावर्तन (Pharyngeal reflex) देखें। इसके लिये ग्रसनिका में किसी चीज का स्पर्श करें जिससे ग्रसनिका में एकदम संकोच होगा। यह संकोच राजयक्ष्मा तथा अधिक धूमपायी व्यक्तियों में बढ़ जाता है तथा हिस्टीरिया, संज्ञाशून्यता (reflex paralysis) एवं वृद्धावस्थ में घट जाता है।

टान्सिल की परीक्षा करें। यदि टान्सिल पर पूय दिखाई दे तो वह संक्रमण है।

ग्रसनिका की श्लेष्मिक कला देखें कि उस पर किसी प्रकार के व्रण या छाले इत्यादि तो नहीं हैं। उपदंशज व्रण भी मिल सकते हैं। गल शुण्डिका की परीक्षा करें। कभी-कभी यह अधिक लम्बा होता है और जब रोगी लेटता है तो यह ग्रसनिका से स्पर्श करता है और इस स्पर्श के कारण ही रोगी को खांसी आती है।

विसंक्रमण

रोगी की परीक्षा के पश्चात् जिह्वावनामक को किसी कृमिनाशक द्रव में डाल देना चाहिये। आजकल डिटौल का प्रयोग अधिक होता है। राजयक्ष्मा, मुख में उपदन्श व्रण आदि की परीक्षा के बाद इसे जल में उबाल लेना चाहिये। सेना में या किन्हीं किन्हीं अस्पतालों में लकड़ी के जिह्वावनामक भी प्रयोग में लाये जाते हैं जोकि एक रोगी की परीक्षा के पश्चात् फैंक दिये जाते हैं। संक्रमण से बचने के लिये यह उपाय सर्वोत्तम है लेकिन इससे खर्च अधिक बैठता है तथा कुछ अन्य कारणों से लकड़ी के जिह्वावनामक उपयुक्त भी नहीं रहते।

—श्री डा० दाऊदयाल गर्ग आयु० वृह०,
ए०, एम० बी-एस०
सम्पादक-'धन्वन्तरि'
गुलजार नगर, रामघाट रोड, अलीगढ़

धन्वन्तरि
ऊर्ध्वजत्रु रोगाङ्क
नासा-प्रकरण

श्री कनक प्रसाद व्यास आयु·वृह·

श्री व्यास जी आयुर्वेद जगत के मूर्धन्य विद्वान हैं । आप उदयपुर के राजकीय अनुसन्धान केन्द्र में विशेषज्ञ के रूप में कार्यरत हैं । आपने कतिपय अन्वेषण भी किये हैं जिनसे आयुर्वेद गौरवान्वित होगा । यद्यपि प्रस्तुत लेख आधुनिक विज्ञान पर आधारित है लेकिन इसके पश्चात् 'प्रतिश्याय के कारणों की कार्मुकता' आपकी अन्वेषण की रुचि को प्रदर्शित करता है । "धन्वन्तरि" से आपको विशेष स्नेह है । भगवान "धन्वन्तरि" से प्रार्थना है कि व्यास जी शतायु हों । — दाऊदयाल गर्ग

सम्पूर्ण शरीर स्रोतोमय है जिसमें शरीर के धातुभूत, दोषभूत या मलभूत घटक एक स्थान से दूसर स्थान पर संवहन करते हैं। अन्य शब्दों में पांचभौतिक देह में आकाश और वायु महाभूतों का अस्तित्व इन्हीं स्रोतों के माध्यम से प्रतिपादित किया जाता है । नासिका प्राणवह स्रोतस् का एक भाग है । अपितु, यह एक बहिर्मुख स्रोत है, यही कारण हैं कि बाह्य वातावरणगत अशुद्धियों का प्रभाव इस पर अवश्यमेव होता है । नासागुहा या मार्ग से सम्बद्ध कई लघु-स्रोत या सुरंगाएं एवं वायु कोटर हैं जिनके कारण नासा शारीर का विकृति विज्ञान की दृष्टि से उल्लेखनीय स्थान है ।

ऊर्ध्वांग चिकित्सा में हम नेत्र, कर्ण नासा, मुख और शिरो रोगों का अध्ययन करते हैं । इन्हें सम्मिलित रूप से शालाक्य तन्त्र (शलाका से उपचार करने से) ऊर्ध्वांग चिकित्सा या ऊर्ध्वजत्रुगत रोग चिकित्सा (अक्षकास्थि से ऊपर होने वाले रोगों की चिकित्सा होने से) अथवा उत्तमांग चिकित्सा (सभी ज्ञानेन्द्रियों एवं मस्तिष्क से सम्बन्धित होने से) भी कहते हैं । उक्त तन्त्रीय सीमा में नासा का अपना महत्व है । महर्षि चरक ने "नासा ही शिरसो द्वारं" लिखा है अर्थात नासा मार्ग का सम्बन्ध प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष मार्गों द्वारा सिर की सभी गुहाओं से हैं । अतः इस गुहा या मार्ग से निकलने वाले या प्रविष्ट प्रत्येक द्रव्य से वे सभी अंगावयव प्रभावित हो सकते हैं । वैकारिक स्थिति में चिकित्सक के लिये और भी अधिक चिंतनीय हैं अस्तु नासा की रचना को संक्षिप्त में समझें ।
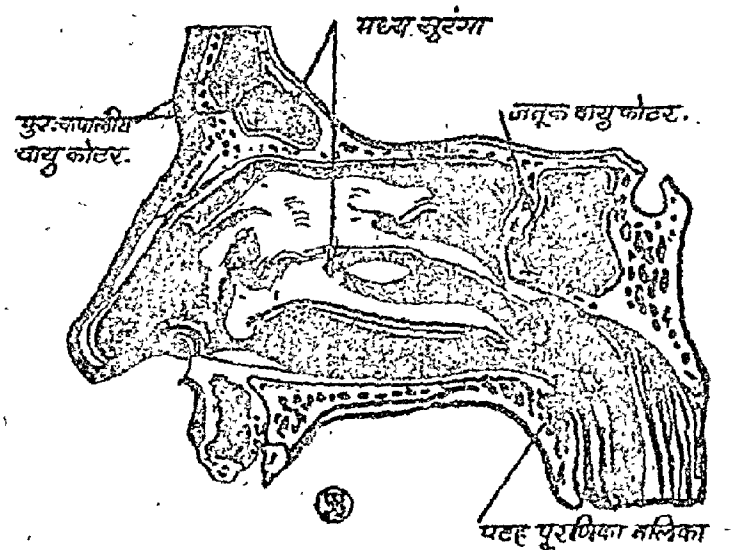
नासा को शारीरविद् अध्ययन-सौकर्य अथवा तरुणास्थिमय एवं अस्थिमय रचना प्राधान्य की दृष्टि से दो विभागों में प्रदर्शित करते है—१. वाह्य नासा—यह एक शंक्वाकार, तरुणास्थि प्रधान एवं बाहर से अच्छी तरह देखी जा सकने वाली गुहा है। इसके मूल कोण का उर्ध्वप्रान्त दोनों नासास्थियों एवं पुरः कपाल-कंटक के माध्यम के करोटी से सम्बद्ध है। नासा शीर्ष या स्वतन्त्र प्रान्त को देखने पर दो विवर (Nostrils or Nares) दिखाई देते हैं जो कि गुहा में एक मध्य भित्ती, जवनिका, नासाप्राचीर या नासा पटल (Septum) की अनुलम्ब स्थिति से निर्मित हैं। कई बार नासागुहा शब्द इन दोनों विवरों के लिए पृथकशः दक्षिण व वाम के रूप में भी प्रयुक्त किया गया है। (२) आभ्यन्तर नासा—वाह्य नासा के पीछे करोटी के अन्दर अस्थिमय गुहा है जो मृत्युत्तर शुष्क अस्थि-कपाल में भी प्राप्त होता है, जबकि वाह्य नासा का तरुणाऽस्थिमय अंश नष्ट हो जाता है। पुनश्चः नासा मार्ग का विशद वर्णन करने की दृष्टि से निम्नांकित शीर्षकों में विश्लेषित किया जाता है—

नासाच्छद—पश्चिम प्रान्त को छोड़कर पूरा पूर्वार्ध्व पृष्ठ (छद) सकीर्ण रचना है जो आगे का ओर मध्यरेखा में तिरश्चीन अनुलम्ब (Horizental) अवस्थित है। इसका ढलान नीचे की ओर मध्यरेखा में है। मध्योर्ध्व पृष्ठ झर्झरास्थि के चालनी पटल से बना है जबकि पुरः प्रान्त क्रमशः पुरः कपाल के अग्र कंटक, दोनों नासास्थियों एवं तरुणास्थियों से बना हुआ है। पश्चिम छद का निर्माण जतूकास्थि (Sphenoid bone) के पुरः निम्न पृष्ठ से हुआ है। पूर्वार्द्ध की चौड़ाई १ से २ मि. मी. तथा पश्चिम प्रान्त में १० मि. मी. के लगभग है।

धरातल—नासा मार्ग का धरातल साधारणतया स्निग्ध एवं रोमश होता है। छद की अपेक्षा अधिक चौड़ा होता है। सामान्यतया १० से १२ मि. मी. तक उपलब्ध है। मध्य भाग प्रान्तों की अपेक्षा अधिक चौड़ाई लिए रहता है। इसका दृढ़ आधार तात्वस्थि बनाती है।

नासापटल—यह नासा मार्ग के वाह्यांश में बीचोंबीच नासास्थियों की उभरी हुई तोरणिका, पूर्वकंटक (पुरः कपाल) तथा त्रिकोणाकार तरुणास्थि से निर्मित है। नासा पटल को मध्य भित्ति जवनिका एवं नासा-प्राचीर भी कहते हैं। इसकी अवस्थिति से वाह्य नासा दो भागों में विभक्त हो जाती है—जिन्हें वाम और दक्षिण नासा विवर या नथुने भी कहते हैं।

पार्श्वप्राचीर—वाह्य नासा की पार्श्वप्राचीर तरुणास्थि एवं मांसमय है एवं आभ्यन्तर नासापार्श्व श्लैष्मिक कला से आवृत अस्थिमय है। विभिन्न अस्थियों की पृष्ठगत रचना के अनुसार तीन उत्सेध बनते हैं, अधः और मध्य शुक्तिका (Superior, inferior & Middle conchlae) कहते हैं। इनके पास वाले नतोदर स्थल तीन सुरंगाओं (Meatus) से संबद्ध हैं। उर्ध्व और मध्य उत्सेध झर्झरास्थि से तथा अध उत्सेध शुक्तिकास्थि से बनता है। उर्ध्व उत्सेध से ऊपर जतूक झर्झरास्थि खात अवस्थित है। उर्ध्वा सुरंगा (Sup Meatus) ऊपर तथा बीच वाली शुक्तिका के बीच में एक या दो छोटे छिद्रों मध्य सुरंगा (Mid meatus) बीच वाली शुक्तिका के नीचे मुड़ी हुई परिखा होती है। नासाखात मध्यसुरंगा द्वार (Meatus semiluneris) कहते हैं। इसमें झर्झरास्थि
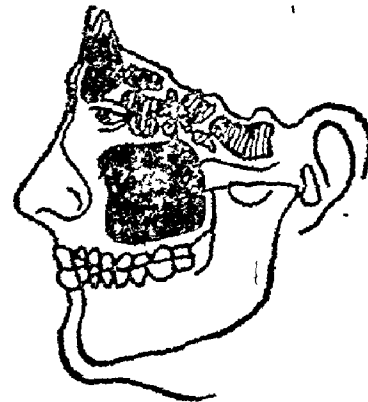
विभिन्न वायु कोटर

और उर्ध्वहन्वस्थि के वायु-विवर खुलते हैं। यह सुरङ्ग फनल की आकृति बनाती है। अतः इसे infundibulum भी कहते हैं। अधः सुरङ्गा (inf. meatus)—यह सबसे लम्बी सुरङ्गा है तथा नासाश्रुवाही (Naso-lacrimal Duct) से संबद्ध है।

वायु विवर या कोटर (paranasal Sinus)—

नासकीय वायुकोटर पुरः कपाल, जतूकास्थि हन्वस्थि एवं ताल्वस्थि की वायु पूरित सुषिर परिखा (Air Sinus) हैं जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में नासा मार्ग से जुड़े रहते हैं। हन्वस्थि जतूकास्थि और झर्झरास्थि के वायु कोटर प्रत्यक्ष रूप में संबद्ध हैं जबकि पुरःकपाल तथा ताल्वस्थिगत वायु कोटर अप्रत्यक्ष रूप में सम्बद्ध हैं। ये स्रोतोमय रचनायें नासा गुहा के रोगों में विकृति विज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। नासा मार्ग को आवृत करने वाली श्लैष्मिक कला ही अविछिन्न रूप में उक्त स्रोतों में भी व्याप्त है। यही कारण है कि नासामार्गीय विकृति या संक्रमण शीघ्र ही इन कोटरों में भी पहुंच जाता है। उदाहरण के लिए प्रतिश्याय-जन्य शिरःशूल की स्थिति एवं नासिकीय वायुकोटरों का सम्बन्ध प्रस्तुत है।

आक्रान्त वायु विवर	शिरःशूल स्थिति
१. पुरःकपालीय वायुकोटर	अग्रललाटीय वेदना
२. हन्वस्थिगत वायुकोटर	गण्डप्रदेशीय वेदना
३. झर्झरास्थिगत वायुकोटर	भ्रू या नेत्रांतरीय वेदना
४. जतूक वायु कोटर	आंखों के पीछे गम्भीर वेदना

वायु कोटरों की पार्श्व भित्तियां घन अस्थि (Compect bone) से निर्मित होती हैं, जिनमें अस्थ्यावरण (Endosteum) चढ़ा रहता है। इसके साथ ही नासागुहा से सम्बद्ध श्लेष्मिक कला का स्तर भी लगा रहता है जिसमें रोमश आवरक कोषायें रहती हैं।

नासकीय वायु विवर प्राकृत स्थिति में स्वर के लिये विजाद प्रकोष्ठ का कार्य करते हैं। एक अध्ययन के अनुसार पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में इनकी लम्बाई अधिक रहती है। प्रत्येक वायुकोटर की पृथकशः स्थिति एवं रचना इस प्रकार है—

पुरःकपालीय वायु कोटर (Frontal sinus)—यह वायुकोटर पुरः कपालास्थि में नासामूल से नेत्र गोलक की ऊपरी सीमा (भ्रू) में अवस्थित है। कभी कभी नेत्र गोलक की छत पर भी व्याप्त हो जाता है। लगभग मध्य रेखा में एक घन अस्थि मय अवरोध इसे दो भागों में विभक्त कर देता है। सामान्यतया पुरःकपालीय वायुकोटर मध्य सुरंगा की फनलाकृति (Infundibulum) में खुलता है किन्तु कदाचित् पुरः कपाल के नासांश (पुरः कंटक) में सीधा द्वार भी मिलता है।

विभिन्न कपालों में इस कोटर की आकृति एवं परिणाह भिन्न-भिन्न मिलते हैं। पुरः कपालीय वायुकोटर के नीचे नेत्र गोलक तथा नासा है—जबकि ऊपर शीर्षण्य गुहा है।

हन्वस्थिगत वायुकोटर (Maxilary sinus)—यह उर्ध्वहन्वस्थि भात्र में व्याप्त बड़ा कोटर है जो वाह्य नासा के अधरार्द्ध में नेत्र गोलक के नीचे तथा अधर शांखिक खात के आगे ऊपरी चर्वणक एवं अग्र चर्वणक के ऊपर तक अवस्थित है। नासा खात मध्य सुरंगा द्वार Hiatus semilunaris) से सम्बद्ध है। भ्रूण विकास क्रम में हन्वस्थिगत वायुकोटर अन्य कोटरों से पहले विकसित होता है।

झर्झरिक वायुकोटर (Ethmoidal sinus)—यह कोटर एक अस्थिमय जवनिका से द्विधा विभक्त है तथा वर्तुल द्वार के रूप में जतूक झर्झरिक खात में खुला है। इस वायु विवर के पार्श्व में नेत्र गोलक, मध्योर्ध्व में उर्ध्वार्द्ध नासा के पीछे जतूक वायु कोटर एवं तालवी वायुकोटर, ऊपर जतूक वायु कोटर, पुरः कपालीय वायुकोटर अग्रशीर्षस्थ खात एवं झर्झरिक परिखा अवस्थित हैं। झर्झरिक वायुकोटर अपेक्षाकृत छोटा, पतली दिवालों वाला झर्झरकांतारक पर्वत व्याप्त है। इसके तीन विभाग तीनों सुरंगाओं से पृथकशः जुड़े हुए हैं।

जतूक वायुकोटर (Sphenoidal Sinus)—जातूक वायु कोटर जतूकास्थिगात्र में व्याप्त होने से परिणाह में अपेक्षाकृत बड़ा है जो नासा एवं गला नासा के ऊपर तथा शीर्षण्य गुहा के नीचे अवस्थित है।

तालवीवायु कोटर—ताल्वस्थि के चाक्षुप प्रवर्द्धन में रहता है जो जतूक वायुकोटर या झर्झरास्थिगत वायु कोटर में खुलता है।

—श्री कनक प्रसाद व्यास
४०१ अंबामाता स्कीम, उदयपुर (राज०)

प्रतिश्याय के कारणों की कार्मुकता

श्री कनक प्रसाद व्यास आयु० वृह०

परिचायक नाम—जुकाम, नजला, Common cold, Acute coryza, Acute Rhinitis.

नासा-स्राव, छिक्का, शिरोगौरव, सर्वाङ्गमर्द तथा अवसाद होने पर साधारणतया प्रतिश्याय का आक्रमण जाना जाता है। जिसका निर्णय बालकों को छोड़कर जन सामान्य स्वयं ही कर लेते हैं। वास्तव में यह अपने सर्व सुलभ हेतुओं से बहुतायत में मिलने वाली साधारण व्याधि है जो समय पर किये गये उपचार से ठीक हो जाती है। परंच, समय पर उपचार नहीं करवाने से वह सामान्य प्रतिश्याय शोचनीय स्थिति पैदा कर देता है। कहा भी है—

प्रतिश्यायादथो कासः कासात्संजायते क्षयः।

अर्थात् इसका परिणाम राजयक्ष्मा भी हो सकता है। प्रतिश्याय के सामान्य स्वरूप से चिंतनीय स्वरूप में शीघ्र ही परिवर्तित होने के प्रति निम्नांकित तथ्य उत्तरदायी हैं—

* बाह्य वातावरणगत अशुद्धियों एवं तापक्रम गत परिवर्तन का सीधा सम्बन्ध प्रतिश्याय के अधिष्ठानभूत नासा से रहता है।

* नासामार्ग का सम्बन्ध प्राणवह स्रोतस (Respiratory system) के अतिरिक्त कई सुरंगाओं एवं वायु कोटरों से भी है।

* सुरंगाओं और वायुकोटरों के माध्यम से नासा गुहा का सम्बन्ध गल, स्वर यन्त्र, कर्ण; मुख, तुण्डिका, नेत्रगुहा, शिरोगुहा आदि महत्त्वपूर्ण अङ्गों से रहता है, जिनका शीघ्र ही प्रभावित होना सम्भव है।

* प्रतिश्याय के हेतु इतने व्यवहारिक हैं कि सावधानी रखने पर भी सेवन कर लिए जाते हैं।

हेतुकी (Eteology)—

रोगोत्पादक हेतुओं का वर्गीकरण कई आधारों या दृष्टिकोणों से किया जाता है। संप्राप्ति-प्रकरण में दोष-दूष्य प्रभाव-क्रम के आधार पर किया गया वर्गीकरण उपादेय रहता है। जो शीर्षकों में बांटता है—

१. उत्पादक हेतु—इस वर्ग के हेतु व्याधि-विशेष के प्रति शरीर की प्रतिरोध क्षमता को क्षीण कर उसके लिए अनुकूलता उत्पन्न करते हैं। अन्य शब्दों में दोष दूष्यों को व्यापन्न करते हैं, किंतु व्याधि विशेष को उत्पन्न या व्यक्त नहीं कर पाते हैं। विकृति विज्ञान की दृष्टि से उत्पादक हेतु संचयादि छहों अवस्थाओं अथवा क्रियाकालों को क्रमशः उत्पन्न करते हैं। प्रतिश्याय के उत्पादक हेतुओं में मूत्रवेग विधारण, पुरीषवेग विधारण, मैथुनपरता, अजीर्ण, अधिक बोलने वाला व्यवसाय, बौद्धिक कार्य अधिक करना, क्रोधी-स्वभाव, अनिद्रा या जागरण, दिवानिद्रा, फ्रिज का पानी या आइस-कोल्ड का अतियोग मुख्य है।

व्यंजक हेतु—रोगों को व्यक्त या उत्पन्न करने वाले कारण व्यंजक वर्ग में माने जाते हैं। ये हेतु उत्पादकों की अपेक्षा द्रुत गति से रोगोत्पत्ति करते हैं अथवा उत्पादक हेतुओं के सम्पर्क काल में ही व्यंजक के संयोग होने पर व्याध्युत्पत्ति आशु हो जाती है। विकृति विज्ञान की दृष्टि से प्रकोप दो प्रकार से होता है—चयपूर्वक प्रकोप तथा अचयप्रकोप। व्यंजक हेतु अचय प्रकोप पुरस्सर रोगोत्पत्ति करते हैं। यही कारण है कि एवं विधि हेतुओं से व्यक्त व्याधि में पूर्वरूप उपलब्ध नहीं होते हैं। उदाहरण के रूप में प्रतिश्याय के व्यंजक हेतुओं में रजःकण, रेशे, धूम का नासा संयोग, अतिशीतल या अति उष्ण वायु (आर्द्र) का नासासम्पर्क, वाष्प संयोग आदि परिस्थितियां मुख्य हैं।

इन कारणों से उत्पन्न प्रतिश्याय में प्रारम्भ में ही छिक्का पुरस्सर नासास्राव होने लगता है। पूर्वरूप के रूप में शिरोगौरव, अंगमर्द, रोमहर्ष आदि लक्षण उपलब्ध नहीं होते हैं। दूसरे या तीसरे दिन अन्य लक्षणों के साथ इन लक्षणों का साहचर्य भी हो जाता है। शास्त्र प्रतिपादित संप्राप्ति पर भी विचार करें—

> चयङ्गता मूर्द्धनि मारुतादयः
> पृथक् समस्ताश्च तथैव शोणितम्।
> प्रकोप्यमाणा विविधैः प्रकोपणै
> र्नृणां प्रतिश्यायकरा भवंति हि ॥ —सु. उ. २४

अर्थात् "सिर में संचित पृथक्शः अथवा सन्निपाततः वातादि त्रिदोष एवं रक्त विविध प्रकोपक हेतुओं से प्रकुपित होकर प्रतिश्याय उत्पन्न करते हैं।"

उपर्युक्त संप्राप्ति में दो स्थितियां प्रतिपादित की गई हैं—प्रथम, मूर्द्धा(सिर)में वातादि दोषों का एक एकशः अथवा सम्मिलित रूप में संचित होना तथा द्वितीय प्रकोपक कारणों का संयोग होने पर उनका (वातादि) प्रकोप होता है एवं प्रतिश्याय उत्पन्न होना। वास्तव में दोषों के संचय करने वाले हेतु और प्रकोप करने वाले हेतु पृथक्-पृथक् नहीं होते हैं, अपितु संचालक कारणों का ही भूरिशः सेवन करने पर प्रकोपादि अगली अवस्थाओं की निष्पत्ति होती है। अतः इन दो स्थितियों की व्याख्या करने में मेरी संमति में आचार्य का अभिप्राय संभवतः उत्पादक और व्यंजक हेतुओं से प्रतिश्यायोत्पादन-क्रम रहा है। प्रथम स्थिति का निर्माण उत्पादक वर्ग के हेतु संचयादि क्रमिक क्रियाकालों का संयोजन कर करते हैं, तथा द्वितीय स्थिति में व्यंजक प्राकारिक हेतु सद्यः रोगोत्पादन करते हैं। अधिकांश रोगों की संप्राप्ति शृंखला में प्राथमिक विकृतियों को उत्पन्न करने वाले हेतुओं के साथ-साथ मध्यस्थ विकृतियों को सीधे उत्पन्न करने वाले कारण भी मिलते हैं।

अपिच प्रतिश्याय एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में संक्रमित होता हुआ भी देखा जाता है—प्रसार माध्यम आक्रांत व्यक्ति का नासास्राव होता है। यही कारण है कि घर में या विद्यालय में समूह के रूप में आक्रांत मिलते हैं। १९१४ में क्रूज नामक किसी वैज्ञानिक ने प्रतिश्याय के नासास्राव में स्पंदनशील विषाणु को प्रतिपादित किया। यह भी देखा गया है कि निःश्वसित वायु की अपेक्षा छिक्का या कास से प्रक्षिप्त स्राव बिन्दु (बिन्दुत्क्षेप Droplet infection), आक्रांत व्यक्ति से हाथ मिलाना। या उसके रूमाल का स्वस्थ व्यक्ति द्वारा प्रयोग करने पर अधिक प्रसार पाता है। यह विषाणु व्यंजक हेतु वर्ग में समाविष्ट किया जावेगा।

काल या ऋतु की दृष्टि से विचार करने पर यह व्याधि प्रत्येक ऋतु में मिलती है। लक्षण-समष्टि में अंतर पाया जा सकता है। तारतम्यतः सर्वाधिक उपलब्धि शीत ऋतु में तदनुसार वर्षा एवं ग्रीष्म में रहती है। अर्थात् शीत ऋतु प्रतिश्यायोत्पत्ति में सर्वाधिक अनुकूल रहती है। यह आर्तव हेतु उत्पादक वर्ग में प्रवेश्य है।

प्रतिश्याय रोग आयु की दृष्टि से बाल्यावस्था में विशेष पाया जाता है। वयोऽनुपाती दोषांशकल्पना में बाल्यावस्था श्लेष्म-भूयिष्ठ होने से वात श्लैष्मिक प्रतिश्याय का आधिक्य स्वाभाविक ही है। अतस्तु बाल्यावस्था भी प्रतिश्याय के लिये उत्पादक हेतु है।

असमवायि कारणों के बाद समवायि कारणों का विवेचन भी अपेक्षित है। यह व्याधि वात-श्लेष्म समुत्थ है। किन्तु विशिष्ट संप्राप्ति में वात, पित्त, कफ पृथक और सन्निपाततः कार्मुक होने के साथ-साथ रक्त भी सक्रिय रहता है। तदनुसार प्रतिश्याय पांच प्रकार का हो जाता है। लक्षण-समूह से स्पष्टीकरण होगा।

पूर्वरूपों से—

१. शिरोगौरव,
२. छिक्का] श्लैष्मिक।

३. अंगमर्द,
४. रोमहर्ष] वातिक।

उपर्युक्त लक्षण समुच्चय से ज्ञात होता है कि नासा जैसे प्रत्यङ्ग संश्रित इस व्याधि में स्थानिक लक्षणों के अतिरिक्त सार्वांगिक लक्षण भी उपलब्ध होते हैं जो शरीर में अवसाद एवं अक्षमता पैदा करते हैं।

	वातिक प्रतिश्याय	पैत्तिक प्रतिश्याय	श्लैष्मिक प्रतिश्याय	सन्निपातिक प्रतिश्याय	रक्तज प्रतिश्याय
स्राव	तनु	उष्ण ताम्रवर्णी पीतवर्णी	शीत शुक्ल गाढ़	सभी दोषों के लक्षण, विविध अवस्थाओं के लक्षण, पुनः पुनः उत्पत्ति।	रक्तयुक्त
वेदना	शंख निस्तोद	सन्ताप सधूमवह्नि वमनवत्	शिरोगौरव		शिरोनिस्तोद
नासा में	अवरोध	शोष दाह पिडिका पाक	कण्डूयन		गंधहीन कृमि दुर्गन्धोच्छ्वास
गलतालु	शोष शूकपूर्णता	तृष्णा	कण्डूयन		—
स्वर	उपघात	—	भेद		—
नेत्र	अश्रु स्राव	ताम्राक्ष	शूनाक्ष		ताम्राक्ष
सार्वदैहिक	ज्वर भ्रम	ज्वर भ्रम शुक्लावभास			उरःक्षत कास ज्वर

आम-साहचर्य की दृष्टि से प्रतिश्याय की अवस्थायें होती हैं--१. आमावस्था और २. निरामावस्था या पक्वावस्था।

आमावस्था	निरामावस्था
अरुचि	आमज लक्षणों का तनुत्व
वैरस्य	
रुजा	
अरति	
शिरोगौरव	शिरोलाघव
ज्वर	
नासास्राव (तनु)	नासालाघव
छिक्का	घन-पीत कफत्व

ये अवस्थायें प्रत्येक प्रकार के प्रतिश्याय में उपलब्ध होती हैं जो कि क्रमशः कालपरिपाक या भैषज परिपाक से निराम होकर प्राकृत प्रक्रिया में स्वास्थ्य लाभ हो जाता है—

......................प्रतिश्याय व्रण ज्वराः।

पंचैते पंचरात्रेण रोगाः नश्यंति लंघनात् ॥ —सु०

जैसाकि ऊपर प्रतिपादित किया गया है कि प्राकृत-क्रम में ही आसानी से स्वास्थ्य लाभ किया जा सकता है, किन्तु प्रायः प्रतिश्याय बिगड़ जाता है। कारण यह है कि इसे साधारण समझकर उपेक्षा की जाती है अथवा तज्जनक हेतुओं का पुनः सेवन कर लिया जाता है। वास्तव में प्रतिश्याय सहकृत उपद्रवों से ही शोचनीय स्थिति निष्पन्न होती है। प्रतिश्याय के उपद्रवों में दुष्ट पीनस, बाधिर्य, आंध्य, गन्धनाश, घोर नेत्र रोग, कास, अग्निमांद्य, शोथ, स्वरयन्त्र शोथ, श्वसनिशोथ, श्वसनक ज्वर मुख्य हैं। इन उपद्रवों के प्रति कारण गल-नासागत दोष संस्थिति का अन्यस्रोत संचार ही मुख्य है। इसी प्रकार जीर्ण या दुष्ट प्रतिश्याय के बाद विविध स्थानीय शिरःशूल प्रायः मिलते हैं। जो नासिकीय वायु कोटर शोथ (Paranasal sinusitis) के कारण होते हैं। तज्जन्य अन्य लक्षणों में त्रिधारा नाड़ी शूल, आक्रांत कोटर प्रदेश पर स्पर्शासह्यता, चर्वणकशूल (हन्वस्थिगत वायुकोटर) भी मिलते हैं। चर्वणक दन्त विद्रधि, तैरना, अभिघात, असहिष्णुता (Allergy), कुपोषण भी वायु कोटर शोथ पैदा कर सकते हैं। विकृति विज्ञान की दृष्टि से वायुकोटर श्लैष्मकला में शोथ अथवा तत्स्थानीय स्राव के जम जाने से अथवा किसी अवरोध से अथवा वायुकोटरगत वायुदाब में परिवर्तन होने से शोथात्मक लक्षण मिलते हैं। यही कारण है कि स्वर में भी परिवर्तन देखा जाता है।

—श्री कनक प्रसाद व्यास आयु. वृह.
४०१ अम्बामाता स्कीम, उदयपुर (राज०)

श्री वैद्य वेदप्रकाश त्रिवेदी एच० पी० ए०

बन्धुवर वेदप्रकाश जी मेरे सहपाठी रहे हैं। आप कठिन परिश्रम करने वाले व्यक्ति हैं। आपके लेख अन्वेषणात्मक एवं ज्ञानप्रद सामग्री से युक्त होते हैं। आप अनेक चिकित्सालयों एवं आयुर्वेद महाविद्यालयों के अध्यापक पद को सुशोभित कर चुके हैं। आपके अनेक विद्वतापूर्ण लेख विगत में भी "धन्वन्तरि" में प्रकाशित हुये हैं। आप जिस विषय पर भी लेखनी उठाते हैं उसके प्रत्येक पहलू पर विचार करते हैं। इस लेख में भी प्रतिश्याय के विषय में प्रत्येक दृष्टिकोण से विचार किया गया है। लेख उत्तम ज्ञानप्रद है। आशा है कि पाठक लाभान्वित होंगे।

—दाऊदयाल गर्ग

प्रतिश्याय के पर्याय—नजला, जुकाम, Rhinitis, Common Cold, Coryza, प्रतिश्याय

वस्ति, हृदय, सिर ये तीन प्रधान मर्म स्थल हैं। शिरो रोग में प्रधान कारण प्रतिश्याय है। कहा भी है—

भूयिष्ठं व्याधयः सर्वे प्रतिश्याय निमित्तजाः।
तस्माद रोग प्रतिश्यायः पूर्वमेवोपदिश्यते॥

प्रतिश्याय एक अति प्रसिद्ध व्याधि है। यह स्वतन्त्र अथवा अन्य रोगों के उपद्रवस्वरूप हुआ करता है।

प्रतिश्याय के कारण

वेगों को रोकना, अजीर्ण, धूलि का सेवन, अधिक बोलना, अधिक क्रोध करना, ऋतुओं का विषम होना, शरीर में वेदना होना, रात्रि में अधिक जागरण, दिन में अधिक सोना, शीतल जल पीना, ओस लगने से, अधिक मैथुन से, अधिक धुआं लगने से, शरीर में कफादि दोष के अधिक एकत्र हो जाने से।

सम्प्राप्ति

उपरोक्त कारणों से शिरः प्रदेश में श्लेष्मवात बढ़ जाती है एवं प्रतिश्याय रोग को उत्पन्न करती है।

वातज—नासिका में वेदना, तोद, छींक अधिक आना, जल के समान नासा से स्राव निकलना, स्वर भेद एवं शिरःशूल।

पित्तज—नासिका के अग्र भाग में पाक, ज्वर, मुख-शोथ, प्यास की अधिकता, नाक से उष्ण पीले वर्ण का स्राव।

कफज—कास, भोजन में अरुचि, नासा से गाढ़ा स्राव निकलना, नासा स्रोतों में अधिक खुजली।

सन्निपातज—अधिक वेदना एवं अधिक कष्ट कर पीनस एवं वातादि दोष के सभी लक्षण।

रक्तज—स्राव एवं रक्तक्षयजन्य लक्षण

दुष्ट प्रतिश्याय—प्रतिश्याय की उपेक्षा करने पर एवं अहितकर आहार विहार का निरन्तर सेवन करते रहने से सभी प्रतिश्याय का रूप धारण कर लेते हैं।

परिणाम स्वरूप छींक आना, नासाशोथ, नासा प्रतिनाह, नासापरिस्राव, पूतिनासा रोग, अपीनस, नासापाक, नासार्बुद पूयस्राव, अरुचि, तथा शिर कान और नेत्र के अन्य रोग एवं सिर के बाल श्वेत वर्ण के हो जाते हैं। तृषा, श्वास, कास, ज्वर, रक्तपित्त, स्वरभेद और शोथ रोग दुष्ट प्रतिश्याय से उत्पन्न होते हैं।

दुष्ट प्रतिश्याय की सम्प्राप्ति—प्रतिश्याय की उपेक्षा करने पर नासिका के स्रोतों में कफ भर जाता है तथा नासा स्रोतों को बन्द कर देने के कारण नासा अभिघात लगने से नासा परिस्राव नासा शोष, नासा पाक से नासिका युक्त होती है। उससे पीड़ित होने पर रोगी को गंध ज्ञान नहीं रहता है। मुख दुर्गन्धयुक्त हो जाता है। प्रतिश्याय की प्रवृत्ति पुनः पुनः होती है।

क्षवथु का लक्षण (छींक आना)—

मूर्धा में वायु सभी प्रदेशों में आश्रित होकर अर्थात् स्वप्रकोपक कारणों से कुपित वायु नासागत मार्ग प्रदेशों से सम्बन्ध स्थापित कर क्षवथु रोग करता है।

नासा परिशोष का लक्षण—कुपित वात नासा प्रदेश में कफ को एवं नासा शृंगाटक और घ्राण को सुखा कर अर्थात् शृंगाटक मर्म एवं गन्धग्राही नासिका भाग का शोषण करता है।

नासा प्रतिनाह का लक्षण—जब वात के साथ कुपित हुआ कफ उच्छ्वास मार्ग का अवरोध कर देता है तो उसे नासा प्रतिनाह कहते हैं।

नासा परिस्राव का लक्षण—जब मस्तुलुङ्ग (मस्तिष्क प्रदेश) में गाढ़ा पीला और पका हुआ कफ का स्राव होता है तो उसे नासा परिस्राव कहते हैं।

पूतिनस्य का लक्षण—नासा परिस्राव रोग की उपेक्षा करने से नासिका में विवर्णता, दुर्गन्धि शोथ, सिर में चक्कर आना इस रोग का लक्षण है।

अपीनस का लक्षण—नासिका में आनाह (वायु का अवरोध), नासा शुष्कता या नासा का गीलापन अथवा नासा से धुआं सा निकलता रहता है। इसके अतिरिक्त रोगी गन्ध एवं रस का ज्ञान भी नहीं कर पाता है। इस प्रकार के लक्षणों से युक्त वायु एवं कफ के संयोग से होने वाले इस विकार को 'अपीनस' रोग प्रतिश्याय के समान लक्षणों वाला कहा गया है।

नासिका पाक का लक्षण—नासिका में जब रक्त और पित्त का प्रकोप हो जाता है तो नासिका स्रोतों में दाह, लालिमा और पाक के साथ शोथ हो जाता है। इसे घ्राण पाक या नासा पाक कहते हैं।

नासिका शोथ—नासिका स्रोत में कुपित वात, पित्त, कफ नासिका में स्थित रक्त आदि धातुओं को दूषित कर शोथ उत्पन्न कर देते हैं।

नासार्बुद का लक्षण—मांस, रक्त एवं वातादि दोष दूषित होकर श्वास की गति को रोककर नासिका स्रोत में अर्बुद उत्पन्न कर देते हैं।

पूय रक्त का लक्षण—नासिका से या कान से या मुख से पूय मिला हुआ रक्तस्राव होता है।

विमर्श—दुष्ट प्रतिश्याय के उपद्रव में रक्तपित्त नामक रोग की विभिन्न अवस्था ही कहा जा सकता है।

नासा अरुंषिका (व्रण)—पित्त के साथ कुपित हुआ स्राव नासागत त्वचा आदि को दूषित कर बालयुक्त फुन्सियों को उत्पन्न करता है जिनके फूटने पर व्रण बन जाते हैं।

नासा दीप्ति का लक्षण—मनुष्य की नासिका जलती हुई प्रतीत होती है। इसमें रक्त की प्रधानता रहती है। यथा—

रक्तेन नासा दग्धेनवाह्यान्तः स्पर्शनासहा।
भवेद्धूमोपमोच्छ्वासा दीप्तिर्दहतीव च ॥

शिरोरोगों में दोषों का निदान—सिर में अधिक वेदना एवं घबराहट होने से वायु का प्रकोप जानना चाहिये। यदि सिर में दाह एवं वेदना होती है तो पित्त का प्रकोप जानना चाहिए एवं कफ के प्रकोप से शिर में भारीपन प्रतीत होता है। सभी दोषों के लक्षण एक साथ पाये जाने पर त्रिदोषज माना जाता है। सिर में खुजली, दुर्गन्ध, सुई चुभने जैसी पीड़ा से युक्त, सिर में कृमियों का निदान होता है।

चिकित्सा क्रम

वातज पीनस की चिकित्सा—वातज पीनस में कास का भेद होने पर गर्म गोघृत में यवक्षार मिलाकर पिलाना चाहिए या मांस गर्म दूध या स्नेहिक धूम्रपान कराना चाहिये।

शताह्वादि धूम वर्ति—सौंफ, दालचीनी, बलामूल, श्योनाक त्वक, एरण्डमूलत्वक, बिल्व त्वक, अमलतास त्वक्—सब समभाग कूट पीसकर मांस, चर्बी एवं घृत मिलाकर वर्ति बनाकर धूम नेत्रक द्वारा धूम्रपान कराना चाहिए।

नूतन प्रतिश्याय में धूम्रपान—जौ के सत्तू को घी में मिलाकर धूम नेत्र (हुक्के) में रखकर धूम्रपान कराना चाहिये।

प्रतिश्याय की वेदना में चिकित्सा—शंख प्रदेश, मस्तिष्क, ललाट में वेदना होने पर निम्न प्रकार स्वेदन करना चाहिए। हाथ गर्म करके वेदना स्थान सेकना चाहिए। छींक, नासास्राव एवं नासाप्रतिनाह होने पर वेदना स्थान पर वातनाशक तेलों का मर्दन करके शङ्कर स्वेद कराना चाहिए।

प्रतिश्याय में नस्य—१. रोहणीतृण, जीरा, बचा, अरणी, चोर पुष्पी के चूर्ण को अथवा २. मगरैल, दालचीनी, तेजपात, मरिच, छोटी इलायची के चूर्ण को नूतन प्रतिश्याय में नस्यार्थ प्रयोग करें।

३. वातज प्रतिश्याय में नावन अर्थात अणु तेल का नस्य उपयुक्त है।

वातज पीनस में निरूह वस्ति—स्नेहन क्रिया के बाद स्थापन वस्ति के द्वारा दोष का निर्हरण करना चाहिए।

पथ्य—ग्राम्य पशु पक्षियों के स्निग्ध अम्ल एवं उष्ण मांसरसों के साथ हल्के अन्न का सेवन करना चाहिए। उष्ण जल से स्नान करना चाहिए। पीने के लिए भी उष्ण जल का ही प्रयोग करना चाहिए। जिस स्थान पर तेज हवा न लगती हो, जो स्थान उष्ण हो ऐसे गृह में रहना चाहिये।

अपथ्य—चिन्ता, व्यायाम, अधिक बोलना, अति मैथुन आदि त्याग करें।

पित्तज प्रतिश्याय की चिकित्सा—दोषों के पाचनार्थ अदरक को घी के साथ पकाकर पीना चाहिये। जब दोषों का पाचन हो जाय तो शिरो विरेचन नस्य देना चाहिए। नस्यार्थ पाठादि तेल उपयुक्त है।

पूय रक्त की चिकित्सा—रक्तपित्तनाशक कषाय एवं नस्यों का प्रयोग करना चाहिये। यदि प्रतिश्याय में नासिका पक गई हो, दाह अधिक हो, रूक्षता बढ़ गई हो तो शीतल द्रव्यों के क्वाथ या स्वरस से परिषेचन करना चाहिए। तथा शीतल द्रव्यों को पीसकर लेप करें। एवं कषाय स्वाद एवं शीतल द्रव्यों का कपड़छन चूर्ण कर नस्यार्थ प्रयोग करें।

प्रतिश्याय में पित्त अल्प मात्रा में कुपित हो तो स्निग्ध द्रव्यों के साथ विरेचन कराना चाहिये।

पथ्य—घृत, दूध, जौ, शालि चावल, गेहूं, जांगल पक्षियों का मांस रस, शीतल तिक्त द्रव्यों का शाक एवं मूंग से बनाया यूष हितकर है।

कफज प्रतिश्याय की चिकित्सा

कफज पीनस में यदि भारीपन, अरुचि हो तो सर्व प्रथम लंघन करना चाहिए। इसके बाद दोष पाचनार्थ सिर पर घी का लेप करके स्वेद और परिषेक करना चाहिये।

सौंठ, पीपर, मरिच का चूर्ण, यवक्षार एवं घी के साथ लहसुन का स्वरस कफज प्रतिश्याय में देना चाहिए।

वमन—यदि कफ का उत्क्लेश हो रहा हो तो कफ नाशक वामक द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये। धूम्रपान तथा अवपीड़न नस्य का प्रयोग कण्डू के साथ अपीनस, पूतिनस्य, नासास्राव एवं कफज प्रतिश्याय में कटु द्रव्यों से बनाया हुआ धूम्र पीना एवं अवपीड़न नस्य हितकर होता है।

मनःशिलादि चूर्ण नस्य—मेनशिल, बचा, सौंठ, पीपर, मरिच, वायविडंग, हींग एवं गुग्गुल के समभाग का नस्य चूर्ण बनाना चाहिए।

भार्ग्यादि तेल—भारङ्गी, मदनफल, अरणी की छाल, तुलसी की पत्ती, इनके कल्क को गोमूत्र में पकावें। उस गोमूत्र में लाही, बचा, कटुतुम्बी बीज, वायविडंग, कूठ, पीपर, करञ्जमज्जा का कल्क बनाकर इसमें छोड़ें। अन्त में सरसों का तेल पकाकर सिद्ध करके रखें। प्रतिश्याय के दोषों के पक जाने पर मैदा के समान गाढ़ा कफ निकलता है ऐसी अवस्था में उपरोक्त तेल का नस्य देना चाहिए।

पीनस में वमन का प्राविधान—पीनस का वेग मन्द होने पर वमन कराने वाले द्रव्य यथा मदनफल आदि से पकाये दुग्ध में तिल, उड़द मिलाकर बनाई गई यवागू से वमन करानी चाहिए।

पथ्य—कफज प्रतिश्याय में बैंगन, परवल, सोंठ, पीपर, मरिच, कुलथी, अरहर एवं मूंग का यूष, कफ नाशक अन्न एवं गरम जल का पीना हितकर होता है।

दुष्ट पीनस की चिकित्सा—

त्रिदोषनाशक चिकित्सा करनी चाहिए। नासा शोथ में शोथनाशक चिकित्सा करनी चाहिये। नासिका में अर्बुद अधिमांस हो जाने पर क्षार क्रिया करनी चाहिये। जिन रोगों की चिकित्सा का वर्णन नहीं किया गया है उनके दोष एवं उपद्रव के आधार पर चिकित्सा करनी चाहिये।

वातज शिरोरोग की चिकित्सा—

वातज शिरोरोग में वातरोगनाशक नस्य के साथ स्नेहन स्वेदन का प्रयोग करना चाहिये। वातदोषशामक अन्नपान एवं उपनाह का प्रयोग करना चाहिये।

उपनाह—तेल में भुने हुए गर्म गर्म अगुर्वादि द्रव्यों का उपनाह बाधना चाहिये तथा जीवनीयगण मछली, मांस और अच्छे-अच्छे सुगन्धित चमेली आदि के फूलों से उपनाह बाँधें।

रास्नादि तैल—इसके नस्य से शिरःशूल शान्त होता है।

बलादि तैल—इसके नस्य से जत्रु के ऊपर उत्पन्न वातपित्तजन्य सभी रोग नष्ट हो जाते हैं।

मयूर घृत—इस घृत के सेवन से शिरोरोग, अर्दित, कान का रोग, जिह्वा का रोग, आँख का रोग, नाक का रोग, मुख के रोग एवं गले के रोग दूर होते हैं। ऊर्ध्व जत्रुगत सभी रोगों में हितकारी है।

महामयूर घृत—सभी शिरोरोग, कास, श्वास, मन्या स्तम्भ, पीठ की जकड़ाहट, शोषरोग, स्वरभेद, अर्दित,

नासिका में द्रव औषधि टपकाते समय
रोगी की सही स्थिति

योनिरोग रक्तविकार एवं शुक्र निवारण में नस्य, पानक एवं अभ्यंग करें। वन्ध्या स्त्री भी पुत्रवान होती है। ऋतुस्नान के पश्चात् यदि स्त्रियाँ इसका पान करती रहें तो निश्चय ही पुत्र उत्पन्न करती हैं।

विविध मांससाधित घृत का प्रयोग—मयूर घृत के विधान के अनुसार ही चूहे के माँस से, मुर्गे के माँस से या हंस के माँस से या खरहे के माँस से घृत का पाक कर ऊर्ध्व जत्रुगत रोगों में प्रयोग करें। इनके अनुसार आखु घृत, महा कुक्कुट घृत, हंस घृत, महाहंस घृत आदि का प्रयोग करें।

पित्तज शिरोरोग की चिकित्सा—

घृतपान, नस्य के साथ शीतल परिषेक, लेप, जीवनीय घृत का सेवन एवं पित्त नाशक अन्नपान का प्रयोग करना चाहिये।

चन्दनादि प्रदेह एवं परिषेक—दुग्ध में पीसे हुये चन्दन, खस, मुलेठी, बलामूल, नखी एवं नीलकमल का ललाट प्रदेश पर प्रदेह। इन्हीं का क्वाथ शीतल करके शिर पर परिषेक करना चाहिये।

अवपीड़नस्य—दालचीनी, तेजपात एवं चोबचीनी के कल्क को चावल के पानी से पीसकर घृत का नस्य पित्तज शिरोरोग में देना चाहिए।

मधुयष्टादि घृत इसका पित्तज शिरोरोगों में नस्य देना चाहिए।

कफज शिरोरोगों की चिकित्सा—

सर्व प्रथम रोगी के सिर पर स्वेदन करें। इसके बाद धूम्रपान, नस्य तथा प्रधमन नस्य का प्रयोग करें। उक्त क्रिया से रोगी के शुद्ध होने पर कफनाशक द्रव्यों का प्रलेप, अन्नपान एवं पुराने घृत का पान और तीक्ष्ण शिरोवस्तियों के द्वारा चिकित्सा करें।

दाह क्रिया - वात कफ जन्य शिरोरोग में दाह क्रिया करनी चाहिए।

रक्त मोक्षण—शेष सन्निपातज और कृमिज शिरोरोगों में रक्त मोक्षण करना चाहिए।

एरण्डादि धूमवर्ति - एरण्ड मूल, जटामांसी, क्षौमवस्त्र, गुग्गुलु, अगर एवं चन्दन—इनको पीसकर धूम्रवर्ति बनाकर धूम्रनेत्र में रखकर धूम्रपान करना चाहिए।

सान्निपातिक शिरोरोगों की चिकित्सा—सन्निपात में हितकर क्रियाओं का प्रयोग करना चाहिए एवं कृमिज शिरोरोगों में तीक्ष्ण विरेचन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

अवपीड़न नस्य तथा कवल ग्रह का प्रयोग—सौंठ, मरिच, पीपर, सहेंजना एवं करंज बीज कपड़े में पीसे हुये छानकर अवपीड़न नस्य दें। इन्हीं द्रव्यों के क्वाथ, स्वरस, क्षार, चूर्ण, कल्क के द्वारा भी नस्य का प्रयोग करना चाहिये। सिरका, तिक्त कटु द्रव्यों के क्वाथ और मधु का कवल ग्रह धारण करना चाहिए।

प्रतिश्याय पर आधुनिक दृष्टि

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में इस रोग के कारण लगभग आयुर्वेदोक्त कारणों के समान ही हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि आयुर्वेद के वात, पित्त, कफ, रक्त की दुष्टि रोगोत्पत्ति में स्वीकार की गई है। जबकि आधुनिक चिकित्सा में filterabe virus, न्यूमोकोकस आदि जीवाणुओं का रोगोत्पत्ति में कारण माना है।

संचय काल—८-१० दिवस माना है। लक्षणों का उदय क्रमशः दिन में होता है।

उपद्रव—नासारंध्रों का हर्पिस, नासा पूयस्राव, तीव्र मध्यकर्ण शोथ, न्यूमोनियां, राजयक्ष्मा, रक्तपित्त।

आयुर्वेद मतानुसार प्रतिश्याय से कास श्वास क्षय की उत्पत्ति होती है।

आधुनिक चिकित्सा सूत्र—१. निरोधक—रोगी को पृथक रखना चाहिए। विटामिन 'ए', 'बी', 'डी' का प्रयोग कराना चाहिये।

आवस्यिक चिकित्सा—(अ) एण्टीबायोटिक स्प्रे (ब) उष्णपेय (स) वेदनाहर औषध द्रव्यों का प्रयोग (द) एण्टीहिस्टेमिनिक औषधियां (इ) विबन्धहर औषधियां (फ) नासाधूम (Inhalation)–यूकलिप्टस आयल आदि का (ख) जीवाणुघ्न औषधियों द्वारा प्रक्षालन (ग) ज्वर की अवस्था में ज्वरघ्न औषधियाँ (घ) एड्रिनलीन का स्प्रे

पथ्य—सामान्य तरल पदार्थ एवं उष्ण पेय।

प्रतिश्यायहर आयुर्वेदीय सामान्य औषधियां—शृंग्यादि चूर्ण, संजीवनी वटी, मृत्युञ्जय रस, गोदन्ती भस्म, शृंग भस्म, तालीसादि चूर्ण, सितोपलादि चूर्ण, त्रिभुवन कीर्ति रस, त्रायमाणादि क्वाथ।

आधुनिक प्रचलित औषधियां—विक्स टेबलेट वेपोरब, स्ट्रेपसिल, कोल्डरिन, सिस्ट्रीन, एनासिन, एन्टीपायरिटिक व एण्टीहिस्टेमिनिक ड्राप्स।

ऊहापोह

चिकित्सा सूत्र में विशेषकर निदान परिवर्जन, स्नेह, स्वेदन, दीपन, पाचन, शोधन एवं लाक्षणिक चिकित्सा का विशेष विवरण अंकित है।

—डा० श्री वेदप्रकाश शर्मा त्रिवेदी
आयुर्वेदाचार्य, ए०एम०बी०एस० (लखनऊ)
एच०पी०ए० (जामनगर)
वर्तमान कार्यरत–रिसर्च आफीसर इन्चार्ज, ड्रग स्टेण्डर्डाइजेशन रिसर्च यूनिट (सी.सी.आर.आई.एम.एच.)
गुजरात आयुर्वेद विकास मंडल, आयुर्वेद भवन, सामने इनकमटैक्स आफिस अहमदाबाद-३८००१४

वैद्य श्री दरबारी लाल आयु० भिषक्

आयुर्वेद में प्रतिश्याय को नाक के रोगों के अन्तर्गत माना गया है। आयुर्वेद मतानुसार नाक में ३४रोग होते हैं जिनमें एक रोग प्रतिश्याय भी है। जिसको यूनानी हकीम जुकाम कहते हैं और डाक्टरी में इसे कोल्ड कहते हैं।

यद्यपि यह रोग साधारण रोग माना जाता है परन्तु बिगड़ जाने पर अधिक कष्टदायक हो जाता है। इसकी लपेट से कोई-कोई ही बच पाता है। वरना यह सभी को कष्ट पहुँचाता है। ऐसे मनुष्य बहुत कम मिलेंगे जिनको कभी प्रतिश्याय न हुआ हो। यह बिगड़ कर खांसी तथा राजयक्ष्मा तक को पैदा कर देता है। जैसाकि कहा है—

प्रतिश्यायादथो कासः कासात्संजायते क्षयः।

बड़े-बूढ़ों का कहना है कि जुकाम ढाई दिन रहता है और वास्तव में देखा भी यही जाता है कि साधारण जुकाम ढाई दिन में ठीक हो जाता है। परन्तु बिगड़ जाने पर बहुत विकराल रूप धारण कर लेता है। आजकल जो श्वास-कास के अधिकांश रोगी मिल रहे हैं वह इसी की बदौलत रोगी होकर नरक की यन्त्रणा भोग रहे हैं। इसीलिए इसको साधारण रोग समझ कर इसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। बल्कि इसके होने पर समुचित चिकित्सा करानी चाहिए।

प्रतिश्याय होने के कारण—

मल-मूत्रादि के वेग धारण करने से, अजीर्ण से, धूल के नाक में जाने से, अति बोलने से, क्रोध से, ऋतु की विषमता से, शिरोभिताप अर्थात् शिर को कष्ट देने वाले धुआं आदि नाक में जाने से, अति सोने से, शीतल जल के पीने से, बर्फ के खाने से, सोकर उठने पर शीघ्र जल पी लेने से, शीत लगने से, ओस लगने से, मैथुन करने से, रोने से तथा शोक से, सिर में कफ के भरा होने से वायु प्रवृद्ध होकर प्रतिश्याय को उत्पन्न कर देता है जिससे नाक की श्लैष्मिक कला में प्रदाह होकर नाक से पानी के समान दूषित पदार्थ का स्राव होने लगता है और छींकें आने लगती हैं। शरीर में टूटन होने लगती है। सिर में भारीपन और साधारण पीड़ा होने लगती है। शरीर-ताप भी कुछ बढ़ जाता है। कभी नाक बन्द हो जाती है और कभी खुल जाती है। डाक्टर लोग प्रतिश्याय को जीवाणु-जन्य मानते हैं।

प्रतिश्याय के पूर्वरूप—प्रतिश्याय जब होने को होता है तो उससे पहले छींकें आती हैं, सिर कफ से पूर्ण हो जाता है, शरीर में स्तम्भ हो जाता है, अंगड़ाई टूटती हैं, रोम हर्ष होता है तथा और भी अनेक उपद्रव प्रतिश्याय से पूर्व होते हैं।

प्रतिश्याय के लक्षण—

प्रतिश्याय पाँच प्रकार का आयुर्वेद ने माना है। जो इस प्रकार है—

१. वातज प्रतिश्याय।
२. पित्तज प्रतिश्याय।
३. कफज प्रतिश्याय।
४. सन्निपातज प्रतिश्याय
५. रक्तज प्रतिश्याय।

अब प्रत्येक के लक्षण नीचे लिखे जाते हैं—

श्री वैद्य दरबारी लाल जी 'धन्वन्तरि' के पुरातन लेखकों में से हैं। आपके लेख स्वविषय का पूर्णतः ज्ञान कराने वाले लेकिन व्यर्थ के विवेचन से परे होते हैं। 'धन्वन्तरि' की पुरस्कार योजनान्तर्गत आप पुरस्कार भी प्राप्त कर चुके हैं जोकि आपकी विद्वता का प्रतीक है। आपकी लेखन शैली सरल, बोधगम्य है। आशा है कि पाठक इस लेख से लाभान्वित होंगे।

—दाऊदयाल गर्ग

वातज प्रतिश्याय के लक्षण—नाक बंधी सी हो, आध्मान से पूरित हो, रुकी हुई हो, पतला तथा थोड़ा स्राव निकलता हो। गला, तालु तथा ओष्ठ सूखते हों, शंख स्थानों में पीड़ा होती हो, छींकें अधिक आवें, स्वर भंग हो जाय। ये लक्षण होने पर उसको वात से हुआ प्रतिश्याय समझना चाहिए।

पित्तज प्रतिश्याय के लक्षण—गरम-गरम पीला स्राव नाक से पैत्तिक प्रतिश्याय में बहता है। इस पैत्तिक प्रतिश्याय का रोगी कृश अर्थात् पतला हो जाता है। पाण्डु रंग का हो जाता है। रोगी उष्णता (गरमी) से पीड़ित होता है। नाक से धुयें सहित अग्नि को मानो वमन करता है यानी नाक से बहुत गरम सांस निकलती है।

कफज प्रतिश्याय के लक्षण—इसमें नाक से श्वेत रंग का, ठण्डा बहुत सा कफ निकलता है। वह मनुष्य सफेद रंग का सूजी हुई आंखों वाला, भारी सिर वाला हो जाता है। गले, तालु, ओष्ट तथा सिर से अति पीड़ित होता है।

सन्निपातज प्रतिश्याय के लक्षण—जब प्रतिश्याय बार बार होकर अकस्मात ही हट जाता हो। वह पका हुआ हो या न पका हुआ हो उसे सन्निपातज प्रतिश्याय कहते हैं।

रक्तज प्रतिश्याय के लक्षण—रक्तज प्रतिश्याय में नाक से रक्त निकलता है। पित्तज प्रतिश्याय के सभी लक्षण उसमें होते हैं। इसमें रोगी की आंखें तांबे के रंग की सी हो जाती हैं तथा उरोघात के लक्षणों से रोगी पीड़ित रहता है। उसके सांस से तथा मुंह से दुर्गन्ध निकलती है और सुगन्ध व दुर्गन्ध की भी प्रतीति नहीं होती है।

दुष्ट प्रतिश्याय के लक्षण

जिस प्रतिश्याय में बार-बार नाक गीली हो जाय और बार-बार सूख जाय; बार-बार अन्दर से फूल कर बन्द हो जाय तथा फिर खुल जाय, अति दुर्गन्धित निश्वास लेवे तथा गन्ध की प्रतीति न होती हो। ऐसे लक्षण हों तो उसे दुष्ट प्रतिश्याय समझो। यह कष्टसाध्य होता है।

साध्यासाध्य

यद्यपि प्रतिश्याय रोग साधारण रोग है परन्तु सभी प्रकार के प्रतिश्याय उपाय न करने पर देर के बाद दुष्ट होकर अर्थात् बिगड़ कर असाध्य हो जाते हैं।

इन प्रतिश्यायों में अथवा केवल रक्तज प्रतिश्याय में कृमि भी उत्पन्न हो जाते हैं जो श्वेत रंग के स्निग्ध तथा अणु होते हैं। कृमिज शिरोरोग के समान ही इसके लक्षण होते हैं।

प्रतिश्याय बढ़ कर अन्यान्य रोगों को भी उत्पन्न कर देता है। बहरापन, अन्धापन, गन्धशक्ति का नाश, घोर नेत्र रोग, शोथ, अग्निमांद्य, खांसी, श्वास एवं राजयक्ष्मा ये सभी प्रतिश्याय के बिगड़ने से हो जाते हैं।

प्रतिश्याय की चिकित्सा

आदि कारण को दूर करना चाहिये। सर्दी से बचना चाहिए। निर्वात स्थान में रहे। ठण्डे पानी का प्रयोग न करके कुछ कुछ गरम पानी का प्रयोग करना चाहिए। चाय दवा के रूप में पीनी चाहिये। इसके लिए गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार की चाय का सेवन अच्छा रहता है। अथवा निम्नलिखित द्रव्यों की चाय बनाकर पियें ये भी अतीव गुणकारी है। सिर को नंगा न रखें अंगोछा या मफलर आदि बांधे रहें। तीन दिन उपवास करने से उपद्रव सहित प्रतिश्याय नष्ट हो जाता है।

अपने घर पर चाय बनाने का देशी प्रयोग जो भारतीय जड़ी बूटियों से लाभकारी दवा के रूप में तैयार हो जाता है। उसके घटक द्रव्य—गुलबनफशा, तुलसी पत्र २-२ तो., दालचीनी, बड़ी इलायची, ब्राह्मी, मुलहठी, सौंठ, सौंफ १-१ तो०, काली मिर्च ६ माशा लेकर जौकुट करलें। फिर इसमें से ६ माशे लेकर आधा सेर पानी में चाय की तरह बनाकर दूध शक्कर मिलाकर पियें तो जुकाम, नजला, खांसी, श्वास, कफ ज्वर, निमोनियां इन सबको दूर करती है। दिमाग को बल देती और स्फूर्ति पैदा करती है।

निम्नलिखित प्रयोग प्रतिश्याय में लाभप्रद प्रमाणित हुये हैं—

१. कालीमिर्च का चूर्ण, गुड़ तथा दही मिलाकर पिलाने से प्रतिश्याय ठीक हो जाता है। अनुभूत है।

२. व्योषादि वटी—सौंठ, मिर्च काली, पीपल छोटी, चित्रक मूल त्वक्, तालीश पत्र, तिन्तड़ीक, अम्लवेत, चव्य, जीरा, इनमें से प्रत्येक द्रव्य का चूर्ण १-१ भाग इलायची का चूर्ण, दालचीनी, तेजपात इनमें से प्रत्येक का चूर्ण चौथाई २ भाग ले। इस सारे चूर्ण से दुगना पुराना

गुड़ मिलाकर ४-४ रत्ती की गोलियाँ बनालें। इन गोलियों के चूसने तथा खाने से प्रतिश्याय, पीनस, श्वास, कास, स्वर भंग नष्ट होता है, रुचि बढ़ती है। अनुभूत है।

३. कट्फलादि चूर्ण व क्वाथ—कायफल की छाल, पुष्करमूल, काकड़ासिंगी, सौंठ, मिर्च काली, पीपल छोटी, जवासा, कालाजीरा इन सबको समभाग लेकर चूर्ण करें या काढ़ा करें और इस चूर्ण या काढ़े में अदरख का रस डालकर पिलावें तो प्रतिश्याय, स्वर भेद, तमकश्वास, कफ-वात रोग, कास, हलीमक रोग नष्ट होता है। अनुभूत है।

४. षड्बिन्दु तेल की ६-६ बूंदें दोनों नथुनों से सुड़कने से (नस्य लेने से) प्रतिश्याय, अर्द्धावभेदक, शिर:शूल, सूर्यावर्त नष्ट होता है। नस्य लेने में यह सावधानी रखें कि रोगी को चारपाई पर इस प्रकार लिटायें कि उसका सिर चारपाई के सिहाने से बाहर निकला हुआ इतना नीचे झुका रहे कि नाक में डाली हुई दवा सीधी मस्तिष्क में पहुँच जाय मुँह में न आये। एक एक नथुने में ६-६ बूंद तेल डालकर रोगी से कहें कि वह नाक में पड़ा हुआ तेल ऊपर को सुड़क ले, तभी तेल से पूरा पूरा लाभ मिलेगा। यदि तेल मस्तिष्क में न जाकर मुँह में आ जायेगा तो गले में जलन करेगा और लाभ भी पूरा नहीं मिलेगा।

५. प्रातः सायं एक एक बादाम की मींग व एक कालीमिर्च चबाकर खालें तो एक ही दिन में सारा जुकाम नष्ट हो जायेगा। यदि प्रतिश्याय बार-बार हो जाया करता हो तो अधिक दिन सेवन करें। प्रतिश्याय में ज्वर आने का भय हो तो आनन्द भैरव रस या मृत्युञ्जय रस या संजीवनी वटी १ रत्ती के साथ खायें। इससे ज्वर-प्रतिश्याय, शरीर का दर्द सभी दूर होगा।

६. गुल बनफशा, गावजवाँ, उन्नाव, लहसोरे, खतमी, मुलहठी, अडूसे की जड़ की छाल, मुनक्का ३-३ माशा, कालीमिर्च १ माशा लेकर पाव भर पानी में काढ़ा करें। जब चौथाई पानी बाकी रहे तो उतारकर मलकर छान लें और १ तो. शहद या १ तोला मिश्री मिलाकर कुछ-२ गरम प्रातःकाल पी लें और इसी प्रकार शाम को बनाकर पीयें। श्वास वेग अधिक हो तो सोमकल्प ३ माशा और मिला लें और इफेड्रिन हाइड्रोक्लोराइड की एक गोली खाकर ऊपर से काढ़ा पीलें। यदि शिर:शूल तथा बदन में दर्द हो तो दर्दनाशक टेबलेट यथा सरबाइना या कोडोपाइरिन या सरिडान या नोवलजीन या पैरासिटामोल की एक गोली खाकर ऊपर से काढ़ा पीलें। यदि दस्त में कब्जी हो और दस्त साफ न आता हो तो सनाय ३ मा. व अञ्जीर ३ माशा काढ़े में और मिलालें। इससे प्रतिश्याय, कास, श्वास, ज्वर आदि शीघ्र दूर होते हैं। अगर इस काढ़े को स्थायी रूप में रखना चाहें तो इसका शर्बत बनाकर रख लें तो बार-२ काढ़ा बनाने का झंझट नहीं करना पड़ेगा। इस शर्बत में से १-१ तोला शर्बत कुछ गरम पानी २॥ तोला में मिलाकर प्रातः सायं दोपहर सेवन करने से पूरा-२ लाभ होता है। इसी शर्बत में १-२ रत्ती प्रवाल भस्म मिलाकर चाटने से प्रतिश्याय तथा खांसी दूर होती है। अनुभूत है।

कभी-२ गरम चीजों के प्रयोग करने से प्रतिश्याय में शुष्कता अधिक बढ़ जाती है और नाक रुक जाती है, नाक से सांस लेने में बड़ी कठिनाई होती है, रोगी बहुत बेचैन हो जाता है। ऐसी दशा में बृ. सितोपलादि चूर्ण २ माशा प्रवाल पिष्टी २ रत्ती मिलाकर उपरोक्त शर्बत में मिलाकर चटाने से शीघ्र नाक खुल जाती है और साँस लेने की कठिनाई खतम हो जाती है। नाक बन्द होने की दशा में एक शीशी में भीगा हुआ चूना (पान में खाने वाला) तथा नौसादर डालकर हिला मिला कर सूंघने से भी नाक फौरन खुल जाती है। अनुभूत है। इसके अतिरिक्त नाक बन्द होने की दशा में मुलहठी, बिहीदाना, गावजवां, गुल बनफशा, रेशा खतमी, मुनक्का, लहसोरे का हिम पिलावें। शीघ्र लाभ करता है।

७. प्रतिश्याय में चित्रक हरीतकी बहुत गुणकारी दवा है। इसके सेवन करने से शोष रोग, श्वास, कब्ज, वमन, कफज, प्रतिश्याय, क्षीण रोग, उर:क्षत, हिचकी रोग, कफ रोग, सिर दर्द, मन्दाग्नि—ये सभी रोग नष्ट होते हैं। जिनको बार-२ प्रतिश्याय हो जाता है और हर समय बना रहता है उनके लिए यह अमृत का काम काम करती है। नये पुराने सभी प्रकार के प्रतिश्याय को नष्ट करती है। बहुत अच्छी दवा है।

८. अदरख ६ माशा, तुलसी दल १ तोला, कालीमिर्च १५ नग, पानी ४० तोला में पकावें। जब चौथाई पानी शेष रहे तब उतार मल छान १ तोला मिश्री मिलाकर प्रातः

सायं दिन में दो बार पीयें तो प्रतिश्याय, खांसी, ज्वर, सर्दी ठीक होते हैं।

९. सिर भारी, सुस्ती, सरदी अधिक लगने पर—सोंठ ६ माशा, मिर्च काली २॥ माशा, दालचीनी ३ माशा, लौंग १ माशा, जल ४० तोला में काढ़ा कर चौथाई शेष उतार मलछान मिश्री १ तोला मिला पीवें।

१०. सुस्ती, सिर भारी, शरीर जकड़ना, खांसी-श्वास होवे पर कटेरी की जड़, चिरायता, सौंठ, अडूसे की जड़ ६-६ माशा, पीपल छोटी ३ माशा, काली मिर्च १ माशा का काढ़ा शहद मिला लेने से बहुत जल्द लाभ होता है।

११. यदि प्रतिश्याय में मलावरोध हो तो कटेरी की जड़, अडूसे की जड़, सनाय, मुनक्का, अमलतास के गूदे का काढ़ा दें अथवा पंचसकार चूर्ण का प्रयोग करें।

१२. मिश्री २ तोला, कालीमिर्च १५ दाने पाव भर पानी में औटावें। जब चौथाई पानी शेष रहे तब उतार छानकर गरम-गरम पी लें। इसी प्रकार प्रातः सायं दो तीन दिन पीने से प्रतिश्याय, खाँसी, ज्वर की हरारत आदि सभी कुछ ठीक हो जाती है। इसी प्रकार मिश्री १ तोला, मुलेठी ६ माशा, काली मिर्च १० दाने पाव भर पानी में औटाकर पीने से प्रतिश्याय, खांसी जड़ से नष्ट हो जाती है।

१३. बार-बार होने वाले जुकाम नजला पर मृगांक रस आधी-आधी रत्ती मधु से प्रातः सायं दें या रस सिन्दूर २ माशा, मृगश्रृङ्ग भस्म ३ माशा, अभ्रक भस्म ३ माशा, लोह भस्म ३ माशा, प्रवाल भस्म ३ माशा लेकर सबको मिला लें। इसमें से २-२ रत्ती दवा प्रातः सायं शहद से चाटें। यदि खुश्की करे तो मलाई में चाटें। इससे बार-२ होने वाला जुकाम नजला मिट जाता है।

१४. बहते प्रतिश्याय और कफज कास पर कनक वटी जो गुप्त सिद्ध प्रयोगांक चतुर्थ भाग के पृष्ठ ४७६ पर प्रकाशित हुई है बहुत लाभकारी है। जिसका योग इस प्रकार है—शुद्ध कनक बीज (धतूरे के बीज), सौंठ, खुरासानी अजवाइन बराबर बराबर लेकर कूट पीस छानकर शहद मिलाकर २-२ रत्ती की गोलियां बना कर १ या २ गोली दिन में ३-४ बार गरम जल या चाय या उपरोक्त किसी काढ़े से लें।

१५. प्रतिश्याय, कास, श्वास में बादाम का प्रयोग अतीव गुणकारी है। इसके कुछ दिन लगातार प्रयोग करने से रोग सदा के लिये दूर हो जाते हैं। ऐसे कई लोग हैं जिनको इससे स्थाई लाभ हुआ है और इस बीमारी से हमेशा के लिए पीछा छूट गया है। इसका प्रयोग जाड़ों में हलुआ के रूप में और गर्मियों में शर्बत के रूप में करें।

बादाम का हलुआ बनाने का विधान—बादाम की मींग ५ नग, पोस्ता ६ माशे लेकर शाम को पानी में भिगो दें। प्रातःकाल बादाम की मींग के छिलके उतार कर मींग व पोस्ता तथा ५ नग काली मिर्च को सिल पर बारीक पीस पाव भर दूध में मिला लें। फिर कढ़ाही में १ तोला घी गरम करें। उसी में इस मिले हुये दूध को मिलाकर इतना गरम करें कि गाढ़ा हलुआ की शकल का बन जावे। फिर इसमें १ तोला मिश्री मिलाकर सेवन करें।

बादाम का शर्बत बनाने का विधान—छिलका उतारी हुई बादाम की मींग ५ नग, पोस्ता ६ माशे, काली मिर्च ५ नग लेकर सिल पर बारीक पीस पाव भर पानी में मिलाकर २ तोला मिश्री मिला लें। बस शर्बत तैयार है। इसे नित्य प्रातःकाल बनाकर पियें।

इनके अतिरिक्त जाड़ों में लक्ष्मी विलास रस नारदीय, महालक्ष्मी विलास रस, कफ चिन्तामणि, कफ केतु रस, चन्द्रामृत रस, रस सिन्दूर, मकरध्वज, मल्लसिन्दूर, त्रिकुटा आदि लाभ करते हैं।

गर्मियों में सितोपलादि चूर्ण, तालीशादि चूर्ण, लवंगादि चूर्ण, प्रवाल भस्म आदि प्रयोग करें।

च्यवनप्राश का प्रयोग कुछ दिन लगातार करने से प्रतिश्याय, कास, श्वास में आशातीत लाभ होता है।

पथ्यापथ्य—गेहूं, जौ, कुलथी, मूंग, बैंगन, परवल, सहिजना, नरम मूली, लहसुन, गरम जल, दही, त्रिकुटा, कटु, अम्ल, लवण, स्निग्ध तथा उष्ण हलका भोजन ये सभी दोषानुसार सेवन करना चाहिये। परन्तु स्नान, क्रोध, मलमूत्र, अधोवायु इनके वेगों को रोकना, शोक, करना, द्रव पदार्थ अधिक पीना, शीतल पदार्थों का प्रयोग बर्फ का सेवन, पृथ्वी पर सोना ये सभी अपथ्य हैं।

—श्री वैद्य दरबारी लाल आयुर्वेद भिषक,
अशोक भैषज्य भवन,
फतेहगढ़ (फर्रुखाबाद) उ० प्र०

प्रतिश्याय की चिकित्सा —

प्रायः प्रतिश्याय तथा पीनस में वायु प्रधान कारण होता है अतएव उसके संशमन के लिये घृतपान प्रधान माना गया है। अपक्व प्रतिश्याय को पकाने के लिये कांजी आदि अम्ल पदार्थों के द्वारा स्वेदन करना चाहिए तथा उष्ण पदार्थों का सेवन करना चाहिये। इसके लिए उष्ण जल का पान, दुग्ध में सौंठ पका के पीना, शुण्ठी चूर्ण को गुड़ में मिला के खाना, स्निग्ध, दधि, अम्ल, उड़द, कच्ची मूली का सेवन करने से तरुण स्राव घनरूप में बदल जाता है। भैषज्य रत्नावली के अनुसार नवीन प्रतिश्याय में इमली के पत्तों का यूष बना कर पीना चाहिए "प्रतिश्याये नवे शस्तो यूषिश्चञ्चाच्छदोद्भवः।"

पक्व प्रतिश्याय में कफ गाढ़ा हो जाता है तथा वह नासा में लटकता रहता है ऐसी स्थिति में तीक्ष्ण औषधियों (अपामार्ग बीज, बायविडङ्ग, पिप्पली) के चूर्ण का नस्य देकर उसे निकाल देना चाहिए।

वमन, अङ्गमर्द, ज्वर, गौरव, अरुचि, अरति और अतिसार आदि इन उपद्रवों से युक्त प्रतिश्याय या पीनस रोगी को प्रथम लंघन कराना चाहिए तथा पाचन और दीपनीय औषधियों का सेवन कराना चाहिए। वातिक प्रतिश्याय में लवणों से सिद्ध घृत का पान करना चाहिए। पित्त तथा रक्तजन्य प्रतिश्याय में चन्दन, कपूर, लवङ्गादि शीत प्रकृतिक द्रव्यों का सिर पर लेप करना लाभदायक होता है। कफज प्रतिश्याय में तिल और उड़द से बनी हुई यवागू मिलाकर वमन कराना चाहिए। इसके अनन्तर कफघ्न औषधियां यथा कफकेतु रस, लक्ष्मीविलास रस, नारदीय, महालक्ष्मीविलास रस का सेवन कराना चाहिये। कफज प्रतिश्याय में पुष्करमूल चूर्ण मात्रा ३ ग्राम प्रातः ३ ग्राम सायं च्यवनप्राश अवलेह के साथ लेने से अच्छा लाभ होता है। सन्निपातज प्रतिश्याय में कटु तथा तिक्त द्रव्यों से सिद्ध किये हुए घृत, तीक्ष्ण औषधियों के धूम्रपान तथा कटु औषधियों का चूर्ण, गुटिका, अवलेह आदि रूप में प्रयोग सन्निपातजन्य प्रतिश्याय को नष्ट करता है।

प्रतिश्याय में त्याज्य पदार्थ—शीतल जल का पान तथा उससे स्नान करना, स्त्री प्रसङ्ग, ठण्डे पानी की टब में बैठना या ठण्डे पानी में डुबकी लगाना किन्तु शीतल झरने या शीतल बाग-बगीचे, चिन्ता, अत्यधिक रूक्ष पदार्थों का सेवन, अधारणीय मल-मूत्र, छिक्का आदि के वेगों को रोकना, शोक करना, नवीन मद्यों का पान ये सब प्रतिश्याय या पीनस रोगी के लिए वर्जित हैं।

—श्री व्रजविहारी मिश्र वैद्य
सङ्गठनमंत्री—उत्तर प्रदेशीय आयुर्वेद सम्मेलन
पो० बिन्दकी (फतेहपुर)

प्रतिश्याय : एक बहु प्रचलित रोग

वैद्य श्री पं० गोपाल जी द्विवेदी

श्री द्विवेदी जी आयुर्वेद के विद्वान लेखक एवं आयुर्वेद पर पूर्ण विश्वास रखने वाले हैं। आपको अपने पिता द्वारा पर्याप्त क्रियात्मक चिकित्सानुभव प्राप्त हुआ है। आपने काशी में आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त की है तथा जिला परिषद आयु० चिकित्सालय नरहनकलां में चिकित्साधिकारी पद पर कार्यरत हैं। इसके अतिरिक्त काशी मण्डल वैद्य सभा के उपमन्त्री, जिला प० चिकित्सक एसोसियेशन के अध्यक्ष एवं द्विवेदी आरोग्य निकेतन के संचालक हैं। जनता की सेवा में मनोयोग से तत्पर रहते हुए भी आपका पठन एवं लेखन कार्य निरन्तर चलता रहता है। आपके लेख अन्य आयुर्वेद पत्रिकाओं में भी प्रकाशित होते रहते हैं। "धन्वन्तरि" पर आपकी कृपा दीर्घकाल से रही है। श्वास, काल- यक्ष्मा- गुप्त रोग एवं वात रोगों के आप सफल चिकित्सक हैं। —दाऊदयाल गर्ग

१. हर प्रकार के प्रतिश्याय में रोगी को साधारणतः प्रारम्भ में तीन दिवस केवल गर्म जल ही दिया जाय तथा उपवास, विशेष परिस्थिति में रोटी आदि उष्ण हल्के भोजन पर रखा जाय तो निश्चित प्रतिश्याय दूर हो जाता है।

२. कब्जियत भी प्रतिश्याय में बाधक बनता है ऐसी हालत में पंचसकार चूर्ण, विरेचनी, परगोलेक्स आदि किसी एक को रात्रि में सोते समय गर्म जल से लें।

३. लक्ष्मीविलास रस (नारदीय) १ गोली अदरक रस व मधु के साथ दिन में ३ बार दें।

४. आनन्द भैरव रस २ गोली, श्रृंगभस्म २ रत्ती, गोदन्ती भस्म १ रत्ती २ मात्रा बनायें। अनुपान—तुलसी एवं आदि का रस व मधु दिन में ३ बार।

५. तुलसी पत्ती २०, कालीमिर्च ५ दाना, आदी ६ मा., गुल बनफशा ३ माशा, मुलहठी ३ माशा, सौंफ ३ माशा, सनाय १ तोला, बहेड़ा छिलका ६ माशा, हंसपदी १॥ माशा, लिसोरा पत्ती ५ सबकी २ खुराक बनायें। आधा सेर जल में औटायें, शेष एक छटांक रहे मिश्री या चीनी आधा तो. मिलाकर गरम-गरम काढ़े को पीयें। इसी काढ़े को रात्रि में दुबारा जल देकर पीयें।

६. दर्द की हालत में कोई दर्दनाशक सौम्य गोली लें। ज्यादा टिकिया खाने से जुकाम सूख भी जाता है।

७. मृत्युञ्जय रस, संजीवनी वटी की १-१ गोली भी गर्म जल से लेते रहने से लाभ मिलता है। खाँसी की हालत में लवङ्गादि वटी, एलादि वटी, मरिच्यादि वटी को चूसें। सीने में दर्द हो तो कड़ुवे तेल में कपूर मिला गर्म कर मलें तथा सेकें।

—वैद्य श्री पं० गोपाल जी द्विवेदी
चिकित्सक—जिला परिषद् आयुर्वेदिक औषधालय
नरहन कलाँ पो. मैढ़ी (चंदौली) वाराणसी
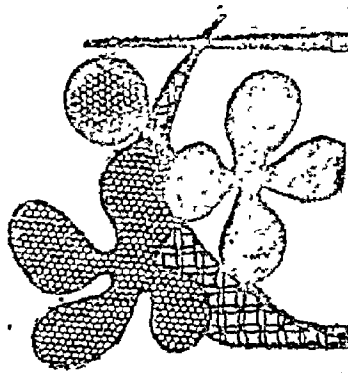
प्रतिश्याय की चिकित्सा—त्रिकटु, चित्रक, तालीसपत्र, इमली, अमलवेतस, आंवला, जीरा, त्रिकटु की औषधि १-१ भाग लें तथा सब ४-४ भाग लेकर कूटकर चूर्ण बनालें। मात्रा—३ माशे के करीब (४ ग्राम) गर्म जल के साथ दिन में २ बार दें।

२. पुराने प्रतिश्याय में सिर में तेल (मीठा तेल) मलें तथा कोई तीव्र नस्य दें। कायफल आदि के चूर्ण से छींक आकर पुराने प्रतिश्याय में लाभ होता है।
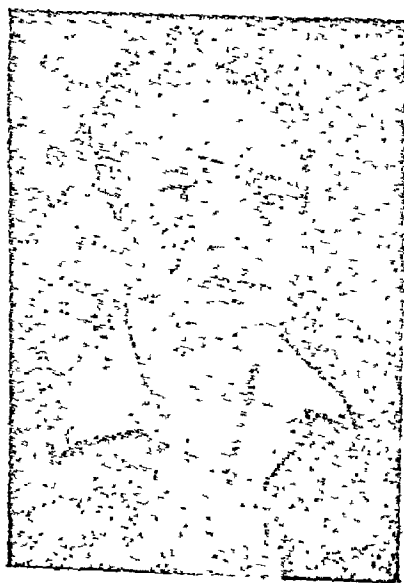
३. सितोपलादि चटनी १ ग्राम, टंकण भस्म आधी ग्राम (करीब दो रत्ती) मधुयष्ठी चूर्ण मधु के साथ मिला कर दिन में ३-४ बार दें। पुराना प्रतिश्याय ठीक होगा।

४. महालक्ष्मी विलासरस १ रत्ती, तालीसादि चूर्ण २ माशा मधु में मिलाकर दिन में ३ बार दें। पुराने प्रति-श्याय में लाभकारी है।

५. लिहसौडे ७ नग, उन्नाव ७ नग, मुनक्का ७ नग, कालीमिर्च, अन्जीर ३-३ नग, मुलहठी ४ माशा, गाजवाँ, गुलबनफसा ४-४ माशा कूटकर १ पाव (२५० ग्राम) पानी में पकावें। १ छटांक (६० ग्राम) शेष रहने पर खसखस का शर्बत ३ तोला मिलाकर केवल ३ दिन पी लें।

६. पुष्करमूल १० ग्राम, काकड़ासिंगी १० ग्राम, त्रिकटु १० ग्राम, जवाँसा १० ग्राम, जीरा १० ग्राम सबको कूटकर चूर्ण बनालें। अदरक के रस में मधु मिला २ ग्राम की मात्रा में चूर्ण मिला दिन में ३-४ बार चाटें।

७. घर में काम आने वाली हल्दी को आग पर डाल कर सूंघें (आँख बन्द करके) प्रतिश्याय २-३ बार के सूंघने से ही नष्ट हो जाता है। इसको नये प्रतिश्याय में न करें क्योंकि मस्तक पीड़ा भारीपन आदि उपद्रव होते हैं।

८. किसी कारणवश प्रतिश्याय रुककर उपद्रव पैदा करे तो सिरस की फली के बीज काटकर महीन पीसकर नस्य लें। २-३ बार के ही सुंघने से प्रतिश्याय का रुका पानी (बलगम) चालू होकर मस्तक पीड़ा, भारीपन आदि हर उपद्रव को नष्ट कर देता है।

ऐलोपैथिक में—ए. पी. सी. या एस्प्रीन की १-१ या दो-दो गोली रोग व रोगी के अनुसार (१४ वर्ष के बच्चे को १-१ गोली दें छोटे बच्चों आधी-आधी गोली दें) गर्म पानी से दिन में ३-४ बार दें।

२. सल्फाडायजीन की बच्चों को आधी-आधी गोली दिन में ४ बार गर्म पानी से दें।

३. विक्सवेपोरब का भोपारा दें तथा गले, छाती, पीठ पर मलें तथा नथुनों में भी मलें।

नोट—नये प्रतिश्याय में उपचार न करें तथा पकने पर (३ दिन बाद) उपचार करें तो इस रोग से छुटकारा आराम से मिल जाता है। भोजन रूखा, सूखा दें। भूखा रहने दें।

—श्री डा. हरिशंकर शर्मा वैद्य (खेड़े वाले)
छोटा बाजार, बोलाना (गाजियाबाद) उ० प्र०

श्री कपूर चन्द जैन आयु. वृह.

जब नाक में रहने वाला पित्त घाव कर देता है, नाक पक जाती है और तर रहती है जिसमें से बदबू आती है। तब कहते है कि नासापाक रोग हुआ है यानी नाक पक गई है।

अगर नाक पक गई हो तो—१. शाल वृक्ष, अर्जुनवृक्ष, गूलर और कुड़े की छाल का काढ़ा बना लो और इस काढ़े से नाक को धोओ। इन्हीं चारों दवाओं को समान भाग लेकर पानी के साथ पीसकर लुगदी बना लो और इन्हीं चारों का काढ़ा फिर बनाओ। लुगदी से चौगुना घी और घी से चौगुना काढ़ा कढ़ाई में डालकर घी पका लो। इस घी के लगाने से नासा पाक रोग में बहुत जल्दी लाभ होता है। परीक्षित है।

२. हरे धनिये की पत्ती और सफेद चन्दन को पीसकर सूंघने से छींक का रोग मिट जाता है।

३. कुलिजन को पोटला में बाँधकर सूंघने से छींकों का रोग मिट जाता है।

अगर पीनस में लापरवाही करने से कीड़े पड़ गये हों तो बांस के कोमल कल्लों का रस १ छटांक और तारपीन का तैल १ तोला दोनों को मिलाकर नस्य देने से सब कीड़े बाहर निकल आते हैं।

४. पीनस के बहुत पुराना होवे पर प्लीहा और मुंह घाव हो जाते हैं। इस अवस्था में चिकनी सुपारी ८ नग, सफेद कत्था २ तोला, अरण्डी की जड़ की छाल २ तोले, कपूर ३ माशा, जायफल १ माशा, जाविन्त्री १ माशा, छोटी इला-यची १ माशा, और बड़ी इलायची १ माशा इनको एकत्र पानी में पीसकर मुंह में लगाने से मुंह के घाव आराम हो जाते हैं।

५. दूब घास को लाकर सिल पर पीसें और कपड़े में निचोड़कर चार सेर रस निकालो। फिर १ सेर तेल और चार सेर रस को कढ़ाही में औटाओ। जब तैल मात्र रह जाय उतारकर छान लो। इसका नाम दूर्वाद्य तैल है। इस तैल की नस लेने से नाक से खून गिरना एवं नाक के समस्त रोग नासा पाक वगैरह शीघ्र ठीक हो जाते हैं।

६. कटेरी की जड़, दन्ती, बच, संहजना, तुलसी, सौंठ, काली मिर्च, छोटी पीपर और सैंधा नमक इनको बराबर लेकर पानी के साथ सिल पर महीन पीस लो और लुगदी बनालो। इस तैल की नस लेने से पुतिनस्य रोग यानी नाक और मुंह से बदबूदार हवा निकलना आराम होता है। इस तैल का नाम व्याघ्री तैल है। यह वैद्यक का मशहूर तैल है। अनेक बार परीक्षित है।

७. सहंजने के बीज, कटेरी के बीज, दन्ती के बीज, जमाल गोटा, सौंठ, काली मिर्च, पीपर और सैंधानमक इनको बराबर-बराबर लेकर सिल पर महीन पीस कर लुगदी बनालो। फिर बेल के पत्तों का रस निकाल लो। शेष में तैल, लुगदी और बेल पत्तों का रस मिला कर कढ़ाई में चढ़ा दो और तैल पका लो। इस तैल का नाम शिग्रु तैल है। इसकी नस्य देने से पूतिनस्य रोग यानी नाक और मुंह से बदबूदार हवा आने का रोग आराम हो जाता है। परीक्षित है।

पीनस प्रतिश्याय (जुकाम) वगैरह कफ प्रधान नासा रोगों में कफ नाशक पथ्य दो। अगर जरा भी कफ का उपद्रव हो तो चावलों का भात मत दो, रोटी वगैरह रूखे और हलके भोजन दो। पूयरक्त नासापाक वगैरह नाक के पित्त प्रधान रोगों में पित्तनाशक और रक्तपित्त शक्तिकारक पथ्य दो। नाक रोग के साथ ज्वर हो तो ज्यादा रूखा पथ्य मत दो। अगर ज्वर का जोर हो तो दो-चार दिन हलका ही पथ्य दो।

—श्री डा० कपूरचन्द्र जैन आयुर्वेद बृह०
सुभाष औषधालय, हीरापुर (सागर) म.प्र.
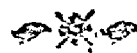
श्री डा० विट्ठलसिंह ह० गहरवार

श्री गहरवार जी का जन्म १९३९ में चीचगढ़ (भंडारा) में हुआ। आपको आयुर्वेद में रुचि है। साथ ही होम्योपैथी का भी अच्छा ज्ञान है। आप विगत में जनसंघ के कर्मठ कार्यकर्ता रहे हैं। अब से २ वर्ष पूर्व आपको राजनैतिक विरोध के कारण तत्कालीन सरकार ने मीसा के अन्तर्गत कारागृह में डाल दिया तथा लगभग एक वर्ष पश्चात् मुक्त किया गया। इस १ वर्ष के अन्तराल के कारण आपके चिकित्सा कार्य में पर्याप्त हानि हुई। अब आप जनता पार्टी के लिये कार्य कर रहे हैं। भगवान 'धन्वन्तरि' आपको चिरायु बनायें।

—बाऊदयाल शर्मा

मानव शरीर से पशु-पक्षी तक में घ्राणेन्द्रिय नासिका अति उपयुक्त भाग माना गया है, जिसमें वायु के जरिये महक लेने पर भले-बुरे की पहचान होती है। प्रकृति ने ऐसी व्यवस्था न की होती तो मनुष्य की विष्टा तथा इसकी पहचान करना मुश्किल होता, जो खुशबू और बदबू की चेतना हो जाती है। नाक को बाहर से देखने में दो छिद्र दिखाई देते हैं। लेकिन ब्रह्मरंध्र के पास जाकर दोनों छिद्र एक होते हैं और तिराहा बनता है (एच.पी.सी. ७७५) एक राह दो मार्गों में विभक्त होकर नासारंध्र रूप में सामने दीखने लगती है, जो आप हम देख पाते हैं। भीतरी एक राह गले से निकलती है। जिसका स्थान उपजिह्वा के पीछे है। कभी-कभी पानी पीते पर तथा भोजन के समय अचानक खाँसी तथा झटका लगने पर मुंह से खाये हुए भोजन का कुछ कण तथा पानी नाक से बाहर निकल जाता है। कारण यह गले के उपजिह्विका के पिछले छिद्र से ही नाक में चला जाता है। वास्तविक एक राह जो नाक के ऊपरी भाग ललाट के भीतर से ब्रह्माण्ड तक चली जाती है। मेरुमज्जा स्थान तथा मध्य राह की लसिका ग्रन्थि से जो स्राव निकलता है वही नासिका मार्ग से बाहर निकल आता है। कफ जैसा पतला होने से कभी कभी गले में जाकर मुंह से निकल सकता है। अनियमित खान-पान, नैसर्गिक ऋतु परिवर्तन के समय, ठण्ड मौसम में, पानी में भीगने पर तथा शारीरिक बीमारी के कारण नजला सर्दी, पीनस आदि रोग हुआ करते हैं।

परीक्षा प्रणाली—नासिका के ऊपर जब रोग का आक्रमण होता है तब सावधानीपूर्वक परीक्षा करनी चाहिए। सर्दी नयी है या पुरानी, नासिका में अन्दर कहीं फोड़ा या ट्यूमर तो नहीं है जो श्वांस लेने में अड़चन करता है। अन्दर में पतली हड्डी चिपटी तथा उपदंश बीज के कारण हड्डी अन्दर गलनी तो चालू नहीं हुई है यह पूर्ण रूप से परीक्षा कर लेनी चाहिए। नासिका में पत्थर तथा सीताफल का बीज अन्दर चला जाता है। मेरे छोटे बच्चे ने अचानक राजनांदगांव में सीताफल का बीज डाल दिया था जो दूसरे दिन नाक के अन्दर फूल गया था बाद में परीक्षा करने पर निकाला गया था।

नाक से खून जाना (Epistaxis)—

इस रोग में अनेक रोगियों के नाक से खून जाता है। इसे अंग्रेजी में एपिसटैक्सीस कहते हैं। यह खासकर ४-५ वर्ष के छोटे बच्चों को बहुत कम होता है। १२ से १८ वर्ष आयु वालों को अधिक होते देखा गया है।

१. छोटे कृमि द्वारा नाक पर आक्रमण होता है तब खून जाता है श्रेड वर्म अधिक संख्या में जब पैदा होते हैं

और उसका इलाज पूरे तौर पर नहीं हो पाता है उस समय मलद्वार और नाक में अधिक खुजलाहट मालूम होती है। तब कृमि काटने का संकेत हो जाता है।

२. टाइफाइड फीवर या आंत्रिक ज्वर के बाद गर्मी मौसम आने पर शरीर गरम हो जाता है तब नाक से अवश्य खून जाने लगता हैं। इसकी वैद्यकीय जांच होने पर पुराने रोग आक्रमण हुए खांसी, मेनीजाइटिस में किसी-किसी को नाक से खून जाता है।

३. जब यौवन अवस्था में कुमारिका आ जाती है और ऋतुस्राव ठीक प्रकार से नहीं हो पाता है किसी-किसी को चालू हुआ मासिक स्राव फिर से बन्द हो जाता है जो मासिक पाली के समय अनियमित भोजन और पानी में अधिक काम करती हो ऐसी अवस्था में कभी-कभी अचानक नाक से खून जाता है। इसे मासिक पाली रुकने का दुष्परिणाम समझा जाता है तथा आघात होने पर खून जाता है।

४. धातुगत विघात के कारण—स्वाभाविक संतुलन खोने पर जो अधिक झगड़ालू प्रकृति के व्यक्ति होते हैं झगड़ा होते ही माथा एकदम गरम हो जाता है। आँखें लाल हो जाती हैं। इस अवस्था में नाक से एकदम पतला खून जाता है लेकिन खून जाने के बाद माथा ठण्डा हो जाता है। दिमाग शान्त हो जाता है। गर्मी छट जाती है। उसी तरह हिस्टेरिया वाले रोगी को, रक्तचाप के रोगी को, रजोबन्ध अवस्था वाली प्रौढ़ महिला को समूचा शरीर प्रदाहित होकर नाक से खून जा सकता है। टी०बी० वाले रोगी को मुंह से खून जाता है वह कभी अचानक नाक द्वारा किया जा सकता है। अब आगे नासास्राव के अगले भाग पर ध्यान देंगे जो नये और पुराने अवस्था में होता है।

नासास्राव—नासस्राव को साधारण परिभाषा में नाक से पतला बहने वाला रङ्गी, बेरङ्गी पानी जैसा स्राव होता है जो साधारण और असाधारण बीमारी के कारण बहता है। उसे नासस्राव कहा जाता है।

१. **सर्वसाधारण बीमारी**—नये अवस्था में जो साधारण रूप में बीमारी नासस्राव की होती है वह ऋतु तथा हवामान बदलने पर सर्दी, जुकाम, सर्दी के साथ श्वास कष्ट, आघात, नाक पर मार लगने पर नाक से खून जाना, नाक में कंकड़ तथा कोई चीज नाक में जाने पर जख्म होकर तथा खून या बाद में मवाद निकलना तथा अन्य कारणों से जैसे कृमि दोष में, रजोबन्ध में, यह उपरोक्त सर्वसाधारण कारण माना गया है। उपरोक्त कारणों से नासास्राव की हुई बीमारी की अच्छी तरह से चिकित्सा करने पर थोड़े ही दिन में बीमारी मिट जाती है।

२. **असाधारण बीमारी**—यह पुरानी (Chronic) अवस्था में बीमारी अपना प्रभाव खासकर नासिका यन्त्र पर कर लेती है तब नासास्राव रोग भयानक उग्र अवस्था का रूप धारण कर रंग-बेरंग स्राव चालू हो जाता है। स्राव बदबूदार सड़न अवस्था होती है तब रोगी का इलाज जानकार चिकित्सक द्वारा नहीं हुआ तो रोगी की जीवन लीला कुछ ही दिनों में समाप्त हो जाती है जिसका विवरण मैं समचिकित्सा (Homeopathic) प्रणाली द्वारा कर रहा हूँ। यह मेरे स्वयं अनुभव परीक्षित विचार तथा होमियो चिकित्सा विज्ञान के विचार रखे गये हैं पाठक अवश्य अपना ध्यानाकर्षण कर सकते हैं।

(अ) **पुरानी सर्दी**—दिन में अधिकतम सुबह ही सर्दी होना, छींक आना, नहाने की इच्छा न होना, जब घर में रहे तब तक सर्दी मालूम नहीं होती है, लेकिन घर के बाहर निकलते एकदम सर्दी ठंड और बारिस के मौसम में अधिक होती है। यह धातुगत प्रकृति जिसमें Psora सोरा रोग बीज मौजूद रहकर छींक और सर्दी आती है। कुछ समय सर्दी का स्राव पानी जैसा पतला होता है। थोड़े ही परिवर्तित समय पर स्राव खारा होने पर सर्दी कम होने लगती है। सोरा दोष (Psora) में नाक लाल हो जाती है अन्दर छोटी छोटी फुन्सियाँ हो जाती हैं, दर्द होता है लेकिन मवाद नहीं होता है। यह Psora दोष के प्रमुख लक्षण हैं। दम Asthma के रोगी को सर्दी और खाँसी जो होती है सोराग्रुप की औषधियों का अधिक उपयोग होता है।

(ब) **नाक का फोड़ा तथा पीनस (Ozena)**—कोई भी रोग होता है वह बिना कारण से नहीं होता है। जैसे हम खाना क्यों खाते हैं इसका सही उत्तर भूख लगना है। मैंने होम्योपैथिक चिकित्सा विज्ञान के मुताबिक

स्वयं अनुभव प्राप्त किया है जो परीक्षित जानकारी लेख में दे रहा हूं। पीनस तथा नाक में पुराना फोड़ा, व्रण सिफलिस (Syphilis)दोष कि कारण होता है। यह सैद्धान्तिक विचार है। नाक से पतले झिल्ली कलापर छोटी सी फुन्सी आ जाती है, मामूली दर्द देती है और रात दिन में शीघ्रता से पक जाती है और मवाद निकलता है। नासिका से निकलने वाले स्राव में मवाद मिश्रित स्राव निकलता रहता है लेकिन अन्दर में फोड़ा सूखता नहीं है। ३-४ माह होने पर पुरानी अवस्था प्राप्त होती है और बाद में रक्त मिश्रित बदबूदार नासास्राव निकलने लगता है। फोड़े में न्दर छोटे-छोटे कीड़े (कृमि) हो जाते हैं नाक में कुलबुलाते हैं। इस समय कभी-कभी पतला खून मिले जैसा नासस्राव होता है। दिमाग में चक्कर जैसा मालूम होता है। पीनस के कीड़े नाक में स्वयं पैदा हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में जानकार चिकित्सक द्वारा शीघ्र इलाज करना चाहिये और यह भी ध्यान रखना चाहिये कि पीनस के कीड़े नाक से पूरे निकलें। इसे नाक का दुष्ट व्रण भी कहा जाता है। नाक के अन्दर दवा छोड़ने पर अपने आप कीड़े निकलने लगते हैं जो छोटे चावल के आकार जैसे लम्बे होते हैं। और कृमि जन्तु की बीमारी में सूत जैसे लम्बे कीड़े होते हैं।

(ख) नाक का घातक फोड़ा—सिफलिस बीज यह वंशपरंपरागत तथा स्वयं की गलती से खून में मौजूद हो जाता है जो समयानुसार विशेष रूप से मांसपेशी अस्थि आवरण और अस्थि पर, दांत पर शीघ्र अपना प्रभाव जमा लेता है। अस्थि आवरण के पास निर्माण कर दर्द होता है और बाद में अस्थि पर एकदम आक्रमण कर देता है चाहे दांत के पास हो साधारण कोई भी मांसपेशी पर हो, इसी तरह नाक के अन्दर अस्थि आवरण के पास प्रदाह कर नाक अन्दर के कोमल हड्डी को सड़न अवस्था में जाकर हड्डी गलाने का काम करता है। इस अवस्था में नाक के अन्दर कोई भी दर्द अधिक महसूस नहीं होता है नासास्राव निकलता है। उससे कुछ भाग गाढ़ा दीखता है जिसमें थोड़ी बदबू मालूम होती है लेकिन मवाद नहीं होता है। यह अस्थिक्षय (Caries-कैरीज) अवस्था सिफलिस दोष कि तृतीय अवस्था में पाई जाती है जिसे और भी आगे की अवस्था को अस्थि सड़न क्रिया(Necrosis-नेक्रोसीस) कहा जाता है। नाक की हड्डी को गलाने की क्रिया प्रारम्भ होती है तब ही सावधानी से चिकित्सा करनी चाहिये। सिफलिस आगे बढ़ने में पारा युक्त औषधियां जो अधिक उपयोग में लायी जाती हैं जिसके दुष्परिणाम से सिफलिस को अपना कार्य सफल करने का मौका मिलता है। सिफीलीस एवं पारादोष नाशक औषधि शीघ्रतः उपयोग करने पर बीमारी काबू में आ जाती है। (C. D. B. 73–74.)

सम चिकित्सा—सम चिकित्सा पद्धति या समान रूप से रोगी में जो लक्षण प्रगट होते हैं। वही लक्षण दिखलाने वाली औषधि में मौजूद रहना अत्यन्त जरूरी है। चाहे रोग कोई भी हो सम चिकित्सा औषधि सोच समझ कर तथा डाक्टर की सलाह से लेनी चाहिए। यह दवा लेने पर कुछ देर तक रोग बढ़े जैसा मालूम होता है। लेकिन इसे Aggravation एग्रावेशन कहा जाता है। इसमें घबराना नहीं चाहिये और दवा देते समय ३, ६, ३०, २००, १०००, १० M, शक्ति के दवा का उपयोग रोगीकी ग्रहण शक्तिअनुसार करना चाहिए। छोटे बच्चे को कम शक्ति ३, ६ का अधिक उपयोग होता है। उसी तरह रोग की अन्तिम अवस्था में कम शक्ति की दवा दी जाती है। यह विशेष ध्यान रखें कि बायोकेमिक गोली छोटे बच्चे को २ तथा वयस्कर व्यक्ति को ४ दी जाती हैं। होमियोपैथिक दवा बहुत तेज होती है, १०-१५ मिनट में अपना रूप प्रकट करती है। सावधानी के साथ ५-६ गोली कोरे कागज पर लेकर मुंह में ले तथा चूसता रहे। किसी समय कम शक्ति दी जाती है, और किसी समय उच्च शक्ति दी जाती है। यह रोगी और रोग की अवस्थानुसार दवा दी जाती है। यह चिकित्सक के निर्णय की योग्य जवाबदारी है।

सर्दी जुकाम पर औषधियां

नेट्रम म्यूर Natrum Mur. ६× १२× ३०× यह सर्दी जुकाम होने पर बायोकेमिक ग्रुप की एक सिद्ध औषधि मानी गई है। पानी जैसा स्राव होना, मस्तक भारी लगना, नासास्राव में जलन नहीं होना। इसमें अति उपयुक्त औषधि है। सिर दर्द होने पर सहाय मेगनेशिया फास १२× की ४ टिकिया लेनी चाहिये। यदि ज्वर है तो

फेरमफास १२×३० की ४ टिकिया (टेबलेट) लेनी चाहिये जो आगे पीछे एक घण्टे का दवा लेने का अन्तर होना जरूरी है।

अकोनाइट नप (Aco. Nap) ६, ३०—यह होमियोपैथिक दवा है। रोगी के प्रथम अवस्था में सर्दी होना, छींक आना, नाक के आगे जलन मालूम होना, मामूली ज्वर महसूस होने पर ५-६ छोटी गोलियाँ दिन में ४-५ बार लेने पर सर्दी और ज्वर शीघ्र आराम होता है।

नक्स व्होमिका (Nux-Vomica) ६, ३०, २००—यह दवा उस रोगी को अधिक फायदेमन्द है जिसे अधिक कब्ज रहती है। मल साफ नहीं होता है, सुबह उठते ही सर्दी मालूम होती है और सर्दी के बाद थोड़े ही १२ घण्टे में मामूली दमे का श्वास कष्ट होता है। उम्र के अनुसार यह दवा ६, ३०, २०० शक्ति potency तक दी जाती है।

आर्सनिक आयोव (Ars. Alb) ६,३०,—इस दवा को सावधानीपूर्वक उपयोग करना चाहिए। नाक से पानी बहता हो और मामूली ज्वर हो, भयङ्कर प्यास तथा बैचेनी हो और श्वाँस-कष्ट होने पर भी सर्दी में यह दवा दी जाती है। दिन में ३ मात्रा से अधिक दवा न देवें। उसी तरह प्रथम ६ Potency शक्ति दवा देवें।

एलीयम सेपा (Allium Cepa) ६, ३०—नये होने वाले मामूली सर्दी जुकाम में दवा फलदायक है। नाक, आँख से पानी जैसा स्राव बहता है आँखों में ज्वाला मालूम होती है। किसी-किसी को नाक से पानी जैसा पतला रक्त निकलता है और बार-बार छींकें आती हैं। रोगी गरमी से या गरम हवा से ज्यादा तकलीफ पाता है, माथे में दर्द होता है। यह इस दवा के प्रमुख लक्षण हैं।

कालो-बाईक्रोमीकम (Kali-Bichromicum) ६,३०—पुरानी सर्दी में काम में लाई जाती है। नाक की जड़ में दर्द होना, सिर में दर्द, यक्ष्मा, श्वास पीडित रोगी जिसे नाक में से रस्सी की तरह लटकता नासास्राव निकलता है। नाक के अन्दर घाव (जख्म) मालूम पड़ता है, नाक को दबाने पर दर्द मालुम होता है। इस अवस्था मे रोगी को ६ शक्ति की ३ मात्रा दवा दिन में देनी चाहिये। इस दवा का रोगी काफी दुबला कमजोर मालूम पड़ता है। इसलिए ३० और २०० शक्ति तक दवा दी जाने में अड़चन होती है। अच्छी शक्ति आवे पर उच्च शक्ति की दवा का समयनुसार उपयोग करना चाहिये।

आर्स आयोड (Ars. Iod ६)—यह दवा आर्सनिक तथा आयोडियम से बनी होने से जहाँ आर्सनिक आल्बम काम नहीं करता है उस रोगी को देना चाहिये। नाक में सर्दी होना, इन्फ्लुएन्जा, सर्दी के साथ दमा (Asthma) होना, गले की गाँठ बढ़ना, गण्डमाला, धातु का रोगी, खून की कमी, ट्यूबरक्युलोसिस प्रकृति, कभी-कभी मवाद भरा कफ निकलता है, रोगी नियमित भोजन करता है फिर भी दुर्बल रहता है, यह आयोडियम के लक्षणों से सम्बन्धित हैं, ऊपरी लक्षण रोगी में मिलने पर पुरानी भी सर्दी ठीक हो जाती है ६ से २००, १००० शक्ति तक दवा प्रयोग कर सकते हैं।

सँगुइनेरिआ नाई (Sangunaria. Nit) ६,३०—नये और पुरानी सर्दी में उपयुक्त दवा है। नाक के अन्दर जलन होना, आँख से पानी जाना, माथे और आंख में दर्द, नाक कभी सूखी रहती है, पपड़ी जमी रहती है उसे निकालते ही नाक से खून जाता, नाक के अन्दर घाव जैसा दर्द, और छींक आना, नाक में गोल छोटा सा रक्त अर्बुद (Tumor) होना यह प्रमुख लक्षण है। फास्फोरस के रोगी की नाक में अर्बुद होता है।

बेसीलिनम (Basilinum) २००,१०००,१०एम—इस दवा का प्रयोग विशेष Anti Dose जैसा किया जाता है किसी-किसी को पेटेंट (शर्तिया) दवा देने पर रोग थोड़ा हट जाता है बाद में फिर होने लगता है। ऐसा कई वर्षों का इतिहास मिलने पर दवा देनी चाहिये। टी० बी० रोगी के फेफड़े से यह दवा तैयार की जाती है। इसलिये सावधानीपूर्वक लेनी चाहिए। पुरानी सर्दी में ही प्रयोग किया जाता है। क्षय प्रकृति तबियत मवाद भरा कफ निकलता है। इस औषधि का रोगी जरा सी भी ठण्डक सहन नहीं करता है। यह दवा अतिरिक्त क्रिया वाली होती है इसलिए उच्च शक्ति की एक मात्रा दवा देकर १५-२० दिन तक परिणाम पर लक्ष देनी चाहिये। बाद में फिर से थोड़ी उच्च शक्ति की दवा देनी चाहिये। २०० से कम शक्ति दवा प्रयोग नहीं करनी चाहिए।

नाक से खून जाना

अर्नीका मान्टेना (Arnica Mantena) ६,३०,२००— यह दवा की क्रिया उच्च शक्ति लेने पर ६ से १० दिन तक होती है, प्रथम ६. ३० शक्ति की दवा देनी चाहिये। बाद में २०० शक्ति की दवा लेनी चाहिए। आघात चोट, मार लगने पर नाक से खून जाने पर तथा चोट के कारण बेहोश होने पर, खूनका रंग काला होने पर चाहे मार लगा हो या न हो यह दवा का प्रयोग करना चाहिये, मार लगने पर उचित चिकित्सा न होने से एक वर्ष बाद मृगी फिट (Epilepsy) होकर मूर्छा अवस्था में नाक मुंह से पानी तथा फेस जाने पर यह दवा दी जाती है।

ब्रायोनिया (Brayonia) ३०, २००—इस दवा की क्रिया ७ से २१ दिनों तक होती है। नाक से रक्तस्राव होने पर यह दवा उपयोग में लाई जाती है स्त्रियों के ऋतु स्राव के बीच या उसके बदले मासिकस्राव दबने से नाक से खून जाने का दुष्परिणाम होता है। रजोबन्ध में इस दवा को देने से आशातीत लाभ होता है।

मिलीफोलीयम (Millefolium)६, ३—यह दवा किसी भी स्थान से रक्त लाल चमकदार जाने पर दी जाती है चाहे मुंह से जाये, नाक से जाये, मलद्वार से जाये।

हैमामेलीस (Hamamelis, Ver) ३,६,—रक्तस्राव को रोकने मे यह दवा बहुत ही गुणकारी है कुछ काल पर धक्के जैसा रक्त किसी भी स्थान से जाता हो इसका उपयोग करना चाहिये।

पीनस तथा पुराना नाक मे घाव

सिलीका (Silica) ३०, २००—यह दवा बायोकेमीक तथा होमियोपैथिक मे तैयार की जाती है। जिस आकड़े के आगे × ऐसा निशान है वह दवा चूर्ण, टेबलेट में मिलेगी। जिनके आगे × निशान नहीं है वह दवा टिंचर के रूप में प्राप्त होती है। बाद में ग्लोबुलस यानी कोरी गोलियों मे टिंचर छोड़कर दवा बनाई जाती है। सिलीका बहुत ही तेज दवा है। इससे हर रोग को फायदा मिलता ही है। नाक के अन्दर खुजली, सर्दी होना, छीक आने की पुरानी बीमारी, अन्दर पीनस का घाव होना, नासिका क्षय, नासास्राव जो अधिक बदबूदार होना, अन्दर छोटी-छोटी कृमि होना, ऐसे समय रोगी को चित्त सुलाकर नाक मे सब्जे के पत्ते का रस छोड़कर तथा पोटास परमेंगनेट का पानी छोड़कर अन्दर के पैदा हुये कृमि (कीड़े) निकाल लेने चाहिये। यह ऊपरी इलाज है और सिलीका ३० × ३ दिन तक लेकर २०० × शक्ति का लेना चाहिये। सिर्फ दो दिन और १ सप्ताह दवा बन्द कर बाद में कल्केरिया सल्फ दवा लेने पर पीनस रोग जड़ से समाप्त होता है।

कल्के सल्फ (Calce-Sulph) २०० × १००० × यह घाव को शीघ्र सुखाती है। सिलीका फोड़े को पकाकर मवाद निकालती है लेकिन कल्के सल्फ दवा देने पर जिस फोड़े मे, घाव में, मवाद होता है उसे जल्द सुखाता है और कच्चा फोड़ा रहने पर उसमें मवाद होने नहीं देता। शिलीका देने के बाद सहायक कल्केरिया सल्फ देने की आवश्यकता होती है। नाक में होने वाले घाव पर विशेष उपयोगी। है

हिपर सल्फ (Hepar Sulph) २००, १०००—इस दवा की क्रिया जो होती है फोड़ा (Abscess) कच्चा होने पर निम्न शक्ति ३ × ६ त्रिचूर्ण सेवन करने से शीघ्र मवाद हो जाता है। नाक के अन्दर जो फोड़ा होता है उसमें मवाद निकलता है तब २०० शक्ति को यह दवा देने से शीघ्र फायदा होता है। जरा भी ठण्डी हवा लगने से खांसी, सर्दी, दमा मालूम होता है। जो स्राव नाक से निकलता है उसमें सड़ी बदबू होती है।

आरम-मेट (Aram-met) २००, १०००—नाक के अन्दर दुष्ट घातक होने वाले घाव पर इस दवा का विशेष उपयोग होता है। यह स्वर्ण से बनी शक्तिशाली दवा है। पारायुक्त औषधि का दुष्परिणाम तथा सिफिलिस दोष रक्त मे होने पर जब नासिका पर आक्रमण होता है तब नाक के अन्दर छोटा फोड़ा होकर तुरन्त नाक के अन्दर की कोमल हड्डी का गलना चालू हो जाता है। इसके घाव में कमी नहीं होती है। नासास्राव मे प्रथम अवस्था मे बदबू आना चालू होने पर २०० शक्ति तथा १५ दिन बाद १००० शक्ति की दवा देने से नाक म हड्डी गलने को, सड़ने की, क्रिया यह दवा शीघ्र बन्द कर देती है। नाक की हड्डी गलने पर स्राव में छोटे-छोटे गले हुए हड्डी के टुकड़े निकलते है। वही क्रिया दांत तथा किसी भी हड्डी पर होने पर इस दवा का उपयोग किया जाता है। इस दवा का रोगी स्वय आत्महत्या करने पर आदी होता है और समय मिलने पर आत्महत्या कर लेता है संसार मे जीने से कोई फायदा नहीं ऐसा हमेशा रोगी कहता रहता है।

—डॉ श्री व्ही. एच. गहरवार
मु० पो० चिचगढ़ (भण्डारा)

नासार्श और नासार्बुद

प्राणाचार्य श्री पं. हर्षुल मिश्र

जैसे गुदा के मुख पर तथा गुदा के अन्दर रोगजन्य उभार के रूप में, मासांकुर निकल आते हैं वैसे ही नासा में भी रोगजन्य उभार मासांकुर के रूप में निकल आते हैं। इसे नासार्श कहते हैं। नाक के ऊपर की त्वचा पर भी मांसांकुर जैसे उभार उठ आते हैं। इन्हें चर्मकील कहते हैं। नासा प्रदेश में मासांकुर से कुछ बड़े और कड़े उभार भी उठ आते हैं जो वरसों में पकते फूटते हैं, परन्तु नासावरोध कर नाक से श्वसन क्रिया का होना असंभव कर देते हैं। नासार्श रोग में फूलकर नासावरोध उत्पन्न कर देते हैं परन्तु उनका रोष शान्त होने पर, वे सिकुड़ कर छोटे हो जाते हैं, उस समय नाक से श्वास ली जाती है। अर्बुद में स्थायी रूप से नासावरोध उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है।
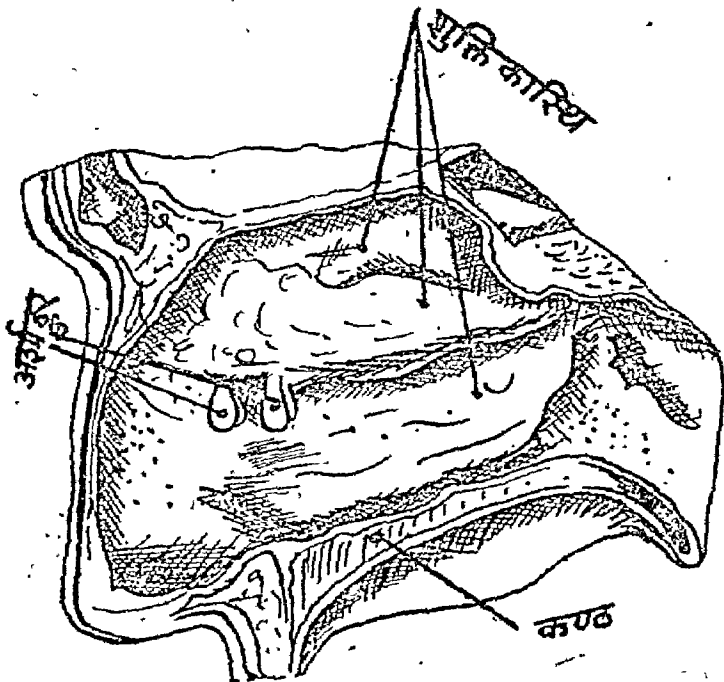
नासार्श पर औषधोपचार

१. फिटकरी चूर्ण १ तोला, नौसादर ४ रत्ती, २० तोला पानी में डालकर उस पानी को नासा द्वारा बार २ सुड़कने से नासार्श सिकुड़ जाते हैं और नासावरोध कम हो जाता है।

२. प्रति हफ्ते में एक बार बारीक सींक में रुई का फोहा लगाकर और उस फोए को कार्बोलिक एसिड से थोड़ा तर करके नासार्श को सावधानीपूर्वक वार-वार स्पर्श करने से नासार्श अवश्य आराम हो जाते हैं। नासार्श में जलन और प्रदाह होने पर गोघृत में कसीस भस्म मिला कर सुड़कना चाहिये।

नासार्श और नासार्बुदनाशक सफल योग 'हर्षुल रुकंकुरान्तक'—कचनार की छाल का घनसार, रसौत, स्वर्ण क्षीरी-क्षार, अर्क क्षार, मल्लातक क्षार, सरफोंका क्षार, कच्छपास्थि भस्म, सम्बूक भस्म २-२ तोला। श्वेत फूट (छत्ता बूटी) क्षार १ तोला, विडङ्ग घनसार, अजवायन घनसार, इन्द्रायण मूल घनसार, लाल स्फटिका भस्म, हरीतकी घनसार, हिंगुल योगेन जरित साठपुटी लोहभस्म प्रत्येक २-२ तोला।

विधि—समस्त द्रव्य को पत्थर के खरल में डाल कर क्रमशः त्रिफला क्वाथ, अद्रक स्वरस, कृष्ण भांगरा स्वरस, चित्रक क्वाथ, भल्लातक क्वाथ, पलास मूल स्वरस, थूअर स्वरस, सफेद फूट (छत्ता बूटी) स्वरस की एक-एक भावना देकर ४ रत्ती की गोलियां बनालें।

विधि—बच्चों को आधी गोली, बड़ों को १ गोली से २ गोली। अनुपान—मधु, ताजा जल। गुण—नासार्श, नासार्बुद, गलगण्ड, कंठमाला, कर्कटार्बुद नाशक।
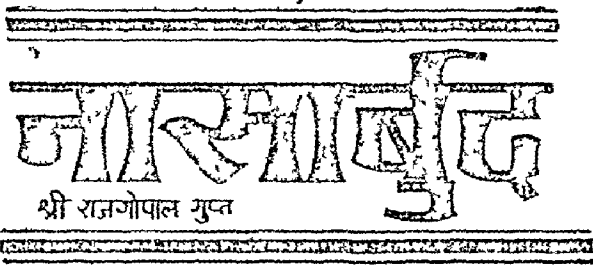
नेजल म्यूकोसा के उभार को 'नासार्बुद' कहते हैं। अर्बुद उस स्थान पर अधिक होता है, जहां पर एरियोलर टिशूज (Areolar Tissues) होते हैं। अर्बुद अधिकतर जवान मनुष्यों में ही होता है। अर्बुद अक्सर ही गिनती में अधिक, चिकने, कोमल, नीली आभा लिए हुए सफेद और इधर-उधर हटने वाले होते हैं। अर्बुद एक तरफ या दोनों तरफ हो सकते हैं।

स्थिति—अर्बुद नाक के अन्दर निम्नलिखित भागों पर पाया जाता है—

१. मिडिल टरबीनेट (Middle Turbinate)

२. मिडिल मियेटस (Middle Meatus)

३. अन्सीनेट प्रोसेज (Uncinate Process)

४. इन्फन्डीबुलम (Infundibulum)

५. ऐथमोइडल एअर सैल्स (Ethmoidal air cells)

कारण—

१. नेजल ऐलर्जी—६० प्रतिशत

२. किसी प्रकार से नाक के अन्दर सूजन होने से

३. नाक में चोट लगने से (Trauma)

४. नाक के अन्दर कोई बाहरी पदार्थ (Foreign body) पहुंचने से

५. ट्यूमर—१० प्रतिशत इत्यादि।

लक्षण—नासार्बुद का सबसे पहला लक्षण नाक के अन्दर अवरोध पैदा हो जाना है। यह अवरोध ज्यादातर दोनों तरफ होता है, कभी-कभी एक तरफ ही होता है। इस अवरोध के कारण रोगी को मुंह से सांस लेनी पड़ती है, तथा छोड़नी भी पड़ती है। मुंह खुला रखना पड़ता है। रोगी नकियाकर बातें करता है। पतली चीज निगलने में बड़ी तकलीफ होती है। अर्बुद से कभी-कभी पीला मवाद निकलता है। रोग वाली नाक का भाग बढ़ जाता है। इस स्थिति को Frog face कहते हैं।

चिकित्सा

आयुर्वेद चिकित्सा—

१. श्वासकुठार रस २–२ रत्ती अदरक रस मे सुबह-शाम, ऊपर से गाजमा ४ माशे, कालीमिर्च ११ अदद, मिश्री १ तोले, पानी आधा पाव उबालकर शेष एक चौथाई रहने पर छानकर पीने से नासावरोध की वृद्धि को रोकता है।

२. शिरीष तैल (वृ. मा.)—शिरीष तैल को फुरेरी से अर्बुद के ऊपर लगाने से कुछ ही दिनों में अर्बुद खत्म हो जाता है।

शिरीष तैल बनाने की विधि—रसोई घर का धुआं, पीपल, देवदारु, दारुहल्दी, जवाखार, करंज की छाल, सैंधानमक और अपामार्ग के बीज प्रत्येक २-२ तोले लेकर सबका कल्क करे। कल्क को ६४ तोले तैल और २५६ तोले जल में मिलाकर तैल सिद्ध करे।

एलोपैथिक चिकित्सा—

१. ६०% नासार्बुद ऐलर्जी के कारण होता है, इसलिये एन्टी एलर्जिक दवाइयां (बेनाड्रिल, एन्टिस्टिन इत्यादि) लेने से अर्बुद शीघ्र ही खत्म हो जाता है।

२. जब अर्बुद छोटा हो तो इसे दग्ध क्रिया (Cautarisation) के द्वारा मिटा देना चाहिये।

३. जब अर्बुद संख्या में अधिक होते हैं तब (External Ethmoidectomy) करनी चाहिये।

—श्री डा० राजगोपाल गुप्त बी. एस्. सी., बी. एम. एस.
कलाई (अलीगढ़) उ० प्र०

वैद्य श्री दरबारी लाल आयु० भिषक

नासागत रक्तपित्त अर्थात् नाक से खून का स्राव होना जिसको नकसीर फूटना भी कहते हैं, यह ऊर्ध्व रक्तपित्त का एक भेद है। इसका निदान, चिकित्सा आदि सभी कुछ रक्तपित्त रोग के अनुसार ही है जो निम्न प्रकार है—

नासागत रक्तपित्त का निदान अर्थात् कारण—धूप, व्यायाम, शोक, मार्ग चलना, मैथुन करना, तीक्ष्ण, उष्ण, क्षार पदार्थ, लवण, अम्ल तथा कटु पदार्थों का अति सेवन करने से, कोदों, जङ्गली कोदों तथा इनसे मिलाये हुए अम्लों के अति सेवन करने से अपने ही गुणों से विदग्ध हुआ पित्त रक्त को शीघ्र ही विदग्ध कर देता है। उसके बाद ऊपर की ओर से तथा नीचे की ओर से अथवा दोनों मार्गों से रक्त निकलता है। आमाशय से जब रक्त निकलता है तब ऊपर की ओर मुंह, नाक, कान, आँख आदि द्वारा निकलता है और नीचे की ओर पक्वाशय से जब निकलता है तब यह लिङ्ग, योनि गुदा द्वारा निकलता है।

पूर्वरूप—रक्तपित्त होने से पूर्व शरीर सुन्न सा रहता है और शीत की इच्छा रहती है। कण्ठ में धुआं सा उठता है। वमन होता और खून की गंध वाला सांस बाहर निकलता है।

रक्तपित्त के भेद व लक्षण—

कफज रक्तपित्त के लक्षण—इसमें गाढ़ा-गाढ़ा पाण्डु रङ्ग का चिकना, पिच्छिल खून निकलता है।

वातिक रक्तपित्त के लक्षण—इसमें आंवला, झागदार, पतला और रूखा खून निकलता है।

पैत्तिक रक्तपित्त के लक्षण—इसमें कषायाभ अर्थात् कुछ-कुछ लाल रंग का काला, गोमूत्र के समान, काला, लाल, पीला रंग मिला हुआ, रसोई घर के धुयें के समान या अञ्जन के समान काला रङ्ग का खून निकलता है।

यदि दो-दो दोषों के लक्षण मिलें तो द्विदोषज और यदि तीनों दोषों के लक्षण मिलें तो सन्निपातिक रक्तपित्त होता है। ऊर्ध्वग अर्थात् नाक मुखादि द्वारा निकलने वाला रक्त पित्त रोग कफ से युक्त होता है।

साध्यासाध्य—

ऊर्ध्वग अर्थात् ऊपरी अङ्गों से नाक मुखादि द्वारा निकलने वाला रक्तपित्त साध्य है। अधोग अर्थात् नीचे के अंगों से निकलने वाला रक्तपित्त याप्य है, दोनों ओर से निकलने वाला असाध्य है। रोगी बलवान हो, एक मार्ग से रक्त निकलता हो, रोग नया हो, अति वेग से रक्त न निकलता हो, कोई उपद्रव न हो तो साध्य होता है। एक दोषज रक्तपित्त साध्य, द्विदोषज याप्य तथा त्रिदोषज रक्तपित्त असाध्य होता है। मंदाग्नि वाले मनुष्य का, रोगों से क्षीण हुए मनुष्य या वृद्धों का, या कुछ खाता-पीता न हो ऐसों का अति वेग वाला रक्तपित्त असाध्य होता है।
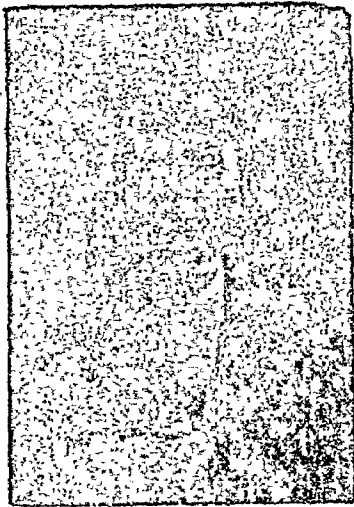
आप ६५ वर्षीय वयोवृद्ध सफल आयुर्वेदिक चिकित्सक हैं। सन् १९३४ में अ० भा० आयु० विद्यापीठ देहली से आपने 'आयुर्वेद भिषक्' उत्तीर्ण किया तथा उसी समय से आप स्वतन्त्र रूप में चिकित्सा कार्य कर रहे हैं। आप अपने क्षेत्र के पीयूषपाणि सफल चिकित्सक माने जाते हैं। 'धन्वन्तरि' के ऊपर आपकी सुकृपा सदैव से रही है। शायद ही कोई विशेषांक ऐसा हो जिसमें आपका योगदान न होवे। इसी विशेषाङ्क में आपके कई लेख प्रकाशित किये गये हैं जोकि आपकी उत्तम लेखन शैली एवं विद्वता के प्रतीक हैं। भविष्य में आयुर्वेद जगत को आप से बहुत कुछ आशायें हैं। भगवान धन्वन्तरि से प्रार्थना है कि आपको शतायु बनायें।

—दाऊदयाल गर्ग

रक्तपित्त के उपद्रव—

दुर्बलता, श्वास, खांसी, ज्वर, वमन, मद, पाण्डु, दाह, मूर्च्छा, भोजन के बाद घोर दाह, अधैर्य, हृदय में सदा कम अधिक पीड़ा होना, प्यास लगना, दस्त होना सिर तपना, दुर्गन्धित थूक आना, भोजन का न पचना, अरुचि आदि उपद्रव रक्तपित्त रोग के कहे गये हैं।

डाक्टरी मत से नासागत रक्तपित्त का निदान—

नासागत रक्तपित्त नासा विकृति का एक लक्षण है। परन्तु अधिक मात्रा में रक्तस्राव होने से यह रोग सांस्थानिक रोग के रूप में उत्पन्न होता है। यह रोग स्थानिक तथा सर्वाङ्गिक कारणों से नाक की श्लेष्मधरा कला में रक्ताधिक्य प्रधान है जो कि नाक के अन्दर प्रदाह, कृमि या विभिन्न ग्रन्थि के कारण उत्पन्न होता है। फिरङ्गज, क्षयज अथवा घातक व्रणों से बार-बार रक्तस्राव हो सकता है। सर्वाङ्गिक कारणों से साधारणत: रक्तस्राव कुछ अधिक मात्रा में ही होता है किन्तु कभी-कभी इतनी अधिक मात्रा में होता है जिससे जीवन विपदापन्न हो सकता है। इस अवस्था में रक्तस्राव साधारणत: नासा प्राचीर के सम्मुख भाग के निकट एक स्थान से होता है। साधारणत: यह रोग वंशानुगत रक्तस्राव प्रवणता के कारण उत्पन्न होता है। बालकों में नासागत रक्तस्राव अधिकतर दिखायी पड़ता है। परन्तु वयस्कों में सांस्थानिक विकृति के कारण ही उत्पन्न होता है। ४० वर्ष की आयु के ऊपर के मनुष्यों में प्रथम नासागत रक्तस्राव जीर्ण वृक्क शोथ या उच्च रक्तचाप के कारण हो सकता है। इसके अतिरिक्त हृत्कपाटिका रोग, वायु कोष विस्फार, जीर्ण श्वास नलिका प्रदाह, यकृत पाली संकोच, तीव्र ज्वर ताप, अत्यधिक व्यायाम, अनुकरप रज:, पर्वतारोहण तथा वायुयान भ्रमण आदि कारणों से नासागत रक्तस्राव की उत्पत्ति हो सकती है। रक्तान्तर्गत रक्तस्राव (पर पुरा रोग) जन्यगत रक्तस्राव प्रवणता, श्वेताणु वृद्धि, घातक या साधारण पांडु रोग, रक्त में स्थायी कणों का ह्रास तथा आंत्रिक ज्वर, तरुण आमवात आदि संक्रामक ज्वरों में रक्त विकृति के कारण नासागत रक्तस्राव हो सकता है। बच्चों में काली खाँसी तथा अन्यान्य ज्वरों की प्राथमिक अवस्था में नासागत रक्तस्राव हो सकता है।
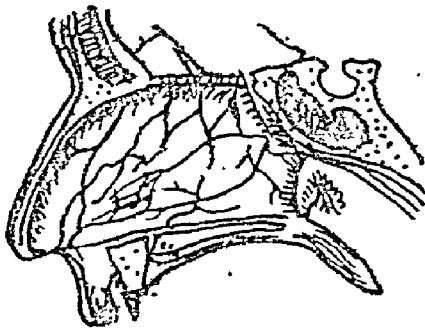
नासिका का रक्त परिभ्रमण

नासागत रक्तपित्त की चिकित्सा

यदि बलवान रोगी को नासागत रक्तपित्त हो तो उसके बहते रक्त को आरम्भ में ही न रोकें। यदि रोका जाय तो उससे हृदय रोग, पाण्डु, ग्रहणी, गुल्म तथा उदर रोगादि हो जाते हैं ऐसा आचार्यों ने कहा है।

जिस रक्तपित्त रोगी के मांस तथा बल दोनों क्षीण हो गये हों तथा जो बालक हो, बूढ़ा हो, शोष रोगी हो, जिसे वमन विरेचन द्वारा शुद्ध नहीं किया जा सकता हो ऐसे रोगी की शमन द्रव्यों से चिकित्सा करें। अर्थात् तुरन्त रक्त रोकने की चिकित्सा करें।

जिसका रक्तपित्त रोग बहुत बढ़ गया हो, दोष बहुत बिगड़े हुए हों तथा बल, मांस और अग्नि क्षीण न हुई हो तो उसे लंघन करावें। नासागत रक्तपित्त में तथा ऊर्ध्वग रक्तपित्त में विरेचन देने से लाभ होता है। उसके लिए अमलतास का गूदा, आँवला, निशोथ या हर्र बड़ी की बकली इनमें से किसी एक में खांड़ तथा शहद मिला कर विरेचन के लिये देवें।

अथवा मुनक्का, मुलैठी, गम्भारी का फल खांड़ मिला कर देने से विरेचन होता है।

अथवा सनाय ६ ग्राम, मुनक्का १२ नग, गुलकन्द ३० ग्राम लेकर एक कप पानी में उबालें जब आधा कप पानी शेष रहे तब उतार लें और मलकर छानलें और रात को सोते समय पी लें। इससे प्रात: काल २-३ दस्त होकर पेट साफ हो जाता है।

१. सुगन्ध बाला, लाल चन्दन, खस, नागर मोथा, पित्तपापड़ा इनका क्वाथ पीने से ऊर्ध्वग रक्तपित्त अर्थात् नाक, मुख आदि से निकलता हुआ रक्तपित्त तत्काल ठीक होता है।

वक्तव्य—आयुर्वेदीय चिकित्सा मे क्वाथ अपना एक विशिष्ट स्थान रखते है। क्वाथो के समान सस्ती और आशु लाभकारी चिकित्सा अन्य नहीं हो सकती है। रसा-

दिक औषधियां भी पंचविध कषायों के अनुपान से ही चमत्कारी प्रभाव दिखलाती हैं। प्राचीन काल में क्वाथों का अधिकाधिक प्रयोग होता था। क्वाथ ऐलोपैथी के मिक्स्चरों से भी अधिक लाभकारी प्रमाणित हुये हैं। क्वाथों में सबसे अधिक सुविधा यह होती है कि क्वाथों में रोगी की दशा के अनुसार द्रव्यों को घटाया बढ़ाया जा सकता है और एक ऐसा योग तैयार किया जा सकता है जिसके प्रयोग के रोग शीघ्र मिटाया जा सकता है। परन्तु आज कल के व्यस्त जीवन में व प्रतियोगिता के समय में क्वाथों का महत्व घट गया है। प्रथम तो अब क्वाथ के द्रव्यों का मिलना ही दूभर होता जा रहा है। दूसरे यह कि यदि क्वाथ को सब वस्तुयें मिल भी जांय तो उसके बनाने का झंझट रोगी व उसके परिचारकों को पसन्द नहीं। ऐसी दशा में क्वाथों का परिचलन कम हो गया। इसके प्रचलन में कमी का कारण ऐलोपैथी तथा होमिपैथी चिकित्सा विधियां भी हैं। ऐलोपैथी में मिक्स्चर, टेबलेट, कैपसूल, इन्जेक्शन आदि तैयार दवायें दी जाती हैं। इधर दवा ली और उधर उसका इस्तेमाल शुरू हो गया। सामान जुटाने और दवा बनाने का कोई झंझट नहीं करना पड़ता।

होमियोपैथी में जहां सब रोगों की दवायें एक छोटे से बक्स में ही आ जाती हैं वहां एक आसानी और भी है और वह बड़ी महत्वपूर्ण है, उसकी सब दवायें मीठी होती हैं जिससे उन्हें बालक, वृद्ध, कोमल स्वभाव वाली स्त्रियां सभी खुशी २ खा लेते हैं। न दवा बनाने का झंझट न बदजायका होने का सवाल। इसी वातावरण के कारण क्वाथ चिकित्सा का ह्रास हो गया है। ऐसी दशा में क्वाथों का चिकित्सा में प्रयोग करके लाभ उठाने के लिये या तो उनका आसव अरिष्ट बनाया जाय या उनका अर्क खींचा जाय या शर्बत के रूप में बनाया जाय। शर्बत के रूप में बनाने के लिये क्वाथ की सभी चीजों को दस गुने पानी में चतुर्थांशाव शेष क्वाथ कर छान लें फिर छने हुए काढ़े में काढ़े की तौल के बराबर मिश्री या शकर दाना मिलाकर गरम करें। गरम करते करते जब आधा काढ़ा जल जया तो उतार लें और छानकर बोतलों में भर कर रख ले। यह शर्बत न गाढ़ा होगा न पतला होगा न जमेगा और न बिगड़ेगा।

इसे और स्पष्ट करने के लिए इस प्रकार समझें कि क्वाथ की सभी दवायें ६०० ग्राम लीं। उनको जौ कुट कर ६ किलो ग्राम पानी में शाम को भिगो कर प्रातः काल उबालें। जब १॥ किलो ग्राम पानी शेष रहा तो उतार लिया और उसको मल छान कर उसमें १॥ किलो ग्राम मिश्री या शकर दाना मिलाकर फिर गरम करते करते जब आधा पानी ३/४ किलो ग्राम पानी जल गया। यानी पानी शंकर मिलाकर २¼ किलो ग्राम रह गया तब उतार लें। बस शर्बत तैयार है। उसे छान कर बोतलों में सुरक्षित रखलो।

इस प्रकार हर वैद्य अपने प्रयोग में लाने के लिए जरूरी जरूरी क्वाथों के शर्बत बनाकर रख सकता है और समय पर प्रयोग करके लाभ उठा सकता है। रसादिक व चूर्णादिक इनमें मिलाकर चटा भी सकते हैं और इनको पानी मिला दवाओं के ऊपर से पिला भी सकते हैं। इनका स्वाद भी मीठा होगा, न रोगी को द्रव्य जुटाने पड़ेंगे न उबालने का झंझट करना पड़ेगा और इनसे लाभ भी शीघ्र होगा। इसी प्रकार स्वरसों को भी सुरक्षित रखने के लिए और प्रयोग में सुगमता लाने के लिए उनके भी शर्बत इसी प्रकार बना सकते हैं।

२. मुलहठी और अर्जुन वृक्ष की छाल से पकाया हुआ दूध अथवा मुनक्का, खिरैटी और गोखरू से पकाया हुआ दूध या मुनक्का और प्रियंगु के पकाया हुआ दूध अथवा गोखरू और शतावर से पकाया हुआ दूध नाक के से तथा शरीर के किसी भी अङ्ग से बहते हुए खून को रोक देता है।

दूध पकाने की विधि—एक तोला काष्ठौषधि जौकुट कर एक पाव गो दुग्ध व एक पाव पानी में मिलाकर उबालें जब पानी जलकर केवल दूध शेष रहे तो उतार कर छानलें। और यथोचित मिश्री मिलाकर पिलावें।

३. पीपल की लाख के चूर्ण में शहद मिलाकर चाटें और ऊपर से गाय यावकरी का दूध मिश्री मिलाकर पियें तो नासागत रक्तपित्त तथा मुख आदि से निकलता हुआ रक्त बन्द हो जाता है।

४. सफेद दूब या अर्जुन वृक्ष की छाल ६-६ माशे लेकर पानी से सिल पर बारीक पीस कर एक पाव पानी

में मिलाकर छान ले और मिश्री मिलाकर पियें तो खून का निकलना बन्द हो जाता है। बोलबद्ध रस इसके अनुपान से देने से बहुत शीघ्र लाभ होता है।

५. अरूसे के पत्तों का स्वरस शहद और खांड़ मिला कर पीवे से भयंकर रक्तपित्त शान्त होता है।

६. अरूसे का काढ़ा, नीलोफर, फिटकरी, प्रियंगु, लोध, श्वेत सुरमा, कमल केशर इन सबको मिलाकर शहद और खांड मिलाकर पीने से अत्यन्त बढ़ा हुआ रक्तपित्त का वेग शीघ्र ही दूर हो जाता है।

७. अरूसे के पत्ते, किशमिश, हर्र बड़ी की बकली ६-६ माशा लेकर एक पाव पानी में पकावें जब एक छटांक पानी शेष रहे तब उतार मल छान शहद और खांड़ मिला कर पीने से नासागत रक्तपित्त, खांसी, श्वास इन सब को दूर करता है।

८. सुगन्धवाला, धनिया, चन्दन, मुलहठी, अरूसा, खस इनका क्वाथ करके शहद तथा खांड़ मिलाकर पीने से नासागत रक्तपित्त, भयंकर रक्तपित्त, प्यास, दाह तथा ज्वर ये सब दूर हो जाते हैं।

९. यदि मनुष्य के शरीर में से खून बहुत ज्यादा निकल गया हो और बहुत निर्बलता आ गई हो तो शहद मिलाकर ताजा खून बकरे आदि का पीने को देवें। ऐसा मत प्रसिद्ध ग्रन्थ योग रत्नाकर के लेखक का है।

१०. चन्द्रपुटी प्रवाल भस्म, मुक्ता शुक्ति पिष्टी, वंशलोचन, छोटी इलायची के बीच, दम्मुल अखवैन, मिश्री का चूर्ण शर्बत अनार या दूब के शर्बत में चटाने से नासागत रक्तपित्त तथा सभी स्थानों से निकलने वाला रक्त बन्द होता है। अनुभूत है।

११. सफेद दूब १ तोला, छोटी इलायची के बीच १ माशे, धनिया ६ माशे, खस ६ माशा, मिश्री २॥ तोला जल एक पाव में पीस छान कर पीने से नासागत रक्त पित्त बहुत शीघ्र नष्ट होता है। अनुभूत है।

१२. पैर अत्यन्त गरम पानी में डुबोयें और सिर पर ठण्डे पानी में डूबा हुआ कपड़ा या बर्फ की थैली रखें। नाक या गुदा से होने वाले रक्तस्राव को रोकने के लिए डाक्टरी की प्रसिद्ध दवा एड्रिनलिन (१:१०००) का फाया अव्यर्थ उपाय है।

१३. बोलबद्ध रस या बोल पर्पटी २-३ रत्ती, अरूसे के पत्तों के स्वरस, मधु, मिश्री से या श्वेत दूब के रस और मधु मिश्री से दिन में तीन बार देने से रक्तस्राव शीघ्र ही बन्द हो जाता है। अनुभूत है

१४. दूब का रस कपूर मिलाकर नाक में टपकाने से नासागत रक्तपित्त शांत होता है।

१५. अफीम, बबूल की पत्ती, धनियां, कौड़िया लोबान, फिटकरी, आमला बकरी के दूध में घोट पीस मस्तक पर लेप करें। नासागत रक्तपित्त का रक्तस्राव शीघ्र बन्द होगा।

१६. एक माशा फिटकरी ५ तोला पानी में डाल नाक में धारण करें। आमला घी में भूनकर पानी में पीस मस्तक पर लेप करें तो नासागत रक्तपित्त का रक्तस्राव शीघ्र रुकता है।

१७. अनार के फूलों का स्वरस या दूब घास का स्वरस या आम की गुठली का रस या प्याज का रस नाक में सूंघने से नाक का खून बन्द हो जाता है। हरड़, अनार के फूल, दूब घास, लाख का रस इन्हें नाक में डालने से पुराना देर से निकलने वाला भी नाक का खून अवश्य बन्द हो जाता है।

१८. एड्रीनलीन क्लोराइड १:१००० या कैल्सियम ग्लूकोनेट ५% या १०% का मांसगत इन्जेक्शन देने से शीघ्र रक्तस्राव रुकता है।

१९. मार्तण्ड फार्मेस्युटिकल्स बड़ौत का प्रवाल इन्जेक्शन तथा ए. बी. एम. रिसर्च इन्स्टीटयूट वायलोजिकल हापुड़ का खटिक इन्जेक्शन रक्त रोकने में प्रभावशाली काम करता है। नासागत रक्तपित्त तथा सभी स्थानों से निकलने वाले रक्त को रोकते हैं।

२०. उसीरासव दिन में दो बार भोजन के बाद २-२ तोला समान भाग पानी मिलाकर पीने से नया पुराना सभी प्रकार का नासागत रक्त पित्त ठीक हो जाता है। एक व्यक्ति का जिसको नासागत रक्तपित्त का कष्ट था। दो-तीन बोतल उसीरासव पीने से रोग दूर हो गया।

२१. नासागत रक्तपित्त नाशक कैपसूल, प्रवाल पिष्टी, मुक्ता शुक्ति पिष्टी, तृण कान्त मणि पिष्टी

—शेषांश पृष्ठ ३१५ पर देखें।

श्री सत्यनारायण खरे. ए, एम. बी. एस.

श्री डा० खरे सन् १९५९ में ए., एम. बी. एस. उपाधि से विभूषित होकर जिला परिषद आयुर्वेद चिकित्सालय, ककवारा (झांसी) में प्रधान चिकित्सक के पद पर कार्यरत हैं। बचपन से ही आपको जन सेवा में अभिरुचि रही है तथा इस समय भी आप चिकित्सक रूप में बड़ी तत्परता से जनता की सेवा करते हैं। आपके अनुभव एवं लेख 'धन्वन्तरि' एवं अन्य आयुर्वेद पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। आप हृदय रोग, आन्त्रिक ज्वर एवं सूखा रोग के सफल चिकित्सक हैं। आपके लेख विद्वतापूर्ण, ज्ञानप्रद तथा सरल भाषा में होते हैं। प्रस्तुत लेख में आपने रक्तपित्त नाशक सरल सफल अनेक प्रयोग लिखे हैं। आशा है कि पाठक लाभान्वित होंगे।

—दाऊदयाल गर्ग

अचानक बिना किसी आघात के कारण शरीर के अंगों से जो रक्तस्राव होने लगता है उसे रक्तपित्त की संज्ञा दी गई है। विभिन्न प्रकार के आहार-विहार से पित्त दोष प्रकुपित होकर रक्त धातु को दूषित कर देता है जिससे अकस्मात रक्तस्राव होने लगता है। यह दो भागों में बाँटा गया है। ऊर्ध्व अंगों से रक्त निकलने को ऊर्ध्व रक्तपित्त कहते हैं जिनमें आंख, नासिका, कर्ण एवं मुख मुख्य हैं। इसके अतिरिक्त अधोगत अंगों से जो अकस्मात् रक्त निष्कासित होता है वह अधोरक्तपित्त कहलाता है। इसमें गुदा व मूत्रेन्द्रिय से रक्तस्राव होने लगता है। प्रस्तुत लेख में ऊर्ध्व रक्तपित्त के अन्तर्गत नासागत रक्तपित्त का उल्लेख किया जा रहा है।

यह विकार अधिकतर निम्न कारणों से उत्पन्न होता है। इनमें सूर्य के ताप का सेवन, व्यायाम, अधिक श्रम, शोक, क्रोध, भय, शराब, अधिक रास्ता चलना, अधिक स्त्री समागम, खट्टे फल, तैल, मछली, भेड़ का मांस, नमकीन खट्टे या चरपरे पदार्थों का अधिक सेवन, कुछ स्त्रियों में मासिक धर्म की गड़बड़ी से नासिकागत रक्तपित्त उत्पन्न हो जाता है। यह पदार्थ पित्त को दूषित करके रक्त को दूषित कर देते हैं।

रपित्तक्त की उत्पत्ति के पहले अंग टूटना, शीतल वायु, शीतल जल, और शीतल गुण वाले भोजन की इच्छा, कण्ठ में धुआं निकलने जैसी प्रतीति व वमन–निःश्वास में रक्त जैसी गन्ध इत्यादि चिह्न प्रतीत होते हैं।

उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त दोषज या सार्वदैहिक रोग जन्य तथा आगन्तुक कारण मुख्य रूप से माने गये हैं। सार्वदैहिक में रक्त साराधिक्य या पाण्डु रोग (Anaemia), तीव्र ज्वर आदि व्याधियां हैं। स्त्रियों में मासिक स्राव की अनियमितता भी है और बाह्य आघात या खुरचने से रक्तपित्त हो जाता है।

इस बात का ज्ञान करने के लिये कि किस नासा छिद्र से रक्त निकल रहा है इसके लिये एक तरफ का छिद्र बन्द करके दूसरे छिद्र द्वारा रेचन करना चाहिये। जिस छिद्र से रक्त आता दिखाई दे उसी तरफ के नासाछिद्र में स्थानीय उपाय करना चाहिये।

यह व्याधि आमतौर पर सभी लोगों को होती है विशेष रूप से बालकों में अधिक देखने को मिलता है। सामान्य विकार द्वारा जो रक्तपित्त होता है वह शीघ्र ही शमन हो जाता है लेकिन जब शारीरिक स्वास्थ्य की खराबी होने पर रक्तपित्त की उत्पत्ति होती है वह कभी गम्भीर एव अधिक गम्भीर होने पर जीवन के लिये घातक सिद्ध हो सकती है।

अस्तु इस व्याधि के शमन के लिये तुरन्त चिकित्सा व्यवस्था करनी चाहिये। वह इस प्रकार से है—

१. तात्कालिक अथवा स्थानीय चिकित्सा।

२. आभ्यन्तर उपचार द्वारा औषधियों का उपयोग—इसमें विभिन्न प्रकार की व्याधियों, जिनसे रक्तपित्त की उत्पत्ति होती है, का शमन करना चाहिये।

नासागत रक्तपित्त की स्थानिक चिकित्सा—

इसमें स्थानीय उपायों द्वारा रक्तवाहिनियों का प्रोटीन तथा एल्ब्यूमिन तत्काल जम जाता है और रक्त स्राव बन्द हो जाता है। आयुर्वेद शास्त्र में रुधिर निवारण के चार उपायों का उल्लेख किया गया है—

१. संधान २. स्कन्दन ३. पाचन ४. दहन।

दहन या दाहकर्म या विद्युत द्वारा दाहकर्म बहुत ही सावधानी से किया जाता है। इसमें जिस स्थान से रक्त स्राव होता है उसी जगह की रक्तवाहिनी को जलाकर मुख बन्द कर दिया जाता है परन्तु यह क्रिया गम्भीर व जीर्ण विकार में करनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त कुछ सामान्य उपाय काम में लाने चाहिये।

१. अनार के स्वरस का नस्य, अपामार्ग पत्र स्वरस, बबूल की पत्ती का स्वरस अथवा फिटकरी और चीनी मिलाकर नस्य देना चाहिये। इसी प्रकार आंवले का स्वरस भी नासिका में डालने से नासागत रक्तपित्त शान्त हो जाता है।

२. सिर के ऊपर ठण्डे पानी का छिड़काव, ठण्डे जल की गीली पट्टी को सिर पर धारण एवं बर्फ की थैली सिर पर रखने से रक्त दाब में कमी आकर नासागत रक्त-पित्त में लाभ होता है।

३. आँवले को मट्ठे में पीसकर माथे पर लेप करना चाहिये।

४. दूर्वादि घृत—इसका नासिका द्वारा नस्य करने व लेप से नासागत रक्तपित्त में लाभ होता है।

५. नासिका के ऊपर भी बर्फ की मालिस करने से रक्तस्राव बन्द हो जाता है।

६. रक्तपित्त के रोगी को बकरी का दूध मिश्री के साथ पिलाना चाहिए। अगर गाय का दूध पिलाना आवश्यक हो तो इसमें ५ गुना जल मिलाकर उबालना चाहिए जब तक कि दुग्ध की मात्रा पूर्ववत शेष रह जावे फिर मिश्री मिलाकर शीतल करके पिलाना चाहिए। जैसा कि चरक संहिता में उल्लिखित है—

छागं पयं स्यात्प्रथमं प्रयोगे गव्यं शृतं पञ्चगुणे जलेवा।
सशर्करं माक्षिक संप्रयुक्तं विदारीगन्धादि गणैः शृतं वा॥

दुग्ध को उपरोक्त विधि के अनुसार शहद या विदारी गन्ध आदि गण की औषधि के क्वाथ के साथ सिद्ध करके देना चाहिये।

७. मिश्री मिला जल, बकरी का कच्चा दूध या ईख का रस नाक द्वारा पिलाने से रक्तस्राव बन्द हो जाता है।

८. आम की गुठली की गिरी या प्याज का रस सुंघाने से रक्त बन्द हो जाता है।

९. गोबर का रस सुंघाने से रक्तस्राव शीघ्र ही बन्द होता है।

१०. तृणकान्तमणि पिष्टी सुंघाने से रक्तस्राव में लाभ होता है।

११. नींबू का रस नाक में डालने से रक्तस्राव बन्द हो जाता है।

१२. तारपीन के तैल की वाष्प सुंघाने से रक्तस्राव में लाभ होता है।

१३. रोगी को पूर्ण शय्या विश्राम, नाक से यथा सम्भव छींकने न दें और भोजन में दूध व फलों का रस व लघु शीतल भोजन कराना चाहिए।

१४. एलोपैथी में कोकेन १० प्रतिशत व एड्रिनलीन (१:१०००) के घोल लेकर एक फुट लम्बी एवं १ इन्च चौड़ी रेशम या रिबिन का गौज भिगोकर रक्त प्रवाह
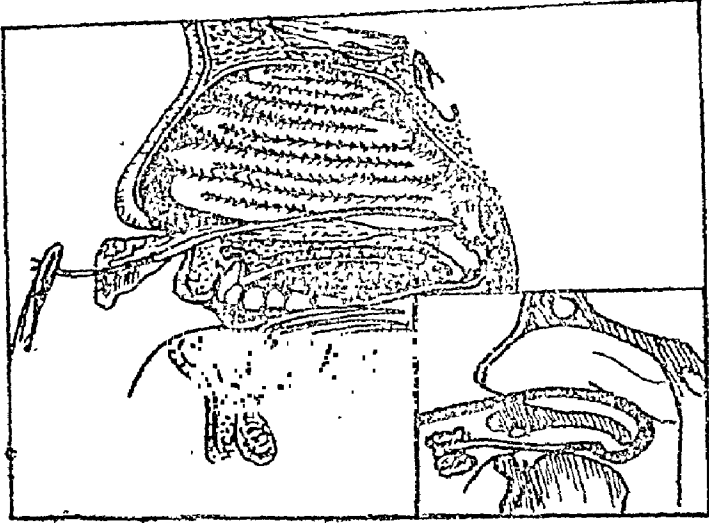
नासिका गह्वर में गौज प्रविष्ट किया हुआ है। [नीचे कोने के चित्र में आरम्भ किस प्रकार किया जाता है यह दिखाया गया है] नासिका गह्वर में रबड़ का कैथीटर है।

वाले नासिका छिद्र में भर देते हैं जिससे रक्तस्राव रुक जाता है। इसका फीता सावधानी से हटाना चाहिए अन्यथा पुनः रक्तस्राव हो सकता है।

नासागत रक्तपित्त में आभ्यन्तर प्रयोग

१. नीबू, सन्तरे या केवड़े का शर्बत, बर्फ और जल मिला पिलाने से दाह, बैचेनी सह रुधिरस्राव बन्द होता है।

२. तृणकान्तपिष्टी, प्रवालपिष्टी, मुक्तापिष्टी, चन्द्रकला रस आदि में से कोई एक औषधि १-२ रत्ती की मात्रा में लेकर मधु के साथ सेवन करके बकरी का दूध पिलायें।

३. तृणकान्त पिष्टी औषधि निर्दोष है। इसके सेवन से शिर दर्द पीड़ित अनेक मनुष्यों के मस्तिष्क से चौथाई इन्च के लम्बे कृमि नासिका से गिरकर नासा रक्तस्राव और शिरदर्द दोनों दूर हो जाते हैं।

४. वासावलेह, च्यवनप्राशावलेह, एलादि वटी, उशीरासव आदि का उपयोग भी आवश्यकतानुसार करायें।

५. पेठा का सेवन एवं आंवले का मुरब्बा ऐसे रोगी को अवश्य सेवन करना चाहिये इससे स्थायी लाभ होता है।

६. वासा (अडूसा) स्वरस को मधु व मिश्री के साथ प्रयोग करने से पूर्ण लाभ मिलता है।

७. ज्वरयुक्त पित्त हो तो चन्दनबला लाक्षादि तैल की मालिश स्वर्ण मालिनी वसन्त रस का सेवन करायें।

८. अमलतास के फल का गूदा और आंवला २-२ तोला का क्वाथ कर मिश्री और शहद १-१ तोला मिलाकर पिलाने से कोष्ठ शुद्धि होकर सभी ऊर्ध्व रक्तपित्त का शमन हो जाता है। परन्तु यह कोष्ठशुद्धि बालक, गर्भवती व कमजोर स्वास्थ्य वाले को एवं वृद्धावस्था में न करायें।

९. नासिकागत रक्तपित्त में शिर को नीचे झुकाकर शीतल जल से स्नान एवं दोनों पैरों को गरम जल में डुबाने से मस्तिष्कगत रक्तदाव कम हो जाता है।

१०. अधिक रक्तस्राव हो जाने पर रक्त का अन्तः सेवन कराना चाहिये। मांसाहारी व्यक्तियों को जंगल के पशु पक्षी का रुधिर शहद मिलाकर पिलावें या बकरे का कच्चा यकृत पित्त सहित ही खिलाना चाहिये या मांस रस पकाकर सेवन करना चाहिये।

११. भोजनोपराण्त द्राक्षासव का सेवन कराने एवं प्रातः सायं च्यवनप्राश सेवन करने से शारीरिक क्षीणता नष्ट होकर रोगी स्वस्थ व बलवान बन जाता है।

१२. एलोपैथी में रक्तस्रावरोधक Vit C 500 mg के इन्जेक्शन व गोलियां, Vit K की गोली व इन्जेक्शन, ओस्टो कैल्शियम की गोली व इन्जेक्शन के प्रयोग से लाभ होता है। मासिक विकृति से उत्पन्न नासागत रक्तपित्त में एक्वावीरोन (Aquaviron) इन्जेक्शन का उपयोग सप्ताह में २ बार करने से लाभ होता है।

—श्री डा० सत्य नारायण खरे,
ए., एम. बी. एस., डी. एस्सी. ए.
चिकित्साधिकारी–जिला परिषद आ० चिकित्सालय
ककवारा (झाँसी) उ० प्र०

ऊर्ध्वगत रक्तपित्त चिकित्सा

श्री पुण्यनाथ मिश्र आयुर्वेदाचार्य

रक्तपित्त के रोगी को भोजन क्या करना चाहिए? इसका प्रथम विचार करना है—उसको नित्य नैमित्तिक धान का या साठी चावल का भात, मूंग, मोठ, मसूर, चना की दाल, कढ़ी, यूष, पटल, नेनुआ, केला, खीरा, बथुआ और लौकी की तरकारी तथा गोदुग्ध और घी का भोजन पथ्य है।

रक्तपित्त में नस्य—नीलोत्पल (कुमुदिनी), सोनागेरु, शंखभस्म, सफेद चन्दन—इसको समान मात्रा में लेकर आवश्यकतानुसार बारीक चूर्ण कर शीशी में रखलें, और आवश्यक द्रव (नारियल का जल) मिलाकर शीशी में लोशन तैयार कर रखले और ड्रापर से नाक में दो से तीन बार डालने से नाक के द्वारा रक्तस्राव शीघ्र बन्द हो जाता है।

रक्तपित्त में पेय—बाली जल, झरने का जल, दूर्वा का काढ़ा, हिम और फांट, नारियल का पानी (डाभ का जल), आंवले का काढ़ा हिम और फांट तथा सफेद चन्दन का हिम देना श्रेयस्कर है।

रक्तपित्तहर मिक्सचर

१. गुलाब जल ४ औंस (११४ मि.लि.), अकीक भस्म ४ आनाभर (३ ग्राम), गिलोय सत्व ½ तो० (६ ग्राम), सारिवाद्यारिष्ट २ औंस (५७ मि. लि.) मिश्रण कर ८ खुराक बनाकर दिन में तीन बार देने से रक्तपित्त रोग का शमन हो जाता और रोगमुक्त हो जाता है।

२. उशीरासव ४ औंस (११४ मि.लि.), कहरवा तृणकान्तमणि पिष्टी ४ आना भर (३ ग्राम), गोरखमुण्डी अर्क ४ औंस (११४ मि.लि.), शंख भस्म ½ तोला (६ ग्राम) शु० स्फटिक १/८ तोला (१५० मि.ग्रा.) का मिश्रण कर ८ खुराक बनाकर शीशी में लेवल लगाकर रोगी को दे दें और दिन में तीन से चार बार देते रहने से दो तीन दिन में रक्तपित्त रोग जड़ से आराम हो जायगा।

३. शास्त्रीय औषधों का प्रयोग—रक्तपित्तान्तक लौह ½ तोला (६ ग्राम), कहरवा पिष्टी ½ तोला (६ ग्राम) गिलोय सत्व १ तोला (१२ ग्राम), सितोपलादि चूर्ण १ तोला (१२ ग्राम) योगकर २५ पुड़िया बनाकर सुबह, शाम खाली पेट १ छटांक दूर्वारस में १० बूंद मिलाकर उसके साथ दें।

(४) स्वर्ण माक्षिक भस्म ½ तोला (५ ग्राम), अकीक पिष्टी ½ तोला (५ ग्राम), गिलोयसत्व १ तोला (१२ ग्राम) २५ पुड़िया कांचनार के पत्तों का स्वरस १ चम्मच में १० बूंद मधु मिलाकर दिन में दो से चार बार देने पर रक्त पित्त का रोग आराम हो जाता है।

५. हरी दूर्वा, कमल, कमलकेशर, मजीठ, एलुआ, आँवला, लोध, खस, नागरमोथा, सफेद चन्दन, दाख, मुलेठी, जलकुम्भी, लाल चन्दन, पद्माख, सभी द्रव्य एक-एक तोला लेकर सिल पर महीन पीस कल्क तैयार कर लें। अरवा चावल में भिगोया जल १ सेर, बकरी का दूध ३ सेर, गाय का घी १ सेर साथ उपर्युक्त कल्क मिलाकर पाक करें। घृत शेष रहने पर उतार छानकर पात्र में रखलें।

१ चम्मच सुबह शाम दो बार, १ पाव गाय या बकरी के दूध में मिलाकर देने से रक्तपित्त किसी प्रकार का हो आराम हो जायेगा।

रक्तपित्त रोग में इसकी नस्य भी बड़ी मुफीद है। दूर्वाद्य घृत प्रधानतया रक्तपित्त का ही योग है। वैद्य समुदाय व्यवहार कर लाभ उठावें।

६. कूष्मांडावलेह १ तो. १ पाव धारोष्ण दूध के साथ सुबह शाम दिन में दो बार दें।

७. कफगत रक्त निष्ठीवन या उर्ध्वगत रक्तपित्त में आमलकी रसायन १ तोला, १ पाव गाय का दूध मिश्री मिलाया हुआ के साथ दें। रक्तपित्त रोग कमी न होगा।

८. चन्द्रकला रस मौ. यु. २ गोली, अकीक पिष्टी २ रत्ती। मक्खन के साथ १ मात्रा का उपयोग हितकर है।

पित्त और तत्सम्बन्धी रोगशमनार्थ कुछ उपचार सामने रखकर लेख समाप्त करूंगा।

१. गूलर का फल, खजूर, दाख और फालसा की छाल या फल समान भाग या किसी १ का १ तो. स्वरस में मधु मिला कर सुबह शाम दें।

२. गोखरू, शतावरी एक-एक तोला लेकर पीस लें। आधा सेर गाय का दूध १ सेर जल मिला कर पाक करें। दूध शेष रहने पर रोगी को दो बार दें।

३. मुलैठी, त्रिफला, अर्जुन की छाल एक-एक तोला सिल पर पिसा द्रव रात को एक लोहे के बर्तन में रख दें। सुबह उठते ही रोगी को ४ तोला द्रव के साथ १ तोला गाय का घी मिला कर पिला दें।

४. धायफूल, अडूसा और मिश्री समान भाग पीसकर चूर्ण करलें। १ तोला गाय के दूध के साथ सुबह शाम दें।

५. मक्खन १ तोला के साथ कहरवा पिष्टी २ रत्ती (२५० मि.ग्रा.), सोना गेरू का चूर्ण ४ रत्ती १ तोला मधु के साथ ४ बार देने से रक्तपित्त और लौहगन्धयुक्त रक्तस्राव नष्ट हो जाता है।

६. गिलोय सत्व ३ ग्राम (४ आनाभर), अकीक पिष्टी १ ग्राम (१॥ आनाभर), १ मात्रा मधु के साथ चाट कर ऊपर से १ पाव दूध लें।

ये सभी योग पूरी मात्रा में दिये गये हैं, बालक को रक्तपित्त रोग यदि हो जाय या नकसीर का रोग हो तो वयशानुसार मात्रा को कम कर देना चाहिये। यही सब योग औरतों के रक्तप्रदर और रक्तस्राव में भी दिये जा सकते हैं।

— श्री पुण्यनाथ मिश्र 'आयुर्वेदाचार्य'
चि० तरियादह रामानन्द चैरिटी औषधालय
५ एम.एम. फीडर रोड; कलकत्ता-७०००५७

नासागत रक्तपित्त : : पृष्ठ ३५०' का शेषांश

(कहरवा पिष्टी), वंशलोचन, जहर मोहरा खताई पिष्टी, छोटी इलायची के दाने, अकीक भस्म, दम्मुल अखवैन, श्वेत फिटकरी की खील, समान भाग लेकर केला स्वरस तथा खस के काढ़े में ७-७ दिन खरल कर सुखा कर ४-४ रत्ती के नीले कैपसूल भर लें। मात्रा १ से २ कैपसूल तक दिन में ५ बार तक धारोष्ण दूध से या पूर्व वर्णित योग नं० १ या २ या ४ या ५ या ७ या ८ से सेवन करने से नासागत रक्तपित्त, रक्त वमन, रक्त मिश्रित कफ, मलमूत्र मार्ग से रक्तस्राव, रक्त प्रदर, रक्तार्श, रक्त प्रवाहिका आदि शरीर के सभी स्थानों से निकलने वाला रक्त शीघ्र रुकता है। अनुभूत है। अनुपान रोग के अनुसार देने से शीघ्र लाभ होता है।

२२. अधिक रक्तस्राव होने पर मार्फिया का सूचीवेध दें। शीघ्र रक्तस्राव रोकता है।

इनके अतिरिक्त निम्नलिखित शास्त्रोक्त सिद्ध प्रयोग इस रोग को समूल नाश करने में अत्यन्त प्रभावशाली है। जिनके नाम ये हैं—

दूर्वाद्य घृत, वासादि घृत, शतावरी घृत, चन्दनादि चूर्ण, कूष्माण्डावलेह, खण्ड कूष्मांडक, वासाखंड, खण्डकाद्यावलेह, रक्तपित्त कुल कुठार रस, वासासूत, सुधानिधि रस (रक्तपित्ताधिकार) आदि।

पथ्य—इसमें शीतल दूध, शीतल जल, चावल, मसूर, मूंग, चना, मोठ, अनार, बेल, पटोल पत्र, नीम, चौलाई, खांड़ मिले हुए लाजा (खीलों) के सत्तू, खजूर, किशमिश, मुलेठी, गन्ने का रस, गूलर, फालसा, सेव, अंगूर आदि पथ्य हैं।

अपथ्य—लालमिर्च, तेल, गुड़, खटाई, गरम पदार्थ, कब्ज करने वाली वस्तुयें, धूप में घूमना, अति परिश्रम, अति व्यायाम करना, अति मार्ग चलना, तीक्ष्ण क्षार, लवण तथा कटु पदार्थों का सेवन, कोदों, जङ्गली कोदों आदि अपथ्य हैं। इनका सेवन हानिकारक है। इनसे बचना चाहिए।

—श्री वैद्य दरबारीलाल आयुर्वेद भिषक
अशोक भैषज्य भवन,
फतेहगढ़ (फर्रुखाबाद) उ० प्र०
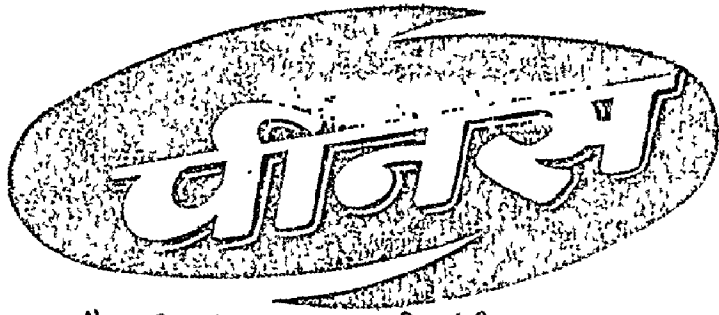
वैद्य श्री युधिष्ठर सिंह सोमवंशी

यह रोग स्वतन्त्र रूप से भी हो जाता है और दूसरे रोगों के साथ भी हो जाता है। इसमें नाक रुक जाती है। खुशबू और बदबू का ज्ञान न रहता हो नाक कभी सूख जाती है तो कभी गीली हो जाती है। इससे सिर में भी दर्द हो जाया करता है और जीभ भी नीरस हो जाया करती है। नाक से सम्बन्ध रखने वाली नसों पर जब कोई सा दोष झपटा मारता है तो कफ तो सूख ही जाता है और नाक भी रुक जाती है। अक्सर यह रोग दिमाग से उतरता है और नाक पर अपना फौलादी पंजा मारता है।

पूर्वरूप—जिसे छींक आवे मस्तक भारी रहे अङ्ग जकड़ बन्द हो जाय रोमांचि उपद्रव आदि हों तब जानिए कि पूस या पीनस का रोग होगा।

भेद—९ हैं जो नीचे अङ्कित किये जाते हैं—

१. वायु की पीनस—नाक का मार्ग रुक जाय और उसमें थोड़ा पतला गर्म पानी गिरा करें तथा गला, तालू, ओष्ठ सूखें, कनपटी दूखे और मुंह से घों-घों शब्द हों।

२. पित्त की पीनस—नाक में दाह हो पिलाई लिए गर्म पानी डालें, शरीर कृश हो जाय, गर्म रहे। नाक से अग्नि रूप धुंआ सा निकले तथा वमन भी हो।

३. कफ की पीनस—जिसकी नाक से गाढ़ा सफेद कफ बहुत निकले शरीर सफेद हो जाय, आंखों के ऊपर सूजन हो मस्तक भारी रहे और गलातालू ओष्ठ सिर इनमें खाज बहुत हो तो कफ की पीनस समझे।

४. सन्निपात की पीनस—जिसकी नाक में पीछे कहे हुए सब लक्षण मिलें और वह पीनस बारम्बार हो यत्न करने से दूर न हो और न पके।

५. दुष्ट पीनस—बारम्बार जिसकी नाक झरे, सूख जाय तथा नाक से अच्छी तरह स्वास न आवे, नाक रुक जाय और कभी खुल जाय तथा सुगन्धि दुर्गन्धि का ज्ञान न रहे।

६. रुधिर की पीनस—जिसकी छाती में चोट लगी हो उसको रुधिर की पीनस होती है। नाक से रुधिर गिरे और उसको पीछे कहे हुए पित्त के लक्षण हों तथा उसकी आंखें लाल हों तो रुधिर की पीनस जानिए।

७. असाध्य पीनस—आलस्य करके पीनस का यत्न न करें तो सब पीनस असाध्य हो जाती हैं।

८. कच्ची पीनस—जिसका सिर भारी हो, भोजन में अरुचि हो, नाक झड़ा करे, धीरे-धीरे शरीर क्षीण हो जाय बहुत थूके ये लक्षण हों तो कच्ची पीनस जानिये।

९. पकी पीनस—जिसकी नाक का कफ गाढ़ा निकले और नाक के छिद्र में भी रहे और वाणी भी अच्छी हो जाय तथा स्वर भी अच्छा हो, भूख भी लगे।

पीनस रोग स्वतन्त्र रूप से भी हो जाता है और दूसरे रोगों के साथ भी हो जाता है। इसमें नाक रुक जाती है, बन्द भी हो जाती है। खुशबू और बदबू का ज्ञान नहीं रहता। नाक कभी सूख जाती है तो कभी गीली हो जाती है। इससे सर में भी दर्द हो जाया करता है और जीभ भी नीरस हो जाया करती है।

नाक से सम्बन्ध रखने वाली नसों पर जब कोई सा दोष झपटा मारता है तो कफ तो सूख जाता ही है और नाक भी रुक जाती है। अक्सर यह दोष दिमाग से उतरता है और नाक पर अपना फौलादी पंजा मारता है।

हिकमत में लिखा है कि तीन कारणों से नाक में बदबू आती है—

१. नाक में मस्से होने या घाव के पुराने हो जाने से।

२. छाती, फेफड़े या आमाशय से सड़े हुये परमाणु ऊपर चढ़ते हैं और तालु तथा गले में इकट्ठे होकर छेदों द्वारा नाक में पहुचते हैं जिससे बदबू आने लगती है।

३. दिमाग में जब दुर्गन्धित रतूबत हो जाती है तो वह नाक में उतर कर बदबू पैदा करती है इसे पूति नासा भी कहते हैं। गले तथा तालु की जड़ में जब पित्त और कफ बिगड़ कर वायु को दूषित कर देते हैं तो मुंह और नाक से सड़ी हुई बदबू आने लगती है।

—शेषांश पृष्ठ ३६० पर देखें।

पीनस और दुष्ट प्रतिश्याय

प्राणाचार्य श्री पं० हर्षुल मिश्र बी०ए० (आनर्स), पेंशनवाड़ा (रायपुर) म.प्र.

पीनस और दुष्ट प्रतिश्याय दोनों वातकफ प्रधान रोग हैं। दोनों प्रतिश्याय के दुष्परिणाम हैं। दोनों के लक्षण एक ही प्रकार के हैं। दोनों में कभी नाक शुष्क हो जाती है और कभी आर्द्र हो जाती है। प्रतिश्याय का विकृत स्वरूप दुष्ट प्रतिश्याय है और दुष्टप्रतिश्याय का विकृत रूप पीनस है। पीनस की यही पहिचान मानी जाती है कि नासा द्वारा सुगन्ध और दुर्गन्ध का ज्ञान बिल्कुल बन्द हो जाता है। दुष्ट प्रतिश्याय में भी सुगन्ध और दुर्गन्ध का ज्ञान नासा द्वारा नहीं होता। दोनों रोगों में निश्वास से दुर्गन्ध आती है। पीनस और दुष्ट प्रतिश्याय जन्तुजुष्ट नहीं होता। परिणामतः पीनस रोग में नाक से इसी की तरह सूक्ष्म कृमि गिरते हैं। दुष्ट प्रतिश्याय में कृमि नहीं गिरते। दुष्ट प्रतिश्याय में पूय स्राव नहीं होता। सड़ा हुआ दुर्गन्धयुक्त कफ ही नाक से बहता रहता है, परन्तु पीनस में कफ के स्राव के साथ पूय का भी निस्सरण होता है। नाक की दीवालों में क्षत भी हो जाते हैं। दुष्ट प्रतिश्याय में क्षत नहीं होते। पीनस और दुष्ट प्रतिश्याय समान लक्षण होने से औषधि और उपचार समान हैं।

पीनस तथा दुष्ट प्रतिश्यायनाशक व्याघ्री तैल

कटेरी, दंती, बचा सहजने की छाल, तुलसी पंचांग, सोंठ, मिर्च, पिप्पली, सैंधव समान भाग लेकर, जल में पीसकर कल्क तैयार करलें। फिर कल्क को २० तोला तिल तैल के साथ एक लोहे की कढ़ाई में तैल डालकर तैल पाक विधि से तैल सिद्ध करलें। इस व्याघ्री तैल को ५ से १० बूंद तक नासा में प्रातः, मध्याह्न, सायं और रात्रि में सोते समय छोड़ें तो दुष्ट प्रतिश्याय और पीनस निःसंदेह आराम होते हैं परन्तु व्याघ्री तैल के प्रयोग के साथ 'हर्षुल नासारुजांतक' का सेवन अवश्य करना चाहिए।

हर्षुल नासा रुजांतक (पीनस दुष्ट प्रतिश्याय नाशक)

द्रव्य—हिंगुल भस्म २ तोला, तबकिया हरताल भस्म २ तोला, टङ्कण भस्म २ तोला, स्फटिका भस्म २ तोला, शतपुटी बज्राभ्रक भस्म २ तोला, शृङ्ग भस्म २ तोला, पुष्करमूल चूर्ण २ तोला, काकड़ासिंगी चूर्ण २ तोला, मुलैठी चूर्ण २ तोला, अजवायन घनसार २ तोला, विडंग घनसार २ तोला, कर्पूर देशी १ तोला, असली दालचीनी चूर्ण १ तोला, तेजपात चूर्ण १ तो., जायफल चूर्ण १ तो., लवंग चूर्ण १ तोला, रीठा चूर्ण १ तो., नीलगिरी का गोंद २ तोला, बबूल गोंद का घृत पक्व चूर्ण २ तोला, कौडिया लोभान चूर्ण २ तोला, सहजना का गोंद २ तोला।

विधि—समस्त द्रव्यों को महीन चूर्ण कर मिश्रण तैयार कर लें फिर समस्त मिश्रण को पत्थर के खरल में डालकर अद्रक स्वरस, कटेरी स्वरस, अडूसा स्वरस, अर्क पत्र स्वरस, सत्यानाशी स्वरस, कृष्ण भृङ्गराज स्वरस, सरफोंका स्वरस, कसौंधी स्वरस, सहजन पत्र स्वरस की एक-एक भावना देकर चार-चार रत्ती की गोलियां बना छाया में सुखा स्वच्छ सूखी शीशी में भर डांट लगा रख दें।

मात्रा—छोटे बच्चों को आधी गोली, बड़े बच्चों को १ गोली, स्त्री पुरुषों को २ गोली प्रातः सायं मधु से चटावें।

गुण—यह पीनस, दुष्ट प्रतिश्याय, पूतनस्य (नाक मुंह से दुर्गन्ध आना) तीव्र तरुण प्रतिश्याय, जीर्ण प्रतिश्याय, नासाप्रदाह, नासास्राव, कास, श्वासरोग, नासावरोध पर आशुगुणकारी तथा सुखकर प्रभावशाली है।

हर्षुल नासाबिंदु

द्रव्य—तारपीन तैल असली २ तोला, देशी कपूर २ माशा, निम्ब तैल १ तोला, हेड़नोक्रियोल आयल १ तोला, गोघृत १ तोला, युकलिप्टस आयल ६ माशा, चन्दनतैल (म्हैसुर) ३ माशा, इत्रगुलाब १ माशा, आयल मेंथापिपरेटा ४ रत्ती। समस्त द्रव्यों को एक शीशी में डालकर खूब हिलाओ। जब समस्त द्रव्य घुल मिलकर एक रूप हो जाय तब शीशी में डांट लगाकर रख दो।

प्रयोग विधि—३ से ४ बूंद प्रातः सायं तथा रात्रि में सोते समय नाक में छोड़ो। इससे पीनस जन्य कृमि तुरन्त नष्ट होते हैं। नाक से दुर्गन्ध आना बन्द हो जाती है। नासावरोध दूर हो जाता है।
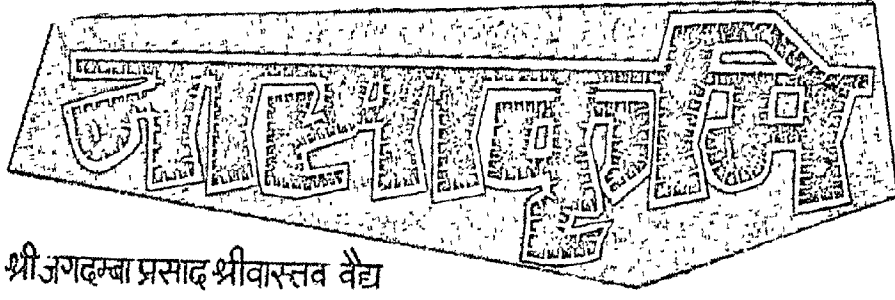
श्री जगदम्बा प्रसाद श्रीवास्तव वैद्य

नासाकृमि विविध प्रकार के प्रतिश्याय में उत्पन्न हो सकते हैं। ग्रामों में नासाकृमि रोग को पीनस नाम से पुकारते हैं।

रक्तजन्य प्रतिश्याय—

रक्तजे तु प्रतिश्याये रक्तास्रावः प्रवर्तते।
ताम्राक्षश्च भवेज्जन्तुरुरोघात प्रपीड़ितः॥
दुर्गन्धोच्छ्वास वदनस्तथा गन्धान्न वेत्ति च।
मूर्च्छन्ति चात्र कृमयः श्वेता स्निग्धास्तथाऽणवः॥
कृमि मूर्च्छा विकारेण समानं चास्य लक्षणम्॥

—सु० सं० उ० अ० २४।१३

रक्तजन्य प्रतिश्याय में नासा में लालवर्ण का स्राव होता है। रोगी की आंख ताम्रवर्ण की लाल या सुर्ख हो जाती है तथा रोगी उरोघात के लक्षणों से पीड़ित रहता है। उसके श्वास से तथा मुख से दुर्गन्ध आती है और उसे गन्ध का ज्ञान नहीं होता तथा नाक में श्वेत चिकने और छोटे छोटे कृमि पैदा होकर नाक के द्वार से गिरते रहते हैं। ऐसी दशा में कृमिजन्य शिरोरोग के समान लक्षण इस रोग में उत्पन्न होते हैं।

उरोघात के लक्षण—

उरः क्षतमुरः स्तम्भः पूतिकर्ण कफो रसः।
सकासः संज्वरी सेय उरोघातः सपीनसः॥

कृमिजन्य शिरोरोग के लक्षण—

निस्तुद्यते यस्य शिरोऽतिमात्रं,
सम्भक्ष्यमाणं स्फुटतीव चान्तः।
घ्राणाच्च गच्छेत्सलिलं सरक्तं,
शिरोऽभितापः कृमिभि सधीरः॥

—१०. अ. १५ सू.३

जिस व्यक्ति का सिर अधिक सुई चुभोने की सी पीड़ा से व्याप्त हो तथा सिर के भीतर का भाग कृमियों के द्वारा खाया जा रहा है रोगी को ऐसा प्रतीत होता है। तथा कपाल अस्थियों के भीतर फोड़ने काटने सा अनुभव होता है और नाक के द्वार से रक्तपूय (खून पीव) से मिला हुआ जल का स्राव होता हो तो इस रोग को कृमिजन्य शिरोरोग कहते हैं।

व्यथच्छेदरुजा कण्डु शोफ दौर्गन्ध्य दुःखितम।
कृमिरोगातुरं विद्यात् कृमिणां दर्शनेन च॥

—च. सू. अ. १७

नासाकृमि रोग लक्षण—

सिर और नाक में सूजन, पीड़ा और खुजली होती है, नाक से दुर्गन्धि आती है, खून पीव मिला जल सा द्रव नाक से झरता है, कभी कभी कीड़े के गिरने पर रोग स्पष्ट हो जाता है। कृमियों के कारण मन किसी कार्य में नहीं लगता; नेत्र मिचे से रहते हैं, मुख में सूजन, कर्णनाद; ज्वर, कास; बलक्षय भी होता है।

वक्तव्य—प्रतिश्याय के किसी भी भेद में या अनेक प्रकार में कृमियों की उत्पत्ति हो सकती है। ये कृमि २ प्रकार के हो सकते हैं (१) जो आंख से न दिखाई पड़ें (२) जो आंख से दिखाई पड़ें।

निदान एवं सम्प्राप्ति—

अपथ्य या पथ्य अपथ्य मिश्र भोजन करने से रक्त और मांस क्लेदित हो जाता है जिससे त्रिदोष कुपित होता है। रक्त के दूषित होने से कृमियों की उत्पत्ति हो जाती है। यह रोग पापी, दुराचारी, अधर्मी को होता है।

वक्तव्य—दुर्गन्धि और नासास्राव के कारण नील मक्षिका आदि के द्वारा भी कृमि उत्पत्ति सम्भव है।

रोग की दशा—दयनीय होती है। पूय दुर्गन्धि आदि के कारण रोग अप्रिय दर्शन होता है। समाज में घृणा का पात्र होता है।

नासा कृमि की अनुभूत चिकित्सा

१. षड़विन्दु तैल—रोगी को चित्त लिटाकर उसकी गर्दन को खटिया की पाटी पर रखें। शिर को कुछ नीचे लटकावें ताकि नासा विवर ऊपर उठ जाय। पड़बिन्दु तैल को बिन्दु पातनक (ड्रापर) में थोड़ा सा बिन्दु से अधिक नहीं भरें। फिर नासाछिद्र में २-२ बूंद डाल दें अधिक से अधिक ३ बूंद डालें। अधिक न डालें क्योंकि यह अधिक तीक्ष्ण होता है और रोगी को तुरन्त उठाकर बैठा दें ताकि तैल गले में न उतरे। ध्यान रखें कि कीड़ों को मारना अभीष्ट नहीं हैं क्योंकि मर जाने पर मस्तक से या नासा विवर से उनका निकलना कठिन होगा। वे यहां कुछ संख्या में फंसे भी रह सकते हैं अतः उन्हें मूर्च्छित करना ही ध्येय होता है। बिन्दुपात करने के बाद नाक को नीचे करने पर कृमि कुलबुला कर बिलबिलाकर स्वतः गिरने लगते हैं। तैलादि में कपूर इसलिए मिलाया जाता है कि कपूर उड़नशील होता है वह उड़कर नासा विवर में घुस जाता है, उसकी गन्ध से कृमि मूर्च्छित हो जाते हैं। तालुछिद्र में या नासा में टिका हुआ या फंसा हुआ कृमि हो तो उसे चीमटी से भी निकाल लें। उक्त तैल में कपूर भी मिलालें।

२. तारपीन तैल कपूर योग—तारपीन तैल में भी कपूर डाल रखें। घुल जाने पर उक्त रीति से प्रयोग करें।

३. नासाकृमि हारी बूटी—बूटी ४ माशा, कपूर १ भाग पीसकर नाक और नाक के नीचे मूछों के स्थान पर लेप करें। यदि चाहे तो मस्तक पर भी करें। गन्ध से आकृष्ट हों मूर्च्छित कृमि ४-५ मिनट में गिर जायेंगे। यदि शेष प्रतीत हो तो २-३ दिनों से बाद पुनः प्रयोग करें। (यह बूटी लेखक महोदय ने भेजी थी लेकिन उसे हम ठीक से न पहचान सके।) —सम्पादक

४. वन तुलसी या बबई—इसमें तुलसी से अधिक गन्ध होती है, कृमिनाशक भी है। उचित मात्रा में इसमें कपूर मिलाकर रुपया सी टिकिया बनालें और नासा छिन्द्रों पर बांध दें उसकी गन्ध से मूर्च्छित हो कीड़े टिकिया पर पर गिरने लगेंगे। टिकिया को बार-बार हटाकर कीड़ों को निकाल दें। वही या दूसरी टिकिया फिर लगादें। अथवा विधि संख्या ३ की तरह करें। अथवा ३-४ का स्वरस निकाल उसमें कपूर मिला प्रथम द्वितीय प्रयोग की तरह करें।

५. नौसादर, कपूर, चूना एकत्र कर शीशी में रखें। रोगी को सुधावें उससे कृमि मूर्च्छित हो जावेगी। फिर नकछिकनी बूटी नाक के सामने कर चुटकी से मसलें। इससे छींकें आयेंगी और कीड़े झड़ने लगेंगे।

६. वायविडंग, एरण्डमूल छाल, सौंठ, मिर्च, पीपल, कूठ इन्हें समभाग लें चूर्णकर छान लें। महीन चूर्ण चुटकी में लेकर रोगी के नासा छिद्र में रखकर पोली नली से फूंक दें जिससे कृमि बेचैन हो उठेंगे। यदि न गिरने लगें तो नकछिकनी बूटी मसलकर नाक के पास करें।

७. तिक्तपत्रिका स्वरस कपूर मिला डालें और टिकिया नासा द्वार पर रखें। वनतुलसी की तरह करणीय।

८. व्याघ्री तैल को षड़बिन्दु की तरह प्रयोग करें।

९. विडंगादि नस्य दें या विडगादि तैल (यो. र.) का बिन्दुपातन करें।

१०. धतूरा पत्र स्वरस में नौसादर पीसकर मिला दें और कपूर भी मिलावें। इसकी बूंद नाक में टपकायें। यदि चाहें तो इसकी टिकिया नासा छिद्रों पर रख बांधें १-२ मिनट में कृमि आना शुरू कर देते हैं।

११. कायफल और अर्क मूल छाल या पत्र बराबर लेकर पीस लें। उसमें अर्क दूध की भावना देकर पीसकर रख लें। २-३ चावल प्रत्येक नासा विवर में फूंक दें।

१२. हुलहुल के बीज, समुद्रफल, काली मिर्च समभाग लें। गोमूत्र में पीसकर फिर नीबू रस में पीसकर चूर्ण बनावें पोली नली से नासा विवर में २-२ रत्ती फूंक दें।

१३. त्रिकटु, हल्दी, सहजन बीज गोमूत्र में पीसकर नस्य दें।

१४. नस्ये हि शोणितं दद्यात्तेन मूर्च्छन्ति जन्तवः।
मत्ताः शोणित गन्धेन समायान्ति यतस्ततः॥
—सु. सं. उ. अ. २६।२६

इसमें भी कपूर २ रत्ती या अमृतधारा २-३ बूंद मिला लें।

खाने की दवाइयां—

१. तृणकान्त मणिपिष्टी २-२ रत्ती दूध से दिन में ३-३ बार खिलावें। खाने मात्र से कृमि नासा से झरने लगेंगे। उक्त किसी प्रयोग के साथ भी करें।

२. गन्धक रसायन ४ रत्ती, रस माणिक्य ½ रत्ती, आरोग्य वर्द्धिनी ३ रत्ती, बंग भस्म १ रत्ती यह एक मात्रा है। ऐसी २ मात्रा दिनभर में दूध से खिलावें। इससे कृमि बढ़ना बन्द हो जायगा। सब कृमि निकल जाने के बाद पुनः उत्पन्न नहीं होंगे। तालु छिद्र मिट जायगा। ध्यान रखें जीर्ण नासा कृमि रोग या शिरो कृमि रोग में तालु में छिद्र भी हो सकता है।

३. लक्ष्मी विलास रस या महालक्ष्मी विलास रस।

४. घृतकुमारी का गूदा, हल्दी, घृत, गुड़ को पकाकर १-१ तोला खिलावें। तालु छिद्र बन्द हो जायगा (नासा कृमि रोग पुराना होने पर तालु मे छिद्र हो जाता है और वहां से भी कृमि निकलने लगते है। जो फसे होते है उन्हें चिमटी से खींच लेते है) तालु छिद्र होने पर साबित गुञ्जा मुख मे डाले रहना भी लाभ करता है। यदि फिरंग के कारण ऐसा हुआ हो तो कारण अनुरूप चिकित्सा करें।

कृमियों का रंग रूप—

सफेद यव के समान मोटे और कभी-कभी हरे रङ्ग के भी होते है। कृमियो की संख्या—४-६ १०-२० या उससे भी अधिक। शिरोकृमियों पर विचार—जीवक ने एक सेठी का शिरो भेद कर २ कृमि शिर के अन्दर से निकाले थे ऐसा वृतान्त प्राप्त होता है पर शिरो कृमि देखने में कम आते है। एक नारी के शिर में कृमि हो गये थे वह चकिया चलाती रहती थी चकिया चलाने से शिर हिलता रहता था जिससे कृमियों का काटना सम्भवतः बन्द रहता था जिससे उसे कुछ आराम मिलता था। उसने घर का रखा अनाज भी पीस डाला। बोने का समय आने पर उसके पति को घर में बीज नहीं मिला और उस समय भी उसे अनाज पीसते हुए पाया तब उसके पति ने उसके बाल पकड़ कर खींच दिए जिससे उसके खोपड़ी का पल्ला उसके हाथ में आ गया कीड़ों ने उसके दिमाग को चुन लिया था, तब हमें नासा कृमि के रोगी प्राप्त हुए।

चिकित्सा में सावधानी—

चिकित्सा में उग्र नस्य, मंसिल, भल्लातक आदि से युक्त दवा को देने से रोगी मूर्च्छित भी हो जाता है अतः पहिले उग्र नस्य न दें। वन-तुलसी, नक छिकनी, नासा कृमि हारी बूटी के लेप, नस्य, टिकिया, तारपीन का तैल, कपूर आदि से सफलता हो जाती है। खाने की दवा साथ में दें।

अपथ्य—मधुर पदार्थ गुड़, तिल, सड़ा-गला दुर्गन्धित भोजन, अजीर्ण में भोजन, व्यभिचार, अधर्म, चौर कर्म, दस्युकर्म आदि।

—श्री जगदम्बा प्रसाद श्रीवास्तव वैद्य, अरौल (कानपुर)

पीनस : : पृष्ठ ३५६ का शेषांश

आयुर्वेदिक सफल सिद्ध प्रयोग

१. काली मिर्च, गुड़, हींग १-१ भाग लें।

निर्माण—सबको कूट कपड़छन चूर्ण करलें।

मात्रा—३-३ माशा दोनों समय जल के साथ दें।

उपयोग—इसके सेवन से पीनस रोग दूर होता है।

२. कायफल पुष्करमूल, काकड़ासिंगी, सोंठ काली मिर्च, पीपल, कलौंजी ये सब १-१ भाग लें।

निर्माण—सबको कूट छान लें।

मात्रा—३-३ माशा दोनों समय अदरख के रस के साथ दें। इसके प्रयोग से पीनस रोग दूर होता है।

३. कायफल, हींग, कालीमिर्च, लाख, पीपल, इन्द्र-जौ, कूठमच, सहिजन की जड़ की छाल बायविडंग ये सब १-१ भाग लें। सबको कूट लें और १ भाग चूर्ण अठगुने जल में काढ़ा करें। चौथाई रहने पर छान लें।

मात्रा—३-३ माशा दोनों समय दें।

उपयोग—इस काढ़े के सेवन से पीनस दूर होता है।

४. कटेली की जड़ की छाल, सहिजन की छाल, गदहपूर्णा की जड़ की छाल, तुलसी के पत्तों का रस ये सब ५-५ भाग, तिली का तैल २० भाग लें।

निर्माण—सबको मिलाकर एक कड़ाही में छोड़कर मन्दी आंच से पकाकर छान लें।

मात्रा—दिन में २-३ बार नाक से नस्य लें।

उपयोग—इससे पीनस रोग दूर होता है।

५. सहिजन की छाल, कटेली की जड़ की छाल, निशोत, सौठ, कालीमिर्च, पीपल, सैंधानमक, बेल के पत्तों का रस ५-५ भाग, तिली का तेल २० भाग लें।

निर्माण—सबको एक कड़ाही में छोड़ कर मन्दी आँच से पकाकर छान लें। मात्रा—दिन में दो बार नस्य लें।

उपयोग—इस तैल के इस्तेमाल करने से पीनस रोग नष्ट होता है।

—वैद्यराज श्री युधिष्ठिरसिंह सोमवंशी बबहाउर, मैंसवार (सतना) म०प्र०

श्री अमर नाथ शर्मा आयु०र०

परिचय—प्रतिश्याय, पीनस, पूतिनस्य आदि नासा रोग जब जीर्ण हो जाते हैं और उनका सम्यक् उपचार नहीं किया जाता अथवा नाक की स्वच्छता का उचित ध्यान नहीं रखा जाता तो अन्तत: नासा के अन्दर स्थित मल पदार्थों के दूषित व संक्रमित हो जाने के कारण नाक के अन्दर कृमियों (सुंढियों) की उत्पत्ति हो जाती है। यह कृमि आकार प्रकार में बिल्कुल ऐसे होते हैं जैसे कि कभी आपने कीचड़ या मल (पाखाने) के सड़ने पर उनमें चलती फिरती सुंढियां देखी होंगी ऐसे रोगी की नाक और मुख से दुर्गन्ध आती है किन्तु रोगी प्राय: चिकित्सार्थ तब दौड़ता है जब उसकी नासा के अन्दर कृमियों का पर्याप्त संग्रह होकर उनके द्वारा नासा की अस्थि में व्रणोत्पत्ति कर दी जाती है और उन कृमियों की गति से उस रोगी के सिर में तीव्र शूल की उत्पत्ति होती है। साथ ही उस रोगी की नाक बाहर से भी स्पष्टतया सूज कर बेढब सी हो जाती है। शोथ का प्रभाव रोगी के चेहरे और माथे पर भी स्पष्ट लक्षित होता है। कभी कभी इसके साथ साथ रोगी की कृमिग्रस्त नासिका से अनवरत रक्तस्राव (Epistaxis) प्रारम्भ हो जाता है जो प्राय: रक्त स्तम्भक उपचारों से भी रुकने में नहीं आता। कहने का भाव यह है कि रोगी या उसके अभिभावक चिकित्सक के पास या तो तीव्र शिर:शूल या तीव्र नासागत रक्तस्राव की शिकायत लेकर आते हैं। लेखक के पास आज तक सैकड़ों व्यक्ति इस रोग से ग्रस्त आ चुके हैं किन्तु कुछेक को छोड़कर शेष सभी असह्य शिर:शूल या दुस्तर रक्तस्राव की शिकायत लेकर ही आये थे। वास्तविकता का पता तो उन्हें तब चला जबकि लेखक ने सम्यक निदानोपरान्त कृमिघ्न नस्यों का प्रयोग रोगी की नासिका में किया और फलस्वरूप नाक से कृमियां झड़नी प्रारम्भ हुई और अन्ततोगत्वा सभी कृमियां निकल कर रोगी की सभी तज्जन्य शिकायतें स्वत: नष्ट हो गईं। नासिका प्रेक्षण यन्त्र आदि से रोगी की नासिका की अन्त: स्थिति का सम्यक् निरीक्षण कर लें। यदि यह रोग होगा तो वहां पर कहीं न कहीं कृमियां नजर आवेंगी। यदि नासा के बहुत शोथ युक्त होने से परीक्षा संभव न हो तब उसकी नासिका में कृमिघ्न औषधियों के नस्य, बिन्दु आदि का प्रयोग करा के देख लें। यदि कृमि होंगे तो स्राव के साथ या वैसे ही झड़ना शुरू हो जावेंगे। आयुर्वेद मतानुसार भी "नासाकृमि" नामक व्याधि में "कृमिज शिरो रोग" के समान लक्षण पाये जाते हैं। ज्ञातव्य है कि कृमिज शिरो रोग में नासिका से राध या रक्त (कृमि सहित) निकलना, कृमियों की गति सिर (माथे) में मालूम होना, शिर में स्फुरण व तोद का होना, ऐसा आभास होना जैसे कि वहां की श्लेष्म कला खाई जा रही हो, असह्य शिर:शूल, कण्डु, शोथ, नासा दुर्गन्ध ये लक्षण होते हैं।

उपचार—

१. तारपीन का तेल ५ ग्राम को गुनगुने पानी १२५ मिलीलिटर में मिला कर नाक में पिचकारी करें या तारपीन का तेल ही नाक में टपकाएं।

२. कपड़े की बत्ती बनाकर तारपीन के तेल में भिगो कर और कमीले में लथपथ करके नाक में रखें।

३. तिल तेल १ औंस में क्लोरोफार्म की कुछ बूंदें मिलाकर नाक में टपकाएं।

४. एक नग प्याज छेद करके उस में ३ ग्राम कपूर रख कर ऊपर आटा लपेट दें और आग में भून कर बारीक पीस कर अर्क निकालें। इस अर्क (स्वरस) के बराबर निर्गुंडी पत्र स्वरस मिला कर नाक में बार बार टपकायें या इस में कपड़ा भिगो कर नासा में पैक कर दिया करें। ऐसा पैक १२ घण्टे या अधिकतम २४ घण्टे बाद अवश्य बदल देना चाहिये।

५. कुकरौंधे के पत्तों के स्वरस में थोड़ा कपूर मिलाकर नासा में पैक करने या पुन: पुन: डालते रहने से होने वाले रक्तस्राव में तत्काल लाभ होने लगता है। इसी प्रयोग से यदि नासा में कृमि हों तो वे भी झड़ने लगते हैं।

उक्त स्थानिक प्रयोगों में से किसी एक या दो के व्यवहार के साथ-साथ ही रोगी के नासास्थित व्रण की

—शेषांश पृष्ठ ३६८ पर देखें।

गले और मुँह के तलुवों के मूल में स्थित पित्त कफ और रक्त दोष जब नासारोग कारक कारणों से तथा नासा रोग कारक आहार-विहार से दूषित हो जाते हैं, तब वे दोष वायु से प्रेरित होकर नाक और मुँह के द्वारा बाहर होते हैं। ऐसी दशा में मुँह और नाक से जो वायु निकलती है या कफ निकलता है, वह दुर्गन्धित रहता है। ऐसी व्याधि को पूति नास या पूति नस्य कहते हैं।

> तालु मूले मलैर्दुष्टैमरुतो मुख नासकात्।
> श्लेष्मा च पूतिर्निगंच्छेद् पूतिनासं वदन्तितम्॥
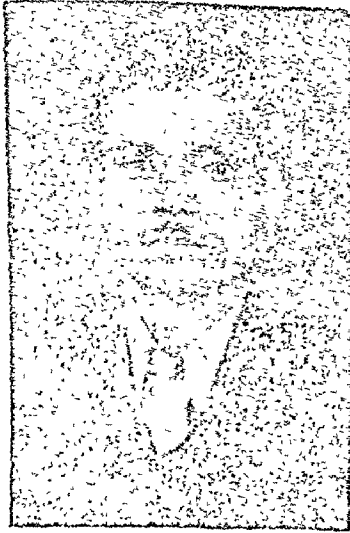
दोष से मतलब यहां पित्त, कफ और रक्त से है। यद्यपि रक्त स्वयं दोष नहीं, धातु द्रव्य है तथापि पित्त कफ के साथ रहने से साहचर्य के कारण यहाँ रक्त को भी दोषों के साथ शामिल किया गया है। सुश्रुत ने इसे और स्पष्ट किया है।

> दोषैर्विदग्धै गल तालु मूले संमूर्छितो यस्य समीरणस्तु।
> निरेति पूतिर्मुखनासिकाभ्यां तं पूतिनस्यं प्रवदन्ति रोगम्॥

इसमें तालु और गला दोनों को पीड़ित स्थान में लिया गया है। दोषों का दूषित होना विदग्धता के साथ कहा गया है। पित्त, कफ और रक्त ऊष्मा पाकर विदग्ध हो जाते हैं। लवण और अम्ल रस के पाक से उनमें पूतिभाव अर्थात दुर्गन्धि आ जाती है। यही उनका दूषित होना है। फिर वे दोष मूर्च्छित होकर दुर्गन्धित हो जाते हैं और बढ़े हुये दोष प्रकुपित वायु से प्रेरित हो गले और नाक के द्वारा बाहर निकलते हैं। निकलने वाले दुर्गन्धित वायु और नाक श्लेष्मा को संस्कृत में नस्य कहा गया है। नाक में अर्थात नासा में होता है, इसलिये उसे नस्य कहते हैं। विदेह ने इसे और भी स्पष्ट किया है —

> कफ पित्त सृगन्विष्टं सञ्चितं मूर्ध्नि देहिनाम्।
> विदग्धमूष्मक गाढं रुजां कृत्वा अक्षि शङ्खजाम्॥
> तेन प्रस्य दन्ते घ्राणात्सरक्तं पूति पीतकम्।
> पूतिनस्यं तु तं विद्यात् घ्राण कण्डू ज्वरप्रदम्॥

इससे मालूम पड़ता है कि रोगी के शंख देश और आंखों में पीड़ा भी होती है, नाक में खुरखुराहट और खुजली भी होती है, साथ ही ज्वर होता है। नाक से जो बलगम निकलता है वह दुर्गन्धित होता है और उसका रंग पीला रहता तथा उसमें रक्त का अंश भी रहता है। कल्याण कारक के वचन से यह भी मालूम पड़ता है कि वायु नासिका रन्ध्रों को रोके रहता है जिससे दोष बाहर निकलते हैं।

विदग्ध दोषैर्गलतालुकाश्रितैर्निस्तर नासिक रुद्धतः।
सपूत नासा कुरुते तथा गलं, विशोधयेत्तच्छिरसो विरेचनैः॥

चरकाचार्य कहते हैं कि प्रतिश्याय या परिश्रव की उपेक्षा करने से यह होता है। कफ में दुर्गन्धि और विवर्णता रहती है। इस रोग में नाक के भीतर शोथ भी हो जाता है और सिर में चक्कर भी आते हैं।

वैवर्ण्य दौर्गन्ध्यमुपेक्षया तु स्यात्पूति नस्यं क्षवथु भ्रमश्च॥

ऐलोपैथी में पूतिनस्य को ओजीना (Ozaena) कह सकते हैं। नासिका से दुर्गन्धित स्राव निकलना इसका प्रधान लक्षण है। इस प्रकार स्राव में दुर्गन्धि होना दुष्ट प्रतिश्याय और पीनस में भी सम्भव है। इसी तरह अन्य कारणों से भी स्राव में दुर्गन्धि आ सकती है। रोग पुराना पड़ने और चिकित्सा में लापरवाही होने से स्राव में दुर्गन्धि आना सम्भव रहता है। जिन्हें औपसर्गिक उपदंश या फिरंग होता है, उनको नाक में जो फ़िरंगजन्य शोथ होता है, उसमें भी दुर्गन्धि आ जाती है। नाक में अर्श या अर्बुद होने पर भी दुर्गन्धि आ जाती है। नाक में माँस वृद्धि होने, नासिका से सम्बन्धित अस्थियों के सड़ने या कलाजन्य क्षय से भी इस प्रकार दुर्गन्धि आ जाती है। यदि कोई बाहरी पदार्थ नाक में चला जाय और वह वहीं रुका रहे तो वह वहीं सड़ता है और अपने साथ ही नासा की श्लैष्मिक कला में व्रण पैदा कर देता है। इस व्रण के कारण भी नाक से जो स्राव निकलेगा, दुर्गन्धित होगा। आमाशय में क्षत हो जाने या दुष्ट दोष सञ्चित होने पर वे उर्ध्वगामी हो गले, तालू और नाक तक पहुँचते हैं और फिर वहां भी विकार उत्पन्न कर दुर्गन्धि पैदा कर देते हैं। इसी प्रकार छाती और फेफड़ों में विकार होने से श्वासनलिका द्वारा विकार अंश ऊपर जाकर गले, तालु और नासा में विकार बढ़ाते हैं। ऊपर मस्तिष्क, तालु, गला, नाक कान के भाग आपस में छिद्रों द्वारा इस प्रकार मिले हुए हैं कि एक स्थान में विकार होने से उसका असर दूसरी ओर भी पहुंच जाता है। यदि विकार मस्तिष्क में हो या वहां दूषित दोष संचित हों तो वे नाक तक पहुँचते हैं। नाक के मल रूप कफ और नाक से निकलने वाले वायु को भी दुर्गन्धित कर देते हैं।

विशेष—डाक्टर लोग इसे ओजीना कहते हैं। पाश्चात्य चिकित्सक डाक्टर विलियम जानसन इसे स्वतंत्र व्याधि नहीं मानते किन्तु कई रोगों के उपसर्ग रूप में इसे गिनते हैं—

१. क्षयज प्रतिश्याय (एट्रोफिक नेजल केटार अथवा ट्यूबरकुलोसिस आफ दी नोज)।

२. उपदंश अथवा अन्य किसी कारण से अस्थिक्षय (कैरिज) हो जाय अथवा हड्डी सड़ जाये (निक्रोसिस अथवा फिरंग जन्य नासा शोथ-सिफिलिटिक Rhinitis)

३. श्लैष्मिक कला में उपदंशजनित क्षय अथवा पालीपस के कारण प्रतिश्याय होने पर। अर्थात् कलाजन्य नासाशोथ—Atrophic Rhinitis।

४. नासारन्ध्र के अन्दर आगन्तुक द्रव्य आ जाने से अथवा नासाश्मरी (राइमोलिथ) के कारण सड़ान होकर नासा श्लैष्मिक कला में व्रण होकर दुर्गन्धित स्राव होता है।

५. मण्ड गह्वर (एण्ट्रम) अथवा अन्य किसी नलिका में पूय प्रतिश्याय (प्यूरिलेण्ट कैटार) होने पर।

६. नासिका में एक प्रकार की वृद्धि पालिपस (Polypus) होने पर।

७. नासिका में पाक (अल्सरेशन आफ दी नोज) होने अथवा नासिका में व्रण (अलसर) होने से भी दुर्गन्धित स्राव आता है। ऐसी दशा में फिरंगजन्य नासाशोथ से या नासागत श्लैष्मिक कला के रोग Lupas vulgaris of the Nose से हो सकता है।

८. अर्बुद के तुल्य कोई उठाव होने पर, नासिका दुष्ट अर्बुद (कैंसर) होने पर। इन सब कारणों से नाक से दुर्गन्धि आने लगती है। कारणों की जांचकर चिकित्सा होने से मूल रोग के साथ पूतिनस्य भी ठीक हो जावेगा।

चिकित्सा

पूतिनस्य की चिकित्सा करते समय इस बात की विवेचना करना आवश्यक है कि व्याधि का मूल स्थान कहां है। पूतिनस्य की चिकित्सा करते हुये मूल स्थान के शोधन पर भी ध्यान देने से लाभ शीघ्र हो सकता

है। पूतिनास की चिकित्सा पीनस के समान तथा कफज प्रतिश्याय के समान करनी चाहिये।

१. लाक्षादि नस्य—पहले वमन और विरेचन देकर मस्तिष्क तथा आंतों को साफ कर लें। इसके पश्चात् लाक्षादि नस्य—अर्थात् लाख, करंज के बीज, मिर्च, वायविडंग, हींग, पिप्पली और गुड़ भेड़ के मूत्र में पीसकर नस्य देवें।

२. शोमाञ्जन तैल—सहिजन के बीज, बड़ी भटकटैया के बीज, जमालगोटा, सौंठ, मिर्च, पीपर, सैंधा नमक, वायविडंग और तुलसी का कल्क कर तैल सिद्ध कर लें। यह तैल पूतनास और अपीनस में नाक में डालने से अच्छा लाभ दिखाता है।

३. शक्र तैल- इन्द्र जव, हींग, सफेद मिर्च, कायफल, सौंठ, मिर्च, पीपर, घुड़वच, सहजन के बीज, वायविडंग सब एक-एक तोला लेकर लाख के पानी से पीसें और आधा सेर कटु तैल में कल्क और दो सेर पानी डालकर तैल सिद्ध कर लें। इस नस्य तैल का नस्य लेने से पीनस और पूतिनस्य की व्याधि मिटती है।

४. शिग्रुवादि तैल—सहिजन के बीज, भटकटैया के बीज, दन्ती के बीज, सौंठ, मिर्च, पीपर और सैंधानमक सब तीन-तीन तोले लेकर बेल के पत्तों के रस से पीसें और एक सेर तैल में यह कल्क और बेल की सेर भर पत्ती पीसकर चार सेर पानी में उसे छान तैल में डाल तैल पाक कर लें। इस तैल का नस्य लेने से पूतिनस्य रोग नष्ट होता है।

५. सुरसादि तैल—तुलसी की बीज और पत्ती, सौंठ, मिर्च, पीपर, कडुवा कूठ, लाख, कायफल और वायविडंग सब एक-एक तोला ३२ तोला सरसों के तैल में सवा तीन सेर पानी डाल तैल सिद्ध कर लें। इससे नाक की दुर्गन्धि दूर होती है।

६. नासाधौत योग—नाक को नित्य पिचकारी लगा कर साफ किया करें, जिससे मवाद भीतर इकट्ठा न हो। पिचकारी के लिये ढ़ाई तोले पानी में (पानी यदि नीम की पत्ती डालकर पकाया हुवा हो तो अच्छा) आधी रत्ती शुद्ध फिटकरी, आधी रत्ती जस्ते के फूल अथवा अंग्रेजी का क्लोराइड आफ दी जिंक डालकर पिचकारी किया करें।

७. यदि नाक में घाव हो तो जात्यादि तैल टपकावें या पिचकारी द्वारा भीतर डालें।

८. ढ़ाई तोला चीनी में ३ माशे डाक्टरी दवा विस्मिथ डालकर (मिलाकर) सूंघा करें।

९. एक माशा कार्बोलिक एसिड आठ माशे गाय के ताजे घी में डालकर दिन भर सूंघें।

१०. अन्य औषधि करते समय रक्तशोधन और शोथ तथा क्षत मिटाने के लिये मंजिष्ठादि क्वाथ, कैशोर गुग्गुल, योगराज गुग्गुल आदि यथावश्यक देते रहें।

११. यदि दुर्गन्धि आमाशय या छाती, फेफड़ों के पास से ऊपर पहुँचने के कारण हो तो पहले उस मूल अंग का निर्णय करें फिर वमन विरेचन कराकर निम्ब क्वाथ से शोधन करें। इसके बाद नाक की दुर्गन्धि दूर करने के लिए उपाय करें।

१२. गोस्तनादि पोटली—अंगूर की शराब या अंगूर अर्क में लौंग, जायफल, जावित्री, दालचीनी, अगर, गावजवां, बादरंजवोया की पोटली बनाकर छोड़ दें। जब औषधियों की सुगन्धि पूरी तरह आ जाय, तब पोटली अलग कर इसी शराब को नाक में सुरकें। इसके बाद बालछड़, नागरमोथा और अगर के बारीक चूर्ण का प्रधमन नस्य दें।

१३. यदि दोषों का स्थान संश्रय मस्तिष्क हो या नासारन्ध्र और मस्तिष्क के मार्ग में हो और वहां की दुर्गन्धि से नाक में दुर्गन्धि आती हो तो मस्तिष्क शोधन का उपाय पहले करें। इसके लिये महालक्ष्मी विलास रस सारस्वतारिष्ट के साथ दें। फिर सिकंजबीन बिजूरी (यूनानी दवा) में जीरा और राई मिलाकर कुल्ले करावें। इससे दुर्गन्धित तरी निकल जाती है। इसके बाद बालछड़, लौंग और गुलाब के फूल शराब में उबालकर कुल्ले करावें। इसके बाद ऊपर बालछड़ वाले लिखे नस्य का प्रधमन नस्य देवें।

शिरोविरेचन के लिये जो नस्य दिये जाते हैं वे दो प्रकार के होते हैं—

१. अवपीड़न नस्य और २. प्रधमन नस्य।

अवपीड़न नस्य—में औषधियों को सिल पर पीसकर रस निचोड़ लिया जाता है और फिर वही रस नासा पुटों

में डालकर सुरका जाता है, जिससे वह रस नाक के सब भागों में पहुँच जावे।

प्रधमन नस्य—के लिए पहले औषधियों का खूब बारीक चूर्ण कर लिया जाता है। फिर एक छः अंगल लम्बी नली में नीचे अंगूठे से दबाकर उसे भरकर नली का वह हिस्सा नाक में डालें। फिर ऊपरी हिस्से से नली इस प्रकार फूंक दें कि नली के भीतर का चूर्ण नाक में चढ़ जावे। गुण के विचार से भी नस्य दो प्रकार का होता है—

१. रेचन नस्य, २. ब्रह्म नस्य।

रेचन नस्य—ग्रीवा, गला, तालु, सिर, नाक आदि रोगों में तथा कफजनित स्वर भेद, अरुचि, प्रतिश्याय, शिरो व्यथा, पीनस, सूजन आदि दोष निकालने के लिये दिया जाता है।

ब्रह्म नस्य—सुकुमारि प्रकृति, भीरु, स्त्री तथा कृश रोगियों को दिया जाता है।

अवपीड़न नस्य—गल रोग, सन्निपात, निद्राधिक्य, मनोविकार, मद, मूर्छा, सायास, उन्माद तथा शिर, नाक आदि के कृमियों को दूर करने के लिये दिया जाता है। जब ऊपरी अंग के रोग बहुत बढ़े हुये होते हैं। तब बेहोशी, मूर्छा, अपस्मार दूर करने तथा हृदय से आने वाली चेतना के मस्तिष्क में काम न करने की स्थिति मिटाने के लिये तीक्ष्ण द्रव्यों से शिरोविरेचन करने के लिये प्रधमन नस्य दिया जाता है। ब्रह्म नस्य मस्तिष्क के निर्बल अंग सबल बनाने के लिये और वहां चिकनाई पहुँचाने के लिये देते हैं।

रेचन नस्य बढ़े हुए और भीतर समाये हुए दोषों को खींचकर बाहर निकलता है। कफ दोष में प्रातःकाल, पित्त दोष में मध्याह्न समय में वायु दोष में सायंकाल नस्य का प्रयोग करना चाहिए। यदि दोष बढ़े हों तो कफ दोष में रात के प्रथम पहर, पित्त दोष में रात के दूसरे पहर में और वायु में रात के तीसरे चौथे पहर में भी नस्य दे सकते हैं। भोजन के पश्चात् तुरन्त या दुर्दिन में, स्नान के पश्चात् मल मूत्रादि वेगों के रहते स्नेहपान के पश्चात् नस्य प्रयोग नहीं करना चाहिए। नस्य देने के लिए आठ वर्ष की उमर से ८० तक की उमर ठीक समझी जाती है। शिरो विरेचन की आठ-आठ बूंदें प्रत्येक नासा पुट में डालनी चाहिए। प्रधमन नस्य एक बार में एक माशा दवा सूंघनी चाहिए।

१४. व्याघ्रि विन्दु—भटकटैया के फल आग में सेंक कर रस निचोड़ लें अथवा पुटपाक विधि से भटकटैया के पचांग से रस निकाल लें। इससे नाक में पिचकारी लगावें। इसके पश्चात् पीली हर्र और आम की असकली पानी डालकर पत्थर पर घिसें और उसकी बूंद नाक में टपकायें।

१५. पीनस गरम नजले से और उपदंश से होता है जिसमें सुगन्धि और दुर्गन्धि का भेद मालूम नहीं पड़ता और बोली में भी अन्तर आ जाता है। इसलिए ऐसे रोगी की चिकित्सा करने से पहले शरीर शुद्ध करलें तब चिकित्सा करें। विरेचन देवें और आवश्यकता हो तो तो फस्द खोलें।

१६. पलास नस्य—पलास के बीज, करंज के बीज की मींग, लाल फिटकरी, नकछिकनी, सूखी तम्बाकू सबको बराबर ले पीस छान कर सुखावें। यदि इससे छींकें आवें तो रोग अच्छा हो जावेगा अन्यथा नाक के बीच की हड्डी निकलने का भय रहता है।

१७. हड्डी रक्षा के लिए देवदारु का तेल और तारपीन का तेल लगाया करें। अथवा कद्दू का तेल, काहू का तेल, पेठे का तेल मिलाकर लगावें। यदि हड्डी निकल जावे तो इन औषधियों से घाव भी अच्छा हो जाता है। यदि पीनस उपदंश के [illegible] पहले जमालगोटे से जुलाब दें और फिर कालीमिर्च, बड़ी पीपल, सूखा आंवला सब १-१ तोला लेकर कूट छानकर सात वर्ष के पुराने गुड़ में मिलाकर बेर बराबर गोली बना लें। नित्य एक गोली सवेरे मलाई में लपेटकर खिलावें और ऊपर से दही का तोड़ पिलावें। मूंग की दाल और रोटी खाने को देवें। पानी औटाया हुआ देवें। इन गोलियों के सेवन से अन्य सब रोग भी आराम होते हैं।

—डा. श्री आर. एल. वाथम आयुर्वेद रत्न
ग्राम चन्द्रपुरा, पो लवेदी (इटावा)

कवि० डा० डी० पी० मालाकार
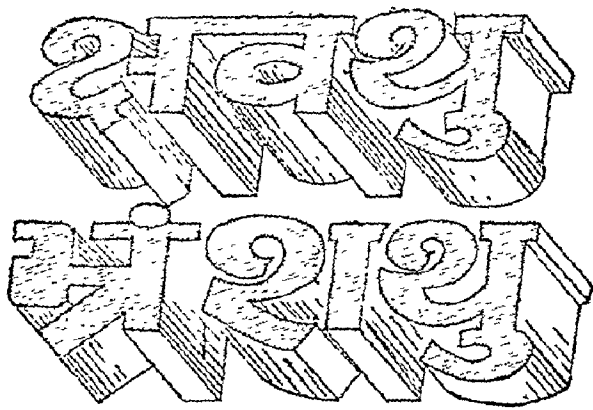
घ्राणाश्रिते मर्मणि संप्रदुष्टो यस्यानिला नासिकया निरेति ।
कफानुजातो बहुशोऽतिशब्दस्तं रोगमाहुः क्षवथुं विधिज्ञाः ॥

—सु. उ. २२

जिसकी नाक से नासिका स्थित मर्म में दुष्ट हुआ वायु कफ के साथ मिलकर तीव्र शब्द करता हुआ बार बार निकलता है उस रोग को क्षवथु कहते हैं।

विमर्श—साधारण बोल चाल में इसे छींक आना कहते हैं। छींक आना शरीर की स्वाभाविक क्रिया है। किन्तु कभी-कभी अधिक छींक होने से यह व्याधि का रूप भी धारण कर लेती है। इसीलिये वृद्ध वाग्भट ने इसके लिये "भृशक्षव:" (अधिक छींकों का आना) यह नाम दिया है। क्षवथु रोग भी निज और आगंतुक भेद से दो प्रकार का होता है। यहां निज या दोषज क्षवथु का वर्णन किया गया है। इसमें नासिका स्थित शृङ्गाटक नामक मर्म में विकृति होती है। आगंतुक का वर्णन आगे किया जायगा।

घ्राण श्रोत्राक्षि जिह्वा संतर्पणीनां सिराणां मध्ये सिरा सन्निपाताः शृङ्गाटकानि, तानि चत्वारि मर्माणि ।

—सु. शा. ६

आगन्तुक क्षवथु

तीक्ष्णोपयोगाद् भिजिघ्रतो वा भावान कटून्कं निरीक्षणाद्वा।
सूत्रादिभिर्वा तरुणास्थिमर्मण्युद्घाटितेऽन्यः क्षवथुर्निरेति ॥

—सु. उ. २२

तीक्ष्ण द्रव्यों के सेवन, क्षोमक वस्तुओं के सूंघने अथवा सूर्य का दर्शन करने से या सूत्र और तृण आदि के द्वारा नासा तरुणास्थि स्थित (फण) मर्म अथवा तरुणास्थि और मर्म (शृङ्गाटक मर्म) में क्षोभ होने से आगन्तुक क्षवथु उत्पन्न होती है।

घ्राणामार्गमुभयतः स्रोतो मार्ग प्रतिबद्धे अभ्यन्तरयः फणे।

—सु. शा. ६

विमर्श—पाश्चात्य वैद्यक ग्रन्थों में इसके लक्षणों से मिलता-जुलता एक रोग मिलता है, जिसे वासोमोटर राईनोरिया (Vasomotor rhinorrhoea) कहते हैं। जिन साधारण कारणों से छींकें नहीं आ सकतीं, उनसे भी मर्म के (नाड़ी संस्थान) के उत्तेजित होने से अत्यधिक छींकों की उत्पत्ति हो जाती है। विशिष्ट तथा अविशिष्ट भेद से यह अवस्था दो प्रकार की होती है। विशिष्ट में क्षोभक कारण का ज्ञान रहता है किन्तु अविशिष्ट में कारण सर्वथा
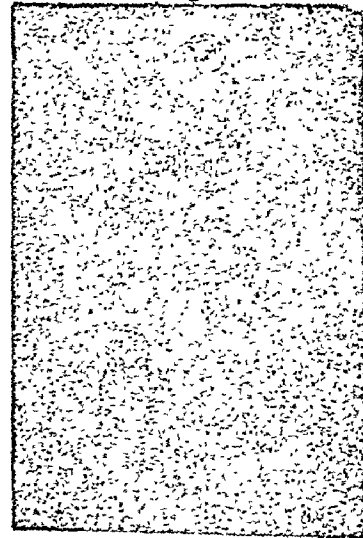
अज्ञात रहता है। इसमें प्रथम को आगन्तुज एवं अविशिष्ट को निज कह सकते हैं। इस रोग में छींक के साथ निम्न लक्षण होते हैं। (१) पूर्वावस्था में तोद (२) इसके बाद छींकें आती हैं और नासिका से पतला स्राव निकलने लगता है। छींकों के दौरे होते हैं (३) कभी-कभी अश्रुस्राव भी होता है।

इसी से सम्बन्धित होने के कारण भ्रंशथु की भी जानकारी कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

भ्रंशथु

प्रभ्रश्यते नासिकया तु यस्य सान्द्रो विदग्धोलवणः कफस्तु।
प्राक्संचितो मूर्धनि सूर्यतप्तस्तं भ्रंशथु रोगमुदाहरन्ति ॥

—सु. उ. २२

विमर्श—सिर में प्रथम संचित हुआ गाढ़ा विदग्ध और नमकीन कफ, सूर्य के ताप से पिघलकर जिसमें नाक से गिरता है उस रोग को भ्रंशथु कहते हैं।

विचार करने पर यह लक्षण ही प्रतीत होता है, जो अनेक नासा रोगों में पाया जाता है। गाढ़ा कफ नासा कला के जीर्ण शोथ में निकलता है। चिकित्सा की समानता और क्षवथु के बाद ही इसका वर्णन आने से यह स्पष्ट है कि भ्रंशथु क्षवथु रोग की अवस्था विशेष का नाम है।

क्षवथु (Voso-moter Rhinorrhoca) का बार बार आक्रमण होने से नासिका की श्लैष्म कला मोटी हो जाती है और उपसर्ग नासा विवरों में भी फैल जाता है। इससे वहां की श्लैष्मिक कला भी मोटी पड़ जाती है और गाढ़ा कफ संचित हो जाता है। जो सूर्य ताप से पिघलकर नासा द्वार से गिरता है। इस प्रकार इस रोग को नासा विवरों का सान्द्र श्लेष्मक स्राव (Mucoid discharge from nasal Sinuses) कह सकते हैं। चरक और वाग्भट ने इस रोग का वर्णन नहीं किया है।

नाक हमारे शरीर का एक खास और बड़ा महत्वपूर्ण अङ्ग है इसकी हर प्रकार से रक्षा करना हमारा परम धर्म है क्योंकि घर में जिसकी नाक ऊंची रहती है इतिहास कारों ने एवं विद्वानों ने उसकी पूरी-पूरी प्रशंसा की है अतः मनुष्य को कभी भी अपनी नाक नीची हो ऐसा मौका नहीं आने देना चाहिए। इतिहास इस बात का साक्षी है कि नाक कट जाने पर या नीची हो जाने पर या ऊंची हितार्थ लोगों ने अपने प्राणों की बाजी लगा दी थी। अतः इस महत्वपूर्ण अङ्ग जोकि मानव की सुन्दरता में चार चाँद लगा देना है उसकी रचना के बारे में जान लेना भी रोग के इलाज से अधिक आवश्यक है।

नासा रचना—

गन्ध ग्राहक इन्द्रिय को घ्राण और उसके अधिष्ठान भूत स्थूल अङ्ग को नासिका कहते हैं। इसके बाह्य और आभ्यन्तर दो भाग हैं। बाह्य भाग को अग्रिम भाग में त्वचा से आवृत्त मांसपेशी तथा पिछले भाग में अस्थि तथा तरुणास्थि के भाग रहते हैं। आभ्यन्तर भाग को नासा गुहा कहते हैं जो एक मध्य स्थित पर्दे के द्वारा दो भागों में विभक्त रहती है। यह पर्दा (Septum) अस्थि और तरुणास्थि से बना रहता है। और अस्थ्यावरण से आच्छादित रहता है। नासा की पार्श्व की दीवारों के भीतर की ओर तीन उभार होते हैं, जिन्हें क्रमशः अधः मध्य और ऊर्ध्व शुक्तिकायें (Conchae) कहते हैं। यह श्लेष्मिक कला से आवृत अस्थिमय रचनायें हैं। श्लेष्मिक कला के नीचे प्रहर्षण तन्तु (tissues) होते हैं। इन शुक्तिकाओं के बीच नासा पार्श्ववर्ती पोली अस्थियों ऊर्ध्व हन्वस्थि (maxillary), झरझरास्थि (Ethmoid) और जतूकास्थि (Sphenoid bones) के वायु विवरों (Air Sinuses) से सम्बद्ध अनेक छिद्र होते हैं, जिन्हें सुरङ्गा कहते हैं। इनके द्वारा पूर्वोक्त विवरों का स्राव नासिका द्वारा बाहर निकलता है एक सुरङ्गा (Duct) के द्वारा नासा गहा का सम्बन्ध नेत्र से भी रहता है। इस सुरंगा को नासा अश्रुवाही स्रोत (Nasolachrimal duct) कहते हैं। इसके द्वारा नासा रोगों का प्रभाव नेत्रों पर भी पड़ता है। यथा किसी तीक्ष्ण वस्तु की गंध से नेत्रों से भी स्राव निकलने लगता है, अथवा तीव्र प्रतिश्याय में अक्षि-गोलकों में भी पीड़ा होने लगती है। पीछे की ओर नासा-गुहा का सम्बन्ध गले (Pharynx) और उसके द्वारा श्वास-प्रणाली से होता है। नासिका की श्लेष्मिक कला के पृष्ठ पर जो कोषाणु होते हैं उनमें लोमवत अंकुर (कोषांकुर Cilla) होते हैं। यह अपनी अनुलोम गति से नासिका स्राव आदि त्याज्य भागों को बाहर निकालते हैं। और बाह्य असात्म्य पदार्थों को भीतर प्रविष्ट होने से रोकते हैं। इनकी विकृति या कार्य वैषम्य से अनेक विकारों की उत्पत्ति होती है।

नासिका का प्रधान कार्य गन्ध ग्रहण है, पर नासा का यह बाह्य भाग स्वयं गन्ध ग्राहक नहीं है। यह गन्ध ग्रहण में सहायता मात्र करता है। गन्धवाही परमाणुओं को एकत्रित करके यह नासा गुहा में फैले हुए घ्राण नाड़ी के अंगों तक पहुँचा देता है। इसके अतिरिक्त इसके निम्न कार्य और होते हैं—

१. छानना—नासिका के भीतर आगे की ओर बालों के होने के कारण वायुगत धूल आदि असात्म्य पदार्थ नहीं जाने पाते।

२. स्वर को ठीक रखना– नासिका विहीन व्यक्ति मिनमिन करके बोलते हैं।

३ फुफ्फुस में जाने वाली वायु को यह गरम और गीला करती है।

घ्राणेन्द्रिय—घ्राणनाड़ी तथा घ्राण केन्द्र को मुख्य घ्राणेन्द्रिय कहते हैं। घ्राण केन्द्र मस्तिष्क में अंकस (Uucus) नामक अवयव में रहता है। यही वास्तविक घ्राणेन्द्रिय है। प्रकृत में वाह्य नासिका के रोगों का ही वर्णन किया गया है। स्वभावतः या उपद्रव स्वरूप घ्राणेन्द्रिय में विकृति होने से गन्ध ज्ञान का सर्वथा अभाव अथवा विचित्र गन्धों की प्रतीति हो सकती है। मस्तिष्क में रस का केन्द्र घ्राण केन्द्र के समीप रहता है, अतः नासा रोग को उत्पन्न करने वाले दोष से स्वाद या रस केन्द्र के प्रभावित हो जाने से स्वाद भी विकृत या हीन हो जाता है। यही कारण है कि प्रतिश्याय में अत्यधिक सुस्वादु भोजन में भी किसी प्रकार का स्वाद अनुभव नहीं होता आदि। छींक एक शारीरिक वेग है उसे रोकना या छींक न आना या अधिक छींक आना ये सब जिस प्रकार शरीर का तापक्रम नार्मल होता है उस प्रकार ही रहना चाहिये, कम ज्यादा व्याधि स्वरूप है।

छींक लाने वाली औषधियां—नकछिकनी, जायफल, शुंठी तीक्ष्ण एवं कटु सब पदार्थ एवं पोटास परमेग्नेट (लाल दवा)आदि। ज्योतिष शास्त्रानुसार छींक विचार। कोई भी कार्य के समय सम्मुख तथा दाहिनी तरफ की छींक अशुभ, पीठ और वायें तरफ की शुभ। यात्रा समय में स्वयं की छींक बहुत अशुभ है। भोजन, शयन, दान, युद्ध, औषधि सेवन, अध्ययन व बीज बोने में स्वयं की छींक शुभ है। रोगी की छींक प्रभावहीन है।

क्षवथु नाशक योग (च० द०)

१. शुण्ठी, कुष्ठ, कणा, विल्व, द्राक्षा, कल्क कषायवत्।
साधितं तैल माज्यं वानस्यं क्षवपुट प्रणुत॥

सोंठ, पीपल, कूठ, विल्व छाल, और मुनक्का कल्क—५० ग्राम कषाय एक किलो के साथ तिल तैल २५० ग्राम अथवा २५० ग्राम गो घृत में सिद्ध करके प्रतिदिन नस्य लेने से क्षव (छिक्का) तथा 'पुट' नासा रोग नष्ट हो जाते हैं।

२. घृत, गूगल और मोम इनको मिलाकर यत्न पूर्वक धूएं से नस्य लेने से छींक और भ्रंशथु नष्ट होते हैं।

३. षटविन्दु तैल की नस्य से सर्व जत्रु रोगों का नाश होता है। आदि।

नासा रोगों में पथ्य—वायु रहित स्थान में रहना, सिर में दुपट्टा बांधना, औषधि गंडूष धारण, लंघन, धूम्रपान, वमन, फस्द खुलवाना, तथा नाक में कटु वस्तुओं का चूर्ण डालकर ऊपर को सूंघना, स्वेद, स्नेह, शिरोभ्यंग, पुराने जव, सांठी के चावल, कुल्थी और मूंग का जूष, ग्राम्य और जंगली पशु-पक्षियों का मांस रस एवं वैंगन, परवल, सहंजना, ककोड़ा, कच्ची मूली इनका साग तथा गरम जल, वारुणी, अम्ल व लवण रस वाले पदार्थ, स्निग्ध और लघु भोजन आदि करना लाभप्रद है।

नासा रोगों में अपथ्य—विरुद्धाहार, दिवाशयन, अभिष्यन्दी व भारी पदार्थों का सेवन, स्नान, क्रोध, वेगों का रोकना, तले खाद्य तथा पेय, भूमि शयन आदि नासा रोगों में वर्जनीय हैं।

—श्री कवि० डी पी० मालाकार आयुर्वेद रत्न, वैद्य विशारद,
जनपद आयु० औषधालय,
बुन्देली (पिथौरा) जिला रायपुर (म०प्र०)

पृष्ठ ३६१ का शेषांश

शीघ्र रोपण हेतु गंधक रसायन, आरोग्य वर्धनी, ताल भस्म इत्यादि आयु० औषधियां या शुल्ब और जीवाणुघ्न (Sulphonamides & Antibiotics) मार्गों का तथा रक्तस्राव रोकने के लिये प्रवाल पिष्टी, विटामिन सी, विटामिन के, पी, तथा कैल्सियम के योगों का व्यवहार मुखमार्ग से अथवा सूचीवेध से करना चाहिए। रोगी की बेचैनी, शिरःशूल को कम करने के लिये दर्द हर, शान्तिदायक औषधियों का भी आवश्यकता पड़ने पर प्रयोग किया जावे।

—श्री डा० अमरनाथ शर्मा
चमरौआ (रामपुर) उ०प्र०

विभिन्न प्रकार के नस्य एवं उनका प्रभाव

डा० हँसमुख सी० शाह एम० एस० ए० एम०

नस्य कई प्रकार के हैं। जिनकी सामान्य चर्चा करके सिर्फ 'शिरो विरेचन नस्य' के बारे में विशेष रूप से मैं अभी बताता हूँ। नस्य के शास्त्र में विविध रूप से कई भेद मिलते हैं। जिनमें—

(अ) कर्मानुसार भेद—

१. चरक में—रेचन (शोधन तथा शिरोविरेचन)। तर्पण (स्नेहन और वृंहण)। शमन (अवपीड़ और अपतर्पण)

२. सुश्रुत में—शिरोविरेचन और स्नेहन।

३. अष्टांग हृदय (वाग्भट्ट)—रेचन, वृंहण और शमन।

४. शार्ङ्गधर और भावप्रकाश में—

स्नेहन (वृंहण) और रेचन (शिरोविरेचन या कर्षण)।

आदि विविध रूप से नस्य के भेद बताये हैं। जिनमें सामान्य रूप से देखा जाय तो दोषों को बाहर निकालने के लिए रेचन-नस्य का तथा धातुओं की पुष्टि के लिए तर्पण नस्य का और दोषों को स्थल पर ही शान्त करने के लिए शमन-नस्य का प्रयोग किया जाता है।

(ब) प्रयोगानुसार भेद

१. चरक में—

- नस्य
  - नावन
    - स्नेहन
    - शोधन
  - अवपीड़न
    - रेचन
  - ध्मापन
    - शोधन
    - स्तम्भन
  - धूम
    - शमन (प्रायोगिक)
    - तर्पण
    - शोधन (वैरेचनिक)
  - प्रतिमर्श
    - स्नेहन

२. सुश्रुत में—

- नस्य
  - अवपीड़, प्रधमन → शिरोविरेचन
  - नस्य, प्रतिमर्श → स्नेहन

३. वाग्भट (अ० हृ०) में—

- नस्य
  - अवपीड़, ध्मापन → शिरो-विरेचन
  - मर्श, प्रतिमर्श → वृंहण-शमन
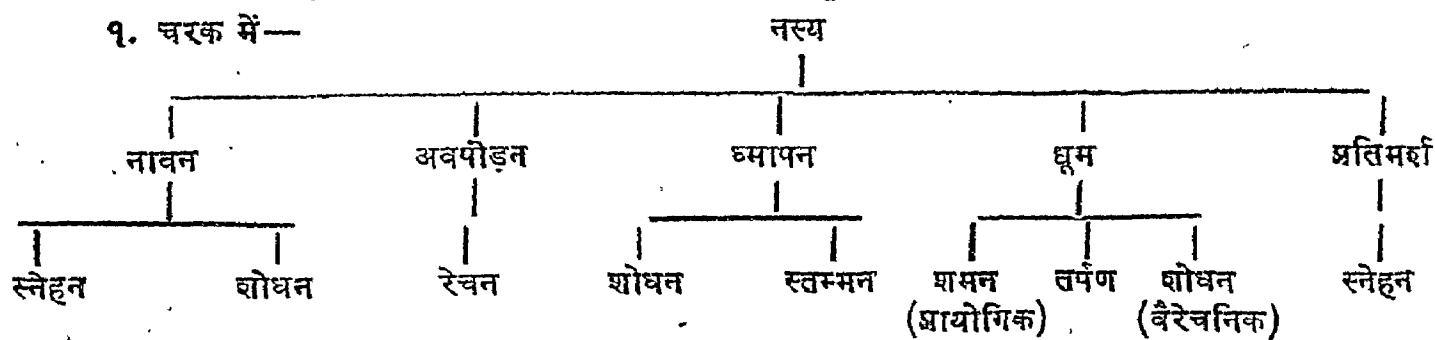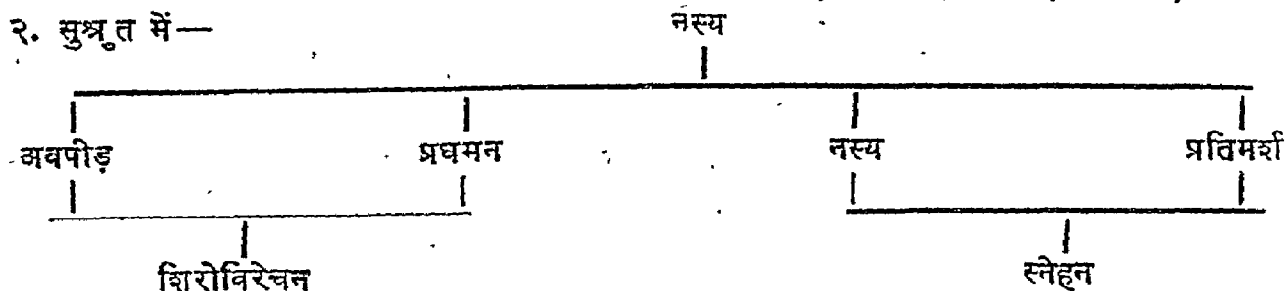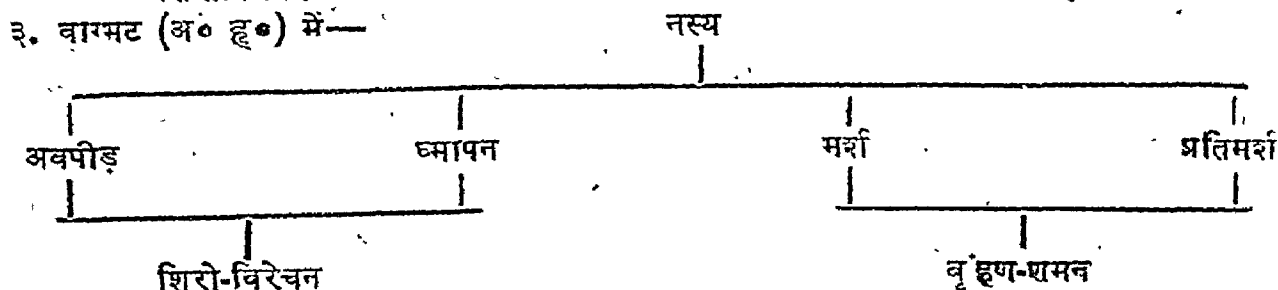
१. शोधन नस्य—जब रोगकारक ऐसे बहुत से दोषों का विपरूप रीति से प्रकोप होकर शिरोभाग में जाते हुए स्रोतों में वैगुण्य हो जाता है, तब उनके निर्हरणार्थ एवं दोष-शोधनार्थ यह नस्य दिया जाता है। मन्यास्तम्भ, शिरोग्रह, उन्माद, अपस्मार, अर्दित, अपतंत्रकादि तथा सन्निपातज मूर्छादि विकारों में यह नस्य शीघ्र प्रभावकारी है।

२. लेखन नस्य—लेखन कर्म करने को लेखन नस्य कहा जाता है। नासार्श तथा नासान्तर्गत मार्ग में होने वाले विकारों में यह नस्य दिया जाता है।

३. स्नेहन नस्य—वात के रूक्ष गुण की अधिकता से उसका व्याधियों में तथा शिर-संताप जैसे विकारों में शतपाकी क्षीरबला तैल, शतावरी घृत, गोघृतादि का स्नेहन नस्य देने से पर्याप्त लाभ होता है स्नेहन नस्य सिर्फ तर्पण करने की शक्ति दिखाता है। मर्श (तुरन्त और ज्यादा लाभ करने वाला) तथा प्रतिमर्श (दीर्घ कालान्तर लाभ करने वाला) यह दो रूप से स्नेहन नस्य दिया जाता है।

४. बृंहण नस्य—मस्तिष्क के बल की वृद्धि तथा नेत्र, कर्णादि इन्द्रियों की तृप्ति करना ही इसका प्रधान गुण है। अर्थात् जो नस्य शुद्ध वात विकारों में तथा व्यायामादि से उत्पन्न थकावटादि विकारों में दिया जाता है उसे बृंहण नस्य कहते है। जिनमें जीवन्त्यादि घृत, महालाक्षादि तैल, गोघृतादि विविध योगों का प्रयोग किया जाता है। जैसाकि वात तथा कफज विकारों में तैल का, स्वतन्त्र वातविकारों में वसा का तथा पित्त विकारों में घृत तथा मज्जा का ग्रहण करना चाहिए।

५. शमन नस्य—दोषों का शमन करना होने से उसे शमन नस्य कहा जाता है। (अ) कफप्रधान–शिर संताप, अपतंत्रकादि में शतपाकी धान्वन्तर तैल का, (ब) वात-कफ प्रधान शिरःसंताप, अर्दित, अपबाहुकादि में शतपाकी क्षीरबला तैल का प्रयोग, कार्पासास्थ्यादि तैल तथा बाह्यायाम अन्तरायाम, अर्दित, मन्यास्तम्भ, हनुस्तम्भादि वात विकारों में महाप्रसरिणी तैल, महानारायण तैलादि का प्रयोग किया जाता है।

६. रूक्षण नस्य—ऊर्ध्वजत्रुगत कफज विकारों में रूक्षण नस्य का प्रयोग कफ विरोधी गुण होने के कारण किया जाता है। जिनमें विविध स्वरस, चूर्णादि का प्रधमन और अवपीडन के रूप में प्रयोग होता है। यथा—मरिच चूर्ण, सुरसा स्वरस, भृंगराज स्वरस, वचा चूर्ण इत्यादि। ध्मापन नस्य का समावेश इसमें हो जाता है। धूम नस्य का भी इसमें समावेश किया जाता है।

७. संज्ञाबोधन नस्य—मूर्छा, अतिनिद्रा, तन्द्रा, अपस्मार, उन्मादादि मस्तिष्क विकारों में यह नस्य दिया जाता है। जिनमें भी स्वरस, कल्क, चूर्णादि कई औषधियों से भी उद्दीपन क्रिया पुनः चालू कराने में इनका उपयोग होता है। जिनमें तीक्ष्ण गुणयुक्त शुण्ठी चूर्ण का तथा कूष्माण्ड स्वरस का, वचा का नस्य दिया जाता है। केरल प्रदेश में ज्वर-संतापजन्य, मूर्छावस्था में क्षारलोहादि तैल का बहुत व्यवहार होता है।

८. स्तम्भन नस्य—कषाय और पिच्छिल गुणयुक्त औषध स्तम्भन करने के स्वभाव वाले होने के कारण रक्त-पित्त में शमन के रूप में यह नस्य दिया जाता है। यथा नारिकेलकुसुम को क्षीर में पीसकर नस्य दिया जाता है। केरल प्रान्त में योनिगत रक्तस्राव में भी इसका बहुत प्रयोग होता है।

९. शिरोविरेचन नस्य—

जिन स्नेहन औषधियों से मस्तिष्क को पोषण मिलता है तथा उनमें रहे हुए विकृत दोषों को गिराया (बाहर निकाला) जाता है उसे शिरोविरेचन नस्य कहा जाता है। अरुणदत्तजी की टीका के अनुसार देखा जाय तो केवल शिरः संज्ञा से शरीर के अवयवों में 'घ्राण् से (नासा से) ऊर्ध्व मल का निर्हरण करना उसे ही—शिरोविरेचन' मानना चाहिए। जैसे—वमन क्रिया से आमाशय के कफ विकार को, विरेचन से पित्त विकार को तथा वस्ति से वात विकारो का प्रशमन किया जाता है। ठीक उसी प्रकार ऊर्ध्वजत्रुगत विकारों के दोष निर्हरणार्थ स्वतन्त्र रूप से शिरो विरेचन की प्राधान्यता है। 'शीर्ष विरेचन' और मूर्धविरेचन' यह उसके पर्यायवाची है। इसकी पृथक आवश्यकता होने का कारण इस प्रकार हो सकते हैं। १. वमनादि संशोधन से सर्व शरीरगत् शोधक होने पर भी ऊर्ध्वजत्रुगत व्याधियों मे इससे बहुत अल्प लाभ होता है। २. दूसरा शिर शरीर का उत्तमांग है और उसकी

रचना भी शरीर के अन्य अवयवों के उपलक्ष्य में श्वास प्रकार से अलग ढङ्ग की बनायी गई है। ३. तीसरा कारण यह है कि शिर को शरीर का अति कोमल अवयव माना गया है। एक छोटा-सा आघात प्रत्याघात भी सिर में जाकर सबसे बड़ी व्याधि पैदा कर सकता है। यह तीन बातों को ध्यान में रखकर ही 'शिरोविरेचन' एवं नस्य चिकित्सा की पृथक रचना की गई है।

शिरो-विरेचन नस्य देने की विधि तथा उनका कार्य

मल-मूत्रादि वेग को सम्यक् रूप से निकाले हुये व्यक्ति को प्रथम मुंह-चेहरा-कर्ण-नासिकादि भागों पर मृदु स्नेहन और स्वेदन किया जाता है। पश्चात् आरामदायक अच्छे बिस्तरेयुक्त खाट पर उत्तान सुलाया जाता है। जिसमें शिर कुछ नीचे की ओर झुकाया रखना चाहिए। पश्चात नासिका अग्रभाग के कफादि को साफ कर चिकित्सक अपने स्वच्छ हस्तादि को भली प्रकार धुलकर नेत्र में दवा चलीं न जाय इस प्रकार अपने अंगुलि को स्नेह में डालकर उससे या कांच की ड्रोपर से तैल-घृत स्वरसादि का नस्य डाला जाता है। कफ विरेचनार्थ भोजन के पूर्व प्रातः काल ९ बजे तक, पित्त शमनार्थ ११ से १ बजे तक और वायु के शमनार्थ ४ से ५ बजे तक तथा ऋतुओं के अनुसार शरद एवं वसन्त ऋतुओं में पूर्वाह्नकाल, हेमन्त एवं शिशिर में मध्याह्नकाल तथा ग्रीष्म एवं वर्षा ऋतु में सायंकाल में क्रमशः अष्ट, छः और चार बिन्दु तक की मात्रा में रुग्ण के बल, व्याधि, देश, ऋतु और काल आदि का योग्य विचार कर शिरोविरेचन नस्य देना चाहिए।

प्रथम किया हुआ अल्प स्नेहन-स्वेदन से नासास्रोत में रहे हुए दोषों की अभिप्रवृत्ति होती है और स्थानिक दवाव न्यून हो जाता है। परिणामतः मस्तिष्क से द्रव आकृष्ट होकर नासास्रोत में आकर बाहर निकल जाता है। सिराजालों में रहा हुआ 'सेरिब्रोस्पाईनल-फल्युईड' (तर्पण कफ) आसानी से बाहर निकलता है। जैसे कामला में देवदाली चूर्ण का 'प्रधमन नस्य' देने से पित्तावर्ण का जो स्राव होता है वह यकृत् में स्थित रंजक पित्त के वर्ण सदृश ही होता है।

शिरोविरेचन द्रव्य—अपामार्ग, पिप्पली, मरिच, वायविडंग, सहिजन, शिरीष, धनिया, जीरा, अजमोद, इलायची, पुदीना, तुलसी, भृङ्गराज, मूली, लहसुन, अरणी, सर्षप, वचा, ज्योतिष्मति, जायफलादि पचहत्तर जिनमें वानस्पतिक द्रव्यों में फल, पत्र, मूल, कन्द, पुष्प, गोंद, छालादि सामभेद से शिरोविरेचन द्रव्यों का चिकित्सार्थ प्रयोग किया जाता है।

नस्य के गुण—विरेचन सदृश, उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायी और विकासी गुण युक्त होते हैं।

नस्य के अनधिकारी—(१) अधिक भोजन किया हुआ, (२) उपवासी (३) नूतन तीक्ष्ण प्रतिश्यायवाला, (४) सगर्भा, (५) शिर का वेधकर रक्तस्राव कराया हो, (६) तृषातुर, (७) शोकातुर, (८) मद्यपायी, (९) अत्यन्त वृद्ध, (१०) ७ वर्ष से छोटी आयु वाला बालक (११) मल-मूत्रादि वेगों को रोका गया हो—ये सबको नस्य देने से अन्य विकार होते हैं।

हीन अतियोग नस्य के लक्षण एवं उनकी चिकित्सा—

हीन योग से मस्तिष्क में खुजली, भारीपन, कफज का संचयादि पैदा होता है। जिनमें योग्य मात्रा में स्नेहन नस्य देना तथा अतियोग हो जावे पर वात प्रकोप, चक्कर, मगज में से वसा मांसादि का स्राव मस्तिष्क शून्यादि लक्षणों की प्रतीति होती है। ऐसी अवस्था में पुनः वातादि दोषशामक औषधियों तथा वमन विरेचनादि का प्रयोग करना चाहिए।

सम्यक् नस्य से लाभ —

१. उर्ध्वजत्रुगत विकारों का शमन, २. इन्द्रियों की बलवृद्धि तथा स्वच्छता, ३. मुख में माधुर्यता एवं सुगन्धि, ४. त्वचा दृढ़ एवं स्निग्धतायुक्त, ५. सिर के केश का कालापन, ६. सर्वांग में स्फूर्ति, ७. शरीर में लघुता, ८. मल-मूत्रादि का ठीक रूप से निर्हरण, ९. स्रोतस एवं नाड़ियों की व्याधियों का ठीक रूप से प्रशमन होता है।

नस्य लेने वाले व्यक्ति का कर्तव्य—नस्य लेते समय सिर को हिलाना नहीं, क्रोध न करना, बोलना नहीं, क्षवथु नहीं, हँसना नहीं, ऐसी क्रियाओं के करने से नस्य द्रव्य बाहर निकल जाता है। अतः पर्याप्त लाभ नहीं होगा। नस्यौषधि के बाद एक से दस तक की संख्या गिनने तक आराम से लेटे रहना, औषधि सिर में लेने का प्रयत्न

—शेषांश पृष्ठ ३७६ पर

लगभग ८० वर्षीय जैन साहब फीरोजपुर, अजमेर, सुजानगढ़, इन्दौर, उदयपुर, अशोक नगर, रावलपिण्डी, दमोह के जैन औषधालयों एवं इटारसी के म्युनिस्पल आयुर्वेदिक औषधालयों में प्रधान वैद्य के पदों पर रह कर सन् १९४४ तक कार्य कर चुके हैं। उसके पश्चात् आप स्वयं के चिकित्सालय का संचालन कर रहे हैं। आप अनेकों अभिनन्दन एवं स्वर्ण पदक प्राप्त कर चुके हैं। "धन्वन्तरि" में आपके लेख प्रायः प्रकाशित होते रहते हैं। आपके लेखों में आयुर्वेद के मूल सिद्धान्तों का प्रतिपादन होता है। इसी प्रकार इस लेख में भी आपने धूमोपयोग पर लेखनी उठायी है। यह "धूम" विज्ञान उस समय का है जबकि आजकल के धूम्रपान की उस समय कोई कल्पना भी नहीं रही होगी। उस समय 'धूमोपयोग' शौकिया या फैशन के रूप में नहीं अपितु रोग हरणार्थ किया जाता था। आशा है, कि पाठक इससे लाभान्वित होंगे। भगवान से प्रार्थना है कि आप शतायु हों।

—दाऊदयाल गर्ग
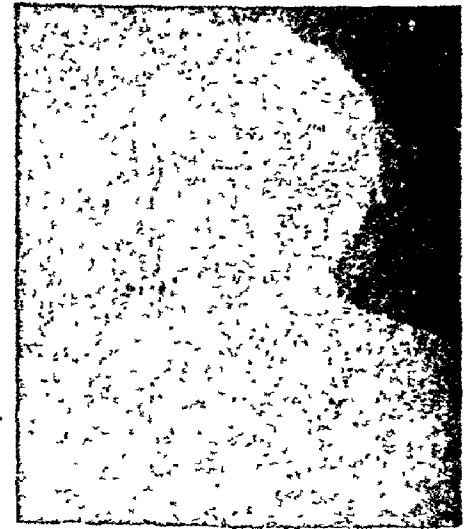
आयुर्वेद शास्त्र में धूम्रपान का विधिपूर्वक सांगोपांग विवेचन किया गया है। वर्तमान में यद्यपि धूम्रपान का प्रयोग व्यसन के रूप में बहुत अधिक प्रचलित हो गया है और आधुनिक तथाकथित सभ्यता का यह एक अनुकरणीय आदर्श समझा जाता है। किन्तु आयुर्वेद में प्रतिपादित यह धूम्रपान और उसका प्रयोग वर्तमान में प्रचलित धूम्रपान से सर्वथा भिन्न और स्वास्थ्य के लिए उपयोगी होता है। आयुर्वेद शास्त्र में सामान्यतः दो प्रकार का धूम्रपान प्रतिपादित है—एक तो स्वस्थ पुरुषों के लिए दैनिक उपयोग की दृष्टि से सामान्य धूम्रपान और दूसरा विभिन्न ऊर्ध्वजत्रुगत विकारों में विकारोपशमन की दृष्टि से प्रयुक्त किया जाने वाला धूम्रपान। दूसरे प्रकार का धूम्रपान रोगानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार का हो सकता है। जैसे शिरो रोग के लिए प्रयुक्त धूम्रपान कण्ठरोग में प्रयुक्त धूम्रपान से भिन्न होगा। इसी प्रकार अन्य विकारों में भी समझना चाहिए।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आयुर्वेद शास्त्र में सामान्यतः धूम्रपान की सम्पूर्ण विधि का वर्णन दिनचर्या प्रकरण में किया गया है, जिससे स्वास्थ्य के लिए धूम्रपान की उपयोगिता स्वतः सिद्ध होती है। विभिन्न रोगों के प्रकरण में धूम्रपान के प्रयोग का जो उल्लेख मिलता है वहां केवल धूम्रपान के लिए प्रयुक्त होने वाले तथा उस रोग का शमन करने वाले औषधि द्रव्यों का ही निर्देश किया गया है। किन्तु धूम्रपान की समस्त विधि का वर्णन दिनचर्या प्रकरण

में ही किया गया है। दिनचर्या प्रकरण मे धूम्रपान की वर्ति का निर्माण करने के लिए विविध प्रकार के सुगन्धित द्रव्यों का उल्लेख किया गया है जो स्वास्थ्य के लिए हितकारी होते हैं।

दिनचर्या के अन्तर्गत धूम्रपान के प्रकरण में धूमोपयोग को सामान्यतः स्वास्थ्य के लिए उपयोगी बतलाते हुए इस का भी उल्लेख किया गया है कि किन व्यक्तियों को धूम्रपान का सेवन नहीं करना चाहिये। इसके अतिरिक्त धूम्रपान सम्बन्धी निम्न निर्देशों का भी उल्लेख मिलता है।

१. धूम्रपान के लिए प्रयोग की जाने वाली वर्ति का निर्माण कैसे किया जाता है?

२. धूम्रपान वर्ति का आकार कैसा एवं परिमाण कितना होना चाहिए।

३. धूम्रपान का सेवन कैसे किया जाना चाहिये।

४. अधिक मात्रा में धूम्रपान का सेवन करने से होने वाली हानियां।

५. असमय में धूम्रपान के सेवन का निषेध।

६. असमय में धूम्रपान का सेवन करने से उत्पन्न होने वाले विविध विकार।

स्वस्थ व्यक्ति के लिए धूम्रपानोपयोगी द्रव्य और निर्माण विधि

धूम्रपान के लिए एक स्वस्थ व्यक्ति को किन-किन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए तथा उन द्रव्यों से धूम्रपान के लिए प्रयुक्त होने वाली वर्ति का निर्माण किस प्रकार एवं किस प्रमाणानुसार किया जाना चाहिए—इसका सांगोपाग वर्णन महर्षि चरक ने बड़ी स्पष्टता से किया है। एक स्वस्थ व्यक्ति के लिए धूम्रपान के प्रयोगार्थ वर्ति के निर्माण में सामान्यतः निम्न द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए—हरेणुका, प्रियंग, काला जीरा केशर, नखी, सुगन्ध बाला, चन्दन, तेजपात, दालचीनी, इलायची, खस, पद्माख, गन्धतृण, मुलैठी, जटामांसी, गूगल, अगर, शर्करा बरगद, गूलर, पीपल, पाकर और लोध इन पांचों वृक्षों की छाल, केवटीमोथा, राल, नागरमोथा, छड़ीला, कमल, नीलकमल, गन्ध विरोजा और कुन्दक इन समस्त द्रव्यों को कूटपीस कर (आर्द्रावस्था में) एक सरकण्डे के ऊपर लपेटकर जौ के आकार की (बीच में मोटी और दोनों सिरों पर पतली), अंगूठे के बराबर मोटी, आठ अंगुल लम्बी वर्ति बनानी चाहिए। उसके बाद उसे छाया में सुखा लेना चाहिए। वर्ति के सूख जाने पर उसके बीच में लगी हुई सींक निकाल कर उसे घृत या तैल किसी स्नेह से लिप्त कर लेना चाहिए। तत्पश्चात् वर्ति के सिरे का एक भाग धूम्रनेत्र (सिगरेट होल्डर) में लगाकर दूसरे सिरे को अग्नि से प्रज्वलित कर इस सुखकारी प्रायोगिक धूम्र का सेवन करना चाहिए। इस प्रकार विविध सुगन्धित द्रव्यों के संयोग से विधिपूर्वक धूम्रपान वर्ति का निर्माण कर विधिपूर्वक ही उसका सेवन करना चाहिए।

धूम्रपान सेवन विधि

धूम्र पीने योग्य पुरुष सीधे आसन से बैठकर अपने अङ्ग प्रत्यंग विशेषतः नेत्रों को सीधा रखकर मुख और ओष्ठ को खोलकर धूम्रनेत्र के अग्रभाग में दृष्टि स्थिर रख कर धूम्रपान का सेवन करें। शिर, नासिका एवं नेत्र भाग में दोष स्थित होने पर धूम्रपान के योग्य पुरुष को नासिका द्वारा धूम्रपान करना चाहिये। नासिका द्वारा धूम्रपान करने पर मुख द्वारा धुआं निकालना चाहिये तथा मुख द्वारा धूम्रपान करने पर भी मुख द्वारा ही धुआं निकालना चाहिए। नासिका द्वारा धुआं कभी नहीं निकालना चाहिये। किसी भी अवस्था में नासिका द्वारा धुआं निकालने पर दृष्टि को हानि पहुंचती है।

धूम्रपान का योग, अयोग एवं अतियोग

शास्त्रों में धूम्रपान का विधान स्वास्थ्य साधन के लिए निर्देशित किया गया है। विधिपूर्वक धूम्रपान का सेवन करने के उपरान्त शरीर पर उसका सुखाकारी प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। कई बार धूम्रपान का सेवन अधिक मात्रा में कर जाता है और कई बार धूम्रपान का प्रयोग यथोचित रूप से नहीं हो पाता। जिससे शरीर में विकार जनित अनेक लक्षणों की अनुभूति होती है। सम्यक् प्रकार से सेवित धूम्रपान स्वास्थ्य के लिए सर्वथा हितकारी होता है। उसके भी कुछ विशिष्ट लक्षण शरीर में उत्पन्न होते हैं जो सर्वथा सुखानुभूति के द्योतक होते हैं। इस प्रकार विधिपूर्वक सम्यक्तया सेवित धूम्रपान का ही धूम्रपान का सम्यक् योग, यथोचित रूप से धूम्रपान का सेवन नहीं करना धूम्रपान का अयोग और अधिक मात्रा धूम्रपान का सेवन करना धूम्रपान का अतियोग कहलाता है। शास्त्रों में इसका भी विचार किया गया है और तीनों

ही (सम्यक् योग, अयोग और अतियोग) से उत्पन्न होने वाले विविध लक्षणों का उल्लेख किया गया है।

धूम्रपान सेवन करने के उपरान्त धूम्रपान का सम्यक् योग होने पर शरीर में निम्न लक्षणों की अनुभूति होती है—

यदा चोरश्चकण्ठश्च शिरश्च लघुतां व्रजेत् ।
कफश्चतनुतां प्राप्तः सुपीतं धूम्रमादिशेत् ।
—चरक संहिता, सूत्र स्थान अ०

अर्थात् जब छाती, कण्ठ और शिर में लघुता हो, कफ ढीला हो जाय तो उसे धूम्रपान का सम्यक् योग समझना चाहिये।

धूम्रपान का सेवन जब भली भांति नही किया जाता अथवा शरीर पर उसका समुचित एवं पर्याप्त प्रभाव नही पड़ पाता तो अयोग जनित निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं—

अविशुद्धो स्वरो यस्य कण्ठश्च सकफो भवेत् ।
स्तिमितो मस्तकश्चैवमपीतं धूम्रमादिशेत् ॥
—चरक संहिता, सूत्रस्थान

अर्थात् जिसका स्वर साफ न हो, कण्ठ कफ से परिपूर्ण हो और मस्तक जकड़ गया हो उसे अति धूम्रपान अथवा धूम्र पान का अयोग समझना चाहिये।

अधिक मात्रा मे धूम्रपान का सेवन करने पर अथवा धूम्रपान का अतियोग होने पर शरीर में विकार रूप निम्न लक्षण उत्पन्न होते है—

तालु मूर्धा च कण्ठश्च शुष्यते परितप्यते ।
तृष्यते मुह्यते जन्तु रक्तं च स्रवतेऽधिकम् ॥
शिरश्च भ्रमतेऽत्यर्थं मूर्च्छा चास्योपजायते ।
इन्द्रियाण्युपतप्यन्ते धूमेऽत्यर्थं निषेविते ॥

अर्थात् अधिक मात्रा मे धूम्रपान का सेवन होने पर तालु, शिर और कण्ठ सूख जाते है। दाह होता है, प्यास अधिक लगती है, वह बार-बार मोहित हो जाता है, रक्तस्राव होने लगता है, शिर घूमने लगता है, मूर्च्छा आ जाती है और इन्द्रियां संतप्त हो जाती है।

धूम्रपान सेवन से लाभ

नियमानुसार शास्त्रोक्त विधिपूर्वक धूम्रपान का सेवन करने से अनेक लाभ होते हैं। नियमानुसार धूम्रपान का सेवन स्वास्थ्य के लिये उपयोगी एवं हितकारी होता है। विधिवत् धूम्रपान का सेवन करने से नाक, कान, मुख, नासिका और शिर सम्बन्धी रोगों के होने की सम्भावना नहीं रहती। शास्त्रोक्त धूम्रपान का नियमित सेवन अनेक रोगों से मुक्त करा देता है। महर्षि चरक के अनुसार धूम्रपान का सेवन करने से निम्न लाभ होते हैं—

गौरवं शिरसः शूलं पीनसार्धावभेदकौ ॥
कर्णाक्षिशूलं कासश्च हिक्काश्वासौ गलग्रहः ।
दन्तदौर्बल्यमास्रावः श्रोत्रघ्राणाक्षिदोषजः ॥
पूतिर्घ्राणास्यगन्धश्च दन्तशूलमरोचकः ।
हनुमन्याग्रहः कण्डूः क्रिमयः पाण्डुता मुखे ॥
श्लेष्म प्रसेको वैस्वर्यं गलशुण्ड्युपजिह्विका ।
खालित्यं पिञ्जरत्वं च केशानां पतनं तथा ॥
क्षवथुश्चातितन्द्रा च बुद्धेर्मोहोऽतिनिद्रता ।
धूमपानात् प्रशाम्यन्ति बलं भवति चाधिकम् ॥
—चरक संहिता, सूत्रस्थान ५।२७-३१

अर्थात् शिर का भारीपन, शिर:शूल, पीनस (जुकाम), अर्धावभेदक (आधा शीशी), कान और आंख का दुखना, खांसी, हिचकी, श्वास (दमा), गलग्रह, दांतों की दुर्बलता, कान, नासिका और आंखों से दोष जनित स्राव होना, पूतिघ्राण (नाक से दुर्गन्ध निकलना) आस्यगन्ध (मुख से दुर्गन्ध निकलना), दन्तशूल, अरोचक, हनुग्रह, मन्याग्रह, कण्डू, कृमि रोग, पाण्डु, मुख का पीलापन, मुख से कफ का स्राव होना, विकृत स्वर होना, गलशुण्डी, उपजिह्विका, बालों का सफेद होना, पीला होना तथा गिरना, छींक आना, अधिक आलस्य होना, ज्ञानेन्द्रियों का व्यामोह होना, अधिक निद्रा आना आदि विकार धूम्रपान का सेवन करने से प्रशान्त होते है और अधिक बल की वृद्धि होती है।

यहां धूम्रपान के सेवन से जिन रोगों का शमन बतलाया गया है वे सभी रोग ऊर्ध्वजत्रुगत हैं। इसके अतिरिक्त अन्य ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों में भी जो वात कफ प्रधान होते हैं धूम्रपान का प्रयोग करने से समुचित लाभ होता है। अनेक ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों में धूम्रवर्ति के निर्माण के लिये अन्य द्रव्यों का भी निर्देश किया गया है। उन्हें प्रसंगानुसार वहीं देखना चाहिए। प्रस्तुत धूम्रवर्ति का प्रयोग स्वस्थ व्यक्ति के लिये तथा उपर्युक्त रोगों से पीड़ित व्यक्ति के लिए करना चाहिए। इसके प्रयोग में शास्त्रोक विधि का पालन आवश्यक है।

—वैद्यराज श्री पं० सुन्दरलाल जैन अध्यक्ष
तिलक आयुर्वेद फार्मेसी, इटारसी (म०प्र०)

नासिका रोगों की होमियो चिकित्सा

श्री डा० बनारसीदास दीक्षित होमियो रत्न

नासिका अर्बुद (Nasal Ploypus)—

थूजा I M, 10M, 50M, CM—नाक के मांसार्बुद के लिए थूजा सर्वोत्तम दवा है जबकि इसके लक्षणों का सादृश्य होता है। हमने कई रोगियों की नाक का अर्बुद (नाक में मांस बढ़ना) थूजा C.M. शक्ति की १-२ खुराक देकर आरोग्य किया है। कई रोगियों को थूजा ३० शक्ति ६ घण्टा के अन्तर से दिया गया और थूजा (मदर टिंचर) लगाया गया और वह आरोग्य हो गये।
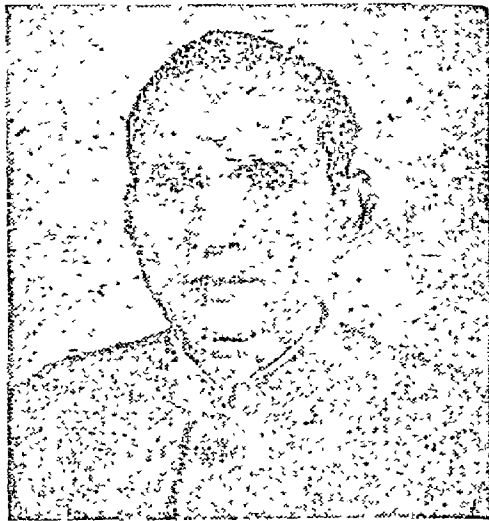
फार्मिका रूफा ३ × ६, ३०—इस दवा के प्रयोग से भी अनेकों रोगी ठीक हुए हैं पर मैंने इसका प्रयोग करके नहीं देखा है।

सोरीनम २००, १०००—पुराने रोगियों को नाक से स्राव रहने पर एवं चर्म रोग का इतिहास पाया जाय तो चिकित्सा काल में बीच-बीच में इसकी १-२ खुराक देने से निर्वाचित दवा का सत्वर प्रभाव होता है।

फासफोरस ३०,२००—सहज में ही नाक से रक्तस्राव होता हो एवं हरे या पीले रंग का श्लेष्मा निकलता हो तब देना चाहिये।

कल्केरिया कार्ब या फास ३०, २००, १०००—कल्केरिया कार्ब या कल्केरिया फास की प्रकृति होने पर इसकी उच्च शक्ति से बहुत लाभ होता है। ५ वर्ष पूर्व एक २५ वर्षीय युवती का अर्बुद इसी दवा से आरोग्य किया था।

पीनस (Ozaena)—

कैडमियम सल्फ ३ ×—नकसीर, नाक जड़ रुकी हुई सी मालूम होना, नाक बन्द रहती है।

लूटिकाम २००—रात में सोते समय १ खुराक लेना चाहिये।

आरममेट ६,३०—नाक लाल वर्ण स्फीत और दर्द युक्त, नाक में गरम और दर्द, पीले रंग का पूय स्राव, सिफलिस दोषयुक्त रोगी की नाक के अस्थिक्षय में लाभप्रद है।

केलीबाईक्रोम ६,३०—नाक से पतला स्राव, दर्द, पूयस्राव, रक्तयुक्त स्राव, स्राव रस्सी की तरह बढ़ता है।

एसिड नाइट्रिक ३००,२००

—होमियो रत्न श्री डा० बनारसीदास दीक्षित
दीक्षित मैडीकल स्टोर्स, रक्सौल (चम्पारण) बिहार

❋❋❋❋

नासागत शल्य एवं अपकर्षण

कुमारी सुमनबाला मित्तल

प्राय: बच्चों की नाक में शल्य अर्थात् बाह्य पदार्थ पाये जाते हैं, जो बहुधा निम्न विभिन्न प्रकार के होते हैं—

१. छोटे-छोटे कंकर या पत्थर के टुकड़े।

२. विविध प्रकार के दाने, यथा मटर, चना, मकई

३. माला के दाने अथवा छोटे छोटे अन्य खिलौनों के टुकड़े जिनसे बच्चे खेलते रहते हैं।

इन पदार्थों को खेलते समय बच्चे अपने नाक में घुसेड़ लेते हैं जो प्राय: नासा के अधोभाग (Inferior Meatus) में पाये जाते हैं।

लक्षण—

१. बच्चे का एक तरफ का नाक प्राय: बन्द रहता है। (जिस ओर शल्य पड़ा हो)।

२. उस ओर के नासारन्ध्र से स्राव होता रहता है।

३. यदि किसी बच्चे में नासा से पूययुक्त स्राव जाता हो तो यह शल्य का निश्चयात्मक लक्षण है।

अपकर्षण—

शल्य का अपकर्षण प्राय: पतली नासा संदंश अथवा हुक द्वारा बड़ी सुविधापूर्वक किया जा सकता है। परन्तु यदि बच्चा सहयोग न करे अथवा हिलता जुलता रहे तो बच्चे को बेहोश भी करना पड़ता है जिसके लिए पैन्टोथल सोडियम का शिरागत सूचिवेध अथवा सार्वदैहिक संज्ञाहरण का प्रयोग करना पड़ जाता है। अपकर्षण करते समय यह विशेष ध्यान रखना चाहिये कि शल्य कहीं गले में न धकेला जाये, जिससे कि यह श्वास नली में जाकर श्वासावरोध उत्पन्न कर दे। इस सम्भावना को रोकने के लिए नासा के पिछले भाग में (Nasopharynx) पर एक अंगुली दवाकर रख दें तथा दूसरी से शल्य को टटोल कर निकालना चाहिए।

युवा लोगों में शल्य आमतौर पर Calcium deposits या गॉज़ के टुकड़े जो कि रक्तपित्त को रोकने के लिए प्रयोग किये जाते हैं पाये जाते हैं। यदि यह पदार्थ नासा में काफी समय तक पड़े रहें तो नासा की श्लैष्मिक
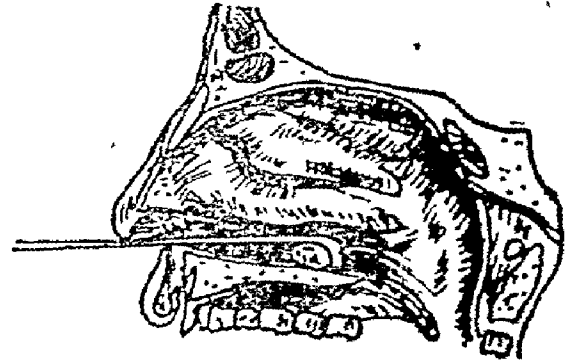
कला सिकुड़ (Atrophy) जाती है। ऐसी दशा में नासा-शल्य का अपकर्षण करने के पश्चात् कुछ दिन तक हुस करना चाहिये।

—कुमारी सुमनबाला बी०ए०एम०एस०
महिला आयुर्वेदिक डिग्री कालेज, खानपुर

पृष्ठ ३७१ का शेषांश

करना, यदि थोड़ी सी औषधि कण्ठ में जाय और स्वर-भङ्गादि लक्षण होवें तो उष्ण जल में थोड़ा सा नमक डाल कर उससे कवल करने से सब ठीक हो जाता है।

आधुनिक नस्य—आधुनिक एवं पाश्चात्य डाक्टरी विज्ञान में भी नेज़ल-ड्रोप्सादि दिया जाता है। जैसे—१. इन्फ्लुएन्जा में मैन्थौल २॥ ग्रेन और लोबान का अर्क १ ड्राम को १० छटांक उबलते हुए जल में डालकर उसका वाष्प देते हैं। २. क्षय रोग में क्रियासोल्ट १० बूंद+एसिड कार्बोलिक १० बूंद+टिंचर आयोडीन ५ बूंद+स्प्रिट ५ बूंद+स्प्रिट क्लोरोफार्म १० बूंद+गरम उबलता हुआ जल २० औंस का वाष्प दिया जाता है।

—डा० श्री हंसमुख सी० शाह एम० एस० ए० एम०
म० अ० ह० आयु० हास्पीटल, अहमदाबाद

ऊर्ध्वजत्रु रोगाङ्क
मुख एवं दन्त रोग
प्रकरण
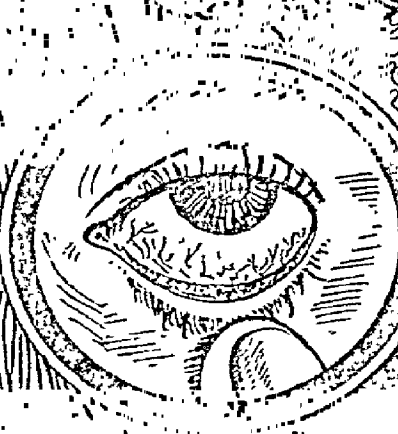
श्री शर्मा जी आयुर्वेद के उद्‌भट विद्वान हैं। 'धन्वन्तरि' में आपके लेख सदैव प्रकाशित होते रहे हैं तथा पसन्द किये जाते रहे हैं। अभी कुछ दिन पूर्व ही आपने "आयुर्वेद वारिधि" उपाधि प्राप्त की है। प्रस्तुत लेख में आपने जिह्वा की रचना का वर्णन करके उससे स्वाद का ज्ञान किस प्रकार से होता है यह सरल भाषा में समझाया है। आशा है कि 'धन्वन्तरि' के पाठक इससे लाभान्वित होंगे।

— दाऊदयाल गर्ग सम्पादक—'धन्वन्तरि'
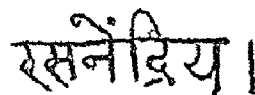
आयुर्वेद दृष्टया जिह्वा ज्ञानेन्द्रिय है और कर्मेन्द्रिय भी। रस (Taste) का ज्ञान इसके द्वारा होता है अतः यह ज्ञानेन्द्रिय है किन्तु वाक् अर्थात् वाणी (Speech) का साधन होने से कर्मेन्द्रिय में भी इसकी गणना है। देखने में यह एक मांस का लोथड़ा सा ही अंग है जिसका अग्रभाग पतला और मूल (Root) चौड़ी होती है। जिन मांसपेशियों द्वारा इसकी रचना हुई है उनमें फैलने और सिकुड़ने की अद्भुत क्षमता है, तभी तो इच्छानुसार इसे इधर-उधर घुमाया जा सकता है, आगे पीछे किया जा सकता है। यही नहीं आवश्यकतानुसार इसे लम्बी, चौड़ी या बड़ी, छोटी भी कर सकते हैं। इसकी सभी पेशियां ऐच्छिक हैं और जिह्वा के नीचे फैली हुई जिह्वा-मूलिनी नाड़ी (Hypoglossal Nerve) द्वारा इसका नियन्त्रण और संचालन होता है। जिह्वा पेशियों के मध्य धमनियों, शिराओं और नाड़ियों का जाल होता है जिनके द्वारा पोषण होता है। जिह्वा-मूल पिछली ओर को झुकी रहती है, और दो मांसपेशियों

तथा एक कला द्वारा कण्ठास्थि (Hyloid Bone) से जुड़ी रहती है। जिह्वा का अग्रभाग किसी उपांग से जुड़ा हुआ नहीं रहता, और न जिह्वा के किनारे व जिह्वा का ऊपरी भाग ही किसी अङ्ग से जुड़ा रहता है।

जिह्वा को हम इच्छानुसार घुमा फिरा सकते हैं, इसीलिये यह भोजन के कौर को इधर-उधर करने में सहायता करती है, जिससे भोजन को दांतों और दाढ़ों से अच्छी प्रकार चबाया जा सकता है। इसके इस ऐच्छिक गतिशीलता के गुण के कारण ही हम यथावश्यक रूप में जिह्वा को घुमा फिरा कर शब्दों के सही उच्चारण में
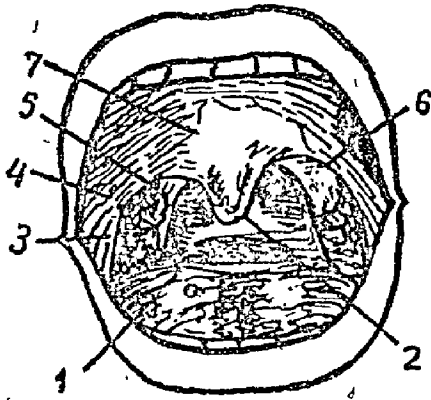
मुख के अन्दर का दृश्य (मुख गुहा एवं ग्रसनिका)
१. ग्रसनिका पश्चात् भित्ति २. गल शुण्डिका
३. टान्सिल
४. ५. ६. टांसिल के अग्र एवं पश्चात् स्तम्भ
७. मृदु तालु

समर्थ होते हैं। इसीलिये जिह्वा की जन्मजात या पारवर्ती विकृति (Defect) की स्थिति में मनुष्य गूंगा, हकला या तोतला हो सकता है अथवा उसे आहार के खाने, पीने, चूसने, चाटने आदि में दिक्कत हो सकती है। यही नहीं भोज्य द्रव्य के मधुर, लवण, अम्लादि रसों (स्वादों) का ज्ञान भी हमें जिह्वा द्वारा ही होता है। यह कार्य जिह्वा पर स्थित स्वाद के अंकुरों द्वारा सम्पादित होता है।

जिह्वा पर स्थित स्वाद के अंकुर

जिह्वा मांसपेशियों से बनी हुई है और उस पर एक श्लैष्मिक कला (Mucous Membrane) अर्थात् झिल्ली चढ़ी होती है। यह कला नीचे की सतह पर चिकनी होती है और ऊपर की ओर खुरदरी। जिह्वा की ऊपरी सतह खुरदरी होने का कारण उस पर स्थित वे छोटे-छोटे उभार (अंकुर) होते हैं जो स्वाद ग्रहण करते हैं। यह उभार (अंकुर) सौत्रिक तन्तु, नाड़ी सूत्र और रक्त केशिकाओं के समुदाय से बने होते हैं तथा निम्नवत् केवल चार प्रकार के होते हैं—

१. खाई वाले उभार (खात वेष्ठित अंकुर)—यह आठ दस या बारह बड़े-बड़े उभार जिनमें से प्रत्येक के चारों ओर एक खाई या नाली सी होती है, जिह्वा के पिछले भाग (जिह्वामूल) पर दिखाई देते हैं। इन उभारों के अन्दर खाइयों की दीवारों में दबे हुए अनेक छोटे-छोटे सेल-समूह होते हैं जिन्हें स्वाद कोष (Taste Buds) कहते हैं। यही स्वादकोष स्वाद की अनुभूति कराते हैं। कड़ुवा (Bitter taste) इन्हीं उभारों के कारण जिह्वा के पिछले भाग पर अधिक अनुभव होता है। जिह्वा के अग्र २/३ व पृष्ठ १/३ के मिलने के स्थान पर यह आंग्ल अक्षर "V" के उल्टे आकार ('Λ") के रूप में पंक्तिबद्ध होते हैं। हिन्दी में इन्हें खातवेष्टित, परिवृत्त या दीपाकार स्वादांकुर तथा अंग्रेजी में पपिला वैलेटा कहते हैं।

२. खुम्बवीत् उभार (छत्रिकांकुर)—यह उक्त स्वादांकुरों से संख्या में अधिक, मध्यम आकार के गोल तथा रक्तवर्ण के जिह्वा की नोंक और दोनों किनारों पर अधिक होते हैं, मध्य भाग में बहुत कम होते हैं। इसीलिए जिह्वा के मध्य भाग में स्वादानुभव बहुत कम होता है। जिह्वा की नोंक से ऊपर मीठा रस (Sweet taste) और किनारों पर खट्टा रस (Sour taste) अधिकतर ज्ञात होता है। इन्हें छत्रिकांकुर, कवकी या शिलीरन्ध्राकार स्वादांकुर तथा आंग्ल भाषा में Papillae fungiformes (पैपिला फगीफार्मेस) कहते हैं। स्मरण रहे लवण रस का अनुभव जिह्वा की नोंक के अगले भाग पर विशेष होता है।

३. डोरे की तरह के उभार—लम्बे-लम्बे नुकीले बारीक-बारीक यह उभार बहुत अधिक संख्या में जिह्वा की पूरी सतह पर फैले हुए होते हैं। मांसाहारी पशुओं (शेर, कुत्ते, बिल्ली इत्यादि) में यह उभार अधिक सख्त होते हैं। प्रायः यह समानान्तर पंक्तियों में होते हैं। इन्हें हिन्दी में सूत्राकार या कूर्चाकार स्वादांकुर तथा अंग्रेजी में Papilla Filiformes (पैपिला फिलीफार्मेस) कहते हैं। संभवतः यह स्वाद के लिए नहीं प्रत्युत अधिकतर सफाई और चाटने, पोंछने के काम में सहायता देते हैं।

४. सरल उभार—इन्हें सरल स्वादांकुर तथा इंग्लिश में Papillae Simplices (पैपिला सिम्पलीसेज) भी कहते है। यह त्वचा के सूक्ष्म अंकुरों के समान होते है और जिह्वा की पूरी सतह पर पाये जाते हैं। वस्तुतः उक्त नं० ३ के उभारों की तरह ही इनका भी स्वाद ज्ञान से कोई विशेष सम्बन्ध नही और जिह्वा पर स्थित भोज्य पदार्थ को इधर-उधर गति देने में सहायक होते हैं।

स्वाद का अनुभव कैसे होता है ?

अब तक की खोजों से यही तथ्य प्रकाश में आया है कि वास्तव में ऊपरलिखित उभार या अंकुर ही स्वाद ज्ञान के स्रोत है। ऐसे प्रत्येक अंकुर में लगभग डेढ़ सौ स्वाद कोष (Taste Buds) होते हैं। ये स्वादकोष प्रायः खाई वाले तथा छुम्बीवत् अंकुरों में पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त कोमल तालु के नीचे के पृष्ठ और स्वरयन्त्र के पिछले पृष्ठ पर भी होते है। प्रत्येक स्वाद कोष में एक छिद्र होता है जिसे स्वाद रन्ध्र कहा जाता है। जिह्वा पर पड़ने वाला कोई भी खाद्य या पेय द्रव्य इन स्वादरन्ध्रों में भर जाने के कारण ही अधिक समय तक स्वाद कोषों के सम्पर्क में रहता है। इनसे स्वादवाही ज्ञान तन्तु संवेदक (Receptors) सम्बन्धित रहते हैं अर्थात मस्तिष्क के स्वाद केन्द्र (Insula) से रसज्ञ सेलों के तारों के अन्तिम छोर आकर इन स्वाद रन्ध्रों में समाप्त होते है। ये तार जिह्वा के पिछले १/३ भाग से जिह्वा कंठ नाड़ी (Glasso-pharyngeal Nerve) द्वारा मस्तिष्क के स्वादकेन्द्र में पहुंचते हैं और अगले २/३ भाग से मौखिक नाड़ी (Facial Nerve) द्वारा।

प्राणदा नाड़ी (Vagus nerve) भी इस कार्य में उक्त दोनों नाड़ियों की सहायता करती है।

जब कोई वस्तु खाई जाती है तो उसके कण इन स्वादाकुरों (Papillae) को छूकर स्वादवाही तन्तुओं (Receptors) में छेड़ पैदा कर देते हैं। यह छेड़ (संवेदना की लहर) उन स्वादवाही तन्तुओं द्वारा आगे बढ़ा दी जाती है और तब उक्त नाड़ियों (Nerves) के द्वारा मस्तिष्क के स्वाद केन्द्र (Insula इन्सुला में स्थित संवेदी तन्त्र) में ले जायी जाती है। तब मस्तिष्क से बुद्धि उस ज्ञान को ग्रहण कर लेती है। इस प्रकार हमें स्वाद का अनुभव हो जाता है। यह सारी क्रिया क्षण मात्र में ही सम्पन्न हो जाती है।

स्मरणीय है कि स्वाद ज्ञान के लिये जिह्वा का स्निग्ध (तर) होना आवश्यक है। यदि जिह्वा शुष्क हो तो भोज्य पदार्थ श्लैष्मिक कला को भेदकर स्वादरन्ध्रों तक नहीं पहुँच पाते अतः स्वाद का ज्ञान नहीं होता।

जिह्वा के नीचे और पार्श्वों में स्थित लालाग्रन्थियों (Salivary glands) का स्राव जिह्वा को सदैव स्निग्ध रखता है जिससे भोज्य पदार्थ गीले होकर स्वादरन्ध्रों के सम्पर्क में आते हैं और रसों का ज्ञान कराते हैं। इसीलिये आयुर्वेद में सम्भवतः इस लालास्राव को "बोधक श्लेष्मा" नाम दिया गया है।

यदि जीभ को खींच कर और रूमाल से रगड़ कर आप उसे खुश्क करलें फिर उस पर नमक डालें तो आप को नमक का स्वाद भी बिलकुल नहीं आयेगा। अतः सिद्ध हुआ कि स्वाद ज्ञान के लिए जिह्वा का स्निग्ध रहना आवश्यक है और प्रकृति ने लालास्राव के रूप में उसकी स्निग्धता का सुप्रबन्ध कर रखा है।

जिह्वा द्वारा रोग ज्ञान—

स्वस्थावस्था में जिह्वा का वर्ण साधारणतः गुलाबी होता है किन्तु रक्ताल्पता होने पर फीका सा हो जाता है। अजीर्ण की दशा में जिह्वा पर मैल की परत चढ़ जाती है, शरीर में रूक्षता होने पर जीभ खुरदरी हो जाती है और फट जाती है। मानसिक रोगों, ज्वर जन्य दौर्बल्य में रोगी जिह्वा को बाहर नहीं निकाल सकता। मन्थर ज्वर (Typhoid) में रोगी की जिह्वा कांपती है। अर्दित, पक्षाघात में जिह्वा एक ओर को झुकी रहती है और रोगी उसे बाहर नहीं निकाल सकता। कम्पवात (वेपथु) रोग में रोगी जिह्वा को निकाल कर सद्यः अन्दर खींच लेता है। पारद विष में जिह्वा कषाय रसयुक्त हो जाती है और सूज जाती है। सूखी और मैली जिह्वा यदि अगले भाग से गीली और साफ होने लगे तो समझना चाहिए कि रोग घट रहा है।

—श्री डा० अमरनाथ शर्मा
चमरौआ (रामपुर) उ. प्र.

ओष्ठगत रोग एवं चिकित्सा

कविराज श्रीनिवास व्यास, बी०आई०एम०एस०

कवि० श्री व्यास जी, आचार्य शिवकुमार जी व्यास के लघु भ्राता तथा विद्वान लेखक हैं। 'धन्वन्तरि' के एक लघु विशेषांक का आप सफल सम्पादन भी कर चुके हैं। प्रस्तुत लेख में आपने ओष्ठगत रोगों का विवेचन कर आधुनिक रोगों से उनका साम्य उपस्थित किया है। चिकित्सा आपने विशुद्ध आयुर्वेदिक दी है जो कि अवश्य ही लाभप्रद है। पाठक लाभ उठायें।

—दाऊदयाल गर्ग
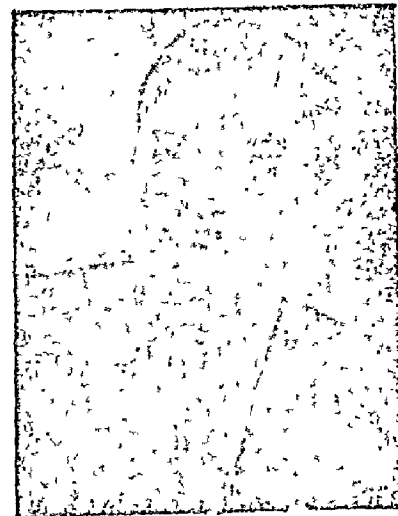
१. वातज ओष्ठगत रोग—वायु के कारण ओष्ठ प्रकोप होने पर ओष्ठ स्तब्ध, अतिशय वेदना वाले होते हैं। फटते हैं तथा कठोर काले और कर्कश हो जाते हैं, जैसे—प्रायः शीत ऋतु में ओष्ठ फटते हैं। आधुनिक मत से इस अवस्था को "क्रैक्ड लिप" कहा जाता है।

कुछ आचार्य "खण्डौष्ठ" को वातज ओष्ठ रोग मानते हैं। क्योंकि इसमें वायु के कारण ही ओष्ठों पर प्रभाव पड़ता है, लेकिन इसका वातज ओष्ठगत रोग से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह सहज विकार है। इसे 'हेयर लिप्स' कहा जाता है वंश परम्परा में इसका प्रभाव रहता है।

२. पित्तज ओष्ठगत रोग—पित्त के कारण ओष्ठ तीक्ष्ण वस्तु का सहन नहीं करते और पीले हो जाते हैं। सरसों के समान दानों (पिटिकाओं) से भरे रहते हैं। इनमें अतिशय क्लिन्नता रहती है और जल्दी पकते हैं। पाक के साथ दाह भी होता है और स्राव भी होता है।

३. कफज ओष्ठगत रोग—कफ प्रकोप के कारण ओष्ठ शोथयुक्त एवं स्थूल (भारी) हो जाते हैं। अतः ठंडी वस्तुओं को सह नहीं सकते। ओष्ठों पर छोटी-छोटी पिडिकायें (फुन्सी) उत्पन्न होती हैं। इनमें कण्डू (खुजली) और मन्द वेदना भी होती है।

४. सन्निपातज ओष्ठगत रोग—वातादि दोष प्रकुपित होकर ओष्ठ का आश्रय लेकर सन्निपातज ओष्ठ रोग उत्पन्न कर देते हैं। इस अवस्था में ओष्ठों का रंग अनेक प्रकार का होता है अर्थात् कभी पीला, कभी काला, कभी श्वेत वर्ण का होता है। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के दाने (फुन्सियां) ओष्ठों पर मिलते हैं। ओष्ठों में दुर्गन्धित, स्रावयुक्त पिच्छिल होते हैं। कारण के बिना ही सहसा म्लान, सूजे हुए, पीड़ायुक्त तथा कहीं से पके और कहीं से नहीं पके हुए होते हैं।

५. रक्तज ओष्ठगत रोग—रक्त से दूषित ओष्ठों से रक्त बहता है। ओष्ठ रक्तवर्ण के हो जाते हैं। रक्त के

क्षीण होने पर रक्तज ओष्ठ प्रकोप में खजूर फल के समान अर्बुद (पिडिकाओं) हो जाता है।

६. मांसज ओष्ठगत रोग—मांस दूषित होने से जो ओष्ठ रोग होता है, उसमें दोनों ओष्ठ भारी और मोटे हो जाते हैं और मांसपिण्ड के समान ओष्ठ ऊपर उठ आते है। ऐसे विकार में शनैः शनैः कृमि भी उत्पन्न हो जाते हैं। आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में इसी से मिलती-जुलती अवस्था को "पैपीलोमा" अर्थात् "एपिथिलियोमा आफ दी लिप्स" कहते है।

७. मेदाज ओष्ठगत रोग—इस अवस्था में ओष्ठ तैल के समान स्निग्ध रहते है। शोथ एवं कण्डूयुक्त हो जाते है। कभी-कभी कोमल हो जाते हैं और इनमें से सफेद स्राव सा होता है। ऐसे ओष्ठों का घाव सूखता नहीं बल्कि गीला ही रहता है।

आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में इसे "मेक्रोकीलियां" कहते हैं। मेक्रोकीलियां तीन अवस्था का होता है—

(१) सहज अवस्था—जिस वंश में क्षय रोग प्रचलित हो, उस वंश में पैदा होने वाले शिशु को यह रोग होता है। इसका प्रभाव नीचे वाले ओष्ठ पर होता है।

(२) जन्मोत्तर अवस्था—इस अवस्था का प्रभाव ऊपरी ओष्ठ पर होता है, इसमें ओष्ठ मोटे हो जाते है।

(३) फिरङ्गज अवस्था—यह अवस्था अन्तिम है, अतः इनमें फिरंगज रोग हो जाता है। इसका प्रभाव नीचे वाले ओष्ठ पर होता है।

८. अभिघातज ओष्ठगत रोग—आघात के कारण कुपित ओष्ठ बार-बार फटते हैं, विदीर्ण होते हैं और फिर जुड़ जाते है। ऐसा अनेक बार होता है। इनमें कण्डू होती है, रंग लाल हो जाता है और शोथयुक्त होता है।

कुछ आचार्य जलार्बुद ओष्ठगत रोग को भिन्न प्रकार का मानते हैं। क्योंकि वायु और कफ के कारण ओष्ठ में जल के बुलबुलों की भाँति जलार्बुद होता है।

चिकित्सा—

वातज ओष्ठगत रोग—१. स्नेहन—राल, मोंम, गुग्गुल और देवदारु के कल्क से सिद्ध किया हुआ तैल या घी रुई के फोहे में डुबोकर बारम्बार लगावें या इसी महास्नेह (राल, मोंम, गुगल, देवदारु कल्क से सिद्ध तैल) में मधुयष्टी का चूर्ण मिला कर प्रतिसारण (मलें) करें।

२. यदि ओष्ठ का मांस छिल गया हो तो बिहीदाना, खतमी और अलसी भिगोकर लुआब निकालें और उसी को ओष्ठो पर दिन में कई बार मलें।

३. सिर पर वातनाशक तैल का प्रयोग करें या शिरोबस्ति दें।

४. ओष्ठों को वायु से बचायें। लहसुन, प्याज, नमक हिरन, बकरी इत्यादि के मांस का सेवन न करें। गर्म वस्तु का त्याग करें। आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में फटे हुए ओष्ठों का उपचार शल्यकर्म है।

पित्तज ओष्ठगत रोग—१. रक्तमोक्षण—आवश्यकतानुसार जलौका द्वारा या सिरामोक्षण द्वारा।

२. प्रतिसारण—लोध्र, राल, मुलहठी घी में मिलाकर।

३. अभ्यंग—गिलोय, मुलहठी, चन्दन इनसे सिद्ध घृत।

४. वमन विरेचन—इसके द्वारा दोष हरे और पित्तजन्य विद्रधि के समान चिकित्सा करें।

कफज ओष्ठगत रोग—सर्वप्रथम रक्तमोक्षण करें। बाद में शिरोविरेचन आदि कर्म करें।

—पाठा, यवक्षार, मधु, त्रिकटु से प्रतिसारण करें।

—कफनाशक धूम्र, नस्य और गण्डूष का प्रयोग करें।

सन्निपातज ओष्ठगत रोग—रक्तमोक्षण कर शाल्वण स्वेद करें। यदि फुन्सियों में मवाद आ जाये तो इसको मधु या घी से मिलाकर लगावें। नाड़ी स्वेद करें। कुछ आचार्य 'सन्निपातज ओष्ठपाक' को असाध्य मानते हैं।

रक्तज ओष्ठगत रोग—इसकी चिकित्सा पित्तज ओष्ठ रोग के समान करें। वमन-विरेचन करा रक्तमोक्षण करावें, और पित्तज विद्रधि के समान उपचार करें।

कुछ आचार्यो के मतानुसार यह व्याधि असाध्य है।

मांसज ओष्ठगत रोग—इसमें शस्त्र क्रिया कर दूषित मांस निकाल दें। फिर व्रण शोधन और पूरण विधि की चिकित्सा करें। कृमि पड़ गये हों तो कृमि की चिकित्सा करें। कुछ आचार्य रस रोग को असाध्य मानते हैं। आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में इस अवस्था में छेदन एवं रेडियम के द्वारा उपचार किया जाता है।

मेदोज ओष्ठगत रोग—१. स्वेदन—प्रथम स्वेदन करें।

२. भेदन—चीरकर मेद को निकाले।

३. अग्निकर्म—मेद निकाल ओष्ठ को अग्नि से जलायें।

४. शोधन—वमन-विरेचन करायें।

५. प्रतिसारण—प्रियंगु, लोध्र, त्रिफला, मधु से।

अभिघातज ओष्ठगत रोग—इसकी चिकित्सा रक्तजवत् ही करें। पित्तज विद्रधिवत् रक्तमोक्षण करायें।

जलार्बुद ओष्ठगत रोग—जलार्बुद में भेदन करके जल निकाल देने पर, पिप्पली, मिर्च आदि तीक्ष्ण द्रव्यों को मधु में मिलाकर रगड़ें। यदि अर्बुद गम्भीर गहरा तथा बहुत बढ़ा हुआ हो तो क्षार या अग्नि से जला दें।

—कवि० श्रीश्री निवास व्यास,
६७७५/५ देवनगर, करोल बाग, नई दिल्ली—५
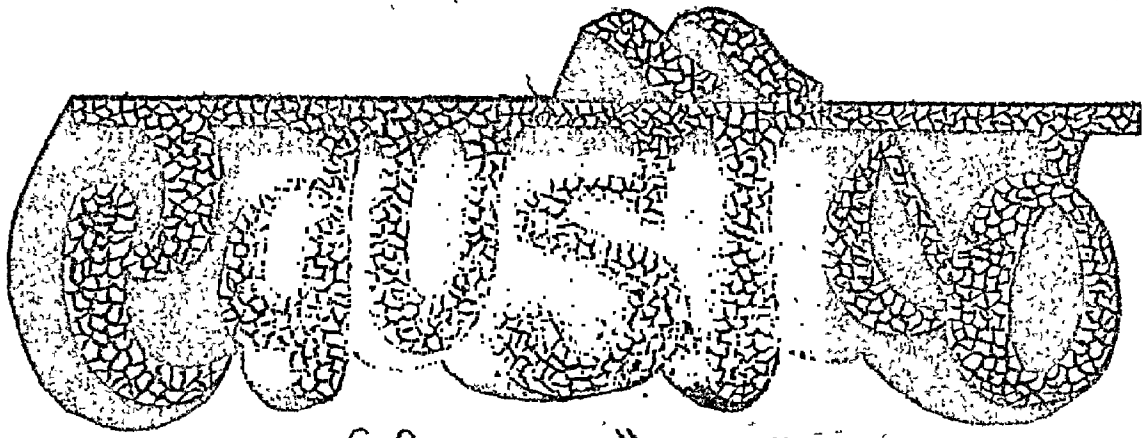
आचार्य श्री राजकुमार जैन

आप भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद में टैक्नीकल आफीसर हैं। आप प्रतिभाशाली लेखक हैं तथा 'धन्वन्तरि' में आपके सुरुचिपूर्ण लेख दीर्घकाल से प्रकाशित होते रहे हैं। आपकी 'आयुर्वेद-दर्शन' नामक पुस्तक भी प्रकाशित हो चुकी है। धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, नवभारत टाइम्स आदि में आपके लेख प्रकाशित होते रहते हैं।

आप अपने कार्य में अत्यधिक व्यस्त थे परन्तु हमारे आग्रह को फिर भी आपने स्वीकार कर यह लघु लेख प्रेषित किया है जिसके लिए आप धन्यवादार्ह हैं। ——दाऊदयाल गर्ग

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि यह एक ओष्ठगत व्याधि है और इसमें ओष्ठ खण्डित या विदारित हो जाता है। आयुर्वेद के अनुसार ओष्ठ रोगों का परिगणन मुखरोगान्तर्गत किया गया है। महर्षि सुश्रुत ने ओष्ठ रोगों की संख्या आठ मानी है, जबकि आचार्य वाग्भट ओष्ठ रोगों की संख्या बारह स्वीकार करते हैं। महर्षि सुश्रुत ने जो आठ प्रकार के ओष्ठ रोग परिगणित किए हैं उनमें 'खण्डौष्ठ' की गणना नहीं की गई है। खण्डौष्ठ को वे शालाक्य तन्त्र के अधिकार का रोग न मानकर शल्यतन्त्र के अधिकार का रोग मानते हैं और सन्धान कर्म के अन्तर्गत इसका ग्रहण करते हैं। इसका कारण यह बतलाया गया है कि जिस प्रकार नासा संधान विधि के लिए प्रक्रिया विशेष अपनाई जाती है उसी प्रकार प्रक्रिया विशेष के द्वारा ही खण्डौष्ठ के लिये भी सन्धान कर्म अपेक्षित एवं आवश्यक है। इस प्रकार शालाक्य तन्त्रान्तर्गत मुखरोगाधिकार की व्याधि होने पर भी महर्षि सुश्रुत इसे शल्यतन्त्रार्गत सन्धान कर्माधिकार में मानते हैं। यदि वास्तव में खण्डौष्ठ के लिए शल्य क्रिया अपनाई जाती है और सन्धान कर्म के द्वारा उसका उपचार किया जाता है तो निःसन्देह यह व्याधि मुखरोगाधिकार की होते हुए भी शल्यतन्त्रान्तर्गत ग्रहण की जानी चाहिये।

आचार्य वाग्भट ने सभी बारह प्रकार के ओष्ठ रोगों के लिए पृथक्-पृथक् रूप से कारण न बतलाकर सामान्य कारणों का उल्लेख किया है जो निम्न प्रकार हैं—

> मत्स्यमाहिषवाराह पिशितामकमूलकम्।
> माषसूप दधि क्षीरशुक्तेक्षुरसफाणितम्॥
> अवाङ् शय्यां च भजतो द्विषतो दन्तधावनम्।
> धमच्छर्दनगण्डूषानुचितं च सिराव्यधम्॥
> क्रुद्धाः श्लेष्मोल्वणा दोषाः कुर्वन्त्यन्तर्मुखान् गदान्॥

अर्थात् मछली, भैंस और सूअर का मांस, कच्ची मूली, उड़द की दाल, दही, दूध, शुक्त, गन्ने का रस, राब, मुख नीचे करके सोना, इन कारणों से, दातून, धूम्रपान, वमन, इन उचित कार्यों से द्वेष रखने वाले तथा सिरावेध से द्वेष करने वाले के मुख के अन्दर कफ प्रधान दोष कुपित होकर अनेक रोगों को उत्पन्न कर देता है।

खण्डौष्ठ व्याधि वास्तव में वात प्रधान व्याधि है और इसमें मुख्यतः वायु का ही प्रकोप होता है। ऊपर बतलाए गए मुख रोग के कारणों पर ध्यान देने से यह सहज ही ज्ञात होता है कि उपर्युक्त लगभग सभी कारण कफ का प्रकोप करने वाले हैं। अतः इन कारणों से खण्डौष्ठ व्याधि की उत्पत्ति कहां तक सम्भावित है, यह विचारणीय है।

खण्डौष्ठ का उल्लेख करते हुए आचार्य वाग्भट लिखते हैं—

तत्र खण्डौष्ठ इत्युक्तो वातेनौष्ठो द्विधाकृतः।

अर्थात् इन मुख रोगों में वायु के कारण ओष्ठ के दो भाग हो जाने पर इसे 'खण्डौष्ठ' कहा जाता है। आचार्य वाग्भट ने ही आगे वातज ओष्ठ रोग के निम्न लक्षण बतलाए हैं—

ओष्ठकोपे तु पवनात् स्तब्धावोष्ठौ महारुजौ।
दाल्येते परिपाट्येते परुषासितकर्कशौ॥

—अष्टांग हृदय, उत्तर २१।४

अर्थात् वायु के कारण ओष्ठ प्रकोप होने पर ओष्ठ स्तब्ध और अत्यधिक वेदना वाले हो जाते हैं। वे विदारित हो जाते हैं, फट जाते हैं तथा कठोर, काले और कर्कश हो जाते हैं। महर्षि सुश्रुत ने भी इसी प्रकार के लक्षणों का प्रतिपादन किया है—

कर्कशौ परुषौ स्तब्धौ कृष्णौ तीव्ररुगन्वितौ।
दाल्येते परिपाट्येते ह्योष्ठौ मारुतकोपतः॥

—सु० नि० अ० ११

अर्थात् वायु के प्रकोप से ओष्ठ कर्कश, कठिन, स्तब्ध, कृष्ण (कालापन लिये हुए) और तीव्र रुजा से युक्त हो जाते हैं, उनमें दरारें पड़ जाती हैं और वे फटने लगते हैं।

यह स्थिति प्रायः शीत ऋतु में होती है जब शीतता के साथ रूक्ष वायु का प्रकोप सामान्यतः अधिक होता है। कई बार कोष्ठबद्धता के कारण रूक्ष वायु का प्रकोप होकर ओष्ठ विदारित हो जाते हैं। वाग्भटोक्त 'खण्डौष्ठ' में इन्हीं लक्षणों एवं स्थिति की समानता पाई जाती है। अतः सुश्रुत द्वारा वर्णित वातज ओष्ठकोप को ही खण्डौष्ठ मान लेने में कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में इसे 'क्रैक्ड लिप्स' या "चैप्ड लिप्स" की संज्ञा दी गई है। यथा—

"Cracked lips are painfull fissures following exposure to cold."

क्षतज या अभिघातज ओष्ठ रोग में भी ओष्ठ खण्डित या विदारित हो जाते हैं और उनमें तीव्र वेदना होती है। इसमें कफ और रक्त ही मुख्यतः दूषित होकर विकृति उत्पन्न करते हैं। इसमें ओष्ठों का फटना बार बार पाया जाता है। क्योंकि पुनः पुनः वे जुड़ भी जाते है। आचार्य वाग्भट ने क्षतज ओष्ठ रोग के निम्न लक्षणों का प्रतिपादन किया है—

क्षतजाववदीर्येते पाट्येते चासकृत्पुनः।
ग्रथितौ च पुनः स्यातां कण्डुलौ दशनच्छदौ॥

—अष्टांग हृदय, उत्तर स्थान २१।६

अर्थात् क्षत-आघात के कारण कुपित ओष्ठ बार-बार फटते हैं, विदीर्ण होते हैं और फिर जुड़ जाते हैं। ऐसा अनेक बार होता है, इनमें कण्डु होती है।

क्षतज ओष्ठकोप के सन्दर्भ में महर्षि सुश्रुत का निम्न मत भी द्रष्टव्य है—

क्षतावभिहतौ वापि रक्तावोष्ठौ सवेदनौ।
भवतः सपरिस्रावौ कफरक्त प्रदूषितौ॥

—सु० नि० अ० ११

अर्थात् क्षत अथवा अभिहत हुए दोनों ओठ रक्तवर्ण के, वेदना युक्त और परिस्राव युक्त हो जाते हैं। इसमें कफ और रक्त दूषित होते हैं।

यह वस्तुतः आगन्तुक स्थिति है, जबकि 'खण्डौष्ठ' में सहज अवस्था पाई जाती है। आचार्य वाग्भट्ट ने 'खण्डौष्ठ' का जो स्वतन्त्र लक्षण प्रतिपादित किया है वह इससे मेल नहीं खाता। अतः क्षतज या अभिघातज ओष्ठ रोग को खण्डौष्ठ मानना युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता। सुश्रुतोक्त वातज ओष्ठकोप से उसकी अधिक निकटता है, अतः उससे सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है।

चिकित्सा—

खण्डौष्ठ में यदि ओठ अधिक खण्डित या विदारित है तो शल्य क्रिया ही उसमें अभीष्ट होती है। यदि सीवन कर्म उसमें सम्भव हो तो यथा विधि सीवन करके पश्चात्कर्मीय उपचार द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। यदि सीवन कर्म सम्भव न हो अर्थात् खण्डित ओष्ठ में अन्तराली अन्तर

काफी अधिक हो तो सन्धान विधि द्वारा सन्धान कर्म करके उपचार करना चाहिये। इसके लिए महर्षि सुश्रुत ने नासा सन्धान विधि के साथ ही ओष्ठ सन्धान विधि का भी प्रतिपादन किया है। अतः वैद्यों को यही विधि अपनानी चाहिये।

आचार्य वाग्भट्ट ने भी 'खण्डौष्ठ' में सीवन कर्म का विधान प्रतिपादित किया है जो निम्न प्रकार है—

खण्डौष्ठस्य विलिख्यान्तौ स्यूत्वा व्रणवदाचरेत्।
यष्टिज्योतिष्मती रोध्र श्रावणी सारिवोत्पलैः॥
पटोल्या काकमाच्याच तैलमभ्यंजनं पचेत्।
नस्यं च तैलं वातघ्नमधुरस्कन्ध साधितम्।
—अष्टांग हृदय उत्तर॰ २२/१-२

अर्थात् खण्डौष्ठ रोगी में स्नेहन और स्वेदन करके ओष्ठ के प्रान्त भागों का विलेखन करके उनको अच्छी तरह से मिलाकर क्षौम सूत्र से सीकर सद्योव्रण की चिकित्सा करें अर्थात् शतधौत घृत से अभ्यक्त कवलिका व्रण के ऊपर रखें।

मुलहठी, मालकांगनी, लोध, मुण्डी, सारिवा, कमल, पटोली और मकोय इनके कल्क से तैल का परिपाक करें। यह तैल अभ्यंग के लिए उत्तम है।

वातनाशक (भद्रदार्वादि) और मधुर गण से सिद्ध तैल नस्य के लिए प्रयोग करना चाहिये।

वातज ओष्ठ के लिए निम्न उपाय करना चाहिये—

सर्जरस, मोम, गुग्गुल, देवदारु इनसे सिद्धघृत, तैल वसा और मज्जा इस चतुर्विधि महास्नेह से स्निग्ध पिचु का प्रयोग हितकारी होता है।

इसी महास्नेह में मधुयष्ठि का चूर्ण मिलाकर वातौष्ठ में प्रतिसारण लाभदायक होता है।

दूध से सिद्ध किए हुए एरण्ड पत्रों (पानी) से ओष्ठ का नाड़ी स्वेद करना चाहिये।

आधुनिक शल्य चिकित्सा विज्ञान के ग्रन्थों में ओष्ठ रोगों के अन्तर्गत एक पाठ हेयर लिप (Hare lip) का
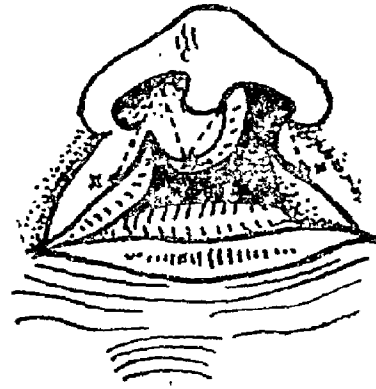
दोनों ओर का खण्डौष्ठ-बिन्दुदार रेखा द्वारा चीरा लगाने का स्थल दिखाया है।
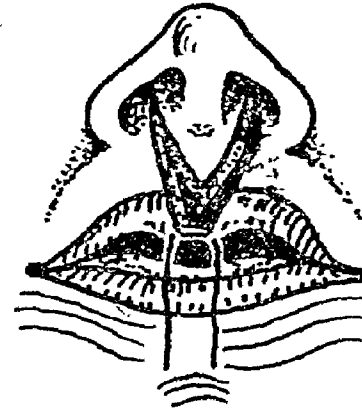
खण्डौष्ठ को शल्य-कर्म द्वारा ठीक किया जा रहा है।

मिलता है। यह वस्तुतः 'खण्डौष्ठ' का ही ज्ञापक है। यह एक सहज विकार है और वंश परम्परा का भी इस पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। इस रोग के अनेक प्रकार देखने को मिलते हैं। इसकी चिकित्सा में पूर्णतः शस्त्रकर्म ही किया जाता है। इसकी चिकित्सा में सन्धान की आवश्यकता पड़ती है। इसीलिए सम्भवतः महर्षि सुश्रुत ने नासा सन्धान विधि के साथ ही ओष्ठ संधान की क्रिया का उल्लेख कर इस विकार को शल्यान्तर्गत रखा है। इसका उल्लेख सुश्रुत संहिता के सूत्रस्थान में सन्धान कर्म के अध्याय में किया गया है। इसी दृष्टि से वाग्भट्ट ने भी खण्डौष्ठ की चिकित्सा में क्षौमसूत्र से सीवन करके व्रणवत् उपचार का निर्देश किया है।

—श्री राजकुमार जैन
१६/६ स्वामी रामतीर्थ नगर, नई दिल्ली।
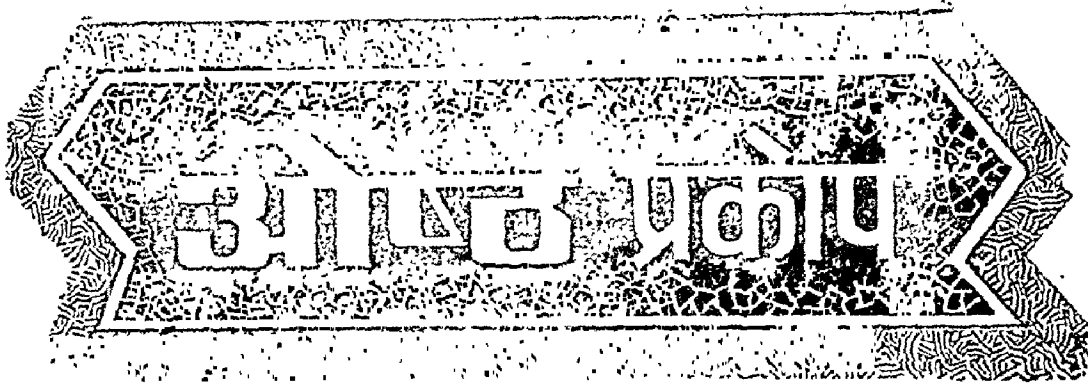
वैद्यश्री मिश्रीलाल गुप्ता आयु०

ओष्ठ रोगों में प्राय: कफ और रक्त की ही प्रधानता रहती है अत: इसमें युक्तिपूर्वक गर्म और दुष्ट रक्त को निकालने का प्रयत्न करना चाहिए।

वातज रोग में—गर्म स्नेह सेंक, गर्म लेप, घृतपान एवं मांस रस का प्रयोग हितकारी होता है। घृत में मोम मिलाकर मलें।

पित्तज रोग में—रक्त निकलना, वमन, विरेचन तथा घृतपान शीतल लेप सिंचन आदि हितकारी हैं। जलौका लगाकर रुधिर निकालना तथा वह सब क्रिया जो पित्तज विद्रधि में की जाती है उचित है।

कफ के ओष्ठ कोप में—प्रथम रुधिर निकालें एवं शिरो विरेचन दें तथा घृतपान या स्वेद करावें। कफनाशक द्रव्यों का ग्रास मुंह में रखें तथा त्रिकटु, सज्जीक्षार यवक्षार और विड लवण को शहद में मिलाकर लगावें।

मेदोज ओष्ठ कोप में—प्रथम स्वेदन करके चीरा लगावें, अग्नि से दग्ध और शोधन करें। प्रियंगु, त्रिफला, लोध का चूर्ण शहद में मिलाकर लगावें।

त्रिदोषज ओष्ठरोग में जिस दोष की अधिकता हो उसके शमनार्थ मिश्रित उपाय करें।

इसी प्रकार रक्तज ओष्ठ रोग में जोंक लगाकर रक्त निकालें और पित्त विद्रधि की भांति उपचार करें। यदि क्षत हो गया हो तो निम्न क्षतारि मरहम का उपयोग अति हितकर है—

१०० वार धुलाघृत ५० ग्राम, कत्था २ तोला, कपूर देशी १ तोला, सिन्दूर १ तोला सबको यथा विधि मिलाकर मरहम बना कर लगावें।

यदि दोष दूष्य का उचित ज्ञान न हो सके तो साधारण चिकित्सा प्रयोग में लायें यथा:—

१. सौ बार धुला हुआ घृत लगावें। इसमें किंचित मात्रा में देशी कपूर भी मिला लिया जाए।

२. नीम के पत्ते पानी में उबालकर उसकी वाष्प देकर उपरोक्त क्षतारि मरहम लगायें।

३. अगर होंठों पर घाव हो तो धनियां, राल, गेरु और मोम मिलाकर लगावें। अथवा क्षतारि मरहम का प्रयोग करें।

कभी-कभी ओष्ठ पर मांस और मेद बढ़कर भारी आकार में व्रण सा आकार बना लेते हैं। ऐसी दशा में यदि आवश्यक हो तो शल्यक्रिया भी कराई जा सकती है।

४. मोम, गुड़ और राल—इनको समान लेकर घृत में पकाकर लगाने से होंठों के समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं। ध्यान रहे उपरोक्त औषधि प्रयोग से पूर्व यदि आवश्यक समझें तो थोड़ा रेचन आवश्यक है। साथ ही रक्त शुद्धि के लिये गन्धक रसायन अथवा रसमाणिक्य आदि भी देना उपयोगी होता है। रक्तशोधक औषधियों के उष्ण क्वाथ की वाष्प और किंचित सेंक करने से शोथ नष्ट होता है तथा मवाद भी पतला होकर निकल जाता है।

—श्री वैद्य मिश्रीलाल गुप्ता, भारतीय चिकित्सालय,
आष्टा (सीहोर) म० प्र०

मुख रोग निदान एवं चिकित्सा

वैद्यश्री वेदप्रकाश तिवारी

माननीय तिवारी जी ताड़ीखेत स्थित संयुक्त अनुसंधानीय संस्थान में कार्यरत हैं। आपके लेख अन्वेषणात्मक तथा स्वविषय का पूर्ण ज्ञान कराने वाले होते हैं। आप जिस विषय पर भी लेखनी उठाते हैं उसे पूर्ण कर ही विराम लेते हैं। आपके लेख विस्तृत होते हुए भी उनमें व्यर्थ का विस्तार कदापि नहीं होता। आप आयुर्वेद जगत के दैदीप्यमान रत्न हैं तथा आयुर्वेद जगत को आपसे बहुत अपेक्षायें हैं। आशा है कि पाठकों को मुख रोग निदान एवं चिकित्सा नामक यह लेख तथा उसके पश्चात् तालु रोग चिकित्सा नामक लेख, दोनों लेख अत्यन्त रुचिकर प्रतीत होंगे। भगवान 'धन्वन्तरि' से प्रार्थना है कि तिवारी जी शतायु होवें।

— दाऊदयाल गर्ग (सम्पादक धन्वन्तरि)

मुख रोग निदान—

आनूप देश में पाये जाने वाले प्राणियों का मांस रस, मत्स्य, महिष, वराह, पिशित (सूअर) का मांस, कच्ची मूलक, माष, दधि, क्षार, इक्षु रस, फणित (राव) के अति सेवन से; दातुन, धूम, वमन, गण्डूष एवं सिरावेध से द्वेष करने वाले व्यक्ति के कफ दोष कुपित होकर मुख रोग उत्पन्न करते हैं।[1]

मुख में ओष्ठ, दन्त, दन्तमूल, जिह्वा, तालु, कण्ठ भाग सम्मिलित हैं। अतः इन भागों में कितने रोग होते हैं, निम्न तालिका से स्पष्ट होता है—

रोग नाम	सु.सं.	अ.हृ.	भोज	शोढल, यो र. भा. प्र.	शार्ङ्ग.
ओष्ठगत रोग	८	१२	८	८	
दन्त रोग	८	१०	८	८	
दन्तमूल रोग	१५	१३	१५	१६ (शोढल १५)	
जिह्वा रोग	५	६	५	५	
तालु रोग	९	८	९	९	
कण्ठ रोग	१७	१८	१७	१८	१८
मुख रोग (सर्वसर)	३	८	३	३ (शोढल ४)	
	६५	७५	६५	६७	

[1] अ. हृ. उ. २१।१–२, भा. प्र. मध्य. ६६।४, मा. नि. ६६।४

ओष्ठ रोग निदान आदि—

(१) वातज ओष्ठ (Cracked Lips)—वायु के प्रकोप से ओष्ठ कर्कश, परुष (कड़े), स्तब्ध (जकड़े हुए) एवं कृष्ण वर्ण के होते है। ओष्ठ में अति वेदना होती है। ओष्ठ फटे हुए से एवं त्वचा विदीर्ण हो जाती है।[2]

२. पित्तज (Herpes Labialis)—ओष्ठ के चारों ओर पिड़िकायें होती है एवं वेदना होती है। पीड़िकायें सर्षप की आकृति के, पीताभ एवं नीलाभ होती हैं। इनमें दाह पाक एवं स्राव होता है।[3]

३. कफज (Inflamation of lips)—ओष्ठ त्वचा के वर्ण के समान पिडिकाओं से व्याप्त रहते है। ये पिच्छिल, शीत, गुरु होते हैं। वेदना बिल्कुल नहीं होती अथवा अल्प वेदना होती है। इनमें कण्डू होती है तथा शीत सहन नहीं कर सकते।[4]

४. त्रिदोषज—ओष्ठ कभी कृष्ण, कभी पीत, कभी श्वेत होते है। ओष्ठ में अनेक प्रकार की विषम (कहीं से पके या न पके) पिडकायें होती हैं। ये दुर्गन्धित, शोथयुक्त स्रावयुक्त एवं अकस्मात म्लान होते हैं।[5]

५. रक्तज (Epithelioma)—रक्त प्रकोप से ओष्ठ में खर्जूर फल के समान वर्ण वाली अथवा रुधिर वर्ण वाली पिडिकायें होती हैं। इनसे रक्त का स्राव होता है तथा वेदना होती है।[6]

६. मांसज (Papilloma)—ओष्ठ मांस दूषित होवे से ओष्ठ गुरु, स्थूल एवं मांस पिण्ड के समान उठे हुए होते है। दोनों ओष्ठ में कृमि पड़ जाते हैं।[7]

७. मेदज (Macrocheilia)—मेद धातु के दूषित होने से ओष्ठ तैलाभ या घृत मण्ड (घृत का ऊपरी भाग) के समान मृदु होते हैं। ओष्ठ गुरु एवं कण्डूयुक्त होते हैं। शोथ होता है तथा स्फटिक के समान स्वच्छ स्राव होता है। ओष्ठ का शोषण नहीं होता है और न वे मृदु होते हैं, वरन वे उसी प्रकार रहते है।[8]

८. अभिघातज (Injureplips)—अभिघात से ओष्ठ क्षत के समान विदीर्ण या रक्तवर्ण फटे एवं छिले हुए होते हैं (मथित) एवं फिर जुड़ जाते हैं। ग्रथित (गांठदार) एवं कण्डूयुक्त होते हैं। यह कफ-रक्त प्रकोप से होते हैं।[9]

९. खण्ड ओष्ठ (Cracked lips)—वायु प्रकोप के कारण ओष्ठ के दो भाग हो जाते हैं। अर्थात् ओष्ठ बीच से फटने के समान हो जाता है।[10]

१०. जलार्बुद (Tumour in the lips)—वात कफ के प्रकोप से ओष्ठ में जल के बुलबुलों की भांति होता है।[11]

११. गण्डालजी (Abcess of the lips)—गण्डस्थल में शोथ होता है जिसमें दाह ज्वर होता है।[11]

जिह्वा रोग—

१. वातज—जिह्वा फटी हुई (स्फुटित) एवं संज्ञाहीन (प्रसुप्त), तथा शाक पत्र के समान खुरदरी हो जाती है।[12]

---

[2] अ. हृ. उ. २११४, सु. स. नि. १६१६, मा. नि. ५५१२, भा. प्र. मध्य. ६६१६, ग. नि. शा. ५११, यो. र. पृ. २८७

[3] अ. हृ. उ. २११५, सु. चि. १६१७, मा. नि. ५६१३, ग. नि. शा. ५१२, यो. र. पृ. २८७, भा. प्र. मध्य. ६६१७

[4] अ.हृ.उ. २११६, सु.सं.नि. १६१८, मा.नि. ५६१४, भा.प्र.मध्य. ६६१८, ग.नि.शा. ५१३; यो.र.पृ. २८८

[5] अ.हृ.उ. २११६, सु.सं.नि. १६१६, मा.नि. ५१६५, भा.प्र.मध्य. ६६१६, ग. नि. शा. ५१४, यो. र. पृ. २८७।

[6] अ. हृ. उ. २११७, सु. नि. १६११०, मा. नि. ५६१६, ग. नि. शा. ५१५, यो. र. पृ. २८७

[7] अ.हृ.उ. २११८, सु.सं.नि. १६१११, भा. प्र. मध्य. ६६१११, ग.नि.शा. ५१६, यो.र.पृ. २८८, मा. नि. ५६१७।

[8] अ.हृ.उ. २११८, सु.सं.नि. १६११२, मा.नि. ५६१८, ग.नि.शा. ५१७, भा.प्र.मध्य. ६६११२, यो.र.पृ. २८८

[9] अ.हृ.उ २११६, सु.सं.नि. १५११३, भा. प्र. मध्य. ६६११३, मा.नि.पृ. २२०, यो.र.पृ. ८२८

[10] अ. हृ. उ. २११३।

[11] अ. हृ. उ. २१११०-११

[12] अ. हृ. उ. २११३१-३२, सु. सं. नि. १६१३६, भा. प्र. मध्य. ६६१८७-८६, यो. र.पृ. २६२, ग. नि. शा. ५१२६-३१,

२. पित्तज—जिह्वा में मांसाकुर दीर्घ एवं रक्तवर्ण के होते हैं। ऐसा दिखाई देता है कि जीभ में मांस के कांटे से हों। जिह्वा खुरदरी एवं दाह युक्त होती है।[12]

३. कफज (Lukoplakia)—जिह्वा गुरु, बहुलचित (मोटी) एवं शाल्मलि कण्टक के समान मांसांकुर से व्याप्त होती है।[12]

उक्त तीनों वात, पित्त, कफज, जिह्वाकण्टक रोग जिह्वा के होते हैं।

४. अलास (Abscess at the root of the tongue)—जिह्वा के नीचे कफ एवं रक्तजन्य प्रगाढ (भयंकर) उन्नत शोथ होता है। शोथ प्रवृद्ध होने पर जिह्वा को स्तम्भ (जकड़) कर देता है। तदुपरान्त जिह्वा मूल में तीव्र पाक होता है। वाग्भट्ट ने कफ, पित्त प्रकोप से माना है एवं पाक होने पर मत्स्यगन्धि के समान गन्ध आती है तथा मांस सड़ जाता है। डल्हण ने त्रिदोषजन्य माना है। यह असाध्य रोग है।[12]

अधिजिह्विका (Abscess on the underside of tongue)–जिह्वा के मूल में (जिह्वा के नीचे) अग्रभाग के समान शोथ होता है। यह कफ, पित्त, रक्त के प्रकोप के कारण होता है। इसमें मांसांकुर, स्तम्भ, कर्कशता (खुरदरा), कण्डू, दाह (चोष), वेदना एवं लाला स्राव होता है। बोलने (वाक्य कहने) में तथा आहार करने में अवरोध होता है। किन्तु इसे भा. प्र., सुश्रुत एवं माधव इसे उपजिह्विका मानते हैं।[13] पाक होने पर चिकित्सा नहीं करनी चाहिए।

६. उपजिह्विका (Epiglotis) जो शोथ उक्त प्रकार से जिह्वा के ऊपर होता है उसे उपजिह्विका कहते हैं।[12] यह कफदोष से उत्पन्न होता है।

तालु रोग—

१. कण्ठशुण्डी (गलशुण्डी)—कफ एवं रक्त के प्रकोप से तालु मूल में वायु से भरी हुई मत्स्य वस्ति के समान प्रवृद्धि, दीर्घ, पिच्छल एवं लटकता हुआ शोथ होता है। भोजन नासा द्वारा वो प्रेरित होता है। कण्ठावरोध से तृष्णा, वमन, श्वास, कास उत्पन्न हो जाता हैं।[14]

२. तुण्डिकेरी (Tonsillitis)—कफ एवं रक्त प्रकोप से उत्पन्न वनकार्पास फल के समान स्थूल शोथ होता है जिसमें वेदना, दाह एवं पाक होता है। वाग्भट्ट ने इसे कण्ठगत रोग माना है।[14]

३. अध्रुष (अध्रुप) (Inflamation of the palate) रक्त दोष से उत्पन्न मृदु एवं स्तब्ध शोथ लोहित (रक्त) वर्ण का होता है। जिसमें ज्वर एवं पीड़ा होती है। वाग्भट्ट ने इसका उल्लेख नहीं किया है।[14]

४. कच्छप (Tumour on the palate)—तालु भाग में कूर्मोन्नत (कछुये की पीठ के समान बीच में ऊँचा किनारों पर ढालू) वेदना युक्त या अल्प वेदना युक्त एवं देर से उत्पन्न होने वाले शोथ को कच्छप कहते हैं। यह कफ के प्रकोप से होता है।[14]

५. तात्वर्बुद (रक्तार्बुद) (Cancer of the pa ate) तालु मध्य में पद्माकार उन्नत शोथ (जिस प्रकार कमल पुष्प के बीच में कर्णिका एवं उस कर्णिका के चारों ओर केशर रहती है ठीक उसी प्रकार बड़े अंकुरों से घिरा तालु मध्य शोथ) तात्वर्बुद कहलाता है।

६. मांस संघात (Fibroma of palate)—कफ प्रकोप से तालुमध्य में शोथ हो जाता है। इसमें वेदना नहीं होती। इस दुष्ट मांस को मांस संघात कहते हैं।[14]

७. तालु पुप्पुटक (Epulis of palate)–तालु प्रदेश में मेदयुक्त कफ से कोल (बदर) फल के समान स्थिर (स्थायी) एवं वेदनारहित शोथ होता है।[14]

८. तालुशोष (Cleft palate)—वायु के कारण तालु में शोष होता है। अति विदारण, उग्रश्वास, ज्वर, श्रम होता है।

९. तालुपाक (Abscess in the palate)—तालु प्रदेश में कुपित पित्त अति भयङ्कर पाक उत्पन्न करता है। इसमें पूयस्राव होता है।[14]

---

13 अ. हृ. उ. २१।३३-३५,
सु. सं. नि. १६।४०-४१,
च. सं. नि. १८,
मा. नि. ५६।३१-३२,
भा. प्र.मध्य. ६६।९०-९१,
यो.र.पृ.२९२, ग.नि.शा. ५।३१-३२

14 अ. हृ. उ. २१।३७-४०,
सु. सं. नि. १६।४३-४७,
मा. नि, ५६।३३-३७,
भा. प्र. मध्य. ६६।९९-१०७,
यो. र. पृ. २९२-२९३,
ग. नि. शा. ५।३३-३७

१०. तालु विद्रधि—त्रिदोष से कुपित होते हुये कफ प्रधान से दाह एवं रक्त युक्त शोथ होता है।

—च. सं. चि. १२।७७

११. तालु पिटिका—तालु मांस के दूषित होने पर खर एवं घन पिटिका हो जाती हैं। इसमें वेदना होती है एवं स्राव होता है।[14 अ]

१२. तालु संहति—तालु में वेदना रहित एकत्रित मांस को तालु संहति कहते हैं।[14 अ]

कण्ठ रोग—

१. रोहिणी (Diphtheria)—कण्ठ में वात, पित्त, कफ दोष मांस और रक्त को दूषित करके कण्ठावरोध करने वाले मांसाकुंरों को उत्पन्न करते है। इसे ही रोहिणी कहते है। यह पाँच प्रकार की होती है।[15] (विस्तृत विवरण आगे श्री जहानसिंह चौहान के लेख में देखें। —सम्पादक)

२. कण्ठशालूक (Hard tumor in the throat)-कोलास्थि (वदर गुठली) के समान आकार वाली, स्थिर एवं उन्नत (उठी) ग्रन्थि कण्ठ में होती है। कण्टक या शूक के समान खर होती है। कण्ठ में शूक के कांटों की भाँति अवरोध सा होता है। यह कफ से उत्पन्न होता है। यह व्याधि शस्त्र क्रिया से साध्य होती है।[16]

३. अधिजिह्विका (जिह्वा रोग में देखें)—वाग्भट्ट ने इसे जिह्वा रोग माना है। अन्य विद्वानों ने कण्ठ रोग में वर्णन किया है।[17]

४. वलय (Inflammation of throat)—यह रोग गल सन्धि, चिवुक प्रदेश या गले में होता है। कुपित कफ अन्न मार्ग का अवरोध करके रक्तवर्ण का शोथ उत्पन्न करता है। यह शोथ आयत, उन्नत एवं फैला हुआ तथा दाहयुक्त होता है। यह असाध्य होता है। चरक ने इसे 'विडालिका' की संज्ञा दी है।[17] (च. चि. १२।७६)

५. बलाश—कफ-वात से कुपित होकर गल में मर्मघाती शोथ होता है। इसमें श्वास कृच्छ एवं पीड़ा होती है। यह कष्टसाध्य होता है। अष्टांग हृदय में बलास एवं बलय में से केवल बलय का उल्लेख है।[17]

६. एक वृन्द—गलापार्श्व में या गलान्तर्गत उन्नत एवं वृत्त शोथ होता है। यह शोथ मृदु एवं गुरु होता है। उसमें दाह, कण्डू, ज्वर रहता है तथा अपाकी होता है। यह कफ-रक्त दोष से होता है।[17]

७. वृन्द (Tumour in the throat)—गलान्तर्गत समुन्नत (चारों ओर से उठे), वृत्त शोथ के समान होता है। मन्द दाह, तीव्र ज्वर, तीव्र वेदना होती है। यह पित्त एवं रक्त के प्रकोप से होता है। भोज ने वृन्द को एकवृन्द का ही अवस्था भेद बताया है। वाग्भट्ट ने उल्लेख नहीं किया है।[17]
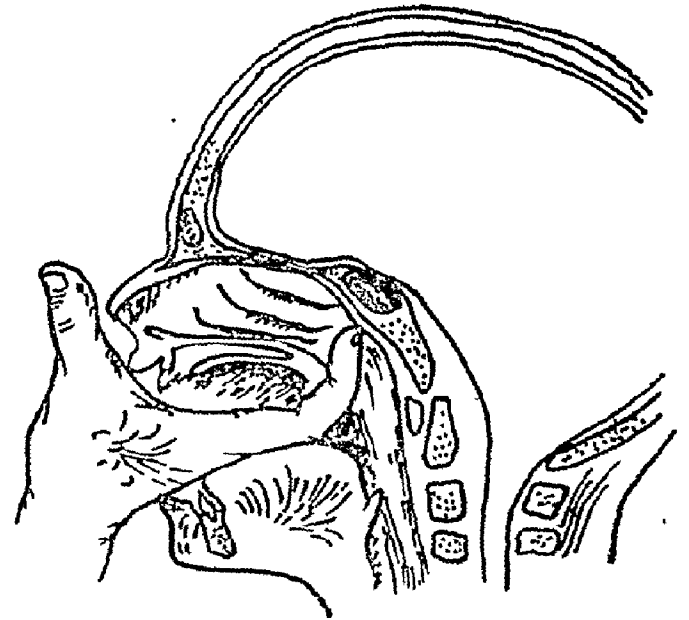
ग्रसनिका की अंगुली द्वारा परीक्षा किया जाना

14अ अ. हृ उ. २१।३६,३८

15 अ. हृ. उ. २१।४१–४४, सु. सं. नि. १६।४६–५२, मा. नि. ५६।३८–४१, भा.प्र.मध्य.६६।११५–१२०, ग नि. शा. ५।३८–४१, यो. र. पृ. २९३–२९४

16 अ. हृ. उ. २१।४६; सु. सं. नि. १६।५३, मा. नि. ५६।४२, भा. प्र. मध्य. ६६।१२२, ग. नि. शा. ५।४२, यो. र पृ. २९४

17 अ. हृ. उ. २१।४६-५१ सु. सं. नि. १६।५४-६२, मा. नि. ५६।४३-५१, भा. प्र. मध्य. ६६।१२३-१३१, ग. नि. शा. ५।४३-५१, यो. र. पृ. २९४-२९५,

८. शतघ्नी (A kind of tumour in the throat) गलान्तर्गत शतघ्नी के समान (कांटों से व्याप्त लोह की शिला के समान)वर्ति के आकार की कठिन एवं घन कण्ठावरोधी मांसाङ्कुर उत्पन्न हो जाते है। यह ग्रन्थि के समान होते हैं। इनमें तोद, दाह, कण्डू तीव्र तृष्णा, ज्वर, शिरोवेदना होती है। यह त्रिदोषजन्य एवं प्राणहारी होता है।[17]

९. गिलायु (गलायु) (Hard tumour in the throat)—कण्ठ में आमलकी अस्थि (आंवला गुठली) के समान स्थिर एक या अनेक मांसकील या ग्रन्थि उत्पन्न होती हैं। यह कफ-रक्त प्रकोप जन्य होती हैं। इसमें तीव्र या अल्प वेदना, श्वास कृच्छ तथा सदैव कण्ठ में भोजन अटका सा रहता है (सक्ताशन)। मांसकील के मूल मोटे होते हैं। यह शस्त्र साध्य है।[17]

१०. स्वरघ्न—वायुमार्ग कफ से लिप्त होने के कारण जो रोगी निरन्तर कष्ट से श्वास लेता है। निगलने में कठिनाई होती है। कण्ठ शुष्क एवं विमुक्त (नियन्त्रण हीन) हो जाता है। यह वात जन्य होता है। इसमें भिन्न स्वर; मूर्छित एवं तम (आंखों के सामने अंधेरा होना) होता है।[18]

११. मांसतान (Polypus in the throat)–फैला हुआ (प्रतान) एवं अवलम्बी (लटकता हुआ) शोथ होता है। क्रमशः गले का अवरोध होता है एवं वेदना होती है। यह प्राणनाशक रोग है। वाग्भट्ट ने इसका उल्लेख किया है।[18]

१२. गलार्बुद (Tumor in the throat)–जिह्वा मूल एवं कण्ठ के आरम्भ में अपाकी (न पकने वाला), स्थिर एवं रक्तवर्ण का शोथ होता है। यह वेदना रहित होता है।[19]

१३. गल विद्रधि (Abscess in the throat) सर्व प्रथम दोषोत्पन्न शोथ सम्पूर्ण कण्ठ में फैल जाता है। इसमें सभी दोषों के समान व्यथा होती है। विशेष रूप से तोद, कण्डू, सड़ी पूय के समान स्राव करने वाला शीघ्रपाकी एवं अति वेदना होती है। सामान्य रूप त्रिदोषज विद्रधि के समान लक्षणों वाला होता है।[1]
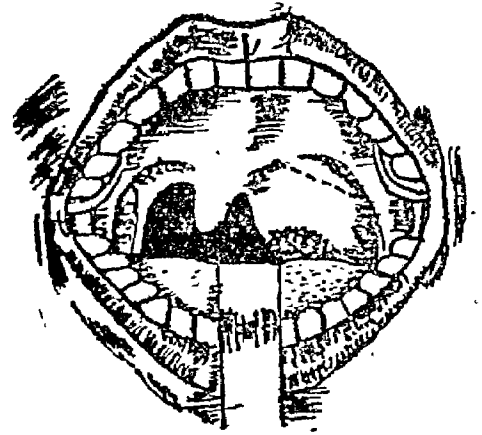
गलविद्रधि (Peritonsillar abscess)
विद्रधि पर चीरा लगाने का स्थान प्रदर्शित किया गया है।

१४. गलौघ—यह व्याधि कफ-रक्त प्रकोप से उत्प होता है। कण्ठ के अन्तर्गत अन्दर एवं बाहर अर्गल समान शोथ होता है। इससे श्वास वह में अवरोध जाता है तथा अन्न जल का अवरोध हो जाता है। इ गुरुता, तन्द्रा, लालास्राव एवं तीव्र ज्वर होता है।[19]

१५. विदारी—यह रोग पित्त प्रकोप से होता कण्ठ में रक्तवर्ण (या ताम्रवर्ण) का एवं विशीर्ण (ग सड़ा) शोथ होता है गल के आन्तरिक भाग में होत दाह, तोद, (सूई चुभने के समान वेदना), रोगी जिस वट से सोता है यह रोग भी उसी ओर होता है। वाग्भट्ट ने उल्लेख नहीं किया है।

१६. वाग्भट्ट ने कण्ठ रोगों में गलगण्ड का उल्लेख किया है। इस प्रकार तीन प्रकार के गलगण्ड को कण्ठ रोग में वर्णन किया है अतः इसे गलगण्ड-ग माला अध्याय में देखना चाहिए। विस्तार भय से उल नहीं कि । है।[21]

---

18 अ. हृ. उ. २१।५७
सु. सं. नि. १६।६३-६४
मा. नि. ५६।५२-५३
भा. प्र. मध्य. ६६।१३२-१३३
ग. नि. शा. ५।५२-५३
यो. र. पृ. २९५-२९६

19 अ. हृ. उ. २१।५२
20 सु. सं. नि. १६।६५
मा. नि. ५६।५४
ग. नि. शा. ५।५४
यो. र. पृ. २९६
21 अ. हृ. उ. २१।५३-५६

२. उर्ध्वगुद—अर्श-गुल्म, कफ आदि से अवरुद्ध वायु उर्ध्वमार्ग को [23] आती है, जिससे मुख में दुर्गन्ध हो जाती है उसे उर्ध्वगुद कहते हैं।

निम्न रोग क्षुद्ररोगाधिकार में है किन्तु मुख भाग में होने के कारण यहां इनका वर्णन युक्ति संगत प्रतीत होता है।

३. पाषाणगर्दभ (Mumos)—हनुसन्धि में वात-कफ के प्रकोप से शोथ उत्पन्न होता है। यह स्थिर (कठिन) स्निग्ध तथा मन्द वेदना वाला होता है।[24]

४. मुख दूषिका (युवान पिटका)—युवा मनुष्य के मुख में शाल्मलि कण्टक (सेमर के कांटों) के समान कफ, वायु तथा रक्त दोष से पिडिका उत्पन्न हो जाती है। यह रोग स्वभावतः युवा वर्ग में ही होता है।[24]

५. व्यङ्ग—क्रोध एवं श्रम से प्रकुपित वायु पित्त से युक्त होने पर मुख में श्याववर्ण का मण्डल उत्पन्न हो जाता है। यह पतला (तनु) होता है तथा वेदना रहित होता है।[24]

ओष्ठ रोग चिकित्सा—

गल दन्तमूल एवं ओष्ठ रोग में कफ एवं रक्त दोष प्रधान होने के कारण इनसे सकृद रक्त निकाल देना चाहिए।[25]

वातज ओष्ठ चिकित्सा—बाह्य उपचार—

१. वातज ओष्ठ के रोगी को तिल तैल, गोघृत, स्नेह, मधुच्छिष्ठ (मोम) मिलाकर अभ्यंग करके नाड़ी स्वेद लेना चाहिये।

२. स्वाल्वण स्वेद की औषधियों से उपनाह तथा वातनाशक क्वाथ से सिद्ध तैल से शिरोवस्ति एवं नस्य लेना चाहिये।[25]

३. तिल तैल, गोघृत; सर्जरस, सिक्थ (मोम), गुड़, रास्ना पत्र चूर्ण, सैन्धव एवं गैरिक चूर्ण समान भाग लेकर मिलावें। इसे ओष्ठ पर लगावें तो व्रण रोपण करता है या इन द्रव्यों से तैल या घृत सिद्ध करके लगावें।[26]

४. सर्जरस (राल), मधुच्छिष्ट (मोम), गुड़ समान भाग मिलाकर कल्क करके चतुर्गुण तिल तैल या घृत एवं स्नेह से चतुर्गुण जल मिलाकर स्नेह सिद्ध करके लेप करने से ओष्ठ तोद, पिडिका एवं रक्तस्राव में हितकर है।[26]

५, सर्जरस, सिक्थ, गुग्गुलुनिर्यास, देवदारु काष्ठ से सिद्ध स्नेह पिचु रखें।[27] एव इसी स्नेह में मधुयष्टि चूर्ण मिलाकर प्रतिसारण करना चाहिए।[27]

६. दुग्ध से सिद्ध एरण्ड पत्र से नाड़ी स्वेदन देना चाहिए।[27]

७. वातज ओष्ठ में स्नेहपान एवं रसायन औषधियों का सेवन करना चाहिय।[25]

पित्तज ओष्ठ चिकित्सा—१. पित्तज ओष्ठ में शिरावेध, वमन, विरेचन, तिक्त रसपान, मांसरस भोजन एवं शीतल लेप करना चाहिये।[26]

२. जलौका से रक्त निकालकर पित्त विद्रधि के समान उपचार करना चाहिए।[26]

३. लोध्र त्वक, सर्जरस, मधुयष्टि मूल चूर्ण करके समान भाग लेकर एवं घृत मिलाकर ओष्ठ मे प्रतिसारण करें।[27]

४. गूडूची, मधुयष्ठी, पत्तङ्ग से सिद्ध घृत अभ्यंग में प्रयोग करें।[27]

५. दुग्ध की मलाई को ओष्ठ पर लेप करें।[27]

कफज ओष्ठ चिकित्सा—१. सर्व प्रथम रक्तमोक्षण करके शिरोविरेचन, धूम्रपान, स्वेदन एवं कवल देना चाहिए।

२. त्रिकुट, स्वर्जिकाक्षार, यवक्षार में (सुश्रुत में विडलवण का भी उल्लेख है।) मधु मिलाकर लेप एवं प्रतिसारण से लाभ होता है।

३. रक्तनिर्हरण करके पाठामूल, यवक्षार, मधु त्रिकटु मिलाकर प्रतिसारण करें एवं कफनाशक धूम्र, नस्य, गण्डूष, कवल धारण करें।[27]

---

[22] अ. हृ. उ. २११६१-६२,५८-५९
सु. सं. नि. १६।६७-६८,
मा. प्र. मध्य. ६६।१४८-१५०
मा. नि. ५६।५५
ग. नि. धा. ५।५५-५६
यो. र. पृ. २६६

[23] अ. हृ. उ. २११६०

[24] सु. सं. नि. १३।३८,४६, ४७
मा. प्र. मध्य. ६१।३०,३७-३८
यो. र. पृ. २७०-२७३,

[25] सु. सं. चि. २२।५-६
मा. प्र. मध्य. ६६।१४-१६,

च. द. ५७।१-८,
ग. नि. धा. ५।५७-६३,
यो. र. पृ. २६७-२६८,
भै. र. ६१।१-६,

[26] यो. र. पृ. २६७,

[27] अ. हृ. उ. २२।३-१६

४. त्रिदोषज ओष्ठ—त्रिदोष में दोषानुसार चिकित्सा करें।

५. रक्तज ओष्ठ चिकित्सा—जलौका से रक्त निकाल कर पित्तज विद्रधि के समान तथा पित्तज ओष्ठ की भांति उपचार करना चाहिये।[28]

६. मेदज ओष्ठ—प्रथम स्वेदन करके ओष्ठ का भेदन करें। बढ़े हुये ओष्ठ को काटकर शोधन कषाय से प्रक्षालित करें तथा दूषित स्थान को दग्ध कर देवें।[29] (१) त्रिफला चूर्ण में मधु मिलाकर ओष्ठ में प्रतिसारण करें।[29] (२) प्रियंगु पुष्प, लोध्र त्वक्, त्रिफला चूर्ण मधु से मिलाकर प्रतिसारण करें।[27]

७. मांसज ओष्ठ रोग में मेदज के समान उपचार करना चाहिये।

८. अभिघातज ओष्ठ—रक्तज ओष्ठ की भाँति चिकित्सा करें।[28]

९. खण्ड ओष्ठ—(१) सर्जरस, स्वर्ण गैरिक, धान्यक फल, तैल, घृत, सैन्धव, मधुच्छिष्ट (मोम) से सिद्ध मलहम ओष्ठ पर लगावें तो स्फुटन-व्रण नष्ट हो जाते हैं।[30]

(२) मंजिष्ठा, कम्पिल्लक बीज रज, तुत्थ, दारुहरिद्रा मूल, जीवन्ती समान भाग लेकर दूध से कल्क करें एवं सर्जरस, मधुच्छिष्ट मिलाकर दूध पकाकर लेप करें तो त्वचा भेद में लाभ होता है।[31]

(३) तैल, घृत, सर्जरस, सिक्थ (मोम), गुड़, सैंधव, गैरिक समान भाग लेकर पाक करें, लेप से त्वचा भेद, व्रण नष्ट होता है।[31]

(४) जीवन्तिका (डोडी) मदन फल, तुत्थ, चित्रक मूल, मेदा मूल, कमल काण्ड, शालि तण्डुल को दुग्ध में क्वाथ करें। शीतल होने पर लेप करें तो ओष्ठ व्रण आदि ठीक होते हैं।[32]

(५) घृत, फणित (राब), तैल, कनक (धत्तूर) फल, गैरिक, सर्ज, लवण, मदन फल एकत्र पीसकर ओष्ठ स्फुटन में लाभ होता है।[32]

१०. जलार्बुद चिकित्सा—जलार्बुद में ओष्ठ का भेदन करके जल निकाल देने पर पिप्पली, मरिच आदि तीक्ष्ण द्रव्यों को मधु में मिलाकर प्रतिसारण करें। यदि अर्बुद गम्भीर एवं बड़ा हो तो क्षार या अग्नि दग्ध करें।[33]

११. गण्डालजी में व्रण शोथ की भांति उपचार करना चाहिये।[33]

---

[28] भै. र. ६१।४, सु. सं. चि. २२।६, अ. हृ. उ. २५।५, च. द. ५६।४, ग. नि. शा. ५।६०,

[29] च. द. ५६।७, भै. र. ६१।७-८, ग. नि. शा. ५।६३,

[30] च. द. ५।८, भै. र. ६१।९,

[31] ग. नि. शा. ५।६४-६५,

[32] यो. त. ६९।१३-१४, ग. नि. शा. ५।१६४,

[33] अ. हृ. उ. २२।१०-११,
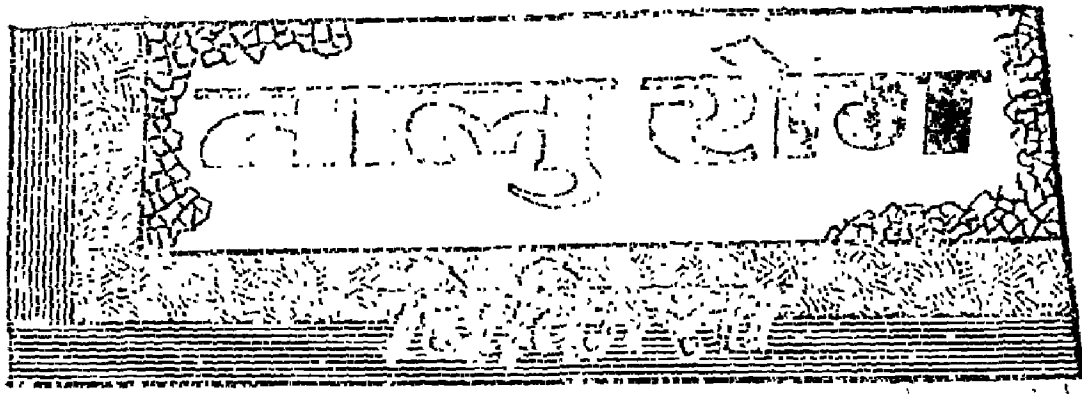
वैद्य श्री वेद प्रकाश तिवारी

तालु रोग चिकित्सा—

१. गलशुण्डी—बढ़ी हुई गलशुण्डी को यन्त्र से पकड़ कर थोड़ा सा नीचें। फिर मण्डलाग्र शस्त्र से न अधिक और न कम अर्थात् विवेक पूर्वक अधिक मूल न काटकर तृतीयांश भाग का छेदन करना चाहिये। अधिक छेदन करने से अतिरिक्तस्राव के कारण मृत्यु हो सकती है एवं हीन छेदन (कम काटने) से शोथ, निद्रा, भ्रम, तम, लालास्राव हो जाता है। एतएव दृष्टकर्म एवं निपुण चिकित्सक यत्न पूर्वक गलशुण्डी का छेदन करें। छेदनोपरान्त पिप्पली फल, अतिविषा मूल, बचा मूल, मरिच फल, कुष्ठ मूल, शुण्डी कन्द समान भाग लेकर चूर्ण कर मधु एवं सैंधव मिलाकर प्रतिसारण करना चाहिए।[34]

(१) वचा मूल, अतिविषा, पाठा, रास्ना, कुटकी मूल, निम्ब पत्र समान भाग लेकर क्वाथ सिद्ध करके कवल धारण करना चाहिए।[34]

(२) अपामार्ग क्षार से सिद्ध मुद्ग यूष का सेवन करना चाहिए।[34]

(३) मरिच फल, अतिविषा मूल, पाठा पंचांग, बचा मूल, कुष्ठ मूल, कुटन्नट (कैवटी मुस्त), सैंधव समान भाग लेकर सूक्ष्म चूर्ण करें।[34] इस चूर्ण में मधु मिलाकर प्रतिसारण करना चाहिए।

(४) नासिका के समीप (मर्म स्थान छोड़कर) शिरावेध करके रक्त निकालना चाहिए। इससे गलशुण्डी में लाभ होता है।[35]

(५) शेफाली मूल त्वक (हारसिंगार मूल त्वक) को चबाने से लाभ होता है।[35]

(६) त्रिकटु चूर्ण एवं सैंधव समान भाग लेकर मधु मिलाकर प्रतिसारण करने से गलशुण्डी पर शस्त्रोपरान्त लेप करना चाहिए।[36]

(७) स्नुक क्षीर (स्नुही) को वन कदली (काण्ठिका) के अग्र भाग से उठाकर गलशुण्डी में लेप करें तो शीघ्र नष्ट होती हैं। इससे उपजिह्विका रोग भी नष्ट होता है। इसे सावधानी से प्रयोग करना चाहिये। छेदनोपरान्त उक्त लेप प्रयोग करना चाहिए।[36]

(८) कफनाशक औषधियों के स्वरस का नस्य, प्रतिसारण एवं गण्डूष करना चाहिए।[36]
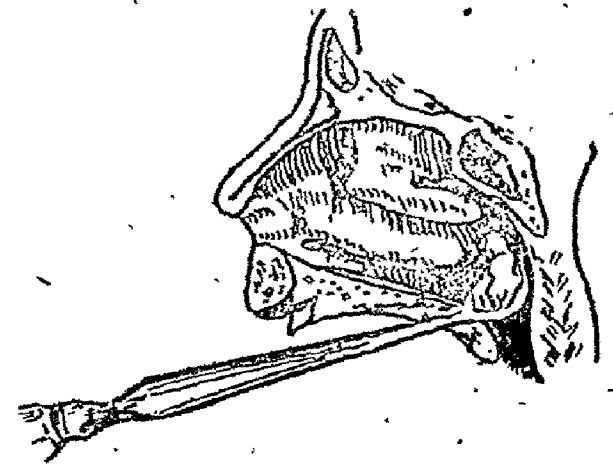
Removal of adnoids by Conchotome

---

[34] अ. हृ. उ. २२।४७-४६,
सु. सं. चि. २२।४६-५०, ५३-५४,
भा. प्र. मध्य. ६६।१०८-१०६,
च. द. ५६।६-११,
भै. र. ६१।५७-५६,
ग. नि. शा. ५।११४-११५,
यो. र. पृ. ३०४-३०५,

[35] भै. र. ६१।५८,
च. द. ५६।१०,
ग. नि. शा. ५।११०,

[36] ग. नि शा. ५।१११-११३,

२.से ६ तुण्डिकेरी, अध्रुष, कच्छपिका, मांससंघात एवं तालुपुप्पुट रोगों का उपचार (केवल औषध द्वारा) गलशुण्डी के समान ही करना चाहिए। किन्तु इसमें गलशुण्डी के समान शस्त्र क्रिया नहीं करनी चाहिए। क्योंकि इन रोगों के शस्त्र कर्म पृथक-पृथक होवे हैं।[37]

७. तालुपाक चिकित्सा—इस रोग में पित्तनाशक चिकित्सा करनी चाहिये।[38]
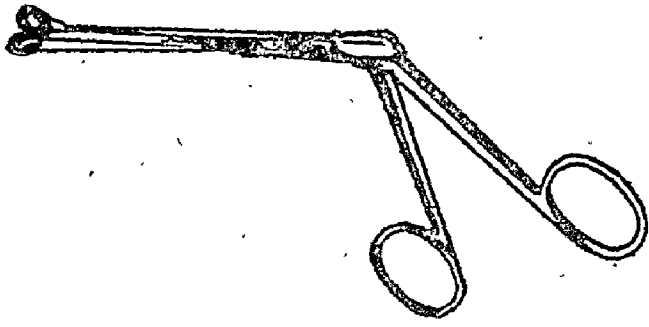
Conochtome

तालुपाक यदि पूर्ण रूप से पक गया हो तो अष्टापद (चतुरंग पीठम् तत्कोष्ठाकृति छेदनम्–Double cross incision)–छेदन करके तीक्ष्ण एवं उष्ण औषधियों से प्रतिसारण करना चाहिये। वासा, निम्ब त्वक, पटोलपत्र आदि तिक्त[39] द्रव्यों के कवल धारण करें।

८. तालुशोष चिकित्सा—तालुशोष में तृष्णा न हो तो भोजनोपरान्त घृतपान करना चाहिये। पिप्पली फल, शुण्ठी कन्द सिद्ध जल का पान तथा कांजी आदि अम्ल द्रव्यों का गण्डूष धारण करें। स्निग्ध जांगल मांसरस एवं घृत का नस्य देवें।[39]

वातनाशक स्नेहन एवं स्वेदन देना चाहिये।[40]

९. तालवर्बुद में रक्तार्बुद के समान चिकित्सा करनी चाहिये।

१०. तालु विद्रधि में दोषानुसार विद्रधि के समान चिकित्सा करें।

११. तालुकण्टक—शिशु के मुख को खोलकर तालु प्रदेश पर मधु मिश्रित यवक्षार का प्रतिसारण करना चाहिये। अथवा शुण्ठी, पिप्पली फल, सैन्धव, हरीतकी फल, कुष्ठ मूल, वचामूल को गोमय स्वरस से कल्क करें। पश्चात् वस्त्र की पोटली में दबाकर स्वरस निकालें। इस स्वरस को २–४ मि.ली. में दुग्ध एवं मधु मिलाकर शिशु को पिलाने से तालु कण्टक रोग नष्ट हो जाता है।[41]

जिह्वा रोग चिकित्सा—

१. वातज जिह्वारोग—रक्तमोक्षण प्रशस्त होता है। गुडूची काण्ड निम्ब त्वक एवं कटु द्रव्यों का कवल धारण करना चाहिये। वातज ओष्ठ रोग की शांति चिकित्सा करें।[42]

२. पित्तज जिह्वा रोग—प्रशमनार्थ जिह्वा को पारिजात पत्र आदि किसी कर्कश पत्र से घर्षण करके दूषित रक्त निकालना चाहिए। रक्त निकाले जाने के पश्चात् मधुर गण के द्रव्यों के चूर्ण को धीरे-२ जिह्वा में प्रतिसारण करना चाहिए। एवं गण्डूष तथा नस्य लेवें।[42]

३. कफज जिह्वारोग में जिह्वा कण्टकों को शस्त्र से लेखन (छील) कर या कर्कश पत्र से घर्षण करके दूषित रक्त निकालें। पश्चात् पिप्पलादि गण के द्रव्यों के चूर्ण में मधु मिलाकर प्रतिसारण करें।[42]

१. सर्षप-सैन्धव जल में मिलाकर कवल करें।[42] गौर सर्षप (पीत सर्षप को) जल से पीसकर सैन्धव मिला कर कवल धारण करने से कफज जिह्वाकण्टक नष्ट होता है।

---

37 अ. हृ. उ. २२।५०,
सु. सं. चि. २२।५६,
भा. प्र. मध्य. ६६।११०,
च. द. ५६।१,
भै. र. ६१।६०,
यो. र. पृ. ३०५

38 भा. प्र. मध्य. ६६।१११,
सु. सं. चि. २२।५८,
भै. र. ६१।६१,
च. द. ५६।१,
ग. नि. शा. ५।११७,
यो. र. पृ. ३०५,

39 अ. हृ. उ. २२।५२-५३,

40 ग. नि. शा. ५।११४,

41 र. र. समु. २२।१५०-१५३

42 सु. सं. चि. २२।४३-४८,
अ. हृ. उ. २२।४२-४६,
च. द. ५६।१-२,४,७,
भा. प्र. मध्य. ६६।९२-९६,
यो. र. पृ. ३०४
ग. नि. शा. ५।१०२, १०४, १०६, १०९,
भै. र. ६१।५०-५३, ५५, ५६,

२. पटोल पत्र, निम्ब त्वक, जातीकू यूष सिद्ध करके उसमें यवक्षार मिलाकर पिलावें एवं इसी यूष से भोजन करायें।[42]

३. सर्षप—त्रिकटु से प्रतिसारण करना चाहिये।

४. उपजिह्वा—उपजिह्वा का शस्त्र या कर्कश पत्र से लेखन (Scraping) करके यवक्षार मे मधु मिलाकर प्रतिसारण करना चाहिये। त्रिकटु, यवक्षार, हरीतकी, चित्रकमूल चूर्ण का घर्षण करें एवं इससे सिद्ध तैल का प्रतिसारण करें।[42]

गृह धूम, कांजी का क्वाथ बनाकर एवं उसमें मधु सैन्धव मिलाकर उपजिह्वा का मर्दन करने से लाभ होता है।[42]

निर्गुण्डी योग—निर्गुण्डी मूल, मूसली मूल चबाने से उपजिह्वा नष्ट होती है।[43]

कांचनार त्वक एवं खदिर त्वक क्वाथ बनाकर कवल धारण से जिह्वा दारण नष्ट होता है।[43]

५. अधिजिह्विका—जिह्वा को ऊपर उठाकर अधि जिह्वा को बडिश यंत्र से खींचकर मण्डलाग्र शस्त्र से छेदन करना चाहिये। तत्पश्चात् तीक्ष्ण एवं उष्ण द्रव्यों से घर्षण करना चाहिये।[44] या उष्ण एवं लवण द्रव्य से प्रतिसारण करें। उपजिह्विका के समान चिकित्सा करनी चाहिये। यव भोजन देवें।[44]

६. अलास—यद्यपि इसकी चिकित्सा का उल्लेख उपलब्ध चिकित्सा ग्रन्थों में नहीं पाया गया। व्रणशोथ के समान इसकी चिकित्सा करनी चाहिये।

जिह्वा जाड्यता—(१) माण भस्म (मानकन्द), सैन्धव लवण भाग लेकर चूर्ण करके तैल में मिलाकर जिह्वा का घर्षण करना चाहिये।[45]

(२) जम्बीर नीबू आदि अम्लफल में थोड़ा सा स्नुही-क्षीर मिलाकर चर्वण करने से जिह्वा जाड्यता रोग नष्ट होता है।[45]

कण्ठ रोग चिकित्सा

साध्य रोहिणी रोग में रक्त मोक्षण हितकर है। वमन, धूम्रपान, गण्डूष, नस्यकर्म करना चाहिये।[46]

१. वातज रोहिणी—रक्त मोक्षण करने के पश्चात सैन्धव लवण का प्रतिसारण करना चाहिए। सुखोष्ण स्नेह (तैल) का कवल धारण करे एवं गण्डूस करना चाहिये।[46]

अन्दर एवं बाहर से स्वेदन करके अंगुली से या लवण युक्त नख से लेखन कर्म करना चाहिये। पंचमूल क्वाथ का कवल धारण करें।[47]

२. कफज रोहिणी—रक्तमोक्षण करके गृह धूम एवं कटु द्रव्यों (त्रिकटु) से प्रतिसारण करना चाहिए।[46]

श्वेता (अपराजिता या स्फटिक या वचा), विडंग, दन्ती मूल समान भाग लेकर कल्क करें। इस कल्क से सिद्ध तैल में सैंधव लवण मिलाकर नस्य एवं गण्डूष लेवें।[46]

३. पित्तज रोहिणी—रक्तमोक्षण के पश्चात् शर्करा, मधु एवं प्रियंगु चूर्ण से प्रतिसारण करें (सुश्रुत ने प्रियंगु के स्थान पर पतंग लिखा है)। द्राक्षा, परुषक के क्वाथ का कवल धारण करना चाहिए। लोध्र, पतंग का क्वाथ बनाकर कवल धारण करने से पित्तज रोहिणी में लाभ होता है।[46]

४. रक्तज रोहिणी—पित्तज रोहिणी की भांति चिकित्सा करें।[46]

५. कण्ठ शालूक चिकित्सा—रक्तमोक्षण के पश्चात् गलशुण्डी (तालु रोग) की भांति चिकित्सा करनी चाहिए। रोगी को स्निग्ध यवान्न का भोजन एक ही काल में अल्प मात्रा में देना चाहिये।[46] शेफालिका (निर्गुण्डी) मूल चबाने से कण्ठशालूक एवं उपजिह्विका नष्ट होती है। एवं देवदारू फल मज्जा एवं वाजि विष्ठा सिद्ध तैल का नस्य देवें।[48]

---

43 यो. र. पृ. ३०४, भै. र. ६१।५६,

44 सु. सं. चि. २२।६५, अ. हृ. उ. २२।४५, ग. नि. शा ५।१२४-१२५, भै. र. ६१।६६, च. द. ५६।६ भा.प्र.म. ६६।१३८ यो.र.पृ. ३०५

45 च. द. ५६।५ भै. र. ६१।४४

46 सु. सं. चि. २२।६०-६१,६३-६४; अ. हृ. उ. २२।५४, ६०-६२; भा. प्र. मध्य, ६६।१३५-१३८; च. द. ५६।३-८; यो. र. पृ. ३०५; ग. नि. शा. ५।११८-१२३; भै.र. ६१।६२, ६३-६४६५-६८;

47 अ. हृ. उ. २२।५६;

48 ग. नि. शा. ५।१७२-१७३;

६. एक वृन्द—एक वृन्द से विस्रावण कर्म (रक्त निकाल) करके कण्ठ स्थित दोष का शोधन उपचार करना चाहिये।[49]

७. वृन्द—एक वृन्द के समान चिकित्सा करनी चाहिए। तथा शास्त्रोपचार करें। कफज रोहिणी के समान चिकित्सा करें।[49]

८. शिलायु—कफज रोहिणी के समान चिकित्सा करें। शस्त्र कर्म करना चाहिए एवं व्रण के समान उपचार करें।[49]
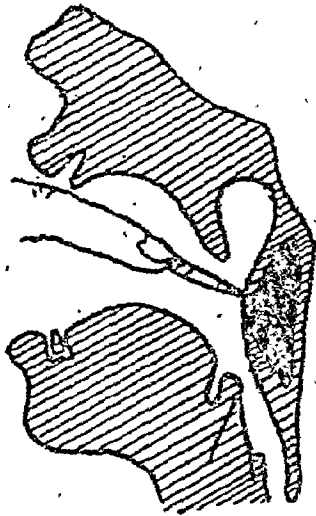
गल-विद्रधि
छेदन स्थल एवं विधि

९. गलविद्रधि—विद्रधि मर्मस्थान में न हो एवं सुपक्व हो गई हो तो छेदन कर्म करें।[49]

शस्त्र से रक्त विस्रावण करके श्रेष्ठा (त्रिफला), रोचना (हरिद्रा), ताक्ष्यं (रसाञ्जन), गैरिक, लोध्र, लवण, पतंग, पिप्पली क्वाथ से गण्डूष करना चाहिये।[50]

१०. गलार्बुद—जो नवीन और अधिक बढ़ा हुआ न हो तो छेदन कर्म करके शुण्ठी, स्वर्जिकाक्षार में मधु मिलाकर प्रतिसारण करें। गुडूची, निम्ब कल्क में मधु, तैल मिलाकर गण्डूष करें। यवान्न का सेवन करें तथा तीक्ष्ण तैल का नस्य एवं अभ्यंग करना चाहिये।[51]

अन्य कण्ठरोगों की चिकित्सा का उल्लेख उपलब्ध ग्रन्थों में नहीं है। अतः उनकी दोषानुसार चिकित्सा करनी चाहिए।

कण्ठरोगों की सामान्य चिकित्सा—

रक्तमोक्षण के पश्चात् तीक्ष्ण नस्य देवें। एवं शोधन द्रव्यों से प्रतिसारण करना चाहिए।[52]

१. दार्व्यादि क्वाथ—दारुहरिद्रा काण्ड त्वक, निम्ब त्वक, ताक्ष्यं (रसाञ्जन), कुटज बीज का क्वाथ सिद्ध करें। इस क्वाथ में मधु मिलाकर सेवन करें तो वातज गल रोग नष्ट होता है। अथवा केवल हरीतकी फल का क्वाथ देवें।[52]

२. द्राक्षादि क्वाथ—द्राक्षा, कटुकी, त्रिकटु, त्रिफला, दारुहरिद्रा, घन (मुस्त), पाठा, रसाञ्ज, दूर्वा, तेजवल समान भाग लेकर चूर्ण करके मधु मिलाकर प्रयोग से कफज गल रोग नष्ट होता है।[53]

३. यवाग्रजादि वटी—यवक्षार, तेजवल त्वक्, पाठा, रसाञ्जन, दारुहरिद्रा काण्ड त्वक्, पिप्पली फल समान भाग लेकर चूर्ण करके मधु से वटी बनाकर मुख में धारण करने से समस्त गल रोग नष्ट होते हैं।[54]

४. कटुकादि क्वाथ—कटुकीमूल, अतिविषा मूल, देवदारु काष्ठ,पाठा पंचांग, मुस्त मूल, कुटज बीज समानभाग लेकर गोमूत्र से क्वाथ करके पीने से समस्त कण्ठ रोग नष्ट होते हैं।[55]

५. दशमूल का मन्दोष्ण क्वाथ या मूलक मूल, कुलत्थ बीज के यूष पान से कण्ठ रोग में लाभ होता है।[56]

---

[49] सु. सं. चि. २२।६६,६७,
यो. र. पृ. ३०६ ;
ग. नि. शा. ५।१२६,१२७,
भै. र. ६१।७०-७२ ;
च. द. ५६।१०-११ ;
भा. प्र. ६६।१३९-१४०
अ. हृ. उ. २२।६३

[50] अ. हृ. उ. २२।६४ ;

[51] अ. हृ. उ. २२।७८ ;

[52] भा. प्र. मध्य ६६।१४१-१४३
च. द. ५६।१२-१३ ;
भै. र ६१।७३ ;
ग. नि. शा. ५।१२७-१२८
यो. र. पृ. ३०६
अ. हृ. उ. २२।५४-५५

[53] भा. प्र. मध्य. ६६।१४४-१४५ ;

[54] च. द. ५६।२०
भा. प्र. मध्य. ६६।४६,
यो. र. पृ. ३०६,
भै. र. ६१।७५,
ग. नि. शा. ५।१३०,

[55] च. द. ५६।१४,
भै. र. ६१।७४,
यो. र. पृ. ३०६,
ग. नि. शा. ५।१२९,

[56] भै. र. ६१।७६,

६. दुग्ध या ईक्षु स्वरस या गोमूत्र या दधिमस्तु या अम्ल द्रव्य या कांजी। इसमें से दोषानुसार किसी एक द्रव द्रव्य का पान या कल्क धारण करने से कण्ठ रोग नष्ट होता है।[57]

७. जाति पत्र, एला बीज, मातुलुङ्ग फल, तेजपत्र, लाजा, पिप्पली फल समान भाग लेकर सूक्ष्म चूर्ण १-३ ग्राम को मधु के साथ सेवन करने से कण्ठध्वनि सुरीली हो जाती है।[58]

८. द्राक्षा फल, कटुकी मूल, त्रिकटु समान भाग लेकर चूर्ण करें। १-२ ग्राम को मधु में मिला कर सेवन से गल रोग नष्ट होते हैं।[59]

९. दारुहरिद्रा काण्ड त्वक्, त्वग (दालचीनी), त्रिफला, घन (मुस्त) मूल समान भाग लेकर चूर्ण करें। २-३ ग्रा० चूर्ण को मधु के साथ सेवन से पित्तज गल रोग नष्ट होते हैं।[59]

१०. दूर्वा, तेजवल, पाठा पंचांग, रसाञ्जन(दारुहरिद्रा घन क्वाथ)समानभाग लेकर चूर्ण करें। २-३ ग्रा. को मधु के साथ सेवन से कफज गल रोग नष्ट होता है।[59]

११. श्रेष्ठा (त्रिफला), त्रिकटु, यवक्षार, दारुहरिद्रा काण्ड त्वक्, चित्रक (द्विणी), रसाञ्जन, पाठा पंचांग, तेजवल, निम्ब त्वक्। प्रत्येक द्रव्य समान भाग लेकर सूक्ष्म चूर्ण करें। इस चूर्ण में शुक्त एवं गोमूत्र मिला कर कवल धारण करने से या वटी बना कर प्रतिसारण से गल रोग नष्ट होते है।[60]

१२. निचुल (हिज्जल या कदम्ब), कटभी (ज्योतिष्मती), मुस्त, देवदारू, शुण्ठी, वचा, दन्ती मूल, मूर्वा मूल समान भाग लेकर कल्क कर लेप गल शोथ नाशक है।[60]

१३. पिप्पल्यादि चूर्ण—पंचकोल, स्वर्जिकाक्षार, यवक्षार समान भाग लेकर चूर्ण कर मुख में धारण करना चाहिये।[61]

सर्वसर रोग (मुख रोग) चिकित्सा—

१. वातज सर्वसर—पंचलवण से प्रतिसारण करना चाहिए। वात नाशक द्रव्य से सिद्ध तैल का कवल एवं नस्य धारण करना चाहिए। (भै० र० में ज्योतिष्मती चूर्ण का उल्लेख है प्रतिसारण हेतु)।[62] पिप्पली फल, लवण,एला चूर्ण से प्रतिसारण करना चाहिये।[62]

२. पित्तज सर्वसर—वमन विरेचन से शरीर का शोधन करना चाहिये। पित्तनाशक मधुर एवं शीत उपचार करना चाहिए। तथा प्रतिसारण गण्डूष, धूम्रपान द्वारा संशोधन करना चाहिये पित्तनाशक उपचार करें।[62]

३. कफज सर्वसर—कफनाशक चिकित्सा करनी चाहिये। कफनाशक प्रतिसारण, गण्डूष, धूम्रपान सेवन करना चाहिए। वमन तथा शिरोविरेचन देना चाहिए। शाक पत्र से लेखन कर्म करें।[62]

४. सन्निपातज (त्रिदोषज) सर्वसर में दोषानुसार चिकित्सा करें।[63]

अतिविषा, पाठा मूल, मुस्त मूल, देवदारू काष्ठ, कुटज फल, कटुकी, समान भाग लेकर सूक्ष्म चूर्ण करें। १-३ ग्राम को गोमूत्र के साथ सेवन से कफज मुख रोग नष्ट होते हैं।[64]

५. उर्ध्वगुद (मुख दुर्गन्ध)—(१) बीजपूर फल त्वक मुख में रख कर चबाने से मुख दुर्गन्ध नष्ट होती है तथा आमपाक से उत्पन्न वात विकार नष्ट होता है।[65]

(२) कुष्ठ मूल, एलवालुक, एला बीज, मधुक, धान्यक फल, मधुयष्टि मूल, बला (खरेटी) पचाङ्ग समान भाग लेकर चूर्ण को मुख में रख कर सेवन से मुखदौर्गन्ध्य रोग नष्ट होता है।[66] लशुन, मद्य एवं प्याज की गन्ध को भी नष्ट करता है।

(३) पथ्यावटी—हरीतकी फल, वालक (नेत्रवाला), कुष्ठ मूल, चूर्ण को गोमूत्र से पकाकर घन करके वटी बना कर सेवन से या मुख में रख कर चबाने से मुख दुर्गन्ध नष्ट होती है।[67]

---

[57] भै. र. ६१।७७, च. द. ५६।२१,
[58] यो. त. ६६।१६,
[59] यो. र. पृ. ३०६,
[60] अ. हृ. उ. २२।५६-५७, सु. सं. चि. २२।६७,
[61] च. द. ५६।१७, मा. प्र. मध्य. ६६।१५३,
[62] अ. हृ. उ. २२।७५-७६, यो. र. पृ. ३०६-३०७, ग. नि. शा. ५।१३३-१३५, च. द. ५६।२५-२७, भै. र. ६१।७६,
[63] अ. हृ. उ. २२।७६,
[64] सु. सं. चि. २२।७४-७५,
[65] मा. प्र. मध्य. ६६।१६४,
[66] च. द. ५६।४०, यो. त. ६६।१७, भै. र. ६१।६१, ग. नि. शा. ५।१६७,
[67] भै. र. ६१।१२२

(४) कुष्ठ (गद) मूल, मदन(मरुवक) फल, जातिकोश, जातीफल समान भाग लेकर यव कुटकर मुख में धारण कर चबाने से मुख दुर्गन्ध नष्ट होती है।[68]

(५) वमन कराकर तीक्ष्ण धूम एवं नस्य प्रयोग करें। समङ्गा (लज्जालू), धातकी पुष्प, लोध्रत्वक, फलिनी, पद्मक काष्ठ के क्वाथ से प्रक्षालन करना चाहिए। इससे मुख दुर्गन्ध नष्ट होती है।[69]

(६) सहकार वटी–एला लता लवनिका (लता कस्तूरी), लवंग, जातीफल, कर्पूर, जावित्री, शीतल चीनी, अगुरु समान भाग लेकर चूर्ण करें। पुटपक्व होने पर कल्क निकालकर योग के एक भाग के बराबर कर्पूर मिलालें। पुनः हाथ में सहकार रस (आम छेदी रस) लगाकर वटी बनावें। इसे मुख में रखकर चबाने से मुख दुर्गन्ध नष्ट होती है।[70]

पाषाणगर्दभ चिकित्सा – (१) कुशल चिकित्सक प्रथम मुख का स्वेदन करें। पश्चात मनःशिला, कुष्ठ मूल, हरिद्रा कन्द, हरताल, देवदारु काष्ठ समान भाग लेकर सूक्ष्म चूर्ण करें। इसे जल से कल्क कर मुख पर लेप करें। लेप से परिपक्व होने पर व्रण के समान चिकित्सा करनी चाहिये।[71]

(२) जलौका से रक्तविस्रावण (रक्त निकालकर) कर्म करके बिना औषधि के प्रयोग से ही पाषाण गर्दभ शान्त होता है।[72]

युवानपिडिका (मुख दूषिका)—

(१) लेप, सिरावेध, अभ्यंग करना चाहिए।[73]

(२) जातीफल, रक्तचन्दन, मरिच पीसकर लेप करना चाहिए।[73]

(३) लोध्रत्वक, धान्यक फल, वचा मूल का लेप करें।[74]

(४) गोरोचन, मरिच फल के लेप से युवान पिडिका नष्ट होती है।[74]

(५) सिद्धार्थक (सर्षप), वचा मूल, लोध्रत्वक, सैन्धव का लेप करें।[75]

(६) तीक्ष्ण शाल्मलि कण्टक को दुग्ध से पीसकर मुख में लेप करने से तीन दिन में पिडिकायें नष्ट होती हैं।[75]

नोट—आधा अंगुल मोटा लेप उत्तम, तिहाई अंगुल मध्यम एवं चौथाई अंगुल मोटा लेप निकृष्ट होता है। लेप को जब तक औषध सूख न जाय मुख पर ही रहने देवें। सूखने के बाद निकाल कर अलग करदें। सूखने के बाद लेप रहने से त्वचा को दूषित कर देता है।[76]

७. गोदुग्ध से अर्जुन त्वक पीसकर या मंजिष्ठा मधु में मिलाकर या शाल्मलि कंटक दुग्ध में पीसकर पिडिका में लेप करें।[77]

व्यंग-नीलिका चिकित्सा—

१. भङ्ग (विजया) पत्र. स्थविर मूल (विधारा), शिंशपा मूल के उद्वर्तन से न्यच्छ व वंग नष्ट होते हैं।[77]

२. अर्जुनत्वक, मंजिष्ठा, वासा समान भाग लेकर मधु में मिलाकर लेप करें तो व्यंग नष्ट होती है।[77]

३. श्वेत अश्व के खुर की भस्म में नवनीत मिलाकर व्यंग में लेप करें।[77]

४. प्रियंगू पुष्प, काश्मीरज (केशर), कोल मज्जा, ह्रीबेर (सुगन्धवाला), चन्दन समान भाग लेकर जल से पीसकर लेप करें तो मुख स्वच्छ होता है।[78]

५. वट शुङ्ग, मसूर पीसकर लेप से व्यंग नष्ट होता है।[79]

६. मंजिष्ठा, मधु मिलाकर लेप करें तो व्यंग नष्ट होता है।[79]

७. शश रक्त का मुख पर लेप व्यंगनाशक है।[79]

८. वरुण त्वग अजा मूत्र से पीसकर लेप करें। या वरुण त्वक कषाय से मुख धोयें। व्यंग नष्ट होता है।[79]

९. जातीफल लेप से व्यंग-नीलिका नष्ट होती है।[79]

१०. अर्क दुग्ध, हरिद्रा चूर्ण कर मुख पर लेप से व्यंग नष्ट होती हैं।[79]

११. मसूर दाल दुग्ध से पीसकर घृत मिलाकर लेप से मुख कांतिप्रद होता है।[79]

---

68 ग. नि. शा. ५।१६६,
69 अ. हृ. उ. २२।७९–८०,
70 च. द. ५६।५४–५५,
71 भा. प्र. मध्य. ६१।२८–२९, यो. र. २७७,
72 भा. प्र. मध्य. ६१।३०
73 यो. र. पृ. २८२
74 यो. र. पृ. २८२ भा. प्र. मध्य. ६१।३४
75 भा. प्र. मध्य. ६१।३५–३६ सु. चि. २०।३७
76 भा. प्र. मध्य. ६१।३२–३३
77 यो. र. पृ. २८२-२८३; र. र. स. २४।४७
78 यो. त. ६९।१८;
79 भा. प्र. मध्य. ६१।४०-४५; यो. र. पृ. २८२-२८३;

१२. वट के पीले पत्ते, मालती पुष्प, रक्तचन्दन, कुष्ठ, कालीयक (पीत चन्दन), लोध्र त्वक पीसकर लेप से व्यंग-नीलिका नष्ट होती है।[79]

१३. जाती पत्र एवं फल का लेप व्यंगनाशक है।[80]

१४. बीजपूर मूल, मनःशिला, गोमय, घृत समान भाग पीसकर लेप करे।[77]

१५. जहाँ पर व्यंग-नीलिका हो उस स्थान को घिस कर समुद्रफेन, क्षीरवृक्ष त्वक, बला, अतिबला, मधुयष्टि, हरिद्रा को दुग्ध से पीसकर लेप करें।[81]

१६. अर्क पुष्प (पयस्या), अगर, कालीयक, गैरिक, शूकर दन्त चूर्ण को मधु-घृत मे मिलाकर लेप करें तो व्यंग-नीलिका नष्ट होती है।[81]

१७. कपित्थ एवं राजादन (खिरनी) का लेप करें।[81]

१८. प्रफुन्नाट, लोध्र, दारुहरिद्रा चूर्ण से मुख में उद्वर्तन (उबटन) करे।[82]

१९. मजिष्ठादि तैल—मंजिष्ठा, मधुयष्टि, लाक्षा, बीजपूर, मधुक पुष्प प्रत्येक १०-१० ग्राम लेकर अजादुग्ध एवं तैल (अजा दुग्ध से आधा भाग) लेकर तैल सिद्ध करके अभ्यंग-लेप से मुख व्यंग-नीलिका नष्ट होती है।[77]

२०. श्वेत पुनर्नवा मूल, सर्पाक्षी मूल जल से पीसकर, उद्वर्तन (उबटन) करने से स्त्री के मुख की नीलिका ठीक होती है।[83]

२१. हरिद्रा, रक्तचन्दन समान भाग लेकर भैस के दुग्ध से पीसकर उद्वर्तन से कपोल की श्यामता ठीक होती है।[83]

२२. वंग भस्म को भैस के मूत्र या दुग्ध से पीसकर लेप से व्यंग नष्ट होता है।[83]

२३. हरिद्रा, दारुहरिद्रा, मंजिष्ठा, गौर सर्षप, स्वर्ण गैरिक समान भाग लेकर सूक्ष्म चूर्णकर अजा दुग्ध एवं घृत मे मिलाकर लेप करने से मुख की कान्ति बढती है।[84]

मुख रोग की सामान्य चिकित्सा—

१. जातीपत्र (चमेली), अमृत (गुडूची), द्राक्षा, यवास, दारुहरिद्रा, त्रिफला का क्वाथ बनाकर शीत होने पर मधु डालकर गण्डूष करने से मुखपाक नष्ट होता है।[85]

२. जातीपत्र (चमेली) बार-बार चबाने से मुखपाक ठीक होता है।[86]

३. कृष्ण जीरक, कुष्ठ, इन्द्रयव (बाल वच ?) चबाने से तीन दिन मे ही मुखपाक—व्रण, क्लेद, दौर्गन्ध नष्ट होता है।[87]

४. पटोल, निम्ब, जम्बू आम्र, मालती के नवपल्लव क्वाथ से मुख प्रक्षालन या गण्डूष करना चाहिए।[88]

५. पंचवल्कल या त्रिफला क्वाथ में मधु मिलाकर प्रक्षालन या गण्डूष करने से मुखपाक नष्ट होता है।[88]

६. तिल, नीलोत्पल, शर्करा, घृत, क्षीर मधु से गण्डूष करने से मुखपाक एवं दग्ध मुख में लाभ होता है।[89]

७. सप्तच्छद, उशीरमूल, पटोल पत्र, मुस्त मूल, हरीतकी फल, रोहणी, मधुयष्टि मूल, आरग्वध, चन्दन का क्वाथ पीवे तो मुखपाक नष्ट होता है।[90]

८. पान में लगे चूने से मुख दग्ध होने पर या इस कारण उत्पन्न छालों पर बार-बार तैल या अम्ल कांजी के गण्डूष करें।[91]

९. क्षार आदि या अति उष्ण द्रव पदार्थ के सेवन से मुख के अन्तर्भाग में जल जाने पर उक्त योग प्रयोग करें या तिल चूर्ण, नीलकमल, घृत, शर्करा, दुग्ध, मधु मिलाकर गण्डूष करना चाहिये।[92]

---

80 ग. नि. शा. ५।१४९ ;
81 सु. सं. चि. २०।३५ ;
82 अ. हृ उ. ३२।८७ ;
83 र. र. स. २४।४४–४६
84 र. र. स. २४।४८
85 भा. प्र. मध्य. ६६।१५७, ग. नि. शा. ५।१३७, यो. र. पृ. ३०७, यो. त. ६६।२७, भै.र. ६१।८३,
86 ग. नि. शा. ५।१३६ च. द. ५६।२८, भै. र. ६१।२८
87 भा. प्र. मध्य. ६६।१५८, भै. र. ६१।८३, ८८, च. द. ५६।३०, यो. र. पृ. ३०७
88 भा. प्र. मध्य. ६६।१६० यो र.पृ. ३०७, ग.नि.शा. ५।१३८ भै. र. ६१।८५, ८४ च. द. ५६।३३, यो, त. ६६।२७
89 च. द. ५६।३७ भा. प्र. ६६।१६३, ग. नि. शा. ५।१४७
90 अ. हृ. उ. २२।१०३, ग. नि. शा. ५।१४०, भा. प्र. मध्य. ६६।१६१ यो. त. ६६।२८, भै. र. ६१।६२
91 ग. नि. शा. ५।१७१, यो. र. पृष्ठ ३०८ यो. त. ६६।१९, र. र. स. २४।६०
92 भै. र. ६१।८६।९०

१०. मुखपाक में शिरावेध (जिह्वा के अधः प्रदेश की शिरा का वेध) कर रक्त निकालना चाहिये। शिरोविरेचन एवं विरेचन देना चाहिये।[93]

११. हरिद्रा, निम्ब, मधुयष्टि, नीलोत्पल से सिद्ध तैल मुखपाक में उत्तम है।[94]

१२. जावित्री, कंकोल, कर्पूर, मरिच पुग समान भाग लेकर सूक्ष्म चूर्ण करें। इस योग के बराबर खदिर-सार चूर्ण मिलाकर १-१ ग्राम वटी बनाकर मुख में धारण करने से मुख रोग नष्ट होता है।[95]

१३. दारुहरिद्रा काण्ड त्वक् का क्वाथ बनाकर उसे गाढ़ा (घन क्वाथ) तैयार कर लें। इसमें मधु मिलाकर लगाने से मुखरोग, रक्तविकार, नाड़ीव्रण नष्ट होता है।[96]

१४. मधुयष्टि, नीलोत्पल समान भाग लेकर २५० ग्राम का कल्क करें। तैल १ किलो, दुग्ध २ किलो लेकर मिलाकर मन्दाग्नि से पाक करें। तैल सिद्ध होने पर छान कर सेवन से मुखदोष, पाक नष्ट करता है। अभ्यंग केश-पातन में लाभ करता है।[97]

१५. त्रिफला, त्रिकटु का क्वाथ या पर्पट, कटफल त्वक, शुण्ठी कन्द, भ.र्गी मूल, भूतिक (कंजा), धान्यक, घन (मुस्त), देवदारु, बचा, हरीतकी फल का क्वाथ देवें तो मुख-गल-तालु रोग नष्ट होते हैं।[98]

१६. त्रिफला, पाठा, द्राक्षा, जातिपत्र के क्वाथ में मधु मिलाकर पीने से मुख रोग नष्ट होता है[99]

१७. द्राक्षा, पटोल, मधुयष्टि (मधुक), निम्ब, त्रिवृत्त, हरिद्रा, सुमन (चमेली), सैन्धव समान भाग लेकर कल्क करें। इसमें मधु मिलाकर व्रण शोधनार्थ लेप करें तो मुखरोग नष्ट होते हैं।[100]

१८. द्राक्षा, गुडूची, सुमन, दारुहरिद्रा, यवास, त्रिफला के क्वाथ में मधु मिलाकर गुण्डूष करें तो मुख रोग नष्ट ोते हैं।[100]

१९. हरिद्रा, जीवन्ती, देवदारु, मंजिष्ठा, शालि-तण्डुल, मुस्त समान भाग लेकर चूर्ण करें। इसमें सिक्थ (मोम) मिलाकर तथा पकाया दुग्ध मिलाकर लेप करें तो मुख रोग नष्ट होता है।[101]

२०. मुख की दुर्गन्ध में वमन कराकर तीक्ष्ण धूम एवं नस्य प्रयोग करें। समंगा (लज्जालू या मजिष्ठा) मूल, धातकी पुष्प, लोध्र त्वक, फलिनी पुष्प, पद्मक काष्ठ के क्वाथ से मुख का प्रक्षालन करें तो मुख की दुर्गन्ध दूर होती है।[102]

२१. कण्टकारी पंचांग, गुडूची काण्ड, दारुहरिद्रा, यवास, त्रिफला, सुमन (मालती) समान भाग लेकर चूर्ण का कवल मुख रोग नष्ट करता है।[103]

२२. गोमूत्र से पकाया हरीतकी चूर्ण ३ भाग, मधुरी (सौंफ), कुष्ठ, बालक (सुगन्धवालक) प्रत्येक १-१ भाग लेकर सूक्ष्म चूर्ण करें। १-३ ग्राम सुखोष्ण जल से सेवन करें तो मुख रोग नष्ट होता है।[104]

२३. त्रिफला, पाठा, द्राक्षा, जातीपत्र एवं अन्य तिक्त द्रव्य के क्वाथ में मधु मिलाकर प्रक्षालन करें।[105]

२४. तण्डुल पीसकर लवण मिलाकर तीन दिन तक मुख में रखने से मुखरोग नष्ट होते हैं।[106]

२५. विष्णुकान्ता मूल मरिच के साथ मुख में रखने से मुख शूल नष्ट होता है।[106]

२६. विष्णुकान्ता पत्र, कुवलय (नीलकमल) और अश्वत्थ पत्र प्रातःकाल मुख में रखने से मुख की वेदना नष्ट होती है।[106]

२७. मुख लूता नष्ट करने के लिये केतकी (चमेली) पत्र के जल या क्वाथ से गण्डूष करना चाहिए।[107]

२८. शुण्ठी, पुग या मरिच, गोमूत्र, नारिकेल जल का क्वाथ के कवल धारण से अधिजिह्विका रोग नष्ट होता है।[107]

---

93 भै. र. ६१।८२, च. द. ५६।२८,
94 भा. प्र. मध्य. ६६।१६४,
95 यो. र. पृ. ३०८,
96 च. चि. २६।२०२, अ. हृ. उ. २२।१०५, भा. प्र. मध्य, ६६।१६१, च.द. ५६।३४, यो.र. पृष्ठ ३०७
ग. नि. शा. ५।१३६, भै. र. ६१।८६,
97 भा. प्र. मध्य. ६६।१६६-६७,
98 यो. त. ६६।४
99 ग. नि शा. ५।१४२, भै. र. ६१।८७,
100 ग. नि. शा. ५।१४५-४६
101 ग. नि. शा. ५।१५५,
102 अ. हृ उ. २२।७९-८०,
103 अ. हृ. उ. २२।९७,
104 च. द. ५६।२४, र. र. स. २४।५१, ग. नि. शा. ५।१६८ भै. र. ६१।७८,
105 च. सं. चि. २६।२०५
106 वै. मनो. १६।७१, ७७
107 व. मनो. १६।७८, ७९

२९. मुखपाक में अश्वत्थ (बोधित्वग) चूर्ण को घृत-मधु मिलाकर लेप करें या जातीपत्र, हरीतकी, मधुयष्ठि, दारुहरिद्रा समान भाग लेकर चूर्ण करके घृत-मधु के साथ लेप करें तो मुखपाक दूर होता है।[108]

३०. आमलकी चूर्ण को दुग्ध से प्रतिदिन गलगीलक नष्ट करने हेतु पीवें।[109] स्वर भंग में भी लाभकर होता है।

३१. शु. कुपीलू १२५ मि. ग्रा., शुण्ठी, हरीतकी प्रत्येक १-१ ग्राम लेकर मुख में रखकर चूसें तो गलकीलक नष्ट होता है।[109]

३२. सैन्धव, अर्कदुग्ध मिलाकर लेप करें तो गल-कीलक नष्ट होते हैं।[109]

३३. शु. भल्लातक चूर्ण गले के बाहरी भाग में लेप से गलकीलक नष्ट होता है।[109]

३४. जयन्ती को जयन्ती सिद्ध तैल में लिप्त कर जिह्वा घर्षण एवं जयन्ती दन्तुवन से दौर्गन्ध्य नष्ट होता है।[103]

३५. महाराष्ट्री (जल पीपली) चूर्ण को निम्ब, आर्द्रक रस से चार बार भावित करके वटी बनाकर सेवन से मुख शोष नष्ट होता है।[109]

३६. कुष्ठ, बालक (नेत्रवाला), हरीतकी को चूर्ण कर गोमूत्र से मर्दन कर वटी बनावें। इसे मुख में रखकर चूसने से दुर्गन्ध नष्ट होती है।[110]

३७. गृहधूम को कांजी के साथ क्वाथ कर मधु, सैन्धव मिलाकर गण्डूष करें तो मुख दुर्गन्धि नष्ट होती है।[110]

३८. लाजा, जातीफल, पूग समान भाग लेकर चूर्ण-कर ६-१२ ग्रा. को जल के साथ सेवन से मुख दुर्गन्धि नष्ट होती है।[110]

३९. कांजी में लवण मिलाकर गर्म करके सुखोष्ण गण्डूष से मुखवैरस्य नष्ट होता है।[111]

४०. लौह किट्ट को भैंस मूत्र से भावित कर थोड़ा पकाकर गल में लेप से गले के रोग नष्ट होते हैं।[112]

४१. रात्रि को सोते समय सैन्धव, कुटज बीज, मरिच समान भाग लेकर चूर्ण करें। शाम को उष्ण जल के सेवन से गलदाह शान्त होता है।[113]

४२. करञ्ज फल मज्जा चूर्ण १ ग्राम या हरीतकी चूर्ण २ ग्राम को उष्ण जल या मधु के साथ लेने से गल-दाह शान्त होता है।[113]

क्वाथ—

४३. पटोलादि क्वाथ—पटोल, मुस्त, आमलकी, उत्पल, दुरालभा, चन्दन रक्त, सारिवा मूल समान भाग लेकर क्वाथ सिद्ध कर मधु मिश्री मिलाकर सेवन से मुख रोग नष्ट होता है।[114]

४४. शुण्ठी क्वाथ—शुण्ठी, पटोल, त्रिफला, विशाला (माहरि), त्रायन्ती, कटुकी, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, गुडूची को समान भाग लेकर क्वाथ कर १४-२८ मि. ली. में मधु मिलाकर सेवन करें।[115]

४५. किरातादि क्वाथ—किरात तिक्त, कटुकी मूल, जाती पत्र, निम्ब, पटोल पत्र समान भाग लेकर घन क्वाथ तैयार करें। इसमें मधु मिलाकर मुख रोगों में प्रयोग करें। प्रतिसारण करें।[116]

४६. कटुकादि क्वाथ—कटुकी, अतिविषा मूल, पाठा, दारुहरिद्रा, मुस्त, कुटज बीज (कलिंग) समान भाग लेवे। सब कूट कर गोमूत्र में क्वाथ सिद्ध करें। १४-२८ मि. ली. दिन में दो बार सेवन से कण्ठ रोग दूर होते हैं।[117]

चूर्ण—

४७. पिप्पल्यादि चूर्ण—पिप्पली फल, अगुरु, दारु-हरिद्रा, यवक्षार, रसाञ्जन, पाठा, तेजवल, हरीतकी, समान भाग लेकर सूक्ष्म चूर्ण करें। इसमें मधु मिलाकर मुख में धारण करें। सीधू, माध्वीक, मद्य के साथ कवल धारण करें तो मुख रोग नष्ट होते हैं।[118]

४८. मृद्वीकादि चूर्ण—मृद्वीका, कटुकी, त्रिकटु, दारुहरिद्रा काण्ड त्वक, त्रिफला, मुस्त (घन) समान भाग लेकर सूक्ष्म चूर्ण करें। २-४ ग्राम को घृत मण्ड में मिलाकर दिन में २-३ बार कण्ठ में धारण करना चाहिए।[118] यह कफ प्रधान दोष में लाभकर है।

---

108 र. र. स. २२।१५६,
109 र. र. समु. २४।३७-४१-४३ २५।४५,
110 र. र. स. २४।४६,५०,५२,
111 र. र. स. २४.५६,
112 र. र. स. २४।६३,
113 र. र. स. २५।४८-४९
114 ग. नि. शा. ५।१४३
115 यो. र. पृ. ३०८ भै. र. ६१।६३ च. द. ५३।३६
116 ग. नि. शा. ५।१४४,
117 च. सं. चि. २६।२०१,
118 च. सं. चि. २६।१८८,

४९. पाठादि चूर्ण—पाठा, रसाञ्जन, मूर्वा, तेजबल त्वक समान भाग लेकर सूक्ष्म चूर्ण करें। इसमें मधु मिलाकर मुख में धारण करने से मुख रोग नष्ट होते हैं।[119]

५०. देवदार्वादि चूर्ण—देवदारु काष्ठ, पिप्पली (कणा) फल, त्रिकटु शताह्वा (सौंफ), पत्रक (तेजपत्र), शिला (मनःशिला), वचा, सैन्धव, शिग्रु मूल प्रत्येक द्रव्य समान भाग लेकर सूक्ष्म चूर्ण करें। ३-६ ग्राम चूर्ण को २ मास तक सेवन से स्वरभंग रोग नष्ट होता है।[120]

५१. कालक चूर्ण—गृहधूम, यवक्षार, पाठा पंचांग, त्रिकटु, त्रिफला, तेजोवती त्वक, रसाञ्जन, लोध्र त्वक, चित्रकमूल प्रत्येक द्रव्य समान भाग लेकर चूर्ण करें। ३-६ ग्राम मधु मिलाकर कवल धारण करें। च. द. एवं अ. हृ. में लोह भस्म का भी उल्लेख है।[121]

५२. पीतक चूर्ण—मनःशिला, यवक्षार, हरताल, सैन्धव, दारुहरिद्रा त्वक सूक्ष्म चूर्ण कर मधु मिलाकर घृत मण्ड से मूर्छित कर एवं मुख रोग में धारण करें।[122]

५३. काकोदुम्बरिका मूल को तण्डुलोदक से पीसकर सेवन करने से मुख से रक्त निकलने को रोकता है[123]।

५४. मुख पाक में मधु के साथ मुख प्रक्षालन करें। त्रिफला, पाठा, द्राक्षा, जातीपत्र क्वाथ से प्रक्षालन करें तथा कुठेरकादि गण का भक्षण करें[124]।

वटी—

५५. खदिर वटी—खदिर त्वक ५ कि० ग्रा० लेकर यवकुट कर अष्टगुण जल में क्वाथ करें। चतुर्थांश शेष रहने पर वस्त्र से छानकर इसमें जातिकोश, इन्दु (कपूर), पूग, आम्र गुठली, चतुर्जात, मृगाण्ड (कस्तूरी) प्रत्येक द्रव्य १२-१२ ग्राम लेकर सूक्ष्म चूर्ण कर मिला देवें। वटी बनने योग्य होने पर उतार कर १-१ ग्राम की बटी बनावें। १-१ वटी मुख में धारण से सर्व मुख रोग नष्ट होते हैं (भै० र० में केवल जातीफल, कर्पूर, पूग, कंकोल लिया है[125])।

५६. क्षारवटी—पंचकोल, तालीशपत्र, एलाबीज, मरिच फल, त्वक, पलाश बीज, मुष्कक्षार, यवक्षार प्रत्येक द्रव्य समान भाग लेकर सूक्ष्म चूर्ण करें। इस चूर्ण के कुल योग के द्विगुण गुड़ लेकर चासनी बनाकर मिलावें। वटी बनने पर कदली पत्र या एरण्ड पत्र से लपेट कर मष्क भस्म में एक सप्ताह तक रखें। बाद में निकालकर चूसें[126]। मुख-कण्ठ रोग नष्ट होता है[126]।

५७. वृहत खदिर वटी—खदिर सार (त्वक) ५ कि० ग्रा०, इरिमेद त्वक् १० कि० ग्रा० को अष्टगुण जल में क्वाथ कर चतुर्थांश शेष रहने पर उतारकर वस्त्र से छानकर घन होने तक पुनः पाक करें। फिर उसमें एलाबीज, मृणाल (खस), सित चन्दन, रक्त चन्दन, अम्बु-मूल (नेत्रवाला), श्यामा (प्रियंगु), तमालपत्र, मंजिष्ठामूल, घन (मुस्त) मूल, लौह (अगुरू), मधुयष्ठी, लज्जालू (या वाराहक्रांत), त्रिफला, रसाञ्जन, धातकी पुष्प, श्री पुष्प (नागर केशर या लवंग), स्वर्ण गैरिक, दारुहरिद्रा (कुटन्नट), कंटफलत्वक, पद्मकाष्ठ, लोध्रत्वक, वटप्ररोह, यवास, मांसी, हरिद्रा, रास्ना, (सुरभित्वग), कंकोल, जातीफल, लवंग प्रत्येक द्रव्य १५-१५ ग्राम लेकर सूक्ष्म चूर्ण कर कर्पूर २४० ग्राम सम्मिलित करके १ ग्राम की वटी बनाकर सेवन से मुख रोग नष्ट होते हैं। गल, ओष्ठ, जिह्वा, दन्त, तालु रोग नष्ट होते हैं[127]। चरक ने प्रक्षेप रूप में नख द्रव्य का प्रयोग भी किया है एवं कंकोल, जातीफल, लवंग नख की मात्रा भी ४८-४८ ग्राम लेने का उल्लेख है।

५८. रसेन्द्र वटी—शुद्ध गन्धक, शुद्ध पारद चार-चार भाग लेकर मर्दन करें। कज्जली बनने पर शुद्ध शिलाजीत, प्रवाल भस्म, लौह भस्म प्रत्येक चार-चार तथा स्वर्ण भस्म एक भाग मिलाकर मर्दन करें। तदुपरान्त निम्बत्वक्, बीजक काष्ठ, चित्रक मूल क्वाथ से पृथक-पृथक तीन भावना देवें। भावना देने के बाद १२५ मि० ग्रा० की वटी बनावें। १-२ वटी को बहुवार

---

119 च. सं. चि. २६।१९८, १९९,
120 अ. हृ. उ. २२।९९-१००,
च. द. ५६।१५-१६,
भै. र. ६१।६४, यो. त. ६६।८
121 र. र. स. २५।४६-४७
122 च. सं. चि. २६।१९६
अ. हृ. उ. २२।१००
च. द. ५६।१८-१९
यो. त. ६६।१२
भै. र. ६१।६५-६६,
123 ग. नि. शा ५।१४४,
124 अ. हृ. उ. २२।७४,
125 च. द. ५६।५५-५७,
यो.र.पृ. ३०८, यो.त. ६६।३०,
भै. र. ६१।१०३,
ग. नि. शा. ५।१५३-५४,
126 च. सं. चि २६।१९२
ग. नि. शा. ५।१३१-३२,
भै. र. ६१।१००,
च. द. ५६।२२-२३,
127 अ. हृ. उ. २२।९१-९३,
च. सं. चि. २६।२०६-१४,
च. द. ५६।५८-६२,
ग. नि. शा. ५।१५९-६३,

(लिसोड़ा) या त्रिफला क्वाथ से सेवन करें तो मुखरोग, वातरोग, प्रमेह, ज्वर नष्ट होता है। बल एवं पौष्टिक व रसायन है[128]।

५९. मुख रोग हरि वटी—शुद्ध गन्धक, शुद्ध पारद एक-एक भाग, मर्दनकर कज्जली बनावें। शुद्ध शिलाजीत ४ भाग मिलाकर मर्दन करें। फिर गोमूत्र, अर्क स्वरस, जातीपत्र स्वरस, निम्बपत्र स्वरस, पिप्पली क्वाथ से पृथक पृथक सात-सात बार भावना देवें। २५० मि० ग्रा० की वटी बनाकर रखें। १-२ वटी समान भाग पिप्पली चूर्ण एवं मधु मिलाकर प्रातः सायं सेवन से मुख पाक नष्ट होता है। घृत या महाराष्ट्री (जल पिप्पली) के साथ वटी पीसकर मुख में प्रतिसारण करें[128]।

६०. त्रिफलादि वटी—त्रिफला, द्विपि (चित्रक) मूल, किराततिक्त, मधुयष्टि, सिद्धार्थ त्रिकटु, मुस्ता, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, यवक्षार, वृक्षाम्ल, अम्लवेतस, अश्वत्थ (पिप्पली ?), जम्बू, आम्र, अर्जुन, अहिमार, (खदिर विट्), खदिर सार क्वाथ करके घन बनावें। घन होवे पर १-१ ग्राम की वटी बनावें। वटी मुख में धारण कर चूसते रहने से कण्ठ, ओष्ठ, तालु, रोहिणी मुख रोग नष्ट होते हैं[129]।

६१. ताप्यादि वटी—ताप्य (स्वर्ण माक्षिक) भस्म, अभ्रक भस्म, शु० तुत्थ भस्म, शु० मनःशिला भस्म, राजावर्त भस्म, शु० शिलाजतु, शु० गुग्गुल, रस सिंदूर प्रत्येक समान भाग लेकर जल से मर्दन कर १५० मि० ग्रा० की वटी बनावें। १-१ वटी प्रातः सायं सेवन से मुख रोग नष्ट होते हैं[130]।

६२. एलादि वटी—एलाबीज, खदिर त्वक्, जातीपत्र, कर्पूर, चन्दन, बोल, अब्द (मुस्त), बाल (सुगन्ध वाला) समान भाग लेकर चूर्ण करें। इस चूर्ण के योग से द्विगुण शु० वत्सनाभ चूर्ण मिलाकर खदिर क्वाथ की भावना देकर तथा गोमूत्र से मर्दन कर १२५ मि० ग्रा० की वटी बनावें। इसे मुख में रखकर चूसने से सभी मुख रोग नष्ट होते हैं[131]।

रस-भस्म—

६३. पार्वती रस—शु० गन्धक, पारद, शु० हिंगल (दरद), मधुक्पुष्प, गुडूची, शाल्मलि, द्राक्षा, धान्यक, भूनिम्ब (किराततिक्त), अर्क (भृंगराज), तिल, मुञ्ज, पटोल, कूष्माण्ड, लवण, विडलवण, मधुयष्टि, धान्यक प्रत्येक द्रव्य समान भाग लेवें। प्रथम पारद गन्धक की कज्जली बनाकर हिंगुल को मिला देवें। अन्य द्रव्यों को हण्डिका में भरकर गजपुट में भस्म कर देवें। भस्म बनने पर कज्जली एवं हिंगुल मिला देवें। १२५-२५० मि०ग्रा० की मात्रा में मधु के साथ सेवन से मुख रोग, तृषाधिक्य, पित्तज दोष एवं तिमिर नष्ट होता है[132]।

६४. सतामृत रस—पारद भस्म या रस सिन्दूर, अभ्रक भस्म, लौह भस्म, शु० शिलाजतु, शु० गुग्गुल, शु० मनःशिला, स्वर्ण माक्षिक भस्म समान भाग लेकर मर्दन करके २५० मि० ग्रा० की मात्रा में प्रातः सायं मधु से सेवन से मुख रोग नष्ट होता है[132]।

६५. चतुर्मुख रस—पारद भस्म, स्वर्ण भस्म प्रत्येक १-१ भाग, शु० मनःशिला २ भाग लेकर अलसी तैल में मर्दन कर अलसी फल, क्वाथ में दोलायंत्र विधि से तीन दिन तक पाक करें। औषध निकालकर मधु से मर्दन कर १२५ मि० ग्रा० की वटी बनावें। इसे १२५ मि० ग्रा० की मात्रा में मुख में रखकर चूसने से जिह्वा, दन्त, मुख रोग नष्ट होते हैं[133]।

तैल—

६६. खदिरादि तैल—अब्द (मुस्त), उर्ण (ऊन), अरिमेदत्वक समान भाग लेकर अष्टगुण जल में क्वाथ कर चतुर्थांश जल शेष रहने पर वस्त्र से छानें। पन्नग, अगुरु, गैरिक, खदिर, कंकोल, जातीफल, न्यग्रोध, लवण, लाक्षा, कर्पूर, लोध्र, मंजिष्ठा, मधुक, अब्द (मुस्त), पद्मक, एला, त्वग (दालचीनी), धातकी, केशर (नागकेशर), कट-फल का कल्क कर (तैल से चतुर्थांश) लेवें। गोदुग्ध तैल के बराबर जतुद्रव (लाक्षा रस) तैल के समान मात्रा में तैल पाक कर तैल सिद्ध करें। मुख रोग नष्ट करता है।[134]

128 भै. र. ६१।११५-१२१,
129 अ. हृ. उ. २२।८१-८३,
130 र. र. स. २४।३०,
131 र. र. स. २६।१०५,
132 भै. र. ६१।१२३-१२६,
133 भै. र. ६१।०२७-१२८,
134 यो. र. ६६।२-३,

६७. कुंकुमादि तैल—कुंकुम, चन्दन, लोध्र, पतंग, रक्त चन्दन, कालीयक, उशीर, मंजिष्ठा, मधुयष्टि, पत्रक, पद्मक, पद्म, कुष्ठ, गोरोचन, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, लाक्षा, गैरिक, नागकेशर, प्रियंगु, वटशुंग, मालती, मधुयष्टि (मोम), सर्षप, सुरभि वच (सहामरी वच) प्रत्येक १२-१२ ग्राम लेकर दुग्ध से कल्क करें। दुग्ध ८ किग्रा०, तैल २ किग्रा०, लेकर मन्दाग्नि से पाक करें। तैल सिद्ध होने पर छानकर व्यंग, निलिका, तिलक, मषक, न्यच्छ, मुखदूषिका आदि मुख रोगों में प्रयोग करें।[135]

६८. हरिद्रादि तैल—हरिद्रा, निम्ब पत्र, मधुक (मधुयष्टि), नीलोत्पल, प्रत्येक द्रव्य समान भाग लेकर कल्क करें। कल्क से चतुर्गुण तैल तथा तैल से चतुर्गुण जल लेकर तैल पाक करें। इसके लेप गण्डूष प्रतिसारण से मुख रोग नष्ट होते हैं।[136]

६९. मालत्यादि घृत—मालती, द्रोणपुष्पी, निम्ब पत्र, बबूल पत्र, सहचर (पियाबांसा), सर्ज स्वरस, प्रत्येक का स्वरस या क्वाथ पृथक्-पृथक् २-२ किग्रा० तथा चन्दन श्वेत एवं रक्त, उशीर, चम्पक, अश्वत्थ, बट, नीलीमूल, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, सैंधव, देवदारु, शुण्ठी, कुष्ठ, पिप्पली प्रत्येक द्रव्य समान भाग लेकर सूक्ष्म चूर्ण करके मिश्रित कर कुल ५०० ग्राम लेकर जल से कल्क करें। घृत २ किग्रा० लेकर उक्त स्वरस या क्वाथ तथा कल्क मिला कर मन्दाग्नि से पाक करें। घृत सिद्ध होने पर छान कर १२-२४ ग्राम को दुग्ध के साथ सेवन से मुख रोग नष्ट होते हैं।[137]

धूम—

७०. मुख रोग नाशक स्नेहिक धूम—शाल, राजादन (खिरनी), एरण्ड, खदिर, इंगुदी, मधुक त्वक, गुग्गुलु, ध्याम (तृण), मांसी, कालानुसर्प (तगर), श्री (लवङ्ग), सर्जरस, शैलेय, मधुच्छिष्ट (मोम) समान भाग लेकर चूर्ण कर स्नेह मिलाकर मधु मिलावें। इसे अरलू (टिन्टुक) वृन्त पर लेप करें। सूखने पर इसका धूम्रपान करें जो सभी प्रकार के मुख रोग नष्ट करता है।[138]

७१. इंगुदी, किणीही (अपामार्ग), दन्ती, त्रिवृत देवदारु को समान भाग लेकर पीसकर वर्ती बनाकर दिन में दो बार धूम प्रयोग करें। कफ नष्ट होकर मुद्ग यूष में यवक्षार मिला भोजन से गलशुण्डी नष्ट होता है।[139]

७२. दुग्ध, ईक्षु, गोमूत्र, दधिजल, अम्ल, तैल, घृत दोषानुसार कवल धारण से मुख रोग नष्ट होते हैं।[140]

७३. दन्तरोगाधिकारोक्त इरिमेदादि तैल एवं लाक्षादि तैल का मुख रोग में प्रयोग करना चाहिए।

७४. जात्यादि तैल—जातीपत्र स्वरस, शंखपुष्पी, वकुल त्वक क्वाथ सिद्ध करें। अवशिष्ट क्वाथ ४ मि. ली तैल १ कि.ग्रा.। खदिर, आम्रबीज, त्रिफला, कटुकी, चव्य नीलोत्पल, कुष्ठ, मधुक, हरिद्रा, दारुहरिद्रा मुस्तक, बालक, लोध्र, सिन्दूर, स्वर्णगैरिक, वटप्ररोह, लौह भस्म, का कल्क कर प्रत्येक १-१ तोला लेकर तैल सिद्ध करें। मुख रोग नष्ट करता है।[141]

मुख रोग में पथ्यापथ्य—[142]

पथ्य—कटु-तिक्त द्रव्य। धूम्रपान, प्रशमन, वमन-विरेचन, लंघन, स्वेदन, रक्तमोक्षण, गण्डूष, प्रतिसारण कवल, शस्त्र कर्म, अग्निकर्म हितकर होता है।

तृण धान्य, यव, मुद्ग, कुलत्थ यूष। पटोल, कारवेल्लक, बहुपत्री (मूसली), कच्ची मूलक, कर्पूर, ताम्बूल, खदिर। घृत, क्षारोदक सावित्र स्नेह। जाङ्गल मांस रस हितकर है।

अपथ्य—दन्तधावन, स्नान, अम्लरस द्रव्य। माष, रूक्ष अन्न, मत्स्य एवं आनूप मांस, अधोमुख शयन, गुरु, अभिष्यन्दी द्रव्य, दिवास्वाप अहितकर होता है।

—श्री वैद्य वेद प्रकाश तिवारी
चिलियानौला (रानीखेत)

[135] भा. प्र. मध्य. ६१।४६-५१, यो. त. ६६।२५,
[136] यो. र. पृ. ३०८,
[137] भै. र. ६१।१२९-१३२
[138] सु. सं. चि. २२।६९-७१,
[139] सु. सं. चि. २२।५५-५६
[140] सु. सं. चि. २२।७६, च. सं. चि. २६।२०४,
[141] भै. र. ६१।१४७-१५०,
[142] च. सं. चि. २६।८७, २०४, यो. र. पृ. ३०६, भै. र.
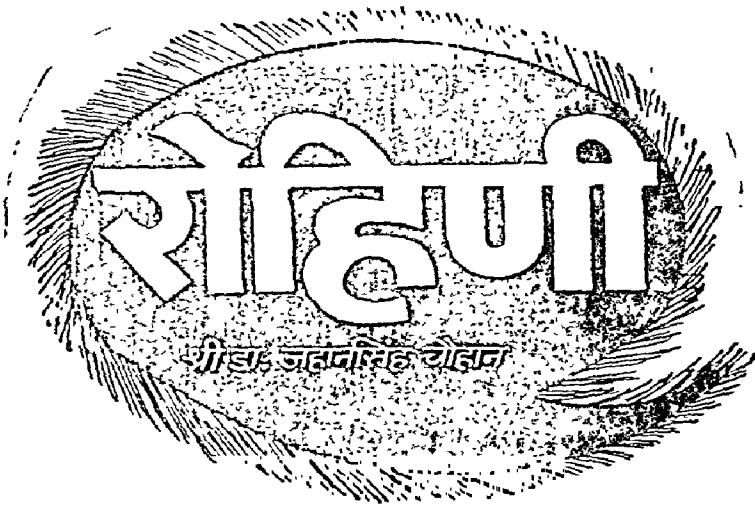
वात, पित्त, कफ, रक्त दोष पृथक-पृथक अथवा सभी मिलकर गले में वर्द्धित होकर वहां के मांस को दूषित करके गले को रुद्ध करने वाले मासांकुरों को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार गले एवं श्वास का रोध करके प्राण को नाश करने वाली व्याधि को रोहिणी करते हैं। आचार्य वाग्भट्ट ने दर्शाया है कि यह दारुण रोग जिह्वा के मूल में कंठमार्गविरोधी उत्पन्न होता है। इसमें मांसाकुरों का संग्रह शीघ्र हो जाता है। यह रोग आशुमारक होता है। रोहिणी वस्तुतः त्रिदोषज व्याधि है। इसमें मारक काल प्रायः पृथक पृथक होता है जैसा कि आचार्यो ने बताया है। खरनाद, भोज, चरक तथा मधुकोष में भिन्न-भिन्न कालों का वर्णन मिलता है। प्रत्येक दोष से उत्पन्न रोहिणी की विशेष अवस्थायें तथा लक्षण पाये जाते हैं।

१. वातज कंठरोहिणी लक्षण—इस रोग में जिह्वा के चारों ओर अति वेदना उत्पन्न करने वाले मांसांकुरों की उत्पत्ति होती है। वे कंठ का अवरोध कराते हैं। इसके अतिरिक्त वायु के कारण स्तब्धता, अति व्यथा आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। आचार्य वाग्भट्ट के अनुसार वातज रोहिणी में तालु एवं कंठ का शोथ होता है तथा ठोढ़ी एवं श्रोत्र में वेदना होती है।

२. पित्तज कण्ठरोहिणी—इसमें मासांकुर शीघ्रता से उत्पन्न होकर बढ़ते हैं साथ ही तीव्र दाह एवं पाक होता है रोगी को तीव्र ज्वर भी रहता है।

आचार्य वाग्भट्ट के अनुसार इस प्रकार की रोहिणी में ज्वर, कंठ शोथ, प्यास, मोह, कंठ से धुंआ जैसा निकलना अंकुरों की शीघ्र उत्पत्ति होकर उनका पक जाना एवं उनका रंग लाल हो जाना, स्पर्श सह्य न होना आदि लक्षण भी उत्पन्न होते हैं।

३. कफज अथवा श्लैष्मिक रोहिणी—इसमें भारी एवं स्थिर मांसांकुर होते हैं। साथ ही देर से उनका पाक होता है। यह रोहिणी स्रोतों का रोध करने वाली होती है। आचार्य वाग्भट्ट के अनुसार यह रोहिणी पिच्छिल एवं पाण्डुवर्ण की होती है। आचार्य भोज के अनसार कंठ के भीतर एवं बाहर शोथ, श्वास एवं कंठ अवरोध होता है।

४. त्रिदोषजन्य रोहिणी—इस प्रकार की रोहिणी तीनों दोषों से युक्त होती है साथ ही गम्भीर एवं पाकयुक्त तथा निवारण के अयोग्य होती है। पूर्णतया असाध्य है।

मांसतान (डिफ्थीरिया-रोहिणी) कंठरोग
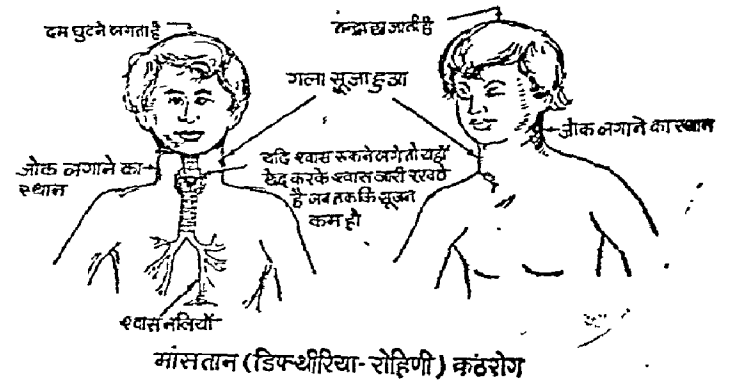
५. रक्तज रोहिणी—इस प्रकार की रोहिणी में कंठ के अन्तर्गत अनेकों फुन्सियाँ निकलती हैं। इसके अतिरिक्त अन्य लक्षण पित्तज रोहिणी के सदृश्य होते हैं। आचार्य वाग्भट्ट के अनुसार यह रोहिणी तप्त अंगार के समान वर्णवाली और कानों में पीड़ा करने वाली होती है।

साध्यासाध्यता—प्रायः सभी प्रकार की रोहिणी घातक व्याधि के अर्न्तगत आती हैं। वातज, पित्तज, कफज, रोहिणी की चिकित्सा प्रारम्भ से ही करने पर वह साध्य होती है। त्रिदोषज रोहिणी प्रारम्भ से ही असाध्य मानी गई है। आचार्य डल्हण एवं गयदासाचार्य ने रक्तज रोहिणी को प्रारम्भ से ही असाध्य माना है।

आचार्यों ने रोहिणी से समय का जो निर्देशन दिया है उसके अनुसार त्रिदोपज रोहिणी रोगी को अति शीघ्र मार डालती है। साथ ही वातज रोहिणी ७ दिन में, पित्तज ५ दिन में तथा कफज रोहिणी ३ दिन में रोगी का प्राणान्त कर देती है। भोज ने पित्तज रोहिणी का समय ४ दिन ही निर्धारित किया है।

रोहिणी का आधुनिक मतानुसार विवेचन—

आधुनिक चिकित्सा विज्ञों के अनुसार यह एक विशेष प्रकार का संक्रामक रोग है। इस रोग के कारण रूप में क्लेब्स लोफर नामक जीवाणु होते हैं जिन्हें साधारतया 'बैसिलस डिपथीरिया कहते हैं।' इसे कार्नी

बैक्टीरियम थिफ्थेरिया भी कहते हैं। यह जीवाणु आतुर के कंठ एवं नासिका की श्लैष्मा में उपस्थित रहता है। साथ ही इन्हीं स्थानों से वायु के द्वारा अन्य व्यक्तियों के गले में जाकर शोथ पैदा करता है। ये जीवाणु झिल्ली में पाये जाते हैं। यहां तक कि यह रक्त एवं शरीर के अन्य तन्तुओं में भी विद्यमान रहते हैं। ये रोग विषम सार्वांगिक लक्षण उत्पन्न नहीं करते, परन्तु जो स्थान इन जीवाणुओं से आक्रान्त होते हैं उन स्थानों में इसकी तथा इसके वंश की वृद्धि होती है और उससे विष उत्पन्न होता है। यह विप शरीर स्थित रक्त में आकर सर्वांगिक लक्षण पैदा करता है।

कोरिनी बैक्टीरियम डिपथेरी—रोहिणी कला का चित्र है
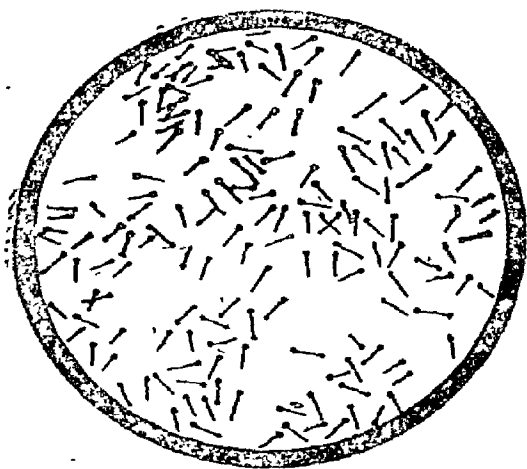
यह कोरिनी बैक्टीरियम के संवर्धन का चित्र है

रोग का संक्रमण— साधारण ज्वर, अधिक दुर्बलता, गले का शोथ आदि लक्षणों के साथ रोहिणी दण्डाणु (बैसिलस डिपथीरिया) के उपसर्ग बाल्यावस्था में होने वाला ज्वर रोहिणी है। बाल्यावस्था में २ से ५ वर्ष तक के बच्चों में इसका आक्रमण विशेष रूप से होता है। १०-१२ वर्ष की अवस्था में साधारण रूप से होता है। कभी-कभी इसका आक्रमण वयस्कों में भी होते हुए देखा गया है। रोमान्तिका, कुक्कुर खाँसी, इन्फ्लुएन्जा आदि व्याधियों से आक्रान्त होने के पश्चात् इस रोग के संक्रमण की अधिक सम्भावना रहती है। शीत एवं समशीतोष्ण जलवायु युक्त स्थानों में रोग का प्रकोप ऋतु परिवर्तन के समय सर्वाधिक रूप से होता है। रोग का प्रसार संक्रमित बालकों के खाँसने, बोलने, छींकने के समय बिन्दूत्क्षेपों द्वारा उनके नासा स्राव एवं लार इत्यादि से कलम-पेन्सिल-रूमाल तौलिये आदि के उपयोग करने से होता है।

सम्प्राप्ति—

इससे आक्रान्त स्थान की श्लैष्मिक कला में जो पर्दे के आकार की विशेष अस्वाभाविक झिल्ली का निर्माण होता है वह स्थानिक चिह्नमात्र है। इसका कारण यह है कि जीवाणु गले की नली की श्लैष्म झिल्ली पर आक्रमण करता है परिणामस्वरूप गले की नली फूल कर लाल पड़ जाती है और कण्ठ की श्लैष्मिक झिल्ली के सैल्स नष्ट हो जाते हैं और स्राव निकल कर जम जाता है। स्राव के जम जाने से और उसमें मरे हुये सैल्स के श्वेत-कण और रक्तकण आ जाने के कारण एक झिल्ली बन जाती है। यह निर्मित झिल्ली मलाईदार सफेद-मजबूत और चमकीली दिखायी देने लगती है। यह झिल्ली श्वास-नली, स्वरयंत्र, ग्रसनिका आदि स्थानों तक विस्तृत हो जाती है। अन्त में इस झिल्ली के कई स्तर क्रमशः जाते हैं। प्रारम्भ में यह झिल्ली कोमल मलाई के सदृश होती है जो कुछ समय पश्चात् धीरे-धीरे दृढ़ कठिन एवं हल्दी के समान पीले रंग वाली हो जाती है। रोग के अति उग्र हो जाने के पश्चात् झिल्ली का रंग काला हो जाता है। इस समय झिल्ली में अनेकों जीवाणु सूक्ष्मदर्शक यंत्र की सहायता से देखे जा सकते हैं। रोगी की झिल्ली देखकर रोग की उग्रता का ज्ञान किया जा सकता है। झिल्ली का आकार जितना ही बड़ा होगा, रोग भी उतना ही अधिक तीव्र होगा। साथ ही उसी के अनुपात में रोग के विष की भी अति तीव्रता होगी। जीवाणुओं के द्वारा निर्मित बहि-विष रक्त में विलीन होकर सर्वांगिक लक्षण उत्पन्न करता है। इस विष का प्रभाव हृद्पेशी पर पड़ता है जिससे वह
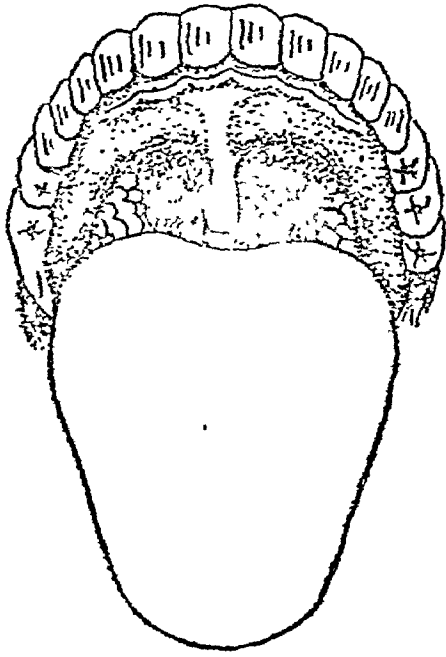
कण्ठ में रोहिणीजन्य झिल्ली प्रदर्शित है।

क्षीण हो जाती है। हृद्पेशी के क्षीण होने से हृदय विस्तृत (Dilation of the heart) हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप हृदय की गति बन्द होने की पूर्ण सम्भावना हो जाती है। इसके अतिरिक्त इसका प्रभाव नाड़ी संस्थान एवं वृक्क पर भी पर्याप्त रूप में पड़ता है।

कृत्रिम झिल्ली की सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा परीक्षा—

कृत्रिम झिल्ली की परीक्षा में सूक्ष्म यंत्र के द्वारा उसमें उपस्थित पूयकोष, उपत्वक्-सम्बन्धी अंकुर, दैहिक सूत्र एवं रक्त कणों का निरीक्षण किया जाता है। कभी कभी बढ़े हुए उद्भिद् तत्वों का भी निरीक्षण किया जाता है। आवरण के उठ जाने पर भी ३-४ बार तक नकली झिल्ली बन जाती है। रोग का स्थायित्व ३-२४ दिन तक रहता है। ऊपर निर्देशित स्थानों के अतिरिक्त यह झिल्ली चक्षु, योनि, गुदा एवं भग मार्ग की त्वचा पर भी देखी जाती है। स्त्री के प्रसव के पश्चात प्रसव मार्ग से प्रवेश किया हुआ जीवाणु नकली झिल्ली पैदा करके तीव्र त्रिदोषज लक्षण करके प्रसूता स्त्री का प्राणान्त कर देता है।

संचय काल—इस रोग का संचय काल प्राय: २-५ दिन का है पर कभी-कभी कम से कम १ दिन और अधिक से अधिक ६ दिन तक भी देखा गया है। कभी कीटाणु लक्षण गुप्त भी रह जाते हैं।

रोग लक्षण

अत्यधिक दुर्बलता, बेचैनी, ग्रीवा की लस ग्रन्थियों की वृद्धि, गलशोथ, कास, स्वरभेद आदि लक्षणों से युक्त मन्द ज्वर का मिलना बालकों में रोहिणी की ओर इंगित करता है। ऐसी अवस्था में विशेष परीक्षा की आवश्यकता होती है। बच्चों के कास-श्वास-ज्वर आदि किसी भी लक्षण से आक्रान्त होने पर गले में कृत्रिम प्रकाश की सहायता से जिह्वा मूल में छोटे चम्मच से दबा कर देखना चाहिए।

कंठ में जीवाणुओं के प्रभाव होते ही जैसे गर्दन कुछ कड़ी पड़ जाती है वहाँ की लसीली गांठें सूज जाती हैं। थोड़ा बुखार भी रहता है। जीवाणु के प्रभाव के अनुसार या तो कुछ घण्टों में ही अथवा २-३ दिन पश्चात् कण्ठ में बनी हुई झिल्ली दिखायी देने लगती है। यही झिल्ली रोग की प्रथम सूचना देती है जो इस रोग का स्पष्ट लक्षण है। यह झिल्ली मलाई के समान कई स्तरों से युक्त होती है। इसका पहला स्तर कोमल, स्वच्छ और मलाई के समान होता है। इसके पश्चात् यह क्रमशः कठिन, दृढ़ एवं हल्दी के रंग के समान हो जाता है। रोग की तीव्रावस्था में इसका रङ्ग काला हो जाता है। जिन रोगियों को पूर्व से ही गले में वेदना, कण्ठशालूक, दन्तशोथ एवं कृमि दन्त का रोग होता है उनमें इस रोग की विशेष तीव्रता देखी जाती है। साथ ही रोग का आक्रमण भी कहीं अधिक तीव्र गति से होता है।

अधिकांश रोगियों में रोग आरम्भ से पूर्व गले में वेदना होती है, रोगी को प्राय: पानी, दूध अथवा कोई तरल द्रव निगलते समय गले में पीड़ा होती है। गले की परीक्षा करने पर उपजिह्वा के चारों तरफ अत्यन्त लालिमा दृष्टिगोचर होती है। प्रथम मृदु तालु के ऊपर श्वेत बिन्दु दिखायी देते हैं। इसके पश्चात् गले के अन्दर एवं उपजिह्वा में झिल्ली पैदा हो जाती है। साथ ही उसमें शोथ एवं वेदना, आलस्य, क्षीणता, शिर:शूल, पृष्ठ वेदना, मन्दाग्नि एवं बेचैनी आदि लक्षण पैदा हो जाते हैं। रोगी का तापक्रम १०३-१०४ डि०फा० तक रहता है। नाड़ी की गति सामान्य से काफी आगे रहती है। झिल्ली १-२ दिन के मध्य में स्तरमयी हो जाती है। इसके पश्चात् गला, श्वास मार्ग, नासा का अधोमार्ग एवं कर्ण के मध्य तक फैल कर श्वासावरोध उत्पन्न कर देती है। बालकों में प्राय: आक्षेप आते हैं। जानुक्षेप (Knee Jerk) एवं वातामेह प्रारम्भ

से लेकर अन्त तक विद्यमान रहता है। मूत्र के साथ कभी-कभी अलब्यूमिन तथा यूरिक एसिड भी आता है। जिन-जिन स्थानों पर इसका प्रसार होता है उन-उन स्थानों पर शोथ के लक्षण पैदा हो जाते हैं।

यदि प्रारम्भ काल में ही कृत्रिम झिल्ली को उखाड़ा जाय तो वह सरलता से उखाड़ी जा सकती है. पर समय बीतने पर जब वह कड़ी एवं मोटी हो जाती है तो उसका उखाड़ना अत्यन्त कठिन हो जाता है। साथ ही उखाड़ने से रक्त प्रवाह भी शुरू हो जाता है।

जैसाकि पूर्व में बताया जा चुका है कि झिल्ली बढ़ते-बढ़ते स्वरयन्त्र तक फैल कर श्वासावरोध उत्पन्न कर देती है जिससे रोगी की मृत्यु हो जाती है। यदि ऐसा न हुआ तो रक्त विष के कारण हृदय आदि स्थान का पक्षाघात होकर मृत्यु हो जाती है।

इस व्याधि में बुखार एक सामान्य रूप में रहता है इसकी बढ़ोत्तरी कोई पर्याप्त नहीं होती है। इस व्याधि में झिल्ली कण्ठ के अन्दर नहीं होती बल्कि स्वर यन्त्र, नासा मार्ग, योनि मार्ग एवं आँख की श्लैष्मिक झिल्ली में हो सकती है।

प्रमुख लक्षण—

मन्द ज्वर, गल, स्वरयंत्र, मृदुतालु आदि अङ्गों में धूसर वर्ण एवं स्थिर स्वरूप की झिल्ली (कला), शुष्क खांसी, स्वर भेद, गले में शोथ, श्वासावरोध, श्यावता, द्रव पदार्थ के निगलने में कठिनाई की अनुभूति, विशेष कृशता, शारीरिक वेदना, बेचैनी, बोलने में कठिनाई का अनुभव, ग्रीवा की लसग्रन्थियों की वृद्धि, नाक से बदबूदार स्राव, कभी-कभी त्वचा में स्फोटों की उपस्थिति, रक्तचाप न्यूनता, हृदय की अनियमितता, यकृत वृद्धि, पक्षाघात, अलब्यूमीनोरिया एवं मूत्राघात आदि लक्षणों से रोहिणी का पूर्वानुमान किया जाता है। थोड़ा भी सन्देह उपस्थित होने पर रोगी के गले के स्राव को लेकर सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से परीक्षा करके डिफ्थीरिया जीवाणु की उपस्थिति पाकर तुरन्त प्रभावकारी चिकित्सा प्रारम्भ कर देनी चाहिये।

विशेष—कभी-कभी श्वेत कणों की सख्या रक्त में १०-१२ हजार तक बढ़ी हुई मिलती है।

आवश्यक निर्देश—

नेत्र, जिह्वा आदि अङ्गों की मांसपेशियों का अंगघात होने पर दूसरे लक्षणों की अनुपस्थिति में भी रोहिणी का निर्णय अवश्य करना चाहिए।

स्थान संश्रय के अनुसार रोहिणी के लक्षणों का विवेचन—

१. गलतोरणिका (Faucial)—रोग का आक्रमण प्रायः मन्द गति से होता है। आक्रमण के समय आलस्य, बेचैनी, शिरःशूल, अग्निमांद्य, वमन तथा गले में वेदना प्रारम्भ होती है। किसी-किसी रोगी में अतिसार के भी लक्षण मिलते हैं। ज्वर दूसरे दिन तक १०१ से १०२° फा० तक पहुँच जाता है। गले की परीक्षा करने पर गलशुंडी तथा दोनों ओर की तुण्डिकाओं, कोमल तालु एवं तोरणिका में छोटे-छोटे धब्बे जो हल्के नीले, पीले अथवा हरित वर्ण के उभरे हुए दीखते हैं। गले के बाहर की सबमैग्जिलिरी लसीका ग्रन्थियां शोथ युक्त हो जाती हैं। जिह्वा गन्दी रहती है, बढ़ा हुआ तापक्रम २-४ दिन तक रह पुनः अपने नार्मल पर आ जाता है। ज्वर की तीव्रता के साथ नाड़ी की गति भी तीव्र रहती है। अर्थात् ११०-१२० बार तक प्रति मिनट हो जाती है। मूत्र में अलब्यूमिन आने लगती है जो मूत्र परीक्षा से जानी जा सकती है।

व्याधि का प्रकोप बढ़ने पर नाक से गाढ़ा स्राव आने लगता है जो कभी-कभी नासा मार्ग को अवरुद्ध कर श्वसन में बाधा डालता है। कभी-कभी नाक से खून भी आता है। रोगी के मुंह से बदबू आती है उसे निगलने में कठिनाई होती है।

रोगी बालक का चेहरा फूल जाता है, उसे नींद तक नहीं आती है; विशेष बेचैनी रहती है। बालक की नाड़ी रोग बढ़ने पर क्षीण एवं अनियमित हो जाती है। साथ ही साथ मृदु एवं अस्पष्ट रहती है।

२. नासागत रोहिणी (Nasal dipthesia)—यह रोहिणी प्रायः गले में संचित दोष का प्रसार होने पर उत्पन्न होती है। सामान्य रूप से ३ वर्ष की आयु के बालकों में मिलता है। यह या तो स्वतन्त्र रूप में अथवा गलतोरणिका (Faucial) डिफ्थीरिया के उपद्रवस्वरूप में उपस्थित होती है। इसमें एक अथवा दोनों नाक से नासास्राव जिसमें रक्त का भी कुछ अंश होता है, निकलता है। नाक की परीक्षा करने पर नाक के अन्तिम भाग में झिल्ली दिखाई देती है।

३. स्वरयन्त्र की रोहिणी (Laryngeal Diphtheria)—यह रोहिणी स्वतन्त्र रूप में अथवा गलतोरणिका रोहिणी के उपद्रवस्वरूप उत्पन्न होती है। यह तीव्र स्वरूप का, विशेषकर बालकों में होने वाला रोहिणी का का रूप है। यह रूप युवकों में बहुत कम मिलता है। इसमें प्रारम्भ से ही कांस्यध्वनियुक्त शुष्क कास होता है। इसमें तत्काल स्वर बदल जाता है। रोगी को विशेष रूप से श्वास कष्ट होता है। रोगी को बेचैनी तथा बोलने में कष्ट होता है। निःश्वास के समय स्वर यन्त्र का संकोच होने से श्वास में अवरोध होता है तथा घर्र र की आवाज (ध्वनि) भी होती है। रोने, खांसने, हिलने, डुलने आदि से श्वास कष्ट बढ़ता है। अधिक समय तक इस अवस्था में नीलिमा तथा श्वासावरोध की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। आगे चलकर स्वरयन्त्र का भी अवरोध हो जाता है। शरीर का वर्ण श्याम, छूने में शीतल, श्वास रुक-रुक कर चलता हुआ हृदय अत्यन्त दुर्बल-अनियमित, मूर्छा आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। कभी कभी द्वितीय उपसर्ग के कारण इस रोहिणी में रक्त स्राव एवं पाक की अवस्था हो जाती है। रोहिणी में गलतोरणिका, शुण्डिका, मृदु तालु, स्वरयन्त्र, टॉसिल्स, नासा एवं ग्रसनिका आदि में विशेष रूप की झिल्ली निर्मित होती है। यह झिल्ली धूसर वर्ण की तथा स्थिर स्वरूप की होती है। झिल्ली कण्ठ से प्रारम्भ होकर ऊपर नासा की ओर तथा नीचे स्वर यन्त्र तथा श्वसनिका की ओर बढ़ती है। ज्वर प्रायः १०२ डि० फा० तक ही रहता है। श्वास निःश्वास लेते समय पर्शुका का मध्यभाग अन्दर को प्रविष्ट होता हुआ प्रतीत होता है। मुख, नेत्र एवं शरीर काला पड़ जाता है।

४. मध्यकर्ण की रोहिणी—इसमें कर्ण के मध्य में झिल्ली उत्पन्न हो जाती है और वहां पर प्रदाह आदि पूर्वोक्त लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

५. त्वचाविकार सहरोहिणी - किसी स्थान की त्वचा छिल जाने पर उसके मध्य से थिफ्थीरिया के जीवाणु प्रविष्ट होकर थिफ्थीरिया रोग को पैदा करते हैं, क्षत स्थान पर झिल्ली पैदा हो जाती है। त्वचा में रोहिणी होने पर वहां झिल्ली उत्पन्न हो जाती है। त्वचा श्वेत, पांडु, धूसर तथा काली दिखाई देती है। यह न्यूनाधिक मात्रा में स्थूल भी हो जाती है। आक्रान्त स्थान के चारों तरफ लालिमा होती है। अन्तस्त्वचा में रोहिणी का प्रभाव पहुँचने पर प्रथम जल पिडिकायें उत्पन्न होती हैं।

६. चक्षु रोहिणी—इस प्रकार की रोहिणी में नेत्र के अन्तर्गत झिल्ली मिलती है।

रक्तस्रावी, उग्र रोहिणी के रोगियों में त्वचा पर रक्तस्राव दिखाई देता है, श्लैष्मिक कला से रक्तस्राव होता है। गले की श्लैष्मिक कला की परीक्षा करने पर लोफलर बैसिलाई की उपस्थिति मिलती है।

भयप्रद लक्षण—

विशेष मन्द युक्त अति अनियमित नाड़ी का चलना, शरीर क्षीणता के साथ-साथ तापक्रम का न्यून होना, लसीकामेह, आक्षेप तथा कण्ठ में गम्भीर शोथ आदि का होना रोगी में भयप्रद लक्षण होते हैं।

गलतोरणिका रोहिणी में विशाल झिल्ली तथा लस ग्रन्थियों की अति वृद्धि, स्वरयंत्र रोहिणी में अवरोध एवं फुफ्फुसगत लक्षण, नासागत रोहिणी में दारुण रक्तस्राव, हृदय की निर्बलता एवं वमन आदि ये सब भयप्रद लक्षण।

उपद्रव—

श्वसनी फुफ्फुसपाक, श्वासावरोध, हृदयनिपात, पक्षाघात, वृक्कशोथ, रक्तस्राव, परिसरीय वातनाड़ी शोथ, मध्यकर्ण शोथ आदि उपद्रव हैं।

निदान—

वृक्कशोथ को छोड़कर सम्पूर्ण उपद्रवों की पहिचान गले की झिल्ली को देखकर की जाती है। आवश्यकता पड़ने पर गले की झिल्ली अथवा स्राव को सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से देखकर रोग निर्णय किया जाता है। वृक्क शोथ होने पर पेशाब की परीक्षा की जाती है।

सापेक्ष निदान—रोमान्तिका, इन्फ्लुएन्जा, तुण्डिकेरी शोथ, ग्रसनिकाशोथ, तालुशोथ, स्वरयन्त्र शोथ, परितुण्डिका विद्रधि आदि रोगों से रोहिणी का पृथक्करण किया जाता है। यदि इन रोगों का पूर्ण विनिश्चय न हो तो रोहिणी की ही चिकित्सा करना उपयुक्त होता है। प्रायः यह देखा गया है कि इसके लक्षण किसी-किसी मामले में श्वसनी फुफ्फुस पाक से भी मिलते जुलते हैं।

चिकित्सा

भगवान धन्वन्तरि ने साध्य कंठरोहिणी में रक्तमोक्षण हितकारी बताया है। साथ ही वमन, धूम्रपान, कुल्ले कराना एवं नस्य कर्म करने का निर्देश दिया है।

कंठरोहिणी वात प्रधान होने पर रक्त निकलवावें। तत्पश्चात सैंधा नमक जबड़े पर घिसें तथा सुहाते हुये गर्म तेल से बार-बार कुल्ले करायें।

आयुर्वेद में पित्तज रोहिणी में रक्त निकलवाकर रक्तचन्दन, शक्कर एवं शहद से प्रतिसारण तथा द्राक्षा और फालसे के फांट से कुल्ले कराना निर्देशित किया गया है। साथ ही अन्य पित्तशामक उपचार पर बल दिया गया है।

कफजरोहिणी में रसोईघर के धुएं की धूल, सौंठ, काली मिर्च एवं पीपल के चूर्ण से घिसें। गोकणी, वाय-विडंग तथा शुद्ध जमालगोटा के कल्क से पकाये हुये तैल में सैंधानमक डालकर नस्य करावें। गोमूत्र से कुल्ले कराना लाभकारी बताया गया है।

रक्तज रोहिणी में पित्तज के समान चिकित्सा करें।

बालकों एवं शिशुओं में वच का क्वाथ देने से वमन होकर झिल्ली, कीटाणु एवं विष सभी बाहर निकल जाते हैं। तत्पश्चात ज्वर केशरी वटी, आनन्द भैरवरस, त्रिभुवनकीर्ति रस, लक्ष्मी नारायण अथवा वत्सनाभ प्रधान औषधि अल्प मात्रा में देते रहें। मलावरोध होवे पर ज्वरकेशरी वटी सर्व प्रथम देनी चाहिये।

इस रोग में स्थानिक उपचार की भी आवश्यकता पड़ती है। पपीते का दूध लेप करने से लाभ होता है।

गले में वेदना एवं शोथ होने पर गर्म सेक कर ऊपर से गरम कपड़ा बाधें। कंठ में छत होने पर खदिरादि वटी चुसवावें। आधुनिक चिकित्साशास्त्री इस कार्य के लिये बरफ चुसवाते हैं।

जीवाणुओं का विष रक्त में मिल जाता है जिससे लसीकामेह पैदा हो जाता है। इसके निवारण हेतु शिलाजीत दो-दो रत्ती, शीतल मिर्च दो माशे के फाण्ट के साथ दिन में दो बार देते रहना चाहिये।

स्वरयन्त्र में विकृति होने पर केशर मिले गुनगुने गाय के घी अथवा षड्बिन्दु तैल की नस्य देनी चाहिये।

हृदय निपात की अवस्था में हृदय उत्तेजक औषधि यथा लक्ष्मी विलास रस, हेमगर्भपोटली रस, संजीवनी सुरा आदि का प्रयोग करना चाहिये।

यदि वमन हो रही हों तो मुंह के द्वारा भोजन न देकर गुदा में द्राक्षशर्करा का जल चढ़ाना चाहिये।

आयुर्वेदीय चिकित्सा—

रक्तमोक्षण—कुछ चिकित्सक शास्त्रानुसार गले में दोनों ओर से जलौका द्वारा रक्त मोक्षण का कार्य करते हैं जिससे रोग में पर्याप्त लाभ मिलता है। ध्यान रहे अन्य उपायों से रक्तमोक्षण का कार्य न किया जावे।

वमन—जिस समय झिल्ली सम्पूर्ण कंठ को आवृत्त कर लेती है उस समय श्वासावरोध के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। यदि ऐसी अवस्था में वमन कर दिया जाता है तो झिल्ली का निर्हरण होकर तात्कालिक लाभ हो जाता है। इस कार्य के पूर्व किसी द्रव्य विशेष से कुल्ला किया जाता है जिससे झिल्ली गल जाती है तथा कमजोर पड़ जाती है। वमन के लिये कायफल का काढ़ा पिलाया जाता है।

धूम्रपान—धूम्रपान का प्रयोग भी इस रोग में उप-योगी बताया गया है। इस कार्य के लिये अपामार्ग को चिलम में रख धूम्रपान के रूप में उपयोग में लाया जाता है।

नस्य तथा गण्डूष—कटफल का नस्य लेकर छींकें लायी जावें। सुश्रुतोक्त श्वेतादि तैल का नस्य तथा गण्डूष उपयोग में लाना चाहिये।

ताम्बूल के रस में शुद्ध आंवलासार गन्धक का चूर्ण मिलाकर झिल्ली पर ३-४ बार लेप करें। पान के रस को गर्म जलमें मिलाकर कुल्ला कराने से लाभ होता है। लघुपंचमूल के क्वाथ में शुद्ध गन्धक चूर्ण डालकर कुल्ला कराया जा सकता है।

कृत्रिम झिल्ली को नष्ट करने के लिये स्थानिक प्रयोग—

१. पपीते का दूध जल में मिलाकर लेप करने से झिल्ली नष्ट होती है।

२. शुद्ध सुहागे का चूर्ण पान के रस में मिलाकर प्रतिसारण करने से झिल्ली नष्ट होती है।

३. कायफल का घनक्वाथ गले में झिल्ली अथवा अंकुरों पर लगावें।

४. माजूफल पानी में घिसकर लगाने से दाने शीघ्र मुरझा जाते हैं।

५. ग्लिसरीन में पपीते का दूध घोलकर दिन में अनेकों बार लगाने से झिल्ली का विनाश होता है।

६. लहसुन के स्वरस में मधु मिलाकर गले में अन्दर फुरेरी से हर घन्टे बाद लगाने से शीघ्र लाभ होता है। लहसुन स्वरस को गर्म जल में मिलाकर सीकर परिषेक (Spray) करने से भी अच्छा लाभ होता है।

रोहिणी में अन्य लाभकारी कार्य—

१. उपवास—विष को नष्ट करने के लिए उपवास अत्यन्त आवश्यक है। रोगी को केवल शक्ति बनाये रखने के लिए सन्तरा एवं अनन्नास का रस देना चाहिये। प्यास लगने पर प्रचुर मात्रा में गुन-गुना जल देना चाहिए।

२. वाष्पस्वेद—कंठ में स्थित दोष के निवारण हेतु वाष्पस्वेद का काफी महत्व है। इसके लिये तारपीन के तैल को गर्म जल में मिलाकर नस्य रुप में देना चाहिये। उष्णस्नान भी लाभकारी होता है।

३. वस्ति कर्म—प्रतिदिन प्रातः सायं गर्म जल अथवा नीबू रस मिश्रित गर्म जल की वस्ति देने से पर्याप्त विष का निर्हरण होकर रोग नाश में सहायता मिलती है।

रोग नाशक आभ्यन्तरिक औषधियां—

१. अजवायन सत्व (Thymol)—बालकों के इस रोग में अजवाइन सत्व के प्रयोग से अच्छा लाभ मिलता है। इसके लिये सत्व २ तोला शहद में खरल करके उसमें ५ तोला जल मिलाकर घोंट कर रखलें। इसमें से १-१ बूंद प्रतिमिनट पर पिलाते रहना चाहिये।

२. अनन्नास—अनन्नास का इस रस रोग में विशेष लाभकारी सिद्ध हुआ है। अनन्नास को काट कर रस निकालने के पश्चात चाँदी की चम्मच से रस को रोगी के मुँह में डाल दिया जाता है। यदि रोगी नहीं भी निगलता है तो वह रस मुँह एव कंठ को धोने का काम करता है साथ ही यह अन्दर की कृत्रिम झिल्ली को गला देता है। इसके पश्चात सावधानी से चम्मच से उसे खुरच डालना चाहिये। कुछ समय के पश्चात् पुनः रस पिलाना चाहिये। चम्मच को बार-बार गर्म पानी में डुबाकर धो डालें।

३. लहसुन—लहसुन का स्वरस १ ग्राम की मात्रा में अकेले अथवा समभाग जल में मिलाकर रोगी को प्रति ४-४ घण्टे पश्चात दिया जाता है। रोगी को लहसुन की कलियों को भी चबा-चबाकर खिलाया जाता है। बच्चों को लहसुन स्वरस १०-३० बूंद की मात्रा में सादे शर्बत के साथ प्रति ४ घण्टे पर दिया जाता है। रोगी को लहसुन की कलियां १-२ औंस तक ३-४ घण्टे के अन्दर खिलाई जाती हैं। झिल्ली समाप्त हो जाने के बाद भी १ सप्ताह तक इस चिकित्सा को चालू रखा जाता है।

नोट—जिन रोगियों को लहसुन से गर्मी की विशेष अनुभूति हो उन्हें लहसुन स्वरस जल में मिलाकर गण्डूष एवं पिचु रूप में प्रयोग कराना चाहिये।

४. रीठा—जब रोगी को पानी का घूंट तक निगलना कठिन होता है उस समय भी रीठा का प्रयोग भली प्रकार किया जा सकता है। रीठे का छिलका १ तोला पानी उबालकर रोगी को गरारे कराये जाते हैं। यदि रोगी बेहोशी की अवस्था में है तो रीठे का पानी रोगी के मुंह में डालकर रोगी के सिर को हिलाया जाता है। कुछ चिकित्सक रीठे के फल का छिलका १ तोला तथा फिटकरी १ माशे का काढ़ा बनाकर गण्डूष कराते हैं।

५. कछुआ—रोग की अन्तिम अवस्था (श्वासावरोध के समय) विशेष कारगर दिखाई देता है। जीवित कछुये को पकड़कर रोगी के मुंह के पास रखा जाता है जिससे कछुये की श्वास की वायु रोगी के मुख में जाती रहती है इस प्रकार गले की कृत्रिम झिल्ली शीघ्र ही समाप्त हो जाती है और रोगी आराम से श्वास लेने लगता है। कछुये का पेट फाड़कर रोगी बालक के गले में बांधने को भी बताया गया है। चीनी चिकित्सक तो कछुये की गर्दन रोगी के गले में सावधानी से प्रवेश कराते हैं जिससे कछुआ कृत्रिम झिल्ली को अति शीघ्र खा जाता है। साथ ही रोगी अति शीघ्र ठीक हो जाता है।

६. पुनर्नवा स्वरस अथवा क्वाथ का आभ्यन्तरिक प्रयोग बार-बार करने से अच्छा लाभ मिलता है।

७. दशमूलारिष्ट १ औंस, द्राक्षारिष्ट १ औंस, जल १ औंस—इन सबको मिलाकर रोगी को प्रति ४ घण्टे पर दिया जाता है।

जब रोगी ठीक हो जावे और उसके नासा अथवा मलस्राव में रोहिणी जीवाणु की उपस्थिति न मिले तो निम्नलिखित औषधियां देनी चाहिये—

१. कुटकी, अतीस, देवदारु, पाठा, नागरमोथा, इन्द्रजव—इन औषधियों को २ तोले की मात्रा में लेकर गोमूत्र १ पाव में पकावें। जब मूत्र चौथाई शेष रह जावे तब उतारकर छान लें और रोगी को पिलावें। यह तिक्तादि क्वाथ रोहिणी में विशेष लाभदायक है।

२. महागन्धक रसायन (रसेन्द्रसारोक्त) योग—बालकों के लिये रोहिणी रोग में अति प्रभावकारी सिद्ध हुआ है।

३. मुनक्का, कुटकी, सौंठ, मिर्च, पीपर, दारु हल्दी; दालचीनी, आँवला, हरड़, बहेड़ा, नागरमोथा, पाठा, रसौत, दूर्वा और तेजपात—इन सबको बराबर-बराबर लेकर कूट पीसकर चूर्ण बना लें।

मात्रा एवं सेवन विधि—३ माशा चूर्ण मधु के साथ दिन में तीन बार दें।

४. रोहिणी विष का हृदय पर घातक प्रभाव पड़ता है अतः हृदय के संरक्षणार्थ तथा उत्तरकालीन उपद्रवों के प्रतिबन्धन हेतु निम्न योग देना चाहिये—

हृदय विश्वेश्वर रस, अकीक पिष्टी, जवाहर मोहरा, वृ. कस्तूरी भैरव रस १-१ रत्ती।

रुद्राक्ष को चन्दन की तरह घिसकर २ आने भर मात्रा में दवा के साथ मिलाकर २ चम्मच बेदमुश्क का रस तथा १/२ चम्मच मृतसंजीवनी सुरा मिलाकर मधु अथवा ग्लूकोज से मधु बना दिन में ३ बार देना चाहिये।

५. हृदय को शक्ति देने वाली औषधि—मकरध्वज, स्वर्ण आदि का प्रयोग उचित मात्रा में हो सकता है।

६. वातनाड़ी शोथ की अवस्था में—रोहिणी में नाड़ी दौर्बल्य, पादहर्ष एवं चेष्टावह नाड़ियों की विशेष दुर्बलता का उत्तरकालीन कष्ट होता है। ऐसी अवस्था में निम्न योग से अच्छा लाभ मिलता है—

रस सिन्दूर १ रत्ती, वृ. वात चिंतामणि रस १ रत्ती, मुक्ताशुक्ति भस्म २ रत्ती, शु. कपीलु १ रत्ती, सितोपलादि चूर्ण १।' माशा कुल ३ मात्रा। दिन में ३ बार मधु के साथ दें। ऊपर से अश्वगन्धा घृत युक्त दूध पिलायें।

७. बलारिष्ट ६ माशे से १ तोला की मात्रा में सम जल के साथ भोजनोपरान्त दिन में २ बार दें।

८. महामाष तैल अथवा बला तैल की सम्पूर्ण शरीर पर मालिश करनी चाहिए।

९. रोहिणी में अंगघात होने पर—

रसराज १ रत्ती, मल्लचन्द्रोदय आध रत्ती, कृष्ण-चतुर्मुख आध रत्ती, शु. कपीलु आध रत्ती, मयूर शिखा चूर्ण १ माशा कुल ३ मात्रा। दिन में ३ बार मधु के साथ १०-१५ दिन तक देना चाहिये।

इसके अतिरिक्त अंगघात में चिन्तामणि-चतुर्मुख और मल्ल सिन्दूर का प्रयोग भी प्रशंसनीय होता है। लौह भस्म एवं कुचिला सत्व भी हितकारी है। साथ ही आक्रान्त अङ्ग पर महामाष तथा नारायण तैल की भी मालिस विद्युत का भी प्रयोग लाभकारी है।

रोहिणी की आधुनिक चिकित्सा—

आधुनिक ढङ्ग से चिकित्सा २ प्रकार से की जाती है—

१. रोग प्रतिरोधक चिकित्सा (Prophylaxis)

२. रोगनाशक चिकित्सा (Curative Treatment)

१. रोग प्रतिरोधक चिकित्सा (Prophylaxis)

सम्भावित रोगी को अन्य बालकों एवं स्वस्थ व्यक्तियों से दूर रखा जावे, रोगयुक्त संवाहक के नासा गले को पेनिसिलीन आदि औषधियों के प्रयोग से रोगमुक्त करना चाहिये। बच्चों को एक दूसरे का जूठा भोजन आदि नहीं देना चाहिये। कलम-पेन्सिल आदि को मुख में डालने की आदत को पूर्णतः छुटवा देना चाहिए। डिफ्थीरिया टाक्साइड (Diphtheria Toxoid) आध सी. सी., १ सी. सी. इस क्रम से ३ मात्रायें १ मास के अन्तर से अधस्त्वची मार्ग से देना चाहिए। इस प्रकार उत्पन्न क्षमता प्रायः ३ वर्ष रहती है। तीसरे, छठे, नवे, बारहवें वर्ष इनका प्रयोग करने से रोहिणी रोग से बचाव होता है। निम्न प्रकार के विषाभ (Toxoid) प्रतिबन्धन कार्य के लिए उपलब्ध होते हैं—

(१) ए.पी. टी. (Alum Precipitated Toxoid)—इसे आध सी. सी. की मात्रा में ९ माह के बालक को मांस द्वारा दे दिया जाता है तथा ४ सप्ताह पश्चात् पुनः एक सूचीवेध और दिया जाता है। तत्पश्चात् ६-७ वर्ष की आयु में इसी प्रकार २ सूचीवेध और दिये जाते हैं। इस प्रकार रोग होने का भय नहीं रहता है।

(२) टी. ए. एफ. (Toxoid Antitoxin floccules)—इस विषाभ का उपयोग रोग से बचाव हेतु ९ माह से अधिक उम्र वाले बालकों एवं नवयुवकों में किया जाता है। इसे आध सी. सी. ('५ मिलि लि.) की मात्रा में १ माह के अन्तर से २ बार दिया जाता है। इसका उपयोग ८ वर्ष से अधिक आयु के बालकों में ठीक रहता है। इस अवस्था में प्रारम्भिक मात्रा १ सी. सी. पेशी मार्ग से देकर प्रतिक्रिया न होने पर १५-२० दिन पश्चात् दूसरी १ सी. सी. की मात्रा देनी चाहिए। इससे प्रायः ३-४ वर्ष तक प्रतिरोधक क्षमता रहती है।

(३) डिफ्थीरिया—परटूशिस-टिटेनस टोक्साइड (Diphtheria-Pertussis-Tetanus-Toxoid)—मिश्रित हुए तीनों रोगों (रोहिणी, कुक्कुर खाँसी, टिटेनस) रोगों के सूचीवेध आते हैं। इनकी आध सी. सी. मात्रा १-१ मास के अन्तर से मांस द्वारा ३ वार देने से बालक इन तीनों रोगों से बच जाता है। प्रथम वर्ष की आयु में ही इसका उपयोग टीका के रूप में करना चाहिये। इंग्लैण्ड आदि देशों में इसके उपयोग से रोहिणी रोग को हमेशा के लिये समाप्त कर दिया गया है।

२. रोगनाशक चिकित्सा—

रोहिणी का जितना शीघ्र निदान और औषधि चिकित्सा में लसिका (डिफ्थीरिया एन्टीटोक्सिन Antitoxic serum) का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया जावेगा, उतनी ही अधिक लाभ की सम्भावना रहती है। जब तक रोहिणी का अन्यथा निदान न हो जाय, लसिका-एन्टीटोक्सिक सीरम प्रयोग करने में विलम्ब नहीं करना चाहिए। प्रतिविष लसिका प्रयोग करने के पश्चात गले की कृत्रिम झिल्ली सूख कर विमक्त होने लगती है। साथ ही गले का शोथ, मुख की दुर्गन्ध, नासास्राव एवं विषमयता के लक्षणों में सुधार होने लगता है।

डिफ्थीरिया एन्टीटोक्सिन (एन्टीटोक्सिक सीरम) जो घोड़े का सीरम है, में रक्त के अन्दर विद्यमान रोहिणी रोग के विष को नष्ट करने की विशेष शक्ति है। यद्यपि अवयवों में घसे हुये विष को नष्ट करने में यह असमर्थ रहता है। शिरा द्वारा देने पर इसका प्रभाव अतिशीघ्र लक्षित होता है। परन्तु शिशुओं में इसको इस मार्ग से देने में असुविधा होती है। इस अवस्था में इसे मांसपेशी सूचीवेध से दिया जाता है पर मांस द्वारा देने से इसे रक्त तक पहुँचने में १२-१६ घण्टे का समय लग जाता है। यदि रोग १-२ दिन पूर्व का हो चुका है तो हर अवस्था में शिरामार्ग का ही अविलम्बन करना चाहिए। यदि रोग १-२ दिन का ही हैं साथ ही रोग मृदु स्वरूप का है तो इस प्रतिविष को रोगी बालक में १० हजार यूनिट (१ सी. सी. औषधि में प्रायः ५ हजार यूनिट के लगभग होते हैं) की मात्रा में मांसपेशी सूचीवेध द्वारा दिया जाता है।

प्रतिविष का प्रयोग करने से पूर्व इसकी २-३ बूंद त्वचा में प्रवेश कर देख लेना चाहिये कि कोई रियेक्सन तो नहीं होता है। यदि आध घण्टे तक ऐसी कोई सम्भावना प्रकट न हो तो इसकी पूर्ण मात्रा मांस में दे देनी चाहिये। यदि रोगी तीव्र स्वरूप का है तो प्रतिविष को २० हजार यूनिट की मात्रा में देना चाहिये। रोग की अति उग्र अवस्था में ४० हजार यूनिट की मात्रा में दें।

युवकों में इसे रोग की अवस्था के अनुसार २० हजार से ८० हजार यूनिट तक की मात्रा में दिया जाता है। रोग की तीव्रावस्था में आधी औषधि मांस द्वारा दी जाती है तत्पश्चात आधी औषधि आध घण्टे बाद शिरा मार्ग से इसे शरीर के बराबर गर्म करके बिना हवा दिये हुए धीरे-धीरे दिया जाता है। यदि शिरामार्ग से देने में कठिनता अनुभव की जा रही हो तो इसे पेरीटोनियल विधि से देना चाहिये। ऐसा करने के पूर्व एड्रीनलीन को सुई में भरकर अपने पास रख लेना चाहिए, ताकि रियेक्सन आदि के समय तुरन्त उपयोग किया जा सके। अथवा हाइड्रोकॉर्टीजोन हेमीसक्सीनेट ५० मिलि० मात्रा में मांसपेशी मार्ग द्वारा दे सकते हैं। हाइड्रोकॉर्टिजोन हेमीसक्सीनेट १०० मिलि. मात्रा में ५०० मि. लि. ग्लूकोज सैलाइन के साथ शिरा द्वारा भी दे सकते हैं।

स्थान संश्रय के अनुसार रोहिणी की चिकित्सा हेतु निम्न तालिका में प्रतिविष की मात्रा निर्देशित की जा रही है—

(स्थान संश्रय अधिष्ठान)	साधारण रोग की अवस्था में	गम्भीर स्वरूप के रोग में
गलतोरणिका	२५ हजार से ५० हाजार यूनिट तक।	१ लाख से १½ लाख यूनिट तक।
नासागत रोहिणी	१० हजार से २० हजार यूनिट तक।	४० हजार से ६० हजार यूनिट तक।
स्वरयन्त्र ग्रसनिका रोहिणी	२० हजार से ४० हजार यूनिट।	४० हजार से ८० हजार यूनिट तक।

प्रतिविष—एन्टीटोक्सिन देने के पश्चात १-१½ दिन तक रोगी को पर्याप्त लाभ हो जाता है। यदि इतने पर भी रोगी को लाभ न हो तो पुन: १२ घण्टे पश्चात रोगी को एन्टीटोक्सिन देना चाहिये। इस प्रकार प्रतिविष के द्वारा रोहिणी जीवाणुओं का निर्विषीकरण हो जाता है फिर भी जीवाणु की वृद्धि का अवरोध अथवा उनका विनाश अधिक शीघ्रता से नहीं होता, अत: सहायक औषधि के रूप में प्रोकेन पेनिसिलीन २ लाख अथवा ४ लाख यूनिट की मात्रा में २ बार प्रतिदिन ८-१० दिन तक मांस में देना चाहिये। यदि रोगी को पेनिसिलीन अनुकूल न पड़ रही हो टेट्रासाइक्लीन को ५० मि० ग्रा० की मात्रा में ४ बार देते रहें। अथवा इरीथ्रोमाईसन को २५० मि० ग्रा० मात्रा में मांस द्वारा ८-८ घण्टे पर दें।

कुछ चिकित्सा शास्त्रियों की राय में रोग के प्रारम्भ से ही आइलोटाईसन के प्रयोग से व्याधि का पूर्ण विनाश होता है। अत: प्रतिविष की आवश्यकता नहीं पड़ती है। पर मेरे विचार से दोनों के संयुक्त प्रयोग से विशेष लाभ होता है। आइलोटाइसिन की २ गोली (२०० मि० ग्रा०) प्रथम मात्रा; तत्पश्चात प्रति ४ घण्टे पर १ गोली ३ दिन तक, ६-६ घण्टे पर ३ दिन तक—इस प्रकार कुल ३२ गोली देने की आवश्यकता होती है।

सीरं असाध्यताजन्य विकार—

विशुद्ध लसिका (Purified-Ant toxin) की अवस्था में किसी घोर प्रतिक्रिया (Anaphylaxis) के होने की सम्भावना नहीं रहती है। पर साधारणस्वरूप की एन्टीटोक्सिन देने की अवस्था में कुछ व्यक्तियों में सीरम के प्रति असाध्यता होती है और उन्हें इसके प्रयोग से हृदय-क्षीणता, श्वासकष्ट, नाड़ी मन्दता आदि के लक्षण उपस्थित हो जाते हैं जो कभी-कभी अति भयानक रूप ले लेते हैं। यहां तक कि यदि उनका शीघ्र प्रतिकार न किया गया तो मृत्यु के कारण बन जाते हैं अत: रोगी का पूर्ण परीक्षण कर लेना चाहिए। इस कार्य के लिये एन्टीटोक्सिन सीरम को मांस तथा शिरा द्वारा देने से पूर्व इसके १० में १ घोल अथवा सोल्यूशन को ½ या २ मिलिलि० की मात्रा में अग्रबाहु के अग्रिम पृष्ठ की त्वचा में डालकर देख लेना चाहिए कि उसकी कुछ स्थानिक प्रतिक्रिया होती है अथवा नहीं। यदि आधे घन्टे तक वहां चकत्ता बन जावे अथवा इसके १० में १ के घोल की १ बूंद को आंख में डालने से आधे घन्टे में आंख लाल हो जावे तो—एड्रीनलीन (१०००-१) १ मिलि लि. का सूचीवेध दे देना चाहिये। अथवा इस उपर्युक्त प्रतिक्रिया के होने के आधा घण्टे पश्चात २ मिलि लि. मात्रा में एन्टीटेक्सिन को मांसपेशी सूचीवेध द्वारा देना चाहिये। यदि आधा घन्टे तक कोई प्रतिक्रिया लक्षित न हो तो इसकी पूर्ण मात्रा दे देनी चाहिये। अथवा प्रतिक्रिया होने की कुछ भी आशंका रहे तो १० में १ के घोल के २ मिलि लि० के देने के आधा घण्टे बाद इसी घोल की २ मिलि लि० मात्रा मांस द्वारा दें। आधा घन्टे पश्चात् इसी घोल की ५ मिलिलि० मात्रा दें। तत्पश्चात् आधा घण्टे पश्चात् शुद्ध एन्टीटोक्सिन की ही २ मिलि लि० मात्रा दें। आधा घण्टे बाद २ और फिर ५ मिलि लि० मात्रा दें। इतने समय बाद १ मिलि लि० मात्रा दें, इस प्रकार सम्पूर्ण मात्रा दें। अथवा जब भी प्रतिक्रिया होना बन्द हो जाय, सम्पूर्ण मात्रा १ बार में देनी चाहिये। अथवा इन्जेक्शन देने से आधा घण्टे पहले एन्थीसान १०० मिलिलि० की मात्रा मुख से दें। शिरा द्वारा देने से पूर्व मांस द्वारा एड्रीनलीन (१००० में १) २ मिलिलि० देना चाहिये। शिरा द्वारा एन्टीटोक्सिन देने के पश्चात् यह देखते रहना चाहिए कि रोगी का रक्तचाप तो नहीं गिर रहा है। यदि वह गिरे तो पिट्रेशिन १ सी०सी० की मात्रा में मांसपेशी सूचीवेध से दे देना चाहिये। शिरा द्वारा देने से पूर्व इसे १० प्रतिशत ग्लूकोज में हल्का कर लेना चाहिये।

उपर्युक्त सीरम प्रतिक्रिया के प्रतिकार हेतु एड्रीनलीन सूचीवेध के अतिरिक्त एड्रीनलीन की ४-५ बूंदे रोगी की जीभ पर टपका दी जावे तथा एन्टी हिस्टामिन ड्रग्ज (प्रेडनीसोलोन, बेनाड्रेल, एन्टीस्टीन) आदि के साथ अल्प मात्रा में एफेड्रीन देकर इनके प्रयोग के १५-२० मिनट बाद सीरम के सूचीवेध से प्राय: प्रतिक्रिया नहीं होती है।

रोहिणी की स्थानिक चिकित्सा—

हाइड्रोजन पर आक्साइड या पोटाश परमैंगनेट से कुल्ला कराना, लिस्टरीन सेवलोन आदि के घोल से कुल्ला कराना चाहिए अथवा पोंछना चाहिए। गले को दिन में ३-४ बार समबल लवण जल अथवा ३०% ग्लूकोज के घोल को गुनगुना करके धोना चाहिये। अथवा कुल्ले

कराये जावें। साथ ही गले को वेन्जोइन की भाप देनी चाहिये। दर्द के लिए कोडीन दिया जा सकता है। प्रति-विष (एन्टीटोक्सिन सीरम) रुई में भिगोकर दूषित स्थलों में कृत्रिम झिल्ली के ऊपर लगाना चाहिये अथवा कोलार्गल ५% का पेन्ट के रूप में प्रयोग करना चाहिये। यदि स्प्रे रूप में इसका प्रयोग किया जावे तो विशेष लाभ होता है।

रोहिणी रोग के उपद्रवों की चिकित्सा—

(१) श्वासावरोध—यह स्थिति श्वास प्रणाली में अवरोध होने के कारण होती है। इसीलिये रोगी को प्रारम्भ से ही तारपीन तैल १ ग्राम, यूकेलिप्टस तथा टिंचर वेन्जोइन प्रत्येक १-१ ग्राम उबलते पानी में डालकर भाप रूप में सुंघाना चाहिए। अधिक श्वासावरोध की स्थिति में आक्सीजन सुंघायें। अत्यन्त गम्भीर अवस्था में कंठ नलिका छेदन की आवश्यकता (विशेषज्ञ द्वारा) पड़ती है।

अंगघात—यह प्रायः स्थानिक होता है। महाप्राचीर तथा पार्शुकान्तरीय पेशियों का घात होने पर श्वसन में बाधा पड़ती है। ऐसी स्थिति में क्षोभक तैलों की मालिश तथा गर्म सेंक करना चाहिये। नेत्र की पेशियों का घात होने पर दृष्टि शक्ति का ह्रास हो जाता है। गले की पेशियों का घात होने पर नासा के द्वारा पोषण देना चाहिये। सभी स्थितियों में विटामिन बी कम्पलेक्स, $बी_1$, $बी_{12}$ का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग करना चाहिये।

रुग्ण स्थान को पूर्ण विश्राम देना चाहिये तथा नक्स वोमिका टि० १०-१५ बूंद की मात्रा में दिन में १ बार मुख द्वारा देना चाहिये। साथ ही निम्न योग के द्वारा शरीर की मालिश करनी चाहिये।

आइल टर्पेन्टाइन ४ ग्राम, आयल अम्बर ४ ग्राम, स्प्रिट कैम्फर ८ औंस, लिकर अमोनियाँ डिल. ३-४ औंस।

हृदय दौर्बल्य—इस रोग में पोषण न मिलने के कारण हृदय अत्यन्त दुर्बल हो जाता है इसलिए रोगी को पूर्ण रूप से शैया पर विश्राम दिया जाय। साथ ही मलावरोध को हर सम्भव दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। रोगी को गर्म कपड़ों से ढका रहना चाहिये। गले में अवरोध होने पर नासा एवं गुदा से पोषण देना चाहिये। डिफ्थीरिया के रोगी को प्रारम्भ से ही पेनिसिलीन+आइलोटाइसिन एवं डिफ्थीरिया एन्टीटोक्सिन-इन सभी का एक साथ प्रयोग करते रहना चाहिये।

इसके अतिरिक्त हृदय बलकारक-कार्डियाजोल, वेरिटाल आदि औषधियों का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में करना चाहिए। आवश्यकतानुसार स्ट्रिकनीन एवं कैम्फर युक्त इन ईथर का प्रयोग किया जा सकता है।

हृदय की दुर्बलता में निम्नयोग लाभकारी है—

स्प्रिट क्लोरोफार्म १५ बूंद, कोरामीन लि० ३० बूंद, टि० कार्ड को० २० बूंद, सरिप ग्लूकोज २ ड्राम, जल कुल २ औंस। दो-दो चम्मच प्रति ३ घण्टे पर दें।

इस रोग में हृदय को विष से बचाने के लिये पूर्ण विश्राम के साथ-साथ डेक्स्ट्रोज का २० प्रतिशत सोल्यूशन ५० सी० सी० की मात्रा में शिरा द्वारा देना चाहिये। अथवा ५ प्रतिशत सोल्यूशन २० सी० सी० की मात्रा में त्वचा, मांस अथवा गुदा द्वारा उसे प्रतिदिन मिलना चाहिये। अथवा मुख से ३-३ घन्टे पश्चात देना चाहिए। साथ ही रोगी की शैया का पायताना ऊंचा कर देना चाहिए। नोरएड्रेनलीन ५ मि०लि० का प्रयोग दिन में २ बार किया जा सकता है। अथवा कोरामीन का सूचीवेध दिन में ३ बार दे सकते हैं। रोगी को गर्म पानी की बोतलों से गर्म रख सकते हैं। उदर पर पट्टी बांधना हृत्पूर्व प्रदेश पर अलसी की गरम पुल्टिस बांधना आदि उपाय प्रयुक्त होते हैं। हृदय का बल स्थिर रखने के लिये निम्न दें—

टि० नक्स वोमिका ३ बून्द, स्प्रिट क्लोरोफार्म १० बून्द, कोरामिन लि० १० बूंद, स्प्रिट अमोनियाँ एरोमेट १० बूंद, एलिक्जिर बी कम्पलेक्स ३० बूंद, वाइनम गैलेसियाई १५ बूंद, सीरप ग्लूकोज १ ड्राम, जल कुल १ औंस मात्रा ऐसी १ मात्रा प्रति ४ घण्टे पर दें।

पथ्य चिकित्सा—

रोगावस्था में रोगी को केवल सन्तरे एवं अनन्नास के रस तथा शुद्ध जल के अलावा और कुछ नहीं देना चाहिये। सुधार होने पर फलाहार दिया जा सकता है। तत्पश्चात् यवमण्ड, मूंग की दाल का पानी, गेहूं का पतला दलिया क्रमशः धीरे धीरे देना चाहिये। रोग पूर्ण ठीक हो जाने के पश्चात् धीरे-धीरे सामान्य आहार पर लाना चाहिये।

विशेष नोट—रोग ठीक हो जाने के उपरान्त भी रोगी को कम से कम ४ सप्ताह तक अन्य स्वस्थ व्यक्तियों से अलग रखा जावे।

—आयुर्वेद बृहस्पति श्री डा० जहानसिंह चौहान
डी.एस-सी.ए, आयुर्वेदरत्न, डी. लिट.ए.
नवीगंज (मैनपुरी) उ०प्र०

तुण्डिकेरी या टांसिल

वैद्य श्री सुशील चन्द्र शुक्ला

पर्याय नाम—तुण्डिकेरी (वनकपास का फल), गल तुण्डिका शोथ, Tonsillitis, Inlarged Tonsil,उतुण्डिका शोथ, गलसुआ।

मुख के पश्चिम भाग में, जिह्वा के पार्श्वीय भाग में, वन कपास के फलों जैसी दो ग्रन्थियां होती हैं। शरीर की उपसर्गों द्वारा रक्षा करने का कार्य भी बहुत कुछ इन ग्रन्थियों पर निर्भर करता है। इन ग्रन्थियों का शोथ भी शरीर की संक्रामक रोगों से रक्षा करने के कारण होता है।

कारण—

(१) प्रधान कारण—जीवाणु वर्ग के अन्दर स्तम्बक गोलाणु (Staphylo cocci) माला गोलाणु (Strepto-cocci), फुफ्फुस गोलाणु (Pneumo-cocci) प्रधान हैं।

(२) क्षोभक पदार्थ—क्षोभक पदार्थों का सेवन, नालों की गैस, तीक्ष्ण धुंआ आदि अशुद्ध वातावरण की क्षोभकता

(३) सहायक कारण—आयु २-३ साल के बाद से लेकर २५-२७ साल की अवस्था तक ज्यादा पाया जाता है। बसन्त और बरसात में अधिकतर होता है। परम तथा आर्द्र प्रदेश, गन्दा मकान, दुर्बल शरीर तथा दूषित खाद्य और पेय लेने से होता है।

विकृति—

बिन्दूत्क्षेप उपसर्ग (Droplet Infection) द्वारा जब गलमार्ग द्वारा उपर्युक्त जीवाणु इन ग्रन्थियों (टांसिल) के पास से गुजरते हैं तो यह ग्रन्थियां शरीर की रक्षा कार्य में अपना सत्य सहयोग देने के लिए जीवाणु के साथ युद्ध करती हैं। फलस्वरूप ग्रन्थियों में सूजन आ जाती है और तोरणिकाओं में स्राव इकट्ठा हो जाता है।

लक्षण—

१. एकाएक ठंड लगकर बुखार आता है।

२. ज्वर १०३° या १०४° तक पहुंच जाता है।

३. कंठ फूल जाता है यहाँ तक कि पानी निगलने में कठिनाई होती है। गरदन जकड़ जाती है।

४. जीभ मैली और शुष्क रहती है।

५. आवाज भारी तथा मुख से एवं श्वास में बदबू आती है।

६. गले में खराश तथा पीड़ा होती है।
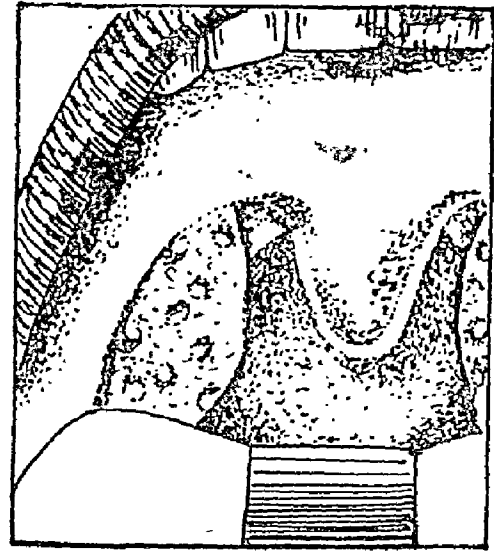
तुण्डिका शोथ (Acute Follecular Tonsillitis)
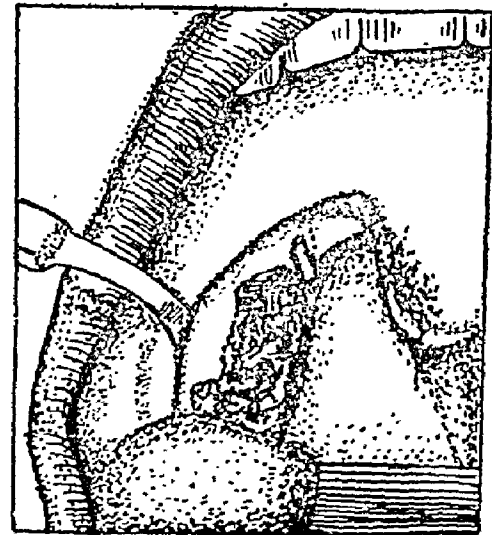
तुण्डिका शोथ का दूसरा प्रकार(Vincents Angina)

चिह्न (Signs)—

१. तुण्डिका (ग्रन्थि) तथा ग्रसनिका एवं तालू का रंग गहरा लाल हो जाता है।

२. ग्रीवा की लसीका ग्रन्थियां तथा जबड़े के नीचे की ग्रन्थियां भी फूल जाती हैं तथा उनको दबाने से दर्द होता है।

३. जिह्वा मलावृत हो जाती है।

४. मुख से दुर्गन्ध निकलती है।

सापेक्ष निदान—

इसका सापेक्ष निदान रोहिणी, स्कार्लेट ज्वर, कण्ठ तालुगत विसर्प आदि रोगों से करते हैं।

१. रोहिणी	१. तुण्डिकेरी
१. इसका आरम्भ धीरे-धीरे होता है।	१. एकाएक प्रारम्भ होता है।
२. पीड़ा कम होती है।	२. पीड़ा अधिक होती है।
३. ज्वर प्रायः कम रहता है।	३. अधिकतम १०३-१०५° तक होता है।
४. नाड़ी की गति ज्वर के अनुपात से ज्यादा होती है।	४. नाड़ी की गति ज्वर के अनुपात से कम होती है।
५. झिल्ली के सूक्ष्म परीक्षण से रोहिणी दण्डाणु का मिलना। यह परीक्षा अणुवीक्षण यन्त्र से की जाती है।	५. अणुवीक्षण यन्त्र से परीक्षा करने पर ऊपर लिखे जीवाणु मिलते हैं।
२. स्कार्लेट ज्वर	**२. तुण्डिकेरी**
१. इसमें दाने निकलते हैं।	१. इसमें दाने नहीं निकलते हैं।
२. जिह्वा लालिमा युक्त होती है।	२. मलावृत होती है।
३. टांसिल कम शोथ युक्त होते हैं।	३. टांसिल अधिक शोथ युक्त होते हैं।
३. कण्ठ तालुगत विसर्प	**३. तुण्डिकेरी**
१. दाने, शोथ कम तथा बाहरी लक्षण भी होते हैं।	१. दाने नहीं, शोथ अधिक तथा बाहर से टटोलने पर गले में शोथ प्रतीत होता है। यह शोथ यहाँ तक होता है कि पानी निगलना भी मुश्किल होता है।

इसके अतिरिक्त विन्सेंट एंजीना (Vincent Angina) तथा तीव्र उपदंश की उपस्थिति से भी सापेक्ष निदान किया जाता है।

निदान जिह्वावनामक द्वारा जीभ को दबाकर ग्रन्थियों (Tonsils) की सूजन को देखा जा सकता है। यह इस दशा में लाल तथा झिल्ली से युक्त भी मिल सकती हैं। इस झिल्ली का इधर उधर फैलकर उखड़ना ही रोहिणी से सापेक्ष निदान में सहायता देता है।

चिकित्सा—

परिचर्या—गरम पेय, गरम कमरा, गरम बिस्तर, शुद्ध वातावरण, दूध, मुद्‌ग यूष, माँस यूष तथा अरारोट और साबूदाना की खीर तथा चाय, काफी, मीठे फलों का गरम रस पथ्य में दिया जा सकता है।

औषधियाँ—१. ग्रन्थियों पर पुल्टिस, एण्टीफ्लोजिस्टिन प्लास्टर तथा सेंक करना।

२. नमक युक्त जल से गरारा कराना। यदि इसमें सोडा बाई कार्ब मिला लिया जाय तो अधिक उत्तम रहेगा।

३. मेण्डल पेन्टस, कार्बोलिक ग्लिसरीन का लेप करते हैं।

४. सल्फाड्रग एवं एण्टी बायोटिक औषधियों का प्रयोग करें।

५. चूसने के लिये फार्मेमिन्ट, फ्लेवेक्राइन, पेनिसिलीन लोजेन्जेज देते हैं।

६. टिंचर बेंजोइन का घूम्र अन्दर लें!

७. विटामिन सी दें।

उपद्रव—

वृक्क शोथ, गल लसिका ग्रन्थि शोथ, सैप्टीसिमिया, टाक्सिक मायोकार्डाइटिस आदि होते हैं।

—वैद्य श्री सुशील चन्द्र शुक्ला
महुआ गुन्दे (शाहजहांपुर) उ० प्र०

वैद्य डा० रणवीर सिंह शास्त्री एम० ए०,पी एच० डी०

सर्व साधारण व्यक्तियों को भोजन पान में स्वाद आना एवं रुचि होना उनके मुख स्वास्थ्य पर निर्भर करता है। मुंह में छाले हो जाने पर सभी प्रकार के व्यञ्जन मिष्टान्न पक्वान्न पेय लेह्य एवं चर्व्य पदार्थ अरुचिकर प्रतीत होते हैं। बालक से लेकर वृद्ध तक सभी का यही दैनिक अनुभव है कि मुख में छाले होने पर मिष्ठान्न व लवणान्न सभी असेव्य हो जाते हैं। छालों पर खाद्य व पेय पदार्थ दाह उत्पन्न करने लगते हैं। इन्हीं मुख विवरस्थ छालों को शास्त्रीय परिभाषा में सर्वसर या मुख पाक कहते हैं।

कारण एवं परिचय

आयुर्वेद में वात, पित्त और कफ दोषों से सर्वसर रोग की उत्पत्ति कही है। इसी को मुख पाक रोग भी आचार्यों ने कहा है।

वातिक सर्वसर[१]— मुख में चारों ओर फैले सुई चुभने का सी पीड़ा करने वाले छालों को वात प्रधान सर्वसर कहते हैं।

पैत्तिक सर्वसर[२]— रक्तवर्ण दाह कारक या पीत वर्ण छालों से व्याप्त जिसका मुख हो उसे पैत्तिक सर्वसर कहते हैं।

कफज सर्वसर[३]— मुख में पीड़ा रहित, खुजली उत्पन्न करने वाले, श्वेतवर्ण छालों को कफ से उत्पन्न कहा जाता है।

मुख पाक रोग

सर्वसर (मुख में उत्पन्न छालों) को ही मुखपाक[४] कहते हैं, कुछ आचार्यों ने सब प्रकार के छालों को "मुख-पाक" रोग के अन्तर्गत एक ही माना है।

अन्य आचार्यों ने रक्त दोष[५] —रक्त विकृति से उत्पन्न छालों को पित्तज सर्वसर के समान ही माना है, लक्षणों में भी समानता प्रकट की है।

सर्वसर (मुखपाक) रोग के विषय में अन्य आचार्यों ने भी अपनी विचार धारायें प्रकट की हैं—

माधव[६] निदान नामक ग्रन्थ में उक्त योग रत्नाकरोक्त सर्वसर लक्षणों को ही प्रस्तुत किया गया है। केवल पैत्तिक सर्वसर लक्षण में "रक्तैः सदाहैः पिडकैः" के स्थान पर "रक्तैः रदाहै स्तनुभिः" पाठ है जिसका अर्थ छोटे या सूक्ष्म है।

मुखपाक (सर्वसर) का कारण—

उक्त शास्त्रोक्त लक्षणों से सर्वसर या मुखपाक रोग का परिचय पाठकों को मिला है मुखपाक जिन कारणों से होता है उस पर भी समासतः प्रकाश डाला जा रहा है।

उष्ण विदाही या तीक्ष्ण पदार्थों के सेवन से मुख में छाले उत्पन्न होते हैं, उष्ण भोजन, तीक्ष्ण पेय पदार्थों के सेवन से या तीक्ष्ण मद्य के पान से भी सर्वसरों की उत्पत्ति होती है। ताम्बूल या तम्बाखू सेवन करने वालों को यदि

---

१ स्फोटैः सतोदैर्वदनं समन्ताद् यस्याचितं सर्वसरः स वातात् ॥

२ रक्तैः सदाहैः पिडकैः सपीतैर्यस्याचितं वापि स पित्त कोपात् ॥

३ अवेदनैः कण्डूयुतैः सवर्णैर्यस्याचितं वापि स वै कफेन ॥

४ अथ कैश्चिद् मुखपाक रोग एक एव प्रदिष्टः।

५ रक्तेन पित्तोदित एक एव कैश्चित् प्रदिष्टो मुखपाक रोगः ॥
(१ से ५ तक) योग रत्नाकर, समस्त मुख रोग प्रकरण

६ माधव निदान, मुखरोग प्रकरण, वातादिजास्त्रयः सर्वसराः

चूने की अधिकता हो जाय, उससे भी प्रायः छाले हो जाते हैं। तेज मसाले या लाल मिर्च लौंग आदि न खाने वालों को इनका सेवन करने से छाले हो जाते हैं। अदरख, लहसन, अचार गर्म दवाइयां, विषैली वस्तुयें भी मुख में छाले उत्पन्न करती हैं।

प्रधान करण—जिन रोगियों को विष्टम्भ (कब्ज) रहता है, जिनकी प्रकृति-पित्त प्रधान है अथवा जिन्हें फिरङ्ग उपदंश आदि औपसर्गिक रोग हो चुके हैं, जिन्होंने भल्लातक पाक या भिलावे के योगों का सेवन किया है उनको अधिकतर छालों का आक्रमण होता ही रहता है। कुल परम्परागत छाले भी सन्तति में देखे गये हैं, दन्तपूय (पायरिया) से ग्रस्त रोगियों के मुख में विष संक्रमण होकर छाले हो जाते हैं। आजकल सभ्य कहलाने वाले समाज में प्रचलित मद्यादि की नकल करने वाले टिञ्चर जिंजर, स्प्रिट डिनेच्योर्ड अथवा मूषकमारक विषों से निर्मित दूषित मद्यों के पीने से भी मुख में छाले उत्पन्न हो जाते हैं। इसकी आकृति प्रकार व दोष दूष्यता व्यक्ति की प्रकृति के अनुसार परिवर्तित होती रहती है।

स्वानुभूत चिकित्सा

आयुर्वेदीय ग्रन्थों में मुख पाक (सर्वसर) की चिकित्सा के लिए अनेक प्रकार के प्रयोगों का वर्णन है। उनको इस लेख में अवतरित न करते हुए अपने दैनिक रोगियों पर अनुभूत प्रयोगों व प्रक्रियाओं का ही यहाँ उल्लेख किया जा रहा है जिससे जनसाधारण लाभान्वित हो सकें—

कब्ज का निवारण—

रोगी को मुखपाक मुक्ति दिलाने में सर्व प्रथम विष्टम्भ (कब्ज) का निवारण करना प्रथम चिकित्सा है, जिनको कब्ज रहता है उन्हें प्रायः छाले होते रहते हैं। अतः विष्टम्भ निवारण के लिए निम्न सौम्य औषधों का प्रयोग हितावह है—

१. गूदा अमलतास २॥ तोला, सौंफ १ तोले, गुलाब के फूल ३ माशे, निसोत ३ माशे, इनको आधा सेर पानी में या दूध में पकाकर सेवन करें। तीन दिन तक॥

२ गुलकन्द गुलाब १ छटांक, सौंफ चूर्ण १। तोले मिलाकर दूध या पानी से तीन दिन तक लें। पुराना कब्ज हो तो सात दिन तक सेवन करें।

३. गुल बनफ्सा, सौंफ, सनाय मकई, तुरञ्जबीन इनका रोगी के बलानुसार मात्रा का क्वाथ बनाकर पीने से विष्टम्भ व छाले दोनों ही दूर होते हैं।

४. त्रिफला चूर्ण में बादाम का तेल या शुद्ध घृत मिलाकर ६-६ माशे मात्रा सेवन करते रहने से कब्ज व अन्य विकार शांत होते हैं।

५. उष्ण दूध में १ तोले शुद्ध घृत या बादाम का तेल मिलाकर प्रतिदिन पीने से भी सौम्य विरेचन होता रहता है तथा छाले नहीं होते।

६. पित्त प्रधान छाले वाले रोगियों को आमले का शुद्ध चूर्ण १-१ तोले प्रतिदिन सेवन करना चाहिए।

७. अन्य प्रचलित रेचक औषधों में पञ्चसम चूर्ण, समशर्करा चूर्ण, अभया मोदक, बड़ी हरड़ का मुरब्बा, त्रिफला चूर्ण, अभयारिष्ट, दन्त्यरिष्ट, सकमोनियां, गुलकन्द अमलतास, ईशबगोल की भुसी या बीज, इच्छाभेदी रस, विरेचक वटी, पर्गोलक्स, हर्बोलक्स, शांतिरेचन वटी, तरुणी कुसुमादि चूर्ण इत्यादि अनेक प्रयोग दैनिक प्रयोग में आ रहे हैं। इनसे भी रेचन होकर पेट साफ कर सकते हैं। सबसे उत्तम १-२-३ भागों में निर्दिष्ट प्रयोग स्थायी फलप्रद हैं। कभी-२ इनका सेवन करने से कब्ज नहीं रहता।

विष्टम्भ दूर होने पर पथ्य—

शुद्ध घृत मिश्रित कृशरा (खिचड़ी), गेहूं का दलिया, मूंग की दाल, लौकी, तोरई, परवल का शाक, दूध; मक्खन, लप्सी, हलुआ आदि मृदु और सुपाच्य आहारों पर निर्भर रहना चाहिए। विदाही, तीक्ष्ण और उष्ण पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिये। शुष्क, विष्टम्भी, आलू, अरवी, रतालू आदि भी नहीं लेने चाहिये। अमरूद केला, अनार, मौसम्बी, सन्तरा, सेब, आलू बुखारा, लीची आदि मधुर व पित्त शामक, शीघ्र पचने वाले फलों या इनके स्वरसों का सेवन हितावह है। केले के पश्चात् इलायची चूर्ण के सेवन से कभी दुर्जरता नहीं होती है। गो दुग्ध, दधि, तक्र, अजा दुग्ध का उपयोग भी ठीक है अभाव में भैंस का दूध पानी मिलाकर ले सकते हैं।

मुखपाक पर प्रयोज्य औषध—

१. चमेली के पत्र या पुष्पों के क्वाथ में ६ माशे फिटकरी मिलाकर दिन रात में तीन बार गण्डूष (कुल्ला) करना चाहिये।

२. अमरूद के पत्ते, चन्दन सफेद, कत्था इनका क्वाथ कदुष्ण, गण्डूषों के लिये सर्वसरापहारी है।

३. हंसराज, बेरी की लाख, शीतलचीनी, कत्था पपरिया इनका समभागीय सूक्ष्म चूर्ण छालों पर कई

बार लगाने से उनकी वेदना व घावों को ठीक करता है।

४. चन्दन का तेल, विरोजे का तेल, शीतलचीनी का तेल समभाग मिलाकर सुई की फुरैरी से तीन चार बार लगाने से सर्वसरों की निवृत्ति होती है, और दवा के पेट में पहुँचने पर भी हानि नहीं होती।

५. गुलाबी या सफेद फिटकरी, गेरू, छोटी इलायची और कत्था समभाग सूक्ष्म चूर्ण कर छालों पर बुरकने से शीघ्र लाभ होता है। औषधि के पेट में पहुँचने पर भी किसी प्रकार की हानि नहीं होती है।

६. सर्वोत्तम गुलाब का अर्क २ तोला, केवड़े का अर्क नं. १ २ तोले, पिपरिया कत्था १। तोले, कपूर डली का ४ माशे मिलाकर फुरैरी से छालों पर दिन रात में चार बार लगावें।

७. इलायची का तेल १ तोला, सत पिपरमेण्ट २ माशे मिलाकर फुरैरी से लगावें। इनमें से किसी औषधि के पेट में पहुंचने पर भी किसी प्रकार की हानि नहीं होती।

८. पीपल, ढाक, वेरी इन सबकी लाख समभाग १-१ तोले लेकर पीस लें, इसमें से १ माशे लेकर शहद में मिलाकर छालों पर लगावें।

९. छोटी इलायची १ तोले, असली वंशलोचन २ तोले, शीतल चीनी २ तोले मिला पीसकर थोड़ा-२ मुख पाक पर बुरकें। अवश्य लाभ होता है।

१०. मजीठ असली, चन्दन, मलयागिरी, दूब हरी, अनार की कली या पत्तियां, गेंदे के फूल या पत्तियां १-१ तोले, पानी एक सेर में उबाल १ तोले गुलाबी फिटकरी मिलाकर कुल्ले करने से अवश्य ही मुख पाकरोग दूर होता है।

विशेष विचारणीय—

१. उक्त लगाने या गण्डूष करने की औषधों को लगाने के समय पेट को पूर्वोक्त प्रकार से शुद्ध रक्खें। १-२ तोला च्यवनप्राश प्रातः सायं दूध से लेना चाहिए।

२. किसी प्रकार की विदाही, तीक्ष्ण, उष्ण या चरपरी व अम्ल वस्तुओं का सेवन नहीं करना चाहिए। लवणों का सेवन नहीं करना चाहिये। यदि आवश्यक हो तो सैंधा नमक स्वल्प मात्रा में लेना चाहिये। क्षारीय पदार्थों का सेवन कदापि न करें।

—आचार्य श्री रणवीरसिंह शास्त्री वैद्यराज
एम. ए., पी. एच. डी., वेदायुर्वेद व्याकरण
साहित्याचार्य, विद्या भास्कर,
अध्यक्ष—जिला वैद्यसभा, आगरा—२
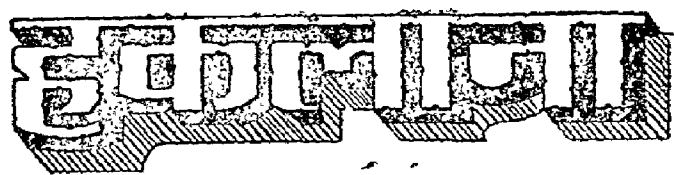
१. हकलाने वाले व्यक्ति को दृढ़तापूर्वक निश्चय करना चाहिये कि अब वो नहीं हकलायेगा। एकांत में जो कठिन शब्द लगे उसे बार-बार जोर-जोर से बोलने का अभ्यास करना चाहिए।

२. अकरकरा+सौंठ+बच+कुलंजन+पीपल+जायफल प्रत्येक ५-५ माशा+लौंग+दालचीनी प्रत्येक ३-३ माशा, सब दवाइयों का चूर्ण बनाकर सम भाग शहद में मिलाकर पाक बनाकर रख लें। उंगली में लेकर मुंह के अन्दर तालु, गले व जीभ एवं जबड़ों में मलें तथा थूक गिराते जायें। इसके साथ साथ डीशेन कम्पनी हैदराबाद की वाइटल एसेंस की १-१ गोली सुबह-शाम खिलावें, तथा भोजन के पश्चात् सारस्वतारिष्ट २-२ चम्मच दवा सेवन कराते रहें। हकलाहट में अत्यन्त लाभ प्रद योग है, बशर्ते कि ४-५ माह लगातार सेवन करायें।

३. छोटी इलायची १ भाग+लौंग १ भाग+साधारण कस्तूरी १/४ भाग, तीनों को शहद में मिलाकर १-१ रत्ती सुबह-शाम सेवन करायें।

४. हकलाने वाले व्यक्ति को अपनी बात धीरे-धीरे अलग-अलग शब्दों में धैर्यपूर्वक कहनी चाहिये। इस बात को दोहरा देना आवश्यक है कि उपरोक्त उपायों से तभी लाभ होगा जबकि व्यक्ति में निश्चयात्मकता एवं धैर्य होगा।

—श्री डा० विद्यानन्द शुक्ला बी.ए.एम.एस.
जनपद आयुर्वेदिक औषधालय
अकोली व्हाया मांढर, रायपुर (म.प्र.)
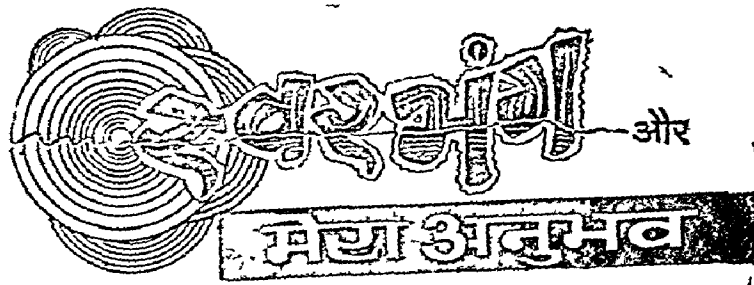
श्री डा० भागचन्द्र जैन आयुर्वेद वृहस्पति

वहुत जोर से बोलने या चिल्लाकर वोलने से, पाठ करने या ऊंची आवाज से पढ़ने से, गले में लकड़ी वगैरह की चोट लगने से विपादि पदार्थ खाने से यह रोग होता है। उपर्युक्त कारणों से वात पित्त और कफ कुपित होते हैं—फिर वे स्वरवाही स्रोतों में ठहरकर स्वर को नष्ट कर देते है।

स्वरभंग रोग छह तरह का होता है—

१. वातज स्वर भंग के लक्षण—आवाज विगड़ जाती है तो रोगी के नेत्र, मुंह, मूत्र और मल पाखाना—ये काले हो जाते है, रोगी टूटा हुआ शब्द वोलता है अथवा गधे की तरह कठोर आवाज निकलता है।

२. पितज स्वर भंग के लक्षण—नेत्र, मुख, मल और मूत्र पीले हो जाते हैं। बोलने के समय उसके गले में दाह या जलन होती है।

३. कफज स्वर भंग के लक्षण—कफ से कंठ रुका रहता है रोगी मन्दा मन्दा और थोड़ा-थोड़ा वोलता है। रात की अपेक्षा दिन में अधिक बोलता है।

४. सन्निपातज स्वर भंग के लक्षण—तीनों दोषों के लक्षण पाये जाते हैं। यह स्वर भंग असाध्य है—रोगी की वात समझ में न आवे।

५. क्षयज स्वर भंग के लक्षण—मुंह से धुआं सा निकलता है, वाणी क्षय हो जाता है। स्वर नहीं निकलता। जैसी आवाज निकलनी चाहिए वैसी आवाज नहीं निकलती ? जव 'ओज' का क्षय होने से वोलने की सामर्थ्य नहीं रहती तब यह क्षयज स्वर भंग असाध्य हो जाता है। अगर ओज का क्षय का नाश नहीं होता तो साध्य रहता है। मतलव यह है कि विल्कुल आवाज न निकलने से रोग असाध्य हो जाता है।

६. मेदज स्वर भंग के लक्षण—मेद या कफ से गला लिपटा रहता है। मेद से स्वर मार्ग रुक जाने की वजह से प्यास वहुत लगती है। रोगी गले के भीतर बोलता और वहुत धीरे-धीरे वोलता है। रोगी की आवाज मालूम नहीं होती और वडी देर में निकलती है।

"सुश्रुत में ओष्ठ, गले और तालू का लिपटा रहना या चिकना रहना लिखा है।

असाध्य लक्षण—क्षीण पुरुष का वूढ़े का दुर्वल का वहुत दिन का जन्म के साथ पैदा हुआ मेद वाले या मोटे आदमी का और सन्निपातज स्वर भङ्ग असाध्य होता है।

१. सुश्रुत उत्तर तन्त्र अध्याय ५३ में लिखा है—स्वर भङ्ग रोगी की स्नेहन क्रिया करके, वमन विरेचन और वस्ति कर्म से दुरुस्त करना चाहिए यानी इन क्रियाओं से दोष दूर हो जाते हैं।

२. इसके वाद नस्य—अवपीड़न, मुखधावन धूम्रपान और अनेक तरह के कवल और अवलेह आदि से रोगी की चिकित्सा करनी चाहिए।
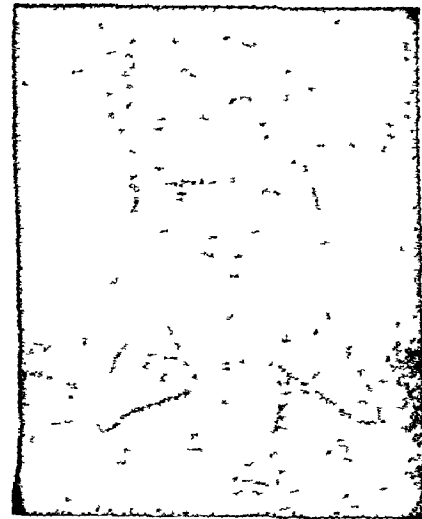
३. जो चिकित्सा विधि श्वास और खाँसी में लिखी है वह इस रोग में भी चल सकती है यह सुश्रुत का मत है। मतलव यह है कि श्वास और खाँसी के अनेक नुसखे इस रोग को भी नष्ट करते हैं लिखा है—

कासे श्वासे च हिक्कायां क्षये प्रोक्तानि यानि तु।
घृतानि तानि योज्यानि भिषग्भिः स्वर संक्षये ॥

खांसी, श्वास, हिचकी और क्षय रोग में जो योग लिखे हैं उन्हें वैद्यों को स्वर भङ्ग रोग में भी काम में लाना चाहिए।

स्वर भंग चिकित्सा

विशेष वातज स्वर भंग की चिकित्सा—

१. नमक मिलाकर तेल पीना चाहिये।

२. पुराने चावल, गुड़ के खीरे के साथ पकाकर

घी डालकर खाने चाहिये और कुछ देर बाद गरम पानी पीना चाहिए। गन्ने के रस या गुड़ के छाने हुये रस के साथ चावल पकाकर रात को सोने से पहले खाना चाहिये और घण्टे भर बाद जल पीना चाहिए। ३-४ दिन में स्वर भंग रोग चला जाता है। परीक्षित है।

३. भोजन के ऊपर कसौंधी, बड़ी कटेरी और भांगरे के रस के साथ पकाया हुआ घी पीना चाहिये।

४. देवदारू, अजमोद, चीते की छाल और इलायची के साथ पकाया हुआ घी पीना चाहिये।

पित्तज स्वर भंग की चिकित्सा—

१. घी पीकर ऊपर से दूध पीना चाहिए। मुलेठी को खीर घी मिलाकर खानी चाहिये।

२. काकोली, शतावर या खिरैटी का चूर्ण में घी शहद मिलाकर चाटना चाहिये।

३. इस रोग में जुलाब देना और मधुर पदार्थों के साथ पकाया हुआ घी पिलाना सर्वश्रेष्ठ है।

कफज स्वर भंग की चिकित्सा—

१. सौंठ, काली मिर्च, छोटी पीपल और पीपलामूल को महीन पीस छान लो। मात्रा १ से ३ माशे तक चूर्ण फांककर गोमूत्र पीना चाहिए। इस नुसखे से कफज और मेदज दोनों स्वर भंग में आराम हो जाता है। परीक्षित है।

२. खार और शहद का कवल मुख रखना चाहिये। इस कवल के मुंह में रखने और फिराने से तालु जीभ और मसूड़ों में लगा हुआ कफ निकल जाता है और स्वर भंग ठीक हो जाता है।

३. सौंठ, काली मिर्च और छोटी पीपल का महीन चूर्ण शहद और तैल में मिलाकर चाटना चाहिए। अगर इसमें त्रिफला भी मिला दिया जाय तो कहना ही क्या परीक्षित है।

४. भोजन करने के बाद काली मिर्च और पीपर प्रभृत्ति खाना चाहिए।

सन्निपातज और क्षयज स्वर भंग की चिकित्सा—

इस रोग के रोगी का इलाज करने पर पूर्ण भरोसा नहीं होता क्योंकि यह रोग असाध्य है—यमराज के घर सीधे जला जाता है।

मेदज स्वर भंग की चिकित्सा—

इस रोग में कफज स्वर भंग में लिखे हुये नुसखे काम लाना चाहिए।

समस्त स्वरभंग नाशक नुसखे—

१. गले में सूजन हो तो कड़वी तोरई चिलम में रख कर तम्बाकू की तरह पीने से लार टपकती है, गला खुल जाता है। तोता, मैना आदि पक्षियों को उनके खाने के साथ मुण्डी के पत्तों का चूर्ण खिलाने से उनका स्वर अति उच्च हो जाता है। मुण्डी की जड़ को पीस छानकर छाछ के साथ खाने से एवं मुण्डी के पत्तों को पानी के साथ पीसकर अर्श के अंकुरों या बवासीर के मस्सों पर लगाने से मस्से जड़ से नष्ट हो जाते हैं।

२. शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, शुद्ध मीठा विष, भुना सुहागा, काली मिर्च, चव्य और चीते की छाल—सबको बराबर बराबर लें। पहले पारे और गंधक को ५-६ घण्टे तक खरल करो। जब चमक न रहे उसमें विष आदि को पीसकर डाल दो और अदरख का रस दे देकर खूब घोटें। २-२ रत्ती की गोलियां बना लो। इनमें से बलाबल अनुसार एक-एक या २-२ गोली सवेरे शाम खाने और ऊपर से पानी पीने से स्वर भंग, श्वास और खांसी आदि रोग अवश्य नष्ट हो जाते हैं। परीक्षित हैं।

३. ३ वर्ष की पुरानी गोंदी की जड़ जमीन में से खोदकर मुंह में रखो और काढ़े के कुल्ले करो। इससे आवाज खुल जाती है।

४. कुलिंजन, अकरकरा, वच, ब्राह्मी, मीठा कूट, काली मिर्च बराबर-बराबर लेकर पीस छान लो मात्रा १ से ३ माशे तक शहद के साथ सुबह सायं चाटने से स्वर भंग गला बैठा आवाज खुल जाती हैं (परीक्षित है)।

५. ६ माशे छोटी हरड़ों का चूर्ण गाय के दूध के साथ खाने से ८ दिन में स्वर भङ्ग रोग चला जाता है। परीक्षित हैं।

—डा० भागचन्द्र जैन
आयुर्वेद वृहस्पति, सागर।

****
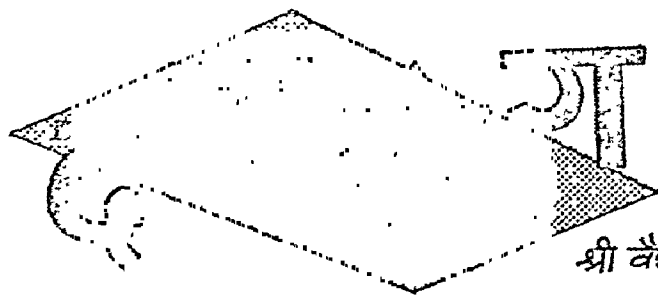
निदान एवं चिकित्सा

श्री वैद्य वेद प्रकाश तिवारी

मान्यवर श्री तिवारी जी ने दन्त रोगों पर यह विशिष्ट लेख प्रेषित किया है जो कि पाठकों को अवश्य ही पसन्द आयेगा। पूर्व में मुख रोगों की भाँति इस लेख में भी पाद टिप्पणी दी गई थीं लेकिन इस विशेषांक में अत्यन्त स्थानाभाव के कारण हमने उन्हें हटा दिया है। कृपया दन्त रोगों एवं चिकित्सा का विवरण सुश्रुत संहिता निदान स्थान १६ वां अध्याय, चिकित्सा स्थान अध्याय २२, अष्टांग हृदय उत्तर तंत्र अध्याय २१,२२ ६५, गद निग्रह शाला ३, ५. योग रत्नाकर पृष्ठ २६८, भैषज्य रत्नावली, भावप्रकाश, चक्रदत्त, माधव निदान, वृन्द वैद्य, अग्निपुराण के तत्सम्बन्धी अध्यायों में देखें। विद्वान लेखक एवं पाठकों से इसके लिए क्षमाप्रार्थी हैं। अत्यन्त विवशता थी। लेख अत्यन्त रुचिकर एवं ज्ञानप्रद बन पड़ा है। पाठकों को उपयोगी सामग्री एवं अनेक योग प्राप्त होंगे। —दाऊदयाल गर्ग

आयुर्वेद में दन्तरोग को दो भागों में विभक्त किया है। (१) दन्तमूल गत (२) दन्तरोग। प्राचीन विद्वानों में से दन्तमूल गत रोग किसी ने १५ एवं किसी ने १६ या किसी ने १३ माने हैं। इसी प्रकार दन्तगत रोग किसी ने ८ तथा किसी ने १० माने हैं। दन्त मूलगत रोग का निदान निम्न प्रकार से उल्लेख किया जाता है।

दन्तमूलगत व्याधियां :

(१) शीताद (Bleeding gums)—दन्त (मसूड़ों) से अकस्मात बिना कारण के रक्त निकलता है। दन्त हिलने लगते हैं। दन्तमांस कृष्ण वर्ण, मृदु, दुर्गन्धित, प्रक्लेदयुक्त (गीले) हो जाते हैं तथा परस्पर एक दूसरे को पका देते हैं। यह व्याधि कफ, एवं रक्त दोष से उत्पन्न होती है।

(२) दन्तपुप्पुटक (Gingivitis)—रोगी के दो या तीन दन्तमूल में बदर अस्थि (बेर की गुठली) के समान महान शोथ होता है जो शीघ्र पक जाता है। इसमें वेदना होती है और भेदन करने पर फूट जाता है। यह व्याधि कफ एवं रक्त से उत्पन्न होती है।

(३) दन्तवेष्ट (Pyorrhoea alveolaris)—दन्त मूल से पूय मिश्रित रक्त निकलता है एवं पाक भी होता है तथा हिलने लगते हैं। यह व्याधि दूषित रक्त से उत्पन्न होती है।

(४) शौषिर (A kind of Gingivitis)—दन्तमूल (मसूड़ों) में महान वेदना होती है। इसमें शोथ, कण्डू एवं लाला स्राव होता है। कतिपय विद्वान इस व्याधि को कफ रक्त जन्य मानते हैं किन्तु वाग्भट ने इसे पित्त-रक्त दोष जन्य माना है जो उचित प्रतीत होता है। इसे दन्तपुप्पुटक से भिन्न मानना चाहिए।

(५) महाशौषिर (Scurvy)—इस व्याधि से आक्रान्त रोगी का दन्त मांस (मसूढ़े) पक जाते हैं, दन्त हिलने लगते हैं, पूय एवं रक्तस्राव होता है। सन्धिबन्धन ढीले पड़ जाते हैं। कभी २ दन्तमांस एवं तालु भी फट जाते हैं। मुख में पीड़ा होती है। यह त्रिदोषजन्य रोग है।

भोज ने उल्लेख किया है कि यह व्याधि रोगी को सात रात्रि में ही मार डालती है (भाव प्रकाश से)।

(६) परिदर (Gangrene of the gums)—इस व्याधि में दन्तमांस शीर्ण (गल) हो जाते हैं अर्थात दन्त से मांस अलग जैसा या फट सा जाता है। रोगी रक्तष्ठीवन (थूक के साथ रक्त) करता है। इस पित्त-रक्त-कफ दोष से उत्पन्न व्याधि को परिदर कहते हैं। यह शौषिर का ही एक जीर्ण प्रतिकार है।

(७) उपकुश (Gum boil)—दन्तवेष्ठ (मसूड़ों) में शोथ, दाह, पाक, कण्डू एवं मन्द-मन्द वेदना होती है।

दन्तमांस के घर्षण से रक्त निकलता है तथा मुंह से दुर्गन्ध आती है। यह व्याधि पित्त-रक्त दोष जन्य है।

(८) वैदर्भ—दन्तमांस में घर्षण होने से सरम्भ (महान शोथ) हो जाता है और दन्त हिलने लगते हैं। यह व्याधि अभिघात जन्य है।

(९) खल्लीवर्धन (Extra tooth)—वायु के प्रकोप से तीव्र वेदना के साथ एक दांत अधिक निकल आता है। दन्त निकलने के बाद वेदना स्वयं शान्त हो जाती है।

(१०) अधिमांसक (Cancer of the back part of the gums)—हनु के पश्चिम (पीछे, दन्त के अन्त में) के दन्तमूल में महान शोथ होता है। कभी २ कील की भांति होता है। जिसमें वेदना तीव्र होती है एवम् लालास्राव होता है। हनु-कर्ण में पीड़ा होती है। यह कफ-जन्य रोग है।

(११) दन्त विद्रधि (Abscess of the gums)—दन्तमांस में रक्त सहित वातादि दोषों से बाहर व अन्दर भारी शोथ, दाह एवं पीड़ा होती है उसके विदीर्ण होने पर रक्तमिश्रित पूय का स्राव होता है। माधव ने इसका उल्लेख दन्तगत रोग में किया है।

(१२) पांच प्रकार की दन्त नाड़ी (Sinus of the gums)—दन्तमूल में नाड़ीव्रण के समान वायु दन्तमूल में स्थित होकर पांच प्रकार की (वातज–पित्तज–कफज–सन्निपातज–आगन्तुक) नाड़ी उत्पन्न होती है। दन्त मांस के रोगों की उपेक्षा से दोष बाहर न आकर अन्दर में सूक्ष्म गति करते हैं एवं बार २ पूयस्राव होता है। यह गति त्वचा-मांस-अस्थि को भेदती है।

दन्तगत रोग—

(१) दालन (Odontalgia)—दांतों में दारण (फाड़ने) के समान अनुभूति होती एवं तीव्र पीड़ा होती है। रोगी उष्ण स्पर्श सहन कर लेता है किन्तु शीत से वेदना होती है। यह व्याधि वातदोषजन्य होती है।

(२) कृमिदन्त (Dental Caries)—मूल सहित दंत का आश्रय लिये वात प्रधान दोषों से अन्न मल से भरे दांत के खोखले में मज्जा का शोषण होने पर दूषित अन्न के सड़ने से सूक्ष्म कृमि उत्पन्न होते हैं। बिना कारण के तीव्र वेदना होती है एवं शांत भी हो जाती है। दन्त मूल से पूय-रक्त स्राव होता है एवं शोथ होता है। दन्त म्लून (कटा हुआ) सा दिखाई देता है, हिलता है एवं कृष्ण छिद्र वाला होता है।

(३) भञ्जनक (Fissured tooth)—इस रोग में दन्त भङ्ग (टूटना) हो जाता है। तीव्र वेदना होती है एवं मुख वक्र (टेढ़ा) हो जाता है। वाग्भट ने भञ्जनक के नाम से उल्लेख नहीं किया। उस दन्त भेद के लक्षणों से साम्यता रखता है। वाग्भट के अनुसार दन्तभेद रोग में दन्त में तोद, वेदना, पीड़ा एवं स्फुटन (फटना जैसा) होती है।

(४) दन्तहर्ष—पित्त और वायु के प्रकोप से दन्त शीत, उष्ण, रूक्ष एवं अम्ल द्रव्यों का स्पर्श सहन नहीं कर पाते हैं या इन द्रव्यों के सेवन में अक्षम रहते हैं। दन्त प्रवात (तेज वायु के झोंके) भी सहन नहीं कर पाते हैं।

(५) दन्तशर्करा (Tartar)—दांतों का मल पित्त-वायु से सूखकर (योगरत्नावली ने कफ-वायु से सूखने का उल्लेख किया है) शर्करा (पथरी) के समान कड़ा हो जाता है जो कि दन्त के सौन्दर्य को नष्ट कर देता है। यह दन्त धावन (दतुवन) न करने से होता है एवं मुख से दुर्गन्ध आती है।

(६) कपालिका (Enamel)—दांतों से शर्करा सहित मिट्टी के बर्तन के काटने के समान जैसा पदार्थ या शर्करा कपाल के समान कठिन मलयुक्त दांतों के छिल्कों के विदीर्ण होने पर निकलता है। इस प्रकार दांतों से छिलका निकलने पर दन्त नष्ट हो जाते हैं। यह व्याधि उक्त दन्तशर्करा (Tartar) की उपेक्षा करने से होती है।

(७) श्यावदन्त—इस व्याधि में दन्त रक्तमिश्रित पित्त द्वारा कुपित होकर कृष्ण या नील हो जाते हैं।

(८) कराल (Horrified teeth)—दांतों में आश्रित वायु धीरे २ दांतों को विषम और विकट बना देता है। दन्त भयानक आकृति के हो जाते हैं। यह असाध्य रोग होता है।

(९) हनुमोक्ष (Dislocation of jaw)—उच्च भाषण, हंसना, जृम्भा आदि के द्वारा, अभिघात से प्रकुपित वात से हनुसंधि विसहत हो जाती है अर्थात् अपने स्थान से हट जाती है। हनुसंधि में विकार उत्पन्न होते हैं एवं अर्दित के लक्षणों से युक्त होता है।

(१०) दन्तचाल (Looseness of the teeth)–इस व्याधि से पीड़ित होने पर दन्त हिलते हैं एवं भोजन करने से दंत में वेदना होती है। उसे दन्त चाल या चालन कहते हैं।

(११) दन्तशूल (Toothache)—दन्त में वेदना होती है। शूल के कारण रोगी बेचैन रहता है (स्वतंत्र रूप से अभी तक किसी ने इस रोग का उल्लेख नहीं किया। किन्तु यह व्याधि सामान्य रूप से होती है)।

(१२) दन्तशब्द (Odontoprisis)—इस रोग में रोगी दांतों को आपस में घर्षण करता है। स्वयं ही दन्त किटकिटाते हैं। कभी २ शूल भी होता है या दन्त स्विन्न हो जाते है।

चिकित्सा

दन्तमूलगत रोग चिकित्सा

उपक्रम—दन्तमूल रोग में जलौका, अलावु, शृंगी द्वारा रक्तमोक्षण करना चाहिए। सम्पूर्ण दन्तरोग में वात-नाशक चिकित्सा करनी चाहिए। वातनाशक द्रव्यों से सिद्ध तैल उष्ण कर कवल धारण करे तो दन्तरोग नष्ट होते हैं। दन्तमूल से दूषित रक्त निकाल देवें।

शीताद चिकित्सा—

गण्डूष—दंतमूल रोग में विस्रावण (रक्तस्राव) कर्म करने के बाद शुण्ठी, सर्षप बीज, त्रिफला क्वाथ से गण्डूष करने चाहिए या त्रिफला, मुस्तक मूल क्वाथ में रसाञ्जन (रसौत) मिलाकर गण्डूष करना चाहिए। क्षीरीवृक्ष के क्वाथ से कुल्ला करें। शुण्ठी, पर्पट के उष्ण क्वाथ से गण्डूष करें।

लेप—शीताद में दन्तमांस में प्रियंङ्गु, मुस्ता, त्रिफला का लेप करें या गौर सर्षप पीस दंतमांस में लेप करें।

कवल—मुस्ता क्वाथ से कवल करें।

नस्य—(१) अणु तैल का नस्य शीताद रोग नाशक होता है।

(२) त्रिफला, मधुयष्टि मूल, उत्पल, पद्मक काष्ठ से सिद्ध तैल का नस्य प्रयोग करें।

चूर्ण—(१) कासीस भस्म, लोध्र त्वक, पिप्पली फल, मनःशिला भस्म, प्रियंगु पुष्प, तेजवल त्वक समान भाग लेकर मर्दन कर मधु मिलाकर दन्तमांस पर प्रतिसारण (मले) करें। (२) मुस्ता मूल, अर्जुन त्वक, त्रिफला, फलिनी (प्रियंगू), रसाञ्जन, शुण्ठी समान भाग लेकर चूर्ण करके मधु मिलाकर प्रतिसारण करें।

(३) कुष्ठ, दारुहरिद्रा काण्ड, लोध्र त्वक, मञ्जिष्ठा मूल, कटुकी मूल, तेजबल (चूरुहार) त्वक, नीलिका के चूर्ण से मञ्जन करने से दन्तमूल से रक्तस्राव, कण्डू, शूल नष्ट होता है (भै. र. ने नीलिका के स्थान पर हरिद्रा लिया है)।

(४) मुस्तक मूल, सैन्धव, दाड़िम फल, तार्क्ष्य (रसौत), कान्ता (प्रियंगु), शुण्ठी, जम्बूमज्जा समान भाग लेकर चूर्ण कर मधु मिलाकर दन्तपाली पर घर्षण करें।

तैल—

खदिरादि तैल—अब्द (मुस्ता), उर्ण (ऊन), अरिमेद (दुष्ट खदिर) त्वक क्वाथ कर चतुर्थांश शेष रहने पर छानकर गोदुग्ध, जतु द्रव (लाक्षारस), पतंग, अगुरु, गैरिक, खदिर त्वक, कंङ्कोल फल, जातिफल, न्यग्रोध वल्कल, लवंग पुष्प, जतु (लाक्षा), कर्पूर, लोध्रत्वक, मंजिष्ठा, अब्द (मुस्त) पद्मक काष्ठ, त्रुटि (एला); धातकी पुष्प, केशर (नागकेशर) कटफल से तैल सिद्ध कर मुख में धारण (कवल) से शीताद रोग नष्ट होता है।

दन्त पुप्पुटक—

नवीन दन्तपुप्पुट में रक्तमोक्षण हितकर है। इसके पश्चात पंचलवण यवक्षार मधु से मिलाकर प्रतिसारण करना चाहिये। शिरोविरेचन, नस्य, स्निग्ध भोजन हितकर है।

दन्तवेष्ठ—

दन्तवेष्ठ में दूषित रक्त निकालकर लोध्र त्वक, पतङ्ग (चोक या रक्तचन्दन), लाक्षा, द्राक्षाफल, मधुयष्टि मूल चूर्ण कर मधु से मिलाकर व्रण पर प्रतिसारण करें। क्षीरि-वृक्ष त्वक क्वाथ में मधु घृत शर्करा मिलाकर गण्डूष करने चाहिए।

जातिपत्र, पुनर्नवा पंचांग; तिल बीज, पिप्पली फल, कोरण्टक, कुष्ठ मूल, वचा मूल, शुण्ठी, दीप्यक (यवानी), हरीतकी समान भाग लेकर चूर्ण कर कवल धारण करने से वात कफ, कृमि, मुख दुर्गन्ध, शूल, शोथ, रक्तस्राव नष्ट करता है।

काकोल्यादिगण के कल्क, दुग्ध, घृत से घृत सिद्ध कर नस्य देने से दन्तपुप्पुटक में लाभ होता है। इस रोग में रक्तपित्त नाशक क्रिया करें तथा विरेचन, नस्य एवं स्निग्ध भोजन देना चाहिये।

शौषिर—

(१) रक्तशोधनोपरान्त लोध्र त्वक, मुस्तक मूल, रसाञ्जन (रसौत) का मधु से लेप करें, अथवा क्षीरीवृक्ष त्वक क्वाथ से गण्डूष करें। (२) दन्तमांस के छेदन-लेखन कर्म करके लोध्र, मुस्त, मिशि (सौंफ) बीज, श्रेष्ठा (त्रिफला), तार्क्ष्य (रसाञ्जन), पतङ्ग (रक्तचन्दन) काष्ठ, किंशुक (पलाश), कटफल के चूर्ण से दन्तमांस में प्रतिसारण करना चाहिए एवं इसके क्वाथ से गण्डूष करना चाहिए।

रक्तमोक्षणोपरान्त मधुयष्टि मूल, रोध्रत्वक, कमल काण्ड, अनन्ता, सारिवामूल, अगुरु काष्ठ, चन्दन काष्ठ, गैरिक, सिता (दूर्वा), पुण्डरीक इनसे सिद्ध तैल का नस्य देवें। या सारिवा मूल, उत्पल नाल, मधुयष्टि मूल, लोध्र त्वक, अगुरु काष्ठ, चन्दन काष्ठ के कल्क से दशगुने दुग्ध से सिद्ध घृत का नस्य देवें।

हिलते दन्त को उखाड़कर उसे अग्नि से दग्ध करें।

महाशौषिर—इसकी चिकित्सा शौषिर के समान करें।

परिदर चिकित्सा—शीताद की भांति चिकित्सा करें। वमन-विरेचन तथा शिरोविरेचन देवें।

काकोदुम्बरिका पत्र से व्रण घिसकर (घर्षण कर) रक्तस्राव करें। फिर सैन्धव लवण, त्रिकटु चूर्ण में मधु मिला कर धीरे-२ दन्तमांस में मर्दन करें।

उपकुश—वमन-विरेचन से शोधन करें एवं शिरोविरेचन देवें। काकोदुम्बरिका पत्र तथा गोजी पत्र से मसूड़े का दूषित रक्त निकालकर त्रिकटु, पंचलवण चूर्ण में मधु मिलाकर प्रतिसारण करना चाहिये।

पिप्पली, गौर सर्षप, शुण्ठी, निचुल फल (समुद्र फल), उष्ण जल में कल्क बनाकर कवल धारण करें। पटोल, रक्त चन्दन, मञ्जिष्ठा, निम्ब, मधुयष्टि मूल, हरिद्रा के कल्क से सिद्ध तैल का कवल या गण्डूष धारण करें तो उपकुश नष्ट होता है। मधुर द्रव्यों से सिद्ध घृत का कवल धारण करना चाहिए।

सुखोष्ण जल से गण्डूष करना चाहिये। दन्तमांस को स्विन्न करें। तदोपरान्त मण्डलाग्र से या शाक पत्रादि (सागौन) से बहुत बार लेखन कर्म करना चाहिए। फिर लाक्षा, प्रियंगु पुष्प पतंग (रक्त चन्दन), सैन्धव, गैरिक, कुष्ठमूल, शुण्ठी कन्द, मरिच फल, मधुयष्टि मूल, रसाञ्जन को समान भाग लेकर चूर्ण करके घृत-मधु मिलाकर दन्तमांस में प्रतिसारण करें। घृतमण्ड या तैल का कवल करना चाहिए। मधुर औषध जीवन्ती आदि के कल्क से एवं क्वाथ से सिद्ध घृत का कवल एवं नस्य उपकुश रोग में लाभकर होता है।

वैदर्भ—दन्त वैदर्भ में शस्त्र से दन्तमूल छेदन करना चाहिए। पूय निकालकर तदुपरांत दन्तमूल को शुद्ध करें एवं दुग्ध का सेवन करना चाहिए तथा शीतोपचार क्रिया करें। शस्त्र कर्म द्वारा दूषित मांस निकालकर क्षार प्रतिसारण करें एवं शीत क्रिया करें (अष्टांग हृदय में मण्डलाग्र शस्त्र से दन्तमूल शोधन करने हेतु उल्लेख है)। नस्य एवं शीत गण्डूष करें।

खल्लीवर्धन—इस रोग में जो अधिक दन्त है उसे संदंश यंत्र से निकालकर (समूल उखाड़कर) अग्निदग्ध करें (तप्त शलाका से दाह करें) एवं कृमि दन्त के समान चिकित्सा कर्म करना चाहिये।

अधिमांसक—शिरोविरेचन एवं वैरेचनिक धूम्र देवें। दन्तमूल को शस्त्र से छेदन करके तेजवल त्वक, पाठा पंचांग, बचामूल, स्वर्जिका क्षार, यवक्षार चूर्ण करके मधु मिलाकर व्रण पर प्रतिसारण करना चाहिये।

पिप्पली फल चूर्ण एवं मधु मिलाकर कवल धारण करें। पटोल, निम्ब, त्रिफला क्वाथ से गण्डूष करें एवं दन्त प्रक्षालन करें।

दन्तविद्रधि—कटुकी मूल, कुष्ठ मूल, वृश्चिकाली पंचाङ्ग, यव बीज चूर्ण से विद्रधि का घर्षण करना चाहिये। कटु, तीक्ष्ण, उष्ण एवं रूक्ष द्रव्यों से कवल धारण तथा लेप करना चाहिये। विद्रधि का पाक होने पर पाटनकर्म (चीरा देना) करना चाहिए। शस्त्रकर्म आवश्यक न समझें तो दाह कर्म करें। भावप्रकाश एवं योग रत्नाकर ने शस्त्र कर्म न करने का निर्देश दिया है।

दन्तनाड़ी—

प्रथम संशोधन कर्म करके शिरोविरेचन करना चाहिए। यदि नाड़ी ऊपरी दन्त में न हो और दन्तनाड़ी निचले दन्त पंक्ति में हो तो उस दन्त के दन्तमांस का शस्त्र से छेदन कर दन्त निकालकर क्षार या अग्नि से दग्ध करें। यदि ऊपर की दन्त पंक्ति में दन्त नाड़ी हो तो शस्त्र से दन्तमांस को (काटकर) छेदन कर शुद्ध करके क्षार या अग्नि से दग्ध करें। ऊपर के दन्त को नहीं निकालना

(तोड़ना) चाहिए। इसके उखड़ने से दृष्टिनाश का भय रहता है एवं अतिरिक्त स्राव होता है। अतिरिक्त स्राव से तृष्णा, दाह, पाण्डु आदि रोग हो जाते हैं। इस कारण रोगी दृष्टि नाश हो जाता है या अर्दित हो जाता है। अतः ऊपरी दन्त को न निकालें।

यदि निचले (जबड़े के) दन्त उखाड़ने की उपेक्षा की जाय तो हनु अस्थि में व्रण हो जाता है, रक्तस्राव होता है एवं अस्थि भग्न भी हो जाती है अतः मूल सहित दन्त भग्न अस्थि को भी उखाड़ देवें। जो नाड़ी वक्र एवं अनेक गति वाली हो उसे गुड़, मोम से भरकर दग्ध कर देवें।

पांचों प्रकार के दन्तनाड़ी का नाड़ीव्रण नाशक उपचार करना चाहिये।

जाती (चमेली), मदन फल (भा. प्र. टीकाकार ने धत्तूर उल्लेख किया है), स्वादुकण्टक फल (गोक्षरू), खदिर त्वक का क्वाथ करके अथवा केवल क्षीरीवृक्ष त्वक के क्वाथ से दन्तनाड़ी (शस्त्रकर्मोपरान्त) का प्रक्षालन करें एवं गण्डूष करें।

दन्तनाड़ी के व्रण शोधनार्थ जाती पत्र, मदन फल, कटुकी मूल, गोक्षरू फल, मधुयष्टि मूल, लोध्र त्वक, मंजिष्ठा मूल, खदिर त्वक क्वाथ से सिद्ध तैल का प्रयोग दन्तनाड़ी नाशक होता है।

जात्यादि तैल— जातीपत्र, मदन (भा. प्र.–धत्तूरपत्र), कण्टकी (कटेरी) मूल, गोक्षरू फल (यो. र. के टीकाकार ने स्वादुकण्टक को विकङ्कत कहा है), मंजिष्ठा मूल, लोध्र त्वक, खदिर त्वक के क्वाथ से सिद्ध तैल दन्तगत व्रण को नष्ट करता है।

दन्तगत रोग चिकित्सा

उपक्रम—सम्पूर्ण दन्तरोग में वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिए। वातनाशक द्रव्यों से सिद्ध तैल एवं सुखोष्ण कवल धारण करना चाहिए। दूषित रक्त को विस्रावण (निकाल) करें।

दालन चिकित्सा—

लाक्षादि तैल (सामान्य चिकित्सा में उल्लिखित) का कवल धारण करने से दालन रोग नष्ट होता है।

कृमिदन्त चिकित्सा—

यदि दन्त हिलता न हो तो स्वेदन कर रक्तमोक्षण करना चाहिए तथा अवपीडन नस्य देवें एवं वातनाशक स्नेह का गण्डूष लेप-नस्य तथा आहार कराना चाहिये।

हिलते हुए दन्त को उखाड़कर (निकालकर) खोखले (शौषिर जन्य) छिद्र में गुड़ या मोम भरकर तप्तशलाका से अग्निदाह करें एवं निम्न उपचार करने से कृमि दन्त नष्ट होता है—

१. हिंगु दन्तान्तर रखना चाहिए। २. दुग्धिकामूल दन्त से चबाकर मुख में धारण करना चाहिये। ३. गुञ्जा मूल या वाराहकर्णी (अश्वगंधा) मूल चबाने चाहिए। ४. दुग्धिका मूल या वायस जंघा मूल या नलिनी मूल या स्नुही मूल को दन्त से चबाकर मुख में धारण करें। ५. सारिवा पत्र पीसकर दन्त में धारण से कृमिदन्त एवं चल दन्त (हिलना) नष्ट होता है। ६. सप्तपर्ण त्वक एवं अर्क दुग्ध मिलाकर दन्तछिद्र में भर देवें।

लेप क्रिया—१. रोगी के अंगुष्ठ में लाङ्गली मूल घिसकर लेप कर देवें। जिस ओर दन्त कृमि हों उसके दूसरी ओर के अंगुष्ठ में लेप करना चाहिए। २. अर्क दुग्ध दन्त छिद्र में लेप करें। ३. पुनर्नवा मूल, देवदारु काष्ठ का लेप करें। ४. भद्र दार्वादि गण का लेप करें। ५. वृहती पंचांग भूमिकदम्ब (गोरख मुण्डी ?), पञ्चांगुल (श्वेत एरण्ड), कण्टकारी पंचांग समान भाग लेकर क्वाथ करके तैल मिलाकर गण्डूष करें। ६. नीली, आमलकी, स्नुही. बिम्बी, हेमक्षीरी (सत्यानाशी) इनमें से किसी एक की मूल को चूर्ण कर कवल धारण करें तो कृमि दन्त नष्ट होते हैं। ७. नीली मूल वायसजंघा (काकजंघा) मूल, कटु तुम्बी मूल में से किसी एक के चूर्ण से दन्त मञ्जन करना चाहिये। ८. द्रोण पुष्पी स्वरस में समुद्रफेन, मधु, तैल मिलाकर कर्ण में पूरण करें।

विशाला फल (इन्द्रायण) को तप्त लौह पात्र में रखकर दन्त कृमि में धूम देवें तो दन्त कृमि नष्ट होते हैं। सर्षप बीज, करञ्ज बीज, कोषातकी मूल, निर्गुण्डी मूल, खदिर त्वक, निम्ब त्वक, पीलू तैल, कण्टकारी बीज का धूम दन्त कृमि एवं शूल नष्ट करता है।

वटी—शुद्ध कासीस भस्म, हिंगु, सौराष्ट्री (स्फटिक) शु., देवदारु काष्ठ समान भाग लेकर जल से वटी बनाकर दन्त में धारण करने से कृमि, शूल नष्ट होता है।

तैल—विदारी कन्द, मधुयष्टि मूल, शृङ्गाटक फल, कसेरुक मूल समान भाग लेकर कल्क करके एवं कल्क से दशगुणा दुग्ध तथा कल्क से चतुर्गुण तैल मिलाकर तैल सिद्ध कर लेवें। इस तैल का नस्य हितकर है।

मुस्तादि तैल—मुस्त मूल, मधुयष्टि मूल, निर्गुण्डी मूल, खदिर त्वक, उशीर मूल, देवदारू काष्ठ, मंजिष्ठा मूल, विडंग बीज से सिद्ध तैल द्वारा कृमि दन्त नष्ट होता है।

ताम्र पात्र में हरीतकी चूर्ण मधु डालकर पकाकर शीत होने पर दन्त के नीचे रखने से लाभ होता है।

भञ्जनक—भञ्जनक रोग में दन्तशूल के समान चिकित्सा करनी चाहिए। वातनाशक क्रिया करें।

दन्तहर्ष—स्नेह, त्रिवृत घृत एवं वातनाशक द्रव्यों का सुखोष्ण कवल धारण करना चाहिये। स्नेह युक्त धूम, नस्य, पेय, मांसरस, यवागू, दुग्ध तथा शिरोविरेचन कर्म दन्तहर्ष रोग में हितकर होता है। वातनाशक क्वाथ का सेवन या केवल त्रिवृत घृत का कवल दांत हर्ष रोग नष्ट करता है। तिल एवं मधुयष्टि मूल से सिद्ध दुग्ध का गण्डूष देवें।

पिप्पली फल चूर्ण को मधु में मिलाकर तथा घृत मिलाकर कवल धारण करने से दन्तहर्ष एवम् शूल नष्ट होता है।

शंखिनी पंचांग, कोटि (असवरग) मूल, सुमना (मालती) पुष्प, करवीर मूल, सुवर्चला (असगंध ?) समान भाग लेकर क्वाथ बनाकर तिल तैल मिलाकर सुखोष्ण कवल धारण करने से लाभ होता है।

दन्तशर्करा—दन्तमूल (मसूड़ों) को बचाते हुए अर्थात् बिना हानि पहुँचाये दन्तशर्करा को दन्त से निकाल लेना चाहिए। तत्पश्चात लाक्षा चूर्ण में मधु मिलाकर प्रतिसारण करने से दन्तशर्करा रोग नष्ट होता है। तथा दन्तहर्ष के समान चिकित्सा कर्म करने से भी लाभ मिलता है।

कपालिका—दन्तहर्ष एवं दन्तशर्करा के समान चिकित्सा कर्म करने से लाभ होता है।

श्यावदन्त—श्यावदन्त रोग में दन्त रोग की सामान्य चिकित्सा के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए।

कराल—इस रोग में भी दोषानुसार सामान्य चिकित्सा करनी चाहिए। वैसे यह रोग असाध्य है।

हनुमोक्ष—वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिए। अर्दित रोग के समान चिकित्सा कर्म लाभप्रद होता है।

दन्त चाल—

(१) बब्बूल त्वक क्वाथ से गण्डूष करना चाहिए। (२) मूलक बीज मुख में रखकर चूसने से हिलते हुए दन्त (चल दन्त) दृढ़ होते हैं। (३) वकुल त्वक (मौलसिरी) को मुख में रखकर चबाने से दन्त दृढ़ होते हैं। तिल तथा वच को मुख में रखकर चबाने से दन्त दृढ़ होते हैं। (५) आर्तगल (नील झिन्टी) पत्र क्वाथ से गण्डूष करना चाहिए। (६) क्षीरी वृक्ष त्वक क्वाथ में मधु-घृत-शर्करा मिलाकर गण्डूष करना चाहिए। (७) कुम्भीर (जलचर) के पैर से सिद्ध दुग्ध को पैर में लेप करने से दन्त हिलना बन्द हो जाता है। (८) दशमूल क्वाथ के सिद्ध स्नेह से गण्डूष करना चाहिए। 'तुत्थ, लोध्र त्वक, पिप्पली फल, श्रेष्टा (त्रिफला), पतङ्ग (रक्त चन्दन), पटु (लवण) समान भाग लेकर चूर्ण कर दन्त का घर्षण करे एवं वयानुसार स्निग्ध नस्य तथा कवल प्रयोग से हिलते हुए दंत में लाभ होता है। अति हिलने वाले दंत को निकाल कर उस स्थान को तप्त शलाका से दग्ध करें।

जीरकाद्य चूर्ण—जरण (जीरक) फल, लवण, पथ्या (हरीतकी) फल, शाल्मलि कटक समान भाग लेकर चूर्ण कर दन्तमूल में घर्षण से चालन, व्रण, दारण, शोथ नष्ट होता है।

भद्रमुस्तादि वटी—भद्रमुस्त मूल, हरीतकी फल, त्रिकटु, विडंग फल, अरिष्ट (निम्ब) पत्र, समान भाग लेकर गोमूत्र से पीसकर वटी बनावें। एक वटी मुख में सोते समय रखने से चल दन्त (हिलते दन्त) रोग नष्ट होता है।

वकुलाद्य तैल—वकुल त्वक, लोध्र त्वक, बला मूल, वल्ली (गुडूची) काण्ड, कुरण्टक पंचांग, चतुरंगुल (आरग्वध) फल, बब्बूल त्वक, वाजिकर्ण (अश्वकर्ण या बडा शाल) त्वक, अरिमेद त्वक समान भाग लेकर क्वाथ करके (क्वाथ ४ लिटर) तथा इन्हीं द्रव्यों का कल्क २५० ग्राम एवं तिल तैल १ किलो मिलाकर तैल सिद्ध करके रखें। इस तैल को दन्त में रखने तथा नस्य लेने से चल दन्त ठीक होता है।

नीलसहचराद्य तैल—नील सहचर का क्वाथ ४ लिटर तथा अनन्त मूल, खदिर त्वक, अरिमेद त्वक, जम्बू त्वक, आम्र त्वक, मधुयष्टि मूल, उत्पल पुष्प समान भाग लेकर मिलाकर कुल २५० ग्राम का कल्क कर तैल १ किलोग्राम मिलाकर पाक करके तैल सिद्ध कर लेवें। मुख में कवल धारण से चलदन्त स्थिर होते हैं।

दन्तशूल—

(१) पिप्पली फल चूर्ण में घृत मिलाकर मुख में धारण करें। (२) हरितमंजरी ? चूर्ण को शुण्ठी के साथ मिलाकर दन्त के अन्दर बाहर लेप करें तो दन्तशूल नष्ट होता है। (३) केवल सैन्धव लवण मुख में रखने से दन्त-शूल नष्ट होता है। (४) एरण्ड मूल, व्याघ्रीद्वय (छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी), भूकदम्ब (अलम्बुसा या मुण्डी) के क्वाथ से सिद्ध तैल का गण्डूष देवें या हिंगु, कटफल त्वक, कासीस भस्म, स्वर्जिकाक्षार, कुष्ठ मूल, विडंग फल चूर्ण कर पोटली बनाकर दन्त में रखने से शूल नष्ट होता है। या मधुयष्टि मूल, विदारीकन्द, श्रृंगाटक, कसेरुक, दुग्ध से सिद्ध तैल का नस्य देवें तो शूल नष्ट होता है।

५. दन्तशूल शान्त न होने पर सर्वप्रथम दन्त को दन्तमांस (मूल) से अलग करके 'लघु सदंश' से या दन्त निर्घातन यंत्र से उखाड़ देना चाहिए एवं तदोपरान्त मधु-यष्टि मूल चूर्ण तैल में मिला कर गण्डूष करें या मधुयष्टि मूल चूर्ण में मधु मिलाकर प्रतिसारण करना चाहिए।

६. जातीफल, त्रिकुट, त्रिफला, गोमूत्र, हरीतकी फल, दुग्ध, हरिद्रा के कल्क से सिद्ध तैल का कवल धारण करें।

दन्त शब्द—(१) यदि किसी कारण से दन्त किट-किटाते हों तो कर्कट (केकड़ा) के पैरों से दुग्ध सिद्ध करें। फिर इस दुग्ध से घृत सिद्ध कर दन्त पंक्ति में प्रतिसारण करने से दन्त शब्द रोग नष्ट होता है। (२) केवल कर्कट पैर का लेप लाभकर होता है। (३) कर्कट के दोनों पैरों को पीस कर दुग्ध में मिला कर घन होने तक पकावें। इसे पैरों में लेप से दन्तशब्द रोग नष्ट होता है। (४) कुम्भी (रक्तपुष्प पाढ़ल या कटफल) स्वरस दुग्ध या घृत सिद्ध कर लेप से दन्त शब्द नहीं होता है। (५) कृष्ण वर्ण अश्वपुच्छ के सात रोम (बाल) तोड़ कर उनकी चोटी बनाकर गले में बांधने से दन्त शब्द तथा दन्त कड़मड़ी रोग नष्ट होता है।

दन्त रोग एवं दंतगत सभी रोगों की सामान्य चिकित्सा

१. शरपुंखा (बाणपुंखा) मूल पीस कर दन्तमूल में रखकर सेवन से दन्त रोग नष्ट होता है।

२. तिक्तक चूर्ण—मुस्त मूल, त्रिकटु, पाठा, त्वग (दालचीनी), वत्सक बीज (इन्द्रयव), पटोल पत्र, कटुकी मूल, निम्ब त्वक, हरिद्रा मूल, धन्वयास, जातीपत्र, प्रवाल, भूनिम्ब पचांङ्ग, मधुयष्टि मूल, रसाञ्जन, त्रायमाण, गुडूची, त्रिफला समान भाग लेकर चूर्ण का प्रतिसारण करने से दन्तमूलगत तथा मुख-कण्ठगत रोग नष्ट होते हैं।

३. पीतक चूर्ण—दारु हरिद्रा कांड त्वक, मधुयष्टि मूल, प्रियंगु पुष्प, अतिविषा मूल, मुस्त मूल, त्रायन्ती (त्रायमाण) पंचांग, नागपुष्प, भूनिम्ब (किरात) पचाङ्ग, तिक्तरोहणी मूल (कटुकी), दाड़िम त्वक, त्वग, विभीतक फल, हरताल, मनःसिला समान भाग लेकर शैलेय ३ भाग, रसाञ्जन ३ भाग लेकर चूर्ण करके मधु मिलाकर प्रति-सारण करें तो दन्त नष्ट होते हैं।

४. कणाद्य चूर्ण—पिप्पली फल, सैंधव लवण, जीरक फल (जरण), समान भाग लेकर चूर्ण करके दन्तघर्षण से चलदन्त, शूल, शोथ, रक्तस्राव नष्ट होता है।

५. कुष्ठादि चूर्ण—कुष्ठ मूल, आमलकी फल, लोध्र त्वक, अब्द (मुस्त) मूल, समगां (मजिष्ठा) मूल, पाठा पचाङ्ग, तिक्ता, (कटुकी) मूल, तेजनी (चव्य ? या तेजबल) पीतिका (हरिद्रा) मूल चूर्ण कर घर्षण से रक्तस्राव, कण्डू, वेदना नष्ट होती है।

६. जातिपत्रादि चूर्ण—जातीपत्र, पुनर्नवा पंचाङ्ग, गजपिप्पली फल, कोरण्टक (बेर त्वक ? या सहचर), कुष्ठ मूल, वचा मूल, शुण्ठी कन्द, दीपक (यवानी) फल, हरीतकी फल, तिल बीज प्रत्येक समान भाग लेकर चूर्ण कर कवल धारण करने से चलदन्त, व्रण, शोथ, कण्डू, मुख रोग नष्ट होते हैं।

७. सौराष्ट्री योग—सौराष्ट्री (स्फटिक), त्रिफला, मद (सुपारी) फल, त्रुटि (एला) बीज, विडङ्ग फल, तुत्थ, पंचांग (पतंग), कासीस भस्म, खदिरसार, मायाफल (माजू फल), अयस (लौहभस्म), जीमूत (मुस्त ?) समान भाग लेकर चूर्ण कर दन्त घर्षण से शूल नष्ट होता है एवं दन्त स्वच्छ होते हैं।

८. कण्टक्यादि तैल—कण्टकी (खदिर) त्वक, मदन फल, स्वादुकण्टक (गोक्षुर), विकङ्कत (श्रुवा वृक्ष) समान भाग लेकर कुल कल्क २५० ग्राम, तैल १ कि०, जल ४ लिटर मिलाकर तैल सिद्ध कर लेवें। इसके सेवन से दन्त-नाड़ी एवं दन्तगत रोग नष्ट होते हैं।

९. लोध्रादि तैल—लोध्र त्वक, खदिर त्वक, मंजिष्ठा मूल, मधुयष्टि मूल समान भाग लेकर कुल २५० ग्राम कल्क करके तैल १ किग्रा० तथा जल ४ लीटर मिलाकर

पाक करके तैल सिद्ध कर प्रतिसारण एवं गण्डूष करने से दन्तनाड़ी एवं दन्तगत रोग नष्ट होते हैं।

१०. विदार्यादि तैल—विदारीकन्द, मधुयष्टि, शृगाटक, कशेरुक, का कल्क मिलाकर २५० ग्राम, तैल १ किलो ग्राम, एवं दुग्ध १० लिटर सब मिलाकर पाक कर तैल सिद्ध कर लेवें। दन्त उखाड़ने (निकालने) के वाद या दन्त दग्ध के उपरान्त उस तैल का नस्य लेने से दन्त रोग में लाभ होता है।

११. अरिमेदादि तैल—अरिमेद (विट खदिर) त्वक, ४०० ग्राम लेकर १.५ लिटर जल में क्वाथ करें। चतुर्थांश शेष रहने पर छान कर क्वाथ में तिल तैल १३० ग्राम तथा अरिमेद त्वक, लवङ्ग पुष्प, गैरिक, अगुरु काष्ठ, पद्मक काष्ठ, मञ्जिष्ठा मूल, लोध्र त्वक, मधुयष्टि मूल, एला बीज, लाक्षा, न्यग्रोध त्वक, मुस्तक त्वक (दालचीनी) जातीफल, कर्पूर, कङ्कोल, खदिर त्वक, पतङ्ग काष्ठ, धातकी, नागकेशर, कटफल प्रत्येक १-१ ग्राम लेकर कल्क करके एकत्र मिलाकर पाक करें। इस तैल को दुष्ट मांस, चलदन्त, शौषिर, शीताद, दन्तहर्ष, विद्रधि, कृमिदन्त, दन्तस्फोट में सेवन से लाभ करता है।

१२. इरिमेदादि तैल—इरिमेद त्वक ४०० ग्राम को १.५ लीटर जल में क्वाथ करें। चतुर्थांश शेष रहने पर दुग्ध १०० ग्राम, लाक्षारस १०० ग्राम, तैल १०० ग्राम तथा लोध्र त्वक, कटफल त्वक, मञ्जिष्ठा मूल, पद्मकेशर, पद्मक काष्ठ, चन्दन, उत्पल पुष्प, मधुयष्टि मूल, धातकी पुष्प प्रत्येक १-१ ग्राम लेकर कल्क करके मिलाकर तैल पाक करें। इस तैल के गण्डूष, कवल से दन्तचाल, दारण शूल, हनुमोक्ष, कपालिका, शीताद, शौषिर एवं मुखरोग नष्ट होते हैं।

१३. लाक्षादि तैल—तिल तैल १ किलोग्राम, लाक्षा रस १ किलो., प्रथम लोध्र त्वक, मंजिष्ठा मूल, पद्म काष्ठ, पद्मकेशर, चन्दन काष्ठ, उत्पल पुष्प, मधुयष्टि मूल प्रत्येक ५० ग्राम लेकर चतुर्गुण जल में क्वाथ कर चतुर्थांश शेष रहने पर उक्त तैल एवं लाक्षारस में मिलाकर तैल पाक करें। इसके गण्डूष, कवल, प्रतिसारण से दालन चालन, हनुमोक्ष, कपालिका, शीताद आदि दन्तरोग नष्ट होते हैं।

दांतों को दृढ़ (मजबूत) करने के लिए निम्न योग लाभकर होते हैं—

१. जयाकाष्ठ से दन्त मार्जन करने से दन्त वज्र के समान होते हैं।

२. प्रतिदिन तिल चबाकर खाने से दन्त मजबूत होते हैं।

३. मूसली बीज मुख में रखकर चूसने से दन्त दृढ़ होते हैं।

४. जाती पत्र, कोरण्टक (सैरेयक) पत्र प्रातः उठकर चबावे से या इनके काष्ठ की दन्त धावन से दन्त दृढ़ होवे हैं।

५. वकुल त्वक, जटामांसी, जिनकल्क, (पिचक ?) का कल्क बनाकर तीन दिन तक प्रातः जल से पीने से वृद्ध मनुष्यों के दन्त भी दृढ़ होते हैं।

६. स्वर्ण ताम्र आदि धातु से बद्ध पारद वटी मुख में रखकर चलाते रहन से दन्तदृढ़ होते हैं।

७. स्वर्ण भस्म, रजत भस्म, शु. पारद, शु. हरताल समान भाग लेकर मर्दन कर गोदुग्ध से पीसकर वटी बना कर तिल तैल से भरे पात्र में दोलायंत्र विधि से स्वेदन देवें। वटी बनाकर १ गोली दन्त के नीचे रखकर चूसने से दन्त दृढ़ होते हैं।

भैषज्य रत्नावली में करञ्ज, करवीर, अर्क, मालती, अर्जुन, असन आदि के काष्ठ से दन्त धावन करने का उल्लेख है। सामान्यतः निम्ब, कीकर एवं तेजबल से दन्त धावन किया जाता है। इनमें भी निम्ब एवं तेजबल अधिक गुणकारी होता है।

समस्त दन्त रोगों में पथ्यापथ्य —

अम्लरस, शीत जल, रूक्ष अन्न, कठिन द्रव्य तथा दन्त धावन दन्तरोगी त्याग देवें।

—वैद्य श्री वेदप्रकाश तिवारी,
संयुक्त अनुसन्धानीय संस्थान, ताड़ीखेत (रानीखेत)

श्री ब्रह्मानन्द त्रिपाठी आयु.

ऐतिहासिक परिचय --सुना जाता है महाराज दक्ष प्रजापति महान् कूटनीतिज्ञ थे। इनके यज्ञ में सती के तिरस्कार के कारण असन्तुष्ट शिवजी ने अपने गणों को यज्ञ विध्वंस करने का आदेश दिया। उस समय दक्ष प्रजापति का शिर काट लिया गया और पूषा देव के दांत तोड़ दिये गये। उन दिनों आज की तरह कृत्रिम दन्त निर्माण की परम्परा नहीं थी। इसीलिये दांतोंरहित पूषा देव का वर्णन मीमांसा ग्रन्थों में मिलता है। दांत न होने के कारण आज भी उनको हलुआ की बलि दी जाती है।

युद्धव्यसनी महाराज दानवीर कर्ण दन्त रोग से पीड़ित थे अत: उन्होंने अपने दांतों के गड्ढों में सोना भरवाया।[1] स्पेन देश वासी महारानी 'मलिका मेरिया लुई' जब पचास वर्ष की हुई तब उसके दांत क्रमशः टूट गये। सुन्दरतापूर्ण उसका मुख मण्डल दांतों के बिना छुहारा जैसा हो गया। अतः उसने अपनी मोतियों की माला को तोड़वाकर दन्तकला विशेषज्ञों से कृत्रिम दन्त निर्माण कराकर अपनी मुख शोभा की क्षति पूर्ति की।[2]

स्पेन देशीय मलिका से मुगलकाल की बेगमें कम विलासनी नहीं रहीं। उन्होंने अपने दांतों की रक्षा के लिये दन्त चिकित्सा विशेषज्ञों की नियुक्ति करा रखी थी। उनकी दन्त पंक्तियां हीरा, सोना, मणिका, संगयशव की कीलों से चित्रित एवं जटित थीं।[3] एक और भी तथ्य इस प्रसंग में उल्लेखनीय है 'एडिनबरा मेडिको सर्जिकल सोसाइटी' को एक भारतीय पटरानी की रत्नजटित निचली दन्त पंक्ति अर्पित की गई थी। यह दन्त पंक्ति सोने के तारों से बंधी हुई थी। इंग्लैंड, अमेरिका आदि देशों में यह रोग बालकों में भी देखा जाता है। यहां अधिकांश कृत्रिम-दांतों से ही अपनी मुख शोभा को बढ़ाते है। पाश्चात्य विद्वान डा० जे० डी० महोदय लिखते हैं कि भारतवासी प्राचीनकाल से ही दन्त चिकित्सा में कुशल थे। वे हाथी दांत शंख, मोती आदि को घिसकर दांतों की रचना करते थे। उसके बाद उन दांतों को सोने के तारों से बांधकर प्रयोग में लाते थे। अनेक प्रमाण हैं कि भारत में कृत्रिम दन्त निर्माण की कला दो हजार वर्ष पूर्व भी प्रचलित थी।

दन्तवेष्ट का पर्याय—पाश्चात्य चिकित्सा विशेषज्ञ इसको 'पायरिया' कहते हैं। इसका अर्थ है-दांतों को खोखले में से निकलने वाला पूय का आस्राव। यह वैदेशिक परिभाषा निश्चित ही सुश्रुताचार्य का अनुकरण मात्र है। जिसका उल्लेख हम आगे दन्तवेष्ट के निदान में करेंगे।

दन्तवेष्ट की परिधि—यद्यपि दन्तवेष्ट नामक रोग स्वतन्त्र है तथापि सम्प्राप्ति का विचार करने से और चिकित्सा की भिन्नता के कारण यह एक रोग शीताद और उपकुश से भी सम्बन्धित है। अथवा आगे चलकर यह शीताद और उपकुश का रूप धारण कर लेता है अतः क्रमशः यहां पर उक्त तीनों के लक्षण उद्धृत हैं—

स्रवन्ति पूयं रुधिरं चलादन्ता भवन्ति च।
दन्तवेष्टः स विज्ञेयो दुष्टशोणित सम्भवः॥

—सु० नि० १६

दन्तवेष्ट लक्षणम्—वातादि दोषों से दूषित रक्त से उत्पन्न दन्तवेष्ट रोग में रक्त मिश्रित पूय का स्राव होता है और दांत हिलने लगते हैं।

शोणितं दन्तवेष्टेभ्यो यत्राकस्माद् प्रवर्तते।
दुर्गन्धीनि सकृष्णानि प्रक्लेदीनि मृदूनि च॥
दन्तमांसानि शीर्यन्ते पचन्ति च परस्परम्।
शीतादो नाम स व्याधिः कफशोणितसम्भवः॥

—सु. नि. १६

शीतादि लक्षणम्—दूषित कफ एवं रक्त से उत्पन्न शीताद नामक रोग में मसूड़ों से रक्तस्राव होता है तथा दुर्गन्धित काले रंग के तथा सड़न युक्त मसूड़े पककर गलने लगते है। 'पचन्ति च परस्परम्' इसका आशय यह है कि यदि एक दांत में यह रोग हो जाता है तो उचित चिकित्सा न करने पर इसका संक्रमण दूसरे दांतों में होता रहता है।

वेष्टेषु दाहः पाकश्च तेभ्यो दन्ताश्चलन्ति च।
आघट्टिताः प्रस्रवन्ति शोणितं मन्दवेदनाः॥
आध्मायन्ते स्रुते रक्ते मुखं पूति च जायते।
यस्मिन्नुपकुशस्त्रस्माद् पित्तरक्तकृतो गदः॥

—सु. नि. १६

[1] प्राचीन भारत का इतिहास। [2] हिस्ट्री आफ स्पेन। [3] मुगल साम्राज्य का इतिहास।

उपकुश लक्षणम्—दूषित पित्त रक्त से उत्पन्न उपकुश नामक रोग में मसूढ़े पक जाते है, उनमें जलन होती है, दांत हिलने लगते है, वेदना होती हैं, दवाने पर रक्त निकलता है, मसूढ़े फूल जाते हैं, खून निकलने पर मुख दुर्गन्धित हो जाता है। इन रोगों का प्रभाव पाचन संस्थान पर भी पड़ता है। चबाने आदि क्रियाओं द्वारा पूय, रक्त से दूषित खाने-पीने के पदार्थ पाचन संस्थान में पहुँच कर पाचन प्रणाली की शक्ति को कम कर देते हैं, तदनन्तर ग्रहणी आदि रोगों को उभाड़ कर यह व्याधि अंतड़ियों में क्षय रोग को उत्पन्न कर देती है।

स्थानीय लक्षण—१. मसूड़ों पर सूजन, २. मसूड़ों पर लालिमा का आना, ३. श्वास में दुर्गन्धि, ४. स्वाद में विकृति, ५. दांतों से मवाद का निकलना, ६. रात में मवाद की वृद्धि, ७. मसूड़ों मे, इनके चारों तरफ अथवा सम्पूर्ण मुख में सूजन का होना।

सार्वदैहिक लक्षण—भूख का न लगना, रक्तक्षय, त्वचा में वेदना।

चिकित्सा सूत्र—

विस्राविते दन्तवेष्टे व्रणांस्तु प्रतिसारयेत्।
लोध्रपत्तङ्गयष्ट्याह्वलाक्षाचूर्णैर्मधूत्तरैः॥
—सु० चि० २२

जौंक आदि द्वारा मसूड़ों के दूषित रक्त को निकाल कर लोध्र, पतग, मुलैठो, लाख इनके कपड़छन चूर्ण में मधु मिला कर अञ्जन करे। ये रक्त शोषक एवं व्रण रोपक द्रव्य हैं। इसी क्रिया को प्रतिसारण कहते हैं।

पूर्वकर्म—

दन्त रोगों की चिकित्सा में सर्वप्रथम त्रिफला आदि द्रव्यों से विरेचन कराकर उदर शुद्धि करालें। प्रायः देखा जाता है कि दन्त रोगों में विविध प्रकार के मञ्जनों, पेस्टों तथा दातूनों का ही प्रयोग होता है। इनसे पूर्ण लाभ होते नहीं देखा जाता क्योंकि जब तक जिस कारण रोग की उत्पत्ति हुई है उसका त्याग नहीं होगा तब तक लाभ पूर्ण रूपेण सम्भव नहीं।

आनूपपिशितक्षीर दधिमत्स्यातिसेवनात्।
मुख मध्ये गदान् कुर्युः क्रुद्धा दोषाः, कफोत्तराः॥ माधव

सूअर आदि आनूपदेशज प्राणियों का मांस, दूध, दही, मछली आदि पदार्थों का अधिक सेवन करने से कफ प्रधान वातादि दोष मुख के भीतर विविध रोगों को उत्पन्न कर देते हैं और अजीर्ण, अध्यशन, असात्म्य, विरुद्ध, मलिन तथा स्वादु, अम्ल पेयों के पान करने से कफ और पित्त का प्रकोप हो जाता है। कफ और पित्त के प्रकोप से अम्लतत्वों की रचना होती है। परस्पर विरुद्ध अम्ल लवण रसों के कारण और अम्लता के प्रभाव से दन्तोत्पादक तत्वों का नाश हो जाता है। इसी कारण से दन्तवेष्ट की उत्पत्ति होती है। इसलिये निदान परिवजन अत्यन्त आवश्यक है। पित्तशामक तथा रक्त प्रकोप निवारक पदार्थों का प्रतिदिन सेवन इस रोग का सर्वांगीण चिकित्सा है। इस प्रकार हितकर आहार-विहार का सेवन करने वाला दन्तवेष्ट का रोगी जिस किसी शास्त्रीय योग का सेवन करेगा उसी से निःसन्देह लाभ होगा।

दन्तवेष्टहर लेप—कर्पूर चूर्ण २ तो., फिटकिरी का चूर्ण ५ तो., शुद्ध तूतिया चूर्ण ३ माशा, एरण्ड तैल १ तो., नीम का तैल २ तो., शुद्ध मधु ३ तो० इन सबका मिला कर एक शीशी मे रखलें। प्रातः साय पेस्ट की भाति दांतों में इसका प्रयोग करे।

दूसरा योग—शृंग भस्म, मुक्ता भस्म, स्वर्णमाक्षिक भस्म, वंशलोचन चूर्ण, इन सबका समान भाग लेकर रख ले। मात्रा—३ रत्ती। सेवनकाल—प्रातः सायम्। अनुपान-घृत आधा तोला, मधु एक तोला दोनो को मिलाकर सेवन करें। सहपान—गाय का दूध।

लाभ—यह योग कैल्शियम की कमी को पूरी कर दन्तवेष्टक, दन्तक्षय, दन्तशर्करा, शीताद, उपकुश रोगों का विनाश कर कुछ हिलते हुए दांतों को भी स्थिर कर देता है।

मौलसिरी छाल का प्रयोग—

सोऽयं सुगन्धिमुकुलो बकुलो विभाति
वृक्षाग्रणीः प्रियतमे मदनैकबन्धुः।
यस्य त्वचैव चिर चर्विततया नितान्तं
दन्ता भवन्ति चपला अपि वज्रतुल्याः॥ —वै.जी.

चिरकाल तक मौलसिरी छाल के प्रयोग (गण्डूषधारण या मञ्जन) से हिलते हुए दात सुदृढ़ हो जाते है। पथ्य निदान परिवर्जन ही है।

दांतों से ही मुख की महिमा, स्वास्थ्य की स्वस्थता, यौवन की उद्दामता, भोजन के फल की पूरी-पूरी प्राप्ति, स्वाद का सुख और हास्य की सफलता प्राप्त होती है।

—डॉ. श्री ब्रह्मानन्द त्रिपाठी साहित्याचार्य, आयुर्वेदाचार्य,
एम. ए., पी. एच. डी. डी., एस-सी. एवाइ.,
डी. ए. वी. डिग्री कालेज, वाराणसी

निदान—मांस आदि दूषित आहारी लोग नियमित मुख शुद्धि न करने वाले, अत्यधिक तम्बाखू, सुपारी आदि सेवन करने वाले गन्दे ब्रशों का उपयोग करने वाले, गरमा-गरम चाय आदि पेय पदार्थों का सेवन करने वाले लोगों का रक्त (मसूड़ों का) दूषित हो जाता हैं। उनके पक जाने से दन्तरक्षक स्निग्ध पदार्थ धीरे-धीरे पिघलकर दांतों की जड़ों से अलग होता है, दांतों की संधियों में
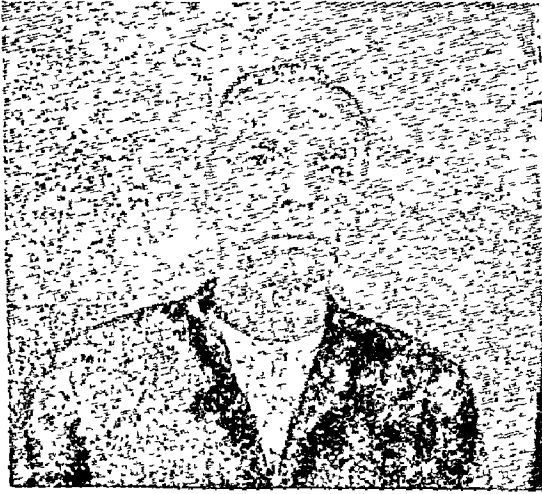
मांसादि के दूषित तन्तु सड़-२ कर मसूढ़ों के रक्त से मिलते हैं जिससे दांतों की जड़े हिलती हैं व रोग का आविर्भाव होने लगता है। कई लोगों की आदत मुख से श्वास लेने की हो जाती हैं जिससे मसूढ़ों पर बुरा प्रभाव पड़ता हैं। इन कारणों से दांतों पर एक प्रकार की खपरी जम जाती है जो कालान्तर में कड़ी हो जाती है जैसे जैसे खपरी को खरोंचवाते हैं त्यों-त्यों दांतों के नीचे की हड्डियों में ढिलाई होने लगती है, इससे दांत हिलने लगते हैं। इस कारण वहां व्रण हो जाया करते हैं। इन व्रणों में रक्त स्राव, पूय स्राव होता रहता है। ऊपरी दवाओं से कोई स्थायी लाभ नहीं होता, मसूढ़े को थोड़ा दवाने से पूय स्रवित होने लगता है।

आयुर्वेद में भी कहा है—

स्रवन्ति पूय रुधिरं चलादन्ता भवन्ति च।
दन्तवेष्टः स विज्ञेयो दुष्ट शोणित संभवः॥
कपालेष्विवदर्यत्सु दंतानाम् सैव शर्करा।
कपालिकेति पठिता सदा दन्त विनाशिनी॥

—मा. निदानम्

रक्त दुष्टि ही हेतु है जिससे दन्तमूल से रक्त व पूय स्रवित होता हैं ज्यों ज्यों पूय अधिक बहेगा, दन्तमूल पोला होगा व दांत हिलते रहेंगे।
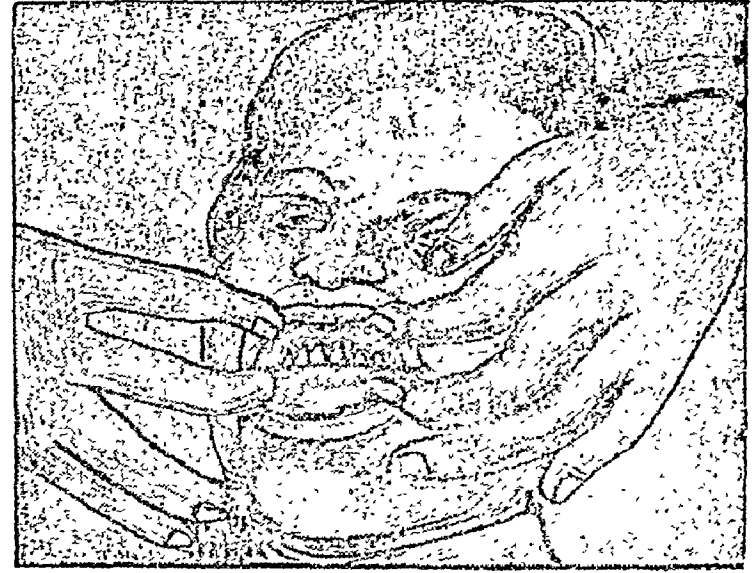
(१) यदि अन्नकण और श्लैष्मिक मल दांतों के दराजों में रहने दिये जांय तो वह उसमें क्षोभ उत्पन्न कर देते हैं और उनसे रक्तस्राव आरम्भ हो जाता है।

(२) तदुपरान्त मसूढ़े शोथ एवं क्षतयुक्त हो जाते हैं; भोजन चर्वण कठिन हो जाता है और सामान्य स्वास्थ्य पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है।

(३) पुनः मसूढ़े गल जाते हैं, दाँत हिलने लगते हैं, उसके नीचे दन्तमूल में पीव पड़ जाती है, और पायरिया (दन्तवेष्ट) रोग प्रगट हो जाता है।
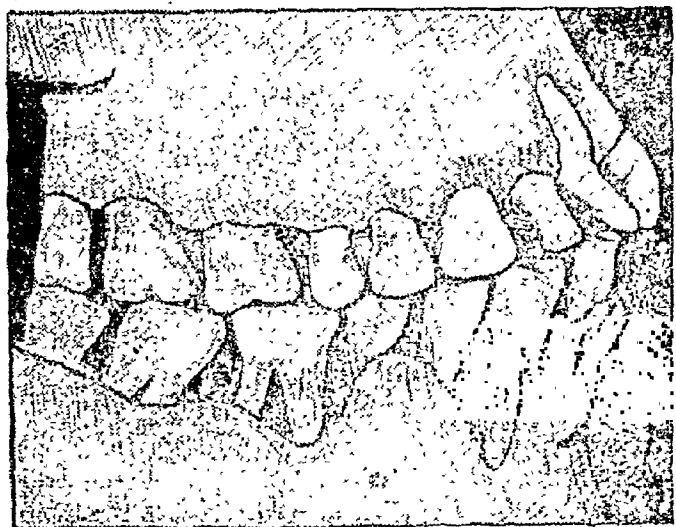
(४) अन्ततोगत्वा मसूढ़ों के सड़–गल जाने के कारण दांत ढीले एवं गल कर गिर पड़ते हैं।

पूर्वरूप—मसूढ़ों में फुलाहट, दांतों से रक्त व पीव बहना, धीरे-धीरे दांतों में कृमि लगना, मुख में लिबलिबापन रहना, मुख से दुर्गन्ध आना।

रूप—धीरे-धीरे दांतों पर कीटाणु लगने से दांत हिलने लगते हैं, वेदना नहीं होती, मसुढ़ों में रक्त-मवाद भरा रहता है, यह वृद्धिगत अवस्था है। अन्तिम अवस्था में रोगी का श्वास दुर्गन्ध पूर्ण हो जाता है, प्रातः मुख स्वाद खराब होकर थूक अधिक आता है, थूक व पीव के साथ पायोरिया के कीटाणु आमाशय व पक्वाशय में चले जाते हैं। इसी विकार से आमवात, अतिसार, पक्वाशय दाह ज्वर, मुख के भीतरी भाग में दाह, गले में दाह, वात विकार, मलबन्ध, चिड़चिड़ापन आदि उपद्रव हो जाते हैं।

चिकित्सा—

(१) त्रिकुटा, तालीसपत्र, दालचीनी, सफेद जीरा, हर्रे, सोंफ, आंवले व इलायची के दाने प्रत्येक १-१ तोला लेवें। भुनी फिटकरी व मुलेठी ४ ४ तोला लेना चाहिए, शुद्ध नीलाथोथा व भुना सुहागा २-२ तोला लें, सेंधा-नमक २ तोला तथा उत्तम खड़िया ३० तोला लेकर सब को महीन कपडछन चूर्ण करें व इसमें ६ माशे पिपरमेंट मिलाकर शीशी भर लें। प्रातः सायं मञ्जन करें (धीरे-धीरे) तथा सुखोष्ण जल से कुल्ला करें। रोग की द्वितीयावस्था में कफ-दोष नाशक सुगंधित द्रव्यों से कुल्ले करावें। पीपल २ तोला लेकर आध सेर जल में पकाकर १० तोला शेष क्वाथ में १ तोला शहद मिलाकर कुल्ले करावें व फिर उष्णोदक से कुल्ली करावें। इसके बाद लोध्र, मुलेठी, पीपल की लाख इनका महीन चूर्ण कर शहद में मिलाकर प्रतिसारण करना चाहिए। इस क्रिया के बाद भी उक्त क्वाथ से कुल्ले करावें। क्षीरी वृक्षों की छाल वाले क्वाथ से कुल्ले कराना भी लाभकारी है। प्रातः सायं टेनिक एसिड का घोल भी मसूढ़ों पर लगाना लाभप्रद है। दांतों के आसपास के पीव को धीरे-धीरे दबाकर निकालते रहना चाहिए।

(२) बब्बूल का कोयला तो० १०, माजूफल, हुक्के का गुल, सुपारी की राख, रूमी मस्तंगी, कत्था, सेंधा नमक ये प्रत्येक ५-५ तो०, इलायची के बीज, कायफल ये १-१ तो०, कपूर २ तो० इनका चूर्ण कर वस्त्र में छान कर काँच की शीशी में रखें। सोने के पहिले, प्रातःकाल, भोजन करने के बाद यह चूर्ण रगड़ें।

पथ्यापथ्य—पायरिया में दांतों पर जमे मैल दूर करने को नित्य ही सरसों का तेल ५-७ मिनट तक धीरे-धीरे अंगुली से मलवाना चाहिए जिससे रक्त संचार भी होगा। सेंधानमक गरम जल में डालकर कुल्ले करें। गरिष्ट चीजों का सेवन नहीं करें, बासी सड़ी-गली चीजें न खावें। ताजे फल नींबू, संतरे, हरे पत्र, शाक, दूध, मक्खन, मेवे आदि लाभप्रद हैं। बबूल, मोलश्री, अपामार्ग, गूलर की दातुन में से कोई एक दातुन करें। पान व तम्बाकू छोड़ दे।

—श्री पं० नन्दकिशोर शर्मा वैद्यरत्न
आगर (मालवा) म० प्र०

वैद्य श्री गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' भिषगाचार्य

चिकित्सा—

यदि शीताद स्कर्वी रोग के कारण हुआ हो तो स्कर्वी का उपचार शीताद का उपचार होता है। इस रोग का उपचार विटामिन 'सी' के प्रयोग से किया जाता है। नींबू, नारंगी, आंवला, अंगूर, प्याज, आलू तथा हरी सब्जियों में यह विटामिन अधिक मात्रा में रहता है। दूध में भी यह न्यूनमात्रा में पाया जाता हैं। दीर्घकाल तक उबालने से या क्षारीय पदार्थों के संयोग से विटामिन 'सी' नष्ट हो जाता है किन्तु आमलकी में स्थित विटामिन 'सी' उबालने पर भी नष्ट नहीं हो पाता है। उपर्युक्त द्रव्यों का यथावश्यक सेवन इस रोग को दूर कर सकता है। जिस व्यक्ति को चौबीस मिलीग्राम (पचास यूनिट्स) विटामिन "सी" प्रतिदिन मिलता रहे उसे यह रोग नहीं हो पाता है। स्वस्थ अवस्था में सामान्यतः इसकी २५-५० मि० ग्राम की आवश्यकता होती है। रुग्ण अवस्था में ५० से १०० मि० ग्राम की मात्रा में मुखमार्ग से प्रयुक्त करना चाहिये। तीव्र अवस्था में उपर्युक्त मात्रा शिरान्तर्गत सूचीवेध के रूप में प्रयोग की जाती है। शैशवीय स्कर्वी में यह मात्रा अवस्थानुसार कम करके मुखमार्ग से प्रतिदिन देनी चाहिए। इसकी गोलियों को पीसकर या पानी में घोलकर देना चाहिए। १०-१५ गोलियां देने के पश्चात् विटामिन "सी" युक्त द्रव्यों का सेवन हितावह होता है। छोटे बच्चों को फलरस-दिया जा सकता है। किन्हीं विद्वानों का मत है कि तीव्रावस्था में पूर्ण वयस को प्रतिदिन १००० मि० ग्रा० की मात्रायें ५ से १० दिन तक देकर बाद में प्रतिदिन ३० मि० ग्राम की मात्रायें देते रहना चाहिए। रक्त न्यूनता इस विटामिन के देने से ठीक हो जाती है। लोह आदि द्वारा चिकित्सा की आवश्यकता नहीं होती। श्वासनलिका प्रदाह, फुफ्फुस कर्दम, अन्धता आदि उपद्रव हों तो उनका यथोचित उपचार करना आवश्यक हो जाता है। स्कर्वी में उपयोगी कुछ पेटेन्ट गोलियां व इन्जेक्शन ये हैं—

१. विटामिन 'सी' टेबलेट्स (बूट्स)
२. रिडोक्सीन (रोशे)
३. यूनिकल विट (यूनीकम)

इनकी मात्रा उपर्युक्त विवरणानुसार देनी चाहिए।

इन्जेक्शन—

१. रिडोक्सोन (रोशे)–२ से ५ मि. ली. रोजाना या हर तीसरे दिन मांस या शिरा में लगाया जाता है।

२. मिलीन (ग्लैक्सो)–२०० से ५०० एम.जी. शिरा में प्रतिदिन लगाया जाता है।

३. एस्कोर्बिकल (रेपटेकोस)—एक एम्पुल मांस या सिरा में प्रतिदिन लगाया जाता है।

४. सिटामिड (सिपला)—१०० से ५०० एम. जी. प्रतिदिन या हर तीसरे दिन मांस में या सिरा में लगाया जाता है।

५. सीवियोन (मर्क)–१०० से २०० एम. जी. प्रतिदिन मांस में लगाया जाता है।

स्कर्वी निवारणार्थ आयुर्वेदिक औषधि "च्यवनप्राश" सर्वोत्कृष्ट है। इसका नियमित मात्रानुसार सेवन लाभप्रद है। मणिमाला में वर्णित "सौवर्चल पाक वटी" भी चूसते रहने से लाभ संभव है।

शीताद की चिकित्सा में सामान्यतया निम्नाङ्कित उपक्रम उपयोगी हैं—

१. रक्तनिर्हरण—रक्त श्लेष्म विकारत्वात प्रथमं रक्तमोक्षणम।

२. गण्डूष धारण —नरेन्द्रनाथ शास्त्री

३. प्रलेप

१. रक्तनिर्हरण—आचार्य सुश्रुत ने साध्य रोगों में शीताद को भी लिया है—

साध्या विद्रधयः पञ्च भवेयुः सर्वजादृते ।
× × × × ×
दन्तवेष्टः सोपकुशः शीतादो दन्तपुप्पुटः ॥
—सुश्रुत सू० २५।१५

यदि विकृति गहराई पर हो तो जलौका द्वारा अन्यथा अलाबू या शृङ्ग द्वारा रक्तनिर्हरण आवश्यक होता है । दूषित गूढ रक्त निर्हरण हेतु जलौका प्रशस्त है किन्तु त्वचा के गल-फट जाने पर अलाबू, शृङ्ग उपयोगी है—

अवगाढे जलौकाः स्यात् प्रच्छानं पिण्डिते हितम् ।
सिराऽङ्गव्यापके रक्ते शृङ्गालाबू त्वचि स्थिते ॥
—सुश्रुत शा० ८।२८

रक्तमोक्षण से त्वग्दोष, शोथ व दुष्ट शोणित जन्य समस्त विकृति समाप्त हो जाती है—

त्वग्दोषा ग्रन्थयः शोफा रोगाः शोणितजाश्च ये ।
रक्तमोक्षणशीलानां न भवन्ति कदाचन ॥
—सु० सू० १४।३४

२. गण्डूषधारण—

१. शुण्ठी, सर्षप, त्रिफला, नागरमोथा, रसौत इन द्रव्यों का क्वाथ बनाकर गण्डूष धारण करना चाहिये ।

२. शुण्ठी, पर्पट क्वाथ का गण्डूष धारण ।

३. बबूल के पत्ते, देवदारु के पत्ते और त्रिफला क्वाथ का गण्डूष धारण करना चाहिए ।

४. शलजम कच्चा चबाकर मुख में धारण करने से शीतादजन्य पीड़ा दूर होती है ।

५. नखम्पचोष्मसंस्पर्शैः क्वाथैः काश्मीरकल्पितैः ।
गण्डूषा दन्तसंरम्भ शूलदौर्गन्ध्यदस्यवः ॥
—सि० भै० म० ४।६६६

गरम पानी कर उसमें केशर डाल ढक दें । कुछ समय पश्चात् उस क्वाथ से गण्डूष करें ।

६. पटोल शुण्ठी त्रिफला विसाला—
त्रायन्तितिक्ताद्विनिशाऽमृतानाम् ॥
पीतः कषायो मधुना निहन्ति
मुखस्थितांश्चास्यगदानशेषान् ॥
—क्वाथ मणिमाला ४८२

इन द्रव्यों के क्वाथ का गण्डूष भी शीताद में उपयोगी है ।

७. चमेली की पत्ती, अनार की पत्ती, बबूल की छाल और बेर की जड़ प्रत्येक ६-६ माशा लें, जौकुट कर ६४ तोले जल में पका, आधा रहने पर कपड़े से छान, उसमें फिटकरी १० रत्ती और शुद्ध सुहागा १० रत्ती मिलाकर गण्डूष धारण करने से लाभ होता है ।
—सिद्ध योग संग्रह २६।१०

८. खदिरादि तैल (सि. यो. सं.) या लाक्षादि तैल (भै. र.) का गण्डूष भी हितावह है ।

९. कच्छप के मांस को सरसों के तैल में पकाकर उस तैल को गण्डूष रूप में धारण करने से शीताद रोग नष्ट होता है । —प्राणाचार्य श्री पं. हर्षुल मिश्र

चरक सू. ५ में कहा गया है कि स्नेह गण्डूष धारण करने से दन्तमूल पुष्ट होते हैं, उनके व्रण मिटते हैं एवं वेदना का शमन होती है ।

३. प्रलेप—मसूड़ों पर जो प्रलेप किया जाय उसे पहले मसूड़ों पर खूब मलना चाहिए । इससे अधिक लाभ होता है । कुछ उपयोगी प्रलेप—

१. प्रियंगु, त्रिफला और नागरमोथा के चूर्ण का मसूड़ों पर प्रलेप लाभप्रद होता है ।

२. पाठा, दारुहरिद्रा, दालचीनी, कुष्ठ, मुस्तक, मंजीठ, कुटकी, लोध्र, तेजपत्र आदि का चूर्ण मधु में मिलाकर मसूड़ों पर मलना चाहिए ।

३. बादाम के छिलके की भस्म, जली हुई सुपारी, बबूल का गोंद प्रत्येक समान लेकर चूर्ण बना लें । इसे दालचीनी के तैल में मिलाकर मसूड़ों पर मलने से लाभ होता है ।

४. क्षतयुक्त मसूड़ों पर यह प्रलेप अधिक हितावह है—

सबोयष्टङ्कणो युक्त्या मुहुर्मृद्रवघर्षितः ।
विनाशयेत् क्षतं घोरं दन्तवेष्टसमुत्थितम् ॥
—रसतरङ्गिणी १३।८५

५. पूतिमांस की अवस्था में यह प्रलेप अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है—

कासीस, लोध्र, पिप्पली, मनःशिला, प्रियंगु आदि को मधु में मिलाकर धीरे-धीरे मलें एवं कुछ देर के लिये प्रलेप कर दें ।

इसके पश्चात् राजमार्तण्डोक्त मुस्तादि वटी को चूसना चाहिये । इससे क्षत विक्षत मसूड़े ठीक होते हैं एवं मुख

की दुर्गन्धि दूर होती है। । शीताद कारणों में कहा गया है कि अस्वच्छता से रोगोत्पत्ति संभव है एतावता मुख की शुद्धि परम आवश्यक है।

मुस्तादि वटी—

मुस्तैलवालुमधुकैर्गदधान्यकाभ्यां
त्रुटया वटी विनिहिता वदनान्तराले ॥

इसी प्रकार जटामांसी के कपड़छन चूर्ण का मंजन भी मसूड़ों के शोथ, पूयरक्त स्राव, शूल एवं दुर्गन्ध को नष्ट करता है क्योंकि जटामांसी रक्तस्राव, दाह, विसर्प आदि को दूर करने में उपयोगी है—

मांसी तिक्ता कषाया च मेध्या कान्तिबलप्रदा।
स्वाद्वी हिमा त्रिदोषास्रदाह वीसर्पकुष्ठनुत् ॥
—भा० प्र० नि० २१६०

सुतरां मणिमालाकार ने कहा है—

जटामांस्या विदधतां रजसा दन्तघर्षणम्।
मुखे नैशाघसौगन्ध्यमुखाः स्युर्गणशो गुणाः ॥
—सि० भै० म० ४।६६७

पूतिपूययुक्त शीताद रोगी सदैव यह ध्यान रखें कि विकृत लालास्राव गले से नीचे न उतरने पाये उसे बाहर थूकते रहें।

अन्तः प्रयोग हेतु गुग्गुल के उपयुक्त योग लाभदायक होते हैं। क्योंकि "पित्तं विदग्धं स्वगुणैर्विदहत्याशु शोणितम्" के आधार पर विदग्ध पित्त ही शोणित को दूषित करता है और गुग्गुल विदग्ध पित्तशामक होता है। इस रोग में कैशोर गुग्गुल एवं आरोग्यवर्धिनी वटी उपयुक्त है। रसेन्द्रसार संग्रहोक्त चतुर्मुख रस भी मुख में धारण करने से लाभ होता है। नित्य शीताद रोगी इस मंजन का भी प्रयोग करता रहे जिससे दोषों की व्याप्ति रुकती है एवं दोषों की शान्ति होती है—

शुभ्रा भस्म, माजूफल चूर्ण, जटामांसी चूर्ण, लाक्षा चूर्ण, स्वर्णगैरिक, धृताम्र, मुलहठी चूर्ण, मधुरक्षार प्रत्येक ५० ग्राम, रूमी मस्तंगी २५ ग्राम, इलायची चूर्ण २५ ग्राम, कर्पूर देशी १० ग्राम, नीबू सत्त १० ग्राम०।

इन द्रव्यों को खरल कर कपड़छन कर शीशी में रखखे। नित्य प्रातः १-२ ग्राम लेकर दांतों एवं मसूड़ों पर कुछ समय तक मलते रहें।

धन्वन्तरि वनौषधि विशेषांक में वर्णित बिल्वशर्बत भी शीताद में अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध हुआ है—बेलगिरि २० तोला को १ सेर जल में पकावें। ६० तोला जल शेष रहने पर छानकर दो सेर मिश्री मिलाकर एक तार की चाशनी तैयार कर लें। इसमें केशर व जावित्री अन्दाज से मिलाकर भर रखें। ५ तोला इस शर्बत में दूध मिलाकर थोड़ा-थोड़ा कर पीयें।

एक व्यवस्था पत्र (स्वानुभूत)—

प्रातः—तृणकान्तमणि पिष्टी १२५ मि० ग्राम
प्रवाल पिष्टी २५० मि० ग्राम
बहुला (बड़ी इलायची) चूर्ण ५०० मि० ग्राम
च्यवन प्राश १५ ग्राम

अनुपान—अजादुग्ध

भोजन के बाद—मञ्जिष्ठाद्यरिष्ट १५ मि. ली.
सारिवाद्यासव १५ मि. ली.

समान जल मिलाकर तथा एक नीबू का रस मिलाकर।

सायंकाल—आरोग्यवर्धिनी ५०० मि० ग्राम पटोल, रक्त चन्दन, त्रिफला, मालती (चमेली), हरिद्रा, दारु हरिद्रा, धान्यक आदि पित्तकफ शामक द्रव्यों के क्वाथ के अनुपान से।

गण्डूषार्थ—लाक्षादि तैल—यथेच्छ।

—श्री वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' भिषगाचार्य
पचार (सीकर) राज०

आयुर्वेदानुसार दांतों के आठ प्रकार के रोग—दालन, भंजनक, दन्तहर्ष, दन्तशर्करा, कपालिका, श्याम दन्तक, दन्त विद्रधि तथा कृमिदन्तक वा पायरिया में पायरिया सबसे भयङ्कर रोग है, जो आजकल कथित सभ्य समाज में विशेष रूप से और बहुत फैला हुआ है। पायरिया या दांत का कोई रोग जब हो तो समझ लेना चाहिए कि समूचा शरीर अथवा उसका प्रत्येक अङ्ग व अवयव रोगाक्रांत है। क्योंकि शरीर के सब अङ्गों से दांतों का सम्बन्ध घनिष्ट होता है और दांत की बीमारियों का समूचे शरीर पर तथा समूचे शरीर अथवा उसके किसी अग विशेष की बीमारियों का दांतों पर असर पड़े बिना नहीं रहता।

पायरिया रोग से आँखों को सर्वाधिक खतरा रहता है। क्योंकि दांतों से आंखों का अति घनिष्ट सम्बन्ध होता है। ऊपर के दांतों की जड़ों के कुछ अन्तर पर हड्डी में खाली जगह होती है, जिसे मैकजीलरी साइनस कहते हैं। इस खाली जगह का निचला हड्डी का पर्दा तालू का कुछ हिस्सा बनाता है और ऊपर का पर्दा आँख का एक प्रकार का फर्श बनाता है, जिस पर आँख दो हड्डियों के बीच टिकी हुई होती है। ऊपर वाली खाली जगह के पर्दों में और दाढ़ की जड़ में बहुत थोड़ा अन्तर होता है। पायरिया होने पर दांतों की जड़ों में अक्सर फोड़ा बन जाता है। फोड़े की पीव के जोर से निचला पर्दा फट जाता है, जिससे पीव उस पर्दे को फाड़ कर खाली जगह में भरनी आरम्भ हो जाती है। जब खाली जगह पीव से पूरी भर जाती है तब खाली जगह के ऊपर के पर्दे पर अधिक दबाव पड़ता है, जिसकी वजह से हड्डियों के बीच में जगह कम हो जाती है और आँख बाहर को निकल आती है। उसके बाद आँख के बाहर वाले या अन्दर वाले कोने को फाड़कर बाहर निकलने लगती है और मनुष्य अंधा तक हो जाता है। दांतों का आँखों से स्नायुओं द्वारा भी सीधा सम्बन्ध है। मस्तिष्क से बाहर स्नायुओं के जोड़े निकलते हैं। छः जोड़े स्नायु शरीर के दायीं तरफ और छः बायीं तरफ से फैलकर शरीर के सारे अवयवों का संचालन करते हैं। मस्तिष्क से जो पांचवां जोड़ा स्नायुओं का निकलता है, उसे 'ट्राईजिमिनल नर्व' कहते हैं। इसकी तीन बड़ी-बड़ी शाखायें होती हैं। पहली शाखा आँख में काम करती है। दूसरी शाखा उस तरफ के दांतों में और तीसरी शाखा उस तरफ के नीचे के दांतों में काम करती है। अगर दांतों में किसी रोग के कारण मामूली सी भी पीड़ा होगी तो उसका असर आंखों में ही नहीं, बल्कि माथे और सिर तक पहुँचेगा। इस प्रकार के दर्द के लगातार होने से आंख का अधिकांश उजला भाग अकड़ आता है और उसमें खून का प्रवाह रुक जाता है। फलतः आँख की भयंकर बीमारियां, यहाँ तक कि अंधापन हो जाता है।

एक रोगी की आंख से १४ साल से पानी बहता था और रोशनी सहन करने की शक्ति को भी वह खो बैठा था। उसका कारण यह था कि उसके ऊपर की दाढ़ों में भयङ्कर पायरिया रोग था। पायरिया का इलाज करके उसकी दाढ़ें ठीक कर दी गयी, जिसके फलस्वरूप उसके नेत्रों की सारी शिकायतें आपसे आप दूर हो गयीं।

पायरिया रोग के लक्षण

पायरिया रोग में सर्व प्रथम दांतों के मसूढ़े कमजोर पड़ कर नरम हो जाते हैं। उनमें ललाई आ जाती है और वे सूज जाते हैं। फिर उनसे खून आने लगता है। तत्प-

श्चात् दांतों के चारों तरफ पीव पड़ जाती है जो रसती रहती है और बदबू देती रहती है। सुबह सोकर उठने पर मुंह खारा-खारा लगता है। दांतों में पानी लगता है तथा दांत हिलने लगते हैं। रोग की बढ़ी हुई दशा में मसूढ़े नष्ट हो जाते हैं और मुंह के सारे दांत, जबड़े की हड्डियों तक नंगे हो जाते हैं। इस दशा में दांत बे तरह हिलने लगते हैं और अधिकांश दशाओं में वे बिल्कुल झड़ जाते हैं और शरीर की अन्यान्य बीमारियों का कारण बनते हैं।

रोग के कारण

जो लोग अनियमित और अप्राकृतिक खान पान के आदी होते हैं, जिनका पेट और मुंह साफ नहीं रहता तथा जो उत्तेजक औषधियों का सेवन अधिक करते है, प्रायः उन्हीं लोगों को पायरिया की शिकायत होती है, क्योंकि ऐसे लोगों के शरीर का रक्त दूषित हो जाता है और अंग-अंग मे विजातीय द्रव्य भर जाता है जो विशेष रूप से दांतों और मसूढ़ों को आक्रान्त करता है। यही पायरिया है। पायरिया को इसी वजह से मूल रोग न कहकर, मूलरोग का लक्षण कहना ही ठीक है।

पायरिया रोग के उपर्युक्त मूलकारण के अलावा निम्नलिखित कारणों से भी इस रोग का होना सम्भव है—

१. दांतों को साफ न रखने से।

२. दांतों को उनका उचित व्यायाम न देने से अर्थात् भोजन को खूब चबाकर न खाने से।

३. बहुत गर्म अथवा ठंडा खाने का आदी होने से।

४. भोजन में विटामिन सी की कमी होने से।

५. सड़े-गले पेस्ट-पाउडर और गंदे ब्रश के इस्तेमाल से।

६. भोजन मे कैलशियम और फास्फोरस की कमी से।

७. सफेद चीनी अधिक खाने से।

चिकित्सा

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के पास पायरिया रोग का कोई इलाज नहीं है। उसके डाक्टर पायरिया के रोगी को अधिकतर दांतों को उखड़वा फेंकने को सलाह देते है। उन्हें पता होना चाहिए कि पायरिया रोग में दांतो को उखाड़ना या उखड़वाना बड़ा जोखिम का काम है। ऊपर बताया जा चुका है कि ऊपर के दांतों वाली खाली जगह के पर्दे में और दाढ़ की जड़ में बहुत थोड़ा अन्तर होता है।

प्राकृतिक चिकित्सा में पायरिया की सही और सफल चिकित्सा समूचे शरीर के रक्त को विशुद्ध कर देना ही है। इसलिये रोगी यदि दुबला और कमजोर नहीं है तो उसे सर्व प्रथम तीन से ५ दिन तक फलों के रस पर रखना चाहिये। पर अगर रोगी दुबला और कमजोर है तो उसे फल खाकर रहना चाहिए। साथ ही रोगी का कब्ज दूर होने तक उसे सुबह-शाम या केवल सुबह को शौच से वापस आने के बाद गुनगुने पानी का एनिमा देना चाहिये। उसके बाद दो सप्ताह तक उसे ताजे फलों, हरी साग-सब्जियों, दूध, तथा सूखे मेवों आदि सादे भोजन पर रहना उचित है। तत्पश्चात् एक मास तक चोकर सहित आटे की रोटी, उबली हुई और बिना मिर्च-मसाले की सब्जी, सलाद, धारोष्ण दूध, दही, मठा तथा ताजे फलों पर रहना चाहिए।

साधारण स्नान के पहले और बाद में रोगी को पूरे शरीर को सूखी मालिश करके शरीर को लाल कर दें।

दिन में दो बार २०-२० मिनट का घर्षण कटि-स्नान करना चाहिए तथा रात भर के लिए कमर को गीली लपेट लगानी चाहिए। सप्ताह में दो दिन 'एप्सम साल्टबाथ' भी लेना आवश्यक है।

रोगी को रोज हल्का व्यायाम और सांस की कसरतें करनी चाहिये और ताजे जल मे कागजी नीबू का रस मिला-मिलाकर थोड़ा-थोड़ी मात्रा में प्रचुर जल पीवे।

पायरिया के रोगी को उसके दांतों की कसरत नितांत आवश्यक है तथा हर रोज भोजन के बाद उनकी खूब सफाई भी। इसके लिये निम्न प्रयोग लाभकारी हैं—

१. मसूढ़ों पर रोज २-३ बार १०-१० मिनट तथा हल्की भाप दें तथा बीच-बीच में २-३ बार ठण्डे पानी से कुल्ला भी करते जाएं।

२. रोज दांतों व मसूढ़ों को नीबू के रस भरे छिलके से मांजें। उसके बाद सरसों के शुद्ध तेल में पिसा हुआ सेंधा नमक मिलाकर उन पर हल्की मालिश करें। तत्पश्चात् नीबू का रस मिले पानी से खूब कुल्ली कर डालें।

३. अगर दोपहर और शाम को गेहूं चबाया जाय तो दांतों की पूरी कसरत हो जाय। ये अन्न अंकुरित हो तो और भी लाभकारी सिद्ध होते हैं।

—डा० गंगा प्रसाद गौड़ 'नाहर', एन० डी०,
प्राकृतिक चिकित्साचार्य
हरियाणा प्राकृतिक चिकित्सालय, भिवानी (हरियाणा)

श्री डा० हरिशंकर शर्मा

किसी ने ठीक ही कहा है कि —

"टूथ इज ब्यूटी ओफ फेस" अर्थात् दांत ही सुन्दरता का राज है। अतः अपनी सुन्दरता कायम रखने के लिए दातौन के द्वारा दांतों की सफाई करके उनकी रक्षा करें।

चबा-चबाकर खाया गया भोजन ही जल्दी एवं पूर्ण रूप से हजम होकर शरीर को निरोग रखकर सुदृढ़ एवं सुन्दर बनाता है। अगर दांत नहीं हैं तो आप चबाकर खाने की जगह सटकेंगे जो हजम न हो कब्ज की
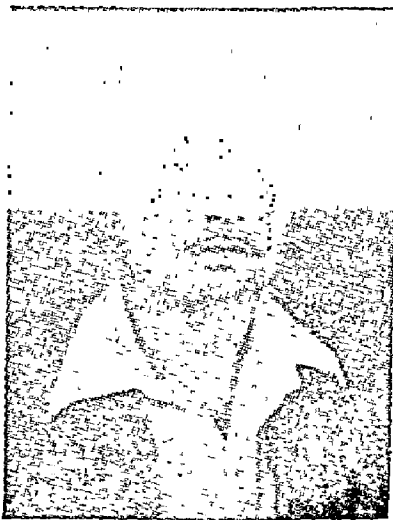
नींव डालता है और कब्ज ही हर रोग की जड़ है। जब शरीर रोगी होगा तब सुन्दरता व स्वस्थता कैसे रह सकती है। इसलिए दांतों को बचाइये, उनकी रक्षा करिये। अगर आप दातौन नहीं करेंगे तो आपके दांत गंदे रहेंगे, उनमें अन्न के कण फंसकर आपके मुंह में बदबू करेंगे।

अन्त में यही अन्न की सड़न पायरिया को जन्म देती है जो स्वास्थ्य एवं दांतों का दुश्मन है।

बाजारों में तरह-२ के मञ्जन एवं टूथपेस्ट बिकते हैं जिनमें से किसी एक को भी इस्तेमाल करके अपने दांतों की हिफाजत कर सकते हैं।

परन्तु दातौन की बहार ही और है इस की उत्तमता एवं गुणों के बारे में कहना ही क्या! दातौन दांतों के लिए उत्तम मानी है। दातौन कैसी हो इसके लिए देखें—

भक्षये दन्त पवनं द्वादशांगुल मायतम्।
कनिष्ठका प्रवत्स्थूल मृज्व ग्रन्थितवव्रणम्॥
एकैकं घर्षये दन्तं मृदुना कुर्चकेणतु।
दंत शोधन चूर्णेन दंत मासान्यवाधयन॥
क्षौद्रत्रिकटुका क्तेन तैल सिंधुभवेनवा।
चूर्णेन तेजो यात्याञ्चदन्तान्नित्यं विशोधयते॥

अर्थात् १२ अंगुल लम्बी एवं छोटी अंगुली के समान मोटी, नरम, गांठ रहित, बिना गड्डे वाली दांतुन लेनी चाहिए। उसकी चबाकर कूंची बनाकर दांतों को घिसे तथा दाँतों के मांजने के चूर्ण आदि से मसूढ़ों को बचाकर १-१ दांत को धीरे-२ मथे। अथवा त्रिकुट के चूर्ण में शहद मिलाके या सैंधा नमक में सरसों का तेल मिलाके या तेज बल्कल के चूर्ण से नित्य दांतों को मांजे।

आयुर्वेद में बताया गया है कि—मीठी दातौन में महुआ उत्तम है। कड़वी में नीम उत्तम है। कषैली दातौन में खैर उत्तम है। इसके अतिरिक्त-मानव-समय, दोष प्रकृति आदि को विचार करके रस, वीर्य युक्त दांतुन करे तो अति उत्तम है। क्योंकि ऐसा करने से मुंह का जायका सुधरता है-दांत और जीभ के रोगों का नाश

होता है। मुंह में हल्कापन विशदता, एवं रुचि उत्पन्न होती है। देखना यह है कि कौन सी दातौन मानव के लिए उत्तम है। तथा क्या गुण करती है अर्थात् कौन सी दातुन क्या गुण रखती है। यथा—

अर्के वीर्यं वटे दीप्तीः करंजे विजयो भवेत्।
प्लक्षे चैवार्थं संपत्ती वदर्यां मधुराशनम्॥
खदिरे मुख सौगंध्यं बिल्वेतेविपुलं धनम्।
उदुम्बरे तुवाक् सिद्धिराम्रेत्वारोग्यमेव च॥
कदम्बेतुधृतिर्मेधाचंपके दृढ़वाक श्रुतिः।
शिरिषे कीर्ति सौभाग्यमायुरारोग्यमेव च॥
अपामार्गे धृतिर्मेधाप्रज्ञा शक्तिस्तथासने।
दाडिम्यांसुन्दराकारः ककुभेकुटजे तथा॥
जाति तगर मंदारैर्दुः स्वप्नं च विनश्यति।

अर्थात्—आक की दातौन करने से वीर्य, बड़ की करने से दंप्ती, कंजे की करने से विजय, पाखर की करने से अर्थ सम्पत्ति, वेर की करने से मिष्ठ भोजन, गूलर की करने से वाणी में सिद्धि, आम की करने से आरोग्यता, कदम्ब की करने से धृति मेधा, चम्पा की करने से वाणी में दृढ़ता और दृढ़श्रुति, सिरिस की दातौन करने से कीर्ति-सौभाग्य आयु और आरोग्य, चिरचिटे की करने से धृति मेधा, विजयसार की करने से प्रज्ञा शक्ति, अनार की करने से सुन्दरता, कोह की एव कुड़ा की करने से सुन्दर स्वरूप तथा चमेली तगर एवं मंदार की दातौन करने से बुरे स्वप्न नष्ट होते हैं।

इसके अतिरिक्त सुपारी, ताड़, हिंगल, केतक, बृहद्वर, खजूर तथा नारियल आयुर्वेद में ये सात वृक्ष तृणराज माने हैं। इनकी दातौन करने को मना किया गया है तथा इनके बारे में कहा गया है कि जो इन सात वृक्षों की दातौन करता है वह प्राणी जब तक गङ्गा स्नान नहीं कर लेता तब तक वह चांडाल के रूप में ही रहता है अर्थात् इन सात वृक्षों की दातौन प्राणी के लिए अहित-कर होती है। दांत के रोगों को बढ़ाती है। इसीलिए इनकी दातौन करने से मना किया गया है।

किस-२ के लिए दातौन करना मना है—जिसके गले तालु, होठ, जीभ एवं दाँतों में कोई रोग हो उसे दातौन नहीं करनी चाहिये अर्थात् जिसके मुंह में छाले हो, मुंह में सूजन हो, श्वास एवं खांसी की बीमारी हो, कै (उल्टी) होती हों, कमजोर हो, अजीर्ण रोग वाला हो, तत्काल ही भोजन किया हो, तथा हिचकी, मूर्च्छा, मदात्ययी, शिर रोगी, तृषार्त, परिश्रमी, पान की रोग वाला हो, क्लमयुक्त, अर्दित, कान के दर्द वाला हो, आँख के रोग वाला हो नवीन ज्वर (बुखार) वाला हो, एवं हृदय के रोग वाले को दातौन नहीं करनी चाहिये क्योंकि उपरोक्त रोग वालों को दातौन लाभ की जगह हानि ही देती है।

दातौन के बाद जीभ आदि की सफाई—दातौन के बाद जिससे जीभ का मैल आदि साफ किया जाता है उसे जीभी कहते हैं। बाजारों में अक्सर प्लास्टिक के बने ८-१० अंगुल लम्बे मिलते हैं। आयुर्वेद में उसे जिह्वा निर्लेखनी के नाम से पुकारा जाता है। आयुर्वेद के अनुसार स्वर्ण की, चांदी की, तांबे की अथवा दातौन के योग्य चीरी हुई नरम लकड़ी की अथवा पीतल के नरम पत्र की जीभी चाहिए।

जीभी करीब १० अंगुल लम्बी, नरम व चिकनी ऐसी होनी चाहिए जिससे बिना किसी कष्ट के आराम से जीभ का मैल दूर कर सके।

जीभी के गुण—यह जीभ के मैल को दूर करके मुंह की विरसता, जड़ता एवं दुर्गन्ध को दूर करती है।

दातौन के बाद कुल्ला (गण्डूष)—दातौन के बाद शीतल जल से कुल्ला करना चाहिये क्योंकि यह कफ, प्यास, मुंह के मैल को समाप्त कर मुंह की शुद्धि करता है।

गर्म जल से कुल्ला करना—कफ, अरुचि, मैल, दांतों की जड़ता एवं मुंह को हलका रखता है।

गर्म जल से कौन कुल्ला न करें—विष, मूर्च्छा, मद्य से पीड़ित, शोष रोगी, रक्तपित्त, नेत्र रोगी, क्षीणमल, एवं रूक्ष प्राणियों को गर्म जल से कुल्ला करना हानिकारक है।

—डा० श्री हरिशंकर शर्मा वैद्य (खेड़े वाले)
छोटा बाजार, थौलाना (गाजियाबाद)
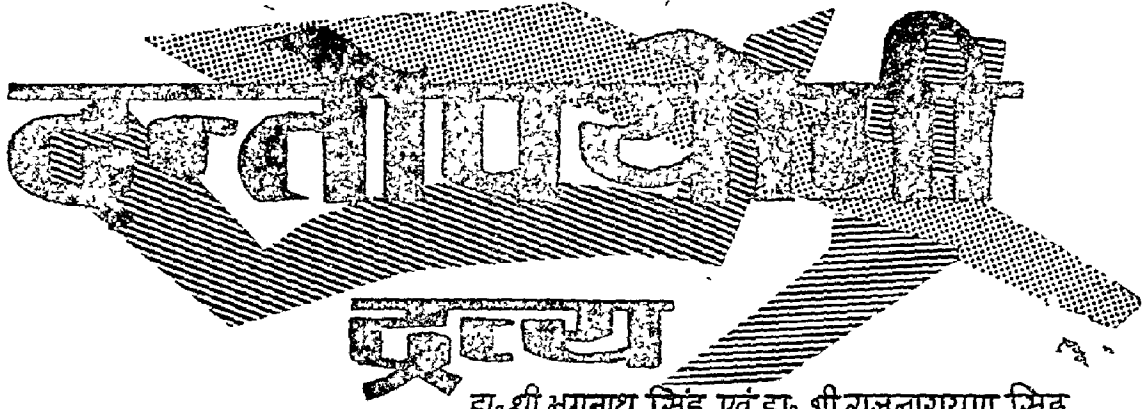
डा॰ श्री भृगुनाथ सिंह एवं डा॰ श्री राजनारायण सिंह

दांत हमारे शरीर के मुख्य यंत्रों में से एक महत्वपूर्ण यंत्र हैं जिन पर शरीर का सामान्य स्वास्थ्य निर्भर करता है। शरीररूपी गृह का मुख्य द्वार मुख है, उसमें दांत फौज के पहरेदारों के समान एक पंक्ति में अवस्थित है। भोजन के पाचन का श्रीगणेश मुख से प्रारम्भ हो जाता है जिसमें दन्तों का विशेष हाथ है। आहार का चर्वण करने में इनका विशेष योगदान है, जिसके फलस्वरूप आहार छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त हो जाता है जिससे पाचक रसों से संयोग भली भांति होने से आहार का पाचन सुचारू रूप से सम्पन्न होता है। इसके विपरीत यदि हम बिना चबाये हुए भोजन को ग्रहण करते हैं तो समुचित रूप से उसका पाक नहीं हो पाता जिसके फलस्वरूप यदि भोजन का भली भांति पाक नहीं होगा तो शरीर का पूर्ण रूपेण पोषण नहीं हो सकेगा और शारीरिक स्वास्थ्य पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अतः प्रत्येक मनुष्य की यही इच्छा रहती है कि उसके दांत सदैव दृढ़ एवं स्वच्छ बने रहें।

आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति में दांत के लिये हितकर द्रव्यों को "दन्त्य" की संज्ञा (दन्तेभ्यो हितं दन्त्यम्) दी गयी है। आयुर्वेद के विभिन्न ग्रन्थों में दन्त रोगों में प्रयुक्त औषधि द्रव्यों को कर्मानुसार अनेक उपवर्गों में विभाजित किया गया है। आचार्य चरक ने दन्त्य द्रव्यों को दो वर्गों में विभाजित किया है—

१. दन्त बलकर २. दन्त विशोधन (चरक)

आचार्य सुश्रुत ने आचार्य चरक की अपेक्षा दन्त्य द्रव्यों को और अधिक विकसित वर्गीकरण के अन्तर्गत उल्लिखित किया है। सुश्रुत संहिता के सूत्र स्थान अध्याय ४१, ४४, ४५ में तथा चिकित्सा स्थान के अध्याय २१, २४ में दन्त्य द्रव्यों को निम्न प्रकार से विभाजित किया है। १. दन्तदाढ्यंकृत २. दन्त शोधन ३. दन्त ग्राहिता ४. दन्त हर्षप्रद ५. दन्त हर्षण।

आचार्य वाग्भट्ट ने उपर्युक्त दोनों आचार्यों से और विस्तृत एवं विकसित वर्गीकरण का उल्लेख किया है जो कि इनके ज्ञान का द्योतक है। अष्टांग हृदय के सूत्र स्थान अध्याय ५ एवं उत्तर स्थान के अध्याय १८, २१, २२, २८ में दन्त्य द्रव्यों का उल्लेख मिलता है जिसमें से मुख्य निम्न हैं—१. दन्त कृमिहर, २. दन्त ग्राही ३. दन्त रोगहर ४. दन्त रुजापह ५. दन्त विषापह ६. दन्त शर्करा हर ७. दन्त हर्ष हर ८. दन्त शूलहर।

विभिन्न आचार्यों के मत से दन्त्य द्रव्य—

चरक—दन्त बलकर, दन्त विशोधन।

सुश्रुत—दन्त दाढ्यकृत, दंत शोधन, दन्त ग्राहिता, दन्त हर्षपद, दन्त हर्षण।

वाग्भट्ट—दन्त कृमिहर, दन्त रोगहर, दन्त ग्राही, दन्त रुजापह, दन्त विषापह, दन्त शर्करा हर, दन्तहर्षहर, दंत-शूलहर।

इस प्रकार उपर्युक्त आचार्यों में आचार्य चरक ने केवल मूल रूप में दन्त बलकर एवं दन्त विशोधन में सभी दन्तोपयोगी द्रव्यों को उल्लिखित किया है। आचार्य सुश्रुत ने दन्तोपयोगी द्रव्यों का और विशद विवेचन किया है, इन्होंने दन्तोपयोगी द्रव्यों के पांच वर्ग बनाये हैं—दन्त दार्ढ्यकृत, दन्तशोधन दन्त, ग्राहिता, दन्त हर्षपद एवं दन्त हर्षण। आचार्य वाग्भट ने दन्तोपयोगी द्रव्यों को आचार्य चरक एवं सुश्रुत से भी अधिक विशद वर्णन

किया है। इन्होंने दन्त कृमि हर, दन्त ग्राही, दन्त रोग-हर दन्त शुलहर करके वर्गीकृत किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य वाग्भट का वर्गीकरण अधिक व्यवहारिक एवं विकसित है।

दन्तोपयोगी द्रव्य— दन्त्य द्रव्य प्रायः कटु तिक्त कषाय रस वाले होते हैं। इसी कारण दातून के लिये भी प्रायः उपर्युक्त तीन रस वाले द्रव्यों का प्रयोग प्रचलित एवं प्रसिद्ध है। इन्हीं उपर्युक्त रस वाले द्रव्यों से विभिन्न प्रकार के दन्त मञ्जन बनाये जाते हैं। जिसका नित्य प्रयोग विभिन्न प्रकार के दन्त रोगों से हमें बचाता है। भोजनोपरान्त मञ्जन कर मुख को स्वच्छ करना परम आवश्यक है। इससे दांतों की बीमारियों से बचा जा सकता है।

प्रस्तुत लेख में दन्तोपयोगी औद्भिद्, पार्थिव एवं जांगम औषधि द्रव्यों के अतिरिक्त शास्त्रीय योगों का भी समावेश किया है।

(क) औद्भिद द्रव्य—१. अगरू २. अतिविषा ३. अनन्ता ४. अपामार्ग ५. अर्क ६. असन ७. आकारकरभ ८. आमलकी ९. आम्र १० आरग्वध ११. आर्तगल १२. इरिमेद १३. उशीर १४. एरण्ड १५. एलवालुक १६. एला १७. कंकोल १८. कंकुम १९. कटुका २०. कटुतुम्बी २१. कटुरोहिणी २२. कटफल २३. कदम्ब २४. करञ्ज २५. करवीर २६. कर्कट शृंगी २७. कर्पूर २८. काकजंघा २९. काकमाची ३०. कुष्ठ ३१. कोकिलाक्ष ३२. क्रमुक ३३. खदिर ३४. गजपिप्पली ३५. चन्दन ३६. चित्रक ३७. जम्बू ३८. जातीफल ३९. जाती ४०. जीरक ४१. ज्योतिष्मती ४२ तगर ४३. ताम्बूल ४४. तालीसपत्र ४५. तिल ४६. तुम्बुरू ४७. त्रायन्ती ४८. त्वक् ४९. दाड़िम ५०. दारुहरिद्रा ५१. देवदारू, ५२. धन्वयास ५३. धातकी ५४. नागपुष्प ५५. नागर ५६. निम्ब ५७. नीलिनी ५८. नीलोत्पल ५९. न्यग्रोध ६०. पटोल ६१. पतंग ६२. पर्पट ६३. पलाश ६४. पाठा ६५. पिप्पली ६६. पूग ६७. पुण्डरीक ६८. पुनर्नवा ६९. प्रियंगु ७०. बकुल ७१. बब्बूल ७२. बिभीतक ७३. मंजिष्ठा ७४. मधूक ७५. महानिम्ब ७६. मायाफल ७७. लवंग ७८. लोध्र ७९. वट ८०. शाल्मली ८१. सप्तपर्ण ८२. सर्षप ८३. हरिद्रा ८४. हरीतकी।

(ख) पार्थिव द्रव्य—

१. अञ्जन २. कासीस ३. खटिक ४. गैरिक ५. सैंधव ६. स्फटिका ७. हरिताल।

विभिन्न ग्रन्थों में वर्णित योग

चरक संहिता—तेजोवलादि चूर्ण, कालक चूर्ण, पीतक चूर्ण, खदिर तैल, खदिरादि गुटिका।

सुश्रुत संहिता—भद्रमुस्तादि गुटिका।

अष्टांग हृदय—इरिमेदादि गुटिका, सहचर तैल, दन्तार्तिहर चूर्ण।

बृहत् योग तरंगिणी—कुष्ठादि चूर्ण, जातिपत्रादि चूर्ण कणादि चूर्ण, जीरकादि चूर्ण, दशमूली तैल, लोध्रादि तैल, सहचराद्य तैल।

गद निग्रह—षड्बिन्दु तैल, बकुलादि तैल, नील सहचरादि तैल, इरिमेदादि तैल, खदिरादि तैल, तिक्तक चूर्ण, पीतक चूर्ण, जातीपत्रादि चूर्ण, खदिर गुटिका।

योगरत्नाकर—भद्रमुस्तादि वटिका, सहचरादि तैल, जीरकादि चूर्ण, कणादि चूर्ण, दशमूलादि तैल, दशमूलादि घृत, जात्यादि तैल, अरिमेदादि तैल, लाक्षादि तैल, कुष्ठादि चूर्ण, दन्तशूल नाशक योग, जातीपत्रादि चूर्ण।

भैषज्य रत्नावली—भद्र मुस्तादि गुटिका।

भैषज्यसार संग्रह—सौराष्ट्री भस्म, मुक्तापिष्टी भस्म, अरिमेदादि तैल, खदिरादि वटी।

—श्री डा० मृगुनाथ सिंह, डा० राजनारायण सिंह
द्रव्यगुण विभाग, राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ—२२६००४

दन्त रोगों पर प्रमुख रूप से उपयोग में आने वाली योपैथिक दवाओं का यहाँ पूर्ण प्रमुख लक्षणों सहित न दिया जा रहा है। आशा है, पाठक उनसे लाभा- त हों।

१. प्लेन्टेगो मेजर—इसकी क्रिया दाँत के स्नायुओं होने के कारण दाँत के हर तरह के रोग में इसके न से फायदा होता है। डा० हेल का कहना है कि के दर्द के लिये प्लेन्टेगो के समान अन्य कोई औषधि ीं है। डा० ह्यूग्स भी इस मत का समर्थन करते हैं। समय-समय पर होना, मामूली कारण से बढ़ जाना, ा सहन न होना, इसके साथ गालों का फूला होना इस ा के प्रमुख लक्षण हैं। प्लेन्टेगो Q का फाया बनाकर ड़ित दाढ़ पर बाह्य प्रयोग करना अनेक प्रकार के दाँत में आराम पहुंचाता है लेकिन यदि दाँत में कीड़ा ादि के कारण दर्द हो तो क्रियाजोट का बाहरी प्रयोग भप्रद है। प्लेन्टेगो का बाह्य प्रयोग के साथ ३ शक्ति आन्तरिक सेवन शीघ्र लाभ पहुँचता है।

२. क्रियाजोट—बड़ी तकलीफ से बच्चों के दाँत कलना, दूध के दाँतों में कीड़ा लगना, दाँत का काला ड़ जाना, दाढ़ में गड्ढा पड़ना, दाँत में कीड़ा लगने के ारण निरन्तर दर्द रहना, मसूड़ों में प्रदाह-स्पंज की तरह ल जाना, ठण्डे पानी के पीने से दाँत का दर्द बढ़ता है बकि गर्म भोजन या गर्मी पहुँचाने से दर्द में कमी होती । इन सारे लक्षणों में क्रियोजोट का वाह्य और आन्त- रिक सेवन लाभप्रद है।

३. स्टेफिसेग्रिया—मसूड़े अस्वस्थ और दाँत से अलग ों तो यह औषधि उत्तम है। दाँत उगते ही टूटना, दाँतों का क्रमशः काले पड़ना, दाँतों में कीड़ा लग जाना, जरा सा धक्का मसूड़ों को लगने से खून निकलने लगना, ऋतु- स्राव के समय और गर्भ धारण के समय होने वाले दाँत के दर्द में स्टेफिसेग्रिया लाभकारी है। दाँतों में ठण्डा पानी लगता हो और गर्म पानी से राहत मिलती हो तो स्टेफिसेग्रिया ही फायदेमन्द होगी। यदि दन्त रोग उप- दंश और प्रमेह से पीड़ित व्यक्तियों की सन्तान को हो तो यही दवा विशेष गुणकारी होगी।

४. मर्क सॉल—दाँत के दर्द में प्रमुखतया इस औषधि का प्रयोग होता है। दाँत के मसूड़े फूल जाना, उनसे खून बहना, ठण्डा पानी बिल्कुल सहन नहीं होना, दांत काले होकर गिर जाना, मुँह से बदबू आना, पायरिया होना, दाँतों का हिलना, दाँत दर्द रात को बढ़ना, मुँह से लार बहना, मसूड़ों पर फोड़ा होना आदि लक्षणों में मर्क साल एक उपयोगी दवा है। इस दवा के रोगी को अधिक गरम और अधिक ठण्डा सहन नहीं होता।

५. कैमोमिला—बच्चों के दाँत निकलते समय की तकलीफें जैसे – अस्थिरता और अनिद्रा में कैमोमिला एक प्रधान औषधि है। गरम पानी या सेक करने से दाँत के दर्द में वृद्धि होना, मानसिक लक्षण—चिड़चिड़ा होना, क्रोधी होना, मामूली बात पर चिल्लाना आदि भी विद्य- मान हों तो असह्य दाँत दर्द में कैमोमिला देने से लाभ होगा। दाँत का दर्द थोड़ा रुक-रुक कर हो, रात्रि में तक- लीफ का बढ़ना आदि लक्षणों में भी उपकारी दवा है।

६. काफिया—दाँत का दर्द गर्म पेय पीने से बढ़ता है जबकि मुँह में ठण्डा पानी रखने से दर्द में कमी आती है। कैमोमिला में ठण्डा पानी मुँह में रखने से कमी तो

होती नहीं वल्कि गर्म पानी रखने पर भी तकलीफ बढ़ जाती है। अत्यन्त तीव्र वेदना के कारण जब रोगी पागलों की तरह दौड़े, रह-रहकर बढ़ने वाला दर्द, स्वभाव से नाजुक लोगों के लिये यह एक उत्तम औषधि है।

७. हेक्ला लावा—दांत और मसूड़ों पर इस औषधि की प्रमुख क्रिया होती है। दांत में कीड़ा लगकर उसका क्षय या मसूड़ों का क्षय, मसूढ़े के चारों ओर सूजन के साथ दांत में दर्द का होना, दांत निकलवा देने के बाद यदि उसका टुकड़ा अन्दर मसूढ़े में रह गया हो तो उससे उत्पन्न उपसर्ग पायरिया रोग में यह एक उत्तम दवा है।

८. आर्निका—बनावटी दांत लगाने से दर्द होना और सूजन की अवस्था उत्पन्न होना, दांत निकाल लेने या गड्ढा भरने से दर्द मालूम पड़ना, दांत निकाल लेने पर अधिक खून बहना, सवेरे शाम और रात को ठण्डक लगने से दांत दर्द बढ़ना आदि लक्षणों में आर्निका का सेवन कराना लाभकारी है।

९. साइलिशिया—दांतों की डाढ़ों में फोड़े होना, दंत क्षय आरोग्य न होना, दांत में नासूर, गरम पदार्थ खाने या पीने से, ठण्डी हवा मुंह में चले जाने से दांत का दर्द बढ़ना. दांतों का ढीला मालूम पड़ना आदि लक्षणों में साइलिशिया उपयोगी है।

१० कैल्केरिया फॉस—बच्चे के दांत विलम्ब से निकलना, उनका शीघ्र नष्ट हो जाना, वयस्कों के दांत में छिद्र हो जाना, दांतों की जड़ अलग हो जाना आदि लक्षणों में यह एक उत्तम दवा है।

इसके अतिरिक्त अन्य औषधियाँ भी प्रमुख लक्षणों के आधार पर लाभकारी सिद्ध हो सकती हैं, वे हैं—

कैल्केरिया कार्ब ३०—यदि ठण्डी हवा या ठण्डा पानी सहन न हो लेकिन भोजन के समय पीड़ा हो तो यह उपयोगी है।

ब्रायोनिया ३०—यदि गर्म पदार्थ पीने या मसूढ़े हिलने से खाते समय पीड़ा हो तो यह औषधि दें।

पल्सेटिला ३०—कुछ भी गर्म खाने-पीने पर पीड़ा बढ़े और ठंडा पानी मुंह में रखने से दांत के दर्द में आराम हो तो पल्स दें।

फास्फोरस ३०—यदि दांत निकलवाने के बाद रक्त अधिक मात्रा में निकले तो यह आन्तरिक सेवन करायें।

एन्टिम क्रूड—खोखला दांत, कुछ खाने या ठंडा पानी पीने से दर्द हो।

कैल्केरिया फ्लोर—दांत हिलने लगना, जरा सा दांत में धक्का लगने पर दर्द होने लगना।

एसिड फ्लोर—मसूढ़े में पायरिया होने पर।

नेट्रम सल्फ—ताप पहुँचाने से दांत दर्द में कमी और ठंडे पानी से आराम हो तो यह दवा फायदेमंद है।

—श्री डा० प्रकाश चन्द्र गंगराडे
बी. एस-सी., डी. एच. बी.,
विद्या रत्न, साहित्यालंकार, आयुर्वेद वारिधि
१०/३३ नार्थ टी.टी. नगर, भोपाल-३ (म.प्र.)

दाँतों में पानी हवा लगना दूर करने का मंजन—

रूमी मस्तगी, सोना गेरू, काली मिर्च, जीरा, नागरमोथा, तम्बाकू (सुर्ती), फिटकरी फूला, सैंधानमक, नेपाली

घनियां (तुम्बरू), भुना हुआ तूतिया, सौंठ, धनियाँ, नागकेशर प्रत्येक समभाग का कपड़छन महीन चूर्ण बना सुरक्षित रखें।

सेवन विधि और उपयोग—इसे दाँतों पर मलने से दाँतों में पानी और सर्द हवा लगना बन्द हो जाता है।

—वैद्यराज श्री दलजीत सिंह हकीम आयु. वृह.
चुनार (मिर्जापुर) उ० प्र०

× × × ×

दन्तमूलगत रोग एवं चिकित्सा

१. शौषिर—दाँतों के मूल में प्रथम शोथ उत्पन्न होता है फिर उसमें वातज पीड़ा प्रारम्भ हो जाती है, मुख से लालास्राव होता है।

चिकित्सा—वैसे तो प्रथम रक्त मोक्षण का प्रबन्ध हो तो सर्वश्रेष्ठ है। यदि सम्भव न हो तो पठानी लोध, नागरमोथा १०-१० ग्राम को कूट पीसकर चूर्ण बनाकर १० ग्राम रसौत शुद्ध के साथ घोटकर मधु के मिश्रण से लेप बना लेना चाहिये और प्रथम बरी, गूलर की छाल १०-१० ग्राम लेकर २५० ग्राम जल में क्वाथ कर ५० ग्राम शेष रहने पर गण्डूष धारण करें। तदनन्तर ऊपर के लेप को व्रणस्थल में लगावें। इससे पूर्ण लाभ होता है।

२. परिदर—दाँतों के नीचे का मांस विशीर्ण होने से मनुष्य रुधिर मिश्रित थूक थूकता रहता है। इस रोग में कफ पित्त एवं रक्त प्रधान रहते हैं। इसमें रक्त मोक्षण आवश्यक है। यदि वह सम्भव न हो तो मैनफल ५० ग्राम, नमक सैंधव १० ग्राम, मधु १० ग्राम को लेवें। प्रथम मैनफल को ५०० ग्राम पानी में नमक के साथ क्वाथ कर २५० ग्राम शेष रहने पर मधु मिलाकर पिला देवें। इससे वमन होगा। उसके उपरान्त दूसरे दिन आरग्वध १० ग्राम, हरड़ बड़ी का छिलका १० ग्रा., निशोथ १० ग्रा. का क्वाथ कर मधु मिश्रित कर पिलावें। इससे विरेचन होगा। इस प्रकार वमन विरेचन कराकर सौंठ और पित्तपापड़ा के क्वाथ का गण्डूष धारण करावें तथा कसीस, लोध्र, पीपल छोटी, शु. मैनसिल, प्रियंगु और तेजबल के समभाग चूर्ण को मधु मिश्रित कर लेप करावे। इससे दुर्गन्धित मांस का भाग नष्ट होता है। पंचतिक्त घृत का सेवन तथा उपलेप भी लाभ करता है।

३. उपकुश—जब मसूड़ों में दाह एवं पाक होने लगता है और दांत हिलने लगते हैं वह अवस्था उपकुश कहलाती है। इसमें कफ एवं पित्त की प्रधानता रहती है।

चिकित्सा–यदि वमन विरेचन कराकर चिकित्सा की जाय तो शीघ्र लाभ होता है। अन्यथा–कठगूलर के पत्तों से रुग्ण स्थल को थोड़ा घिसकर रक्तस्राव करावें। पश्चात् सैंधव, सौंठ, मिर्च, पीपल के समान भाग चूर्ण को मधु मिश्रित कर अंगुली से धीरे-धीरे मर्दन दिन में ३-४ बार करें।

४. वैदर्भ - कुछ लोग दतौन से या मोटे मंजनों से जब घर्षण करते रहते हैं तब दन्तवेष्ठ में शोथ हो जाता है और दाँत हिलने लगते हैं। पश्चात् वेदना और पाक भी प्रारम्भ हो जाता है। कभी-कभी यह व्याधि अभिघात से भी हो जाती है।

चिकित्सा—अभिघातज व्याधि में शस्त्र चिकित्सा से प्रथम दाँतों को यथास्थान कर चिकित्सा करनी चाहिये। साधारण वैदर्भ में यवक्षार, सज्जीखार, टंकण को शुद्ध कर भस्म बनाकर इलायची, अकरकरा, कत्था समभाग मिलाकर मधु मिश्रित कर लेप करना चाहिए।

५. अधिमांस—अन्तिम दाँत के मूल में भयंकर पीड़ा उत्पन्न होती है तथा वहां शोथ हो जाता है। इससे मनुष्य बार-बार थूकता है। इसमें प्रधान दोष कफ है।

चिकित्सा—अधिमांस में—दुधवच, तेजबल, पाढर, सज्जीखार, यवक्षार, टंकण सभी को समभाग लेकर मधु मिश्रित कर लेप लगाना चाहिए।

धोने तथा गण्डूष के लिये—परवल के पत्ता, नीम की छाल, त्रिफला का क्वाथ कर धारण कराना चाहिये। इसी से धोना भी चाहिये। पीपल वृक्ष की छाल का क्वाथ कर लेप को धोना चाहिये। एवं कवल धारण करावें।

६. दालन—वृद्धावस्था में वायु बढ़ जाती है तो इसका प्रकोप जब दांतों पर होता है तब दांतों में फटने जैसी पीड़ा होना प्रारम्भ हो जाती है। उसे दालन कहते हैं। यह वात प्रधान व्याधि है।

चिकित्सा—महानारायण तैल का गण्डूष एवं उसी का दुग्ध के साथ सेवन लाभ देता है। शास्त्रकारों ने इसे असाध्य माना है—क्योंकि दांतों में जब वायु वेग होगा तब शरीर क्षीण हो गया होगा। इसीलिये स्निग्ध, वातघ्न चिकित्सा इसमें लाभकर रहती है।

७. दन्त हर्ष—जब मनुष्य के दांत शीत, उष्ण या अम्ल स्पर्श को न सह सकें तब दन्तहर्ष रोग होता है। इसमें वायु एवं पित्त की प्रधानता होती है। परन्तु कफावृत वायु का योग यहां मानना चाहिये।

चिकित्सा—घृत, तैल शुद्ध रूप से दशमूलादि वातघ्न द्रव्यों से साधित कर कवल या गंडूष धारण करने चाहिए। दशमूल क्वाथ का गण्डूष भी इसमें लाभ करता है।

८. वर्धन—कभी-कभी किसी व्यक्ति विशेष के एक दांत और अधिक उत्पन्न होता है। उस समय उसके उत्पन्न होने की अवस्था में तीव्र पीड़ा होती है। उसीको वर्धन कहते हैं। उत्पन्न हो जाने पर वह रोग शान्त हो जाता है।

चिकित्सा—क्षार मधु का मिश्रण कर शनैः शनैः मर्दन करने से वह शीघ्र प्रकट हो जाता है एवं पीड़ा भी शनैः शनैः कम होती जाती है।

९. दन्तनाड़ी—वास्तव में यह एक सैद्धान्तिक बात है कि शरीर के किन-किन अवयवों में नाड़ी होती है और वह कितने प्रकार की गति वाली होती हैं। पाँच प्रकार की नाड़ी विद्वानों द्वारा वर्णित की गई हैं वही पाँचों दन्त मूलगत भी होती हैं। वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, आगन्तुज। इसके साथ ही नाड़ीव्रण नामक जो रोग है उसी प्रकार दन्त नाड़ीव्रण भी पाँच प्रकार का समझें।

चिकित्सा—इसमें नाड़ीव्रण हर कर्म प्रशस्त रहते हैं। लाक्षा चूर्ण को मधु मिश्रित कर लेप करें। लोध्र, मजीठ, मुलैठी, कत्था का क्वाथ कर गडूष धारण करें। जात्यादि तैल से इसमे विशेष लाभ होता है। इरिमेदादि तैल का गण्डूष अधिक लाभ देता है।

१०. भंजनक—दाँत सहसा टूट जावे और मुख टेढ़ा हो जावे (जैसा अर्दित में होता है) इसे भंजनक कहते हैं। इसमें कफवाताधिक्य होता है और अधिक कष्टसाध्य होता है।

चिकित्सा–इसमें अर्दित की चिकित्सा और भंजनक की चिकित्सा दोनों में वातघ्न स्निग्ध वस्तुयें लाभ देती हैं।

११. कपालिका—मलयुक्त दन्त भागों के विदीर्ण होने पर वही शर्करा कपालिका कही जाती है। अर्थात् कपाल तुल्य कठिन शर्करा जो दन्त भागों में होती है वह दाँतों का विनाश करती रहती है। यह वातज है

चिकित्सा—शस्त्र चिकित्सक से दन्त मूल का बचाव करते हुए शर्करा को खुरचवा दें और लाक्षा चूर्ण को मधु मिश्रित कर धीरे-धीरे रगड़ते रहें। यह कष्टसाध्य रोग है।

× × × ×

विभिन्न प्रकार के मंजन

डॉ० श्री शिव पूजन सिंह कुशवाह एम. ए.

(१) बहुत से लोग लकड़ी के कोयले से मंजन करते हैं। इसमें क्षार होता है जो मुख में पाए जाने वाली हानिकारक खटाई को मार डालता है। कोयले में विशेष अवगुण यह है कि यह कुछ करकरा होता है जिससे दाँतों के घिस जाने का भय रहता है। फिर कोयला अघुलनशील, है। इससे इसके कण दांतों के बीच फंसे रह जाते हैं और उन पर खाने पीने की चीजें जाकर बैठ जाती है और सड़ती हैं। अतः दांतों के लिए कोयले का मंजन ठीक नहीं है।

नीम के दातुन में कीटाणुनाशक गुण होता है। बबूल में टैनिन नामक रसायनिक पदार्थ होता है जिससे मसूड़े दृढ़ होते हैं।

(२) कूट, आँवला, लोध, मोथा, मंजिष्ठा, तेजफल, हल्दी, करंजा, कनेर, मदार, मालती, अर्जुन, मौलसिरी (इन छः की छालें). नागरमोथा, हरड़, त्रिकुट, नीम के पत्ते पांचों नमक। सभी को समभाग लेकर चूर्ण बना देवें और नित्य प्रति दांतों पर मलें।

(३) दाँतों को स्वच्छ रखना हो तो मौलसिरी की छाल को जला कर कोयला कर लेवें। यदि एक छटांक छाल का कोयला हो तो छै माशा काली मिर्च, छै माशा सेंधानमक बारीक पीसकर सबको मिलाकर मंजन बना लेवें। इस मंजन को प्रातः सायं दांतों पर मलने से दांत दृढ़ और स्वच्छ होते हैं।

(४) सर्व रोगनाशक मंजन—मौलसिरी की छाल १६ तोले, लाल गेरू २ तोले, फिटकिरी भुनी १ तोला, सोंठ १ तोला, सुपारी को जलाकर १ तोला, कालीमिर्च १ तोला, तेजबल दो तोला, हरड़ ४ तोला, बहेड़ा ४ तोला, आंवला ४ तोला, माजूफल ४ तोला, कपूर छः माशा, तूतिया तीन माशा।

इन सब औषधियों को कूटपीस कपड़छन चूर्ण बनावें। तूतिया (नीलाथोथा) को जलाकर राख करके मिलावें। कपूर को पीसकर खरल कर चूर्ण में मिला देवें। इस मंजन को प्रातः सायं दोनों समय दांतों में मलें तो दांतों के समस्त रोग दूर हों। जिनके दांतों में रोग नहीं है यदि वे इसको सदैव काम में लावें तो दांतों में कोई रोग न हो।

(५) मौलसिरी की छाल या बबूल की छाल को सुखाकर कूट पीस कपड़छन चूर्ण करके बन्द शीशी में भर कर रख लेवें। प्रतिदिन प्रातः व सायंकाल केवल इसी को दन्त मंजन की तरह मलते रहने से दांत सदैव दृढ़ रहते हैं। कभी न हिलेंगे न रोग ग्रस्त होंगे।

(६) धनियाँ छः माशा, कालीमिर्च १ तोला, कुचिला दो तोला, सुपारी चार तोला, बबूल का गोंद ८ तोला।

कुचला को काटकर छोटे २ टुकड़े करके गोघृत में खूब भून डालें तब काम में लावें। सुपारी को आग में भून कर अध जला कर लेवें। गोंद बबूल को कड़ाही में धीमी-धीमी आँच से भून कर फुला लेवें। सबको कूट पीस कर महीन चूर्ण बनावें और शीशी में भरकर कार्क लगाकर रख देवें। इसे दांतों पर मलने से दाँतों का हिलना बन्द होता है।

(७) त्रिफला, त्रिकुटा, तूतिया, पाँचों लवण पतंग।
दाँत वज्र सम होत हैं, माजूफल के संग॥

(८) गाय के गोबर के उपलों की भस्म लेकर कपड़छन कर लें। दांतों पर मलने से शुद्ध, कान्तिमय बना देता है। दांत के कृमि दूर होते हैं। दांत दर्द को नाश करने में रामबाण है।

(९) गेरू ५०० ग्राम, नमक १० ग्राम, फिटकिरी २० ग्राम, पिपरमैंट १ ग्राम। फिटकिरी को भून लें और सब को पीस कर आपस में मिला लें।

(१०) समुद्रफेन ५ तोला, खड़िया मिट्टी १। तोला, पिपरमैंट १ माशा, कपूर १ माशा, गुलाब का इत्र १ माशा, दालचीनी का तैल ८ बूंद, रंग गुलाबी कच्चा १ रत्ती। इन सबको एकत्रित कर महीन पीस डाले और शीशी में भरकर रख लें। प्रातःकाल दांतों पर मलने से दांत दृढ़, स्वच्छ और स्वस्थ रहते हैं।

(११) खरिया मिट्टी पीसी हुई स्वच्छ (प्रेसीपिटेड चॉक) १०½ भाग, कारबोनेट आफ मैग्नीशिया ४½ भाग,

दूध की चीनी (Sugar of milk) १६¾ भाग। सबको वारीक पीसकर कपड़छन कर लो। फिर इसमें ५ किलो ऊपर लिखे चूर्ण में एक औंस नीचे की औषधियाँ मिलानी चाहिए—लौंग का तेल ६½ भाग, एनीस आयल (Anise oil) ६॥ भाग, यूकलिप्टास ४ भाग।

(१२) कत्था १ भाग, रूमी मस्तगी १ भाग, पुरानी सुपारी १ भाग, भुनी फिटकिरी १ भाग, चौकिया सुहागा भुना हुआ १ भाग, अकरकरा आधा भाग, कपूर चौथाई भाग, तोमर का बीज १ भाग, दालचीनी १ भाग, खड़िया मिट्टी १० भाग। सबको कूटपीस कर कपड़छन कर लें। दाँतों के रोगों के लिये यह एक अच्छा मंजन है।

(१३) रूमी मस्तगी, दालचीनी, इलायची, कपूर-कचरी, कपूर चीनी, सोंठ, कालीमिर्च, भुना नीलाथोथा (तूतिया), रूड़ावाली, कत्था, भुना सफेद जीरा, भुनी धनिया सभी एक एक तोला, सेंधानमक २ तोला। सबको कूट पीसकर छान लें और शीशियों में भर लें। यह वैद्यक मंजन है।

(१४) डाईबेसिक अमोनियम फास्फेट (Dibasic Ammonium phosphate) ३ भाग, यूरिया (urea) ६ भाग, शुद्ध चौक मिट्टी ८० भाग, सब को मिलाकर सुगंधि मिला दें।

(१५) कृत्रिम दांतों के लिए मंजन—

प्रेसिपिटेटेड चॉक १ पौंड, साबुन वारीक चूर्ण ४ औंस, इसे नकली दांतों पर मलना चाहिए।

(१६) रीठा २ तोला, दालचीनी का चूर्ण १ तोला, फिटकिरी की खील १ तोला, कत्था ४ तोला, पिपरमेंट २० रत्ती, अजवाइन का सत २० रत्ती, कपूर ४० रत्ती, इलायची २ तोला, दालचीनी का तेल ८ माशा। सब औषधियों का चौगुना खड़िया मिट्टी (चाक) का चूर्ण बनाकर दांतों पर मलो। अपूर्व गुण दिखलाता है।

(१७) बादाम के छिलके का कोयला १ तोला, माजूफल १ तोला, भुनी फिटकिरी १ तोला, हुलास १ तोला। सबको चूर्ण कर के बोतल में रख लो और दाँतों में मलें।

(१८) दशन संस्कार चूर्ण—सोंठ, हरड़, नागरमोथा, कत्था, कालीमिर्च, लौंग, कपूर, सुपारी (जली हुई), दालचीनी सब एक एक तोला, सबको चूर्ण करके बराबर खड़िया का चूर्ण मिलाकर उसे खूब खरल कर लें। इस मंजन से दांत व मुख के रोग नष्ट होते हैं।

(१९) मिस्सी—इससे दाँत काले होते हैं।

(क) हर्र का छिलका, बहेड़ा का छिलका, आँवला का छिलका, माजूफल; सभी एक एक तोला, हीराकसीस २ तोला। सबको कूट पीस कर बोतल में रख लें। इसको थोड़ा सा दाँतों पर लगावे और केले के पानी से कुल्ला करने और पान खा लेने से दाँत काले हो जाते हैं।

(ख) बड़ी हरड़ १० तोला, कसीस १० तोला, बहेड़ा ५ तोला, माजूफल २॥ तोला, बड़ी इलायची के दाने ४ तोला, लौंग ४ तोला, श्वेत चन्दन का बुरादा ६ माशे। सबको कूट पीसकर कपड़छन कर लें। यदि इसे और सुगन्धित बनाना चाहें तो गुलाब, केवड़ा, खस आदि कोई भी अच्छा इत्र एक छटांक मिस्सी के पीछे ८ बूंद के हिसाब से मिला दें।

× × × ×

दन्तशूल नाशक अनुभूत प्रयोग

—श्री वैद्य गोवर्धन दास चागलानी एटा (उ.प्र.)

१. तारपीन का तैल २॥ तो० (३० ग्राम), कपूर ३ माशा (३ ग्राम)।

कपूर को तोड़कर छोटे-छोटे टुकड़े कर तारपीन के तैल में मिला कर डाटदार शीशी में रख लें। (अधिक गुणकारी बनाने के लिये रसोनादि तैल (रसोन+अजवायन+सोंठ+कपूर से निर्मित सरसों तैल में) समभाग मिला सकते हैं। वैसे तो केवल तारपीन तेल+कपूर मिश्रित ही काफी लाभदायक है। दन्त कृमि शूल में रुई की फुरेरी से लगाकर लार गिरावें। बाद में लौंग+माजूफल का समभाग चूर्ण मंजन की तरह लगावें। दन्तशूल के स्थान पर या दन्त छिद्र में भर दें। रोगी को शीतल जल बर्फ तथा मीठे की चीजें खाने की मना करदें। यदि मसूढ़े फूले हों तो तारपीन तेल+कपूर मिश्रित की फुरेरी लगावें। बाद में लौंग+माजूफल का चूर्ण मञ्जनवत् लगावें। फिटकरी का फूला ४-६ रत्ती पाव भर गुनगुने पानी में डाल कर २-३ बार कुल्ला करें। मसूड़े फूलने (दन्त मूल शोथ) के कारण ऊपर के गाल सूज गये हों तो बाम, विक्स लगाकर सेंक करें अथवा कृष्ण मरहम (तिल का तैल सिन्दूर आदि से बना मरहम) का फाया गाल पर लगा कर चुपका दें

और दिन में २-३ बार सेंक करदें तो सूजन आदि शीघ्र दूर हो जायेगी।

२. काली मिर्च १। तो० (१५ ग्रा.) नवसादर १। तो० (१५ ग्रा०), सोना गेरू १। तो० समभाग पीस कर रख लें। दन्तशूल पर मंजन की तरह लगा कर लार गिरावें और गुनगुने जल से कुल्ला करें।

३. चूना कलई १. तो०, नवसादर १। तो. (१५ ग्रा.), कपूर १॥ माशा (१॥ ग्रा.) जल आधा पाव (१२५ मिलि.) उपरोक्त चीजों को पीस कर डाटदार शीशी में डाल कर ऊपर से पानी भर कर डाट लगा कर हिलावें। सब चीजें मिल जाने पर गैस बन जाती है जोकि शिरः शूल (सिर दर्द) रोगी को केवल गैस सुघावें (नाक में न डालें) तो सिर दर्द में तत्काल लाभ मिलेगा। मूर्छित-बेहोश रोगी भी गैस सुंघाने से सावधान हो जाता है। यहाँ पर कृमि दन्त शूल पर दांत के छिद्र में छोटी फुरेरी दवा में घुमा कर लगावें। कुछ दिन लगातार लगाने से दन्त कृमि मर जाता है और शूल नहीं होता। लेकिन इस चूने कलई वाले योग में खूब सावधानी से उस दन्त शूल वाले छिद्र में ही रुई की छोटी फुरेरी बना कर दिन में २-३ बार रखें। अन्य मसूड़े आदि या जीभ पर न लगावें अन्यथा चूना कलई अपनी तेजी से मसूड़ों को काट देगा या हानि करेगा। दन्त शूल की तीव्रता में नं० १ वाला योग तारपीन तेल+कपूर मिश्रित की फुरेरी ३-४ बार लगावें। शूल कम होने पर कृमि को नष्ट करने के लिये चूना कलई वाला योग काम में लावें।

४. दन्त कृमि शूल पर दन्त छिद्र में रखने के लिये नवसादर कत्तल+लौंग+कपूर+अफीम (अभाव में पोस्त डोंडे का घनसत्व) समभाग लेकर घोट कर छोटी-छोटी बाजरा के दाने के बराबर गोली बनाकर सुखाकर डाटदार शीशी में रख लें। दन्त कृमिजन्य शूल तथा दन्त छिद्र में रखने के लिये उत्तम योग है।

दन्त रोग नाशक उत्तम मन्जन

बायबिडङ्ग, सैंधानमक, सौंठ, बड़ी हरड़, नागरमोथा, कत्था, माजूफल, कालीमिर्च, लौंग, दालचीनी असली, फिटकरी सफेद का फूला १-१ तोला। कपूर ६ माशा (६ ग्रा.), पिपरमिण्ट १ माशा (१ ग्रा.) सेलखड़ी पावभर (२५० ग्राम), खड़िया शुद्ध पावभर (२५० ग्राम)। नित्य प्रयोग में लाने के लिये उत्तम दन्त मंजन है।

विधि—सब चीजों को कूट पीस महीन कपड़े में छान लें। पिपरमेन्ट पीस मजन में मिला शीशियों में भर रखलें।

—वैद्य श्री गोवर्धन दास चागलानी
एटा (उ०प्र०)

× × × ×

शीताद रोग पर मंजन

शीताद रोग हो गया हो तो उसका रुधिर निकलवाकर पश्चात् जल में सौंठ, सरसों, हरड़, बहेड़ा, आंवला का क्वाथ कर क्वाथ से कवल धारण करना या मेरे निज अनुभव के नाते चाय का पानी उबाल कर उससे कुल्ला करना या अग्निमन्थ (अरणी) के पत्तों को उबाल कर उस जल से कुल्ले करना।

सुपारी, हरड़ जला कर उसमें थोड़ा नमक मिला कर मंजन करना उपयोगी रहेगा। चूंकि इससे रक्त और पीव दूर हो जाता है। सरसों का तैल सैंधव नमक से मन्जन करना भी उपयोगी है। विशेष कर लोध्र, त्रिफला पीस लें। इसमें माजूफल भी पीस मिलावें। सूक्ष्म चूर्ण कर हथेली भर ले रगड़ कर दन्त प्रतिसारण कीजे।

कीकरमद; रूमीमस्तङ्गी; माजूफल, स्वर्णगैरिक, सौंठ, मिरच, पीपल इन सातों को बराबर लेकर चूर्ण कर दंतघर्षण से दन्त रोग ठीक होते हैं। शीताद के लिये स्पेशल 'कन्चूर' का कपड़छन किया हुआ चूर्ण दन्त मंजन के रूप में व्यवहार करें तो अवश्य लाभ होगा, इसमें संदेह नहीं। मंजनों में इससे अच्छा मंजन कहीं भी नहीं है। यह विशेषानुभूत है।

एक श्रेष्ठ दन्त मञ्जन

सिकाकाई, कपूर कचरी; आंवला, बड़ी एला ३०-३० ग्राम, सफेद कत्था ५० ग्रा., धनियां २० ग्रा., अकरकरा १०० ग्रा., माजूफल २० ग्रा., सफेद फिटकरी ५० ग्रा., कर्पूर २० ग्रा., तवाखीर २० ग्रा., सैंधव नमक १०० ग्रा., कीकर का गूदा १५० ग्रा., सफेद जीरा ५० ग्रा., जावित्री ५ ग्रा., वंशलोचन ४० ग्रा., दालचीनी १० ग्रा., जटामांसी २० ग्रा., रूमी मस्तगी २० ग्रा., खैरसार १० ग्रा.। सबको कूट कपड़ा में छानकर रख लें, मंजन तैयार है। इस मंजन को सुबह शाम करके ऊपर से चाय के पानी से या जटामांसी के उबाले हुए पानी से कुल्ला लें।

एक अन्य दन्त मंजन

कपूर १० ग्राम, लवंग २० ग्रा., पीपल २० ग्रा., फुलीस्फटिका २० ग्रा., समुद्र झाग ८० ग्रा., खड़िया मिट्टी १५० ग्रा., स्वर्ण गैरिक ८० ग्रा., भ्रष्ट तुत्थ १० ग्रा., अकरकरा २० ग्रा., दालचीनी २० ग्रा., पिपरमेण्ट २ ग्रा., जिन रोगियों को तम्बाकू के मंजन करने की आदत हो उन्हें इसमें से थोड़ा मिला कर तम्बाकू कम करते रह कर इसका व्यवहार करने पर स्वतः ठीक हो जावेगा।

—आचार्य श्री विरिंचिलाल वैद्य आयु०
इस्लामपुर (झुंझनूं) राज०

× × × ×

दन्त मंजन

(१) बबूल-छाल, खैर की छाल, जामुन की छाल, १-१ तोला, महुआ की छाल, अमरूद की छाल, मौलसिरी की छाल २-२ तोला, ढेलाकपूर ६ माशा। उपर्युक्त छः दवाओं को कूटकर कपड़छान करें। फिर उसमें ढेला कपूर मिलाकर शीशी में रख लें। यह एक उच्च कोटि का मंजन है। इससे दन्त सम्बन्धी सभी प्रकार की बीमारियां दूर हो जायेंगी।

(२) हल्दी, गोल मरिच, मेंथी, सेंधानमक, फिटकिरी, समुद्रफेन, माजूफल, गेरू मिट्टी ५-५ तोला, लौंग १ तोला—सभी दवाओं को कूटकर कपड़छन कर शीशी में रख लें। यह मंजन कठिन से कठिन दन्त रोगों में लाभकर सिद्ध हुआ है। पायरिया को जड़ मूल से नष्ट कर देता है।

३. कत्था ८ माशा, फिटकिरी ४ माशा, लोहवान, ४ माशा, लवंग २ माशा; खड़िया २॥ तोला। सभी दवाओं को कूटकर महीन चूर्णकर कपड़छनकर एक शीशी में रख लिया जावे। रोजाना मंजन किया जाय तो यह मंजन हिलते हुए दांतों को भी मजबूत करता है।

(१) त्रिफला या दशमूल क्वाथ को गर्म कर गण्डूष करना लाभकारी है।

(२) लवंग तैल का पिचु धारण करना चाहिए।

(३) तिल का तैल १ छटांक, लौंग सवा तोला, सोंठ सवा तोला इनकी लुगदी बनाकर रुई के फाहे में दांत के नीचे रखना चाहिए।

—श्री वैदेहीशरणसिंह आयुर्वेदाचार्य,
धरीक्षणसिंह दातव्य औषधालय,
बसंतपुर पो० पीरपैंती (भागलपुर) बिहार

× × × ×

कृमिदन्त रोग पर मेरे प्रयोग

कृमिदन्त रोग में प्रथम कृमियुक्त दांतों में गुड़ भरे। फिर लोहे की शलाका से दहन करें। पश्चात् कृमिनाशक आक का दूध भरें। हारीत संहिता में कृमिदन्त को अच्छा करने के लिए लिखा है—

विडङ्ग हिंगु सिन्धुञ्च बचा चूर्णेन घर्षयेत्।
कृमिजदंत रोगेषु हितमेतत्प्रशस्यते ॥

वायविडङ्ग, हींग, सेंधा नमक एवं वच के चूर्ण को दांत में घिसने से कृमिज दन्त रोग अच्छा होता है।

स्थिरता को प्राप्त हुए कृमिदन्त नामक रोग को स्वेदन देकर रुधिर निकलवावे तथा वातनाशक औषधियों के अवपीड़नों से स्नेह पदार्थ के द्वारा कुल्ले करने से पुनर्नवा के प्रलेपन से और स्निग्ध भोजन से दूर करें। कृमिदन्त को अच्छा करने हेतु हींग की बड़ी प्रशंसा की गई है तभी तो लिखा है—

कृमिदन्तापहं कोष्णं हिंगुदन्तान्तरे स्थितम् ॥

हींग को कुछ गरम करके दांतों के बीच में अर्थात् डाढ़ के तले दबाने से कृमिदन्त रोग दूर होता है। नीली, काकजंघा, थूहर और दुद्धी इन प्रत्येक की जड़ को चबा कर दांतों में रखने से कृमिदंत रोग नष्ट होता है। बिजौरे नीबू की जड़ और बाकुची की जड़ इन दोनों को समान भाग लेकर एकत्र पीसकरके बत्ती बना लेवें। इस बत्ती को दांतों में धारण करवावें। इस प्रकार करने से दन्तकृमि रोग तत्काल दूर होता है। दन्ती, सत्यानासी, कटेरी, कासीस, वायविडङ्ग और इन्द्र जौ इन सबको समान भाग लेकर चूर्ण बनाकर दांतों में रखने से अथवा आक या थूहर के दूध को दांतों में भरने से दांतों के कृमि दूर होते हैं।

आधुनिक चिकित्सा में क्रियोजूट नामक औषधि कृमिदन्त की अमोघ औषधि मानी जाती है। कीड़ों की जगह में रुई के द्वारा क्रियोजूट भरते हैं जिससे कृमिदग्ध हो जाते हैं।

—श्री व्रजविहारी मिश्र वैद्य
बिन्दकी (फतहपुर) उ० प्र०

समाप्त

श्री ज्वाला आयुर्वेद भवन अलीगढ़

एवं

दाऊ मैडीकल स्टोर्स

का

संक्षिप्त विवरण एवं मूल्य तालिका

कृपालु ग्राहकों से निवेदन

इस विवरण एवं तालिका को देख-समझकर अपनी आवश्यकतानुसार वस्तुयें मंगावें तथा हमको अपना सहयोग दें। विश्वास रखें कि हमारा व्यवहार एवं हमारी सभी वस्तुयें आपको सन्तोष देंगी। औषधि-विक्रेता पत्र डालकर एजेंसी नियम मंगा लें।

नियम--

कमीशन १—एक बार में ५०) से कम की दवा मंगाने पर कोई कमीशन नहीं दिया जाता है।

२—५०) से १००) तक की दवा मंगाने पर १५ प्रतिशत कमीशन।

३—१००) से ऊपर की दवा मंगाने पर २५ प्रतिशत कमीशन।

पोस्ट व्यय—केवल कैपसूल तथा मूल्यवान दवा १००) नैट (कमीशन कम करके) से अधिक की मंगाने पर आधा तथा २००) से अधिक की मंगाने पर पूरा पोस्ट व्यय हम देंगे। १००) नैट से कम की दवा एक बार में मंगाने पर पूरा व्यय ग्राहक को देना पड़ेगा।

सैलटैक्स— उत्तर प्रदेश के ग्राहकों से ६ प्रतिशत तथा अन्य प्रान्तों के ग्राहकों से १० प्रतिशत सैलटैक्स लिया जाता है। सी-फार्म आर्डर के साथ आने पर ४ प्रतिशत लिया जायगा।

अन्य नियम---

१—उधार (Credit पर) माल हम सप्लाई नहीं करते हैं।

२—वजनी औषधियाँ रेल से मंगावें। १५०) नैट (कमीशन कम करके) से ऊपर की दवा मंगाने पर आधा रेल भाड़ा बिल में कम कर दिया जाता है।

३—पैकिंग पूरी सावधानी से करते हैं। मार्ग में टूट-फूट तथा कमी की जिम्मेदारी हमारे ऊपर नहीं होगी।

श्री ज्वाला आयुर्वेद भवन, मामू भांजा रोड, अलीगढ़।

श्री ज्वाला आयुर्वेद भवन द्वारा निर्मित

विशुद्ध आयुर्वेदिक आशुफलप्रद कैपसूल

अतिसारान्तक कैपसूल

यह उत्तम ग्राही क्षोभहर, शामक, आम पाचक है। संग्रहणी के मूलभूत कारणों के ऊपर विशेष असर होता है। बच्चों की हरी पीली टट्टियों में लाभ करता है। बच्चों के दांत निकलने के समय होने वाले विकार दूर होते हैं। अपचन के कारण जो पित्तजनित अतिसार होता है वह दूर हो जाता है। तीव्रातिसार में १ दिन में ही लाभ करता है। पेट की मरोड़ दूर करता है।

मू०—५० कै० ११.५०, १०० कै० २२.००।

अर्शान्तक कैपसूल

खूनी तथा वादी दोनों प्रकार के अर्श में रोगी को महान कष्ट होता है। मल शुष्क हो जाता है तथा जब वह अर्श के मस्सों से रगड़ता हुआ बलपूर्वक बाहर आता है तो रक्त बह निकलता है गुदा में घाव हो जाते हैं, जिस समय घाव रहता है गुदा के बल रोगी बैठ नहीं सकता। हमारे इन कैपसूलों के प्रयोग करने से थोड़े ही दिनों में रोगी की स्थिति सुधर जाती है। उसके मस्से बैठ जाते हैं, मल ढीला पड़ जाता है। जिससे कि मस्से छिलकर रक्त-स्राव नहीं होता। गुदा की वेदना कम हो जाती है।

मू०—५० कैपसूल ९.००, १०० कैपसूल १७.००।

कैल्सी कैपसूल

इनके प्रयोग से कैल्शियम की कमी दूर होती है। बुखार (ज्वर) के बाद की कमजोरी, क्षय रोग, नजला, जुकाम पुरानी खांसी को दूर करके वजन बढ़ाने में गुण-कारक हैं। कैल्शियम ग्लुकोनेट या कैल्शियम से बनी एलोपैथिक औषधियों से कहीं अधिक लाभ करते हैं तथा किसी प्रकार का नुकसान नहीं करते हैं।

मू०—५० कैपसूल ८.००, १०० कैपसूल १५.००।

कैल्सी लौह कैपसूल

यह लौह युक्त कैल्सी कैपसूल है। कैल्शियम तथा लौह की कमी को पूरा करते हैं तथा रक्त वर्द्धक भी हैं।

पैकिंग—५० कैपसूल ९.५०, १०० कैपसूल १८.००।

कृमिघातिनी कैपसूल

पेट के हर प्रकार के कीड़ों पर प्रभावशाली है। कृमियों तथा कृमियों से होने वाले विकार जी मिचलाना, उबकाई या उल्टी होना, कृमिज आमाशय शूल, नजला, जुकाम, अरुचि, ज्वर, कमजोरी, मलावरोध प्रमेह आदि ठीक होवे हैं।

मूल्य—५० कैपसूल १२.००, १०० कैपसूल २३.००

क्लीबारि कैपसूल

नपुंसकता, शीघ्रपतन, इन्द्रिय की निर्बलता, वीर्य-अभाव, पतलापन, स्तम्भन शक्ति की कमी के लिये अत्युत्तम है। नियमित व्यवहार करने से बल, वीर्य, कान्ति ओज तथा शक्ति बढ़ती है।

मूल्य—५० कैपसूल २०.००, १०० कैपसूल ३९.००

गोनारि कैपसूल

आजकल सुजाक का रोग बहुत अधिक पाया जाता है क्योंकि आजकल चटपटी मसालेदार चीजें, चाट आदि का प्रयोग बहुत अधिक हो गया है। संक्रमण से भी इसका प्रसार होता है। इस रोग से ग्रसित रोगी को भयंकर तकलीफ होती है पेशाब करने में तो उसे भयंकर वेदना होती है। लेकिन इन कैपसूलों के प्रयोग से अल्प समय में ही रोगी की समस्त वेदनायें दूर हो जाती हैं तथा पेशाब ठीक तरह से बिना तकलीफ के उतरने लगता है। अनेक रोगियों पर परीक्षित हैं।

मू०—५० कैपसूल १४.००, १०० कैपसूल २७.००

गैसोना कैपसूल

ये कैपसूल गैस के लिये उत्तम है। अजीर्ण, भूख का कम लगना अफारा, पेट का भारीपन, पेट में गैस बनना बन्द होता है। उदर शूल में भी लाभदायक है। खाया पिया हजम होता है। गैस से होने वाले विकार सुस्ती सी छायी रहना, शरीर का भारीपन थकावट आदि ठीक होती है। उदर विकार में ये बहुत ही प्रभावशाली हैं।

मूल्य—५० कैपसूल १२.००, १०० कैपसूल २३.००

ज्वरान्तक कैपसूल

इसके व्यवहार से सभी प्रकार के ज्वर और विशेषतः वातज्वर, कफ एवं विषम ज्वर में लाभ होता है। सर्दियों में होने वाले प्रतिश्याय (जुकाम) के लिए भी उत्तम है। इसके प्रयोग से सर्दी में होने वाले ज्वर का वेग शीघ्र ही कम हो जाता है तथा शरीर का दर्द भी कम हो जाता है। श्वास के वेग एवं आन्तरिक ज्वर में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये। बढ़े हुए ज्वर में एक कैपसूल गर्म पानी से लेकर उसके पश्चात् लगभग १ प्याला खूब खौलता हुआ जल चाय की तरह पीवें तथा भारी कपड़ा ओढ़कर सो जावें। ३-३ घण्टे पश्चात् ऐसा करने से पसीना आकर ज्वर का वेग कम हो जायगा। निमोनियां या इन्फ्लूएञ्जा में इसे चाय के साथ सेवन करें।
मूल्य—५० कैप. १३.५०, १०० कैप. २६.००।

पाण्डुनौल कैपसूल

दीर्घकालीन व्याधि के पश्चात् हुई रक्ताल्पता या अवरोधज कामला के लिए यह कैपसूल अचूक लाभ करते वाले हैं। इसके सेवन से यकृत वृद्धि के कारण होने वाले सभी रोग, कमजोरी जीर्ण ज्वर, वृक्क विकार, प्लीहावृद्धि, रक्ताल्पता, कब्जियत, मन्दाग्नि आदि विकार दूर होंगे। बच्चों के लिए यकृत दोष की अक्सीर है।

मूल्य—५० कैप. १२.००, १०० कैप. २३.००

विबन्धहारी कैपसूल

इसके व्यवहार से मलावरोध, अपचन, ज्वरकालीन विबन्धता में शीघ्र लाभ होता है। जिनको भोजन नहीं पचता, तबियत गिरी-गिरी रहती है, पेट में हल्का-२ दर्द रहता है, दस्त कड़ा या कठिनता से होता है भोजन के बाद पेट में अफरा होता या गैस की शिकायत रहती है। उनको रात्रि में एक या दो कैपसूल लेने से प्रातःकाल दस्त साफ हो जाता है और सभी परेशानियां दूर हो जाती हैं। कठिन कोष्ठ वालों को कभी-कभी २ कैपसूल भी लेने पड़ सकते हैं। मू. ५० कै. ११.५०, १०० कै. २२.००

वातरोगहर कैपसूल

स्वर्ण युक्त औषधियों से निर्मित यह कैपसूल समस्त वात रोगों की उत्तम औषधि है। इनके व्यवहार से वात रोगों में अवश्य लाभ होता है, जैसे कि गठिया, हाथ पैरों की सूजन, कमर का दर्द गृध्रसी आदि। इस कैपसूल के प्रयोग से पक्षाघात (Facial Paralysis) अपतन्त्रक आक्षेपक, सिर में चक्कर आना आदि वात रोगों में अवश्य लाभ होता है। सुपरीक्षित एवं सफल महौषधि है। विश्वास के साथ व्यवहार करें।

मूल्य—५० कै. २५.५०, १०० कै. ५०.००

मलेरिया हर कैपसूल

यह पाली देकर आने वाले ज्वर के लिए उत्तम है। इसके १ कैपसूल को ज्वर आने से एक घण्टा पूर्व गुनगुने जल से देना चाहिये। अगर ज्वर न आये तो १ कैपसूल और देना चाहिए। ज्वर चढ़ते समय कैपसूल नहीं देना चाहिए। इस तरह २-३ दिन के प्रयोग से ही मलेरिया ज्वर समाप्त हो जाता है। बच्चे को मात्रा आयु के अनुसार कैपसूल तोड़कर दें। गर्भावस्था में कैपसूल नहीं देने चाहिये।

मूल्य—५० कै. १५.००, १०० कै. २६.००

मदनशक्ति कैपसूल

बल, वीर्य; कांति, पुरुषार्थ बढ़ाने वाली दिव्य औषधियों के मिश्रण से यह कैपसूल तैयार किया गया है। नामर्दी, नपुंसकता, वृद्धावस्थाजन्य निर्बलता तथा शीघ्रपतन की विशेष उत्तम दवा है। इसके सेवन से काफी स्तम्भन होता है तथा सम्भोग के कारण हुई निर्बलता दूर होती है। ४० वर्ष की अवस्था के पश्चात् मनुष्य को अपने में जो कमी महसूस होती है उसे इस कैपसूल के सेवन से दूर किया जाता है। परीक्षित कैपसूल हैं।

मू० ५० कै. १८.२५, १०० कै. ३५.५०।

मेधाशक्ति कैपसूल

ब्राह्मी एवं शंखपुष्पी मस्तिष्क की दुर्बलता को दूर करने वाली एवं स्मरण शक्ति को बढाने वाली आयुर्वेद की प्रसिद्ध वनौषधियों के घन-सत्व एवं अन्य प्रभावी आयुर्वेदिक औषधियों के मिश्रण से तैयार किये गये हैं। इसके सेवन से स्मरण शक्ति बढ़ती है, मस्तिष्क में हर समय रहने वाली थकावट दूर होती है। विद्यार्थी के लिए अत्युपयोगी है। पित्त की अधिकता से होने

वाले विकार जैसे हाथ पैरों की जलन, सिर दर्द आदि विकार भी इससे नष्ट होते हैं।

मू०—५० कैपसूल १३.५०, १०० कैप. २६.००

रक्तशोधन कैपसूल

इसके व्यवहार से सभी प्रकार के कुष्ठ, खाज, खुजली, आदि सम्पूर्ण रक्तविकारों में लाभ होता है। रक्त विकार नाशक अन्य औषधियाँ तथा हरताल भस्म, तालसिंदूर आदि पित्त की वृद्धि करती हैं तथा पित्तज प्रकृति वाले रोगियों को अनुकूल नहीं पड़ती। किन्तु इस कैपसूल के प्रयोग से पित्तज प्रकृति के रोगियों को कोई विकार नहीं होता तथा रक्त विकार भी दूर हो जाता है। महा-मंजिष्ठादि अर्क, खदिरारिष्ठ या रक्तशोधिकारिष्ट के साथ इन कैपसूलों का प्रयोग करने से अधिक लाभ होता है। यदि कब्ज रहता हो या आम संचित हो तो ३-३ या ४-४ दिन बाद विरेचन लेना चाहिए। इसके लिए शुद्ध एरण्ड तेल (Castor Oil) लेना सर्वोत्तम है। विबन्धहारी कैपसूल भी ले सकते हैं।

मू०—५० कै० १३.५०, १०० कै० २६.००

रक्तचापहारी कैपसूल

जब किसी रोग में बेचैनी या पीड़ाओं के कारण नींद नहीं आती तब इसके प्रयोग से बेचैनी दूर हो जाती है और अच्छी नींद आ जाती है। अधिक शराब पीने से और अधिक ब्बनाइन के प्रयोग से पैदा हुई बेचैनी और अनिद्रा पर भी लाभकारी है। हिस्टीरिया, उन्माद, मस्तिष्क की उत्तेजना में इनका प्रयोग लाभकारी है। रक्तचाप वृद्धि (हाईब्लड प्रेसर) में यह कैपसूल बहुत श्रेष्ठ है। इनसे मस्तिष्क का दबाव कम होता है और शान्त निद्रा आ जाती है। ये शामक कैपसूल हैं।

मू० ५० कै० ११.५०, १०० कै० २२.००

रजावरोधान्तक कैपसूल

मासिक धर्म में कष्ट होना, अल्प रजता या असमय में मासिक धर्म होना, मासिक धर्म की विकृति के कारण सिर दर्द, नेत्रों की निर्बलता और कमर में पीड़ा रहना आदि विकार दूर होते हैं। अपचन, मलावरोधजन्य उदर शूल, गुल्म, आध्मान भी इसके सेवन से नष्ट होते हैं।

मू०—५० कै० ६.००, १०० कै० १७.००

रुदन्ती कैपसूल नं. १

स्वर्ण वसन्त मालती युक्त

स्वर्ण वसन्त मालती आयुर्वेद शास्त्र की प्रसिद्ध और चमत्कारिक औषधि है जिसे वैद्य ही नहीं ऐलोपैथिक एवं होमियोपैथी भी प्रयोग करते हैं। यह जीर्ण ज्वर, विषम ज्वर, धातुगत ज्वर, हृदय रोग धातुगत क्षीणता को दूर करती है। जीर्ण ज्वर के कारण निर्बल हुए रोगियों के लिए तो यह अमृत के समान है। गर्भवती स्त्रियों और छोटे बच्चों को निर्भयता के साथ प्रयोग कराया जाता है। लेकिन हम हिंगुल के स्थान पर सिद्ध मकरध्वज नं. १ तथा स्वर्ण भस्म डालकर बनाई स्वर्ण वसन्त मालती नं. १ तथा उसके साथ रुदन्ती फल का घनसत्व व अन्य प्रभावकारी औषधियों का मिश्रण कर इन कैपसूलों में भरते हैं जिससे यह क्षय रोगियों के लिए बहुत लाभ करते हैं। प्रवाल भस्म भी होने के कारण यह पित्त का शमन करता है। जिसने भी हमारे रुदन्ती कैपसूल को अपने रोगियों को प्रयोग कराया है वह सदैव के लिए भक्त बन गये हैं।

मू० ५० कै० २५.५०, १०० कै० ५०.००।

ल्यूकोना कैपसूल

इसके व्यवहार से श्वेत एवं रक्तप्रदर, योनिशूल, कमर का दर्द, मासिक धर्म विकृति, मूत्रकृच्छ आदि रोग नष्ट होते हैं। उस अवस्था में जबकि प्रदर के साथ शरीर में दर्द हो या यकृति की विकृति अवस्था हो यह कैपसूल शीघ्र लाभप्रद प्रमाणित होंगे। प्रातः सायं एक-एक कैपसूल शीतल जल या अशोकारिष्ट के साथ देना चाहिये। छोटे बच्चों को कभी-कभी पेशाब में सफेदी या कुछ बालू जैसी आने लगती है उस अवस्था में भी कैपसूल खोलकर अवस्थानुसार मात्रा बनाकर शहद में चाटने से लाभ होता है। इन कैपसूलों के सेवनकाल में फिटकरी युक्त जल या योनिशोधक क्वाथों से दिन में एक बार योनि प्रक्षालन कराने से शीघ्र लाभ होता है।

मू०—५० कै० १८.२५, १०० कै० ३५.५०।

श्वासहारी कैपसूल

इसके व्यवहार से तीव्र श्वास वेग का शमन होता है तथा इसका लगातार प्रयोग करने से श्वास का आगामी

वेग नहीं होता। यदि श्वास शुष्क हो तो एक कैपसूल थोड़े गुनगुने जल से निगलवा कर थोड़ी सी मलाई चटा दें। प्रातःकाल या रात को सोते समय जब श्वास का वेग प्रारम्भ होता मालूम पड़े उसी समय या उससे आधा घण्टा पूर्व एक कैपसूल लेने से श्वास वेग नहीं आयेगा तथा श्वास कष्ट दूर हो जायेगा। बच्चों की कोढी खाँसी में भी इसे अवस्थानुसार मात्रा बनाकर शहद से दें।

मू०—५० कैं० ९.००, १०० कैं० १७.००।

शोषान्तक कैपसूल

अस्थि मार्दव एवं बाल शोष (सूखा) पर अच्छा लाभ करता है। गर्भावस्था में माता निर्बल होने पर या बाल्यावस्था में माता के रुग्ण हो जाने से या अन्य किसी कारण से बालक का योग्य पोषण नहीं होता। माता की अस्थियाँ निर्बल होने पर दुग्ध (स्तन्य) में अस्थि पोषक तत्व कम होता है। इस हेतु से बालक को अस्थि मार्दव रोग हो जाता है, नितम्ब पर सिकुड़न पड़ जाती हैं, बच्चे को ज्वर रहा आता है। इस स्थिति में इसके सेवन से तुरन्त लाभ दृष्टिगोचर होता है। कैल्शियम की कमी बच्चे में तुरन्त पूरी होती है। बच्चे की पाचन क्रिया सुधर जाती है और शरीर बलवान और नीरोग बन जाता है।

मू—५० कैपसूल १२.००, १०० कैपसूल २३.००

शूलारि कैपसूल

दर्द किसी तरह का क्यों न हो इस कैपसूल के सेवन से ही वह दूर हो जायेगा। सर्दी, जुकाम, इन्फ्लुएन्जा, अधकपारी, मलेरिया ज्वर की बेचैनी, पसली का दर्द, वात का दर्द, चोट, फोड़े का दर्द में यह तुरन्त आराम देता है। वायु के कारण होने वाले जोड़ों के दर्द, तन्त्रशूल में भी इससे लाभ होता है। शरीर के किसी भी अङ्ग के दर्द में तत्काल लाभकारी है। निरापद है, हृदय को हानि नहीं पहुँचाता। मौसम बदलने, पानी में भीगने से होने वाले शरीर या सिर दर्द में लाभकारी है।

मू०—५० कैपसूल १०.००, १०० कैपसूल १९.००

स्वप्न प्रमेहान्तक कैपसूल

आजकल प्रायः युवकों को स्वप्न में वीर्य पतन की व्याधि पाई जाती है। इसका प्रधान कारण दूषित वातावरण, हर समय काम चिन्तन, सिनेमा, सह शिक्षा के कारण वैसे ही स्वप्न आते हैं। इसलिए इस कैपसूल के प्रयोग के साथ वातावरण का सुधार आवश्यक है। ये कैपसूल स्वप्न प्रमेह के लिये अक्सीर हैं।

मू०—१० कै० २५.५०, १०० कै० ५०.००

हृद्रोगारि कैपसूल

हृदय के सभी रोगों यथा हृच्छूल, चक्कर आना, जलन होना आदि इसके प्रयोग से दूर होते हैं। इसके प्रयोग से दिल की धड़कन तुरन्त ठीक होकर हृदय की क्रिया नियमित होती है।

मू०—५० कैपसूल १४.०० १०० कैपसूल २७.००

हिस्टीरियाहर कैपसूल

यह कैपसूल स्त्रियों को होने वाले दौरों के लिए उत्तम हैं। यह दौरे मस्तिष्क में कुविचार होने के कारण होते हैं ये कैपसूल मगज को शांत करते हैं। कुविचारों का शमन होता है। पाचन क्रिया को सुधारता है। शक्तिदायक हैं।

मू०—५० कैपसूल १३.५०, १०० कैपसूल २६.००

त्रिशक्ति कैपसूल

यह लौहयुक्त कैपसूल हैं जो किसी भी उम्र बीमारी के पश्चात् की कमजोरी को दूर करने में बहुत ही प्रभावशाली हैं। शरीर में आई हुई लौह की कमी को पूरा करते हैं। ढीले अङ्गों को मजबूत करके शरीर में कड़ापन लाते हैं। पाचक, पित्त के विकार को दूर करके अग्नि प्रदीप्त करते हैं जिनसे भूख बढ़ जाती और खाना पीना हजम हो जाता है। यह उत्तम रक्त वर्धक है और कान्ति तथा उत्साह में वृद्धि करते हैं।

किसी प्रकार की रक्ताल्पता व रक्तचाप की कमी (Low Blood Pressure) में बड़े विश्वसनीय हैं।

मूल्य—५० कैपसूल ११.५० १०० कैपसूल २२.००

पुंसवनो कैपसूल

आजकल परिवार नियोजन पर बहुत जोर दिया जा रहा है तथा व्यावहारिक जीवन में इसका उपयोग भी है लेकिन किन्हीं-किन्हीं स्त्रियों के साथ ऐसी समस्या है कि उन्हें बार-बार लड़कियाँ ही होती हैं तथा वह चाहती हैं कि कम से कम एक लड़का हो जावे तब वह परिवार नियोजन करायें। ऐसी स्त्रियों से हमारा निवेदन है कि जैसे ही गर्भावस्था का पता चले हमारा कैपसूल का एक सैट प्रयोग करें। उनकी मनोकामना अवश्य पूरी होगी, ये सुपरीक्षित हैं। पूर्ण विश्वास के साथ प्रयोग करावें। पैकिंग—७ तथा ४० कैपसूलों को मिलाकर इसका एक सट होता है। १ सैट का मू—२६.५०।

श्री ज्वाला आयुर्वेद भवन, अलीगढ़

द्वारा निर्मित

आयुर्वेदिक पेटेण्ट औषधियां

सिद्ध चन्द्रोदय वटी

अनेक मूल्यवान एवं प्रभावी द्रव्यों को इसमें डाला जाता है। यह गोलियां भोजन को पचाकर रस रक्त आदि सप्त धातुओं को क्रमशः सुधारती हुई शुद्ध वीर्य का निर्माण करती है और शरीर में नवजीवन व नवस्फूर्ति भर देती हैं। वीर्यविकार के साथ होने वाली खांसी, जुकाम, सर्दी, कमर का दर्द, मंदाग्नि, स्मरणशक्ति का ह्रास आदि व्याधियां दूर होकर क्षुधा बढ़ती है तथा शरीर हृष्ट-पुष्ट व निरोग बनता है। इसके गुणों के कारण ही इसका दूसरे नाम 'पौरुषदाता वटी' तथा अनेक निराश, रोगियों को आरोग्य लाभ प्राप्त कराने से 'निराश बन्धु' भी हैं। ४० वर्ष की आयु के बाद मनुष्यों को अपने में एक प्रकार की शक्ति की कमी और शिथिलता का अनुभव होता है। सिद्ध चन्द्रोदय वटी इस शक्ति को पुनः उत्तेजित करती और मनुष्य को सबल, स्वस्थ, स्फूर्तियुक्त बनाये रखती है। मूल्य—४१ गोली १ शीशी ५.००, ४१ गोली की १२ शीशी ५८.००, २१ गोली एक शीशी २.६०, ५०० गोली ५७.०० ।

सेंक करने की पोटली

स्थानीय सिकाई करने की दवा—१ शीशी ४.०० ।

नव यौवन मलहम

जिन व्यक्तियों की हस्त मैथुन से इन्द्रियों में टेढ़ापन या पतलापन आदि विकृति आ गई है वे इस तिला का स्थानीय प्रयोग करें। मूल्य—१० ग्रा. की १ ट्यूब का ४.००

कासनाशी
(खांसी का शर्बत)

वांसापत्र, मधुयष्ठी, कंटकारी, पीपल, तुलसी आदि से निर्मित यह सभी प्रकार की खांसी की सर्वोत्तम दवा है। जब खांसते-खांसते मरीज परेशान हो जाता है, कफ नहीं निकलता इसकी पहली खुराक तुरन्त लाभ करती है। तर व सूखी दोनों खांसी में लाभ करती है।

पैकिंग—१ औंस (२५ मि०ली०) की शीशी १.१०
४ औंस (१०० मि०ली०) की शीशी २.५०
१६ औंस (४०० मि०ली० या १ पौंड) ६.५०

ज्वाला बाल घुट्टी

बाल रोग नाशक अनेक पौष्टिक आयुर्वेदिक औषधियों से यह ज्वाला बाल घुट्टी तैयार की गई है जो कि बच्चों को निरोग व बलवान बनाती है। यह छोटे बच्चों को कफ, खांसी, सर्दी-जुकाम, मुंह में छाले पड़ना, दूध न पचना, उल्टी, खट्टी, फटा हुआ दही के समान दूध की उल्टी होना, फटे बदबूदार हरे-पीले दस्तों का होना अथवा दस्त का न होना, अजीर्ण, कै, दस्त, मरोड़, पेट का फूलना, सुस्ती, हरारत रहना आदि बाल रोगों में अति लाभकारी है। इसके पिलाने से बच्चों की पाचन शक्ति बढ़ती है, भूख लगती है, दूध ठीक से हजम होता है, पेट साफ रहता है, दुर्बल बच्चों को तन्दुरुस्त और आनन्दी बनाती है तथा इससे दांत बिना तकलीफ के निकलते हैं। १४ मि. लि. की शीशी ०.६०, ५० मि. लि. की शीशी १.७०, ४०० मि. लि. ११.०० ।

शोषान्तक तेल

बच्चा सूखता जाता है उसके नितम्ब पर सिकुड़न पड़ जाती है, बच्चे को ज्वर रहा आता है, कभी दस्त, कभी कब्ज रहता है, बालक में हड्डी मात्र शेष रह जाती हैं। इस प्रकार के बच्चे को सम्पूर्ण शरीर पर धीरे-धीरे प्रतिदिन मालिश करें, आध घण्टे बाद स्नान करावें। बच्चे में स्फूर्ति बढ़ेगी, मांसपेशियां सुदृढ़ हो जायेंगी तथा हड्डियों में ताकत पहुंचेगी। यह तैल इसी अभिप्राय से निर्माण किया गया है। सूखा रोग से ग्रसित बच्चों को वरदान हैं।

मूल्य—५० मि. लि. की एक शीशी २.०० ।

नोट—सूखा रोग से ग्रसित बच्चों को 'शोषान्तक कैपसल' तथा ज्वाला बाल घुट्टी' भी इसके साथ-साथ विधि अनुसार सेवन करायें।

अर्शान्तक मलहम

खूनी तथा बादी दोनों प्रकार के अर्श में रोगी को

बड़ा कष्ट होता है। गुदा में जलन महसूस होती है। मलहम के साथ ही साथ हमने 'अर्शान्तक कैपसूलों' का भी निर्माण किया है। १-१ कैपसूल प्रातः दोपहर सायं शीतल जल के साथ निगलवावे तथा इस मलहम के प्रयोग से शीघ्र लाभ होता है। २५ ग्राम की शीशी ३.५० रु.।

उदरामृत पेय

थोड़ा सा खाना या कुछ भी चीज खाने पर पेट फूल जाता है, डकारें आती हैं, अधो वायु का सरण नहीं होता। ऐसे रोगी को इसका प्रयोग करावें। इसके सेवन से गैस का रोग शीघ्र ही दूर होता है। अजीर्ण, मंदाग्नि, आध्मान उदरशूल आदि रोग तुरन्त दूर हो जाते हैं। मू० १०० मि. लि. की शीशी २.५०, ४०० मि. लि. ६.५०।

नेत्रामृत अञ्जन

नित्य लगाने से धुन्ध और जाला कट जाता है, नेत्रों की ज्योति बढ़ जाती है, प्रारम्भिक मोतियाविन्दु ठीक हो जाता है, पुराने से पुराने रोहे ठीक हो जाते हैं आँखें साफ रहती हैं, नेत्रों में खुजली आना दूर होकर ज्योति बढ़ती है। अगर स्वस्थ व्यक्ति प्रयोग करें तो उनकी दृष्टि शक्ति क्षीण न होगी तथा उपरोक्त विकारों से बचे रहेंगे। मूल्य—५ ग्राम की शीशी १.७५, एक दर्जन २०.००।

नेत्रामृत-बिन्दु—दुखती आँखों के लिये शीघ्र प्रभावकारी दवा, १४ मि. लि. १ शीशी .२५।

नपुंसकत्वारि

यह प्रयोग 'धन्वन्तरि' के सैक्स रोगांक में प्रकाशित हुआ है। इसके विषय में लिखा था कि इसके सेवन से इन्द्रियों की कमजोरी, सुस्ती, क्लीवता, ढीलापन, पतलापन टेढ़ापन, रगों का फूलना, दम फूलना, स्तम्भन शक्ति की कमी शीघ्रपतन आदि विकार दूर होकर काम शक्ति बढ़ जाती है। २-२ रत्ती की ६० गोलियों का मू. २२.५० है।

यदि इसके साथ ही वसन्त कुसुमाकर रस का प्रयोग किया जाय तो अधिक शक्ति देता है और शीघ्र लाभ होता है वसन्तकुसुमाकर रस की एक माह के लिए १-१ रत्ती की ६० गोली का मूल्य ६०.०० है।

कामशक्ति केशरी

यह प्रयोग भी "सैक्स रोगांक" में उक्त प्रयोग के साथ ही प्रकाशित हुआ था तथा इसमें हीरा भस्म एवं स्वर्ण भस्म का मिश्रण है जिससे यह अपूर्व गुणकारी है १ माह के लिए ६० गोली ८२.५०।

मनोहर चूर्ण

स्वादिष्ट, शीतल, पाचक चूर्ण है। एक बार चख लेने पर शीशी समाप्त होने तक आप खाते ही रहेंगे। गुण और स्वाद दोनों में लाजवाब है। ४० ग्राम २.००

पायरो मंजन

इस मञ्जन के नित्य व्यवहार करने से दाँतों से खून तथा मवाद जाना, टीस मारना, पानी लगना दूर होते हैं पायरिया दूर होता है। मू० ४० ग्राम १.००।

खाजारि

गीली या सूखी कैसी भी खाज हो अक्सीर है। रात को लगाकर सो जायें तथा सुबह नहाने के बाद लगायें। साथ में रक्त शोधन कैपसूल प्रातः सायं पानी से लें। अवश्य लाभ होगा। मू० ५० मि. लि २.५०।

दाद की दवा

यह दाद की अक्सीर दवा है। दाद को साफ कर किसी स्वच्छ एवं मोटे वस्त्र से खुजाकर उस पर दवा लगायें। स्नान करने के बाद वस्त्र से अच्छी प्रकार से पौंछ लिया करें। साथ में रक्तशोधन कैपसूल दिन में ३ बार जल से निगलें। अवश्य ही दाद का नाश होगा। १५ ग्राम की शीशी १.००।

श्वेत कुष्ठ नाशक सैट

हजारों रोगियों पर परीक्षण के पश्चात् सफेद दागों को नष्ट करने वाली तीन दवाओं का १ सैट हमने प्रस्तुत किया है। इस रोग के दूर होने में समय अधिक लगेगा लेकिन सफेद दाग अवश्य ही नष्ट हो जायेंगे। आन्तरिक विकृति को दूर करती हुई स्थाई लाभ करने वाली बहु-मूल्य दवायें हैं। निःशङ्क होकर सेवन करें।

श्वेत कुष्ठ नाशक वटी—३२ गोली की एक शीशी ३.५०
श्वेत कुष्ठ नाशक घृत—२५ मि. लि. की १ शीशी ३.००
श्वेत कुष्ठ नाशक अवलेह—३५० ग्राम ५.००

उपरोक्त तीनों औषधियाँ (१५ दिन को पर्याप्त होंगी) के एक सैट का मूल्य १०), पोस्टादि व्यय पृथक।

वातोना मलहम

वायु के दर्द और सूजन के लिए आशुफलप्रद है। पक्षाघात गृध्रसी आमवात आदि किसी भी रोग के कारण दर्द और सूजन हो इसकी मालिश करने से बहुत शीघ्र लाभ होता है। वायु के रोगों में यह मलहम सब तैलों से अधिक लाभप्रद है। आमवात में जब रोगी पीड़ा और सूजन से घबड़ाता है तो इसकी मालिश करने से बहुत शीघ्र चैन पड़ जाता है। आमवात और गृध्रसी के रोगी को १ कैपसूल वातरोगहर का निगलवाकर ऊपर से रास्नामूल का क्वाथ पिलाना चाहिए। और इस मलहम की मालिश करके सिकाई करनी चाहिए। पसली या गले के दर्द में इसकी मालिश और सिकाई करके रुई बांध देने से बहुत शीघ्र लाभ होता है। व्यवहार करने से ही पता चलेगा कि इस विशुद्ध आयुर्वेदीय मलहम की बराबरी न कोई तैल ही कर सकता और न कोई ओइण्टमेंट।

पैकिंग व मूल्य—२८ ग्राम ट्यूब ३.७५।

चर्मरोगारि मलहम (ट्यूब पैकिंग में)

आकर्षक ट्यूब में भरी हुई सुपरीक्षित चर्मरोग नाशक मलहम जिसने व्यवहार किया उसी ने प्रसंशा की और पसन्द किया है। आधुनिक युग के अनुरूप सुन्दर पैकिंग में यह मलहम खाज- खुजली, फोड़ा, फुन्सी, घाव आदि चर्म रोगों में शीघ्र प्रभावकारी है। खाज गीली हो या सूखी शीघ्र नष्ट होती है। शरीर पर दाग धब्बे पड़ जाते हैं। खरोंच, कटने पर भी लगाने से लाभ होता है। घर में एक ट्यूब हर समय रखने योग्य दवा है।

मूल्य-२८ ग्रा. की ट्यूब सुन्दर कार्डवक्स में पैक २.५०।

स्त्री कल्याण सुधा

प्रदर की हर अवस्था में अत्यन्त उपयोगी है। प्रदर रक्त हो या श्वेत इसके सेवन से शीघ्र लाभ होता है। प्रदर को नष्ट करके मासिक धर्म को नियमित लाने के लिये विशेष गुणकारी है इसके सेवन से प्रदर के उपद्रव जैसे हाथ पैरों की ड़इकल, चक्कर आना, सिर में दर्द होना, शरीर गिरा-गिरा रहना भी ठीक हो जाते हैं। गर्भाशय शोथ के लिए भी अति उपयोगी। इसके साथ ल्यूकोना कैपसूल लेने से लाभ अति शीघ्र होगा।

पैकिंग व मूल्य—२०० मि.लि. ४.००, ४०० मि.लि. ७.५०

ज्वरहारी

ज्वर-जूड़ी, तिजारी, चौथैया तथा यकृत-प्लीहा वृद्धि के लिये अक्सीर प्रमाणित तथा सुपरीक्षित औषधि है। चिरायता, कुटकी, गिलोय, द्रोण-पुष्पी, करंज आदि। सुप्रसिद्ध ज्वरनाशक वनस्पतियों से निर्मित पेय। सुन्दर पैकिंग १०० मि.लि. की १ शीशी २.२५।

ब्राह्मी शर्बत

मस्तिष्क की निर्वलता और स्मरण शक्ति की कमी की शिकायत आजकल प्रायः की जाती है। अनेक विद्यार्थी शीघ्र ही अपने पाठ को याद नहीं कर पाते हैं या शीघ्र भूल जाते हैं परीक्षा के समय काफी प्रयत्न करने पर भी असफल हो जाते हैं। शर्बत ब्राह्मी से स्मरण शक्ति बढ़ती है मस्तिष्क में हर समय रहने वाली थकावट दूर हो जाती है। पित्तज विकारों को नष्ट करने के लिए उत्तम है। शिक्षकों, वकीलों विद्यार्थियों आदि दिमागी काम करने वालों को उत्तम है।

पैकिंग व मूल्य—२०० मिलि. ३.७५, ४०० मिलि. ७.००

कासनाशी टेबलेट

अनेक रोगियों पर भली प्रकार परीक्षा करने के बाद आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं तथा चिकित्सक समुदाय से आग्रह करते हैं कि इन टेबलेट्स को मंगाकर एक बार परीक्षा अवश्य करें १-२ टेबलेट मुंह में डालकर चूसने से सभी प्रकार की खाँसी में आराम मिलता है, कफ आसानी से निकल जाता है तथा बड़ा चैन मिलता है।

मूल्य ५० टेबलेट की एक शीशी का मूल्य ३.००

बर्न-कटर

जले-कटे की सुपरीक्षित सफल दवा। हर घर में एक ट्यूब अवश्य रखनी चाहिए। २५ ग्राम की ट्यूब २.००

पता—श्री ज्वाला आयुर्वेद भवन, अलीगढ़।

शास्त्रीय प्रमाणिक औषधियां

कूपीपक्व रसायन

	१० ग्राम	३ ग्राम
सिद्ध मकरध्वज नं० १	६०.००	१८.५०
,, ,, नं० २	५०.००	१५.५०
अनुपान मकरध्वज	४.७०	१५.००
सिद्ध चन्द्रोदय (स्वर्ण भस्म युक्त)	९०.००	२७.००
मल्ल चन्द्रोदय	६०.००	१८.५०
रस सिन्दूर	१५.००	४.७०
मल्ल सिन्दूर	१५.००	४.७०
स्वर्ण बंग भस्म	८.००	२.५०
रस माणिक्य	१०.००	३.२०
ताल सिंदूर	१५.००	४.७०
ताम्र सिंदूर	१५.००	४.७०
समीरपन्नग रस	१७.००	५.००

भस्म

	५० ग्राम	१० ग्राम	३ ग्राम
अभ्रक भस्म (शतपुटी)	४५.०	६.२५	३.००
कच्छप पृष्ठ भस्म	७.५०	२.००	×
कपर्द भस्म	७.००	१.००	×
गोदन्ती हरताल भस्म (श्वेत)	४.५०	१.००	×
तबकी हरताल भस्म (श्वेत)	५५.००	११.५०	४.००
ताम्र भस्म	३२.५०	७.००	२.१५
नाग भस्म	१७.००	३.५०	१.२०
प्रवाल भस्म नं० १	३०.००	६.५०	२.००
,, ,, २	१७.५०	३.५०	१.२५
प्रवाल भस्म चन्द्रपुटी	१४.००	३.००	१.००
बंग भस्म (श्वेत)	२४.००	५.००	१.६०
मृगश्रृङ्ग भस्म	७.००	१.५०	×
मल्ल भस्म (श्वेत)	५०.००	१०.२५	३.५०
माण्डूर भस्म	४.५०	१.००	×
मुक्ता भस्म	×	२००.००	६०.००
यशद भस्म	७.५०	१.७५	×
लौह भस्म नं० १	६०.००	१२.५०	४.००
,, ,, २	१५.००	३.२५	१.००
स्वर्ण माक्षिक भस्म	१८.००	३.७५	२.२०
संग जराहत भस्म	४.५०	१.००	×
शंख भस्म	४.५०	१.००	×
शुक्ति (मुक्ताशुक्ति भस्म)	५.७५	१.३०	×
त्रिवंग भस्म	३०.००	६.२५	२.००

पिष्टी

	५० ग्राम	१० ग्राम	३ ग्राम
अकीक पिष्टी	१२.००	२.५०	१.००
प्रवाल पिष्टी	१४.००	३.००	१.००
मुक्तापिष्टी नं० १	×	१९०.००	५७.००
मुक्ताशुक्ति पिष्टी	४.५०	१.१०	×
जहरमोहरा पिष्टी	१२.१०	२.००	०.८५
वैक्रांत पिष्टी	३०.००	६.१०	२.००
माणिक्य पिष्टी	४०.००	८.२५	२.६०

पर्पटी

	५० ग्राम	१० ग्राम	३ ग्राम
रस पर्पटी	४३.००	९.००	२.८०
श्वेत पर्पटी	३.५०	१.००	×
पंचामृत पर्पटी	४३.००	९.००	२.८०
लौह पर्पटी	४३.००	९.००	२.८०
ताम्र पर्पटी	४८.००	१०.००	३.१०

रस-रसायन गुटिका

	१० ग्राम	१ ग्राम
कुमार कल्याण रस	१५०.००	१५.२५
जयमंगल रस	१००.००	१०.२५
प्रवाल पंचामृत रस	४०.००	४.२५
वसन्त कुमाकर रस	८०.००	८.२५
वृ. वात चिन्तामणि रस	१५०.००	१५.२५
योगेन्द्र रस	१५०.००	१५.२५
रासराज रस	८०.००	८.२५
स्वर्ण बसन्त मालती	१००.००	१०.२५
श्वास कास चिन्तामणि रस	५५.००	५.७५

	५० ग्राम	१० ग्राम
अग्नितुण्डी वटी	५.००	१.१०
अग्नि कुमार रस	५.५०	१.२०
आरोग्य वर्द्धिनी वटी	८.००	१.७०
आनन्द भैरव रस	८.००	१.८०
इच्छा-भेदी रस	८.५०	१.८०

	५० ग्राम	१० ग्राम
उपदंश कुठार रस	४.५०	१.००
कफकेतु रस	५.५०	१.२०
कामदुधा रस	१३.००	२.७०
कृमि कुठार रस	१२.००	२.५०
कीट मर्द रस	४.५०	१.००
गंधक रसायन	६.५०	२.००
गंधक वटी	५.५०	१.३०
गर्भपाल रस	१२.५०	२.७०
घोड़ाचोली (अश्वकंचुकी) रस	७.००	१.५०
चन्द्रमृत रस	७.००	१.५०
चन्द्रप्रभा वटी	८.००	१.७०
ज्वरांकुश रस (महा)	७.००	१.५०
नवायस लोह	८.००	१७०
नागार्जुनाभ्र रस	४५.००	६.२५
प्रतापलंकेश्वर रस	१०.००	२.१०
प्रदरांतक लौह	१०.००	२.१०
पीपल ६४ पहरी	२०.००	४.२०
पुनर्नवादि मण्डूर	५.५०	१.२०
वृ० वात गजांकुश रस	१०.५०	२.२०
विषमुष्टिका वटी	५.००	१.१०
महामृत्युञ्जय रस	१४.००	३.००
महा गंधक रस	२५.००	५.१०
मालती बसन्त (लघु)	१५.००	३.१०
रस पीपरी	२७.५०	५.६०
रामवाण रस	१०.००	२.१०
लशुनादि वटी	५.५०	१.२०
लक्ष्मी विलास रस (नारदीय)	१७.५०	३.८०
सोमनाथ रस	१२.००	२.५०
शंख वटी	७.००	१५०
श्वास कुठार रस	८.००	१.७०
शूलगज केशरी	१५.००	३.१०
संजीवनी वटी	४.५०	१.००
सूमशेखर रस	२०.००	४.२०
हृदयार्णव रस	१६.००	३.३०
त्रिभुवन कीर्ति रस	७.००	१.५०

गूगल

	१०० ग्राम	५० ग्राम	१० ग्राम
किशोर गूगल	८.००	४.१०	१.००
योगराज गूगल	८.००	४.२०	१.००
वृ० योगराज गूगल	२४.००	१२.१०	२.५०
सिंहनाद गूगल	८.००	४.१०	१.००

शोधित द्रव्य

	५० ग्राम	१० ग्राम
शुद्ध गन्धक (आमलासार)	३.००	०.७०
कज्जली नं. १ (सम गन्धक पारद)	२५.००	५.१०
ताल (हरताल) शुद्ध	१५.००	३.१०
शिला (मंसिल) शुद्ध	८.००	१.७०
वच्छनाग शुद्ध १ किलो ६०.००	३.५०	×
विषवीज (कुचला) शुद्ध	५.००	१.१०
हिंगुल (हंसपदी) शुद्ध	२५.००	५.२५
पारद (हिंगुलोत्थ) शुद्ध (डमरू यन्त्र से निकाल)	३०.००	६.२५

	१ किलो	१०० ग्राम
गिलोय सत्व असली	४०.००	५.००
यवक्षार असली	३५.००	४.००
रुदन्ती फल	४०.००	४.५०
रुदन्ती फल चूर्ण	४५.००	५.००
रुदन्ती टेबलेट	५०.००	५.५०

चूर्ण

	१ किलो	५० ग्राम
हिंग्वाष्टक चूर्ण	४०.००	२.१५
लवण भास्कर चूर्ण	२५.००	१.५०
सितोपलादि चूर्ण	५०.००	२.७०
त्रिफला चूर्ण	१४.००	१.००

तैल

	४०० मिली.	१०० मिली.	५० मिली.
महानारायण तैल	२०.००	५.२०	२.७०
लाक्षादि तैल	२०.००	५.२०	२.७०
विषगर्भ तैल	२०.००	५.२०	२.७०
महामरिच्यादि तैल	२०.००	५.२०	२७०

च्यवनप्राशावलेह—अत्युत्तम द्रव्यों से शास्त्रीय विधानानुसार निर्मित च्यवनप्राश अवलेह एक बार हमारे यहां से मंगा कर देखें। मू०—१ किलो २१), ४५० ग्राम की शीशी ११), २५० ग्रा. ६), १२५ ग्रा. ३) २५

पुस्तक	मूल्य
पदार्थ-विनिन्वय—द. अ. कुलकर्णी	२.००
पुरुष रोग चिकित्सा—डा० ए० के० सिंह	२.००
वस्तिशलाका प्रवेश—डा० राजकुमार द्विवेदी	१.००
कुचमार तन्त्र—रामप्रसाद आचार्य	१.२५
प्रयोग पुष्पावली—	१.२५
निमोनियां प्रकाश —देवकरण	०.५०
बालरोग चिकित्सा —महावीर प्रसाद	१.००
रक्त—वैद्यराज राधावल्लभ	०.२५
कठिन रोगों की सफल चिकित्सा-श्री वेदव्रत शास्त्री	०.५०
सन्यासी चिकित्सा शास्त्र—अमोलचन्द	८.२५
डाक्टर लहसुन १.२५, डाक्टर प्याज	१.२५
कब्ज चिकित्सा—एम. ए. नार्वी	१.७५
उन्माद चिकित्सा— एस. पी. मेहता	१.००
काया कल्प ,,	५.००
दांतों का डाक्टर या वैद्य—कालीचरन गुप्ता	२.५०
स्त्री रोग चिकित्सा—ऋषिकुमार शर्मा	१.५०
नपुंसक चिकित्सा—गणपति सिंह वर्मा	५.००
कैन्सर रसूली चिकित्सा—ए. पी. गौड़	५.००
उदररोग चिकित्सा—,, ,,	३.००
खांसी चिकित्सा—ए. पी. मेहता	१.२५
गर्भवती के रोगों की चिकित्सा—आशा अग्रवाल	३.००
घाव चिकित्सा—एम. ए. नार्वी	२.००
प्रदर रोग चिकित्सा—एम. ए. नार्वी	२.००
बांझपन चिकित्सा—एस. पी. मेहता	३.००
बाल (केश) रोग चिकित्सा—,, ,,	३.००
राजयक्ष्मा चिकित्सा — ,, ,,	३.००
आम और उसके १०० उपयोग—	०.५०

श्री चन्द्रशेखर शास्त्री द्वारा लिखित उपयोगी पुस्तकें

पुस्तक	मूल्य
तत्काल फलप्रद प्रयोग प्रथम भाग	३.५०
,, ,, द्वितीय	३.५०
,, ,, तृतीय	३.५०
,, ,, चतुर्थ	३.२५
,, ,, पंचम	५.५०
सौ रोगों का सरल इलाज	२.५०
धर्मार्थ औषधियों के प्रयोग	१.७५
,, ,, द्वितीय भाग	२.५०
धर्मार्थ औषधियों के चिकित्सानुभव प्रथम भाग	१.७५
,, ,, द्वितीय भाग	२.५०
चिकित्सा चन्द्रशेखर	६.२५
उपदंश सुजाक चिकित्सा	१.५०
तिलिस्मी औषधि भण्डार (गुप्त योग)	२.५०
कुमारी विज्ञान	०.७५
सूखा रोग विज्ञान	२.५०
अनुभव भण्डार	२.५०
तीन खजाने	१.२५
कुकर कास विज्ञान	२.५०
आहार और पथ्य विज्ञान	१.२५
अनुभव हजारा (चार सौ रोगों पर हजार अनुभव)	७.००
पाक भण्डार (प्रथम खण्ड)	२.००
पाक भण्डार (द्वितीय खण्ड स्वादिष्ट व्यंजन सहित)	३.५०
नारू रोग विज्ञान	२.५०
आधुनिक-सल्फा-ड्रग विज्ञान	२.५०
सरल औषधि विज्ञान (हिन्दी में डाक्टरी)	३.००
फार्मेसी कम्पनी भवन कार्यालयों के गुप्त प्रयोग (प्र.)	४.५०
,, ,, ,, (द्वितीय)	४.५०
आठ औषधियों से दवाखाना चलाना	०.७५

परीक्षा गाइडें

पुस्तक	मूल्य
अशोक उपवैद्य गाइड—शिवकुमार व्यास	१०.००
अनुपम ,, —बंसरीलाल साहनी	१२.००
वैद्य विशारद गाइड प्र. खण्ड-ज्ञानेन्द्र पाण्डेय	१०.००
,, ,, —शिवकुमार व्यास	८.००
,, ,, —बंसरीलाल साहनी	१२.००
वैद्य विशारद गाइड द्वि. खण्ड-ज्ञानेन्द्र पाण्डेय	१२.००
,, ,, —शिवकुमार व्यास	१५.००
वैद्य विशारद गाइड द्वि. ख. बंसरीलाल साहनी	१५.००
आयुर्वेदरत्न गाइड प्र. ख. शिवकुमार व्यास	२०.००
,, ,, श्रीनिवास व्यास	२०.००
,, ,, —भूदेव शर्मा व्यास	२२.५०
आयुर्वेदरत्न गाइड द्वि. खण्ड—शिवकुमार व्यास	२०.००
,, ,, —श्रीनिवास व्यास	२०.००
,, ,, —भूदेव शर्मा व्यास	२०.००

पता—श्री ज्वाला आयुर्वेद भवन, अलीगढ़।

एलोपैथी की हिन्दी में पुस्तकें

लेखक—डा० सुरेश प्रसाद शर्मा

इंजेक्शन (सोलहवाँ संस्करण) १६.००
एलोपैथिक चिकित्सा (चोदहवाँ संस्करण) २०.००
एलोपैथिक पाकेट गाइड (तेरहवाँ संस्करण) ६.००
मिक्चर (वारहवाँ सं०) ४.००

लेखक डा० शिवदयाल गुप्त ए० एम० एस०

एलोपैथिक मेटेरिया मैडिका (सप्तम सं०) २०.००
सचित्र नेत्र रोग विज्ञान (चतुर्थ सं०) ६.००
एलोपैथिक सफल औषधियाँ (पाँचवाँ सं०) ५.००
धात्री विज्ञान (तृतीय सं०) ३.५०
मलमूत्र रक्तादि परीक्षा (छटवाँ सं०) ४.००

लेखक—डा० अयोध्या नाथ पाण्डेय

एलोपैथिक पेटेण्ट मेडिसिन्स (चोदहवाँ सं०) १०.००
एलोपैथिक पेटेण्ट चिकित्सा (तेरहवाँ सं०) ४.५०
ज्वर चिकित्सा (षष्ठम सं०) ३.००

लेखक—डा०केशवानन्द नौटियाल ए० एम० एस०

मार्डन डायग्नोसिस (पाँचवाँ सं०) १६.००
मार्डन सिलेक्टेड मेडिसिन्स (प्रथम सं०) ६.५०
स्टेथिस्कोप परीक्षा (चतुर्थ सं०) ३.००
ब्लड प्रेशर (द्वितीय सं०) ३.००, डायवटीज २.००
मार्डन ट्रीटमेन्ट प्रथम खण्ड १५.००, द्वितीय खण्ड १५.००

लेखक—डा० प्रियकुमार चौबे B. A. M. S.

चर्मरोग चिकित्सा (चतुर्थ सं०) ३.५०
विटामिन्स (चतुर्थ सं०) ३.००
संतति निरोध (द्वितीय सं०) ६.००
मासिक विकार (चतुर्थ सं०) १.२५
संकटकालीन प्राथमिक चिकित्सा (द्वतीय सं०) ६.००
जनेन्द्रिय रोग चिकित्सा (तृतीय सं०) २.७५
नासा, गला एवं कर्ण रोग चिकित्सा (चौ. सं०) ६.००
सल्फोनामायड और एण्डीवायोटिक्स (द्वितीय सं०) २.५०
मार्डन एक्सरे डायग्नोसिस २०.००
मानसिक एवं तांत्रिक रोग चिकित्सा २५.००
मार्डन इंजेक्शन गाइड २२.००

लेखक—डा० शिवनाथ खन्ना

एलो. मटेरिया मेडिका ३०.००
रोग निवारण ३६.००
रोग परिचय ३५.००
रोगी परीक्षा १५.००
एलो. पाकेट प्रेस्काइवर ८.००
सचित्र इन्जेक्शन १५.००
क्लीनीकल पेथाजौली २५.००
चर्मरोग विज्ञान ४.००
समाज चिकित्सा शास्त्र एवं स्वस्थ्य व्रत ३५.००
एलोपैथिक की पेटेन्ट औषधियां २०.००

लेखक—हरनारायण कोकचा

एलो. पेटेन्ट चिकित्सा नवनीत चार्ट २४.७५
अप्टूडेट एलो. टेवलेट गाइड १५.७५
एलो. पेटेन्ट मेडीसिन नवनीत चार्ट १५.७५
एलो. इन्जेक्शन चिकित्सा नवनीत चार्ट १५.७५
अनुभव के मोती १२.७५
सरल चिकित्सा नवनीत चार्ट ८.७५
निदान नवनीत चार्ट १५.७५
स्त्री रोग चिकित्सा नवनीत चार्ट १०.७६
आधुनिक एलो. गाइड ३०.००
काम विज्ञान विश्वकोष १६.७५

लेखक—डा० रामलखन यादव

मैडीसिन ६.००
रोगी परीक्षा एवं निदान ८.००
रोगी-परीक्षा निदान एवं चिकित्सा १८.००
इन्जेक्शन एवं चिकित्सानुभव ६.००
आदर्श एलोपैथिक मेटेरिया मेडिका ८.००
वाल रोग विमर्श ४.००, हमारे प्रेस्क्रिप्सन २.००
हार्मोन एवं स्त्री रोग चिकित्सा २.००
विटामिन चिकित्सा ३.००
त्वचा के रोग ३.००, मधुमेह ४.००
सल्फा एव एण्टीवायोटिक्स ३.००
आधुनिक चिकित्सा १०.००
दिल के दौरे से वचाव ३.००
स्त्री रोग विज्ञान ७.००
एलोपैथिक पेटेन्ट औषधियां व चिकित्सा १५.००

पता—श्री ज्वाला आयुर्वेद भवन, अलीगढ़।

काम विज्ञान की प्रामाणिक पुस्तकें

काम कुन्जलता (मूलमात्र)	३५.००
कामसूत्र—जय मालाटीका २ भाग	६०.००
यौवन के गुप्त रहस्य	६.००
आधुनिक यौन विज्ञान	४.००
कामकला (पुरुषों के लिये)	३.००
,, (स्त्रियों के लिये)	३.००
विवाह विशेषांक	७.००
यौन प्रेम	२.००
यौन व्यायाम और आसन अङ्क	७.००
कुचिमार तंत्र	१.२५
युवतियों के यौन रोग	२.००
काम शक्ति कैसे वढ़े	३.००
रतिरहस्य	४.००
गुप्त रोगों का इलाज	३.००
यौन रोगों का प्राकृतिक इलाज	३.००
गर्भपात अङ्क	७.००
जच्चा बच्चा अङ्क	२.००
नपुंसकता	२.००
किशोर अङ्क	०.७५
यौन समागम कला एवं टैक्निक	४,००
यौन दुर्वलया और उसका इलाज	४.००
हस्तमैथुन और स्वप्न दोष	४.००
सम्भोग क्यों-कब-कैसे	५.००
यौन समस्या और समाधान अङ्क	७.००
यौवन विज्ञान पर नया प्रकाश (लक्ष्मी नारायण)	४.००

केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय की पुस्तकें हमसे मंगावें

शल्य विज्ञान की पाठ्य पुस्तक प्रथम खण्ड	१२.००
,, ,, द्वितीय खण्ड	११.७५
वृहत पारिभाषिक शब्द संग्रह	२५.००
माताओं और शिशुओं के रोग	५.००
नेत्र रोग परिचय	५.००
अपना हृदय सवल बनाइये	५.००

प्राकृतिक चिकित्सा की पुस्तकें

फलों के चमत्कार (नवीन सं०) गणपतिसिंह वर्मा	१०.००
योगासन—आत्मनन्द	४.००
उपवास चिकित्सा—के० ले० वर्नर मेक-फेडन	४.००
जीने का मर्म—डा० कान्ती कुमार	३.००
सुगठित शरीर—डा० चतुर्भुजदास मोदी	८.००
जल चिकित्सा—फादर क्लाइप	४.००
उठो—स्वामी कृष्णानन्द	२.००
जीने की कला—विठ्ठलदास मोदी	४.००
बढ़ो—डा० कान्ती कुमार	३.००
वच्चों का स्वास्थ्य व उनके रोग—विठ्ठलदास मोदी	५.००
आहार चिकित्सा	४.००
कच्चा खाने की कला	२.००
आदर्श आहार—डा० सतीशचन्द्र दास	४.००
अपक्व भोजन	१०.००
रोगी की सरल चिकित्सा—विठ्ठलदास मोदी	१०.००
कब्ज का अचूक इलाज—खुशीराम दिलकश	३.७५
प्राकृतिक जीवन की ओर	७.००
दुग्ध कल्प	२.००
सर्दी जुकाम खांसी	२.००
रोगों की नई चिकित्सा	७.००
सूर्य रश्मि चिकित्सा—वैद्य वांकेलाल	.७५
देहाती प्राकृतिक चिकित्सा—अमोलचन्द	८.२५
अपना कद कैसे वढ़ायें—राजेश दीक्षित	७.५०
फल गुणांक (धन्वन्तरि अङ्क)	२.५०
आपरेशन अथवा चीड़ फाड़ के दुष्परिणाम	०.७५
प्राकृतिक चिकित्सा वच्चों का पालन	१.५०
मलेरिया मोतीझरा का सरल इलाज	१.२५
प्रेत योनि—लक्ष्मी नारायण अलोकिक	३.००
सरल स्वास्थ्य योगासन—स्वामी सत्यानन्द	४.००
मोटापा कम करने के उपाय—प्रभुदत्त ब्रह्मचारी	२.६०
किशोर रक्षा और ब्रह्मचर्य	१.६०
स्वमूत्र चिकित्सा—राजेश दीक्षित	४.५०
तन्दुरुस्ती और वीमारी में हमारा भोजन-डा. दिलकश	६.००
सूर्य किरण चिकित्सा—राजेश दीक्षित	३.००
रंगीन रश्मि चिकित्सा—डा० खुशीराम दिलकश	१.५०
मोटापा कम कैसे करें—राजेश दीक्षित	४.५०
वैद्यराज आंवला खुशीराम दिलकश	०.६०
,, नीबू ,,	०.८०
,, मधु ,,	०.८०
,, मिट्टी ,,	१.५०
,, प्याज ,,	०.८०
,, लहसुन ,,	०.८०
मठ्ठा और उसके चमत्कार ,,	०.८०
दूध का चमत्कार ,,	१.५०
स्वास्थ्य के लिए कच्चा खाइये ,,	०.६०
उपवास चिकित्सा ,,	[illegible]

चिकित्सोपयोगी नवीन उपकरण

एक सफल चिकित्सक के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह रोगी का सही निदान करे तथा उसकी चिकित्सा में औषधि प्रयोग के साथ-साथ आधुनिकतम यन्त्र शस्त्रों का प्रयोग आवश्यकतानुसार करे। इन आधुनिक यन्त्र शस्त्रों के प्रयोग से आपको अपनी चिकित्सा में तो सफलता मिलती ही है साथ ही रोगी पर भी आपके प्रति बहुत अनुकूल प्रभाव पड़ता है। हमने अपने स्टोर्स में नवीन-नवीन यन्त्र शस्त्रों का विक्रियार्थं विशाल संग्रह किया है। चिकित्सकों को चाहिये कि वे आवश्यकतानुसार इन वस्तुओं को मंगाकर सफलता एवं यश प्राप्त करें।

डाइग्नोस्टिक सैट—इस सैट द्वारा नाक, कान, तथा गले को अन्दर से देखते हैं। इसमें एक टार्च होती है। उस टार्च के ऊपर कान देखने का आला, नासिका प्रेक्षण यन्त्र तथा गला व जवान देखने की जीवी तीनों में से कोई सा एक फिट हो जाता है। इसमें प्रकाश की व्यवस्था है। बिना सैल पूरे सैट का मूल्य ६८.०० ।

चिपकने वाली पट्टी (Adbesive plaster)—पीठ, पेट, छाती या किसी अन्य ऐसे स्थान पर घाव हो जहां पर पट्टी बांधने में असुविधा हो तो आप इसका प्रयोग करें। मूल्य १ इन्च चौड़ी ५.८०, २ इन्च चौड़ी ८.२५ ।

आमाशय प्रक्षालिनी नलिका (Stomach wash-tube)—विष के खा लेने पर तुरन्त ही आमाशय प्रक्षालन की आवश्यक्ता होती है जो कि इसी नलिका की सहायता से किया जाता है। मूल्य १४.०० ।

नमक का पानी चढ़ाने का यन्त्र (Saline Appara-tube)—हैजा में नमक का पानी चढ़ाना चिकित्सक के लिये अत्यन्त आवश्यक है जो इसी यन्त्र की सहायता से चढ़ाया जाता है। मूल्य १४.५० ।

आँख धोने का गिलास—किसी वस्तु का कण या उड़ता हुआ कोई छोटा कीड़ा आंख में पड़ जाने पर इस गलास में जल भरकर आंख में लगा देने पर आसानी से निकल जाता है। मूल्य १.५० ।

शर्करामापक यन्त्र इससे मूत्र में जाने वाली शर्करा की प्रतिशत मात्रा ज्ञात होगी। मूल्ल १०.०० ।

रक्तचापमापक यन्त्र—अनेक रोगों में रोगी का रक्त-चाप जानना आवश्यक है। मू० डायल टाइप १४५.०० ।

आई शेड (Eye Shade)—एक आँख पर बांधने वाले का मू० १.००, दोनों पर बांधने वाले का १.२५ ।

मोतीझला देखने का शीशा—मोतीझला (Typhoid) के दाने बहुत सूक्ष्म होने के कारण देखने में नहीं आते इसलिए निदान करने में बड़ी भूल हो जाती है। इस शीशे के द्वारा वे दाने बड़े-बड़े दीख पड़ते हैं तथा आसानी से पहचाने जा सकते हैं। मूल्य प्लास्टिक का हैंडिल छोटा शीशा ३.५०, बड़ा ५.५०, धातु का हैंडिल सर्वोत्तम ७.५०, बड़ा साइज ९.५० ।

स्टेथिस्कोप

भारतीय सर्वोत्तम ३०.००, उत्तम १७.५०, साधारण १२.५०, एक चैस्ट पीस वाला जापानी बढ़िया सर्वोत्तम ६२.५० ।

स्टैथिस्कोप रखने का थैला—सम्पूर्ण चमड़े का दो जेब वाला मू० १२.५० । जिप (जंजीर) या बटन लगाकर एक जेब का साधारण मू० ७.५० ।

मलहम मिलाने की छुरी—स्पेचुला (Spetula) लकड़ी का हैंडिल मू० ३.००, धातु का हैंडिल ४.०० ।

मलहम मिलाने की प्लेट—(चीनी की) ६"×६" ४.५०, ८"×८" ७.५० ।

डायफ्राम (डच) पैसरी बढ़िया ९.५० ।

(किडनी ट्रे (Kidney tray)—कान धोने के समय कान के नीचे लगाने के लिये ८ इन्ची ६.००, १० इन्ची ७.५०, ८ इन्ची नाइलौन (न टूटने वाली सुन्दर) ७.५० ।

सस्पेन्सरी बेन्डेज—यह बढ़े हुये अण्डकोषों को समालने के काम आती है। मू० केवल ५.०० ।

हीमोग्लोबिन स्केल बुक (Haemoglobin Scale book)—बिना किसी यन्त्र की सहायता के हीमोग्लोबिन की प्रतिशत मात्रा ज्ञात करें। मू० ५.५० ।

पता—दाऊ मैडीकल स्टोर्स, मामू भांजा रोड, अलीगढ़।

*

पैन टार्च--यह जेब में पैन की तरह लगाई जाती है। इसमें बहुत पतले दो सैल पड़ते हैं। चिकित्सकों के लिये गले, नाक आदि की परीक्षा करने के लिये अत्यन्त उपयोगी है। मू० दो सैल सहित केवल १५.००

थर्मामीटर (तापमापक यन्त्र)—४.५०

थर्मामीटर केश-धातु के निकल किये विलप सहित ३.०० । थर्मामीटर केश—प्लास्टिक का २.०० ।

आटोमाइजर--गले में या नाक कान में अन्दर तक कोई दवा पहुंचानी हैं तो यह दवा इस यन्त्र में भरकर पहुँचायी जाती है । मू० ११.०० ।

धमनी संदश (Artery Forceps) शल्यकर्म करते समय रक्तस्राव करती हुई धमनी को इससे पकड़कर रक्तस्राव रोका जाता है। मू० ५ इंची ६.५०, ६ इंची ८.००, स्टेनलेस स्टील की ५ इंची ९.५०, ६ इंची ११.०० ।

सूचिका संदश (Needle Holder)—शल्यकर्म में मांस तन्तु आदि त्वचा को सीते समय सुई को इसीसे पकड़ा जाता है। इसके विना सीवन कर्म सम्भव नहीं। स्टेनलैसस्टील का मू० १५.५०

धागा सीवन कर्म को–नाइलोन का १ पैकिट २.५०, रेशमी १ गुच्छा २.५० सफेद या काली १ रील १०.५० कैटगट—मांसपेशियों के सीवन कर्म को ७.५० ।

सूचिका (Needle) सीवन कर्म के लिये—६ सुई का पैकिट ११.५० ।

शीशे पर लिखने की पैंसिल—मू० केवल १.२५

मसूड़े चीरने का चाकू–सीधा २.५०, फोल्डिंग ४.७५, स्टेनलैसस्टील का सीधा ४.२५, स्टेनलैसस्टील का फोल्डिंग ६.०० ।

इन्जेक्शन सिरिंज (कम्पलीट)—सम्पूर्ण कांच की २ Ml. की ४.००, ५ Ml. की ६.००, १० Ml. की ९.००, २० Ml. की १४.५०, ३० Ml २०.००, ५० Ml. की ३२.०० ।

रेकार्ड सिरिंज—२ Ml की ११.००, ५ Ml. १५.००, १० Ml. की १८.०० ।

ल्यूरलाक भारतीय—२ Ml. ६.०० ५ Ml. ८.५० १० Ml. १०.५०, २० Ml. २२.५०, ३० Ml. ३०.०० ५० Ml. ४०.०० ।

नाइलोन की सिरिंज—२ Ml. ४.००, ५ Ml ६.००, १० Ml. ८.५० ।

इन्जेक्शन की सुई (नीडिल)—१ दर्जन १०.५० बढ़िया १८.०० ।

सिरिंज केश धातु के–सिरिंज सुरक्षित रखने के लिए १ केश २ Ml. की सिरिंज के लिए ४.००, ५ Ml. की सिरिंज के लिए ५.५०, १०. Ml. की सिरिंज के लिए ८.००. २० Ml. की सिरिंज के लिये १७.५०, ३० या ५० Ml. की सिरिंज के लिये २८.००

सिरिंज केश प्लास्टिक—२ Ml., ५ Ml. तथा १० Ml. की सिरिंज तथा नीडिल एक साथ रखी जा सकती हैं। ७.५० ।

परवाल उखाड़ने की चीमटी (Cila Forceps)—मू० ३.००, स्टेनलेस स्टील की ७.५० ।

एनिमा सिरिंज (वस्ति यन्त्र)—इस यन्त्र से जल या औषधि द्रव्य गुदा में आसानी से चढ़ाया जा सकता। मू० रबड़ का भारतीय उत्तम ६.५० ।

दवा नापने का गिलास (Measuring Glass)–मू० २ ड्राम का १.७५, १ औंस (२५ ml.) का २.००, २ औंस (५० ml. का २.२५, ४ औंस (१०० ml.) का ३.०० ।

घाव में डालने की सलाई (Probe)—घाव में गहराई, उसकी दिशा जानने तथा किसी नाड़ी व्रण में अन्दर गौज भरने के लिये। मू० १.०० ।

गला व जबान देखने की जीभी (Tongue Depressure)—मू० साधारण सीधी २.००, फोल्डिंग ५.७५ स्टेनलेस स्टील की सीधी ५.५० ।

गरम पानी की थैली--उदरशूल, फोड़ा, शोथ या अन्य आवश्यक स्थानों पर इस थैली में गरम पानी भर कर सुगमता से सिकाई की जा सकती है। मू० ११.५०

बरफ की थैली—तेज बुखार, प्रलापावस्था, शिर की पीड़ा एवं अन्य रोगों में चिकित्सक सिर पर बरफ रखवाते है। इस थैली में बरफ भरकर रखने से सुविधा रहती है, रोगी को इससे ठण्डक पहुँचती है किन्तु उससे यह भीगता नहीं। मू० ७.५० ।

कान धोने की पिचकारी—धातु की एक औंस (२५ ml. १४.५०, २ औंस (५० ml.) की १७.५०, ४ औंस (१०० ml.) की २०.०० ।

आपरेशन करने का चाकू इसमें हैंडिल प्रथक होता है तथा काटने वाला ब्लेड प्रथक होता है जो कि खराब

होने पर बदला जा सकता है। म. ६ ब्लेड सहित १०.०० स्टेनलैस स्टील का ६ ब्लेड सहित १२.७५ ।

चिरचूरी—इसका फलक पतला तथा तिरछा होता है, इसके द्वारा भेदन किया जाता है। सीधी का मूल्य २.५०, फोल्डिंग ४.७५, स्टेनलैस स्टील की सीधी ४.२५, स्टेनलैस स्टील की फोल्डिंग ९.००

चीमटी—४ इञ्ची १.२५, ५ इञ्ची १.५० । स्टेनलैस-स्टील की ४ इंची ४.२५, ५ इंची ५.०० । दांतों में दवा लगाने की चीमटी ४.००, स्टील की ७.५० ।

चाकू—सीधा २.५० फोल्डिंग ४ ७५. स्टेनलैसस्टील का सीधा ४.२५, स्टेनलैसस्टील का फोल्डिंग ९.०० ।

दांत उखाड़ने का जमूड़ा—इससे दाँत मजबूती से पकड़कर उखाड़ा जा सकता है। मू० ११.५०, स्टेनलैस-स्टील का २८.०० ।

दांत उखाड़ने के जमूड़ों का सैट—इसमें ७ प्रकार के जमूड़े, दन्त उन्नामक यन्त्र, मसूढ़े चीरने का चाकू आदि आवश्यक उपकरण एक बहुत सुन्दर कपड़े से मढ़े डिब्बे में हैं। मू० १२५.०० ।

आंख में दवा डालने की पिचकारी—१ दर्जन १.०० ।

कान में से दाना निकालने का यन्त्र—यह यन्त्र दाने आदि को सुगमता से खींचकर लाता है। मू. ३.५० ।

ग्लिसरीन की पिचकारी (प्लास्टिक)—गुदा में ग्लेसरीन के चढ़ाने के लिये प्लास्टिक की उत्तम क्वालिटी की पिचकारी का मू० १ औंस (२५ एम. एल.) ३.००, २ औंस (५० एम. एल.) ४.५०, ४ औंस (१०० एम.एल) की ६.७५ ।

तीन मार्ग वाला यन्त्र (Three way Canula)—किसी रोगी के द्रव पदार्थ अधिक मात्रा में चढ़ाना हो तथा आपके पास सिरिंज छोटी है तो आप इसका प्रयोग करें अथवा जो चिकित्सक बड़ी सिरिंज द्वारा ठीक प्रकार इन्जेक्शन नहीं लगा पाते वे इसका प्रयोग करें। मू० १२.५०

कान देखने का आला—इस यन्त्र (आले) से कान के अन्दर का दृश्य स्पष्ट दीख पड़ता है। कपड़े से मढ़े एक सुन्दर मजबूत लकड़ी के डिब्बे में रखे दो अतिरिक्त ईयर पीस सहित का मू० २७.५० ।

आमाशय में दूध चढ़ाने की नली—जब रोगी मुंह से आहार ग्रहण न कर सके यथा बेहोशी पक्षाघात में, किसी दौरे आदि में तो आप इस नली द्वारा दूध या अन्य कोई पोष्य द्रव पदार्थ आमाशय में पहुंचा सकते हैं। मू० ४.५० ।

गुदा परीक्षण (Proctoscope)—गुदा की अन्दर से परीक्षा करने के लिए यह आवश्यक है। मू० २०.०० ।

स्तनों से दूध निकालने का यन्त्र—स्त्री के स्तन से इस यन्त्र द्वारा दूध आसानी से निकाला जाता है। मू० ४.००, बढ़िया ९.५० ।

मूत्र कराने की नली (कैथीटर)—रबड़ का १.२५, स्त्रियों के लिए धातु का ३ २५; पुरुषों के लिए धातु का मूल्य ५.०० ।

जलोदर में उदर से पानी निकालने का यन्त्र—जलोदर रोग में उदर गह्वर से पानी निकाल देने से रोगी जल्दी स्वास्थ्य लाभ करता है तथा उस पर प्रभाव भी अच्छा पड़ता है। मू. ९.०० स्टेनलैसस्टील का १२.५० ।

आंख टैस्ट करने का चार्ट—साधारण तौर से आप इन चार्टों को रोगी से पढ़वाकर दृष्टि परीक्षा कर सकते हैं। मू० ३.०० प्रति चार्ट ।

मलहम लगाने का यन्त्र (Ointment introducer)—गुदा में मलहम लगाने के लिये उपयोगी मू० ४.०० ।

खरल चीनी का गोल—ये खरल दवा मिलाने घोटने के लिये उपयोगी हैं। मू० ४ इन्ची ६.००, ५ इन्ची ७.५० ६ इन्ची ९.०० ।

आक्षेपक घनत्वमापक यन्त्र—(Urinometer)—मूत्र अथवा किसी अन्य द्रव का आक्षेपक घनत्व इस यन्त्र द्वारा मालूम किया जाता है। मू० ३.००, बड़ा (१००० से २००० तक चिन्ह वाला) ४.०० ।

मवाद साफ करने की पिचकारी—मूत्र नली में मवाद अन्दर चिपक कर व्रण पैदा कर देता है। जब तक यह अन्दर से साफ नहीं होता रोग नष्ट होना कठिन हो जाता है। इस पिचकारी से दवा पहुँचा कर सफाई कर सकते हैं। मू० मनुष्य के लिये १.७५, जनानी २.०० ।

कैंची—४ इन्ची २.५०, ५ इन्ची ३.००, ६ इन्ची ४.५०, ७ इन्ची ५.००, कैंची मुड़ी हुई ४ इन्ची २.७५, ५ इन्ची ३.२५, कैंची एक ओर को मुड़ी हुई ४ इन्ची ३ ००, ५ इन्ची ३.५०, कैंची सीधी स्टेनलैसस्टील की ४ इन्ची ५.७५, ५ इन्ची ६.७५, ६ इन्ची ८.००, ७ इन्ची ९.०० ।

रबड़ के दस्ताने—चीड़फाड़ करते समय संक्रमण से रोगी को और अपने को बचाने के लिये चिकित्सक इन दस्तानों को हाथ में पहनते है। मू० १ जोड़ी ३.५०।

थूकने का पात्र—तामचीनी (इनामिल) का पात्र ५.७५ प्लास्टिक का सुन्दर ६.७५, धातु का ८.५०।

स्प्रिट लैम्प—मूल्य धातु की दो औंस की ७.५० ४ औंस की ९.००।

डाक्टर इमर्जेंसी बैग—आवश्यकता समय चिकित्सक अपना आवश्यक सामान रखकर रोगी परीक्षार्थ जा सकता है। मू० १० इंची सम्पूर्ण चमड़े का जिप (जंजीर) लगाकर सुन्दर २५.००, १२ इंची ३०.००, साधारण १० इंची १७.५०, १२ इंची २१.००।

कांटा (Scales)—निकल पालिस किया हुआ लकड़ी के बक्स के अन्दर रखे हैं। मू० १० ग्राम तक के बांटों सहित २४.००।

डूस—इससे फोड़ा आदि धोने में बड़ी सुविधा रहती है। इससे एनीमा भी लगाया जाता है। मू० रबर की टोंटनी आदि से पूर्ण ४ पिंट का १२.५०, १ पिंट का १७.५०, २ पिंट का नाइलौन का पात्र रबड़ की टोंटनी सहित १६.५०।

मुखविस्फारक यन्त्र (Mouth gag)—मुख के अन्दर परीक्षा करते समय या कोई दवा लगाते समय या शल्य कर्म करते समय या किसी विष के खा लेने पर आमाशय प्रक्षालिनी नलिका के प्रयोग में इसी यन्त्र की सहायता से मुख खुला रखा जाता है। स्टेनलैसस्टील का ३६.००।

दन्त उन्नामक यन्त्र (Dental Elevator)—दांत यदि कम हिलता है तथा किसी रोग के कारण उखाड़ा जाना आवश्यक है तो इस यंत्र की सहायता से दांत को उकसाया जाता है। वैसे तो बाजार में अलग-अलग दांतों के लिए पृथक-पृथक उन्नामक आते हैं लेकिन हमने इस प्रकार का उन्नामक तैयार करवाया है जो प्रत्येक दांत के लिये यही एक काम करेगा। मू० १४.५०।

नासिका प्रेक्षण यन्त्र—यह यन्त्र नाक में डालकर चौड़ा दिया जाता है जिससे नाक चौड़ जाती है। मूल्य ८.५०।

अंगुली के दस्ताने (Finger Stalls)—यह अंगुली पर चढ़ा योनि, गुदा आदि अङ्गों की परीक्षा की जाती है। सस्ते रहते हैं। मू० ३५ नये पैसे, १ दर्जन ३.५०।

मूत्र पात्र (Urinal pot)—तामचीनी का मूल्य १२.५०, नाइलौन का बढ़िया १४.००।

कपिंग ग्लास—उदर शूल तथा अन्य अनेकों रोगों में इन ग्लासों का प्रयोग किया जाता है। तीन ग्लासों के सैट का मू० ९.००।

सुरमा लगाने की सलाई—(कांच की) १ ग्रोस ३.५०

योनि प्रक्षालन यन्त्र—मू० १७.५०।

योनि परीक्षण यन्त्र—मू० २२.५०।

कान का मैल निकालने की चम्मच (Ear Spoon)—२.२५, स्टेनलैस स्टील की ६.००।

अन्वेषक (Director)—इसको किसी नाड़ी व्रण में डालकर उसके सहारे चीरा लगाया जाता है जिससे कोई महत्व पूर्ण अङ्ग भूल से कट न जाये। मू० २.२५।

नीडिल केस प्लास्टिक के—इन्जेक्शन की सुई रखने की एक दर्जन का मू० ३.००।

कार्क स्क्रू—शीशी से कार्क को सुविधापूर्वक निकालने को ०.७५।

विसंक्रामक पात्र—६ इन्ची × २॥ इन्ची × १॥ इन्ची ३५.५०।

विसंक्रामक पात्र—बिजली से जलने वाला—५९.००।

नाड़ी संदंश (Sinus Forceps)—किसी विद्रधि को खोलने के लिए स्टेनलैसस्टील का ५ इन्ची १०.००, ६ इन्ची १२.००।

टूर्नीकेट—स्क्रू से कसने वाला शिरान्तर्गत इन्जेक्शन लगाने के लिए अति उपयोगी मू० २४.५०।

गाज—घावों में दवा लगाने आदि को २० गज लम्बा मू० ७.५०।

पट्टियां (Bandages)—१ इंच की १२ पट्टियां १.५०, १ इन्च की १२ पट्टियाँ २.७५, ३ इन्ची १२ पट्टियां ४.००।

खाली कैपसूल

मूल्य में विशेष कमी

सबसे बड़ा साइज	(नं. ००)	४.७५ प्रति सैकड़ा,	४५.०० प्रति हजार
बड़ा साइज	(नं. ०)	४.०० प्रति सैकड़ा,	३७.५० प्रति हजार
छोटा साइज	(नं. १)	३.७५ प्रति सैकड़ा,	३५.०० प्रति हजार
सबसे छोटा साइज	(नं. २)	३.६० प्रति सैकड़ा,	३४.०० प्रति हजार

सेल-टैक्स तथा पोस्ट-व्यय आदि पृथक

नोट—(१) एक प्रकार के एक हजार कैपसूल से कम मंगाने पर प्रति सैकड़ा वाला मूल्य ही लगेगा।
(२) एक साथ ४००० कैपसूल या उससे अधिक मंगाने पर पोस्ट पैकिंग व्यय हम देंगे।

पता--दाऊ मैडीकल स्टोर्स, मामू भांजा रोड, अलीगढ़

पत्थर के खरल

मूल्य तथा साइज का विवरण

	हंसराज	तामड़ा	मोतिया	कसौटी
३ इन्ची	×	×	५.४०	४.००
४ ,,	×	२३.५०	८.००	५.५०
५ ,,	×	२८.५०	११.००	८.५०
६ ,,	५४.००	३७.५०	१५.००	१४.००
७ ,,	६६.००	४८.७५	२०.००	१८.५०
८ ,,	८२.००	६०.००	२५.००	२३.५०
९ ,,	९३.००	७२.००	३२.००	२९.५०
१० ,,	११०.५०	८४.००	३९.५०	३८.००

	हंसराज	तामड़ा	मोतिया
११ इन्ची	१३७.००	९६.००	४८.००
१२ ,,	१६४.००	१०४.००	५५.५०
१३ ,,	१९२.००	१३८.००	६४.५०
१४ ,,	२२०.००	१६८.००	८४.००
१५ ,,	२५०.००	१९८.००	१०५.००
१६ ,,	२९०.००	२३०.००	१२०.००
१७ ,,	३३८.००	२७०.००	१६५.००
१८ ,,	४१२.००	३१२.००	२१०.५०

दाऊ मैडीकल स्टोर्स,

मामू भांजा रोड, अलीगढ़।